आत्मपुराणम्

चतुर्थो भागः

श्रीदक्षिणामूर्त्ति मठ, प्रकाशन

काशी

श्रीदक्षिणामूर्तिसंस्कृतग्रन्थमाला—४०

श्रीमच्छङ्करानन्दसरस्वतीप्रणीतम्

आत्मपुराणम्

(उपनिषद्रत्नम्)

छान्दोग्य-केन-मुण्डक-प्रश्न नृसिंहतापनीयोपनिषद्व्याख्यारूपः

अध्यायसप्तकात्मकः

चतुर्थो भागः

सत्प्रसवः

श्रीदत्तकुलतिलक-श्रीमद्रामकृष्णपण्डितकृतः

'दिव्यानन्द' हिन्दी व्याख्या

श्रीमत्परमहंस स्वामी स्वयम्प्रकाशगिरि

प्रकाशक

श्रीदक्षिणामूर्ति मठ, प्रकाशन, वाराणसी

प्रकाशक
श्रीदक्षिणामूर्ति मठ, प्रकाशन
डी ४६/६,मिश्रपोखरा
वाराणसी २२१०१०

प्रथम संस्करण
शङ्कराब्द : १२१३
वैक्रमाब्द : २०५८
खीष्टाब्द : २००१

मूल्य : 280/- रुपये मात्र

दो सौ अस्सी रुपये मात्र

मुद्रक :
महिम पत्रन प्रा. लि.,
5/161, सौंठ की मण्डी,
आगरा

ॐ

विषयानुक्रमणिका

ॐ

भूमिका

उपनिषद्रत्न अपर-नाम आत्मपुराण के सटीक सानुवाद संस्करण की सम्पूर्णता का सम्पादक भाग प्रकाशित हो रहा है, यह अपार सन्तोष का विषय है। सनातन सत्य के निरावरण के तात्पर्य से असंख्य सद्ग्रन्थ हमेशा रचे जाते रहे हैं जिनका महत्त्व काल बीतने पर भी कभी कम नहीं हो सकता। अनन्त साधक उन आकरों से अपने उपयोगी रत्न एकत्र कर चुके हैं फिर भी वहाँ रत्नों की कोई कमी संभावित नहीं है। ग्रन्थों पर मनन करते हुए विद्वानों ने जो चिन्तन किया वही टीकाओं के रूप में उपलब्ध होकर उनकी उपयोगिता उत्तरोत्तर बढ़ाता गया है एवं तत्त्व के अवबोध के सरलतर उपाय सुझाता गया है। प्रमेय व प्रमाण ब्रह्म व उपनिषत् होने से अनादि-सिद्ध हैं, प्रमाता ही बदलते रहते हैं अतः उन्हीं के उपयोगी सहायकों की विविधता व सामयिकता अपेक्षित रहती है जिसे आचार्य-परम्परा पूरा करती है। साम्प्रदायिकता की सुरक्षा इसी से है कि प्रमाण-प्रमेय एक ही रहते हैं और सम्प्रदाय का प्रवाह इससे है कि विभिन्न प्रमाताओं के लिये प्रमाण सार्थक हो जाये। स्वतन्त्र प्रबन्धों की अपेक्षा व्याख्या-ग्रन्थों के प्रति इसी दृष्टि से आचार्यों की रुचि अधिक रहती है तथा विचारक अनर्गल भटक न जाये इसके लिये आज भी यही रीति महत्त्वपूर्ण है। प्रमाण-प्रमेय की एकता रहते प्रमाण जिस ढंग से प्रमेय को अनावृत करता है उसकी विविधता का प्रदर्शन ही व्याख्या की अपूर्वता होती है। आचार्य शंकरानन्द सरस्वती इस वैविध्य की असीम संभावनायें व्यक्त करने वाले सिद्धहस्त अद्वितीय व्याख्याता हैं इसमें सन्देह को स्थान नहीं है। उपनिषदों का अभिप्राय सरल, सरस, प्रेरक, उद्बोधक व निश्चायक प्रकार से प्रकट करने का पवित्र उद्देश्य 'आत्मपुराण' द्वारा पूरा किया गया है जिससे मुमुक्षु उनके सदा अधमर्ण रहेंगे।

इस ग्रन्थ में इस क्रम से उपनिषदों को समझाया है—ऐतरेय, कौषीतकि, बृहदारण्यक, श्वेताश्वतर, कठ, तैत्तिरीय, गर्भादि, छान्दोग्य, केन, मुण्डक. प्रश्न और नृसिंहतापनीय। प्रस्तुत चतुर्थ खण्ड में छान्दोग्यादि पाँच का व्याख्यान उपस्थित है। वेदान्त साहित्य के अध्येता इससे अपरिचित नहीं कि विचार का सर्वाधिक उपयुक्त आधार दो ही उपनिषदें रही हैं—छान्दोग्य और बृहदारण्यक। शंकरानंदजी ने बृहदारण्यक पर अतिविस्तृत ऊह-अपोह प्रकट किया है और छान्दोग्य के तात्पर्य को सुस्पष्ट करने में ही अधिक ध्यान दिया है। अश्वल आदि स्पष्ट ही प्रतिवादी थे और जनक भी प्रारंभ में परीक्षक था, अतः बृहदारण्यक में युक्तिप्रधानता स्वाभाविक है जबकि श्वेतकेतु, नारद व इन्द्र तीनों केवल शिष्य थे जिससे छान्दोग्य में उपदेश या श्रवण ही प्रधान हो यह उचित है। सनत्कुमार का इतिवृत्त तेरहवें अध्याय में आकर्षक प्रसंग है जिसका मूल श्रुति या पुराणों में अन्वेषणीय है परन्तु मुक्त की निश्छल निरीहता की इससे बेहतर अभिव्यक्ति दुर्लभ है। चौदहवें में भीरु-धीरु संप्रदायों का उल्लेख आज तक प्रासंगिक है तथा देव-असुर विभाजन की दार्शनिक पृष्ठभूमि संकेतित करता है। केनोपनिषत् के अभिप्राय का विशदीकरण करते हुए भगवती का ध्यानोपयोगी वर्णन हर साधक के लिये बहुत उपकारक है। प्रायः क्रमशः परिगणन करते हुए प्रश्न-मुण्डक—यह क्रम कहा जाता है जबकि मंत्र-ब्राह्मण के क्रमानुसार मुण्डक-प्रश्न—यह होना

चाहिये, आत्मपुराण में उचित क्रम ही रखा है । शंकरानंदजी द्वारा चुनी उपनिषदों में नृसिंहतापनीय का विशेष स्थान है, यह इसीसे पता लग जाता है कि इसे अंतिम अध्याय में समझाया है । उल्लेखनीय है कि विद्यारण्यस्वामी के अनुभूतिप्रकाश की भी ऐसी ही योजना है कि ग्रंथोपसंहार नृसिंहतापनीय में ही किया है । उपासना-मार्ग से अद्वैत-निष्ठा पाने के अभिलाषी अधिकारियों पर इन आचार्यों का विशेष अनुग्रह रहा है क्योंकि साधारण प्रक्रिया में निर्विशेष उपासना का महत्त्व नहीं है । आत्मपुराणकार ने इतनी सावधानी अवश्य बरती है कि ग्रंथोपसंहार ईशोपनिषत् की संक्षिप्त व्याख्या से किया है जिससे उपनिषदों की ज्ञानपरता के बारे में कोई संदेह नहीं रहता ।

आत्मपुराण में ऐसे अनेक सन्दर्भ हैं जिन पर विस्तृत चर्चाओं की संभावना है तथा अनुसंधान करने वालों के लिये समालोचना के बहुत अवसर हैं । आशा है यह संस्करण-जो इस समय अकेला संस्करण सुविधा से उपलब्ध है-जिज्ञासु साधकों को मार्गदर्शन प्रदान करने के अतिरिक्त विद्वानों को इस ओर आकृष्ट करेगा कि वे औपनिषद साहित्य पर गम्भीरतर चिन्तन कर उसमें निहित रहस्यों को स्पष्टतर प्रकाश में लायें । कैवल्य का एकमात्र उपाय अद्वैत-निष्ठा है जिसे संशय-विपर्यय से अनभिभूत प्रमा ही सम्पन्न कर सकती है जो वेदान्तश्रवण का फल है । इस सद्ग्रन्थ का अध्ययन वैसा श्रवण बने तथा अधिकारियों को मोक्ष प्रदान करे यही भगवान श्रीदक्षिणामूर्ति के चरणों में प्रार्थना है । इसका संपादन व अनुवाद हमारे प्रिय स्वामी स्वयम्प्रकाशगिरिजी ने अत्यधिक सफलतापूर्वक करके श्रीदक्षिणामूर्ति प्रकाशन में अद्‌भुत सहयोग किया है । एकान्तनिष्ठा से ही यह संभव हुआ है । इस प्रकार वेदान्त के पुनर्जागरण में उनका आगे भी पूर्ण सहयोग होता रहे यही हमारा आशीर्वाद है ।

श्रीशंकर मठ, आबू — **भगवत्पादीय**

दीपावली २०५९ — **महेशानंद गिरि**

ॐ

श्रीदक्षिणामूर्तये नमः

आत्मपुराणम्

छान्दोग्यसारार्थप्रकाशे

आरुणि-श्वेतकेतुसंवादः

द्वादशोऽध्यायः

कथाश्चित्रा इमाः श्रुत्वा शिष्यः श्रद्धासमन्वितः। श्वेतकेतोः कथां श्रोतुं पप्रच्छ स्वगुरुं पुनः।।१

शिष्यजिज्ञासा

भगवन् भवताख्यातम् इतरातनयस्य यत्। ज्ञानं कौषीतकेस्तद्वद् आदित्यस्य महात्मनः।।२

सत्प्रसव-व्याख्या

नवोक्तिस्फुरिता व्यक्तैस्त्रिभिरन्वयशालिनी। वासुदेवतनूरान्ध्यं द्वादशेनायिता हरेत्।।

अस्यार्थः— नवः स्तुतिः, तद्रूपाभिरुक्तिभिः वेदवचनैः, स्फुरिता विभाता, व्यक्तैः वामनावतारे प्रकटैः, त्रिभिः पादैः सर्वत्र सम्बद्धा द्वादश ये इनाः प्रभवो भक्तैराराध्याः केशवादिसंज्ञा द्वादशविग्रहाः तद्वद् आचरन्ती तद्रूपेण स्थितेति यावत्, एतादृशी वासुदेवस्य मूर्तिः आन्ध्यं प्रतिबन्धकदुरितरूपं तमो हरतु इति। 'इनः सूर्ये नृपे पत्यौ चे'ति कोशात्।। द्वादशाक्षरमन्त्रपक्षे—नवसंख्या उक्तय उच्यमाना अवस्था अकारोकारमकारबिन्दुनादकला-शक्त्यर्धमात्राशान्ताख्या यस्य स नवोक्तिः प्रणवस्तेन विभाता, व्यक्तैः स्पष्टैः प्रणववद् दुरवगाहताहीनैः त्रिभिः पदैः नमःप्रभृतिभिर्युक्ता, द्वादशभिः इनैः प्रभुभिः केशवादिभिः आदित्यैर्वा प्रतिवर्णम् अयिता समन्विता— 'अय गतौ' (भ्वा.आ.से.) इति स्मृतेः, तादात्म्यम् आपन्नेति यावत्—वासुदेवस्य तनूर्मन्त्रमयी मूर्तिः तमो हरतु इति। शम्भुपक्षे— नवो रुद्राध्यायरूपा स्तुतिः ततः स्फुरिता व्यक्तैः स्पष्टैः त्रिभिर्नेत्रैः अन्विता, 'वं प्रचेतसि जानीयाद्' इति कोशाद् वो वरुणः तस्यासुः प्राणभूता ब्रह्मविद्या—या भृगवे पुत्रायैव तपस्तुष्टेन तेन दत्ता—तस्या देव आवेशेन प्रवर्तको महादेवस्तस्य मूर्तिः। यद्वा महोपनिषदुक्तविधया वासुदेवस्य नारायणस्य मूर्तिः महादेवाख्या द्वादशे— 'शय्यामहं द्वादशमेक आहुः' इति भागवतपञ्चमस्कन्धे (५.११.१०) द्वादशत्वेनोक्ते—अहङ्कारेऽनायिता प्राणवदाचरन्ती तदधिष्ठातृदेवतात्वात्, तमो हरेदति। ग्रन्थप्रमेयपक्षे तु—नवाऽऽवृत्तिकोक्तिशालिना महावाक्येन विभाता व्यक्तैः नामरूपाभ्यां व्याकरणं नीतैः त्रिभिः तेजोऽबन्नैः सह सम्बद्धा मूलाऽज्ञानप्रहारे प्रलयकालिकद्वादशार्कवद् आचरन्ती, यद्वा द्वादशेन अध्यायेन आयिता लब्धा वासुदेवस्य परमात्मनस्तनूर्मूर्तिः सल्लक्षणा आन्ध्यम् आवरणं हरेद् इति।

छान्दोग्य उपनिषत् के सारभूत अर्थ के प्रकाशक प्रकरण में

'आरुणि-श्वेतकेतु संवाद' नामक बारहवाँ अध्याय

(अद्वैत के मूल आकरों की दो मुकुटमणियाँ हैं बृहदारण्यक और छान्दोग्य उपनिषदें। पुराणकार ने बृहदारण्यक का सुविस्तृत व्याख्यान चार अध्यायों में कर दिया है। अब तीन अध्यायों में छांदोग्य समझायेंगे। इस उपनिषत् में अध्याय आठ हैं किंतु प्रथम पाँच अध्याय प्रधानतः उपासनापरक हैं। उनमें शाण्डिल्यविद्या आदि ब्रह्मोपासनाएँ भी हैं एवं अब्रह्मोपासनाएँ कई विहित हैं। चाक्रायण, रैक्व-जानश्रुति, सत्यकाम जाबाल, उपकोसल, श्वेतकेतु-प्रवाहण,

सश्वेताश्वतरस्याऽपि कठस्याऽपि च तित्तिरेः। जाबालादिमुनीशानां योगसंन्याससंयुतम्।।३
आख्यानान्यतिचित्राणि बहूनि विविधानि च। श्रुतानि तानि सर्वाणि मया ते वदनाद् गुरो।।४
प्रजानां मुनयो यत्र करुणाक्रान्तचेतसः। ऊचुर्ब्रह्मात्मविज्ञानं वामदेवश्च गर्भगः।।
मीमांसाक्रान्तचित्तानामुक्तवानधिकारिणाम्।।५
करामलकवद् यत्र ब्रह्मात्मा ज्ञायते नृभिः। देहादिजडसङ्घातात् सर्वदैव विलक्षणः।।६
श्रवणाद्यत्रवैराग्यं कामुकस्यापि जायते। स्वदेहेऽन्यशरीरे च विवेकादवधारिते।।७
प्रतर्दनस्य गमनं दैवोदासेर्महात्मनः। योद्धुकामस्य वै स्वर्गे विजयश्चाऽस्य धीमतः।।८
इन्द्रतोऽपि वरप्राप्तिर्दुर्लभा या शरीरिभिः। गार्ग्यस्य द्विजवर्यस्य संवादोऽजातशत्रुणा।।९
अश्विभ्यां च तथा मन्त्रद्रष्टुश्चित्रकथाश्रयः। यत्प्रसङ्गात् त्वया वंशस्त्रिपर्वा स समीरितः।।
स्त्रीपुंसयोरभिन्नोऽयं विभिन्नोऽपि च कुत्रचित्।।१०

उक्तानुवादपूर्वकं शिष्यप्रश्नं छान्दोग्यषष्ठाऽर्थगोचरमभिनयति—कथा इति चतुर्विंशतिश्लोकैः। इतरातनयस्य ऐतरेयस्य सश्वेताश्वतरस्य श्वेताश्वतरसहितस्य कठस्य, षष्ठ्यन्तानां ज्ञानपदेन सम्बन्धः, योगेत्यादि ज्ञानविशेषणम्। नान्यत् तिरोहितं चतुर्षु।।१-४।। तत्र प्रथमाध्यायाख्यानमनुवदति—प्रजानामिति त्रिभिः। यत्र प्रथमगताख्याने मुनयः प्रजानां हिताय ब्रह्मात्मज्ञानम् ऊचुः, गर्भगो वामदेवश्च विचारतत्पराधिकारिणां हिताय तद् उक्तवान् इति सम्बन्धः।।५।। करेति। यत्र विज्ञाने सति सङ्घातविलक्षण आत्मा ब्रह्मत्वेन ज्ञायते।।६।। श्रवणादिति। यत्र प्रथमाख्यानार्थे श्रवणानन्तरं विवेकेन मननेन अवधारिते सति कामुकस्याऽपि सर्वशरीरेषु वैराग्यं जायते।।७।। द्वितीयगताख्यानमाह—प्रतर्दनस्येति। तृतीयार्थमाह—गार्ग्यस्येति। गार्ग्यो बालाकिः।।८-९।।

चतुर्थार्थमाह—अश्विभ्यामिति द्वाभ्याम्। मन्त्रद्रष्टुः दधीचिऋषेः अश्विभ्यां संवाद उक्त इत्यनुषङ्गः। उद्दालकादि-अश्वपति इत्यादि अनेक कथाप्रसंग भी प्रारंभिक अध्यायों में उपलब्ध हैं। किंतु शंकरानन्द जी ब्रह्मात्मविद्या के प्रसंग ही एकत्र कर रहे हैं ताकि इस पुराण से अधिकारी ब्रह्मात्मता के बारे में निःशंक समझ प्राप्त कर ले। इसके साधनों का भी व्यावहारिक खुलासा पुराणकार ने रुचि लेकर किया है। प्रकृत में भी शुरु के पाँच अध्यायों का यथाक्रम व्याख्यान छोड़ कर छठे से आठवे अध्यायों तक की उपनिषत् का क्रमशः विवरण करेंगे।)

पुराणोपदेष्टा सद्गुरु के श्रीमुख से पूर्वोक्त आश्चर्यमय कथाएँ सुनकर गुरु-शास्त्र-विषय में अत्यधिक श्रद्धालु हुए शिष्य ने श्वेतकेतु की कथा सुनने के लिये अपने गुरु से पुनः प्रश्न किया :।।१।। हे भगवन्! ऐतरेय, कौषीतकि, महात्मा आदित्य, श्वेताश्वतर, कठ, तित्तिरि, जाबालादि मुनि—इन्हें जो दुर्लभ ज्ञान प्राप्त हुआ वह आपने बहुत विविध विचित्र कथाओं से उपबृंहित कर मुझे सुनाया। उस ज्ञान के लाभ और परिपाक के उपायभूत योग व संन्यास का भी आपने उपदेश दिया। यह सारा विषय आपसे मैंने सुना।।२-४।।

पहले अध्याय में आपने बताया कि करुणान्वित मानस वाले मुनियों ने प्रजाओं के हित के लिये ब्रह्मात्मता का ज्ञान समझाया और गर्भ में रहते हुए वामदेव ने भी उन अधिकारियों का संदेह दूर किया जो शास्त्रोक्त ढंग से विचार में तत्पर थे। ऐतरेयानुसारी विज्ञान हो जाने पर देहादि जडों के संघात से हमेशा ही पृथक् रहने वाला आत्मा ब्रह्म है यह तथ्य लोगों को वैसे ही स्पष्ट हो जाता है जैसे हाथ में रखा आँवला चक्षुष्मान् को स्पष्ट प्रकाश में अपरोक्ष हो जाता है। आपने वह प्रसंग भी स्पष्ट सुनाया जिसे सुनकर विवेक करें तो कामुक लोग भी अपने-पराये शरीरों के प्रति वैराग्यवान् हुए बिना रह नहीं सकते।।५-७।। दूसरे अध्याय में युद्धेच्छुक महात्मा बुद्धिमान् दैवोदासि प्रतर्दन का स्वर्ग जाकर इंद्रसमेत देवताओं पर विजय प्राप्त करना और इंद्र से वह 'वर' प्राप्त करना जो देहाभिमानियों के लिये असंभव है, आपने बताया। तीसरा अध्याय द्विज गार्ग्य और राजा अजातशत्रु के संवाद के सारार्थ का प्रकाशक था।।८-९।।

दध्यङ्ङाथर्वणो यत्र शक्रस्याऽप्युपकारकृत्। शक्रेण निहतः साधुरर्थे सोऽश्विकुमारयोः।।११

कथा जल्पाभिधा प्रोक्ता याज्ञवल्क्यस्य च द्विजैः। वादोऽस्याऽपि च तेनैव भूभुजा जनकेन हि।।
द्विवारं तस्य संन्यासो मैत्रेय्याश्चोपदेशनम्।।१२

कारणेष्वपि मीमांसा विप्राणां न्यासिनां तथा। नाचिकेतसमाख्यानं वरैर्नानाविधैर्युतम्।।१३

यजुषां कृष्णता वाऽपि भक्षणाच्छर्दनादपि। वरुणं पितरं तद्वद् भृगोश्च गमनं बहु।।१४

गन्धर्वस्याऽपि वेनस्य स्वात्मनोऽनुभवेरणम्। सत्यादिसाधनैश्चैतत् साधनं न्याससंज्ञितम्।।
उक्तं परममन्त्रे तत्स्तुत्या ब्रह्मात्मरूपया।।१५

जाबाले परमे हंसे ब्रह्मण्यारुणिसंज्ञिते। शाखाभेदेऽपि[1] संन्यास एक एव समीरितः।।
योगं नानाविधं पूर्वमुक्त्वाऽपि सनिमित्तकम्।।१६

यस्याश्विभ्यां सह संवादस्य प्रसङ्गात् त्रिपर्वा त्रिविधाः पर्वस्थानीयाः पुरुषा यत्र स तथा, स्त्रीपुंसयोः सम्बन्धी। पुनः कीदृशः? कुत्रचिदभिन्नः परस्परसरूपाकारनामकः, क्वचिदंशे तु विभिन्नो विरूपाकारनामकः। इतिद्वयोरर्थः।।१०-११।। पञ्चमादित्रयार्थमाह—कथेति। द्विवारं जनकेन संवादः षष्ठ उक्तः।।१२।। अष्टमादिद्वयार्थमाह—कारणेष्विति। नाचिकेतसं नचिकेतसः सम्बन्धि।।१३।। दशमार्थमाह—यजुषामिति द्वाभ्याम्। वरुणं प्रतीति शेषः। बहु पञ्चवारान्।।१४।। गन्धर्वस्येति। वेनस्य वेनसंज्ञस्य गन्धर्वस्य यः स्वात्मनः स्वान्तर्यामिणो नारायणस्य अनुभवस्तस्य नानामन्त्रैः यद् ईरणं वामदेववत्प्रकाशनं तदुक्तम्। तथा सत्यादिसाधनैः सह संन्यासरूपं साधनं सर्वोत्कृष्टत्वेन उक्तं, परम उत्तमोन्त्य इति यावत्, तादृशे मन्त्रे 'न्यास इति ब्रह्मा' (महाना.२१.२) इत्यादौ 'वसुरण्य' (महाना.२४.१) इत्यादौ च तस्य संन्यासस्य ब्रह्मरूपताऽवगाहिन्याः स्तुतेरित्यर्थः।।१५।।

अनन्तराध्यायार्थमाह—जाबाल इत्यादिना। जाबालाख्ये, परमहंसाख्ये, आरुण्याख्ये च ब्रह्मणि वेद उपनिषदि यः समीरितः स संन्यास एक एव, न शाखाभेदेन भिन्न इति दर्शितम् इति शेषः। किं कृत्वा?

चौथे से सातवें अध्याय तक बृहदारण्यक के विषयों पर आपने प्रवचन दियाः चौथे में आपने वह विचित्र कथा सुनाई जो मंत्रद्रष्टा ऋषि ने अश्विनीकुमारों के संमुख प्रकाशित की थी। प्रसंगवश आपने ब्रह्मविद्याचार्यों के वंश का संग्रह किया था जिसमें मातृकुल व पितृकुल के अनुसार तीन प्रकार के लोग परिगणित थे जिनमें कुछ के नाम विभिन्न थे व कुछ के समान थे। उसी अध्याय में आपने बताया कि साधु दध्यङ्ङाथर्वण ने इन्द्र का कैसे उपकार किया फिर भी अश्विनीकुमारों को ब्रह्मविद्या मिल जाये इस प्रयोजन से प्रवृत्त होने पर इंद्र ने दध्यङ् का सिर काट डाला!।।१०-११।। पाँचवें अध्याय में याज्ञवल्क्य तथा अन्य द्विजों की जो जल्प-रूप बातचीत हुई थी उसका ब्यौरा दिया और छठे में राजा जनक से याज्ञवल्क्य की दो बार हुई वार्ता का वर्णन किया। सातवें अध्याय में मैत्रेयी को दिये याज्ञवल्क्य के उपदेश का संग्रह कर याज्ञवल्क्य के संन्यास की कथा सुनाई थी।।१२।।

आठवें अध्याय में श्वेताश्वतरोपनिषत् के अनुसार ब्राह्मणों व संन्यासियों ने जो जगत्कारणविषयक विचार किया था उसका व्याख्यान हुआ तथा नवे में नाना प्रकार के वरदानों की कथा समेत नचिकेता के प्रति यमराज के उपदेश का वर्णन हुआ।।१३।।

दसवें अध्याय में आपने बताया कि उलटी किये जाने और भक्षण किये जाने से यजुर्वाक्य काले पड़ गये; भृगु

---

१. जाबाल-परमहंसयोः शुक्लयजुर्वेदः। ब्रह्मनामिकाया कृष्णयजुः। आरुणिः सामवेदगतोपनिषत्।

गर्भोपनिषदि प्रोक्तयोगस्येह प्रसङ्गतः। वासिष्ठोऽपि च कोऽप्युक्तो योगः पौराणिको हि यः।।१७

अपि यो ह्यमृते नादे हंसे च क्षुरिकाभिधे। शाखाभेदे[1] समुक्तः स वर्णितोऽत्र पृथक् पृथक्।।१८

ब्रह्मोपनिषदि प्रोक्तं बिन्दौ चाऽमृतसंज्ञके। नारायणीये च तथा महोपनिषदीरितम्।।
आत्मप्रबोधे कैवल्ये ज्ञानं तच्च समीरितम्।।१६

संवर्तकाद्याः संन्यासे भवताऽत्र समीरिताः। पूर्वं संन्यासिनः सर्वे लोकातीता महाधियः।।२०

वैराग्यं तस्य कालश्च संन्यासस्य प्रकीर्तितः। नानाविधैरुपायैश्च विरक्ताश्चाऽधिकारिणः।।२१

संन्यासस्य विधिर्न्यासिमरणे संस्क्रियाऽपि च। वेषस्तस्य तथाऽऽचारः कीर्तितो बहुधा त्वया।।२२

श्वेतकेतुस्तथा चान्ते सर्वज्ञो यः प्रकीर्तितः। पुरा ब्रह्मात्मविज्ञानाद् इति तन्महिमाऽत्र भोः।
वर्तते कौतुकं श्रोतुं यत आश्चर्यकारणम्।।२३

भवता परमा हंसा संवर्ताद्याः प्रकीर्तिताः। लोकातीताः श्वेतकेतुस्तेष्वेव समुदाहृतः।।२४

नानाविधं योगं मरणनिमित्तैः सहितम् उक्त्वा।।१६।। गर्भोपनिषदीति। तथा गर्भोपनिषदुक्तयोगोपयोगिपदार्थप्रदर्शनप्रसङ्गेन वसिष्ठोक्तोऽपि कोऽपि अद्भुतः पौराणिकः पुरातनसंहितागतः योग उक्त इत्यर्थः।।१७।। अपीति। अमृतनादादिसंज्ञोपनिषद्ग्रन्थे भिन्नभिन्नशाखागते य उक्तो योगः सोऽपि पृथक् पृथग् वर्णित इत्यर्थः।।१८।। ब्रह्मोपनिषदीति। तथा ब्रह्मोपनिषदादिषु षट्सूपनिषत्सूक्तं ज्ञानं समीरितम् इति।।१६।। संवर्तकाद्या इति। संवर्तकोऽग्नेरवतारभूतः कश्चिद् ब्राह्मणः तत्प्रभृतयः परमहंसा लोकविलक्षणाचाराः पूर्वं पूर्वाध्यायादावेव भवता कीर्तिताः।।२०।। वैराग्यमिति। तथा संन्यासोपयोगिनो वैराग्यकालाधिकारिण उक्ताः।।२१।। संन्यासस्येति। संन्यासविधिप्रभृतिपदार्थचतुष्टयं चोक्तम्। तस्य संन्यासिनः।।२२।।

शङ्काबीजं स्मरति—श्वेतेति। पूर्वाध्यायस्यान्ते श्वेतकेतुः कीर्तितः तन्महिमा तस्य प्रभाव इति अयं वर्तते। 'इति' किम्? यद् ब्रह्मात्मविज्ञानात् पुराऽपि सर्वज्ञः प्रसिद्ध इति तं श्रोतुं कौतुकं वर्ततेऽद्भुतत्वाद् इत्यर्थः।।२३।। एतदेव स्फुटयति—भवतेति। लोकातीतान् संवर्तादीन् आदौ कीर्तयित्वा तेष्वेव गणितः श्वेतकेतुः पुनः पुनः समुदाहृतः

ने अपने पिता वरुण के पास पाँच बार जाकर पूर्ण ब्रह्मज्ञान पाया, वेन-नामक गंधर्व ने अपने अन्तर्यामी के अनुभव को कैसे व्यक्त किया, सत्यादि उपायों सहित संन्यासरूप प्रधान साधन के उत्कर्ष को श्रुति ने महानारायण के अंतिम खंड में उसे (संन्यास को) ब्रह्मात्मरूप मानकर प्रशंसा करने से बताया है।।१४-५।। ग्यारहवें अध्याय में अनेक उपनिषदों का परिचय मिला। जाबाल, परमहंस और आरुणि उपनिषदें विभिन्न शाखाओं में पठित होने पर भी इनमें बताया संन्यास एकरूप ही है। नाना प्रकार के योगाभ्यास का एवं अरिष्टों का भी वहाँ वर्णन सुना। गर्भोपनिषत् में बताये योग के उस प्रसंग में वसिष्ठवर्णित पुरातन योग का भी आपने उपदेश दिया। अमृतनाद, हंस, क्षुरिका— इन भिन्नशाखीय उपनिषदों में प्रोक्त योग को अलग-अलग कर आपने समझाया। ब्रह्मोपनिषत्, अमृतबिन्दु, नारायणीय, महोपनिषत्, आत्मप्रबोध, कैवल्य—इन उपनिषदों के ज्ञानभाग का भी आपने स्पष्टीकरण किया।।१६-६।। गत अध्याय के प्रारंभ में ही आपने संवर्तकादि महाबुद्धिमान् संन्यासियों का उल्लेख किया था जो सभी लोक से अतीत थे। संन्यास के लिये उचित काल आपने वैराग्य को बताया और वैराग्य के लिये विभिन्न उपाय भी समझाये। संन्यास-पद्धति, संन्यासी के मरने पर कर्तव्य संस्कार, संन्यासी का वेष और आचार भी आपने बहुत तरह समझाया।।२०-२।।

पूर्वाध्याय की समाप्ति में आपने श्वेतकेतु की अद्भुत महिमा बतायी कि ब्रह्मात्मविज्ञान से पूर्व भी वह सर्वज्ञ

१. अमृतनादक्षुरिकयोः कृष्णयजुः। हंसस्य शुक्लयजुः।

सर्वज्ञोऽथाज्ञतां प्राप्तः केन दोषेण धीधनः। केनोपदिष्टश्च पुनः तस्य ज्ञानं च कीदृशम्।।२५
एतत् सर्वं विस्तरतो वक्तव्यं भवता गुरो। मह्यमास्तिक्ययुक्ताय भवन्तं संश्रिताय च।।२६

गुरुरुत्तरयति

इत्थं सम्प्रार्थितस्तेन शिष्येणामिततेजसा। गुरुश्छान्दोग्यकथितां कथामाहातिशोभनाम्।।२७

श्वेतकेतुवृत्तम्

श्वेतकेतुः पुरा बालः पितृभ्यामुपलालितः। अतिक्रान्तोपनयनकालः क्रीडावशङ्गतः।।
आसीददान्तवृषभतुल्यो द्वादशवार्षिकः।।२८
भुंक्ते क्वचिन्न भुंक्ते वा बालक्रीडारतो द्विजः। भर्त्सयन् बालकानन्यान् बहुशोऽपि च ताडयन्।।२९
स्त्रियो विप्रांश्च पश्वादीन् सम्प्रयाति द्रुतं तथा। बाल एव जनं सर्वं दुःखयन्नत्यशिक्षितः।।३०
पितुः समीपमगमत् कदाचिद् विनयान्वितः। आरुणिस्तत्पिता प्राह सुतं तं स्वसमीपगम्।।
स्नेहसम्भिन्नहृदयः किञ्चित्क्लेशमुपागतः।।३१

इति।।२४।। फलितं प्रश्नमभिनयति—सर्वज्ञ इति। स यदि सर्वज्ञः तदा तस्य जिज्ञासाप्रयोजकमज्ञत्वं कुतः? तस्योपदेष्टा च कः ? तस्मै उपदिष्टं ज्ञानं च कीदृशम्? इत्यर्थः।।२५।। एतदिति। स्पष्टम्।।२६।।

गुरुवाक्यमवतारयति— इत्थमिति। अमितं प्रचुरं तेजः मेधात्मकसत्त्वलक्षणं यस्य स तथा तेन। छान्दोग्ये षष्ठप्रपाठके कीर्तिताम्।।२७।। आत्मज्ञानात्पूर्वं सार्वज्ञ्यम् आभिमानिकं, न वस्तुत इति दर्शयन् 'स्तब्ध एयाय' इत्यन्तग्रन्थार्थमुपबृंहयति—श्वेतेति त्रयोविंशतिश्लोकैः। श्वेतकेतुः नाम मुनिबालो मातापित्रोर्लालनवशेन क्रीडापरत्वाद् अतिक्रान्त उपनयनकालो मुख्यो यस्य तथाभूतो जातः, अदान्तोऽशिक्षितो यो वृषभस्तत्तुल्यः।।२८।। क्रीडापरत्वम् अदान्तवृषभतुल्यत्वं च स्फुटयति—भुंक्तइति। स्पष्टं द्वयम्।।२९-३०।।

पितुरिति। तं कदाचिद् उपागतम् आरुणिर्नाम पिता प्रोक्तवान्। कीदृशः? स्नेहयुक्तहृदयः क्लेशं तद्दशालोकनजं चित्तक्षोभं प्राप्तः।।३१।। पितृवचनमभिनयति—पुत्रेति एकादशभिः। हे पुत्र! बाल्यम् अविवेकः

रूप से प्रसिद्ध था। क्योंकि यह आश्चर्य की बात है इसलिये इस बारे में सुनने का मुझे कौतूहल है। संवर्तादि लोकातीत परमहंसों में गिनकर भी श्वेतकेतु का आपने पुनः अलग से उल्लेख किया। अतः वह अवश्य विशिष्ट महापुरुष रहा होगा। सर्वज्ञ था तो वह मतिमान् किस दोषवश अज्ञ बन गया? उसे उपदेश किसने प्रदान किया? उसे कैसा ज्ञान प्राप्त हुआ? यह सब आप विस्तार से बताने की कृपा करें। मैं श्रद्धालु हूँ, आपकी शरण आया हूँ अतः मेरी जिज्ञासा अवश्य मिटायें।।२३-६।।

प्रचुर मेधावी शिष्य द्वारा यों प्रार्थना किये जाने पर श्रीगुरु ने छांदोग्य में कही अतिशोभन कथा सुनाना आरंभ किया :।।२७।।

प्राचीन काल की बात है। श्वेतकेतु नाम का एक विप्रबालक था। माता-पिता का वह अतीव लाडला था। बच्चे पर कर्तव्यबोझ न पड़े इसलिये उचित उम्र में (आठ साल की उम्र में) उसका उपनयन भी उन्होंने नहीं किया। वह बालक भी खेल-कूद कर ही दिन बिताता रहा। बैल को जोता न जाये तो जैसे उच्छृङ्खल हो जाता है वैसा ही उच्छृङ्खल बनकर श्वेतकेतु बारह वर्ष का हो गया। बच्चों में खेलता रहे तो कभी भोजन करे, कभी खाये ही नहीं! अन्य बालकों की भर्त्सना-ताडना करता रहता था। दौड़कर स्त्रियों से, विप्रों से, पशु आदि से टकरा जाता था। छोटा बच्चा होने पर भी बहुत बदतमीज़ हो गया था अतः सभी को दुःख देता था।।२८-३०।।

क्षुब्धस्यारुणेर्वचः

¹पुत्र! बाल्यात् सुतस्नेहाल्लालितस्त्वं मया तथा। मात्रा च तव तेनेमां दशामसि गतोऽधुना।।३२

लालनाद् बहवो दोषाः शासनाद् बहवो गुणाः। शिष्य-स्त्री-तनयादीनाम् इति यत् तद् मृषा न हि।।३३

वैरिणी सा च विज्ञेया माता या लालयेत् सुतम्। पिताऽपि च यतः पुत्रो लालितो नरकं व्रजेत्।।३४

आत्रिवर्षं सुतं माता शिक्षयेच्च ततः पिता। तथाऽपि सहितो नित्यमागर्भजननाष्टमम्।।३५

अत ऊर्ध्वं सदाचार्यः शिक्षयेत्तं च कुत्रचित्। आषोडशं ततः सर्वे निवर्तन्ते हि यौवने।।३६

युवानं मित्रवद् नित्यं शिष्यं वाऽथ सुतं च वा। शिक्षयेन्नैव दण्डेन नीतिरेषा सनातनी।।३७

मातुः पितुश्च यः शिक्षाम् आचार्यस्य च नान्धधीः। गृह्णीयाद् यौवने प्राप्ते स क्लेशं याति दारुणम्। इह राजादिजा भीतिः यमजा परजन्मनि।।३८

तद्धेतुकात् पुत्रस्नेहाद् यत् त्वं मया मात्रा च लालितः असि ततस्त ईदृशी दशेत्यर्थः।।३२।। लालनादिति। यद् इति इत्थं नीतिविदो वदन्ति तत् सत्यम्। 'इति' किम्? सुतादीनां लालनं बहुदोषहेतुः, ताडनं गुणहेतुरिति।।३३।। नीतिवाक्यान्येव अर्थतः संगृह्णाति—वैरिणीत्यादिना। केवललालनपरौ मातापितरौ वैरिणौ बोध्यौ यतो लालनजन्यदोषैः सुतस्य नरकादिदुःखमिति।।३४।। शिक्षाव्यवस्थामाह—आ त्रिवर्षमिति। तृतीयवर्षपूर्तिपर्यन्तं माता शिक्षयेत् ततो गर्भाज्जननाद् वाऽष्टमवर्षपर्यन्तं पिता शिक्षयेत्। कीदृशः पिता? तथाऽपि शिक्षकान्तरसत्त्वेऽपि सहितः संनिहितः।।३५।। ततः षोडशवर्षपर्यन्तम् आचार्यः शिक्षयेद् इत्याह—अत इति। यौवने षोडशस्य वर्षस्य प्राप्तौ।।३६।। ततो वाचिक्येव शिक्षा, न ताडनघटितेत्याह—युवानमिति।।३७।। शिक्षोल्लङ्घने सुतस्य अनर्थं दर्शयति—मातुरिति। क्लेशं निरूपयति—इहेति।।३८।। आचार्येति। आचार्यादिकर्तृका शिक्षा सदा नृणाम् उचिता,

किसी समय श्वेतकेतु अपने पिता आरुणि के पास जाकर सभ्यता से, शांति से बैठा था। पिता को उस पर अत्यधिक स्नेह तो था पर उसकी गतिविधियों से उन्हें कुछ क्लेश अवश्य होने लगा था। उन्होंने उससे कहा 'बेटा! मैंने और तेरी माँ ने पुत्रस्नेह से अंधे होकर बचपन से अब तक तुझ से लाड-प्यार ही किया है, इसी से अब तेरी ऐसी दशा हो गयी है! नीति के जानकार जो यह कहते हैं वह बात ग़लत नहीं कि शिष्य, स्त्री, पुत्र आदि से लाड करने के कारण उनमें बहुत-से दोष आ जाते हैं जबकि उन्हें अनुशासन में रखा जाये तो उनमें बहुत-से गुण विकसित होते हैं। पुत्र से केवल लाड़ लड़ाने वाले माता-पिता वस्तुतः उसके दुश्मन हैं क्योंकि ऐसा पुत्र नरक जायेगा यही अधिक संभव है।।३१-४।। तीन वर्ष की उम्र तक माँ को चाहिये कि पुत्र को शिक्षा दे। आठ वर्ष की उम्र तक शिक्षकों सहित पिता का कर्तव्य है कि प्रतिदिन पुत्र को कुछ-न-कुछ सिखाये। तदनंतर श्रेष्ठ आचार्य उसे किसी विषय का प्रशिक्षण दे। शिक्षाक्रम तब तक चलना चाहिये जब तक बालक सोलह वर्ष पूरे न कर ले। सोलह वर्ष का जवान होने पर माता-पिता-आचार्य सभी को यह आग्रह छोड़ देना चाहिये कि 'हमें इसे ज़रूर सिखाना है, यह भी हमारी शिक्षा जरूर ग्रहण करे'। शिष्य हो या पुत्र, वह जब जवान हो जाये तब उससे वैसा आचरण करना चाहिये जैसा मित्र से करते हैं। वह पूछे या अन्य तरह से पता लगे कि समझना चाहता है तब उसे समझावे अवश्य पर उसे दण्डित करने का प्रयास नहीं करना चाहिये। यह सनातन नीति है।(माता-पिता-शिक्षक ने धार्मिक मर्यादाओं का उचित शिक्षण दिया होगा तो सोलह वर्ष के बाद प्रौढता से युवक उनसे उचित गंभीरतर शिक्षा स्वयं ग्रहण करेगा। प्रारंभ में माता आदि

१. 'ॐ श्वेतकेतुर्हारुणेय आस। तं ह पितोवाच—'श्वेतकेतो! वस ब्रह्मचर्यम्। न वै सोम्य! अस्मत्कुलीनोऽननूच्य ब्रह्मबन्धुरिव भवति।' इति।' छां. ६.१.१।

आचार्यपितृमातॄणां शिक्षा तावत्सदा नृणाम्। सत्यामपि च तस्यां सा तस्या अकरणे सुत!।।३९
भवान् द्वादशवर्षोऽत्र ब्रह्मचर्यविवर्जितः। ब्रह्मबन्धुरिवाभाति नास्मत्कुलगतो यथा।।४०
मत्तस्तवोपनयनं दुर्लभं त्वं यतोऽनयात्। लालितोऽतो वसान्यत्र ब्रह्मचर्यं द्विजोत्तम!।।४१
अन्यथा तव दुष्कीर्तिर्नरकाददतिदुःखदा। भविष्यति ममाऽप्यत्र कुले यस्येदृशो भवान्।।४२

अधीतस्य श्वेतकेतोर्गर्वः

एवमुक्तो गतः सोऽपि प्राप्तबुद्धिर्महात्मनः। विप्रान् कांश्चिद् गुरून् कृत्वा वेदांश्च चतुरोऽपि हि।४३
अधीत्याङ्गैः समं तेषां मीमांसां प्रविधाय च। वेदान्तरहितानां स स्नातोऽगात् स्वगृहं प्रति।।४४

तस्यां शिक्षायां सत्यामपि पुरुषान्तरेण अनुष्ठीयमानायामपि सा आचार्यादिकर्तृका शिक्षा आवश्यकीति शेषः, किमुत असत्त्वे! इति भावः। अशिक्षणे स्फुटं दोषमाह—तस्या इत्यादिना। हे सुत! यतः तस्याः शिक्षायाः त्वद्विषयेऽननुष्ठाने भवान् द्वादशवर्षो ब्रह्मबन्धुः अपकृष्टब्राह्मणः तद्वद् अस्मत्कुलेऽनुत्पन्न इव भाति। इति द्वयोः सम्बन्धः।।३९-४०।।

तर्हि ब्रह्मवर्चसकामं मामुपनीय शिक्षय—इत्यभिप्रायं तस्यालक्ष्याह—मत्त इति। यतोऽनयात् नयस्य नीतेरुपेक्षणाद् एतावन्तं कालं लालितः असि अतः तवोपनयनम् उपनीय शिक्षणं मत्तो मत्कर्तृकं दुर्लभम् असम्भवि, लालके मयि त्वच्छ्रद्धाया अनवताराद् इति भावः। ततः अन्यत्र अन्याचार्यसमीपे वासेन ब्रह्मचर्यधर्मजातं जुषस्वेत्यर्थः।।४१।। अन्यथेति। स्पष्टम्।।४२।।

एवमुक्त इति।[1] एवंविधवाक्येन विवेकं प्राप्तः श्वेतकेतुरन्यान् विप्रान् महात्मनो महामतीन् आचार्यान् कृत्वा शिक्षाद्यङ्गैः सहितांश्चतुरो वेदान् अधीत्य तेषां वेदानां वेदान्तभागं विना मीमांसाम् अर्थविचारं कृत्वा स्नातः समावर्तनाख्यं संस्कारं प्राप्तः सन् गृहम् आगादिति द्वयोरर्थः।।४३-४।। बुद्धिमानिति। स चागच्छन् सन्निति

कर्तव्यपरायण होकर सही शिक्षा दिये बिना सोलह वर्ष के पुत्र को मित्रवत् मानकर चलना चाहेंगे तो वह युवा अशिक्षित रहकर स्वयं का व सारे समाज का अहित ही करेगा।)।।३५-७।। जिस बालक की बुद्धि पर अँधेरा छाया रहे और वह माता-पिता-आचार्य से शिक्षा ग्रहण न करे वह जवान होने पर दारुण क्लेश पाता है। वह ऐसे कुकर्म करता है जिनसे इहलोक में राजा आदि से डरता रहता है और परजन्म में यमराज क्या दण्ड देंगे यह सोचकर ही भय से काँप जाता है।।३८।।

आचार्य-पिता-माता की शिक्षा सभी के लिये हमेशा उचित रहती है। अन्य अध्यापकादि भले ही पढ़ावें पर उक्त तीन द्वारा दी शिक्षा तो मनुष्य बनने के लिये अनिवार्य है।(आचार्य अर्थात् आचरणपूर्वक शास्त्रोक्त अर्थ सिखाने वाला, सदाचार कराने वाला।) बेटा! हम लोगों ने तुझे कुछ सिखाया नहीं इसलिये तू अब बारह वर्ष का हो गया पर अभी ब्रह्मचारी नहीं बना! तू ब्राह्मण नहीं वरन् ब्रह्मबंधु-सा लगता है, हमारे कुल का लगता ही नहीं। (विजातीय विवाहादि से अब्राह्मण की भी ब्राह्मणों से रिश्तेदारी हो जाती है, ऐसा अब्राह्मण जिसका कोई रिश्तेदार ब्राह्मण हो वह 'ब्रह्मबंधु' कहलाने लायक होता है किंतु प्रयोग में इस शब्द का उपयोग निंदार्थ ही किया जाता है, किसी को निकृष्ट ब्राह्मण कहना हो तो उसे ब्रह्मबंधु कहा जाता है।)।।३९-४०।। हे उत्तम द्विज! क्योंकि मैंने नीति से विपरीत तुझ से लाड-प्यार ही किया है इसलिये तेरी मुझ पर श्रद्धा ही नहीं बनेगी जिससे यह संभव नहीं कि मैं उपनयनपूर्वक तुझे वेदादि सच्छास्त्रों की शिक्षा दूँ। अतः किसी अन्य आचार्य का ब्रह्मचारी बन जा। ऐसा न किया तो तेरी अपकीर्ति होगी जो नरक से भी ज़्यादा दुःख देगी। जिसके कुल में तुझ-सा अशिक्षित लड़का हो जायेगा उस मेरी भी बहुत बदनामी

१. 'स ह द्वादशवर्ष उपेत्य चतुर्विंशतिवर्षः सर्वान्वेदानधीत्य महामना अनूचानमानी स्तब्ध एयाय।'६.१.२।

बुद्धिमानहमेवाऽस्मि सर्ववेदौघपाठकः। अर्थज्ञश्च पिता नैवं ममेत्येवं व्यचिन्तयत्।।४५
पिता मे यदि वेदज्ञो मामन्यान् प्रति चात्मनः। सुतं स प्रेषयेत् केन ततोऽयं स्वल्पवेदनः।।४६
गुरवोऽपि मम स्नेहं कृतवन्तः सुतादपि। अधिकं यत एवास्मात्प्रीत्याऽतिशयवानहम्।।४७
कदाचिदुक्तवन्तो मां सस्नेहं शपथैः समम्। सर्वमेवात्मविज्ञानमस्माभिः कथितं हि ते।।४८
शिशुराङ्गिरसो यद्वद् वृद्धोऽभूद् विद्यया पुरा। पितृभ्यःस्वस्य तद्वत्स्याम् अहं स्वस्य पितुः सदा।।४९
इति सञ्चिन्त्य गर्वेण दोषेणाऽज्ञत्वमागतः। न ववन्दे पितुः पादावागत्य स्वगृहं गतः।।
उच्चासने समासीनः स्तब्धः स्तम्भोपमः स्थितः।।५०

पितृप्रश्नः

तादृशं तनयं दृष्ट्वा पिता प्राह सुतं ततः। अनुग्रहाय तस्याऽयं दोषलेशविवर्जितः।।५१

व्यचिन्तयत् चिन्तितवान्। 'इति' किम्? वेदतदर्थज्ञानयोः पिता आरुणिः न मत्सदृशः।।४५।। इतश्च स तथा यतो मामन्यत्र अध्ययनार्थं प्रेषितवान् इत्याह—पितेति। मामात्मनः सुतमन्यान् प्रति कथं प्रेषयेत्।।४६।। गुरूणामनुग्रहातिशयादपि अहमस्मादधिक इत्याह—गुरव इति। यतो गुरवः प्रीत्या सुतादप्यधिकं स्नेहं कृतवन्तः अस्माद् हेतोः अहम् अतिशयवान् इति योजना।।४७।। कदाचिदिति। सस्नेहं सशपथं च यतो मां प्रति कदाचिद् गुरव इत्थम् उक्तवन्तः। 'इत्थं' कथम्? अस्माभिः सर्वा विद्या तुभ्यमर्पितेति। ततोऽपि अहमधिकइत्यर्थः।।४८।। शिशुरिति। यथा आङ्गिरसो बृहस्पतिस्तत्सुतोऽजो वा विद्यया पितृप्रभृतिभ्योऽधिको जातः तथा अहम् अपीत्यर्थः।। अजो हि शंयुनामान्तरकः शुक्राद् मृतसंजीवनीं विद्यामधिगत्य देवान् अध्यापयामासेति प्रसिद्धं शतपथादिषु। मनुनाऽप्युक्तम् 'अध्यापयामास पितॄन् शिशुराङ्गिरसः कविः। पुत्रका इति होवाच ज्ञानेन परिगृह्य तान्।।' (मनु.२.५१) इत्यादि द्वितीयाध्याये।।४९।। इति सञ्चिन्त्येति। इत्थं चिन्तनजन्यगर्वदोषेण अज्ञो मोहं गतः सन् पितुः पादौ अनभिवाद्य उच्चासने तिष्ठन् स्तम्भवत् स्तब्धोऽनम्रः स्थित इति।।५०।।

तस्याऽभिमानपरिहारार्थं पितृप्रयुक्तवाक्यस्य 'विज्ञातम्' इत्यन्तस्य[1] अर्थमाह—तादृशमिति चतुर्भिः। दोषाः कोपादयः तल्लेशैरपि हीनः पिता केवलानुग्रहायेदमाहेत्यर्थः।।५१।। श्वेतेति। हे श्वेतकेतो! यस्माद् अतिशयाद्

ही होगी।।'४१-२।। यों समझाने पर श्वेतकेतु का विवेक जाग्रत् हुआ और कुछ महात्मा विप्रों के निकट जाकर उसने उन्हें आचार्य स्वीकारा। चारों वेद, छहों वेदांग, तथा वेदार्थ-विचारक मीमांसाशास्त्र पढ़कर वह स्नातक बन गया। वैराग्यादि अधिकारिगुण न होने से उसने वेदान्तों का अर्थानुसंधान बिना किये अपनी पढ़ाई पूरी मान ली और घर लौट आया। लौटते हुए उसके मन में यह घमण्ड हो गया 'सारे वेद पढ़ चुका हूँ अतः दुनिया में मैं ही बुद्धिमान् हूँ! मुझे ही वेदार्थ मालूम है। मेरे पिता भी मुझ जितने समझदार नहीं हैं। अगर उन्हें वेद आता होता तो मुझे, जो उनका प्रिय पुत्र हूँ, अन्यों के पास पढ़ने क्यों भेजते? अतः निश्चित ही पिता थोड़ा-सा ज्ञान ही रखते हैं।।४३-६।।

क्योंकि मेरे अध्यापकों ने भी अपने पुत्रों से ज़्यादा स्नेह मुझ पर रखा, मुझ पर हमेशा अत्यधिक प्रसन्न रहे इसलिये तय है कि मेरी योग्यता में वैशिष्ट्य है। गुरुओं ने कई बार कसमें खाकर स्नेहपूर्वक कहा था 'हमें जो कुछ आता है वह सब तुझे सिखा दिया।' इसलिये मेरी बौद्धिक सम्पदा असीम है। प्राचीन इतिहास है कि आंगिरस बाल्यावस्था में ही विद्या-दृष्टि से अपने पिता आदि की अपेक्षा वृद्ध माने जाते थे। ऐसे ही मैं भी अपने पिता से ज्ञानवृद्ध ही हूँ।' ।४७-९।।

---

१. 'तं ह पितोवाच—'श्वेतकेतो! यन्नु सोम्य! इदं महामना अनूचानमानी स्तब्धोस्युत तमादेशमप्राक्ष्यः।।२।। येनाश्रुतं श्रुतं भवति, अमतं मतम्, अविज्ञातं विज्ञातम्?' इति।'

श्वेतकेतो! भवान् यस्मात् स्तब्धः स्थाणुरिव स्थितः। वेदवेदार्थवेत्ताऽहमिति मन्ता महामनाः।।५२

पृष्टवानसि किं नु त्वं प्रश्नमेतं गुरून्प्रति। येनैकेन श्रुतेन स्याच्छ्रुतं सर्वं चराचरम्।।५३

अश्रुतं वाऽमतं तद्वदविज्ञातं च धीमता। मनसाऽत्र मतं तत् स्याद् विज्ञातं च धियाऽपि हि।।५४

क्षीणगर्वःश्वेतकेतुरप्राक्षीत्

इत्युक्ते क्षीणगर्वः स्वजनकं चाऽभिवाद्य सः। आश्चर्यं परमं प्राप्त इदमाह वचस्ततः।।५५

श्रुते मते च विज्ञात एकस्मिन्निखिलं कथम्। श्रुतं मतं च विज्ञातं भवेदेतद्वदाधुना।।५६

पित्रुपदेशः

इत्युक्ते तं ततः प्राह तनयं जनकस्तदा। तेजोऽबन्नात्मकं विश्वं तत्त्र्यस्याऽपि कारणम्।
दृष्टान्तैस्त्रिभिरेव त्वं सम्यगेवावधारय।।५७

भवान् स्तब्धः तथा साङ्गसर्ववेदानां तदर्थानां च वेत्ताऽस्मीत्येवं मननशीलः, तथा महामनाः महद् इतरैरसमम् आत्मानं मन्यमानं मनो यस्य स तथा त्वं भवसि, सोऽतिशयः क इति शेषः।।५२।। पृष्टवानिति। नु इति वितर्के। किम् एनं[1] प्रश्नं प्रश्नयोग्यमर्थं श्रुतौ कर्मव्युत्पत्त्याऽऽदेशपदोक्तं पृष्टवानसि यस्यैकस्य श्रवणात् सर्वं श्रुतं शब्देन ज्ञातं भवेत्? तथा यस्य मनसा मननाद्, धिया विज्ञानाच्च सर्वममतम् अपि अविज्ञातम् अपि च मतं विज्ञातं च भवेत्? इति द्वयोरर्थः।।५३-४।।

श्वेतकेतोः प्रश्नवाक्यमवतारयति[2]—इत्युक्त इति।।५५।। तदर्थमाह—श्रुत इति। यस्य एकस्य श्रवणादिना सर्वस्य श्रुतत्वादिकम् अतिचित्रं भवति तदेकं वस्तु मह्यमुपदिशेत्यर्थः।।५६।।

'वाचारम्भणा'दिभागान् विहाय पितृवाक्यस्याऽर्थमाह[3]—इत्युक्ते तमिति षड्भिः। एवं प्रश्ने कृते सति पिता तम् उवाच— हे श्वेतकेतो त्वं तावत् त्रिभिः दृष्टान्तैः सर्वं विश्वं तेजो-जल-पृथिवीमात्रम् अवधारय। तथा तद्दृष्टान्तेन तत्त्रयस्य तेजोऽबन्नाख्यस्य यत् कारणं परमात्माख्यं तन्मात्रं समवधारयेत्यर्थः।।५७।।

इस कुविचार से उसे गर्वरूप दोष ने घेर लिया और बहुत कुछ जानने वाला होने पर भी उस दोष के कारण मूर्ख बन गया : घर आने पर उसने पिता की चरणवंदना नहीं की बल्कि बिना अभिवादन किये अनम्रतापूर्वक उनसे ऊँचे आसन पर अकड़ कर बैठ गया मानो कोई खम्भा हो!।।५०।।

पुत्र को ऐसा अविनयी देखकर पिता को क्रोधादि कोई दोष अभिभूत नहीं कर पाया। उस पर अनुग्रह करने के लिये ही—वह मिथ्याभिमानग्रस्त होकर दुर्मार्गी न बने वरन् सत्य समझकर असीम आनंद पाये इस भावना से—वे पुत्र से बोले :।।५१।। 'श्वेतकेतु! तू ठूँठ-सा अकड़ा दीख रहा है, लगता है तू मान रहा है कि तू ही वेद-वेदार्थ का जानकार है, विचारक्षम है, तेरे समान कोई विद्वान् नहीं है! क्या तूने अपने गुरुओं से उसके बारे में पूछा जिस एक को सुन लेने पर पृथक्-पृथक् सुनने के प्रयास के बिना चराचर सब कुछ सुन लिया जाता है? जिसका मन से मनन और बुद्धि से विज्ञान कर लेने पर वह सभी कुछ सोचा-समझा हो जाता है जिसे कभी सोचा-समझा नहीं?'।।५२-४।।

पिता के प्रश्न से ही श्वेतकेतु का गर्व मिट गया! उसने तुरंत उनका अभिवादन किया और आश्चर्यचकित होकर कहने लगा 'एक का श्रवण-मनन-विज्ञान कर लेने से अखिल वस्तुएँ सुनी सोची समझी कैसे हो जाती हैं यह

१. 'प्रश्नमेतम्' इत्यत्र 'प्रश्नमेनम्' इत्येषां स्यात्पाठः।

२. 'कथं नु भगवः स आदेशो भवतीति।'।३।।

३. 'यथा सोम्य! एकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।।४।। यथा... लोहमणिना ...लोहमयं... लोहमित्येव...।।५।। नखनिकृन्तनेन... कार्ष्णायसं... कृष्णायसम् इत्येव सत्यम्।'

मृदो वाऽपि सुवर्णस्य तैजसस्याऽथ वा सुत। अयसो वाऽपि पिण्डस्य कारणस्यावबोधतः।
ज्ञातं कार्यं घटादि स्यात् कटकादि तथा परम्।।५८

द्रवीभावाज्जलानां च जायन्ते विविधा अपि। केवलस्याऽथ[1] पिण्डस्य कारणत्वं न लोकतः।।५९

प्रसिद्धं तेन तत्रोक्तं स्वच्छं नखनिकृन्तनम्। पयःपिण्डसमं श्रुत्या तृतीयं हि निदर्शनम्।।६०

दृष्टान्तत्रयं भूतत्रयाभिप्रायेण उक्तमिति दर्शयंस्तत्स्वरूपमाह— मृद इत्यादिना। यथा मृदः पिण्डस्य पिण्डावस्थोपहितपृथिवीसामान्यरूपस्य कारणस्य अवबोधात् परिचयात् तत्कार्यं घटादि सर्वं ज्ञातं भवेत्, यथा वा सुवर्णस्य तैजसस्य धातोः, श्रुतौ लोहपदोक्तस्य पिण्डभूतस्य पूर्ववज्ज्ञानात् कटककुण्डलादिविकारजातं ज्ञायते, यथा वा अयसो नखनिकृन्तनादिपिण्डगतस्य ज्ञानात् सर्वे लोहविकारा ज्ञायन्त इत्यर्थः।।५८।। ननु नखनिकृन्तनं न जलीयं, तत् कथं जलीयदृष्टान्ताभिप्रायेणोक्तम्? इत्याशङ्कां परिहरति—द्रवीभावादिति द्वाभ्याम्। यद्यपि जलानां द्रवी भावाद् द्रुतावस्थानां सम्पर्काद् एव विविधा विकाराः पृथिव्यादेरपि जायन्ते, तथा च जलानां कारणत्वं प्रसिद्धम्, तथापि केवलस्य आप्यस्य जलीयस्य पिण्डस्य कारणत्वं लोके प्रसिद्धं न भवति इत्यतः श्रुत्या लोकबुद्धिमनुसरन्त्या पयःपिण्डसमं स्वच्छं हिमादिरूपजलपिण्डवद् निर्मलत्वेन जलीयमिव दृश्यमानं नखनिकृन्तनं तृतीयदृष्टान्तेन उक्तम्। इति द्वयोरर्थः।।५९-६०।।

अब आप ही समझाइये।' ।५५-६।। (वेदान्तों की सर्वप्रसिद्ध प्रतिज्ञा है कि एक के ज्ञान से सब जान लिया जाता है। बृहदारण्यक में भी आया है 'आत्मनि... विज्ञाते इदं सर्वं विदितम्' (४.५.६)। छांदोग्योक्त प्रकृत प्रतिज्ञा के आधार पर तदनन्यत्वाधिकरण में (२.१.अधि.६.सू.१४) विचार उपलब्ध है। उपनिषदों में अन्यत्र भी आयी इस प्रतिज्ञा का महत्त्व आँक कर ही आकाशादि को परमात्मकार्य सिद्ध किया है (ब्र.सू.२.३.सू.६, २.४.सू.४)। इसी प्रतिज्ञा से 'सदेव' आदि वाक्य में सत् का अर्थ आत्मा है यह भाष्यकार ने (ब्र.सू.३.३.सू.१७'अपरा योजना') सिद्ध किया है। सूत्रकार ने जीव-ईश्वर की एकता स्थापित करने के लिये भी इस प्रतिज्ञा का उपयोग किया है (१.४.२०)। परमात्मा निमित्त ही नहीं उपादान भी है यह इसी प्रतिज्ञा से निर्धारित होता है (ब्र.सू.१.४.२३)। अतः 'परमात्मप्रसंग ही है' इसमें यह प्रतिज्ञा चिह्न समझी जाती है, जहाँ यह प्रतिज्ञा है वहाँ परमात्मा समझाया जा रहा है यह स्थित है। इसे सुनकर श्वेतकेतु ही नहीं सभी विवेकी आश्चर्य-स्तब्ध हो जाते हैं। क्योंकि इसकी उपपत्ति अद्वैत के बिना असंभव है इसलिये 'सर्व' का विज्ञान कैसे संगत है और उसके बिना यह प्रतिज्ञा कैसे पूरी होगी? यह समस्या चिन्तक को परास्त करती है, तभी वह शास्त्रशरण ग्रहण करता है।)

गर्व मिट जाने पर विनय से पुत्र ने जब यह जिज्ञासा की तब पिता ने उसे समझाना प्रारंभ किया : तुम तीन दृष्टांतों द्वारा पहले यह समझो कि सारा विश्व तेज-जल-पृथ्वीमात्र ही है, फिर तुम्हें समझ आयेगा कि सारा प्रपंच परमात्मा-मात्र ही है, जो परमात्मा तेजआदि तीनों का भी कारण है। यह रहस्य सही तरह समझो।।५७।। हे पुत्र! कारणभूत मिट्टी का पिण्ड समझ लेने से मिट्टी के घट आदि सारे कार्यों का ज्ञान हो जाता है, तैजस स्वर्ण के पिण्ड के ज्ञान से स्वर्ण के सब गहने जान लिये जाते हैं, लोहे का पिण्ड जान लिया जाये तो लोहमय सब कार्यों का पता चल जाता है । जैसे उक्त पिंडों में जो मिट्टीसामान्य आदि कारण है उसे जानने से पार्थिव आदि कार्यों का ज्ञान हो जाता है, उनके लिये पृथक् विचार नहीं करना पड़ता, वैसे ही भूतत्रय का भी जो कारण परम तत्त्व है उसे जानने से सभी कुछ जान लिया जाता है।।५७-८।।

(उपनिषत् में मृत्पिंड, लोहमणि और नखनिकृन्तन—ये तीन दृष्टांत हैं। मृत्पिण्ड तो स्पष्ट ही पृथ्वी के लिये उदाहरण है। लोहमणि स्वर्ण को कहते हैं। स्वर्ण तैजस होता है अतः वह तेजोरूप भूत के लिये उदाहरण है। नखनिकृन्तन

१. केवलस्याऽऽप्यपिण्डस्य-इति टीकानुसारी पाठः।

माद्रं तैजसम् आप्यं च यथा ज्ञात्वाऽत्र कारणम्। तन्मयं सकलं कार्यं जानीयादविचारयन्।।६१
एवं तत्त्वे परे ज्ञाते तेजोऽबन्नात्मकं जगत्। ज्ञायते सकलं पुंसां ह्यज्ञातमपि पुत्रक!।।६२

एकविज्ञानेन सर्वविज्ञाने भेदवादिमतम्

स्थालीपुलाकनामाऽयं न्याय उक्तो मनीषिभिः। एकस्मिन्नेव सिक्थे च विज्ञाते भाण्डसंश्रये।
पक्वे वाऽप्यथ वाऽपक्वे सर्वं हि विदितं भवेत्।।६३
एनं विज्ञाय केचित्तु नानामतविबोधनात्। संजायतेऽत्र विज्ञानम् एवमाहुर्विपश्चितः।।६४

उक्तमनूद्य दार्ष्टान्तिके योजयति—माद्र्मिति द्वाभ्याम्। माद्रं मृत्पिण्डगतम्। तैजसं सुवर्णादिपिण्डगतम्, आप्यं द्रुतजलादिगतं कारणं मृदादिसामान्यरूपं ज्ञात्वा सर्वं पार्थिवादि कार्यं जानीयादविचारयन्—लक्षणे शता, न ह्येकवारं पार्थिवपरिचये पार्थिवान्तरं दृष्ट्वा 'इयं पृथिवी न वे' ति सन्दिग्धे— इति। एवं भूतत्रयस्य अपि कारणं परं तत्त्वं विज्ञाय सर्वं ज्ञायते। इति द्वयोरर्थः।।६१-२।।

एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं गौणतया नयतां भेदवादिनां मतं निरसितुमनुवदति—स्थालीति द्वाभ्याम्। अयं न्यायः स्थालीपुलाकेतिनाम्ना प्रसिद्धः। 'अयं' कः? पाकाधारभाण्डे स्थालीसंज्ञे गतमेकं सिक्थं विक्लिन्नतण्डुलरूपं पुलाकपदवाच्यं पक्वाऽपक्वाऽन्यतररूपेण विज्ञाय सर्वं पुलाकगणं तद्वज्जानीयाद् इत्यर्थः।।६३।। एनमिति। उत्तरार्द्धे 'इति' इति शेषः। तथा च —केचिद् विपश्चित एनं न्यायं विज्ञाय मनसि निधाय इति आहुः। 'इति' किम्? अत्र आत्मनि ज्ञाते सति विज्ञानं विविधार्थगोचरं ज्ञानम् एवं स्थालीपुलाकवत् जायत इति। तेषामेवमभिधाने हेतुस्तु नानामतानां भेदशालिमतानां विशेषेण आदरनैरन्तर्यरूपेण यद् बोधनं परिशीलनं तदेवेत्यर्थः।।६४।।

अर्थात् नाखून काटने का औजार, नहनी। पारिशेष्य न्याय से यह जल के लिये दृष्टांत होना चाहिये किंतु नखनिकृन्तन और जल में दृष्ट-दार्ष्टान्त भाव कैसे है यह समझना कठिन होने से पुराणकार स्पष्ट करते हैं :) यद्यपि जल के मिश्रणादि से द्रवीभूत मिट्टी आदि से ही घट आदि विविध आकार बनते हैं, तथापि केवल जल का पिण्ड किसी वस्तु का कारण बनता हो यह लोक में प्रसिद्ध नहीं । इसलिये श्रुति ने नखनिकृन्तन का उदाहरण दिया जो चमकते हुए ऐसा लगता है मानो बर्फरूप जलपिण्ड हो।।५९-६०।।

पृथ्वी-जल-तेज इन कारणतत्त्वों को एक बार समझ लें तो इनके कार्यों के बारे में समझना सहज हो जाता है, उनका स्वरूप स्पष्ट पता चल जाता है। इसी प्रकार इन भूतों का भी कारण जो परम तत्त्व उसे जान लेने पर तेजआदि रूप सकल जगत् जो अभी अज्ञात है वह भी पूर्णतः जान लिया जाता है। (सही बात की जानकारी को ही 'ज्ञान' कहते हैं, ग़लत जानने को भ्रम कहते हैं। व्यवहारभूमि में पृथ्व्यादिरूप से समझना ही घटादि का सही ज्ञान है क्योंकि वह स्थायी है, घटादि नाम-रूप आगमापायी होने से मिथ्या हैं अतः उनकी जानकारी भ्रम कोटि की है। आगे महाभूत भी सविशेष होने से मिथ्या हैं अतः सद्रूप से उनका ज्ञान ही सही ज्ञान है। बहिर्मुख दृष्टि से यह सिद्धान्त व्यर्थ लगेगा ही क्योंकि इसके अनुसार लोक में जिन्हें विशेष ज्ञान मानते हैं उन्हें भ्रम समझकर छोड़ा जा रहा है अर्थात् सौ तरह के बर्तनों के निर्माण-उपयोगादि की जानकारी को तो अज्ञान बताया जा रहा है और मिट्टीरूप से सब बर्तन एक ही हैं इस अनुभव को ज्ञान बताया जा रहा है, उपादेय कहा जा रहा है, किन्तु अनात्मनिरपेक्ष आत्मसुख के विकास की दृष्टि से यही सिद्धान्त सर्वाधिक सशक्त है क्योंकि इसके अनुसार सनातन एकरस प्रत्यगात्मा को ही स्फुरमाण रहने देना है और वह नित्य ही प्रकाशता है अतः उसका वियोग कभी नहीं होगा। अज्ञानवश अभी अनात्मारोपों से उस मौजूद आनंद से हम बेखबर हैं, अज्ञान मिट जाने पर उसका स्फुरण बना रहने पर आनन्दमग्न बने ही रहेंगे।)।।६१-२।।

यद्यपि श्रुति ने स्पष्ट प्रतिज्ञा की है कि एक के विज्ञान से सभी विदित हो जाते हैं तथापि भेदसत्यता के आग्रही इस सर्वज्ञता को गौण मानते हैं : बटलोई में पकने के लिये चावल चढ़ाया हो तो दो-चार दाने अंगुलियों से मसल कर देख लेने पर पता चल जाता है कि भात पका या नहीं, परीक्षा दो-चार दानों की होती है पर ज्ञान सारे भात का हो

तन्निरासः

वक्तव्यास्ते भवद्भिस्तु ह्येतदुत्प्रेक्ष्यते कथम्। स्वबुद्ध्या श्रुतिबुद्ध्या वा सम्प्रदायबलेन वा?।।६५
पौरुषेयीं धियं नाऽत्र मन्यन्ते वेदवादिनः। विप्लवन्ते धियो यस्मात् पुरुषे या व्यवस्थिताः।।६६
यतो महात्मा कपिलो बुद्धकाणादगौतमाः। उत्प्रेक्षाबुद्धयो दृष्टाः परस्परविरोधिनः।।६७
विरोधेन प्रमाणत्वं न कस्यापीह वादिनः। ततस्तद्बुद्धिसन्त्यागाद् अन्या बुद्धिरिहेष्यताम्।।६८

विकल्पपूर्वकं तन्निरासप्रकारम् औपनिषदान् प्रति बोधयति—वक्तव्या इति। ते भेदवादिनो भवद्भिः औपनिषदैः वक्तव्या इत्थं प्रष्टव्याः। 'इत्थं' कथम्? हे वादिनो! भवद्भिः एतत् श्रुतेः स्थालीपुलाकन्यायेनैव सर्वविज्ञानपरत्वं यद् उत्प्रेक्ष्यते कल्प्यते, एतत् कल्पनं कथं कीदृशहेतुकम्? इत्यर्थः। तत्र किं स्वस्य कल्पकपुरुषस्य बुद्धिरेव हेतुः? श्रुतिप्रमाणजा बुद्धिर्वा हेतुः? सम्प्रदाय उपदेष्टृगुरुपरम्परा तस्य बलम् आनुकूल्यरूपं वा हेतुः? इत्यर्थः।।६५।।

तत्र नाद्यः, पौरुषेयबुद्धेः अप्रामाण्यशङ्कास्कन्दितत्वेन कथायां हेतुतयाऽनुपन्यसनीयत्वाद् इत्याह—पौरुषेयीमिति। वैदिकाः पौरुषेयीं केवलपुरुषसमुत्थितां मतिं न मन्यन्ते नाद्रियन्ते यतः पुरुषमतयो विप्लवन्ते अर्थं व्यभिचरन्तीत्यर्थः।।६६।। तस्या अमानत्वे कैमुतिकन्यायं सूचयति—यत इति। यतो महात्मा तार्किकेषु मुख्यः कपिलो बुद्धप्रभृतयश्च स्वोत्प्रेक्षामात्रेण यत्किञ्चिद् वदन्तः परस्परं विरोधिनः निरस्तयुक्तिका दृष्टाः। तद्धियाम् अप्रामाण्ये च स विरोध एव लिङ्गं, यस्माद् इह लोके विरोधेन हेतुना द्वयोर्मध्ये कस्यापि प्रामाण्यं न अवधारयितुं शक्यम् इति प्रसिद्धम्[1] इत्यर्थः।

तथा च द्वितीयः पक्षो भवद्भिरालम्बनीयः। परन्तु तदालम्बनं भवतां श्रुतावनाश्वासिनां दुष्करम् इत्याशयेनाह—तत इति। तद्बुद्धिं पौरुषेयीं बुद्धिं सन्त्यज्य अन्या अपौरुषेयी बुद्धिरिष्यताम् अन्वेष्टुं योग्या। इति द्वयोरर्थः।।६७-८।।

जाता है। इस ढंग से जानकारी पाने को 'स्थालीपुलाकन्याय' कहते हैं। स्थाली अर्थात् बटलोई और पुलाक अर्थात् गले हुए दाने, गले कुछ दाने देखने से सारी बटलोई के चावल के बारे में समझने का ढंग स्थालीपुलाकन्याय है। इसी न्याय को मन में रखकर भेदाग्रही लोग कहते हैं कि श्रुति ने जो आत्मविज्ञान से सर्वविज्ञान बताया है वह इसी तरह का है अर्थात् आत्मा सत्यादि है यह समझ लेने से सारी दुनिया के सत्यतादि का अवधारण हो जाता है! वे ऐसा कहने का दुःसाहस इसीसे कर पाते हैं कि नानात्व की उपपत्तियों के मनन में लग्न रहकर वे नानात्व के ही अनुभव में प्रतिष्ठित रहते हैं।।६३-४।।

अपनी मान्यताओं की अपेक्षा उपनिषदों के उपदेश को अधिक संमाननीय मानने वालों को उन भेदाग्रहियों से पूछना चाहिये कि वे किस हेतु से यह कल्पना करते हैं कि श्रुति ने मुख्य सर्वविज्ञान की दृष्टि से नहीं वरन् स्थालीपुलाकन्याय से गौण सर्वविज्ञान के अभिप्राय से एकविज्ञान से सर्वविज्ञान कहा है? तीन संभावनाएँ हैं : १) उक्त कल्पना में हेतु अपनी बुद्धि ही है, कल्पना करने वाले की बुद्धि से यही उचित लगा अतः उसने कल्पना की कि श्रुति ऐसा ही कह रही है। २) श्रुति रूप प्रमाण से यह कल्पना सत्यापित है, उपक्रमादि से तथा अन्य श्रुतिवचनों से इस कल्पितार्थ में ही शास्त्रतात्पर्य निर्धारित होता है। ३) गुरुपरंपरा से यही कल्पना प्राप्त हुई है, वेदार्थ का पारंपरिक ज्ञान इस प्रतिज्ञा का ऐसा ही अभिप्राय बताता है अतः यही कल्पना की जाती है। ये तीन हेतु संभव हैं जिनसे भेदाग्रही लोग श्रुतिप्रतिज्ञा को गौणपरिप्रेक्ष्य में ही समझते हैं।।६५।।

इनमें प्रथम विकल्प अग्राह्य है क्योंकि वेद को परम प्रमाण स्वीकारने वाले वेदैकसमधिगम्य विषयों में केवल पुरुषोत्प्रेक्षित मत का कोई आदर नहीं करते क्योंकि पुरुषों में ही व्यवस्थित (अर्थात् शास्त्रनिरपेक्ष) बुद्धियाँ सदा अर्थानुसारी नहीं होतीं। (लोक में ही स्वोत्प्रेक्षित निश्चय देशांतर, कालांतर, अवस्थांतर आदि में बाधित देखे जाते हैं अतः अपनी समझ पर इतना भरोसा संभव नहीं कि तदनुसार श्रुति का ही अन्यथा नयन किया जाये।)।।६६।।

---
१. ब्रह्मसूत्राविरोधाध्यायादाविति शेषः।

सम्प्रदायाद् यतो नैव कारणं श्रुतिनिर्णये। सम्प्रदाये ततः पुंसो बुद्धिरेव न चापरम्।।६९

सम्प्रदायपरीक्षा

अथ चेत् सम्प्रदायोऽयं न्याय इत्यभिधीयते। स न्यायः कोऽत्र सम्पृष्टाः कथयन्त्विह वादिनः।।७०

पुरुषस्य धियं हित्वा न्यायो नामाऽत्र कश्चन। वर्णनीयः पृथग्येन सम्प्रदायः पृथग् भवेत्।।७१

न तृतीयः, तस्याऽपि प्रथमपक्षान्तर्भावेण तद्दोषैराक्रमणाद् इत्याह—सम्प्रदायादिति। यतः कापिलबौद्धादिभिः सम्प्रदायं स्वं स्वमालम्ब्याऽपि श्रुत्यर्थनिर्णये कारणं निमित्तं नैव लब्धं तत एवं विज्ञायते यत् सम्प्रदाये समाश्रिते सति पुंसो बुद्धिः पौरुषेयी मतिरेव समाश्रिता भवति न चापरं न च पौरुषेयमतिभिन्नं किञ्चित् प्रमाणमाश्रितं भवति इत्यर्थः। यदि तत्तत्साम्प्रदायिकाः श्रुत्यर्थोपयुक्तं प्रमाणम् अप्राप्स्यंस्तदा श्रुत्यर्थे विप्रतिपत्तिं नाकरिष्यन्निति भावः।।६९।।

ननु सम्प्रदायपदेन लक्षणया स्वार्थलभ्यो न्याय उच्यते, तस्य निर्णयसाधनतायाः प्रसिद्धत्वाद्? इति शङ्कते—अथेति। तथा च तस्य न प्रथमपक्षान्तर्भावः इति भावः। इमां शङ्कां परिहर्तुं—किं भूयो दर्शनजा बुद्धिर्न्यायपदेन विवक्षिता? तर्को वा? इति विकल्पाऽभिप्रायेण पृच्छति— स न्याय इति। कः किंरूपः।।७०।। तत्र नाद्यः, न हि भूयोदर्शनेन कृता पृथिवीलोहलेख्यादिधीरपौरुषेयी तस्याः[1] प्रामाण्यापत्तेरित्याशयेनाह—पुरुषस्येति। अत्राद्यपक्षे पुरुषमतिं विना न न्यायस्वरूपं वर्णयितुं शक्यं येन न्यायस्वरूपभेदेन सम्प्रदायपक्षः प्रथमपक्षाद् भिद्यते इत्यर्थः।।७१।।

पुराणस्मृति आदि में अत्यधिक विचारकुशल माने गये हैं महात्मा कपिल ; नास्तिक तार्किकों में सूक्ष्मतम विवेचना करने वाले हैं बौद्ध; पदार्थ-मीमांसा के संदर्भ में कणाद का और युक्तिप्रक्रिया में गौतम का दर्शनजगत् में बहुत आदर है। किंतु ये सभी अपनी-अपनी उत्प्रेक्षाओं से जिन निश्चयों पर पहुँचते हैं वे परस्पर विरुद्ध हैं! वह विरोध ही उनके निर्णयों की अप्रामाणिकता का चिह्न है क्योंकि सत्य का सत्य से कभी विरोध नहीं हुआ करता। आपसी विरोध से उक्त किसी भी वादी की प्रामाणिकता नहीं रह जाती। अतः जब ऐसे महात्माओं की उत्प्रेक्षाएँ अ-मान्य हैं तब आप भेदवादियों की कल्पना संमाननीय नहीं इसमें कहना क्या! अपनी कल्पना से श्रौतार्थ-निर्धारण का दुरायास छोड़कर अन्य बुद्धि का ही सहारा आपको लेना चाहिये।।६७-८।।

यदि आप कहें कि संप्रदाय के बल पर आप श्रुति को गौणार्थक कह रहे हैं तो भी मानने जैसी बात नहीं है : कपिल-कणाद आदि के अनुयायी अपने-अपने संप्रदायों का सहारा लेकर भी ऐसा कोई निमित्त नहीं खोज पाये जिससे वे सब मिलकर श्रुति का कोई एक निर्णीत अर्थ बता सकें! इससे यही पता चलता है कि 'संप्रदाय का सहारा' कहने पर भी पौरुषेयी बुद्धि का ही उपयोग किया जाता है, उससे अन्य 'संप्रदाय' नामक कोई प्रमाण नहीं जिससे वेदार्थ का निश्चय हो सके।।६९।। (अर्थात् श्लोक ६५ में कहे प्रथम विकल्प और तृतीय विकल्प में कोई अंतर नहीं, पहले में मौजूद व्यक्ति की ही बुद्धि कही है वह तीसरे में 'संप्रदाय' कहकर किसी पुराने व्यक्ति की और उसे मानने वाले समूह की बुद्धि का उल्लेख कर दिया है पर हैं दोनों पुरुषबुद्धि ही।)

यदि पुरुषोत्प्रेक्षा से विलक्षण सिद्ध करने के लिये संप्रदाय को 'न्याय' कहो, अर्थात् संप्रदायबल का अर्थ करो न्यायबल, तो बताओ कि इस संदर्भ में न्याय का क्या रूप मानते हो?।।७०।। पुरुषमति से अतिरिक्त 'न्याय' का कोई स्वरूप तो बताना होगा जिससे संप्रदाय को पुरुषकल्पना से पृथक् समझा जा सके। (कई बार अनुभव करने से हुई समझ को न्याय कहें तो भी वह पुरुषमति से पृथक् नहीं क्योंकि उन अनुभवों की ही प्रमाणता पर वह समझ सही या ग़लत है यह निर्भर करता है। कई बार ग़लत अनुभव होने पर समझ भी ग़लत होती है : सूर्य में गति कई बार—

१. मृत्पात्र-पाषाण- काष्ठादिपार्थिवेषु लोहशलाकया शब्द-चिह्नादीनामुट्टङ्कनं सम्भवति इति भूयो दर्शनेऽपि पार्थिवत्व-लोहलेख्यत्वयोर्न व्याप्तिः, वज्रमण्यादौ पार्थिवेऽपि लोहलेख्यताऽसंभवादिति तार्किकसमाजप्रसिद्धो दृष्टान्तो भूयोदर्शनमात्रस्य व्याप्त्यग्राहकत्वे।

तर्कसमीक्षा

अथ चेत्तर्कउद्दिष्टो न्यायस्तं कथयन्त्विह। अनुग्रहकरो यस्मान्मानानां तर्क एष सः।
इति चेत्तत्र को नाम मानानुग्रह ईर्यताम्। ।७२

प्रमाणं चेत् स्वतो मानं तर्कस्तत्र करोति किम्[1]। अनुग्रहमतोऽन्यं वा ज्ञेयं चेत् कुरुते कथम्।
मानानुग्राहकत्वं स्यात् तस्य तत् परमं स्थितम्। ।७३

अथ द्वितीयपक्षं तर्करूपं प्रश्नोत्तराभ्यां निरस्यति—अथ चेदित्यादिना। यदि तर्को न्यायपदेन विवक्षितः तदा तं पक्षं वादिनः कथयन्तु उपपादयन्तु कुतो न्यायस्य तर्करूपत्वमिति यावत्। एवं पृष्टैर्यदीत्थमुच्यते—न्यायोऽपि मानानुग्रहायोपन्यस्यते तर्कोऽपि मानानुग्राहकत्वेन प्रसिद्ध इत्यतः स न्यायः तर्कः तर्करूप एव इति, तदा त इति प्रष्टव्याः—तेन तर्करूपन्यायेन मानोपरि अनुग्रहः किंरूपः क्रियत इति वक्तव्यमित्यर्थः। ।७२। ।

किं प्रामाण्यनिष्पत्तिरूपम् अनुग्रहं तर्को मानस्य करोति? किं वा प्रतिद्वन्द्विपरिहाररूपम्? अथ वा प्रामाण्यव्यञ्जनरूपम्? इति विकल्प्य, नाद्यः स्वतःप्रामाण्यवादे सम्भवतीत्याह—प्रमाणमिति द्वाभ्याम्। प्रामाण्यं हि प्रमाणस्य कर्म विषयप्रकाशनलक्षणं, तस्य निष्पत्तिं प्रमाणं स्वतः स्वयमेव करोति यतः स्वतो मानम् स्वरूपेण मानं भवति, न हि दीपः स्वविषयसाधने दीपान्तरमपेक्षतेऽदीपत्वापत्तेः, एवं प्रमाणस्य विषयसाधने परापेक्षायाम् अमानत्वापत्तिः। यद्येवं तदा तर्को मानोपरि कम् अनुग्रहं करोतीति वाच्यम्। यदि च मानविषयाद् विषयान्तरमेव तर्को ज्ञेयं स्वविषयं करोति, तदापि तर्कस्य मानानुग्राहकत्वं कथं स्यात्? यतः तस्य मानस्य तद् विषयभासनरूपं प्रामाण्यं परमं परानपेक्षत्वेन उत्कृष्टं स्थितं सिद्धमेवेत्यर्थः। ।७३। । किं च तर्कस्य अमानभूतस्य मानविषये प्रवेशो

हमेशा—अनुभूत होने से 'सूर्य चल रहा है, पृथ्वी स्थिर है' यह समझ आती है पर विवेकी इसे सही नहीं मानते। सार्वजनिक अनुभव से समझा जाता है कि बस की छत पर चढ़कर सफर करने वाले का और बस में कुर्सी पर बैठकर यात्रा करने वाले का समय एकरूप ही रहता है जबकि कालविषयक सूक्ष्म परीक्षण करने वाले इस समझ को सही मानने को तैयार नहीं, ज़मीन पर खड़े और गाड़ी मे चलते व्यक्ति के ही समयों को वे समान नहीं मानते। अतः कई बार अनुभव करने से हुई समझ को न्याय कहने पर भी वह पुरुषमति से स्वतंत्र कोई वस्तु नहीं है।)। ।७१। ।

अब अगर 'न्याय' का मतलब तर्क कहो तो भी कुछ प्रश्नों का जवाब देना होगा : 'तर्क' एक तरह की कल्पना को कहते हैं जो किसी प्रमाण पर 'अनुग्रह' करती है अर्थात् प्रमाण में संगति प्रकाशित करती है। क्या ऐसे ही न्याय को प्रमाण पर अनुग्रह करने वाला मानते हो? यदि हाँ, तो बताओ कि प्रमाण पर न्याय के अनुग्रह का क्या स्वरूप है?। ।७२। । (प्रसिद्ध तर्क का ढंग है कि अनुमान करने पर जब शंका उठे कि 'हेतु रहते भी साध्य पक्ष में न रहे तो हर्ज़ क्या है?' तब उसके समाधानार्थ जो यह संभावना व्यक्त की जाती है कि 'यदि हेतु-साध्य का अनिवार्य साहचर्य न होता तो उनका परस्पर कार्यकारणतादि सम्बंध भी न होता', उसे तर्क कहते हैं। कार्यतादि संबंध भी है और साहचर्य भी है अतः तर्क एक तरह से आरोप या कल्पना ही है। इस तर्क का काम है अनुमानादि प्रमाण के औचित्य पर उठी शंका मिटाना, यही उसका प्रमाण पर अनुग्रह कहा जाता है। इस बात की अब परीक्षा करेंगे।)

प्रमाण पर अनुग्रह तीन तरह संभव है—तर्क से १) प्रमाण में प्रामाण्य आता है, २) प्रमाण के प्रतिद्वन्द्वी का निरास होता है, ३) प्रामाण्य की अभिव्यक्ति होती है। किंतु जिस सिद्धान्त में प्रमाण अपने विषय का प्रकाशन करने के लिये खुद ही पर्याप्त है, अन्य किसी पर निर्भर नहीं, जैसे दीपक रूप प्रकाशन के लिये स्वयं सक्षम है, उस सिद्धांत में, स्वतःप्रामाण्यवाद में, प्रमाण पर तर्क कौन-सा अनुग्रह करेगा? अगर कहो कि प्रमाण के विषय से अन्य किसी को तर्क अपना विषय बनाता है तो भी तर्क को प्रमाण पर अनुग्रह करने वाला कैसे समझा जायेगा? अलग विषय भले

१. कमिति टीकापाठः।

मानामाने यतो नित्ये स्वरूपाश्रयभेदतः। न ह्यन्यस्याकृतिः काचिदपरस्याऽत्र दृश्यते।।७४

अथ चेत् स्यात् सुप्रसिद्धमनिष्टस्याऽत्र कारणम्। अनुग्रहकरं स्वस्य यद्वत्तद्वद् इहापि च।।७५

नैतदेवं यतो नाऽत्र लभ्यते नियतं त्विदम्। मण्डूको मक्षिकाग्रासं ग्रसेत् सर्पो ग्रसेच्च तम्।।
प्रसिद्धं द्वित्वमप्येतत् किमिदं माऽप्रमा त्वयोः।।७६

एकस्मिन् विषये यत्र सन्निपातो द्वयोर्भवेत्। समानबलयोस्तत्र प्रसिद्धं द्वित्वमिष्यते।।७७

भ्रमेणाऽपि न भवति, कस्याऽपि सादृश्यस्य असम्भवाद् इत्याह—मानामाने इति। मानं चाऽमानं चैते द्वे अपि स्वरूपभेदेन आश्रयभेदेन च नित्ये सदा व्याप्ते, सर्वथा विलक्षणे इति यावत्, यतोऽनयोर्मध्येऽन्यस्य एकस्य आकृतिः सामान्यरूपा, अपरस्य द्वितीयस्य न दृश्यत इत्यर्थः।।७४।।

अथ द्वितीयं प्रतिद्वन्द्विपरिहारपक्षं शङ्कते—अथ चेदिति। अत्र लोके यद्वत् स्वस्य अनिष्टकारणं प्रसिद्धं तद्वद् अनिष्टपरिहारलक्षणस्य अनुग्रहस्य कारणमपि प्रसिद्धं, तथा इह प्रकृतेऽपि स्याद् इति चेद्? इति योजना।।७५।। एतं पक्षं परिहरति—नैतदेवमिति चतुर्भिः। एतद् मानविरोधिपरिहरणम् एवं लोकवत् अत्र न सम्भवति यत इदं मानाऽमानयोर्युगलं नियतम् एकदेशे मिलितं न दृश्यते। एतदेव स्फुटयति— मण्डूक इत्यादिना। यथा मण्डूको मक्षिकारूपं ग्रासं ग्रसंस्तं कवलितमक्षिकं मण्डूकं ग्रसन् सर्पः च प्रसिद्धः तथा माऽप्रमात्वयोः मात्वाऽमात्वयोः तदुपलक्षितमानामानयोरपि च द्वित्वम् द्वन्द्वम् अन्यतरग्रासकं किं प्रसिद्धम्? अपि तु नैव प्रसिद्धमित्यर्थः।।७६।। तत्र विषयैक्याऽभावं हेतुमाह—एकस्मिन्निति। यत्र समानबलयोः एकत्र विषयसन्निपातो निवेशो भवेत् तत्र द्वित्वं प्रतिद्वन्द्वी भावः इष्यते स्वीक्रियते परीक्षकैरित्यर्थः।।७७।।प्रकृते तदभावाय भिन्नविषयत्वमेव दर्शयति—मानमिति।

ही तर्क प्रकाशित करे, प्रमाण तो अपना विषय खुद ही प्रकाशित कर लेगा।।७३।। यह सदा मान्य है कि प्रमाण-अप्रमाण का स्वरूप व आश्रय विभिन्न ही हैं, इनमें परस्पर कोई समानता नहीं। तर्क प्रमाण तो है नहीं, एक कल्पना ही है, अतः प्रमाण का जो विषय उसके बारे में तर्क कोई तथ्य बता नहीं सकता! (यदि तथ्य प्रकाशित करे तो प्रमाण होने से तर्क नहीं रहेगा और तर्क है तो प्रमाण न होने से तथ्य नहीं बतायेगा, जबकि प्रमाण हमेशा तथ्य ही बताता है।)।।७४।। इस प्रकार प्रामाण्यनिष्पादन में तर्क का उपयोग संगत नहीं।

अनुग्रह का दूसरा प्रकार हो सकता है प्रमाण के प्रतिद्वन्द्वी का परिहार करना। लोक में हमारे अनिष्ट का जैसे कारण होता है वैसे उस अनिष्ट को दूर करना रूप अनुग्रह का भी कोई कारण हुआ करता है। इसी प्रकार प्रमाण के विरोधी का निराकरण करने से तर्क प्रमाण पर अनुग्रह कर सकता है।।७५।। किंतु यह उपपादन भी संगत नहीं। प्रमाण-अप्रमाण का युगल हमेशा एक स्थान पर उपस्थित होता नहीं कि अप्रमाणभूत तर्क प्रमाण के विरोधी के निरास में संलग्न हुआ करे। मक्खी को मेढ़क और मेढ़क को साँप खाता है। यह जैसे लोकप्रसिद्ध है ऐसे क्या कहीं प्रसिद्ध है कि विरोधी का निवारण तर्क करे और उस अप्रमाणभूत तर्क को प्रमाण हटाये तब प्रमा हो? अर्थात् प्रमात्व-अप्रमात्व या प्रमाण-अप्रमाण यों जोड़े में ही उपस्थित होकर कार्यकारी होते हैं यह लोक-शास्त्र कहीं स्वीकृत नहीं है।।७६।। समान बल वालों का एक ही विषय में निवेश होने पर प्रतिद्वन्द्वीभाव संभव है, आँख रूप में व नाक गंध में प्रमाण है तो इनमें प्रतिद्वन्द्व नहीं होगा वरन् दो स्वस्थ चक्षुओं का रूप के बारे में विभिन्न ज्ञान होने पर ही प्रतिद्वन्द्वी भाव हो सकता है। प्रकृत में प्रमाण हमेशा विषय करता है सत्य को और अप्रमाण का विषय हमेशा असत्य होता है। अतः दोनों का विषय एक नहीं कि विरोध संभव हो। इन दोनों के धर्म जो प्रमात्व और अप्रमात्व वे भी ऐसे नहीं कि किसी एक में रह सकें, प्रमा में ही प्रमात्व रहेगा, उसमें अप्रमात्व नहीं रहेगा। अप्रमात्व में प्रमात्व कभी नहीं रहेगा, हमेशा अप्रमात्व रहेगा। अतः इनमें तुल्यबलता भी नहीं कि प्रतिद्वंद्वीभाव हो सके।।७७-८।।

मानं वस्तुनि चामानं सर्वदा यात्यवस्तुनि। मात्वाऽमात्वे च वर्तेते भिन्नयोरेव मानयोः[1] ।।७८
अमानमिति विज्ञाते नियतं मृतमारणम्। मानाऽभिमानेनाऽप्यस्य निरासस्ते स सम्भवेत्।।७६
परतोऽपि यदा मानं भवेत्तर्कस्य कस्तदा। अनुग्रहो यतः सोऽयं न्यायात्माऽन्यपरो भवेत्।।८०
अमानस्य न मानत्वं कर्तुं तर्कशतेन च। शक्यं मानस्य तन्नैव सिद्धत्वात् क्रियते पुनः।।८१
ज्ञानं प्रति भवेत् कर्ता तदा कोऽसावितीर्यताम्। अमानं स भवंस्तर्को ज्ञापकोऽत्र भवेद्यदि।।
तेन ज्ञानस्य मेयत्वं स्यात्सदा शुक्तिरूप्यवत्।।८२

मानं प्रमाणं वस्तुनि सत्यविषय एव याति वर्तते। अमानं तु अवस्तुनि अनृतविषय एव याति। तथा तयोर्धर्मौ मात्वाऽमात्वरूपौ अपि परस्परं विविक्ताश्रयकावेवेत्यर्थः।।७८।। किं च मानस्य विरोधी अमानत्वेन विज्ञाय तर्केण निरस्यते? मानत्वेन विज्ञाय वा? नाद्यः, पिष्टपेषणत्वाद् इत्याह— अमानमिति। द्वितीयः पक्षस्तु तव दुराग्रहशीलस्य दुष्कर इत्याह—मानाभिमानेनेति। अस्य मानविरोधिनो निरासो न सम्भवति, ते मते। आग्रहपरित्यागे तु श्रुतिरेव कुतो न शरणी क्रियत इति भावः।।७६।।

प्रामाण्यस्य परतस्त्वपक्षेऽपि प्रोक्तदोषमतिदिशति—परतोऽपीति। यदा मानं प्रमास्वरूपं परतः सामान्यसामग्रीभिन्नाया गुणसंज्ञाया विशेषसामग्रीतो जायते—इति मतम्, तदाऽपि तर्ककर्तृको मानोपरि अनुग्रह उपकारः कः किमात्मकः यतोऽयम् अनुग्रहव्यापारमादाय सोऽयं तर्कः अन्यपरः परोपकारको भवेद् व्यवह्रियेतेत्यर्थः। अयं भावः—न हि सोऽनुग्रहो विषयप्रकाशलक्षणः, तस्य मानेन स्वयमेव कृतत्वात्। नाऽपि प्रमातृगताऽसम्भावनानिवृत्तिरूपः, तस्या दुरदृष्टप्रयुक्तायाः तद्विरोधिसुकृतप्रयोज्यत्वात्; तत्करणेऽपि मानं प्रत्यनुग्राहकत्वस्य दुर्वचत्वाद्, न हि मानं प्रमातृरूपम्! इति।।८०।।

अनुग्रहाऽसम्भवमेव अभिनयति—अमानस्येति। यत् स्वयम् अमानं विषयभासनाऽक्षमं तस्य मानत्वं तर्कशतेन अपि कर्तुं न शक्यम्। यत्तु मानं, तदीयमानत्वं पुनः न केनचित् क्रियते, सिद्धत्वाद् एव इत्यर्थः।।८१।।

अथ तृतीयं व्यञ्जकत्वपक्षम् अनूद्य निरस्यति—ज्ञानमित्यादिना। यदि तर्को ज्ञानं प्रामाण्यगोचरं प्रति कर्ता प्रामाण्यव्यञ्जक इति यावत्, इत्येवं मन्यते तदाऽपि इति वक्तव्यम्। 'इति' किम्? अयं तर्कः कः—किम् अमानरूपः किं वा मानरूपः? आद्ये; अनेन तर्केण निरूपितं ज्ञानस्य ग्राह्यप्रामाण्याश्रयस्य मेयत्वं विषयत्वं शुक्तिरजतवदेव मिथ्यात्वप्रयोजकं स्यात्। तथा च अमानविषयस्य प्रामाण्यं सत्यकारणतावादिनस्तव मते व्याहतम् इति भावः।।८२।। न द्वितीयः, अपसिद्धान्तापत्तेः। प्रमाणानुग्राहकत्वप्रसिद्धिविरोधापत्तेश्चेत्याह—मानतेति। तर्कस्य

यह भी विचारणीय है कि तर्क जिस प्रमाणविरोधी का निरास करता है उस विरोधी को अप्रमाण समझ कर उसके निरास में प्रवृत्त होता है या प्रमाण समझ कर? यदि अप्रमाण समझकर ही उसके निरासार्थ प्रवृत्ति मानो तो मरे को मारने-सी बात होगी, पहले ही अप्रमाण समझ लिया तो निरास की ज़रूरत क्या! यदि उसे प्रमाण समझकर तर्क निरासार्थ प्रवृत्ति करता है ऐसा कहो तो भी स्वतः प्रमाणवाद स्वीकारने वाले के मत में यह संभव नहीं होगा। (जायमान प्रमा में प्रमात्व स्वतः रहता है यह मानकर अप्रमाणभूत तर्क से उसका निरास कैसे स्वीकार सकते हैं? किं च प्रमाण मानकर तर्क निरास करे तो हमेशा ही करता चला जायेगा जिससे प्रमा कभी हो ही नहीं पायेगी!)।।७६।।

जब यह माना जाता है कि ज्ञानसामान्य की सामग्री से भिन्न किसी 'गुण' नामक विशेष सामग्री से ज्ञान में प्रमाणता आती है, तब भी प्रमाण पर तर्क क्या अनुग्रह कर सकता है! जिसे 'न्याय' कहना चाहते हो वह तर्क किस अनुग्रहरूप व्यापार के आधार पर प्रमाण का उपकारक समझा जाये? विषयप्रकाशन तो प्रमाण स्वयं ही करेगा, तर्क तो करेगा नहीं, अन्यथा तर्क ही पर्याप्त हो जायेगा और प्रमाण व्यर्थ होगा। प्रमाता में रहने वाली असंभावना हटाना यदि तर्क का फल मान भी लें तो प्रमाण पर फिर भी कोई अनुग्रह नहीं सिद्ध होता क्योंकि वह अनुग्रह प्रमाता पर ही हुआ। अतः परतः प्रामाण्य मानने पर भी तर्क का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता।।८०।।

---
१. मानामानयोरित्यर्थः।

मानता नैव तर्कस्य वादिनां संमता यतः। मानत्वे च प्रमाणोक्त्या न्याय उक्तो भविष्यति।।८३

प्रमाणानि च सर्वाणि सर्ववादिमते न च। किन्तु कस्यांऽपि किंचित्तु तत्र न्यायः क ईर्यताम्।।८४

ननु यन्मेयतः स्वस्य व्यभिचारं न याति हि। तदेव मानमित्युक्तं नेतरद् व्यभिचारि यत्।।८५

मानता अयुक्तेति शेषः। यतः सर्ववादिनां न संमता। किं चाऽत्र पक्षे प्रमाणत्वेनैव तर्कस्य संग्रहात् 'तर्को मानानुग्राहक' इतिं न वक्तव्यं स्याद् इत्यर्थः।।८३।।

किं च प्रत्यक्षे तर्कान्तर्भावस्य व्याहतत्वाद् अनुमानादावेव तदन्तर्भावो वाच्यः, स च न नियन्तुं शक्यः, अनुमानादीनामेव प्रामाण्ये सर्ववादिनाम् ऐकमत्याभावात्। तथा हि—लोकायतिकोऽनुमानादिकं न मन्यते, कणादः सुगतश्च शब्दादिकं, नैयायिक अर्थापत्त्यादिकं, प्राभाकरः अनुपलब्धिम्—इत्याशयेन आह—प्रमाणानीति। सर्ववादिनामैकमत्यगोचराणि सर्वाणि प्रमाणानि न सन्ति, किन्तु प्रतिवादि अनियतान्येव। तेषु तर्करूपो न्यायः अन्तर्भवन् कः किमात्मकः स्याद् इति वक्तव्यमित्यर्थः।।८४।।

ननु आपाततः प्रमाणेऽन्तर्भावितोऽपि तर्कः पश्चादर्थाऽव्यभिचाररूपलक्षणेन प्रमाणपरीक्षायां सत्याम् अमानतां यास्यति इति नाऽविनिगमदोष इति शङ्कते—नन्विति। स्वस्य स्वकीयाद् मेयाद् व्यभिचारं विषयान्तरपरत्वं न गच्छति तदेव मानं भविष्यतीत्यर्थः।।८५।। तथाप्यविनिगमदोषाद् न निर्मोक्ष इति परिहरति—एवं चेदिति।

जो स्वयं अप्रमाण है उसे सैकड़ों तर्कों से भी प्रमाण नहीं बनाया जा सकता और जो है ही प्रमाण उसे तर्क पुनः प्रमाण बनाये यह भी संभव नहीं क्योंकि उपस्थित वस्तु का उत्पादन हुआ नहीं करता है।।८१।

श्लोक ७३ में यह भी संभावना कही थी कि प्रामाण्य अभिव्यक्त करना ही तर्क का प्रमाण पर अनुग्रह है, अब उस की परीक्षा करते हैं : यदि तर्क को प्रामाण्य-विषयक ज्ञान का कर्त्ता अर्थात् प्रामाण्य का अभिव्यञ्जक माना जाये तो भी बताना होगा कि यह तर्क अप्रमाण है या प्रमाण? यदि तर्क अप्रमाण रहते हुए प्रामाण्य का ज्ञापक है तो जिस ज्ञान को विषय कर वह उसमें प्रामाण्य व्यक्त करता है वह ज्ञान अप्रमाण का विषय होने से शुक्तिरजत की तरह मिथ्या (अयथार्थ) होना ही उचित है। एवं च अप्रमाण के विषय को, अयथार्थ को प्रमाण मानना संगत नहीं हो सकता।।८२।। तर्क प्रमाण है यह तो कोई वादी मानता है नहीं और मानने पर जब स्वयं तर्क प्रमाण हो गया तो उसे प्रमाण पर अनुग्रह करने वाला कहना ही नहीं बनेगा! एवं च न्याय को तर्क व तर्क को प्रमाण कहने का अर्थ हुआ कि न्याय प्रमाण ही है, जो न्यायवादी भी कहना नहीं चाहता।।८३।।

तर्क प्रमाण हो तो प्रसिद्ध प्रमाणों में से कौन-सा है? प्रत्यक्ष तो वह है नहीं क्योंकि 'तर्क' कोई इंद्रिय नहीं है व प्रत्यक्ष प्रमाण तो इंद्रियाँ होती हैं। सभी वादियों का सभी प्रमाणों के बारे में ऐकमत्य है नहीं, किसी को कोई प्रमाण संमत है तो अन्य को दूसरा ही स्वीकार है। प्रमाणों के स्वरूपों में भी मतभेद है। उनमें बताना होगा कि न्याय या तर्क किस स्वरूप वाला प्रमाण है? (लोकायतिक केवल प्रत्यक्ष को प्रमाण मानता है, अनुमानादि को नहीं। काणाद-सौगत शब्दादि को प्रमाण नहीं मानते, नैयायिक के लिये अर्थापत्ति आदि और प्राभाकर के लिये अनुपलब्धि प्रमाण नहीं। मीमांसक संभव-ऐतिह्य को प्रमाण नहीं स्वीकारते। शून्यवादी-विज्ञानवादी की दृष्टि से प्रत्यक्ष भी प्रमाण नहीं है! अतः तर्क को प्रमाण कहने पर भी प्रश्न रहता है कि वह कौन-सा प्रमाण है? उक्त प्रमाणों में से ही कोई है या स्वतंत्र ही कोई अन्य प्रमाण है?)।।८४।।

जो अपने प्रमेय का व्यभिचारी नहीं वह प्रमाण और जो व्यभिचारी है वह अप्रमाण—इस व्यवस्था से तर्क को आपाततः प्रमाण मानकर भी परीक्षा करने पर अप्रमाण घोषित किया जा सकता है लेकिन इससे वह प्रश्न उत्तरित नहीं होता कि तर्क निश्चित रूप से प्रमाण है या अप्रमाण और प्रमाण है तो प्रत्यक्षादि में से कौन-सा? ('आपाततः

एवं चेन्मानमात्रस्य न मेयव्यभिचारिता। तथा च पुनरप्येतदुक्तदूषणमापतेत्।।८६

तर्कस्य सर्वप्रमाणान्तर्भावनिरासः

अथ न्यायोऽनुमानं स्याद् नानामानस्वरूपकम्। आगमात्मा प्रतिज्ञा स्यादनुमानं च साधने।।८७
व्याप्तिः प्रत्यक्षमित्युक्तमुपमानं निदर्शनम्। सर्वेषां समुदायः स्याद् वाक्यं निगमनं हि यत्।।८८
इदमायुष्मतो वाक्यं शतदूषणदुर्द्धरम्। ब्रह्मणश्चेद् भवेच्चायुर्मम तेऽपि द्वयोरिह।।८९
तदाऽस्य दूषणं सर्वं वक्तुं ज्ञातुं च शक्यते। इहाशां दूषणस्याऽस्य वदामि न्यायवेदिने।।९०

मात्रपदं कार्त्स्न्ये। तथा च एवम् उक्तलक्षणेन प्रमाणपरीक्षायां सत्यां चेद् यदि सर्वेषां प्रमाणानामनुपलब्ध्यन्तानां मेयाऽव्यभिचारलक्षणं प्रामाण्यं स्यात् तथा च तथा सति एतत् सन्निहितमुक्तं दूषणं 'न्यायः किं प्रमाणरूपो भवेद्' इत्यविनिगमरूपम् आपतेत् प्रसज्जेतैवेत्यर्थः।। सर्वेषाम् अनुपलब्ध्यन्तानां स्वस्वविषयनियतं प्रामाण्यं भट्टपादादिभिर्व्यवस्थापितम् एवेति भावः।।८६।।

अथ तर्काभिनिवेशी अनुमानान्तर्भावोपन्यासमुखेन सर्वप्रमाणान्तर्भावं तर्कस्य शङ्कते—अथ न्याय इति द्वाभ्याम्। अथ इति शङ्कापरम्। नानाप्रमाणरूपानुमानरूपो भवतु न्यायः तर्क इति प्रथमदलार्थः। कथमनुमानरूपस्य नानाप्रमाणरूपता? इत्यत आह— आगमात्मेति। पञ्चावयवकेऽनुमाने प्रथमोऽवयवः प्रतिज्ञा आगमप्रमाणरूपा। साधनं द्वितीयोवयवोऽनुमानरूपः। व्याप्तिः व्याप्तिप्रतिपादकमुदाहरणं प्रत्यक्षरूपम्। निदर्शनं 'तथा चाऽयम्' इत्याद्याकारक उपनय उपमारूपः। 'तस्मादि'त्यंशेन पूर्वोक्तसर्वसंग्राहकं निगमनं सर्वप्रमाणरूपम्। इति द्वयोरर्थः।।८७-८।। एनां शङ्कां परिहरन् दोषानन्त्यं तावद् भङ्गिविशेषेणाह—इदमिति। इदं तव शङ्का-वाक्यं दूषणशतेन दुर्द्धरं दुष्पूरम्, असंख्यदोषम् इति यावत्। अस्य समस्तदोषाभिधानं यद्यपि वक्तृश्रोत्रोः विधातृसमेन आयुषा साध्यं तथापि इह प्रकरणे एतदीयदूषणानाम् आशां दिशं तुभ्यं न्यायाभिनिवेशिने प्रदर्शयामि। इति द्वयोरर्थः।।८९-९०।।

प्रमाण' का क्या मतलब? बिना परीक्षा किये उसे यथार्थ माना जाये—यही अर्थ हो सकता है, किंतु इसका भाव तो निकलेगा कि वह वास्तव में अप्रमाण है, तब उसे प्रमाण में अंतर्भूत कहना ही व्यर्थ है! और यों तो तर्क ही नहीं भ्रम भी 'आपाततः प्रमाण' ही होगा! संशय की भी दोनों कोटियाँ 'आपाततः प्रमाण' ही रहेंगी! अतः आपाततः-विचारतः का भेद व्यर्थ है, विचारतः निर्णीत की ही चर्चा संगत होती है।)।।८५-६।।

तर्क पर आग्रह रखने वाला वादी उसका अनुमान में अंतर्भाव बताते हुए यह कहने की कोशिश करता है कि सभी प्रमाणों में तर्क का अंतर्भाव है : शंका है कि न्याय या तर्क अनुमान क्यों न हो? अनुमान स्वयं अनेक प्रमाणों का संकलन है। परार्थानुमान के पाँच अवयव प्रसिद्ध हैं। प्रथम अवयव है प्रतिज्ञा जो आगम या शब्द प्रमाण का रूप है। दूसरा अवयव है साधन या हेतु, वह अनुमान है ही। व्याप्ति का प्रतिपादक उदाहरण तीसरा अवयव प्रत्यक्ष का रूप है। चौथा अवयव है उपनय जिसमें पक्ष को दृष्टांत के अनुरूप बताया जाता है अतः वह उपमान प्रमाण का रूप है। इन सभी को संगृहीत किया जाता है निगमन नामक पाँचवे अवयव में जो सभी प्रमाणों का रूप समझा जा सकता है।।८७-८।।

शंकाऽभिव्यंजक उक्त श्लोकद्वयात्मक वाक्य में सैकड़ों दोष हैं जिनका परिहार संभव नहीं! हे न्यायी! श्रुति की प्रतिज्ञा को गौणार्थक सिद्ध करने की कोशिश में लगे भेदवादी! तुम्हारी-हमारी आयु ब्रह्मा जितनी हो तभी इस शंका के सारे दोष हम कह सकें और तुम समझ सको! अतः सब दोष हम नहीं बताने जा रहे (क्योंकि तुम्हारी-हमारी उतनी उम्र नहीं)। यहाँ हम केवल वह दिशा दिखा देते हैं जिससे तुम समझ सको कि उक्त शंका बहुत दोषों से ग्रस्त है। श्रुत्यर्थ के अन्यथाकरण में 'न्याय' के भरोसे तुम संलग्न हो अतः हमारे द्वारा बताई दिशा में सोचकर अपना दुराग्रह छोड़ो।।८९-९०।।

प्रमाणानि सदैवैककार्यकारीणि वाऽन्यथा। अन्यथा चेदिहाप्येवं तस्मात्तानि न कुर्वते।।९१
एवं च मानता तेषामनुमानं विना न हि। न चेत् प्रदृश्यते चाऽत्र मानता सर्वसम्मता।।९२
साधनं चानुमानं चेत् सर्वमानात्मकं कथम्। भवेच्चेत् सर्वमानत्वं तस्य साधनता कुतः।।९३
वचनेषु च सर्वेषु स्थितेष्वागमता कुतः। प्रतिज्ञावचनस्याऽस्य तदप्यत्र विचिन्त्यताम्।।९४
सन्दिग्धं नागमो ब्रूते भवत्पक्षेऽपि कर्हिचित्। नो चेत् स एव नैव स्याद् इत्याद्यत्र च दूषणम्।।
सर्वावयवगं ज्ञेयं व्याप्तौ च द्विजसत्तमैः।।९५

प्रमाणानीति। किं प्रमाणानाम् एककार्यकारित्वं स्वभावः? किं वाऽन्यथा नानाविधमेव कार्यं कुर्वन्ति? अन्त्ये, इह अनुमानाख्यतत्समुदायमध्येऽपि तानि एवं नानाविधमेव कार्यं किं न कुर्वन्ति? इत्यर्थः। तथा च तेषाम् एकप्रमाणाऽन्तर्गतत्वोक्तिर्व्याहतेति भावः।।९१।।

आद्ये, आह—एवं चेति। एवम् एककार्यकारित्वनियमे सति तु तेषाम् अनुमानातिरिक्तप्रमाणानां मानता प्रामाण्यम् अनुमानं विना न स्याद् इति शेषः। इष्टापत्तिं निरस्यति—न चेदिति। अनुमानसापेक्षमेव सर्वेषां प्रामाण्यं तदा स्याद् यदि स्वस्वविषये सर्वेषां प्रामाण्यं न दृश्येत, तत्तु प्रदृश्यते—इत्यर्थः।।९२।। साधनमिति। यदि साधनं हेतुसंज्ञो द्वितीयोऽवयवोऽप्यनुमानरूपः तदा तु मानस्य सर्वप्रमाणरूपतोक्तेः व्याघातः, तन्मात्रे इतरेषाम् अनुपलम्भात्। यदि तस्य अध्याहारादिना सर्वमानरूपतोपपद्यते, तदा तस्य 'पञ्चम्यन्तं लिङ्गवचनं हेतुः' इति लक्षितायाः साधनतायाः स्याद् व्याहतिरित्यर्थः।।९३।। किं च पञ्चानामवयवानां वाक्यात्मकत्वे समाने सति प्रतिज्ञावाक्यस्यैव आगमप्रमाणरूपताभिधानमयुक्तमित्याह—वचनेष्विति। स्पष्टम्।।९४।। सन्दिग्धार्थप्रतिपादिकायाः प्रतिज्ञाया निश्चयात्मकप्रमाजनकमुख्येन आगमेन सह अभेदाभिधानं कथं न व्याहतं स्याद् इत्याह—सन्दिग्धम् इति। य आगमः स सन्दिग्धार्थगोचरं सन्देहरूपमर्थज्ञानं न जनयति। नो चेत्, सन्दिग्धं ब्रूते चेत्, तदा स एव न स्याद् आगमत्वादेव प्रच्यवेत इति भवत्पक्षेऽपि सिद्धं, तथा च तद्विरुद्धं कथं प्रतिज्ञाया आगमत्वं स्याद् इत्यर्थः। उपनये तथा-पदं, निगमने तस्मादिति पदं च व्याप्यसंबंधमात्रपरं, न सादृश्यादिपरम्। तदनालोचनादिकं दूषणजातमन्यत्र अपि अवयवे बोध्यम्। तथा तर्कजीवनौषधभूतायां व्याप्तौ कल्पनात्मिकायां प्रत्यक्षतानुपपत्त्यादिकं बोध्यम्। कल्पनामात्रत्वं च तस्या भट्टपादैरुक्तम्। तथाहि—'साहित्ये मितदेशत्वात् प्रसिद्धे वह्निधूमयोः। व्यतिरेकस्य चाऽदृष्टेः गमकत्वं प्रकल्प्यते'। (श्लो.अर्था.४२) इति। अस्यार्थः—मितदेशत्वात् प्रमितमहानसादिदेशवृत्तित्वेन वह्निधूमयोः साहित्ये सम्बन्धे प्रसिद्धे सति सम्यग्ज्ञाते सति व्यतिरेकस्य व्यभिचारस्य अदर्शनशालिना पुरुषेण धूमगमकत्वं वह्निबोधनसामर्थ्यभूता नियतसाहचर्यलक्षणा व्याप्तिः कल्प्यत इति। तथा चागमरूपं भास्वन्तमुपेक्ष्य कल्पनानिदाने तर्केऽत्यादरो दृष्टिमान्द्यमेव स्फुटयतीति भावः। अत एव पक्षपातराहित्य-बोधकं द्विजसत्तमैः इत्युक्तम्।।९५।।

प्रमाणों का स्वभाव एक कार्य करना है या नानाविध कार्य करना? यदि नानाविध कार्य करना उनका स्वभाव हो तो अनुमाननामक प्रमाणसमुदाय के घटक बनकर भी वे नानाविध कार्य ही क्यों नहीं करेंगे? और जब प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति, शाब्दी आदि विभिन्न प्रमाएँ उत्पन्न करेंगे तब वे एक प्रमाण के अन्तर्गत नहीं कहे जा सकेंगे।।९१।। यदि स्वभावतः प्रमाण मिलकर एक कार्य ही करते हैं तो जब वे अनुमान के घटक नहीं बनते तब प्रमाण ही नहीं रह जायेंगे क्योंकि अनुमिति उत्पन्न ही नहीं कर पायेंगे। किंतु यह मानना संभव इसलिये नहीं कि अनुमान से निरपेक्ष ही सब प्रमाण अपने-अपने विषयों की प्रमिति उत्पन्न करते सबको सुलभ हैं।।९२।।

किं च उक्त शंका व्यक्त करते हुए हेतु को अनुमान कहा था। क्या वही अनुमानरूप प्रमाण है या सब मिलकर

शुष्कतर्कानादरः

मीमांसागत एषोऽपि न्यायो नैवोपपद्यते। वेदवाक्यं विना तस्माद् मध्यपक्षो विशिष्यते।।९६

श्रुतिबुद्धिस्तु विज्ञेया पदवाक्यार्थदर्शनात्। मृदः पिण्डं लोहमणिं तथा नखनिकृन्तनम्।।
उपादानं समादाय ह्युपादेयैक्यमाह सा।।९७

कथं तर्हि मीमांसारूपतर्को 'मन्तव्य' इत्यादिश्रुतिप्रभृतिभिरादृतः? इति शङ्काम् उपसंहारमुखेन परिहरति—मीमांसेति। एष न्यायः तर्को मीमांसायां गत आचार्यैरुपन्यस्तोऽपि वेदवाक्यं मूलभूतं विना नोपपद्यते नाऽर्थमवधारयितुं क्षमते, किन्तु श्रुत्याक्षिप्त एव तथा। यथा 'सन्दिग्धेषु वाक्यशेषाद्' (जै.सू.१.४.२९) इत्यादि। तथा च वेदे न शुष्कतर्कस्य[1] आदर इति भावः। तस्मादुक्तदूषणग्रासात् स्वबुद्धिपक्षस्य सम्प्रदायबलपक्षस्य च (श्लोक.९५) अयुक्तत्वाद् मध्यपक्षः श्रुतिबुद्धिरूप एव ग्राह्य इत्यर्थः।।९६।।

ननु श्रुतिबुद्धिरेव तर्कं विना कथं स्यादिति चेद्? न। पदार्थान् व्याकरणादिलौकिकोपायैः वाक्यार्थमर्यादां च उपक्रमोपसंहारादितात्पर्यलिङ्गैः विज्ञाय शुष्कतर्कमन्तराऽपि तस्याः सुलभत्वाद् इत्याह—श्रुतीति। विज्ञेया लभ्या। प्रकृते तु स्थालीपुलाकन्यायम् उपेक्ष्यैव श्रुतेः प्रवृत्तिरित्याह—मृद इति। मृत्पिण्डपदेन, लोहमणिपदेन, नखनिकृन्तनपदेन च लक्षितमुपादानं कारणतत्त्वमुपादाय अनूद्य तेन सह उपादेयानां विकाराणाम् ऐक्यं भेदाऽभावं सा श्रुतिः आह प्रतिपादयतीत्यर्थः।।९७।। फलितमाह—स्थालीति। तेन सा प्रकृता श्रुतिः उक्तन्यायेन सम्भावना-

अनुमानरूप प्रमाण हैं? सिद्ध तो यह करने चले थे कि सब प्रमाण अनुमान के घटक हैं और फिर द्वितीय घटक को ही अनुमान कह दिया, यह बात विरुद्ध कैसे नहीं?।।९३।। इतना ही नहीं, परार्थानुमान सारा ही शब्दों से व्यक्त किया जाता है फिर केवल प्रतिज्ञावचन को ही आगम प्रमाण क्यों कहा?।।९४।। और भी, आपको भी यह संमत है कि आगम संदिग्ध अर्थ नहीं कहता, संदिग्ध अर्थ कहे तो शब्द को आगमरूप प्रमाण नहीं माना जाता। प्रतिज्ञावाक्य तो संदिग्धार्थ का प्रतिपादक होता है क्योंकि निश्चय तो अनुमानसमाप्ति पर होगा, प्रतिज्ञाकाल में ही निश्चय हो जाये तो हेतुआदि का उपन्यास ही व्यर्थ है। एवं च संदिग्धार्थक प्रतिज्ञा को आगम प्रमाण कहना कैसे संगत है? अन्य अवयवों के बारे में भी कही बातें ग़लत हैं। उपनय में 'वैसा'-शब्द का और निगमन में 'इसलिये'-शब्द का प्रयोग होता है किंतु वे वहाँ सादृश्य या उपपादक को नहीं कहते कि उनसे वे अवयव उपमान या अर्थापत्ति बन जायें। इसी प्रकार व्याप्ति को प्रत्यक्ष कहना भी नहीं बनता, वह तो एक कल्पना ही है। अतः सीधे-सीधे श्रुति जैसा कह रही है वैसा न मानकर तर्क, न्याय के सहारे अर्थान्तर करने का तुम्हारा आग्रह मंदबुद्धिता का ही द्योतक है। उत्तम द्विज होने से तुम्हें पक्षपात छोड़कर शास्त्र का अर्थ ग्रहण करना ही उचित है।।९५।।

यद्यपि 'मनन करना चाहिये' आदि विधि के अनुसार श्रद्धापूर्वक वेदार्थविचार करने में न्याय या तर्क का उपयोग होता है तथापि वेदार्थचिन्तन में उपयोगी तर्क का मूल वेदवाक्य ही होते हैं। वेदवाक्यरूप मूल का सहारा लिये बिना न्याय को अर्थनिश्चायक नहीं माना जाता। वेदवचन से जो अर्थसिद्ध बात होती है वही न्याय का रूप लेती है। जिसका मूल कोई प्रमाण न हो वह तर्क 'सूखा' कहा जाता है और ऐसे सूखे तर्क का वेदार्थनिर्णय में प्रयोग नहीं होता। अतः श्लोक ९५ में कहे तीन पक्षों में से प्रथम व तृतीय व्यर्थ होने से द्वितीय पक्ष ही ग्राह्य है।।९६।। श्रुति जो कह रही है उसे ही अपनी बुद्धि में बैठाना चाहिये। इसके लिये व्याकरण-कोश आदि से पद-पदार्थ जानने पड़ेंगे और वाक्य-वाक्यार्थ की मर्यादा उपक्रमादि चिह्नों के अनुसार जाननी पड़ेगी, शुष्क तर्क को कोई स्थान नहीं है। प्रकृत छांदोग्य श्रुति स्थालीपुलाक-न्याय किसी तरह सूचित करती नहीं लग रही। श्रुति ने तो मिट्टी का पिंड, स्वर्ण और नखनिकृन्तन (नाखूनतराश)—इन शब्दों से उपादान कारण का अनुवाद किया है और कारण से कार्य के भेद का निषेध समझाया

---

१. मूलशैथिल्यादिदोषाः शुष्कता तर्कस्य।

स्थालीपुलाकवत्तेन न सर्वज्ञानमब्रवीत्। उपरिष्टाद् इहाप्यस्या उक्तिर्यस्मान्न तादृशी।।९८

एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानम्

ततो यथाऽत्र विज्ञानाद् रज्ज्वाः सर्पादिकं भवेत्। ज्ञातं तथाऽऽत्मविज्ञानाद् विश्वं ज्ञातं भवेदिह।।९९

इत्यभिप्रायवान् श्वेतकेतुमारुणिरब्रवीत्। दृष्टान्तत्रयतो विश्वकारणं ब्रह्म केवलम्।।१००

उपपत्तिमिमां प्राहु:[1] कार्यस्याऽसत्त्वसिद्धये। कारणाद् व्यतिरेकेण सर्वत्रैवातिधीधनः।।१०१

मात्ररूपं सर्वविज्ञानं न प्रतिपादयति यतस्तस्या उक्तिः पदसामानाधिकरण्यशालिनी कथनशैली उपरिष्टाद् उत्तरग्रन्थे, इह वाक्ये च तादृशी उक्तन्यायेन साधर्म्याद्यवगाहिनी न भवति इत्यर्थः।।९८।।

कथं तर्ह्यस्याः प्रवृत्तिरिति चेद्? विवर्तवादगतेन रज्जुसर्पादिन्यायेन इति दर्शयति— तत इति। तत उक्तप्रकारासम्भवाद् यथाऽधिष्ठानरज्जुतत्त्वज्ञानेन सर्वे रज्जौ कल्पिताः सर्पदण्डजलधाराभूविवरादयः तत्त्वतो ज्ञाता भवन्ति तथा कारणविज्ञानात् सर्वविज्ञानमित्यर्थः।।९९।। अनेन आशयेन पित्रा श्वेतकेतुं प्रति ब्रह्म बोधितमित्याह— इत्यभिप्रायेति।।१००।।

कारणाऽद्वितीयत्वपरतायां हेतुप्रदर्शकत्वेन वाचारम्भणादिमागार्थमाह— उपपत्तिमिति चतुर्भिः। कारणाद् भेदेन यत् कार्यवर्गस्य असत्त्वं कारणाऽद्वैतताप्रयोजकं तस्य सिद्धये विशदी करणाय इमां वक्ष्यमाणां युक्तिं पिता प्रोक्तवान् इत्यर्थः।।१०१।। नामेति। इदं घटादिरूपं कार्यं नामधेयं नाममात्रं यतो वाचा वाङ्मात्रेणैव आरभ्यते

है। कार्य अपने कारण से भिन्न नहीं होता यह प्रतिपादन श्रुति ने यहाँ किया है। जैसे स्थालीपुलाक स्थल में 'संपूर्ण बटलोई के दाने गल गये' यह एक संभावनारूप ज्ञान ही होता है वैसे यहाँ सर्वविज्ञान का होना श्रुति नहीं बता रही क्योंकि इस वाक्य में और आगे आने वाले वाक्यों में जो कथन की शैली है वह संभावनात्मक सर्वविज्ञान के अभिप्राय के अनुकूल नहीं है। (यदि एक-दो कार्यों के ज्ञान से सब कार्यों का ज्ञान कहा होता तब उक्त न्याय की संभावना हो सकती थी पर यहाँ श्रुति ने कारणज्ञान से कार्यज्ञानों का लाभ कहा है जो उक्त न्याय का आशय है नहीं। दो-चार दाने बाकी दानों के कारण तो हैं नही! वाचारंभणोक्ति भी कार्यमिथ्यात्व के ज्ञान से सर्वज्ञता कहती है न कि स्थालीपुलाकन्याय से। अगले खण्डों में भूतत्रयमय सारा जगत् सिद्ध कर उन भूतत्रय को सन्मात्र बताया है, यह भी 'थोड़ा हिस्सा समझकर बाकी हिस्से का अंदाज़ लगाना' रूप सर्वज्ञता का बोधक नहीं है। अतः गौण सर्वज्ञता यहाँ अभिप्रेत नहीं।)।।९७-८।।

इसलिये जैसे लोक में रस्सी के विज्ञान से उसमें कल्पित सर्पादि ज्ञात हो जाते हैं वैसे यहाँ कह रहे हैं कि आत्मविज्ञान से विश्व ज्ञात हो जाता है। (अधिष्ठान रस्सी जान लेने पर यह निश्चय होता है कि 'रस्सी से अन्य यह कुछ और नहीं है', इसी का नाम है सर्पादि का ज्ञात हो जाना। रस्सीज्ञान से सर्पादि सब विशेष नहीं प्रतीत होते वरन् रस्सीभिन्न रूप से सब एकत्र होकर पता चलता है कि पुरोवर्ती वस्तु रस्सी है न कि वे सब। ऐसे ही आत्मा का ज्ञान यह बताता है कि नाम-रूप-कर्म हैं ही नहीं। यही इन सबकी वास्तविकता का ज्ञान है। जैसे शशशृंग का ज्ञान यही है कि वह होता ही नहीं वैसे संसार का ज्ञान यही है कि वह है ही नहीं।)।।९९।। इसी तात्पर्य से आरुणि ने तीन दृष्टांतों से अद्वैत ब्रह्म का उपदेश श्वेतकेतु को दिया।।१००।। अत्यंत बुद्धिमान् आरुणि ने यह समझाने के लिये कि कारण से स्वतंत्र होकर कार्य की कहीं सत्ता नहीं होती श्वेतकेतु को उपपत्ति भी बतायी। उस उपपत्ति को औपनिषद दर्शन में 'वाचारंभणन्याय' कहते हैं। इसी से कारणाद्वैत सिद्ध होता है, अद्वितीय कारण ही है, उससे हटकर कार्य कुछ नहीं है यह निश्चय होता है।।१०१।।

---

१. प्राह—इति टीकामतपाठो भाति।

वाचारम्भणन्यायः

नामधेयमिदं कार्यं वाचैवारभ्यते यतः। कारणाद् व्यतिरेकेण कार्यं तद्वत् प्रतीयते।।१०२
को वा पटगतांस्तन्तून् पृथक्कृत्यातिबुद्धिमान्। पटं विलोकयेत् तद्वद् मृदं हित्वा घटादिकम्।।१०३
ततः कारणमेवैकं सत्यं यत्तु मृदादिकम्। कार्यं स्यादनृतं यस्मान्नात्ममात्रात् प्रतीयते।।१०४
रज्ज्वां फण्यादिकं यद्वत् खे वा गन्धर्वपत्तनम्। मृषा प्रतीयते तद्वद्विकारः कारणेऽखिलः।।१०५

परिणामवादन्यक्कारः

कारणं कार्यरूपेण विक्रियासु प्रयाति चेत्। क्षीरं दध्यात्मना यद्वद् ध्रुवं नाशं च तद् व्रजेत्।।१०६
न हि दध्यात्मतां प्राप्तं क्षीरं नाशविवर्जितम्। पूर्ववल्लभ्यते यद्वद् मृद् घटाद्यात्मतां गता।।१०७

स्पष्टत्वेन व्यवह्रियते, न तु अर्थतः किंचिद् आरभ्यते! न हि मृदा घट आरब्ध इति वक्तुं शक्यं, तस्य मृन्मात्रत्वात्। कथं मृदा मृदेवारभ्येत! तार्किका हि कपालभिन्नं घटं कपालारब्धं ब्रुवत इति भावः। तथा च 'सविशेषणे ही' ति न्यायेन घटे व्यवह्रियमाणो मृद्भेदो नामोपाधिक एवेत्याह—कारणादिति। कार्यं यत्कारणावधिकभेदविशिष्टं प्रतीयते तत् तद्वद् नामविशिष्टं सदेव प्रतीयते, न केवलम् इत्यर्थः। तथा च नाम्न एव भेद इति भावः।।१०२।। एतद् दृष्टान्तेन स्फुटयति—को वेति। वाशब्द इवार्थः। यथा पटभावं गतांस्तन्तून् पृथक्कृत्याऽतिबुद्धिमान् अपि कः पटं विलोकयेद् न कोऽपि, तथा मृदादि कारणं हित्वा विविच्य को घटादि कार्यं विलोकयेद् इत्यर्थः।।१०३।। तस्मात् कारणमेव सत्यमित्याह— तत इति। स्पष्टम्।।१०४।। कार्यस्य विवर्ततामेव प्रकटयति—रज्ज्वामिति। स्पष्टम्।।१०५।।

न चेयं श्रुतिः परिणामदृष्ट्यभिप्राया, कारणस्य सत्यतोक्तिविरोधाद् इति दर्शयन् परिणामवादं निरस्यति—कारणमिति नवभिः। यदि कारणं क्षीरदधिन्यायेन परिणमेत तदा विनश्येतैव, तथा च तत्सत्यत्वेन नोच्येत इति भावः।।१०६।। परिणामिनाशमेव वैधर्म्येणाह— न हीति। न इत्यावर्तते। तथा च दध्यात्मतां प्राप्तं क्षीरम् अविनष्टमिति न यतो घटात्मतां प्राप्ता मृद् यथा पूर्ववल्लभ्यते तथा न लभ्यत इत्यर्थः।।१०७।।

घटादिरूप ये सभी कार्य केवल नाम ही हैं क्योंकि इनका स्पष्ट व्यवहार सिर्फ वाणी से होता है, वाणी से हटकर ये कार्य कोई 'अर्थ' नहीं हैं। मिट्टी से अलग कोई 'चीज़' नहीं जिसे घट कह सकें। फिर भी व्यवहार होता है कि घट मिट्टी से अलग है, वह अलगाव नाममात्र का ही है। नामात्मक उपाधि छोड़ दें— 'घट' नाम न लें— तो वहाँ कोई भेद प्रतीत नहीं हो सकता। कारण से पृथक् कार्य की प्रतीति तभी है जब किसी नाम के संदर्भ में उन्हें (कार्य-कारण को) देखा जाता है। अतिबुद्धिमान् भी ऐसा कौन होगा जो वस्त्रावयव तन्तुओं को अलग कर वस्त्र देख सके या मिट्टी छोड़कर घड़ा देख ले! इसलिये मिट्टी आदि जो कारण है वही सत्य है और सभी कार्य झूठे हैं क्योंकि अपने ही बल पर प्रतीत नहीं होते, कारण की और नामात्मक उपाधि की अपेक्षा से ही प्रतीत हो पाते हैं। जैसे रस्सी में सर्पादि या आकाश में गंधर्वनगरादि मिथ्या ही प्रतीत होते हैं वैसे कारण में अखिल कार्य मिथ्या ही प्रतीत होते हैं।।१०२-५।।

छांदोग्य की विचार्यमाण श्रुति परिणामवाद के अनुसार नहीं समझी जा सकी। परिणामवाद अर्थात् कारण में वास्तविक परिवर्तन से कार्य बनता है यह मान्यता। इस वाद में कार्य-कारण समानसत्ताक होते हैं जबकि यहाँ श्रुति ने स्पष्ट ही कार्य को झूठा एवं कारण को सत्य कहा है। यह कार्य-कारण में सत्ताभेद विवर्तवाद को ही व्यक्त करता है। वास्तविकता तो यह है कि परिणामवाद मान्यता ही ग़लत है। जैसे दूध दहीरूप में बदलता है ऐसे सर्वत्र कारण परिवर्तन होने पर कार्यरूप में बदल जाये तो निश्चय ही कारण विनाशशील होगा क्योंकि परिवर्तनशील वस्तु नष्ट होती ही है। ऐसा तो नहीं कि दही बन जाने वाला दूध नष्ट न होता हो! घटरूप बनी मिट्टी जैसे घट बनने से पूर्व उपलब्ध होती थी वैसे घट बनने पर भी होती है, किंतु यों जैसे दही बनने से पूर्व दूध उपलब्ध है वैसे दही बनने पर तो उपलब्ध होता नहीं। (टीकादृष्ट्या मिट्टी भी सर्वथा वैसी उपलब्ध नहीं होती अतः नश्वर है।)।।१०६-७।।

ततो दध्नोऽत्र नैव स्यात् क्षीरं साक्षाद्धि कारणम्। किन्तु क्षीरस्य दध्नश्च तक्रस्याऽपि घृतस्य च।।१०८
कारणं पशुघासस्थास्तेजोबन्नस्वरूपिणः। केचित्त्ववयवास्ते तु लभ्यन्ते सर्वदैव हि।।१०९
मृत्पिण्डोऽत्रयथैवस्याद् निमित्तं घटजन्मनि।आकारवान् मृदो भिन्नः क्षीरं दध्नस्तथा स्मृतम्।।११०
घटे जाते यथैवाऽत्र मृत्पिण्डो नैव लभ्यते। दध्यादौ च तथा क्षीरं कदाचिन्नैव लभ्यते।।१११
मृदेव लभ्यते यद्वत् सर्वत्रैव घटादिषु। घासस्थावयवास्तद्वद् लभ्यन्ते देवता हि ताः।।११२
ततो यत् परिणामि स्यात् क्षीरवत्तन्न कारणम्। यच्च तद्वर्जितं तत्तु विज्ञेयं कारणं सदा।।११३

यच्च परिणामि तदुपादानमेव न भवति, कार्यानुगमरूपस्य उपादानलक्षणस्याऽभावात्, किन्तु कार्याकारभ्रमे दोषविधया निमित्तमेवेत्याह—तत इति। ततो विनाशित्वात् क्षीरं दध्नः साक्षाद् अनुगतं कारणम् उपादानं न भवति। किम् तर्ह्युपादानमिति चेत्? पृथिव्यादिभूतत्रयमेव यत् सर्वत्र अनुगतं तत्तद्रूपैरुपलभ्यत इत्याह—किन्त्वित्यादिना। ये तेजोऽबन्नात्मकाः केचिदवयवाः घासे धेनुभक्ष्ये प्रथमं स्थिताः ते क्षीरादीनामुपादानम् वक्ष्यमाणैः कृष्णादिरूपैः सर्वत्रोपलभ्यमानत्वाद्। इति द्वयोरर्थः।।१०८-९।। क्षीरस्य दधि प्रति निमित्ततां स्फुटयति— मृत्पिण्ड इति। यथा आकारविशेषशाली मृत्पिण्डो घटस्य जन्मनि घटाकारभ्रमे निमित्तमात्रं, घटदशायामननुगमात्, तथा क्षीरं दध्न इत्यर्थः।।११०।। परिणामिनोऽननुगमं निदर्शयति—घटे जात इति। यथा घटोत्पत्तौ सत्यां मृत्पिण्डस्य अनुपलब्धिः तथा दध्युद्भवे क्षीरस्येत्यर्थः।।१११।। अधिष्ठानस्य कारणत्वं स्फुटयितुमनुगममाह— मृदेवेति। यथा चूर्णपिण्डादिरूपैर्हीना मृद् घटादिदशायाम् अपि अनुगता कारणत्वयोग्या, तथा घासेष्वपि अवयवभावेन स्थितास्ताः पृथिव्यप्तेजोऽभिधा देवताः सर्वलौकिककार्येषु अनुगता लभ्यन्ते यतः ततस्ता एव दध्यादीनां कारणमित्यर्थः।।११२।। फलितमाह— तत इति। ततः विनाशित्वाद् हेतोः परिणामि वस्तु न उपादानत्वयोग्यम्, यच्च तद्वर्जितं परिणामरहितं स्थिरं तद् एव उपादानमित्यर्थः।।११३।।

कार्य में अनुगत होने वाले को उपादान कहते हैं अतः जो बदल जाये वह उपादान ही नहीं हो सकता। उसे तो कार्य के रूप में होने वाले भ्रम के प्रति दोषरूप निमित्त ही कहा जा सकता है। इसलिये परिवर्तनशील होने के कारण तरलरूप दूध दही का साक्षात् उपादान कारण नहीं है किंतु दूधी-दही-छाछ-घी आदि सभी का उपादान वे अवयव ही हैं जो पशुभक्ष्य घासादि में स्थित रहते हैं और उस भक्ष्य के परिपाक से होने वाले समस्त कार्यों में उपलब्ध होते रहते हैं। वे अवयव पृथ्वी-जल-तेज आदि महाभूतात्मक ही हैं। अतः दही का कारण दूध न होकर वे अवयव ही हैं जो दूध का भी कारण हैं और दूध के विकाररूप से प्रसिद्ध सभी चीज़ों के कारण हैं। काला-सफेद-लाल रूप से वे ही कार्यों में उपलब्ध होने से वे ही सबके उपादान हो सकते भी हैं, जो तरलादिरूप कार्यों में मिलते नहीं वे उपादान कैसे माने जा सकते हैं!।।१०८-९।। खास आकार वाला मिट्टी का पिंड घट के आकार का भ्रम होने के प्रति निमित्त ही है न कि उपादान क्योंकि घटदशा में पिण्डाकार उपलब्ध नहीं होता। ऐसे ही दूध को दही का उपादान नहीं मान सकते, इतना ही कह सकते हैं कि दही रूप भ्रम में निमित्त है दूध। घट उत्पन्न होने पर जैसे मिट्टी का पिण्ड उपलब्ध नहीं रहता वैसे दही आदि बन जाने पर दूध कभी नहीं मिलता। घट आदि सब मृत्कार्यों में जैसे मिट्टी ही अनुगत मिलती है वैसे दूध-दही आदि सब कार्यों में वे अवयव ही अनुगत हैं जो घासादि पशुभक्ष्य में हैं। उन अवयवों के रूप में भी पृथ्वी-जल-तेज रूप तत्त्व ही स्थित हैं जिन्हें उपनिषत् ने 'देवता' कहा है। इसलिये जो कुछ भी बदलता है वह वैसे ही उपादान नहीं हो सकता जैसे दूध, जो नहीं बदलता उसे ही उपादान समझना चाहिये। (एवं च परिणामवाद अनर्गल कल्पना ही है।)।।११०-३।। यदि स्वर्णादि भी दूध की तरह बदलने वाले होते तो कुण्डलादि बन जाने पर वैसे ही उपलब्ध न होते जैसे दही बन जाने पर दूध उपलब्ध नहीं होता। किंतु स्वर्ण, मिट्टी आदि श्रुत्युक्त पदार्थ कार्योत्पत्ति के बाद भी उपलब्ध होते रहते ही हैं। इससे निश्चित हो जाता है कि श्रुति ने यहाँ परिणामी कारण के अभिप्राय से दृष्टांत नहीं दिये हैं वरन् विवर्तोपादान कारण के अभिप्राय से दिये हैं अत एव कारण को सत्य और कार्यों को मिथ्या बताया है।।११४।।

परिणामि सुवर्णादि भवेच्चेत् क्षीरवद्धि तत्। लभ्यते न पुनस्तस्मात् परिणामि न कारणम्।।११४

कार्यकारणयोर्न भेदादिः

भेदाभेदो न भेदो वा कार्यकारणयोः क्वचित्। भेदे गवाश्ववद्भिन्नदेशे स्यातामुभे अपि।।११५
भिन्नदेशत्वमुभयोर्वादिभिः कल्पनाकृतम्। यस्मान्न गम्यते सर्वलोकैर्घटपटादिषु।
भेदः स्यात्तावता नैव भेदाभेदो भविष्यति।।११६
तस्मादभिन्नमेवैतत् कार्यं स्यात् कारणात् सदा। सर्पादिकं यथा रज्ज्वाः पृथगनुपलब्धितः।।११७
रज्जुतत्त्वे च विज्ञाते सर्पादिर्नैव लभ्यते। यथा तथैव कार्याणि हेतुतत्त्वविनिर्णये।।११८

एवं सति श्रुतौ लोहमणि-नखनिकृन्तनपदाभ्यां लक्षितयोः सुवर्णायसोरपि न परिणामित्वेन दृष्टान्तता, तथा सति सत्यत्वस्य साधर्म्यस्य व्याघातात्, किन्तु विवर्तोपादानत्वेनैव इत्याशयेनाह— परिणामीति। यदि सुवर्णादिकमपि परिणामि भवेत् तदा कुण्डलाद्युत्पत्तौ न उपलभ्येत। तत्तूपलभ्यते। तस्मात् परिणामि-कारणत्वेन न दृष्टान्ततया इष्टमित्यर्थः।।११४।।

एवं कारणस्य सत्यत्वे वस्तुमहिम्नैव भेदाभेदमतनिरासपूर्वकमद्वैतं विकास्यत इत्याह—भेदाभेद इति। कार्योपादानयोर्यः सांख्यभट्टादिभिरभ्युपेतो भेदाभेदः सत्यमेदविशिष्टोऽमेदः, यश्च वैशेषिकादिभिरभ्युपेतो भेदः केवलः तदुभयमप्ययुक्तमित्यर्थः। तत्र भेदाऽसम्भवे हेतुतया तद्व्यापकस्य भिन्नदेशत्वस्य अभावमाह—भेद इति। यत्र भेदः तत्र भिन्नदेशत्वं दृष्टं यथा गवाश्वयोः। तद् इह तन्तुपटाभ्यां व्यावर्तमानं स्वव्याप्यं भेदमपि व्यावर्तयति इत्यर्थः।।११५।। ननु पटस्य तन्तुदेशत्वं, तन्तूनां भूतलादिदेशत्वं च वदद्भिस्तार्किकैः भिन्नदेशत्वं मन्यत एवेति चेत्? तल्लोकप्रतीतिविरोधादयुक्तमित्याह—भिन्नेति। वादिभिः यद् उभयोः कार्यकारणयोः भिन्नदेशत्वम् उच्यते तत् कल्पितमेवोच्यते, न वस्तुगतं, यतो लोकैः भूतलादिवृत्तितामेव घटादीनामनुभवद्भिः तन्नोपगम्यत इत्यर्थः। भेदाभेदपक्षस्तु विरोधादेव अयुक्त इत्याह—भेद इति। यदि भेदः स्यात् तदा तावता भेदसत्तामात्रेण भेदाभेदपक्षो नैव भविष्यति नोपपत्स्यत इत्यर्थः। न हि विरुद्धयोः समावेशः क्वाऽपि दृष्ट इति भावः।।११६।। तथा च कारणस्य वास्तवैक्यं सिद्धमित्याह—तस्मादिति। पृथगनुपलब्धितो विवेकदृष्ट्या पृथक्त्वाऽभावाद् इत्यर्थः।।११७।। एतत् कारणाऽद्वैतं विद्वदनुभवसिद्धम् इत्याह— रज्जुतत्त्व इति।।११८।। स च तत्त्वनिर्णयोऽपरोक्षरूप एव भेदभ्रमस्य

कार्य और उसके उपादान कारण में न भेदाभेद होता है, न भेद। सांख्य, भाट्ट आदि मानते हैं कि कार्य-कारण किसी दृष्टि से परस्पर भिन्न और किसी दृष्टि से अभिन्न होते हैं अर्थात् उनमें कुछ भेद है व अभेद भी है और ये दोनों—भेद-अभेद—युगपत् सत्य हैं! यह मान्यता सर्वथा ही युक्तिविरुद्ध है और इसमें अनेकान्तवाद की बू भी है। वैशेषिक आदि कहते हैं कि उपादान से कार्य सर्वथा अलग होता है! यह भी बेतुकी बात हैः यदि कार्य-कारण में भेद हो तो गाय-घोड़े की तरह दोनों अलग जगहों पर मिलते! सोना सुनार के घर रह जाता और गहना ग्राहक के घर चला जाता!!।।११५।। तर्की कहते हैं कि उपादान व कार्य तो अलग-अलग जगह रहते ही हैं क्योंकि कार्य का रहने का स्थान है उसका उपादान अतः पटरूप कार्य रहेगा तन्तुओं में व तन्तु रहेंगे सूत-रूई आदि में। किंतु तर्की की कल्पना में भले ही यों कार्य-कारण पृथक् स्थानों पर रह जायें, वास्तव में यों रहते नहीं, लोक में सभी का व्यवहार इसी तरह होता है कि कपड़ा बक्से में है या मेज़ पर है आदि और यदि आवश्यकता पड़े तो कपड़े का धागा भी मेज़-बक्से आदि पर ही समझा जाता है। ऐसे ही किसी स्थान को पवित्र आदि करने के लिये वहाँ सोना रखना हो तो वहाँ गहना रख दिया जाता है अतः गहना-सोना एक ही भूतलादि स्थान पर रहने वाला माना जाता है, अनुभव में आता है। जब कार्य-कारण में वास्तविक भेद संभव नहीं तब वास्तविक भेद-अभेद कैसे संभव होगा! वैसे भी भेद-अभेद परस्पर विरुद्ध हैं अतः दोनों सचमुच एकत्र हो भी नहीं सकते।।११६।।

इसलिये कार्य अपने उपादान कारण से अभिन्न ही है, विवेकदृष्टि से समझें तो स्पष्ट है कि कारण से पृथक् होकर कार्य कभी उपलब्ध नहीं होता। रस्सी पर कल्पित साँप, जलधारा, भूछिद्र आदि जैसे रस्सी से पृथक् कुछ नहीं हैं ऐसे सारे कार्य अपने कारण से पृथक् कुछ हैं नहीं।।११७।। रज्जु ही सत्य है यह जब प्रमाण से अवधारित हो जाता

अपरोक्षधिया नाशमपरोक्षभ्रमो व्रजेत्। विपर्यये तु वर्तेत दिङ्मोह इव धीमताम्।।११९

परमकारणाभेदः

घटादिकं यथा कार्यमविभक्तेन हेतुना। तेजोऽबन्नात्मकं त्वेतत् कार्यं तेनैव हेतुना[1]।।१२०

विभागश्चात्मनोऽन्यत्वं जाड्यमेव समीरितम्। ततो नैवात्मनोऽपि स्यात् कार्यता तेन हेतुना।।१२१

अपरोक्षस्य अपहारे क्षम इत्येतत् सदृष्टान्तमाह— अपरोक्षेति। अपरोक्षो भ्रमः साक्षात्कारेणैव नाशं व्रजेत्, अन्यथा परोक्षज्ञानोदयेऽपि वर्तेत एव यथा दिग्भ्रम इत्यर्थः।।११९।।

एवं घटादिनिरूपितभेदाभावं तेजोऽबन्नेषु निश्चित्य, तेषामपि कार्यत्वेन तद्भेदाभावं परमकारणे सति जानीयाद् इत्याह—घटादिकमिति। यथा घटादिकं कार्यं परस्परविभक्तम् अविभक्तेन विभागहीनेन सर्वत्रानुगतेन हेतुना कारणेन निरूप्यं तथा तेजःप्रभृत्यपि विभक्तत्वलिङ्गेन कार्यं सत् तेन अविभक्तेन हेतुनैव निरूप्यमित्यर्थः। 'विभक्तत्वेन हेतुना' इति पाठे तु स्पष्टम्।।१२०।। ननु विभागो भेदरूपः कार्यत्वं न साधयति, आत्मादावपि वर्तमानत्वेन व्यभिचाराद् इति चेत्? न, आश्रयसमानसत्ताकस्यैव[2] भेदस्य जाड्यपर्यवसन्नस्य हेतुत्वेन विवक्षितत्वात्। नापि अविद्यादौ व्यभिचारः, कल्पितत्वलक्षणस्य कार्यत्वस्य तत्राऽपि सत्त्वाद् इत्याशयेनाह—विभागश्चेति। कार्यत्वस्य अध्यस्ततारूपस्य हेतुतयोपन्यस्तो विभागः तु जाड्यलक्षणचिदात्मभेदरूप एवेत्युक्तम्। तथा च अनेन विभागरूपेण हेतुना आत्मनोऽपि कार्यत्वप्रसक्तिः न भवतीत्यर्थः।।१२१।।

है तब सर्पादि की यों उपलब्धि ही नहीं होती कि वे सत्य हैं; भ्रमदशा में साँप दीखता ही सच्चा है किंतु बाध के बाद यदि दीखे भी तो यह सदा मालूम रहता है कि वह सच्चा नहीं; ऐसे ही जब यह समझ आ जाता है कि कारण ही सत्य है तब कार्य उससे पृथक् है, सत्य है आदि अनुभव नहीं हुआ करता। अतः विद्वान् को कारण का अद्वैत (कारण की अपेक्षा 'दूसरा', भिन्न कुछ नहीं है) अनुभवसिद्ध है।।११८।। अपरोक्ष भ्रम तभी मिटता है जब तत्त्व का निर्णय भी अपरोक्षरूप हो। अधिष्ठान के साक्षात्कार के बिना केवल उसका परोक्ष ज्ञान होने से भ्रम बना रहता है जैसे बुद्धिमानों को भी तब तक दिशाविषयक भ्रम रहता ही है जब तक ध्रुव, सूर्योदय आदि न देख लें। (ऐसे ही परमात्मा का परोक्ष ज्ञान संसार-भ्रम पर अश्रद्धा भले ही पैदा कर दे—संसार की सत्यता पर आग्रह शिथिल कर दे—पर इस भ्रम को मिटा नहीं सकता, उसके लिये परमात्मा का अपरोक्ष ही चाहिये।)।।११९।।

घट आदि कार्य आपस में विभिन्न होने पर भी अपने कारण से विभिन्न नहीं हैं, वह तो सभी कार्यों में एक-सा अनुगत है। इससे यह भी पता चलता है कि विभिन्न वस्तुएँ कार्य हुआ करती हैं : घट-शराव-उदंचन आदि विभिन्न हैं तो कार्य हैं, इनमें अनुगत मिट्टी अभिन्न है तो कारण है, कड़ा-कुण्डल-कण्ठहार आदि विभिन्न हैं तो कार्य हैं, उनमें अनुस्यूत सोना अभिन्न है तो कारण है। अतः तेज-जल-पृथ्वी परस्पर विभिन्न हैं तो ये भी कार्य ही हैं और इन सबमें अनुगत अविभक्त सत्तत्व ही एकमात्र कारण है।।१२०।। 'विभिन्न होने' का मतलब है आत्मा से अन्य अर्थात् जड होना अतः आत्मा को कार्य नहीं समझ सकते। (प्रश्न है कि 'जो किसी से भी अलग हो वह कार्य' यह नियम मानें तो आत्मा भी जड चीज़ों से अलग है अतः कार्य होना चाहिये। उत्तर है कि जिनसे भेद है और उनसे जो भिन्न है उन दोनों की समान सत्ता हो तभी वे कार्य होते हैं : घड़ा-कुल्हड़-परई से भिन्न जो (मिट्टी से बना दीपक) वह भी व्यावहारिक सत्ता वाला है और घड़ा आदि भी व्यावहारिक सत्ता वाले हैं अतः चारों कार्य हैं। आत्मा यद्यपि संसार से अलग है तथापि संसार व्यावहारिक है व आत्मा पारमार्थिक है अतः आत्मा कार्य नहीं है, सांसारिक पदार्थ सभी कार्य हैं। इस प्रकार जब कहते हैं कि 'भेदवान् कार्य होता है' तब निष्कर्ष यही निकलता है कि जो कुछ जड है (आत्मभिन्न है) वह सब कार्य है। कह सकते हैं कि अविद्या जड होने पर भी अनादि मानी जाने से कार्य नहीं है, किंतु कार्य का एक लक्षण

---

१. 'यावद्विकारन्तु विकारो लोकवत्' (ब्र.सू.२.३.७) इत्यत्र भाष्यादौ महान् विस्तारः।

२. आश्रयोऽनुयोगी। सत्तायाः समानता अपरमार्थतया ज्ञेया। परमार्थसत्ताको भेदस्तु दुर्लभः। न चात्मानात्मभेदो वास्तवः, अनात्मनो बाध्यत्वेन तन्निरूपितभेदस्याऽपि बाध्यत्वात्। न चात्मनिरूपितत्वेनाबाध्यो भवतु भेद इति वाच्यम्, आत्ममात्रनिरूपितत्वस्य भेदेऽसंभवात्, द्वाभ्यामेव तन्निरूपणात्, अनात्मनिरूपितत्वेन च मिथ्यात्वादित्यन्यत्र विस्तरः।

आत्मा न कार्यम्

अथात्मनोऽत्र कार्यत्वे कारणं विद्यते न वा। कारणं नास्ति चेत्तस्य विश्वस्याऽपि न तद् भवेत् ।।१२२
अथ चेदस्ति तस्यैतत् कारणं तच्च कीदृशम्। असच्चेत् कारणं तत् स्यात् कुतस्तस्मात् सतो जनिः। सन्तो घटादयो यस्माज्जाताः सत्या मृदस्त्विह।।१२३
असत्त्वं च सतोऽभावः सन्तमर्थमपेक्षते। ततो यद्धि तदर्थं स्यात् तदेवाऽस्त्वस्य कारणम्।।१२४
अभावः कोऽपि कस्याऽपि कारणं नोपपद्यते। इदं ते कथितं पूर्वं कारणानां विचारणे।।१२५

ननु व्यञ्जकाऽभावे व्यङ्ग्याऽभाव इति नियमाभावाद् उक्तहेतुरूपव्यञ्जकाऽभावेऽपि आत्मनः कार्यत्वं किं न स्याद्? इत्याशङ्कां वारयितुम् आत्मनः कार्यत्वानुपपत्तिं प्रपञ्चयति—अथेति नवभिः। अथ उक्तसाधनं विनाऽपि यदि आत्मनः कार्यत्वमिष्यते तदाऽपि इदं वाच्यम्— किमियम् आत्मनिष्ठा कार्यता कारणेन हीना, सहिता वा? आद्ये, जगतोऽपि घटादेः कार्यता तथाऽस्तु; न च इष्टापत्तिः, लोकानुभवविरोधादिना स्वभाववादनिरासस्य अष्टमे प्रपञ्चितत्वादिति।।१२२।। अन्त्ये कारणसाहित्यपक्षेऽपीदं विचार्यम्—किमात्मनः कारणम् असद्रूपं, सद्रूपं वा? नाद्यः, अनुपलब्धिविरोधाद्, यतः सत्याः सद्रूपाया मृदः सकाशात् सन्तः सद्रूपेणानुगताः शरावादयो जायमाना इह व्यवहारभूमौ उपलभ्यन्ते। यदि तु असत्कारणकाः स्युः तदा तेऽसद्रूपेण अनुगताः स्युरित्याह— अथ चेदिति। तस्य आत्मनः। कीदृशम्—असद्वा सद्वा। आद्यं दूषयति—असच्चेद् इत्यादिना। सतः सद्रूपस्य आत्मनः।।१२३।। किं च सापेक्षरूपस्य असत्त्वस्य प्रतीतये सद्वस्तु किञ्चिदभ्युपेयम्। तथा च 'तद्धेतोरेव अस्तु हेतुत्वं, किन्तेन' इति न्यायेन तत् सदेव अस्यात्मनो हेतुरस्तु इत्याह— असत्त्वमिति। असतः स्वरूपं सत्प्रतियोगिकाऽभावरूपमेव भवति तच्च स्वप्रतीतौ प्रतियोगिभूतं सन्तमर्थं प्रतीयमानमपेक्षते, ततः प्रतियोगितया सत आवश्यकत्वाद् यत् सद्वस्तु तदर्थम् असत्प्रतीत्यर्थं स्यात् कल्पेत तदेवास्य आत्मनः कारणमस्तु, किन्तेन असतेत्यर्थः।।१२४।। किं च अभावरूपस्य असतः कारणत्वानुपपत्तौ हेतवोऽष्टमाध्याये (श्लोक.३८आदौ) प्रपंचिताः स्मर्तव्या इत्याह—अभाव इति। स्पष्टम्।।१२५।।

ही है 'कल्पित होना', जो कल्पित है वह कार्य है और अनादि भी अविद्या है कल्पित ही अतः उसे भी कार्य समझना उचित है। हर हालत में आत्मा कार्य नहीं यह तात्पर्य है।)।।१२१।।

कोई शंका कर सकता है कि विभिन्न न होने मात्र से आत्मा को अकार्य क्यों मानें? अतः समझाते हैं कि आत्मा कार्य हो यह बात युक्तियुक्त ही नहीं : आत्मा अगर कार्य हो तो क्या उसका कोई कारण है या नहीं? यदि उसका कोई कारण नहीं तो सारे जगत् का भी कोई कारण न हो! घटादि भी बिना कारण ही हो जाया करें, किंतु ऐसा मानना किसी भी अनुभव के अनुकूल नहीं अतः यह बात कोई मानता भी नहीं।।१२२।। यदि आत्मा का कोई कारण है तो वह कैसा है —असत् है या सत्? असत् हो तो उससे सद्रूप आत्मा का जन्म कैसे होगा? संसार में सर्वत्र सद्रूप घटादि सद्रूप मिट्टी से ही उत्पन्न होते देखे जाते हैं। यदि असत् से पैदा हों तो सब में असत् की अनुगति हो जबकि होती अनुगति सत् की है— घड़ा है, कुल्हड़ है, परई है आदि 'है' का अनुगम मिलता है न कि 'नहीं है' का। आत्मा भी है अतः उसका कारण 'नहीं है' नहीं हो सकता।।१२३।। इतना ही नहीं, असत् का मतलब है सत् का अभाव जिसकी प्रतीति के लिये ज़रूरी है सत् की प्रतीति क्योंकि प्रतियोगी की प्रसिद्धि के बिना अभाव प्रसिद्ध नहीं हो पाता। अतः असत् के लिये आवश्यक जो सत् वही आत्मा का कारण माना जाना चाहिये, मध्य में असत् स्वीकारने का क्या लाभ!।।१२४।। कारणों का विचार करते हुए तुम्हें पहले भी (आठवें अध्याय में भी) बता चुके हैं कि कोई भी अभाव किसी का भी कारण नहीं हो सकता।।१२५।।

अतः आत्मा का यदि कोई कारण है तो सत् ही होगा। वह सत्-वस्तु भी परिच्छिन्न हो तो घट आदि की तरह जड होगी और जो जड होता है वह कार्य ही होता है अतः परिच्छिन्न सद्वस्तु भी कार्य ही होगी और उसका पुनः कारण ढूँढना होगा जो पुनः असत् तो हो नहीं सकता अतः सत् होगा और परिच्छिन्न होने पर जड, कार्य ही होगा जिससे

ततः सदेव तस्य स्याद्धेतुश्चेदात्मनो भवेत्। सत्ताऽपि चेत् परिच्छिन्ना घटवत्सा जडा भवेत्।।१२६
जाड्ये तस्याश्च कार्यत्वमेवं स्यादनवस्थितिः। चिद्रूपिणी ततः सत्ता सर्वभेदविवर्जिता।।१२७
आत्मनः कारणं साऽपि भवेच्चेन्नतु सात्मका[1]। शय्यासनादिवत्सेयं सुखहेतुर्बलाद् भवेत्।।१२८
तथात्वे जडताऽपि स्यात् तद्वदेवाऽनिवारिता। ततश्च पूर्वं कथितं पुनरावर्ततेऽधुना।।१२९
चिदानन्दात्मका सत्ता सर्वभेदविवर्जिता। आत्मनः कारणं सेयमेष्टव्या हेतुवर्जिता।।१३०
यच्च तत् कारणं तस्य स न आत्मेति गीयते। तथा च जायते नात्मा कारणैरिति च स्थितम्।।१३१

तस्याऽऽत्मनः कारणं सदेव इत्यन्त्यपक्षेऽपि इदं विचार्यम्—तत् किं परिच्छिन्नम्, अपरिच्छिन्नं वा? तत्र प्रथमे—लोके परिच्छिन्नस्य जाड्योपलम्भात् जडस्य कार्यत्वोपलम्भाच्च तत्कारणान्तरान्वेषणयाऽनवस्था स्यात्, तथा च तस्य सतः कार्यत्वाऽभावे जाड्याभावात्मिका चिद्रूपता सर्वभेदराहित्यरूपम् अपरिच्छिन्नत्वं च परिशेषाद् अभ्युपेयमित्याह— ततः सदेवेति द्वाभ्याम्। ततः परिशेषात् तस्य सद्रूपस्य आत्मनो यदि हेतुः स्यात् तदा सद्वस्तुरूप एव मन्तव्य इति। तस्य च परिच्छिन्नत्वस्य जाड्यादिप्रसङ्गद्वाराऽनवस्थितेः प्रयोजकत्वाद् अपरिच्छिन्नत्वमेव युक्तम्। इति द्वयोरर्थः। अत्र द्वितीयदले सत्तेत्युक्तिः—सद्रूपकारणमेव कार्योत्पत्त्यनन्तरं तत्र प्रकारतामापन्नं वादिभिः सत्तेति व्यह्रियत इति सूचनायेति बोध्यम्।।१२६-७।।

तस्या एव आत्मत्वं च अभ्युपेयम्, अनात्मनः शय्यादिवत् परार्थत्वेन जाड्यस्य कार्यत्वव्याप्यस्य दर्शनाद् इत्याह—आत्मन इति। प्रोक्तरूपा सत्ताऽपि आत्मनः कारणं भवन्ती यदि सात्मिका आत्मत्वविशिष्टा न भवेत् तदा शय्यादिवत् सुखहेतुः, शेषभूतेतियावत्, स्यात्। तथात्वे परार्थत्वे तु तस्य परार्थत्वस्य व्यापकं जाड्यं कार्यत्वप्रयोजकं स्यात्, तत उक्तदूषणमनवस्थारूपं पुनः प्रसज्जेत। इति द्वयोरर्थः।।१२८-९।। एवं तस्य आत्मत्वे तत्कार्यस्य परिच्छिन्नत्वेन आत्मत्वाऽनर्हत्वात् सैवात्मेत्याह—चिदानन्दात्मकेति। आत्मान्ताः शब्दा भावप्रधानाः, तथा च—चित्त्वम् आनन्दत्वम् आत्मत्वं च कायति आत्मनि ख्यापयति इति चिदानन्दात्मका सा सत्ता एव कारणाऽनपेक्षा आत्मनः कारणत्वेन मन्तव्या। तथा सति तत्कार्यस्य पराक्त्वेन आत्मत्वाऽनर्हत्वाद् यत् तत् सत्तारूपं कारणं त्वया मतं स एव न औपनिषदानाम् आत्माऽस्तु। फलितमाह— तथा च। इति द्वयोरर्थः।।१३०-१।।

यह कारणान्वेषण की प्रक्रिया हमेशा चलती रह जायेगी, कोई निर्णय नहीं हो पायेगा। इसलिये कारण रूप से स्वीकृत सत् को जड नहीं चेतन और परिच्छिन्न नहीं अपरिच्छिन्न ही मानना पड़ेगा। (सद्रूप कारण ही कार्यजन्म के बाद कार्य में 'प्रकार' के ढंग से प्रतीत होता है, तब उसे लोग 'सत्ता' समझते हैं, सत्ता वस्तुतः सत् से पृथक् नहीं है, कार्य में प्रतीत होने पर सत् को सत्ता कहते हैं। जैसे घट में मिट्टी प्रतीत होती है जबकि कुण्ड में बेर की तरह घट में तो मिट्टी है नहीं वैसे सभी कार्यों में सत् प्रतीत होता है। सबमें प्रतीत होने से ही उसे 'सामान्य' मानकर सत्ता कहा-समझा जाता है।)।।१२६-७।।

अपरिच्छिन्न चिद्रूप उक्त सत्ता भी आत्मा का कारण बनती हुई यदि आत्मा न हो तो शय्या आदि की तरह सुखहेतु अर्थात् शेष, परार्थ ही होगी और तब जड ही होगी जिससे पूर्वोक्त दोषपरंपरा आ पड़ेगी। अतः उसे आत्मा ही मानना संगत है। इस प्रकार आत्मा का जिसे कारण कहते हो वह चेतन, अपरिच्छिन्न (अतः आनंद), सभी भेदों से रहित, सद्रूप, कारणरहित आत्मा है। उस आत्मा का जो भी कार्य होगा वह तो अनात्मा ही होगा, पराक् ही होगा न कि प्रत्यक्। अतः जिसे तुम 'आत्मा' का कारण कहना चाहते हो उसे ही हम आत्मा कहते हैं और जिसे उसका कार्य कह रहे हो उसे हम अनात्मा मानते हैं। इसलिये सिद्धांत यह स्थिर हुआ कि आत्मा कारणों से उत्पन्न होने वाली वस्तु नहीं है।।१२६-३१।।

१. सात्मिकेति पठनीयम्।

सत आत्मनो जगज्जनिः

अजो नित्यश्च भगवान् सर्वकारणकारणम्। आनन्दात्मा स्वयंज्योतिर्निर्भेदः सन्नितीरितः।।१३२

आनन्दज्ञानसत्तानामात्मनश्च यदा भिदा। तदा जाड्यं परिच्छेदाद्भवेत्तेषां घटादिवत्।।
तथा च पुनरप्येतद् उक्तदूषणमापतेत्।।१३३

सदानन्दात्मविज्ञाने ततो भेदो न कश्चन। सदादयस्ततः शब्दा एकार्थाः परिकीर्तिताः।।१३४

पौनरुक्त्यं न तेषां स्याद् एकार्थत्वप्रदर्शनात्। ज्ञायते पूर्वमज्ञातं श्रुत्या सर्वैर्जनैरिह।।१३५

सत एवात्मनस्तस्मात् तेजोऽबन्नात्मकं जगत्। उत्पद्यते यथाऽऽकाशाद् गन्धर्वनगरादिकम्।।१३६

घटादिषु यथा नित्यं भाति मृत् कारणात्मना। जगत्यस्मिंस्तथा सत्ता भाति सर्वेषु वस्तुषु।।१३७

प्रतिभान्त्यपि सा चैवं न भात्यात्मतया नृणाम्। गुरूपदेशशून्यानां बालानामिव भूमिपः।।१३८

संसारस्तत एवाऽयमविनष्टोऽत्र वर्तते। आत्मनो मायया जातो मायाया नाशवर्जनात्।।१३९

अस्मिन्नर्थे नानाश्रुतीनाम् आनुकूल्यमिति दर्शयन् प्रकृतश्रुतौ सत्पदेन एतदात्मस्वरूपमुक्तमित्याह—अज इति। अजादिलक्षण आत्मा नानाश्रुतिभिरुक्तः प्रकृते तु सन्निति पदेनोक्त इत्यर्थः।।१३२।। सत्पदेन चिदादिरूपसंग्रहे उपपत्तिमप्याह—आनन्देति। आनन्दादीनाम् आत्मान्तानां पदार्थानां परस्परं भेदे सति वस्तुपरिच्छेदेन तद्व्यापकं जाड्यं स्यात्। तथा चोक्तकार्यत्वप्रसक्तिद्वारकम् उक्तमनवस्थारूपं दूषणं स्याद् इत्यर्थः।।१३३।। तथा चैषामैक्यमेवेत्याह—सदानन्दात्मेति। विज्ञानान्तपदानां समाहारद्वन्द्व ऐक्यविशदत्वाय। एकार्था एकवस्तुप्रकाशकाः।।१३४।। पौनरुक्त्यं परिहरति—पौनेति। पूर्वार्द्धेन नकारविमुक्तेन शङ्कोक्तिः। असत्त्वदुःखपरिच्छिन्नत्वादिभ्रमाऽपोहेन अज्ञातात्मबोधस्य एभ्यः पदेभ्यः सर्वानुभवसिद्धत्वाद् न पौनरुक्त्यम् इति परिहार उत्तरार्द्धेनोक्तः।।१३५।। फलितमाह—सत एवेति। सतः सत्पदेन प्रदर्शितात्।।१३६।।

विवर्तविधया सतः सकलप्रपञ्चोपादानत्वेन परमसत्यतामेव नानोपपत्तिभिः विशदयति—घटादिष्विति षोडशभिः। यथा घटशरावादिषु कार्येषु कारणरूपेण मृद् भाति तथाऽऽत्मनः स्वरूपभूता सत्ता सर्वत्र भाति इत्यर्थः।।१३७।। ननु तस्या अधिष्ठानभूतायाः स्फूर्तौ कथं संसारात्मकाध्यासस्थितिरिति चेत्?[1] प्रत्यक्त्वादिविशेषाणाम् आवरणस्य निवृत्तिसामग्र्या अलाभाद् इत्याह— प्रतिभान्त्यपीति। यथा राजा मनुष्यत्वेन भासमानोऽपि बालैराप्तोपदेशं विना राजत्वेन न ज्ञायते तथा इयम् आत्मरूपा सत्ता प्रतिभान्ती सर्वत्र भासमानाऽपि गुरूपदेशं विना आत्मत्वेन न ज्ञायते तदाऽज्ञानरूपमायाकार्यस्य संसारस्य स्थितिः ततो मायारूपकारणस्य स्थितेः एव बोध्या। इति द्वयोरर्थः।।१३८-९।।

आत्मा नित्य है यह भूरिशः श्रुतियाँ कहती हैं। भगवान् आत्मतत्त्व को अज, नित्य, सब कारणों का भी कारण, आनंदरूप, स्वप्रकाश, भेदरहित बताया जाता है। उसी आत्मा को विचार्यमाण छांदोग्यश्रुति में 'सत्' कहा गया है।।१३२।। आनंद, ज्ञान, सत्ता और आत्मा—ये पदार्थ जब विभिन्न होंगे तो परिच्छिन्न (भेदवान्) होने से घड़े आदि की तरह ये भी जड होंगे जिससे इन्हें कार्य होना पड़ेगा और पूर्वदर्शित अनंतकारण कल्पना की आपत्ति होगी। अतः इन पदार्थों में अभेद ही मान्य है। सत्, आनंद, आत्मा, विज्ञान—इनमें कोई भेद नहीं है। अतः सत् आदि शब्द एक ही वस्तु के प्रकाशक हैं। फिर भी इनका एक-साथ प्रयोग संगत है, ये पर्यायवाची नहीं। असत्त्व, दुःख, परिच्छिन्नता आदि भ्रमों को हटाते हुए ये उस आत्मवस्तु को बताते हैं जो पहले अज्ञात है। सभी लोग इन शब्दों से अपने तत्तद्

---

१. संक्षेपशारीरके १.३२ आदौ कृत आधाराधिष्ठानविवेकोऽत्रानुसन्धेयः।

यदैतत् सत्तया भातं माययाऽपि विवर्जितम्। पुमानात्मतया देवं गुरुवाक्यात् प्रपद्यते।।१४०
तदा विश्वमिदं नायं प्रपश्यति कदाचन। गन्धर्वनगरं यद्वद् गगने दोषवर्जिते।।१४१
गगनाऽज्ञानतो यद्वद् गन्धर्वनगरस्थितिः। आत्माऽज्ञानात्तथा विश्वमुत्तिष्ठति सदात्मनः।।१४२
गन्धर्वनगरं यद्वद् नामधेयात् प्रतीयते। आदावन्ते च मध्ये च गगने नैव वस्तुतः।।१४३
नामधेयात्तथा विश्वं वस्तुशून्यं प्रतीयते। आदावन्ते च मध्ये च सदानन्दात्मनीश्वरे।।१४४

उक्तमायारूपदोषस्य गुरूपदेशेन निवृत्तौ तु संसारानुपलम्भो विद्वदनुभवसिद्ध इत्याह— यदैतदिति। एतद् उक्तप्रकारकं यथा भवति तथा सत्तारूपेण भातमपि तत्पदार्थं देवं गुरुवाक्येन परिहृतमायावरणम् आत्मत्वेन प्रपद्यते लभते तदा विश्वं न पश्यति। यथा दोषैर्नीहारपृष्ठगतसूर्यांशुसम्पर्कादिभिः वर्जिते गगने गन्धर्वनगरम्। इति द्वयोः सम्बन्धः।।१४०-१।। यथा च दृष्टान्ते गगनत्वस्य अपरिणामित्वस्य अज्ञानमेव नगराकारतामापद्यते तथाऽत्रापीत्याह—गगनाऽज्ञानत इति। स्पष्टम्।।१४२।। यथा च गगनात्तस्य भेदो नाममात्रेण न वस्तुतः कालत्रयेऽपि तथा ब्रह्मणो जगत इत्याह—गन्धर्वेति। स्पष्टं द्वयम्।।१४३-४।।

भ्रम मिटाकर आत्मबोध पा सकते हैं। इसलिये 'सत्' कहे आत्मा से ही तेज-जल-पृथ्वीरूप जगत् वैसे ही उत्पन्न हुआ है जैसे आकाश से गंधर्वनगर उत्पन्न होता।।१३३-६।। जैसे घटादि कार्यों में कारणरूप से अनुगत मिट्टी हमेशा अनुगत होती है वैसे इस ज़गत् में सब वस्तुओं में सत्ता प्रतीत होती है। यह सत्ता आत्मवस्तु ही है, सत् ही है। (वार्तिककार ने स्पष्ट किया है कि 'सत्ता' शब्द में तद्धित स्वार्थ में ही है।)।।१३७।।

आत्मा अधिष्ठान है। वही अगर सत्ता है तो सत्ता का भान ही अधिष्ठानज्ञान हुआ, तब संसाररूप अध्यास कैसे चल रहा है, अधिष्ठानज्ञान से बाधित क्यों नहीं हो गया? उत्तर है कि आधारांश के ज्ञान से भ्रम नहीं मिटता, प्रत्यक्ता आदि जिन विशेषों के आवरण से भ्रम है उस आवरण को हटाने की सामग्री जब तक कारगर नहीं होगी तब तक संसार भ्रम चलता रहेगा। सामने राजा खड़ा हो तो बच्चे भी उसे देखते हैं, कोई आदमी है इतना समझते भी हैं पर जब तक कोई जानकार बताये नहीं तब तक यह नहीं समझ पाते कि वह राजा है। इसी प्रकार यह सत्ता सर्वत्र भासमान है लेकिन जिन्हें सद्गुरु से उपदेश नहीं मिला उन्हें यह नहीं मालूम कि यह आत्मा है। इसीलिये यह संसार आत्मा में बना ही हुआ है, अब तक बाधित नहीं हुआ। आत्मा के अज्ञान से संसार उत्पन्न हुआ है और वह अज्ञान अभी तक मिटा नहीं इसीसे संसार स्थिर है।।१३८-९।। जो अभी सद्रूप से भासमान है इसी देव को गुरूपदेश से जब अधिकारी निरज्ञान आत्मा समझ लेता है तब वह सिद्ध पुरुष इस भ्रमसिद्ध विश्व को कभी 'यह सत्य है' ऐसा नहीं देखता जैसे नीहारादि दोषों से रहित गगन में गंधर्वनगर कोई नहीं देखता।।१४०-१।। गगनस्वरूप के अज्ञान से ही गंधर्वनगर की स्थिति है, जहाँ गंधर्वनगर दीखता है वहाँ वास्तव में केवल नीरूप आकाश है इस जानकारी के न होने से ही वहाँ वह नगर दीखता है और दीखना ही उस नगर का वहाँ होना है। इसी तरह आत्मा के अज्ञान के कारण ही विश्व आत्मा से मानो उठता है, पैदा होता है। लगता है कि विश्व हमेशा बना रहता है किंतु वास्तव में यह जब अनुभव हो रहा है तभी है, अनुभव से स्वतंत्र इसकी स्थिति भी गंधर्वनगर की तरह है नहीं।।१४२।। आदि-मध्य-अवसान में वास्तव में गगन में गंधर्वनगर है नहीं पर नामात्मक उपाधि से वह गगन से अलग प्रतीत होता है, विश्व भी वास्तविकता से रहित है, आनंदरूप ईश्वर में यह उत्पत्ति-स्थिति-लय अवस्थाओं में जो आत्मा से पृथक् प्रतीत होता है वह नामात्मक उपाधि के कारण ही। (अर्थात् 'विश्व' आदि नाम के परामर्श के बिना आत्मा से पृथक् कर संसार को कभी नहीं समझा जा सकता।)।।१४३-४।। भूत-भविष्य-वर्तमान तीनों कालों में जो है नहीं वह गंधर्वनगर मायावश ऐसे ही किसी व्यक्ति

गन्धर्वनगरं यद्वद् माययैव प्रतीयते। कालत्रयेऽप्यसन्मध्ये कस्यचिद् दोषदर्शिनः।।१४५
आनन्दात्मनि संसारो माययैव प्रतीयते। तथा मध्येऽत्र कस्याऽपि सर्वदाऽसत्स्वरूपतः।।१४६
मायया रहितो यद्वद् गन्धर्वनगरं परैः। गगने दृश्यमानं च न पश्यति कदाचन।।१४७
आनन्दात्मनि संसारं दृश्यमानं तथा परैः। मायया रहितो मुक्तो न पश्यति कदाचन।।१४८
एक एव यथा स्वप्ने बध्यते च विमुच्यते। एक एव तथा जीवो बध्यते चाऽत्र मुच्यते।।१४९
बन्धमोक्षौ यथा स्वप्ने विद्येते नैव वस्तुतः। तथा जागरणेऽप्येतौ न तौ वस्तुदृशा सदा।।१५०
बन्धमोक्षादिसंसारं यत् सदैकं प्रपश्यति। सत्यं तदेव विज्ञेयं तद्दृश्यमनृतं पुनः।।१५१
यदेतद् द्रष्टृ रूपं स्यात् सत्यं तत् कारणं मतम्। दृश्यं कार्यमसत्यं स्याद् वाचैवारभ्यते यतः।।१५२

दृष्टान्तेऽपि नीरादिदोषाणामविद्याक्षोभकत्वमेव, गन्धर्वनगरं प्रति प्रधानकारणता तु गगनतत्त्वविषयकाऽविद्याया एव। तथा प्रकृतेऽपीति दर्शयन्, प्रपञ्चस्य कल्पितत्वावेदकं प्रातिभासिकत्वमाह—गन्धर्वनगरमिति। कालत्रयेऽसद् अपि गन्धर्वनगरं कस्यचिद् दोषाक्रान्तदृष्टेर्यथा मध्ये ज्ञानसमकाले भाति ज्ञानविषयो भवति तथा संसारः सर्वदा स्वरूपेण असन्नपि आनन्दात्मनि कस्यचिद्[1] अस्य मध्य एव भाति। इति द्वयोरर्थः।।१४५-६।।

अनेन दृष्टान्तेन बन्धमोक्षव्यवस्थामपि स्फुटी करोति— माययेति द्वाभ्याम्। यथा परैः मायामोहितैः दृश्यमानम् अपि गन्धर्वनगरं मायारहितो निरस्ताऽविद्यो न पश्यति तथाऽज्ञैः दृश्यमानम् अपि संसारं मायाहानिलक्षणमोक्षशाली न पश्यति। इति द्वयोरर्थः।।१४७-८।। बन्धमोक्षकल्पनाऽधिष्ठानभूत आत्मा त्वेक एवेति स्वप्नदृष्टान्तेन आह— एक एवेति। बध्यते च विमुच्यते कल्पितासु स्वव्यक्तिषु बन्धमोक्षौ पश्यति।।१४९।। बन्धेति। वस्तुदृशा वस्तुतत्त्वालोचनेन[2]।।१५०।। फलितमाह—बन्धमोक्षादीति। यत् तत्त्वं बन्धादिसंसारस्य साक्षि तदेव परमं सत्यं, तद्दृश्यं तेन भातं सर्वमनृतमित्यर्थः।।१५१।। यदेतदिति। यदेतत् साक्षिरूपं तद् एव सर्वकारणत्वात् परमं सत्यं, दृश्यमानं तु तत्र अध्यस्ततालक्षणकार्यत्वेन अनृतं वाङ्मयनाममात्रत्वादित्यर्थः।।१५२।।

को भ्रमकाल में बाहर प्रतीत होता है जिस व्यक्ति की दृष्टि में कोई दोष है, ऐसे ही संसार स्वरूप से हमेशा असत् है, है ही नहीं, लेकिन जिस आत्मा में आवरण दोष है उसे विक्षेपशक्ति द्वारा आनंदात्मा में संसार तब तक लगता है जब तक उसे भ्रम बना रहता है।।१४५-६।। माया से मोहित अन्यों को दीखता हुआ भी गंधर्वनगर वह नहीं देखता जिसने पुरोवर्ती आकाश की नगररहितता रूप तथ्य का अवधारण कर अपनी तद्विषयक अविद्या मिटा ली है, इसी तरह आत्मा के अज्ञान से ग्रस्त लोगों को दीखता हुआ संसार भी आनंदात्मा में वह कभी नहीं देखता जो माया से, अविद्या से रहित हो चुकने से मुक्त हो गया है।।१४७-८।। किंतु इसका यह मतलब नहीं कि बहुतेरे आत्मा हैं जिनमें कोई बद्ध व कोई मुक्त है! जैसे सपने में वस्तुतः एक ही व्यक्ति होता है पर स्वयं कल्पित अनेक लोगों में कुछ को बँधा व कुछ को मुक्त समझता है, वैसे ही यहाँ एक ही जीव बँधता और मुक्त होता है। (अर्थात् कुछ का बंधन व कुछ का मोक्ष यह *व्यवस्था* अविद्यादशा की ही है जैसे सपना रहते ही वह व्यवस्था होती है, उठने पर *स्वप्नगत* कोई भी न बद्ध व न मुक्त रह जाता है। इस पर संक्षेपशारीरक २-२२-४ तथा अन्यत्र विस्तार उपलब्ध है।)।।१४९।। जैसे सपने में बंधन-मोक्ष वास्तविक नहीं होते वैसे जाग्रत् में भी ये वास्तविक कभी नहीं हैं।।१५०।। जो एक सत् तत्त्व आत्मा बंध-मोक्षादि संसार का साक्षी है उसे ही सत्य समझना चाहिये, उसका जो कुछ साक्ष्य है वह अनृत, असत्य, मिथ्या है यह जानना चाहिये क्योंकि वह सब नामात्मक उपाधि से ही प्रतीत होता है।।१५१।। यह जो साक्षी है वही सत्य है, सारे संसार का कारण है। उसका जो कुछ भी साक्ष्य है वह कार्य है, असत्य है क्योंकि केवल कहने भर को है।।१५२।। परमकारण आत्मा

१. कस्यचिद् आत्मन इत्यर्थः। संसारभ्रम आत्मसाक्षिक एव।
२. 'इत्येषा परमार्थते' ति परमाचार्या अपि लिलिखुः।

इत्यभिप्रायवानेष श्वेतकेतुमभाषत। सत्यतां च मृदादीनाम् घटादीनामसत्यताम्।।१५३
यथा मृदादयः सत्याः स्वकार्यपेक्षया मताः। मृदाद्यपेक्षया तद्वत् सत्य आत्मेत्युदीरितम्।।१५४
सत्यसत्यः स आत्माऽयं ज्ञातव्यो वेदवादिना। भवता मोहतो देवो न पृष्टः स्वगुरून् प्रति।।
येन ज्ञातेन सततं ज्ञातव्यं नावशिष्यते।।१५५
ततो गुरून् इतो गत्वा प्रश्नं कुरु यथोचितम्। विज्ञायात्मानमागच्छ पुनरप्यत्र मा चिरम्।।१५६

एतद् दार्ष्टान्तिकं सत् परमसत्यत्वं मनसि निधाय मृदादिदृष्टान्तत्रयस्य स्वस्वविकारापेक्षं सत्यत्वं पित्रा सुतायोपन्यस्तम् इत्याह— इत्यभिप्रायेति। स्पष्टम्।।१५३।।

'एवम्' इत्यारभ्य 'उवाच' इत्यन्तस्य[1] ग्रन्थस्याऽर्थमाह—यथेति दशभिः। अनेन दृष्टान्तत्रयेण इत्युदीरितं प्रदर्शितं भवति। 'इति' किम्? घटाद्यपेक्षया मृदादीनामिव विश्वकारणस्य आत्मनः परमं सत्यत्वमिति।।१५४।। सत्यसत्य इति। स च आत्मा सत्यसत्य इति नामोपन्यासादिभिर्वेदप्रतिपादितो भवता वेदवादिना वेदपाठं दृष्टार्थं जानता ज्ञातव्यो वेदार्थतयाऽवश्यम् अवधारणीयोऽपि सर्वविज्ञानहेतुविज्ञानकोऽपि च यन्निर्णयाय गुरून् प्रति न पृष्टः तत्र हेतुः तव मोहः प्रमाद एव इत्यर्थः।।१५५।। ततस्त्वया गुरून् प्रति पुनर्गन्तव्यमित्याह—ततो गुरूनिति।।१५६।।

एवमुक्त इति। मम गुरव इति सम्बन्धः। एवं भवदुक्तविधया ईश्वरं न ज्ञातवन्तः[2]। यदि तु ज्ञातवन्तः तर्हि

की वास्तविक सत्यता को मन में रखकर ही श्वेतकेतु को आरुणि ने मिट्टी आदि की सत्यता और घटादि की असत्यता समझाई है।।१५३।। जैसे अपने घटादि विकारों की अपेक्षा मिट्टी आदि सत्य माने जाते हैं वैसे मिट्टी आदि महाभूतों की अपेक्षा से आत्मा को सत्य कहा गया है। (अर्थात् मिट्टी सत्य है इसीलिये घटादि कार्य मिथ्या हैं, मिट्टी में आते-जाते हैं, स्वयं अपने में घटादि को असत्य नहीं कह सकते, मिट्टी की दृष्टि से ही कह सकते हैं। इसी तरह आत्मा सत्य है इसीलिये महाभूतादि संसार मिथ्या है, आगमापायी रूप से प्रतीयमान है, केवल संसार की दृष्टि से इसे मिथ्या कहना नहीं बनता वरन् सत्य जो आत्मा उसकी दृष्टि से इसे मिथ्या कहा जाता है। निरधिष्ठानभ्रमवाद बौद्ध मानते हैं जिसमें बिना किसी सत्य की अपेक्षा से संसार को असत्य घोषित किया जाता है जो वैसे ही असंगत है जैसे यह कहना कि 'सब मनुष्य झूठ ही बोलते हैं'! यदि कुछ सत्य है तब उसकी अपेक्षा अन्य को झूठ कहना बुद्धिसंगत है किंतु जब कुछ सत्य नहीं तब सबको झूठ कहें या सच कहें कोई अंतर नहीं पड़ता, अत एव बौद्ध असद्वाद का नारा लगाकर भी तंत्र-मंत्र के जंजालों में ही फँसे रहे क्योंकि विचार करें तो उनका अभिप्राय संसारसत्यत्व में ही रहा! अद्वैत शास्त्र सदधिष्ठान-भ्रमवाद मानता है जिसमें सत्य की अपेक्षा से ही किसी को झूठ समझा जाता है। गौडपादाचार्य ने बौद्ध-वेदांती का यह भेद बखूब समझाया है।)।।१५४।। वेदविचारक को चाहिये कि 'सत्य का सत्य' (द्रष्टव्य आत्मपुराण अ.४. श्लोक ५१५-२८) जो यह आत्मा उसे समझे। हे श्वेतकेतु आत्मदेव के बारे में तूने अपने गुरुओं से जिज्ञासा नहीं की क्योंकि तू मोहग्रस्त रहा, विवेकशील नहीं बन पाया। उसी आत्मा को जान लेने से फिर कुछ जानने लायक नहीं रहता।।१५५।। अतः लौटकर गुरुओं के पास जा और उचित ढंग से उचित विषय का प्रश्न उनके सामने रख। उनसे आत्मा को समझकर तब घर लौटना। जा, देर मत कर।।१५६।। (श्लोक ५७ से यहाँ तक आरुणि ने श्वेतकेतु को एकविज्ञान से सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञापूर्वक उसका उपपादन किया।)

---

१. 'एवं सोम्य! स आदेशो भवतीति।।६।। न वै नूनं भगवन्तस्त एतदवेदिषुर्यद्ध्येतदवेदिष्यन् कथं मे नावक्ष्यन्निति। भगवांस्त्वेव मे तद् ब्रवीत्विति। तथा सोम्येति होवाच।।७।।' इति षष्ठाध्याये प्रथमः खण्डः।

२. 'अवाच्यमपि गुरोर्न्यग्भावम् अवादीत् पुनर्गुरुकुलं प्रति प्रेषणभयात्' इति भाष्यम्।

श्वेतकेतुप्रार्थना

एवमुक्तः श्वेतकेतुः पितरं प्रत्यभाषत।। सर्वथा गुरवो नैवं ज्ञातवन्तो ममेश्वरम्।
मयि स्निग्धतमाः कस्मान्नोचुर्मह्यं महाधियः।।१५७

तेषां गोप्यतमं नैव विद्यते मयि किञ्चन। यावज्जानन्ति गुरवस्तावत्तैः सत्यमीरितम्।।१५८

पुत्रेभ्योऽपि प्रियस्तेषामहं शिष्यः समाहितः। अतो न गमने तात तेषामर्थोऽत्र विद्यते।।१५९

स्नातस्तेभ्यस्त्वनुज्ञां तां प्राप्य देशमुपागतः। कथं पुनरहं गन्ता विश्वासरहितो यथा।।१६०

भगवान् वचनं मह्यं कथयत्वात्मनेऽर्पितम्। यज्ज्ञानादखिलं ज्ञातमज्ञातं ज्ञायतेऽपि च।।१६१

अखण्डकारणोपदेशः

एवमुक्तः पिता तेन सतामग्रेसरस्तु यः। अङ्गी चकार निखिलं वक्तुकामः सुतं प्रति।।१६२

आह चेदं सुतं श्वेतकेतुं सम्बोधयन् हि सः। वक्ष्यामि भवता पृष्टं सोमवत् प्रियदर्शन!
सावधानमना भूत्वा शृणु गर्वविवर्जितः।।१६३

यदिदं दृश्यते विश्वं नामरूपक्रियात्मकम्। सदसच्छब्दधीगम्यं शब्दबुद्धिसमन्वितम्।।१६४

स्निग्धतमत्वेन स्नेहातिशयशालित्वेन तेषां मां प्रति तदनभिधानमनुपपन्नं स्याद् इत्यर्थः।।१५७।। एतदेव स्फुटयति—तेषामिति त्रिभिः। तावत् तैरीरितम् इति सत्यम् इति योजना।।१५८।। पुत्रेभ्य इति। तेषां समीप इति शेषः।।१५९।। स्नात इति। तेषाम् अनुज्ञां प्राप्य स्नातः समावर्तनसंस्कारं प्राप्तः सन् देशम् आगतोऽहम् अविश्वस्तवत् पुनर्गन्ता गमनकर्ता कथं भवेयम्? इत्यर्थः।।१६०।। भगवानिति। तस्मात् पूज्यो भवानेव आत्मने आत्मानं बोधयितुम् अर्पितम् उपन्यस्तं वचनं कथयतु विवृतं करोतु यदर्थविज्ञानाद् अखिलं ज्ञायते। 'अखिलम्' इत्यस्य विवरणम्—ज्ञातमज्ञातं चेति।।१६१।।

एवमुक्तः पितेति। अग्रेसरः मुख्यः।।१६२।। आहेति। हे सोमवत् प्रियदर्शन! इत्येवं सुतं सम्बोधयन् सन्निदम् आह। 'इदं' किम्? यत् श्रुत्युक्तं भवता पृष्टं च तद् वक्ष्यामि त्वं गर्वं परिहृत्य शृणु इत्यर्थः।।१६३।। तत्रादौ यद्विज्ञानात् सर्वविज्ञानं लभ्यते तद्वस्तुनोऽखण्डत्वं सर्वभेदराहित्यलक्षणं[1] प्रतिपादयति—यदिदमिति ऊनविंशतिश्लोकैः। यद् नामरूपक्रियात्मकं विश्वं दृश्यते विषयी क्रियते। कीदृशम्? सदसच्छब्दाभ्यां स्थूलसूक्ष्मवाचकाभ्यां तज्जन्यधिया च गम्यं स्वविषयकशब्दबुद्धिभ्यां सहितं च, तत्सर्वं श्रुतौ इदं-पदेनोक्तमित्यर्थः।।१६४।। सदेवेति। तद् इदं-पदोक्तं

यों कहे जाने पर श्वेतकेतु अपने पिता से बोला 'मेरे गुरुजन जैसा आपने बताया है वैसे ईश्वर के बारे में सर्वथा अनभिज्ञ थे! यदि वे उदारमना विद्वान् इसे जानते होते तो मुझे इसका उपदेश क्यों न देते जबकि मुझ पर सर्वाधिक स्नेह रखते रहे?।।१५७।। ऐसा कुछ नहीं जो वे मुझ से छिपाते हों। वे जितना जानते थे उतना उन्होंने मुझे समझाया इसमें कोई संदेह नहीं।।१५८।। मैं एकाग्रभाव से अध्ययन व सेवा करता था अतः अपने पुत्रों से ज़्यादा मुझ पर वे स्नेह रखते थे। हे पिता! इसलिये आत्मविद्या पाने के लिये उनके पास जाने का कोई फायदा नहीं। स्नातक बनकर उनकी अनुमति से ही मैं देश लौटा हूँ अब फिर उनके पास कैसे जाऊँ? जिसे विश्वास न हो कि गुरु ने ईमानदारी से अपना सारा ज्ञान मुझे दिया है, जो मानता हो कि गुरु ने कुछ छिपाया है, वही यों लौटकर गुरु के पास विद्यार्जनार्थ जा सकता है। मुझे तो विश्वास है कि उन्होंने अपनी समस्त विद्या मुझे मुक्तहस्त बाँटी है, मैं लौटकर कैसे जाऊँ?।।१५९-६०।। हे पूज्य पिता! इसलिये आप ही मुझे वे वचन समझाइये जो आत्मतत्त्व के अवबोधक हैं, जिन वचनों का तात्पर्य समझकर ज्ञात-अज्ञात सभी कुछ विज्ञात हो जाता है।।१६१।।

---

१. 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाऽद्वितीयम्।'६.२.१।।

सदेवासीत् पुरा तत्तु शब्दबुद्धिविवर्जितम्। न ततोऽन्यज्जगत् सर्वं यदुक्तं ते पुरा मया।।१६५
सत्तेयं भवता ज्ञेया सर्वभेदविवर्जिता। चिदानन्दात्मिका नान्या जडा यात्र घटादिषु।।१६६
जडानां हि विभक्तत्वाद् भवेज्जन्म घटादिवत्। ततो विलक्षणा सा स्यात् कारणं यात्र कीर्तिता।१६७
सूर्योदयात् पुरा यद्वत् तमस्तिष्ठति सर्वतः। विश्वोत्पत्तेः पुराप्येतदासीदव्याकृतं त्विदम्।।१६८

विश्वं सृष्टितः पुरा पूर्वं सदेव सन्मात्रम् आसीत्। कीदृशम्? सदसच्छब्दबुद्धिभ्यां भेदसापेक्षाभ्यां वर्जितम्। 'प्रातःकाले घटशरावादिकं मृन्मात्रमासीद्' इतिवद् इयमुक्तिरिति सूचयन्नाह— न तत इति। अत्र सत्पदेन वैशेषिकाद्यभिमता जातिरूपा व्यक्तिसापेक्षा सत्ता न विवक्षिता इति दर्शयंस्तत्र हेतुतया पूर्वोक्तं स्मारयति—यदुक्तमित्यादिना। यद् यतः पुरा दृष्टान्तत्रयाभिप्रायप्रदर्शने तुभ्यम् 'इति' उक्तम् इत्यर्थः।।१६५।। 'इति' किम्? इत्याकांक्षां पूरयति— सत्तेयमिति द्वाभ्याम्। इयं विश्वकारणभूता सत्ता भवता सर्वभेदरहिता चिदादिरूपा ज्ञेया। या तु अत्र वैशेषिकादिमते प्रसिद्धा घटादिषु समवेता जडा च सा न ज्ञेया। जडानां विभक्तत्वलिङ्गेन अध्यस्तत्वरूपकार्यत्वस्य निश्चितत्वाद् इत्यर्थः। फलितमाह— तत इति। ततो जडेभ्यः। इति द्वयोरर्थः।।१६६-७।। इदमेव सद्वस्तु 'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीद्' (बृ.१.४.७) इत्यादिश्रुत्यन्तरेषु अव्याकृतपदेनोक्तमित्याह—सूर्योदयादिति। सूर्योदयपूर्वकालिकतमःसदृशमायोपहितरूपेण एतद् एव तत्त्वम् अव्याकृतम् इत्युक्तमित्यर्थः।।१६८।।

श्वेतकेतु ने आरुणि से यों कहा तो यद्यपि गुरुजनों पर अज्ञता का आरोप गुरुद्रोहरूप पाप ही है तथापि वे पिता थे, समझ गये कि गुरुकुल लौटने से घबरा रहा है अतः उन्होंने उसे क्षमा कर दिया और उसकी प्रार्थना मानकर पुत्र को सारी आत्मविद्या सिखाने का निश्चय किया। आरुणि सज्जनों में अग्रणी थे, शाप-अनुग्रह में सक्षम थे अतः अनुग्रह से उन्होंने पुत्रदोष दूर कर दिये। वस्तुतस्तु आरुणि स्वयं भी यह सिद्धांत मानते थे कि गुरु जानता होगा तो प्रिय शिष्य को जरूर सिखायेगा क्योंकि उन्होंने कहा है 'यद्यहमिमानवेदिष्यं कथं ते नावक्ष्यम्? इति' (छां.५.३.५)। अतः वे श्वेतकेतु का गुरुद्रोह समझ नहीं रहे थे इसी से उन्होंने सरलभाव से उसे समझाने का निर्णय किया। अत एव यह भी मानना चाहिये कि श्वेतकेतु के मन में भी गुरुद्रोह नहीं था, उसे यही निश्चय था कि कर्मठ गुरुजन आत्मविद्या में निष्ठा वाले नहीं थे अत एव उसने पिता से जिज्ञासा की। एवं च दोषहीन पुत्र ने श्रद्धापूर्वक जिज्ञासा की तभी पिता ने विद्योपदेश दिया यह भाव है।।१६२।। उन्होंने कहना आरंभ किया: चंद्रमा-की तरह प्रिय दीखने वाले श्वेतकेतु! जो तूना पूछा है वह मैं बताता हूँ। अपना मन एकाग्र कर और गर्व छोड़कर सुन।।१६३।।

जो यह विश्व दीख रहा है वह पहले केवल सत् था। अभी विश्व नामात्मक, रूपात्मक, क्रियात्मक दीख रहा है, इसे स्थूल-सूक्ष्म कहते समझते हैं और यह कहना समझना भी विश्व के अंतर्गत ही है। ऐसा बनने से पूर्व यह सब सन्मात्र था। उस सत् को स्थूल या सूक्ष्म कहा-समझा नहीं जा सकता क्योंकि यह कहना-समझना सापेक्षता से है जबकि वह सत् निरपेक्ष है। जैसे निर्मित हो चुकने पर दीखते बर्तनों के बारे में कहते हैं कि 'सुबह ये सब मिट्टी का ढेर ही थे' वैसे इस कथन को समझना चाहिये कि नामादि में बँटा यह प्रपंच उत्पत्ति से पूर्व केवल सत् था। उस सत् से अतिरिक्त कुछ नहीं था। यह वही सत् है जिसे तुझे मिट्टी आदि दृष्टान्तों से बता चुका हूँ। इसे जातिरूप सत्ता मत समझना जो व्यक्तिसापेक्ष होती है वरन् कारणरूप सत् ही समझना जिसकी अपेक्षा से कार्यों की कल्पना होती है।।१६४-५।। घटादि में प्रतीयमान जड सत्ता को मैं यहाँ सत् नहीं कर रहा। सब भेदों से रहित चित् आनंद आत्मा को तुम सत्ता समझो।।१६६।। परस्पर विभिन्न होने से जडों का घटादि की तरह जन्म अवश्य होता है अतः जिसे यहाँ कारण कह रहे हैं वह सत्ता उनसे विलक्षण ही हो सकती है, चेतन, अविभिन्न, अज ही हो सकती है।।१६७।। सूर्योदय से पूर्व जैसे चारों ओर अँधेरा छाया रहता है वैसे विश्व की उत्पत्ति से पूर्व भी यह सब अव्याकृत था। (जो कुछ पड़ा हो सब अँधेरे से ढका रहता है, ऐसे ही जो अब व्यक्त नाम-रूप-कर्म है वह सब उस अवस्था में अज्ञानान्धकार से ढका था, छिपा था। वही विश्व की अव्यक्तावस्था, अव्याकृतावस्था कही जाती है, उसीको माया, तम आदि भी कहते हैं।)।।१६८।।

यत्र वाचो निवर्तन्ते विदुषां मनसा सह। तदेव निर्गुणं ब्रह्म प्रागवस्थमभूत्तदा।।१६९

देशः कालस्तथा वस्तु सदसद्वा न किञ्चन। आसीन्नैवाऽस्ति नैवैतद् भविता यत्र वस्तुनि।।१७०

वृक्षो यथाऽत्र नानात्मा शाखास्कन्धादिना भवेत्। एकोऽपि न तथाऽऽत्माऽयं स्वयं भेदविवर्जितः।।१७१

व्यक्तेर्व्यक्त्यन्तराद् भेदो गवादीनां यथा भवेत्। सजातीयाच्च न तथा सति भेदोऽस्ति कश्चन।।१७२

विजातीयाद् यथा भिन्ना गवाश्वमहिषादयः। न तथा कोऽपि भेदोऽत्र सति तस्मिन् हि विद्यते।।१७३

स्वसजातिविजात्युत्थभेदत्रयविवर्जितम्। यस्मादेतदतः सद्भिः सदेवेति निगद्यते।।१७४

न मायया द्वैतम्

माया यद्यपि तस्मिन् स्याद् द्वितीया कारणे सदा। तथाऽपि माययैवैषा वर्तते न तु वस्तुतः।।१७५

उलूकस्य यथा रात्रिरुलूकस्य प्रसिद्धितः। सिद्ध्यत्यत्र तथा माया माययैव प्रसिद्ध्यति।।१७६

परन्तु वक्ष्यमाणविधया मायाया द्वैतापादकत्वाभावात् तस्य निर्विशेषताया न क्षतिरित्याह—यत्रेति। यद्वस्तु प्रागवस्थं कारणावस्थमभूद् अव्याकृतादिपदैः व्यवहृतं तद् निर्गुणं ब्रह्म एव यत्र विदुषाम् अपि वाङ्मनसयोः निवृत्तिरुच्यत इति योजना।।१६९।। तत्र अतीतकालोक्तिरपि[1] कालवासनावासितशिष्यबुद्ध्यनुरोधेनैव इति दर्शयंस्तस्य निर्विशेषतामेव स्फुटयति—देश इति। भविता भविष्यति।।१७०।।

तस्य स्वगतभेदवारणम् एवकारकृतं सवैधर्म्यदृष्टान्तमाह— वृक्ष इति। यथैकोऽपि वृक्षः शाखादिभिः स्वगतभेदवान् प्रसिद्धः तथाऽयमात्मा न भवति इत्यर्थः।।१७१।। तथा 'एक'-पदेन सजातीयभेदो व्युदस्त इत्याह—व्यक्तेरिति। सति सत्पदोक्त आत्मनि।।१७२।। अद्वितीयपदेन तु विजातीयभेदो वारित इत्याह—विजातीयादिति। स्पष्टम्।।१७३।। फलितमाह—स्वसजातीति। एतत् तत्त्वं यस्मात् सर्वभेदहीनम् अतः सन्मात्रमित्युक्तमित्यर्थः।।१७४।।

अथ मायया सद्वितीयत्वम् आशंक्य तस्या अवास्तवत्वेन परिहरति—मायेत्यादिना। यद्यपि तस्मिन् ब्रह्मणि कारणत्वोपपादिका माया द्वितीयत्वे सम्भाव्यते तथाऽपि तस्या मायामोहितैरेव दृश्यत्वेन अवास्तवत्वाद् न तथात्वयोग्यतेत्यर्थः।।१७५।। तस्या माययैव वर्तने दृष्टान्तमाह—उलूकस्येति। यथाऽस्माकं दिनम् उलूकस्य रात्रिः इत्यत्र उलूकानुभव एव प्रमाणं तथा मायायामपि अज्ञानुभव एव तथेत्यर्थः।।१७६।। यथा च मेरुपरपार्श्ववर्तिनि

यद्यपि यों विश्व अव्यक्तरूप से था जिसे माया कहते हैं तथापि माया कोई स्वतंत्र वस्तु नहीं कि उसकी अपेक्षा परमात्मा को द्वितीय समझें! मायासमेत रहकर भी वह तो निर्विशेष ही था। विद्वानों के भी मन और वचन जिस तत्त्व के विषय में कुण्ठित रह जाते हैं वह निर्गुण ब्रह्म ही तब कारण रूप से मौजूद था।।१६९।। कोई स्थान, समय, सद् या असत् वस्तु उस आत्मतत्त्व में न थी, न है, न कभी होगी। (उसे 'था' यों भूतकाल से सीमित कहना इसीलिये पड़ता है कि हम लोग बिना कालपरिप्रेक्ष्य के किसी वस्तु की स्थिति की संकल्पना नहीं बना पाते, वास्तव में यह विवक्षित नहीं कि वह किसी समयसीमा में परिच्छिन्न है।)।।१७०।।

जैसे वृक्ष एक होने पर भी शाखा-स्कंध आदि से निरूपित स्वगत भेद वाला होता है ऐसे यह आत्मा नहीं, इसमें कोई स्वगत भेद नहीं, इसके कोई अवयव नहीं, गुण नहीं।।१७१।। गाय आदि एक व्यक्ति का अपनी ही जाति वाले अन्य व्यक्ति से भेद हुआ करता है किंतु सत्तत्व में ऐसा भी कोई भेद नहीं, उसका सजातीय कुछ नहीं।।१७२।। लोक में विजातीय गाय-घोड़े-भैंस आदि परस्पर भिन्न होते हैं पर सद्वस्तु में ऐसा भी कोई भेद नहीं है क्योंकि उससे विजातीय भी कुछ नही हैं।।१७३।। इस प्रकार स्वगत-सजातीय-विजातीय तीनों भेदों से वह रहित है अतः सज्जन उसके बारे में कहते हैं कि यह सत् *ही* है।।१७४।।

१. एवमेव कुत्रासीदित्यपि न प्रष्टव्यमित्यपेरर्थः।

सहस्रकिरणे यद्वत् तमस्तिष्ठति रात्रिषु। आनन्दात्मनि मायाऽपि तथा तिष्ठति संस्मृतौ।।१७७
नेत्रैर्विलोक्यमानेऽस्मिन्नुदिते रविमण्डले। तमो न दृश्यते यद्वत् तद्वद् मायाऽत्र वीक्षणात्।।१७८
कालत्रयेऽपि तमसा स्पृश्यते न दिवाकरः। यथा तथाऽयमात्माऽपि मायया स्पृश्यते न हि।।१७९
तमो मेघादिकं यद्वत् पुंसो नेत्रविरोधकम्। आवृणोति सदाकाशे विमलं रविमंडलम्।।१८०
एवमात्मनि मायेयं सर्वदोषविवर्जिते। बुद्धिरोधं हि कुर्वाणा गीयते तत्र सा द्विजैः।।१८१
ततः सदेव भगवान्नासीद् नान्यत् सदादिकम्। न मायाऽत्र यतो नैव वस्तुतो विद्यतेऽत्र हि।।१८२
एवं व्यवस्थिते तत्त्वे केचिदब्रह्मवेदिनः। सत्तायाः स्थानकेऽसत्तामभिषिञ्चन्ति पण्डिताः।।१८३

भगवति सूर्ये रात्रौ मूढदृष्ट्या तमसः स्थितिः तथा मायाऽपि मूढदृष्ट्या परमात्मनि स्थितेत्याह—सहस्रेति। संस्मृतौ विस्मृतौ मूढदृष्ट्येति यावत्।।१७७।।

विद्वद्दृष्ट्या तदभावमुदाहरति— नेत्रैरिति। अत्र आत्मनि वीक्षणाद् महावाक्यजादनन्तरमिति शेषः।।१७८।। वस्तुतः परमात्मनि मायासङ्गाऽभावं विशदयति—कालत्रयेऽपीति। स्पष्टम्।।१७९।। अज्ञगतायाः तत्पदार्थावरणे दृष्टान्तमाह—तम इति। तमोमेघादिकं वा द्रष्टॄणां नेत्राणि आच्छाद्य आकाशे सद् विद्यमानं रविमण्डलम् आच्छादयतीति यथा प्रसिद्धमित्यर्थः।।१८०।। एवमिति। एवम् अज्ञानां बुद्धिरोधं कुर्वाणा माया सर्वदोषहीनेऽपि आत्मनि गीयते इति।।१८१।। फलितमाह— तत इति। ततः सत्पदोक्तो भगवान् आत्मैव आसीत् तद्भिन्नं सदादिकं स्थूलं सूक्ष्मं विश्वं माया च न आसीत्। यत एषा मायाऽत्र परमात्मनि वस्तुतो न अस्तीत्यर्थः।।१८२।।

अथ श्रुत्या निरासाय उपन्यस्तम्[1] असत्कारणवादिमतं दर्शयति—एवं व्यवस्थित इति अष्टभिः। एवम् उक्तविधया अखण्डसत्तालक्षणे तत्त्वे कारणस्वरूपे व्यवस्थिते विशेषेण प्रमेयानुसारिसकलप्रमाणसंवादलक्षणेन देदीप्यमानेऽपि सति केचिद् ब्रह्मबोधहीनाः पण्डिताः सत्तास्थाने कारणत्वलक्षणेऽसत्ताम् अभिषिञ्चन्ति स्थापयन्तीत्यर्थः।।१८३।। एवं वदन्त इति। कीदृशास्ते ? एवं वदन्तः तर्कयन्तः। 'एवं' कथम्? इयं विश्वो-

यद्यपि उस ब्रह्म में जगत्कारणता उपपन्न करने वाली माया मान्य होने से सद्वितीयता की संभावना होती है तथापि माया उन्हीं की दृष्टि से है जो उस माया से मोहित हैं, वास्तव में वह है ही नहीं कि ब्रह्म को सद्वितीय बना सके।।१७५।। हमें जो दिन दीखता है वह उल्लू के लिये रात है पर इसमें उल्लू का ही अनुभव प्रमाण है, इसी तरह अज्ञानियों के अनुभव से ही माया की स्थिति है। इसे यों भी कहते हैं कि माया स्वयं माया से रहती हुई प्रतीत होती है।।१७६।। हजारों किरणों वाले भगवान् भास्कर तो हमेशा चमकते ही रहते हैं पर हम समझते हैं कि रात को उन पर अँधेरा छा जाता है! ऐसे ही हम मूढों की दृष्टि से ही आनंदात्मा पर माया है।।१७७।। सूर्यबिम्ब उग जाने पर जब उसे आँखों से देखते हैं तब उस पर अँधेरा नहीं दीखता, इसी प्रकार महावाक्यार्थ की प्रमाके बाद आत्मा में माया नहीं प्रतीत होती।।१७८।। वस्तुतः सूर्य को अँधेरा तीन काल में नहीं छूता, ऐसे आत्मा भी माया द्वारा कभी नहीं ढका जाता।।१७९।। अँधेरा, बादल आदि जैसे पुरुषों के नेत्रों को ही आच्छादित करते हैं पर लोग समझते हैं कि सूर्यबिंब ढक गया जबकि वह आकाश में हमेशा निर्मल रहकर चमकता रहता है, ऐसे ही माया अज्ञानियों की बुद्धि का ही प्रतिरोध करती है जिससे अज्ञानी समझते हैं कि आत्मा पर माया है जबकि आत्मा हमेशा मायादि सब दोषों से रहित है। (अतः अज्ञान है अज्ञानी को लेकिन प्रतीति कराता है कि परमात्मा मायावी है जैसे बादल आँख की गति रोक कर प्रतीति कराता है कि सूरज ढक गया।)।।१८०-१।। इसलिये श्रुति ने संगत ही बताया कि नाम-रूप के व्याकरण से पूर्व एकमात्र सद्रूप भगवान् ही था, स्थूल-सूक्ष्मादि और कुछ नहीं था, माया भी वहाँ वास्तव में नहीं थी।।१८२।।

---

१. 'तद्धैक आहुः—असदेवेदमग्र आसीदेकमेवाऽद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायत।।१।।'

असत्कारणवादः

एवं वदन्तः सत्ता किं सती वाऽप्यसती च वा। सती चेत् सा स्वयं तादृग्रूपा वा परतोऽपि वा।।१८४

प्रथमे को विशेषोऽस्या असत्ताया भविष्यति। विधिप्रत्ययगम्यत्वं केवलं कुलधर्मतः।।१८५

विधिबोधोऽपि जगतः प्रागवस्थां न गच्छति। असन् स्वयं कथं नाम गृह्णीयात्तामयं तदा।।१८६

परतश्चेदसंख्याताः सत्तास्तास्वत्र काचन। सत्ता सिद्ध्येत संख्याता वाऽज्ञातास्तत्र चान्तिमा।
उक्तदोषपरिग्रस्ता व्यर्थं मध्ये प्रकल्पनम्।।१८७

पादानतया वर्णिता सत्ता किं सद्रूपा, विपरीता वा? आद्ये, तस्याः सद्रूपत्वं किं स्वयं स्वरूपप्रयुक्तं किं वा परतः परया धर्मभूतया सत्तया कृतम् इत्यर्थः।।१८४।। प्रथम इति। प्रथमे स्वयं सत्त्वपक्षे अस्याः सत्ताया असत्ताऽपेक्षया को विशेषः स्यात्? न कोऽपि। असत्ताया अपि स्वरूपेण सत्त्वं स्यादिति प्रसङ्गस्य प्रतिरोद्धुमशक्यत्वाद् इति पूर्वदलार्थः। न च विधिप्रत्ययेन अस्तीत्याकारेण गम्यत्वं विषयी क्रियमाणत्वं सत्ताया विशेषः। तस्य सत्तायामेव अवस्थानस्य कुलधर्मवद् वृद्धसङ्केतमात्रप्रयुक्तत्वेन असत्तायामपि गमने बाधकाऽभावात्। न हि वृद्धसङ्केतः परान् असत्तायामपि विधिप्रत्ययं कुर्वाणान् निरोद्धुं शक्तः, तत्प्रत्ययस्य वैयधिकरण्याद्[1] इत्याशयेनाह—विधीति। कुलधर्मतः। कुलधर्मत्वेनैव सिद्धं, न तु वस्तुस्वभावानुरोधीत्यर्थः।।१८५।। किं च सृष्टिपूर्वकालिकभावस्य सद्रूपत्वं विधिप्रत्ययबलेनाऽपि दुरवसेयं, तदानीं प्रमातृरूपाश्रयाऽभावेन विधिप्रत्ययस्यैव असम्भवादित्याह—विधिबोध इति। विधेः अस्तित्वस्य बोधोऽपि जगतः प्राक्कालं यतो न गच्छति न वर्तितुं शक्तः अतः अयं विधिबोधः तदा प्राक्काले स्वयं स्वरूपेण असन्नवर्तमानः तां सत्तां कथं साधयेद्? इत्यर्थः।।१८६।।

'परत' इत्याद्य-द्वितीयं पक्षं विकल्प्य दूषयति—परत इति। यदा सत्तायाः सत्त्वोपपादनाय परा सत्ता कल्प्या तदाऽपि परायाः सत्त्वोपपादनाय अन्या सा कल्प्या—इत्येवं कल्पनारूढाः सत्ताः किम् असंख्याताः, संख्याता वा? तत्राद्ये दूषणमुक्तम्—तासु अत्र काचन सत्ता सिद्ध्येत अज्ञाता इति। अस्यार्थः—तासु असंख्यातासु सत्तासु मध्ये काचिदेव सत्ता सिद्ध्येत, न सर्वाः, यतः सर्वा अज्ञाताः क्रमेण युगपद्वा वर्तमाना नोपलभ्यन्त इति। द्वितीयपक्षे दोषमाह—तत्रेत्यादिना। तत्र संख्यातानां सत्तानां मध्येऽन्तिमा अन्त्या उक्तदोषेण विशेषाभावप्रयुक्ताऽसत्तासाम्यापत्तिरूपेण ग्रस्ता, तस्याश्च सत्तान्तरं विनाऽपि तद्व्यवहारसिद्धौ ततः प्राचीनानां सत्तानां कल्पनं व्यर्थमित्यर्थः।।१८७।। किं चेयं विश्वोपादानभूता सत्ता किमेकरूपा निर्विकारस्वभावा, किं वा परिणामिनी?

सत्य तो यही है। ब्रह्म से अनभिज्ञ कुछ पण्डित इस बारे में कहते हैं कि जब जगत् उत्पन्न नहीं हुआ था तब एकमात्र असत् था! श्रुति ने कहा कि तब केवल सत् था, उसकी जगह वे कहते हैं कि तब केवल असत् था।।१८३।। वे यों तर्कना करते हैं : जिसे श्रुति विश्व का उपादान कह रही है वह सत्ता क्या सद्रूप है या असद्रूप? यदि सद्रूप है तो ऐसा होने में उसका स्वरूप ही कारण है या अपने से भिन्न किसी सत्ता रूप धर्म से वह सद्रूप बनी है?।।१८४।। यदि सद्रूप होने में वह स्वयं ही कारण है तब असत्ता की अपेक्षा उस सत्ता में क्या विशेषता? स्वरूपतः सत्ता तो असत्ता की भी कही जा सकती है! यह कहो कि सत्ता को भावात्मक ज्ञान से विषय करते हैं जबकि असत्ता को अभावात्मक ज्ञान से, यही दोनों में अंतर है, तो वह कथन भी मनमानी होगा क्योंकि असत्ता को भावात्मक ज्ञान से विषय न करना केवल आपका कुलधर्म हो सकता है, असत्तारूप वस्तु का तो ऐसा कोई स्वभाव नहीं कि उसे भावात्मक ज्ञान से न

१. विधिप्रत्ययो न सत्तां नाप्यसत्तां विषयी करोति, अन्य एव तस्य विषयः भ्रमादेव सत्तां तद्विषयं मत्वा सत्ताऽसत्तयोर्विशेषमवोचत्सिद्धान्तानुयायीति भावः। ननु कस्तस्य तर्हि विषयः? अस्तित्वमिति गृहाण। तच्च अस्तीत्याकारेण गम्यत्वमिति वादिमतम्।

एकरूपाऽपि सत्तेयम् अथ वाऽनेकरूपिणी। आद्या साऽसत्तया तुल्या द्वितीया च घटादिभिः।।१८८

घटादिभिः समाना या जगतः प्रागवस्थितिः। यदा तदाऽपराद्धं किं सर्वैरेव घटादिभिः।।१८९

प्रथमे नामभेदोऽयं ज्ञापितः सदसत्त्वयोः। एकरूपं यतोऽसत्त्वमस्माभिरिह कीर्त्यते।।१९०

इत्यादि बहुशो मन्दा ये वदन्तीह तान् प्रति। पृच्छाम इदमेवाऽद्य पण्डितंमन्यरूपिणः।।१९१

आद्ये, तादृश्या असत्तायाः को विशेषः? अन्त्ये, घटादिसाम्यमित्याह— एकरूपेति। आद्या एकरूपा।।१८८।। किं चाऽन्त्यपक्षे घटादितुल्याया सत्तायाः प्राक्काले सत्त्वे घटादयोऽपि तदानीं स्युः! तथा च सृष्टिकालात् तत्कालस्य को विशेष इत्याह—घटादिभिरिति।।१८९।। एकरूपत्वपक्षे यदसत्तासाम्यमुक्तं तदेव स्फुटयति—प्रथम इति। प्रथम एकरूपत्वपक्षे। तस्माद् असत्त्वपक्ष एव श्रेयानिति भावः।।१९०।।

एतन्मतं श्रुतिसूचितप्रत्यक्षविरोधादियुक्तिभिः परिहरति[1]—इत्यादि बहुश इति त्रयोदशभिः। इत्यादि कुतर्कजातम् असतः कारणत्वसिद्धये ये वदन्ति ते तावदित्थं प्रष्टव्या इत्यर्थः।।१९१।। 'इत्थं' कथम् ?

विषय किया जाये।।१८५।। किं च सिद्धांती यह कहता किस आधार पर है कि जगत् से पूर्व जो सत् था वह भावात्मक ज्ञान का विषय था? उस समय प्रमाता तो थे नहीं कि भावात्मक ज्ञान हो सके! इसलिये जगत् की उत्पत्ति से पूर्व जब भावात्मक ज्ञान—'यह भावरूप वस्तु है' ऐसी मनोवृत्ति—था ही नहीं तब वह उस समय के सत् को कैसे ग्रहण कर सकता है!।।१८६।। इस प्रकार सत्-पदार्थ स्वतः सद्रूप नहीं माना जा सकता।

यदि कहो कि सत् की सद्रूपता में कोई अन्य कारण है तो पुनः उस अन्य के बारे में भी पूर्वोक्त प्रश्न उठेंगे और उसकी सद्रूपता के लिये तीसरे 'अन्य' की कल्पना करनी होगी एवं इस प्रकार अनेक सत्ताएँ माननी पड़ेंगी। यदि यों असंख्यात सत्ताएँ मानो तो उनमें से कोई एक सत्ता ही प्रमित हो सकेगी, सब नहीं, क्योंकि सारी अज्ञात सत्ताएँ इकट्ठे ही या क्रमशः भी उपलब्ध हो नहीं सकती (अगर हों तो असंख्यात होने से उन्हें जानने में ही सारी आयु क्षीण हो जायेगी!)। यदि कहो असंख्य नहीं वरन् परिगणित सत्ताएँ ही हैं तब भी ठीक नहीं: परिगणित में जो भी आखिरी सत्ता है उसकी सद्रूपता स्वतः है तो प्रथम की ही स्वतः क्यों नहीं हो गयी? अतः एकाधिक सत्ताएँ मानने का क्या प्रयोजन? और आखिरी की सत्ता परतः है तो वह 'पर' भी सद्रूप चाहिये जबकि परिगणित में आखिरी के बाद किसी सद्रूप को मानना संभव नहीं।।१८७।।

यह विश्व की उपादानरूप मानी जाने वाली सत्ता एकरूप अर्थात् निर्विकार स्वभाव वाली है या परिवर्तनशील है? यदि एकरूप है तो असत्ता जैसी ही हुई, असत्ता से उसमें क्या भेद है? और अगर परिवर्तनशील हैं तो घड़े आदि जैसी होने से सर्वकारण नहीं हो सकती।।१८८।। घटादि के समान परिवर्तनशील सत्ता को जगत् के प्राक्काल में मान सकते हो तो घटादि सभी चीज़ों को भी तब क्यों नहीं मान लेते, उन्हीं का क्या अपराध है कि उन्हें न मानकर एक सत्ता नामक पदार्थ को तब रहने वाला मानते हो?।।१८९।।

परिवर्तनशील न मानकर सत्ता को एकरूप मानो तब तो यही सूचित होगा कि सत् व असत् में नाम का ही भेद है क्योंकि हम असद्वादी असत् को एकरूप ही कहते हैं।।१९०।। (अतः 'सत्' नाम से वैदिक भी असत् को ही कहता है यही लगता है। इससे तो असत् कहना ही अच्छा क्योंकि समझने में स्पष्टता रहती है कि जो जगत् है यह तब नहीं था, तब कुछ भी नहीं था।)

श्लोक १८४-९० तक के ढंग की बहुत-सी शंकाएँ मंदमति वादी उठाते रहते हैं। स्वयं को पण्डित मानने वालों जैसे इन कुतार्किकों से हम (वेदवादी) यों पूछते हैं:।।१९१।। सृष्टि के पूर्व जो असत् तुम बताते हो उस असत् कारण

---

१. 'कुतस्तु खलु सोम्यैवं स्यादिति होवाच। कथमसतः सज्जायेतेति। सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाऽद्वितीयम्।।२।।'

तन्निरासः

असतः कारणात् कार्यं सत् स्यात्तदथ वाऽप्यसत्। असतः सदभूत् पूर्वं यदि तन्न कुतोऽधुना।
भवतीति वदन्त्वत्र कारणं तन्नियामकम्।।१६२

असतस्त्वसदेवैतज्जायते न कदाचन। वन्ध्यापुत्रान्नरे शृङ्गं भवेत् कालत्रयेऽपि न।।१६३

ततः कार्यं सदेव स्यात् सर्वथा सर्ववादिनाम्। सतश्च नासतो जन्म कथंचिदुपपद्यते।।
ततो विकल्पः सकलो व्यर्थ एवाऽत्र वादिनः।।१६४

अपि सत्ता स्वयं सत्तां यदाऽऽप्नोति तदाऽत्र किम्। दूषणं प्रतिबन्दी न दूषणं न्यायवेदिनाम्।।१६५

अपि व्याप्त्या विरहितं यदुक्तं दूषणं त्वया। उदकाहरणं कुर्यात् पार्थिवोऽत्र घटो यदि।
लोष्टं पार्थिवमप्यत्र तन्न कुर्यात् कथं सदा।।१६६

इत्याकांक्षायामाह—असत इत्यादिना। सृष्ट्यादौ असतः कारणस्य कार्यं सद्रूपं वाऽभूत, असद्रूपं वा ? आद्ये, अधुनाऽपि असतः अविद्यमानात् कारणात् तन्त्वादेः तत् सद्रूपं पटादि कुतो न भवति जायत इति अत्र नियामकं किञ्चिद् वक्तव्यमित्यर्थः।।१६२।। एतदेव स्फुटयति—असतस्त्विति। एतत् कार्यम् असद् असद्रूपम् असतः सकाशाद् न जायते यथा वन्ध्यापुत्ररूपात् कारणाद् नरे पुरुषे वर्तमानं शृङ्गं कालत्रयेऽपि न जायत इत्यर्थः।।१६३।। तथा च प्रमाणज्येष्ठेन प्रत्यक्षेण विरोधाद् बाधितं भवतां मतमित्याह—तत इति। ततोऽनुभवबलात्। असतः कार्यत्वस्याऽपि नृशृंगवत् व्याहतत्वाद् द्वितीयकोटिरपि निरस्तेति आशयेनाह—ततो विकल्पः सकल इति। ततोऽनुभवविरोधात्। स्फुटमन्यत्।।१६४।।

अथ तैर्विकल्प्य उपन्यस्तान् दोषान् परिहरति—अपीत्यादिना। किं च सत्तायाः स्वरूपेणैव सत्त्वसिद्धौ को दोषः ? ननु असत्ताया अपि तथा सत्त्वापत्तिरित्युक्तमिति चेद् ? न, असदुत्तरत्वाद् इत्याह—प्रतिबन्दीति। न्यायं पञ्चावयवं वाक्यं विदन्ति प्रयोक्तुं जानन्ति ये तर्ककुशलास्तेषां वादिनां दूषणप्रयोगकाले प्रतिवन्दीसंज्ञस्य साम्येन यत्किञ्चिदापादनरूपस्योत्तरस्याऽभिधानं न सम्मतम्। एतादृशस्य उत्तरस्य न्यायमार्गात् स्खलत्पादैरेव क्रियमाणत्वाद् इति भावः।।१६५।।

दौर्बल्यप्रयोजकं व्याप्तिराहित्यं त्वदुक्तौ स्पष्टम् इत्याह—अपि व्याप्त्येति। किं च स्वरूपे सत्तायाः सत्त्वे असत्ताया अपि तथा स्याद् इत्याकारं दूषणं यत्त्वयोक्तं तद् व्याप्त्या विरहितं हीनं; न हि स्वरूपत्वं सत्त्वादिव्याप्यम्, अन्यथा स्वरूपेण तेजस उष्णत्वे जलस्याऽपि तत् स्याद् ! इत्यापद्येतेति भावः। एतत् स्फुटयन् निर्व्याप्तिकवचनस्य उपहास्यतामाह—उदकेति। अत्र वादिनि पण्डितरूपिणि पण्डिताभासे इति इत्थं शतवारमपि प्रोक्तवाक्ये

से होने वाला कार्य सद्रूप हुआ या असद्रूप ? यदि असत् से सत् कार्य हो गया तो आज भी वैसा ही हो जाना चाहिये—जो तंतु आदि नहीं हैं उनसे ऐसा कपड़ा बन जाना चाहिये जो है ! ऐसा क्यों नहीं होता ?।।१६२।। असद्रूप कारण से असद्रूप ही कार्य उत्पन्न हो जाये यह भी कभी नहीं हो सकता, वंध्यापुत्र से मनुष्य पर सींग पैदा हो जाये यह तीन काल में नहीं होता।।१६३।। इसलिये सभी विचारकों के मत में कार्य सत् ही हो सकता है और सत् का असत् से जन्म किसी तरह युक्तियुक्त नहीं हो सकता। अतः पूर्वोक्त सारे विकल्प निरर्थक ही उठाये गये थे।।१६४।।

यह माना जाये कि सत्तत्त्व में स्वतः ही सत्ता है तो दोष क्या है ? तुमने दोष दिया था कि 'यों स्वतः सत्ता असत् की भी मानी जा सकती है'; किंतु तुम्हारा यह कथन अनुचित है। समानता को लेकर जो कुछ आपादन करना—इसंका नाम है 'प्रतिबंदी', ऐसा कथन तर्ककुशल नहीं करते वरन् जब युक्ति सूझती नहीं तभी खिसिया कर ऐसी बातें कहीं जाती हैं !।।१६५।।

शतकृत्व इति प्रोक्तवाक्ये पण्डितरूपिणि। जायते हास्यतैवाऽत्र ताल्वादेश्चास्य शोषणम्।।१६७

सत्ता सतीति विज्ञेया ह्यसत्त्वस्य विभेदतः। सत्ताभेदादसत्त्वं च स्यादसत्त्वेऽपि केवलम्।।१६८

अप्यनिष्टं न चाऽस्माकं सत्तापादनमीरितम्। असतः कारणस्याऽस्य सत्ताहेतुत्ववादिनाम्।।१६९

उदीरितवचनके सति अस्य वादिनो हास्यता, तालुकण्ठादीनां शोषणं च एतदेव द्वयं भवति। 'इति' किम् ? पार्थिवत्वेन घटवद् लोष्टम् अपि जलानयनसाधनं स्याद्। इति द्वयोरर्थः।।१६६-७।।

असत्त्वप्रतियोगितयाऽपि भवद्भिः सत्ताऽवश्यमङ्गीकर्तव्येति दर्शयन्नितरव्यावृत्तिरूपोऽपोह एव पदप्रवृत्तिनिमित्त-मित्याकारेण परमतेनैव असत्तापदार्थं निर्वक्ति—सत्तेति। सत्तायाः सतीत्वं सत्पदव्यवहार्यत्वं सत्पदार्थस्य भेदेनैव भवन्मतानुसरणेनाऽपि सिद्धम्। तथा असत्त्वम् असत्पदार्थोऽपि सत्ताप्रतियोगिकेन भेदेनैव त्वया निरूप्य इत्यर्थः। तथा च सत्ताऽपलापो न युक्त इति भावः।।१६८।। यच्च भवता स्वरूपबलेन असत्ताया अपि सत्त्वमापादितम्, तत् सत्कारणं प्रतिपादयतामस्माकम् इष्टमेव इत्याह—अप्यनिष्टमिति। अस्य सत्तास्थानेऽभिषिक्तस्य असतः कारणस्य यत् सत्तापादनं तद् अस्माकम् इष्टमिति सम्बन्धः।।१६९।।

तुम्हारा दिया दोष व्याप्ति पर आधारित है ही नहीं क्योंकि स्वरूपता सत्तादि का व्याप्य है ही नहीं अन्यथा तेज स्वरूप से उष्ण है तो जल भी उष्ण होना चाहिये था ! (सिद्धांतानुयायी ने पक्ष रखा था कि सत् स्वरूपतः ही सद्रूप हो सकता है। इस पर वादी ने दोष दिया था कि स्वरूपतः अर्थात् किसी हेत्वंतर के बिना स्वरूपमात्र के बल पर यदि सत् सद्रूप है तो ऐसे ही असत् भी सद्रूप माना जा सकता है ! यद्यपि 'असत् सद्रूप है' यह कहते हुए ही बात कट रही है तथापि कुछ ऊट-पटांग कल्पना कर उसने ऐसा कह दिया था। अब सिद्धांती समझा रहा है कि वदतो व्याघात से अतिरिक्त यह भी दोष है कि यह बात ही नहीं कह सकते क्योंकि ऐसी व्याप्ति ही नहीं कि जो एक का स्वरूप हो वह दूसरे का भी होना चाहिये।) तुम्हारा प्रश्न तो ऐसा है 'संसारप्रसिद्ध पार्थिव घट यदि पानी भरने के काम आता है तो मिट्टी का लोंदा वही काम हमेशा क्यों नहीं कर देता ? पार्थिवता एक-सी है तो पानी भरने के काम आना समान क्यों नहीं ?'।।१६६।। स्वयं को पण्डित-सा प्रतीत कराने वाला व्यक्ति सौ बार भी उक्त प्रश्न पूछे तो केवल हँसी का पात्र बनता है और उसके तालु आदि बोलते रहते से रूखापन महसूस करते हैं, अन्य कोई लाभ नहीं होता, कोई विचारशील उस सवाल को जवाब देने लायक नहीं मानता।।१६७।।

असद्वादी की शाब्दबोध-प्रक्रिया 'अपोह' की है। वे मानते हैं कि शब्द अर्थ के बारे में इतना ही बताता है कि वह क्या नहीं है, 'घट' शब्द अपने अर्थ के बारे में यही कहेगा कि वह ग़ैर-घट से अलग है, अघट से भिन्न है, अतः अतद्भेद ही शब्दार्थ है; 'अतत्' में 'तत्' का मतलब जिसे शब्द का अर्थ मानना है जैसे घट शब्द का अर्थ मोटे पेट के मिट्टी के बर्तन को मानना है अतः वह हुआ 'तत्', उससे भिन्न सारी दुनिया हुई 'अतत्' और उस 'अतत्' का भेद घट शब्द से पता चला। हालाँकि यह प्रक्रिया ग़लत है फिर भी अभी इसके खण्डन में नहीं लगते वरन् इसी के अनुसार सिद्ध करते हैं कि सद्रूप सत्ता स्वीकारना असद्वादी के लिये भी आवश्यक है : आप अपोहवादी मानते हैं कि असत् का अर्थ है सद्भिन्न अतः असत्ता की प्रसिद्धि के लिये आपको ही स्वीकारना पड़ेगा कि सत्ता सत्-शब्द से व्यवहार के योग्य ही है। असत्त्व की प्रतियोगी होने से सत्ता मान्य होगी ही अन्यथा प्रतियोगिरूप सत्ता न होने पर तद्भिन्नरूप असत्ता ही दुर्लभ हो जायेगी। असत्-शब्द के अर्थ का निरूपण उस अन्योन्याभाव से ही किया जाता है जिसका प्रतियोगी है सत्ता अर्थात् सत्ता के भेद से ही असत् का निरूपण होता है। अतः केवल असत्त्व मानने पर भी सत्ता का अपलाप संभव नहीं।।१६८।।

यह जो तुमने कहा था कि असत्ता को भी सद्रूप मान सकते हो वह हम सद्वादियों के लिये कोई अनिष्ट नहीं है। सत्ता की जगह असत्ता को जगत् का कारण मानकर तुमने उसे ही सद्रूप कह दिया तो हमारे ही सिद्धांत का अनुसरण

एवंरूपमसत्प्रोक्तं पारम्पर्यात् तथैव हि। अनयोरेकरूपत्वेऽप्यस्ति भेदो महानयम्।
भावाभावात्मको योऽयं प्रसिद्धः सर्वदेहिनाम्।।२००
विधिप्रत्ययगम्यत्वं यत्त्वयाऽत्र निराकृतम्। नाचक्ष्महे वयं तस्य लक्षणं तत् कदाचन।।२०१
अवाङ्मनसगम्यत्वं लक्षणं तु सतः स्मृतम्। सर्वलक्षणशून्यत्वम् अथ वाऽस्त्वस्य लक्षणम्।।२०२
ततो वेदोक्तसूर्येऽस्मिन् कुतर्करज आक्षिपन्। वादिनो ये त एवाऽऽसन् पांसुलास्याः सुदुर्धियः।२०३

यत्तु विधिगम्यत्वस्य कुलधर्मसाम्यमुक्तं तन्निषेधधीगम्यत्वेऽसल्लक्षणेऽपि समानमित्याह—एवंरूपमिति। एवं नास्तीति वेद्यत्वं रूपं यस्य तत्तथाविधम् असद् इति यदुच्यते तथा विधिगम्यत्ववत् पारम्पर्याद् एव स्यात्। कथं तर्हि सदसतोर्वैलक्षण्यमिति चेद् ? अनुभवबलादेवेत्याह—अनयोरिति। तथापि अनयोः सदसतोः ऐकरूप्यं न भवति हि यतो 'भावोऽयम्, अयम् अभाव' इत्थं निरूप्यमाणो भेदः सर्वानुभवसिद्ध इत्यर्थः।।२००।।

एवं लौकिकतर्कप्रधानानां बाह्यानां लोकदृष्टिविरोधेन परिहार उक्तः। अस्मत्सिद्धान्तभूतं सत्ताऽऽख्यम् अखण्डाऽद्वैतं तु दिवान्धैः अंशुमद्बिम्बमिव अनाकलितं कथमपह्नियेत ! इति सूचयन् विधिगम्यत्वलक्षणस्य दूषणप्रयासस्ते विफलः, तस्य लक्षणस्य अस्माभिरेव अनादृतत्वाद् इत्याह—विधीति। स्पष्टम्।२०१।।

किन्तर्हि सद्वस्तुनः सिद्धान्ते लक्षणमिति चेद् ? अविषयत्वम्, अलक्ष्यत्वं वा तद् इत्याह—अवाङ्मनसेति। न चैतदलीकेऽतिप्रसक्तं, तत्र विषयत्व-लक्ष्यत्वयोरभावाधिकरणताया अप्यसम्भवात्, 'सद्भ्यामभावो[1] निरूप्यत' इति सिद्धान्तात्। अविषयत्वेन प्रत्यगात्मताया विवक्षितत्वाच्चेति भावः।।२०२।। एतद् औपनिषदं तत्त्वं दूषयितुम् उद्यताः स्वयमेवाऽपकृताः स्युरिति रूपकेणाह—तत इति। ततः तर्काविषयत्वाद् अस्मिन् कारणतत्त्वे वेदोक्तसाधर्म्येण सूर्यरूपे; तत्र सूर्यपक्षे वेदोक्तत्वं—वेदत्वेनोक्तत्वम्, 'ऋग्भिः पूर्वाह्णे यजुर्भिर्मध्याह्ने सामभिः सायं तपति'[2] इति श्रुत्यनुसारात्; प्रकृते तु वेदप्रतिपादितत्वमिति बोध्यम्। अत्र ये वादिनः सुदुर्धियः कुतर्करूपं रजो किया क्योंकि सद्रूप ही जगत्कारण है यही हमारा सिद्धांत है।।१६६।। तुमने यह भी उलाहना देने की कोशिश की थी कि सत्ता को विधिगम्य मानना—भावात्मक ज्ञान का विषय मानना—मनमानी है ; किंतु ऐसे तो असत् को भी निषेधगम्य मानना भी मनमानी ही है ! 'नहीं है' यों ही जिसे समझा जा सके वह असत् होता है—यह नियम भी संप्रदायानुसार ही तुम मानते हो। यों 'परंपरानुसार समझे जाने वाले रूप वाला होना' यह समानता रहने पर भी सत्-असत् में यह महान् अंतर है कि सभी देहधारी स्पष्ट अनुभव करते हैं कि यह (सत्) भाव है और यह (असत्) अभाव है। (कुलधर्म, मनमानी आदि उसी को कहते हैं जो पारिभाषिक हो। बिना शास्त्रादि के नियम समझे भी सब मनुष्य अभाव-भाव का भेद करते ही हैं, शब्द प्रयोग, व्यवहार आदि करते ही हैं। अतः इसे मनमानी कहने का कोई मायने नहीं है। इसलिये सिद्ध होता है कि जगत्कारण सद्रूप ही है।)।।२००।।

तुमने सत्ताखण्डन के लिये विधिप्रत्ययगोचरता (भावात्मक ज्ञान की विषयता) का निरास करने का प्रयास किया था किंतु तुम्हें शायद यह मालूम ही नहीं कि अखण्ड अद्वैतरूप सत्ता का हम यह लक्षण ही नहीं कहते कि वह विधिप्रत्ययगम्य है ! हम तो कहते हैं कि जो मन-वाणी का विषय नहीं, जो सभी लक्षणों से (व्यावर्तक धर्मों से) रहित है वह सत्ता है। (यह मत कहना कि ये बातें अलीक, असत् में भी समान हैं क्योंकि विषयताऽभाव का अधिकरण या लक्ष्यताऽभाव का अधिकरण अलीक नहीं होता जबकि अभाव अधिकरणरूप होने से उक्त दोनों अभाव सत्तारूप हो जाते हैं। हम वेदांती जब अविषय या अलक्ष्य कहते हैं तब हमारा मतलब उस प्रत्यगात्मा से होता है जो विषय

---

१. सद्भ्यां प्रतियोग्यनुयोगिभ्याम्। अलीकस्य निरूपकता वादिभिरेव नाङ्गीकृतेति भावः। ननु तवापि सद्वस्तु नाभावाधिकरणं निर्धर्मकत्वादिति चेत् ? तत्राह—अविषयत्वेनेत्यादिना।

२. 'ऋग्भिः पूर्वाह्ने दिवि देव ईयते। यजुर्वेदे तिष्ठति मध्ये अह्नः। सामवेदेनास्तमये महीयते। वेदैरशून्यस्त्रिभिरेति सूर्यः।' इति सूर्यतापिन्युपनिषदि प्रथमपटले।

असत्तेषां वचो नैव स्वीकार्यं वेदवादिभिः। किन्तु पूर्वोक्तमेवाऽत्र कारणं सद्गिरोदितम्।।२०४
असतः कारणात् कार्यं सद् यस्मान्नैव जायते। तस्मात् सदेव विज्ञेयं सतः कार्यस्य कारणम्।।२०५
कार्यं हि ज्ञायते लोके कारणज्ञानतः सदा। सर्वस्य जगतश्चैतत् कारणं सत् प्रकीर्तितम्।।२०६

सृष्टिप्रक्रिया

यथा जगत् समग्रं तत् सृष्टवत् सत् तथा शृणु। सर्वभेदविहीनं तद् ब्रह्मैवं समचिन्तयत्।।
मायया परिगूढं सद् अगूढमपि सर्वदा।।२०७
बहुधा स्याम् प्रजायेय स्वयमेव यतस्ततः। जन्मनो बहुभावो मे भविष्यति न संशयः।।२०८
इत्थं विचिन्त्य भूतानि पञ्च तत् ससृजे क्रमात्। एकैकभूततां प्राप्तमेवमेव विचिन्त्य च।।२०९

धूलिपुञ्जम् आक्षिपन् प्रक्षिप्तवन्तः त एव पांसुलास्या धूलिव्याप्तमुखा आसन् न तु सूर्यस्य काचिद् हानिरित्यर्थः।।२०३।। श्रेयस्कामैस्तु तेषां तार्किकाणां मतं दूरतः परिहृत्य शास्त्रदृष्टिलब्धं सत्तत्त्वरूपरविमण्डलमेव विश्वकारणतया ज्ञेयमित्याह—असत्तेषामिति।।२०४।। असत्कारणत्वं हि उपलब्धिबाधितमित्याह—असत इति।।२०५।। सार्वज्ञ्यलक्षणफलवत्वाच्च सत्कारणं विज्ञेयमित्याह—कार्यं हीति। स्पष्टम्।।२०६।।

अथ सतोऽद्वितीयत्वविशदी करणाय श्रुत्युपन्यस्तां[1] सृष्टिप्रक्रियामभिनयति—यथेत्यादिना। तद् अद्वितीयत्वेन वर्णितं सत् तत्त्वं यथा समग्रं जगत् सृष्टवद् असृजत् तं प्रकारं शृणु। तत् सर्वभेदहीनं ब्रह्म कर्तृ एवम् अचिन्तयत्। कीदृशम् ? वस्तुतः सर्वदा मायया असंस्पृष्टमपि कल्पितसम्बन्धेन मायावद् इत्यर्थः।।२०७।। 'एवं' कथम् ? इत्याकांक्षायामाह—बहुधेति। अहं बहुधा स्याम् भवेयम्। कथम् ? स्वयमेव प्रजायेय प्रकर्षेण नानाभेदैः जन्म लभेयम् यतो जन्मनैव मे बहुभावो भवेद् नान्यथा तत इति सम्बन्धः।।२०८।। तैत्तिरीयश्रुतेः वाय्वाकाशावुपसंहरन्नाह—इत्थमिति। न केवलं सर्वभूतसृष्टेः प्रागेव उक्ताकारं चिन्तनमकरोत्, किन्तु प्रत्येकभूतसृष्टेः प्रागपीत्याह—एकैकेति। कीदृशं तत् सत् ? एवम् 'बहुधा स्याम्' इत्याद्याकारविचिन्तनपूर्वकं प्रत्येकभूतरूपतां गतमित्यर्थः।।२०९।।

या लक्ष्य नहीं है। अर्थात् 'विषय न होना' यह हमारा अभिप्राय नहीं बल्कि हमारा अभिप्राय उस प्रत्यक्तत्त्व से है जो विषय नहीं होता।)।।२०१-२।।

जैसे कोई मूर्ख मनुष्य सूर्य की ओर धूल फैंके तो सूर्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, उस व्यक्ति के मुँह पर ही वह धूल आकर गिरती है, वैसे ही वेदप्रतिपादित कारणभूत इस प्रत्यग्रूप सत्तत्त्व के बारे में कुतर्क करने से वादियों की ही हानि होती है। (सूर्य की जगह सत्तत्त्व, अत्यधिक मूर्ख की जगह दुर्वादी और धूल की जगह कुतर्क है। मुँह पर गिरने वाली धूल की जगह है उनकी मान्यताओं के अनुसार ही उनके सिद्धांतों का निरास हो जाना। तात्पर्य है कि जो सूक्ष्मरहस्य तर्क के लायक नहीं उन्हें यथाप्रमाण समझने का प्रयास ही हितकर है न कि शुष्कतर्क से उनके बारे में कुछ कहना।)।।२०३।। वेदवादियों को उक्त प्रकार के वादियों की गलत बातें नहीं स्वीकारनी चाहिये किंतु श्रुति ने 'सत्' शब्द से जिसे कहा उसी को जगत्कारण स्वीकारना चाहिये।।२०४।। असत् कारण से सत् कार्य क्योंकि पैदा नहीं होता इसलिये सत् कार्य का कारण सत् को ही मानना चाहिये।।२०५।। यह सनातन नियम है कि कारणज्ञान से कार्यवर्ग जान लिया जाता है। सारे जगत् का कारण यह सत्तत्त्व है अतः इसे जान लेने से सर्वज्ञता सिद्ध हो जाती है। (एवं च 'सफल, सप्रयोजन होना'—रूप तर्क भी सत् कारण को ही सिद्ध करता है।)।।२०६।।

सद्वस्तु अद्वितीय है यह समझाने के लिये विचार्यमाण छांदोग्यश्रुति ने सृष्टिप्रक्रिया उपस्थित की है, उसे समझाते हैं : उस अद्वितीय सत् तत्त्व ने समग्र जगत् की सृष्टि जिस तरह की वह सुनो—वास्तव में हमेशा ही माया से अछूते किंतु कल्पित संबंध से मायावी बने, सब भेदों से रहित, व्यापक चैतन्य ने यों विचार किया :।।२०७।। 'मैं बहुत तरह का हो जाऊँ। मैं खुद ही नाना भेदों वाला उत्पन्न हो जाऊँ। मुझ अकेले का बहुत तरह का होना तभी सम्भव है जब

---

१. 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति। तत्तेजोऽसृजत। तत्तेज ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तदपोऽसृजत। तस्माद् यत्र क्व च शोचति स्वेदते वा पुरुषस्तेजस एव तदध्यापो जायन्ते।।३।। ता आप ऐक्षन्त बह्व्यः स्याम प्रजायेमहीति। ता अन्नमसृजन्त। तस्माद् यत्र क्व च वर्षति तदेव भूयिष्ठमन्नं भवति। अद्भ्य एव तदध्यन्नाद्यं जायते।।४।।' इति द्वितीयः खण्डः।।

आकाशश्च तथा वायुः पञ्चीकरणकर्मणि। उपयुक्तौ ततो हित्वा तौ श्रुतिः सृष्टिमब्रवीत्।।
तेजोऽबन्नात्मनामेषां त्रिवृत्करणकाम्यया।।२१०

स्थूलां बुद्धिं समाश्रित्य त्रिवृत्करणमीर्यते। सत्येव पञ्चीकरणे शिष्याणां समनुग्रहात्।।२११

तेजस्तदनु नीराणि तान्यन्नं भूमिशब्दवत्। सृष्ट्वा चाऽभूत्तु सर्वत्र ब्रह्म तत्तत्स्वरूपवत्।।२१२

इदानीमपि संतापाद् वृष्टिरन्नं ततो भवेत्। आदौ यतस्त्रयं त्वेतदेकमेकस्य कारणम्।।२१३

तेजोऽबन्नात्मकं यस्मात् त्रयमेव हि कारणम्। बीजानि तत एतानि प्रोक्तानि त्रीणि देहिनाम्।।२१४

तत्र प्रकृतच्छन्दोगश्रुत्याऽऽकाशवाय्वोः सृष्ट्यनभिधाने प्रयोजकमाशयं वर्णयति—आकाशश्चेति। बालैर्दुरवगमे पञ्चीकरणे उपयुक्तयोः वाय्वाकाशयोः सृष्टिमुपेक्ष्य अनुग्रहेण शिष्याणां स्थूलां बुद्धिं समाश्रित्य अनुसृत्य अत्र श्रुत्या त्रिवृत्करणम् एव ईर्यते प्रतिपादयितुमिष्यते, अतः तेजःप्रभृतीनां त्रयाणामेव सृष्टिरुक्ता। इति द्वयोरर्थः।।२१०-१।। तत्र क्रममाह—तेज इति। ब्रह्म कर्तृ प्रथमं तेजः सृष्ट्वा तदनु तदनन्तरं नीराणि सृष्ट्वा तदनु तदनन्तरं भूम्यपरनामकम् अन्नं च सृष्ट्वा तत्तत्तादात्म्यं प्राप्तमभूद् इत्यर्थः।।२१२।।स एव सृष्टिक्रमोऽधुनाऽप्यनुभूयत इत्याह—इदानीमिति। यत एतत् तेजोऽबन्नलक्षणत्रयान्तर्गतम् एकं प्रथमम् एकस्य अन्यस्य उत्तरस्य कारणम् अभूत् तत इदानीमपि सन्तापाद् आतपातिशयाद् वृष्टेर्भवनं, ततश्च अन्नभवनं युक्तमित्यर्थः।।२१३।।

देहबीजानां जरायुजादिशरीराणां त्रैविध्यदर्शनेनाऽपि प्रत्यक्षजगतः कारणत्रयम् अवधार्यमित्याकारकं तृतीयकण्डिकाद्यवाक्यस्याऽर्थमाह[1]—तेजोऽबन्नात्मकम् इति षड्भिः। यस्माद् अस्य जगतः कारणं तेजोऽबन्नलक्षणैः त्रिभीरूपैस्त्र्यवस्थम् आसीत् ततः तं कारणस्वभावमनुसृत्यैव एतानि वक्ष्यमाणानि शरीरिणां बीजानि सन्ततिप्रयोजकानि कारणानि त्रीणि त्रिविधानि सम्पन्नानीत्यर्थः।।२१४।। तानि गणयति—जरायुजमिति। जरायुजाख्यशरीरिजातिः

मैं स्वयं नाना प्रकार का पैदा होऊँ।' ।२०८।। यह विचार कर उसने क्रमशः पाँचों महाभूत पैदा किये। वही पहले आकाश बना, फिर पूर्वोक्त विचार कर वही वायु बना, फिर विचार कर तेज बना इत्यादि हर महाभूत बनने पर उसने उक्त विचार किया। (अर्थात् हर महाभूत का उत्पादन सत् के बहुधाभवन के लिये ज़रूरी होने से ही किया गया है और सत् स्वयं ही इन भूतों के रूप में पैदा हुआ है क्योंकि सत्से अन्य कुछ था ही नहीं जो या जिससे भूत बनते!)।२०९।। आकाश-वायु का पंचीकरण में उपयोग है और पंचीकरण समझना कठिन है अतः साधकों की स्थूल बुद्धि का विचार कर श्रुति ने छांदोग्य में आकाश-वायु की सृष्टि का उल्लेख नहीं किया, सीधे ही तेज-जल-पृथ्वी का उत्पादन कह दिया। सृष्टि हुई पंचीकरण-प्रक्रिया से ही है पर साधकों पर कृपा कर यहाँ श्रुति ने त्रिवृत्करण का ही प्रतिपादन कर दिया है। क्योंकि यहाँ तीन भूतों के मेलन को समझाकर ही आत्मोपदेश करना है इसलिये उत्पत्ति भी तीन भूतों की ही कह दी है। (सभी शाखाओं का ताल-मेल बैठाने पर तो पाँचों भूतों का जन्म और उनका मेलन स्वीकार्य ही है पर केवल प्रकृत श्रुति समझनी हो, इसी के अनुसार आत्मतत्त्व का स्फुरण पाना हो, इसके उपदेश पर सांसारिक व्यवस्थाओं के परिप्रेक्ष्य में प्रश्न न उठाने हों तो तीन भूतों का जन्म व उनका मेलन समझकर भी काम चल ही सकता है। कुछ प्राचीन आचार्य पंचीकरण को अश्रौत कहते हैं, उनका मुँह पुराणकार पूर्वाध्याय (११.९७ आदि) में बंद कर आये हैं। अध्यारोपप्रकरण होने से यद्यपि तीन-पाँच का कोई आग्रह नहीं है तथापि श्रुति-युक्ति-सम्प्रदाय से प्राप्त होने के कारण पंचीकरण की मान्यता है। उसे समझने की कठिनाई देखकर उदाहरणार्थ श्रुति ने त्रिवृत्करण बताया है कि जैसे तीन भूतों का मेलन हो सकता है ऐसे पाँचों का हुआ।)।२१०-१।।

ब्रह्म ने पहले तेज उत्पन्न किया, फिर जल और अंत में अन्न कहलाने वाली भूमि को उत्पन्न किया। इन्हें

१. 'तेषां खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवन्ति—आण्डजं जीवजम् उद्भिज्जमिति।।१।।'

जरायुजं भूतजातमादावेव प्रजायते। स्वेदजं च ततस्त्वेकम् उद्भिज्जं चाण्डजं पुनः।।२१५
जलान्युद्भिद्य जायेते भूमिं स्थावरसङ्घवत्। अन्तर्भावं ततस्तत्र वर्णयामास सूत्रकृत्।।
पाराशर्यो महाभागो व्यासः सत्यवतीसुतः।।२१६

असत्त्वं हि चतुर्थस्य निवारयति तत् प्रभुः। नान्तर्भावं करोत्यत्र तात्पर्यं सर्वदर्शिनः।।२१७

प्रथमं शरीरिणां बीजम्। तस्य प्रथमत्वं च जरायोः जठराग्निपाकजत्वेन तैजसत्वात्। ततः स्वेदजं द्विविधं जायते। तस्य द्वैविध्यम् उपपादयति—एकमित्यादिना। यद् एकं मशकादिरूपं स्वेदजम् उद्भिज्जम् भवति; अपरं यूकादिरूपं तु अण्डजम् अण्डभावद्वारा जायमानत्वाद् इत्यर्थः। तथा च स्वेदजस्योद्भिज्जाण्डजाभ्यां यथायोगम् आप्यपार्थिवाभ्यां संग्रहसंभवाज्जरायुजाण्डजोद्भिज्जाख्यानि त्रीण्येव बीजानि इति प्रकृतश्रुतेः आशय इति भावः।।२१५।। 'तृतीयशब्दावरोधः संशोकजस्येति'[1] तृतीयाध्यायप्रथमपादगतसूत्रेण (सू. २१) उद्भिज्ज एव अन्तर्भावोक्तिस्तु उद्भिद्य जायत इति व्युत्पत्तिरण्डजे यूकादावपि सम्भवति इत्येतावद् बोधयितुं, न तु अण्डजेऽन्तर्भावं वारयितुम् इत्येवं-विधं सूत्रकाराशयं दर्शयति—जलानीति द्वाभ्याम्। उद्भिज्जाण्डजलक्षणौ द्वावपि स्वेदजस्य भेदौ जलानि उपादानभूतानि उद्भिद्य ऊर्ध्वं भित्त्वैव जायेते उत्पद्येते यथा स्थावरा वृक्षादयो भूमिम् उद्भिद्य जायन्ते तद्वत्। ततः तमेनं व्युत्पत्तिसमन्वयं मनसि निधाय भगवान् सूत्रकृत् तत्र उद्भिज्जे स्वेदजस्य अन्तर्भावम् उवाच इत्यर्थः।।२१६।।

एवं व्याख्यानस्य तात्पर्यानुरोधितामाह—असत्त्वमिति। हि यतः तत् तेन उक्तसूत्रनिर्माणरूपव्यापारेण प्रभुः सूत्रकृत् चतुर्थस्य स्वेदजस्य ऐतरेयोक्तस्य असत्त्वं वारयति—तस्याऽसत्त्वं नास्तीत्येतावदेव विवक्षति—न तु अत्र उद्भिज्ज एव अन्तर्भावं करोति यतस्तस्य मुनेः अत्र वक्ष्यमाणेऽर्थे तात्पर्यम्; तत्र हेतुगर्भं विशेषणम् सर्वदर्शिन इति। ऐतरेयादिवाक्यानि लोकवृत्तं च प्रकृतश्रुतावेवकारं च पश्यत इति तदर्थः।।२१७।।

अपने से भेदेन नहीं बनाया वरन् ब्रह्म ही इन स्वरूपों वाला होता चला गया।।२१२।। आज भी यह क्रम प्रत्यक्ष है—गर्मी से बरसात और वृष्टि से अन्न होता है। क्योंकि सृष्टि के आदिकाल में ये तीनों एक-एक के कारण थे इसलिये अब तक यह क्रम उपलब्ध है।।२१३।।

क्योंकि इस जगत् का कारण सत्तत्त्व तेज-जल-पृथ्वी इन तीन रूपों वाला हुआ था इसलिये देहधारियों के बीज तीन तरह के ही बताये जाते हैं।।२१४।। जिनके सहारे संतानलाभ होता है वे पदार्थ सबसे पहले जरायुज भूत पैदा होते हैं। (अर्थात् देहधारियों का पहला बीज शरीरियों की वह जाति है जिसे जरायुज कहते हैं। जरायु क्योंकि जठराग्नि के पाक से बनता है इसलिये वह तैजस है, इसीलिये प्रथम है।) उसके बाद दो तरह के स्वेदज पैदा होते हैं—एक तो हैं मच्छर आदि स्वदेज जिन्हें उद्भिज्ज भी कहते हैं और दूसरे हैं जू आदि जो अण्डज कहे जाते हैं। (उद्भिज्ज जलीय और अण्डज पार्थिव हैं अतः ये द्वितीय-तृतीय कहे गये। इसीलिये श्रुति ने यहाँ तीन ही प्राणिबीज कहे हैं, चारों तरह के प्राणियों का तीन बीजों में अंतर्भाव हो जाता है।)।।२१५।। स्वेदज के भेद जो उद्भिज्ज और अण्डज वे अपने उपादानरूप जल को फोड़कर पैदा होते हैं जैसे स्थावर वृक्षादि भूमि को फोड़कर पैदा होते हैं। 'फोड़ कर पैदा होने' की समानता को लेकर ही भगवान् सूत्रकार,पराशर व सत्यवती के पुत्र व्यास जी ने स्वेदज का उद्भिज्ज में अंतर्भाव बताया है।।२१६।। सूत्र द्वारा सर्वज्ञ प्रभु व्यास जी इतना ही कहना चाहते हैं कि ऐतरेय में कहे स्वेदज नामक चौथे प्रकार के प्राणी होते अवश्य हैं। स्वेदज का उद्भिज्ज में ही अंतर्भाव होना चाहिये ऐसा सूत्रकार का तात्पर्य नहीं वरन् तात्पर्य है कि अण्डज हैं पक्षि, सर्प, जूँ आदि, उद्भिज्ज हैं स्थावर, मच्छर आदि और बाकी सब जंतु जरायुज हैं। इस प्रकार अध्यात्म प्रपंच

१. 'आण्डजं जीवजम् उद्भिज्जम्' इत्यत्र तृतीयेन उद्भिज्जशब्देनैव स्वेदजोपसंग्रहः कृतः प्रत्येतव्यः। उभयोरपि स्वेदजोद्भिज्जयोः भूम्युदकोद्भेदप्रभवत्वस्य तुल्यत्वात्।' इति सूत्रभाष्यम्। 'स्वेदजसंशोकजयोः अण्डजोद्भिज्जयोरेव यथासम्भवमन्तर्भाव' इति च्छान्दोग्यभाष्यम्। संशोक औष्ण्यम्, भूम्यादेः सन्तापेन मशकादयो जायन्त इति मन्यते। एवं च सर्वप्राणिनामुपन्यास एव तात्पर्यं, प्रकारभेदे नाग्रहः।

अण्डजाः पक्षिसर्पाद्या उद्भिज्जाः स्थावरा अपि। शेषा जरायुजा ज्ञेयाः सर्व एवाऽपि जन्तवः।।२१८

त्रित्वं बीजे यतस्तस्मात् तेजोऽबन्ने च तत् स्थितम्। कारणं सर्वजगतो दृश्यतामस्मदादिभिः।।२१९

परमकारणानुगमः

कारणात्मतया पूर्वं तेजोऽबन्नेषु देवता। प्रविष्टा यत एवैतत् तल्लिङ्गं दृष्टमीक्षणम्।।२२०

तेज आपश्च तद्वद् यद् ईक्षित्वा सृष्टिसिद्धये। बहुधा स्यां प्रजायेयेत्येवं दृष्टप्रवर्तनम्।।२२१

जीवः

प्रविष्टाऽपि न तेष्वेषा प्रविष्टा जीवरूपतः। प्राणानां धारको योऽयं स जीव इति कथ्यते।।२२२

'अत्र' इत्युक्तं सर्वाऽविरोधिमुनितात्पर्यमभिनयति—अण्डजा इति। आद्यपदेन यूकादीनामपि संग्रहः। अपिशब्देन मशकादीनां ग्रहः। स्फुटमन्यत्।।२१८।। त्रित्वमिति। यतः अध्यात्मप्रपञ्चस्य बीजे त्रित्वं त्रैविध्यं दृष्टं ततो विश्वकारणेऽपि तेजोऽबन्नरूपैः त्रैविध्यं बोध्यमिति शेषः। एतद्विज्ञानस्य किं फलमिति चेत् ? परमकारणे सन्मात्रे बुद्धेरवतार एव इत्याह—तत् स्थितमित्यादिना। तेजोऽबन्नेषु स्थितं सद्रूपेण अनुगतम् अस्मदादिभिः अधिकारिभिः दृश्यताम् अन्वेष्टव्यं स्याद् इत्येतदर्थम् एतदुक्तमिति शेषः।।२१९।।

परमकारणस्य तेजःप्रभृतिषु अनुगमे श्रुत्युक्तं हेतुमाह—कारणात्मतयेति। तेजोऽबन्नेषु कार्येषु घटेषु मृद्वत् कारणभूता परा देवता प्रविष्टा इति बोध्यम् यतस्तल्लिङ्गं तस्याः पराया देवताया असाधारणधर्मभूतम् ईक्षणं दृष्टं श्रुत्या प्रतिपादितम्। तथा च श्रुतिः 'तत्तेज ऐक्षते' त्यादिः।।२२०।। एतदेव स्फुटयति—तेज इति। तेजश्चापः जलतत्त्वं च एतद्द्वयं यद् यस्मात् तद्वत् सदाख्यपरमकारणवद् बहुधा स्यां प्रजायेय इत्येवम् ईक्षित्वा दृष्टप्रवर्तनं दृष्टं प्रवर्तनं यस्य तथाभूतं जातम् इत्यर्थः।।२२१।।

एवं सद्विज्ञानेन तद्विकाराणां विज्ञानेऽपि जीवविज्ञानं कथम् ? इत्याशङ्कावारणाय जरायुजादिशरीरविशिष्टरूपेण तद्विकारत्वं जीवानामुक्तं, तेषां शुद्धरूपेण त्वैक्यमेवेति सूचयितुं जीवरूपेण प्रवेशो वक्ष्यते। तमवतारयन्; यदि परा देवता कार्येषु अनुगता तर्हि किमर्थं पुनर्जीवरूपेण प्रविष्टा ? इति शङ्कां परिहरन्; जीवतत्त्वं वर्णयति—प्रविष्टापीति द्वादशभिः। एषा सदाख्या परा देवता कारणत्वेन तेजःप्रभृतिषु प्रविष्टाऽपि जीवरूपेण न प्रविष्टा। तत्र हेतुतया जीवधर्माणां प्राणधारणादीनां तदानीमभावं सूचयन् जीवं लक्षयति—प्राणानामित्यादिना। 'जीव प्राणधारण' (भ्वा. प. से.) इति स्मृतेः।।२२२।। प्राणा इति बहुवचनदर्शितान् प्राणभेदान् कीर्तयन्

अर्थात् शरीर के बीज तीन तरह के हैं जिससे पता चलता है कि विश्व का कारण भी तेज-जल-पृथ्वी रूप से तीन प्रकार का ही है। इस तरह समझने पर सन्मात्र परम कारण बुद्धि में बैठ सकता है क्योंकि वही तेज आदि रूपों में अनुगत है और उसीको ढूँढना हमारा कर्तव्य है। उस सत्तत्त्व को समझाने के लिये ही यह सृष्टि-प्रक्रिया बतायी गयी है।।२१७-९।।

जैसे घड़े आदि कार्यों में मिट्टी घुसी रहती है ऐसे तेज-जल-पृथ्वी में सद्रूप परा देवता कारण रूप से घुसती है और वह तेज आदि में है इसका यही चिह्न पर्याप्त है कि श्रुति ने तेज आदि को ईक्षणकर्ता कह दिया जबकि ईक्षण परमात्मा का ही असाधारण चिह्न है। (ईक्षण अर्थात् सृष्टि करने के उपयुक्त विचार)।।२२०।। जैसे सत्तत्त्व परम कारण ने प्राथमिक ईक्षण किया वैसे ही तेज व जल ने भी 'बहुत हो जायें, उत्पन्न हो जायें' इस प्रकार संकल्परूप प्रवृत्ति की यह शास्त्र में श्रुत है इसलिये पता चलता है कि भूतों में परम कारण अनुगत है। (पृथ्वी में ईक्षण न कहा होने पर भी प्रवेश तो सभी में कहा है इसलिये पृथ्वी में भी सत् का अनुगम स्वीकार है।)।।२२१।।

प्रश्न होगा कि सत् के विज्ञान से उनके विकार रूप भूत-भौतिक जगत् का विज्ञान भले ही संभव हो, उससे सब जीवों का विज्ञान तो सिद्ध होगा नहीं अतः एकविज्ञान से सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञा कैसे पूरी होगी ? उत्तर है कि

प्राणापानावुभावेको व्यानोदानसमानकान्। दधाति यः स जीवोऽयं संसारफलमोक्षभाक्। ।२२३

स्वाङ्गुष्ठेन मितं सर्वदेहिनां हृदयाम्बुजम्। तत्रान्तःकरणं नित्यं वर्तते ज्ञानशक्तिमत्।।
तादात्म्यं तेन यो गच्छेत् स जीव इति गद्यते। ।२२४

नाऽस्य सर्वात्मना नाशः सुषुप्तावपि विद्यते। यतः संस्काररूपेण तद्वज्जागरणेऽस्ति हि। ।२२५

संसारो नानादेहग्रहणरूपः, फलं शुभाशुभरूपं, मोक्षो बन्धध्वंस एतत्त्रयमपि जीवलक्षणमित्याह—प्राणापानाविति। यः सन्निधिमात्रेण प्राणादीन् दधाति व्यवस्थां नयति संसारादिफलभागी च भवति स चिद्धातुः जीव इत्यर्थः। ।२२३।। तस्य संसारादिसम्बन्धप्रयोजको येनोपाधिना सम्बन्धः तं लक्षणतयाह—स्वाङ्गुष्ठेनेति। स्वपदेन तत्तच्छरीरग्रहः। हृदयाम्बुजं हृदयमध्यच्छिद्रम। तत्र हृदयाम्बुजे ज्ञानशक्तिमदन्तःकरणं वर्तते, तेन अन्तःकरणेन सह तादात्म्याध्यासं यो भजति स जीव इत्यर्थः। ।२२४।।

यद्यन्तःकरणमेव जीवोपाधिः तदा सुषुप्तावन्तःकरणनाशेन जीवनाशापत्तिः ? इत्याशङ्कां परिहरति—नास्येति। अस्य अन्तःकरणस्य सुषुप्तावपि सर्वथा नाशो न भवति किन्तु संस्काराख्यसूक्ष्मरूपेण तदानीमपि अन्तःकरणं तिष्ठति यतो जागरणकाले तद्वत् सुषुप्तिपूर्वकालीनान्तःकरणवद् एवान्तःकरणम् अस्ति उपलभ्यते। यदि नश्येत् तर्हि उत्तरदिने विजतीयमन्तःकरणमुपलभ्येत, न च तथोपलभ्यत इत्यर्थः। ।२२५।।

जीवों का जो शरीरांश है वह तो उक्त रूप से भौतिक है ही और त्रिविध बीजों द्वारा उसे सत्का विकार बता ही चुके हैं जिससे सद्विज्ञान से उस अंश का विज्ञान तो सिद्ध होगा ही। जीव का चेतनांश तो सन्मात्र ही है अतः उस अंश का विज्ञान तो सद्विज्ञान स्वयं ही है। इस तात्पर्य से आगे बतायेंगे कि सत्परमात्मा शरीरों में जीव बनकर घुसा। किंतु शंका होगी कि कार्य में कारण अनुगत ही होता है अतः सब कार्यों में पर देवता अनुगत है ही तो जीवरूप से पुनः घुसने का क्या उपयोग ? इसके समाधानार्थ जीवतत्त्वका वर्णन करते हैं :

सत् नामक परा देवता तेज आदि में घुसी हुई है लेकिन जीवरूप धारण कर नहीं घुसी है। सर्वापरोक्ष जो प्रत्यग्वस्तु प्राणों का धारण करती है उसे जीव कहा जाता है। ।२२२।। वह जीव अकेले ही अपनी संनिधिमात्र से प्राण-अपान-व्यान-उदान-समान को व्यवस्थित चलाता है, नाना शरीर ग्रहण करते रहना रूप संसार में भटकता है, शुभ-अशुभ कर्मों के सुख-दुःख रूप फल भोगता है और कथंचित् तत्त्व-बोध पा जाये तो मोक्ष प्राप्त कर लेता है। (अतः प्राणधारण की तरह संसरण करना, सुख-दुःख भोगना व मुक्त होना—ये जीव के असाधारण चिह्न हैं।)। ।२२३।। संसरणादि वह इसी से करता है कि वह स्वयं को उपाधि से सीमित समझ रहा है। सभी देहधारियों के अपने-अपने अंगूठे के बराबर हृदयकमल है जिसमें ज्ञानशक्ति वाला अंतःकरण हमेशा रहता है। जो उस अंतःकरण से तादात्म्याध्यास रखता है वह जीव है। (तादात्म्याध्यास अर्थात् उससे स्वयं को एकमेक समझना।)। ।२२४।। सुषुप्तिमें भी अंतःकरण का सब तरह नाश नहीं होता किंतु संस्कारनामक सूक्ष्मरूप से वह तब भी रहता है अत एव जाग्रत् में वह वैसा ही पुनः उपलब्ध हो जाता है जैसे सोने से पूर्व था। यदि सुषुप्ति में पूर्णतः नष्ट हो जाता तो जगने पर सर्वथा नया अंतःकरण ही मिलता जिससे गत दिन की स्मृति आदि न हो पाती। किंतु ऐसा होता नहीं अतः सुषुप्ति में भी अंतःकरण रहता है यह मानना पड़ेगा, हाँ तब कार्य कुछ नहीं करता, इसी का नाम है सूक्ष्मरूप से, संस्काररूप से रहना। ।२२५।।

विश्व के तेज आदि बीजों के संस्कारों से लदी मायारूप विशेषण वाले इस सत्-नामक परमेश्वर से जीव भिन्न लगने पर भी है अभिन्न ही। भिन्न इसलिये लगता है कि अंतःकरण व उसके संस्कार को विशेषणरूप से ग्रहण किये है : विशेषणभेद से विशिष्टभेद माना जाता है, आदमी एक होते हुए भी 'टोपी वाला' और 'लाठी वाला' अलग-अलग माने जाते हैं क्योंकि यदि वह लाठी नहीं लिये है व टोपी पहने है तो उसे टोपी वालों के समूह में तो गिना जाता है

कारणात्मनि चैतस्मिन्नस्य तादात्म्यमिष्यते । ततो भवति कार्येऽस्मिंस्तादात्म्यं नान्तरीयकम् । ।२२६

ततोऽन्तःकरणोत्पत्तौ नाशे वा नात्मनः क्वचित् । उत्पत्तिनाशौ भवतः सर्वदैवैकरूपिणः । ।२२७

यतोऽन्तःकरणस्थोऽपि जीवस्तत्कारणात्मकः । एक एव ततो जीवो विद्वद्भिः परिपठ्यते । ।२२८

अवस्थात्रयहेतूनां वासनानां यदा क्षयः । अन्तःकरणहेतूनां तदा जीवो विमुच्यते । ।२२६

जीवस्य नित्यत्वमेकत्वं चोपपादयति—कारणात्मनीति त्रिभिः । एतस्मिन् सत्पदवाच्ये कारणात्मनि विश्वबीजवासना-सम्भृतमायाविशिष्टे परमेश्वरेऽस्य अन्तःकरणतद्वासनाविशिष्टरूपस्य जीवस्य तादात्म्यं कल्पितभेदविशिष्टाऽभेदरूपं मतं साम्प्रदायिकैर्यतः ततः कारणतादात्म्यभावादेव अस्मिन्नन्तःकरणादिरूपे कार्ये तादात्म्याध्यासो नान्तरीयकोऽविनाभावी पृथक्साधनाऽनपेक्ष इति यावत्, भवति उपलभ्यते । यदि अन्तःकरणबीजेऽस्य जीवस्य तादात्म्यं न स्यात् तदा अन्तःकरणोदयेन यौगपद्यशाली तत्तादात्म्याध्यासो नोपलभ्येतेत्यर्थः । ।२२६ । ।

तथा चान्तःकरणस्य प्रतिदिनं जनिक्षयशालित्वेऽपि तद्बीजवासनाशालिनोऽज्ञानस्य तत्त्वज्ञानपर्यन्तं स्थिरस्य जीवोपाधितामभिसन्धाय जीवस्य नित्यतामेकतां च व्यवहरन्ति इत्याह—तत इति । आत्मनो जीवस्य एकरूपिणः एकम् आधारसंख्यया एकत्वेन विवक्षितं रूपं वासनात्मक उपाधिर्यस्य स तथा तस्य; यद्वा वासना-धारेण अज्ञानेन एकेन रूपिणा उपाधिमतः । ।२२७ । । यत इति । अन्तःकरणस्थः तत्तदन्तःकरणेषु भिन्नतया प्रतीयमानोऽपि कारणेन बीजाधारेण तादात्म्यं सेवत एव ततो वासनानामाधारैकत्वेन एकतां गतानाम् उपाधि-त्वमभिसन्धाय जीव एक उच्यते 'कार्योपाधिरयं जीव' (शुकरहस्यो. ३.१२) इति जीवलक्षणं वदद्भिरपीत्यर्थः । ।२२८ । ।

अस्य जीवस्य मोक्षोऽपि स्थिरोपाधावज्ञाने स्थितानामज्ञानकर्मवासनानाम् आश्रयनाशप्रयुक्तनाशाद् एव भवति इत्याह—अवस्थात्रयेति । अवस्थात्रयस्य हेतवो निमित्तभूताः कर्मवासनाः, अन्तःकरणस्य वृत्तिज्ञानरूपस्य हेतवः संस्काराख्या ज्ञानवासनाः, तासां सर्वासां यदा आश्रयस्य क्षयेण क्षयः स्यात् तदा मोक्ष इत्यर्थः । ।२२६ । ।

पर लाठी वालों के समूह में नहीं गिना जाता। ऐसे ही स्थूल-सूक्ष्म अंतःकरण को जो विशेषणरूप से ग्रहण किये रहता है वह जीव है और इस विशेषण के कारण वह परमेश्वर से भिन्न लगता है जैसे बिना टोपी वाला और टोपी वाला भिन्न लगते हैं, भले ही आदमी एक ही है। अभेद रहने पर भी भेद प्रतीत होने को तादात्म्य कहते हैं। कारणभूत सत्तत्त्व से जीव का तादात्म्य होने से ही अंतःकरणादिरूप कार्य में जीव का तादात्म्याध्यास अवश्य होता है, इस अध्यास के लिये उसे कोई स्वतंत्र प्रयत्न नहीं करना पड़ता। यदि बीज से तादात्म्य वाला न होता तो कार्य में अध्यास यत्नसापेक्ष होता और तब यत्न छोड़ने से ही अध्यास समाप्त हो जाता ! किंतु ऐसा नहीं होता, अध्यास के लिये कोई यत्न नहीं करते फिर भी वह बना रहता है, अध्यास मिटाने के लिये यत्न करने पर भी मिटता नहीं! । ।२२६ । । क्योंकि उपाधिरूप अंतःकरण ही जाग्रत् में उत्पन्न व सुषुप्ति में नष्ट होता रहता है इसलिये उत्पत्ति-नाश उसी के हैं, आत्मा के उत्पत्तिनाश कभी नहीं होते। वह हमेशा एकरूप रहता है।

जीवरूप आत्मा भी अनेक नहीं समझने चाहिये क्योंकि अंतःकरण अनंत होने पर भी उनका कारणरूप अज्ञान तो एक ही है व अपने कार्य अंतःकरण सहित वह अज्ञान ही जीव की उपाधि है। ।२२७ । । तत्तत् अंतःकरणों में स्थित रूप से विभिन्न लगता हुआ भी जगद्बीज के आधार सद्रूप कारण से तादात्म्य वाला होने से विद्वान् जीव को एक ही मानते हैं। अंतःकरणों का आकार लेने वाला अज्ञानरूप कारण एक है और उसी रूप में, (कारण से एकता रखकर ही), अंतःकरणों को जीव की उपाधि कहना संगत है, अन्यथा सुषुप्ति में जीव नहीं रह पायेगा, गहरी नींद आने से ही कैवल्य सिद्ध हो जायेगा ! अतः कार्यरूप अंतःकरणों को जीवोपाधि कहने वाले भी अनेक जीव मानने को समर्थन नहीं दे सकते। (प्रायः 'कार्योपाधि जीव है' इस पक्ष में बहुजीववाद को स्थान मिलता है पर यहाँ पुराणकार इस पक्ष में भी वैसी गुंजाइश नहीं छोड़ रहे।)। ।२२८ । ।

सत्यां भूमौ यथा मूलबीजनाशे तरुः क्षयम्। कश्चित् प्रयाति नैवान्ये वटाद्यास्तरवस्त्विमे।।२३०
एवं मायास्थितो जीवः कश्चिदेव विमुच्यते। यस्यान्तःकरणस्याऽयं वासनानां परिक्षयः।।२३१
स्वप्ने यथा भवेद् बद्धो मुक्तश्चैकस्तथैव हि। एक एव च जीवात्मा बद्धो मुक्तश्च मायया।।२३२
यथा स्वप्नक्षये बन्धमुक्ती स्वप्नगते न हि। एवमात्मनि विज्ञाते बन्धमुक्ती न के अपि।।२३३

परमात्मप्रवेशः

सर्वगोऽपि यथाकाशः प्रविशेद्धि घटादिषु। सर्वगोऽपि तथात्मायं प्रविशेन्मनआदिषु।।२३४

वासनात्मकबीजाऽनाश-नाशाभ्यां बन्धमोक्षव्यवस्थां दृष्टान्तेन स्फुटयति—सत्यामिति द्वाभ्याम्। दृष्टान्ते आश्रयनाशो वह्निसंसर्गोषरत्वादिना बोध्यः। निगदव्याख्यातं द्वयम्।।२३०-१।।

इयं व्यवस्थापि अबोधनिद्रासुप्तानां दृष्टिमनुरुध्यैव, न परमार्थतः; 'एक एव न जीवोऽस्ति जीवानां राशयः कुतः' इति सिद्धान्ताद् इति दर्शयंस्तत्र स्वप्नव्यवहारं दृष्टान्तयति—स्वप्न इति।।२३२।। प्रबोधे तु वास्तवैक्यप्रादुर्भावाद् न काऽपि व्यवस्थापेक्षेत्याह—यथेति। स्वप्नगते स्वप्नप्रतीते।।२३३।।

एवं जीवस्य कल्पितोपाध्यवच्छिन्नरूपेण परदेवतायाः सकाशाद् विशेषभाक्त्वेऽपि उपाधिविविक्तरूपेण ऐक्यमेव इति दर्शितम्। अथ निरूपितविशेषभावलक्षणः प्रवेशः परिपूर्णस्याऽपि सम्भवति इति दृष्टान्तद्वयेन उपपादयन्; आलोचनपूर्वकं प्रवेशत्रिवृत्करणयोः प्रतिपादकस्य वाक्यस्य[1] अर्थमाह—सर्वगोऽपीति सप्तभिः। यथा घटादिदेशे पूर्वमपि सत आकाशस्य जायमानघटादिप्रयुक्तावच्छेदलक्षणः प्रवेशः प्रसिद्धः तथा परमात्मनोऽपि मनआदिषु मनसः सात्त्विकांशरूपेण कारणेषु भूतेषु ईक्षणादिव्यवहारप्रयोजकः प्रवेशो बोध्य इत्यर्थः।।२३४।।

जीव की आबन्ध रहने वाली उपाधि है अज्ञान, उसीमें ज्ञानवासनाएँ रहती हैं जो वृत्तिज्ञानरूप अंतःकरण की हेतु बनती हैं तथा उसी अज्ञान में कर्मों की वासनाएँ रहती हैं जो जाग्रदादि अवस्थाओं के प्रति निमित्त बनती हैं। जब इन दोनों तरह की वासनाओं का नाश इसलिये होता है कि उनका कारणभूत आश्रय अर्थात् अज्ञान नष्ट हो गया, तब जीव का मोक्ष हो जाता है।।२२६।। भूमि के रहते भी मूलबीज का नाश हो जाने पर किसी वृक्ष का क्षय हो जाता है जबकि वट आदि ये अन्य वृक्ष नष्ट नहीं होते; इसी प्रकार वासनात्मक बीज के नाश से माया में स्थित कोई जीव ही मुक्त होता है। जिसके अंतःकरण की वासनाओं का यह ज्ञानपूर्वक क्षय हो जाता है वही मुक्त होता है।।२३०-१।। जैसे एक व्यक्ति स्वप्न में बद्ध व मुक्त हो जाता है ऐसे एक ही जीवात्मा माया से बद्ध और मुक्त हो जाता है। स्वप्नसमाप्ति पर स्वप्नान्तर्गत बंध-मोक्ष दोनों ही नहीं रह जाते, इसी प्रकार आत्मा का विज्ञान होने पर बंध-मोक्ष कोई नहीं रहते। (बंधसापेक्ष होने से मोक्ष भी मायिक है। बंध-मोक्ष की व्यवस्था अज्ञदृष्टि से ही है। अनेक जीव नहीं तो एक मुक्त व अन्य बद्ध रहें यह संभव नहीं। वास्तविकता के स्तर पर तो एक भी जीव नहीं है कि कोई बद्ध या मुक्त हो!)।।२३२-३।।

इस प्रकार समझाया कि जीव क्योंकि कल्पित उपाधि से स्वयं को सीमित जानता है इसलिये परदेवता से स्वयं को भिन्न मानता है जबकि उपाधि से पृथक् कर समझने पर उनमें कोई अंतर नहीं उपलब्ध होता। अब समझायेंगे कि परिपूर्ण परमात्मा भी जीवरूप से प्रवेश करे यह अनुपपन्न नहीं। उपाधि से खुद को सीमित समझना ही प्रवेश कहा जाता है।

आकाश सर्वगत है फिर भी जब घट आदि बनते हैं तभी वे अपने में आकाश को सीमित भी कर लेते हैं जिसे कह सकते हैं कि आकाश उन घट आदि में घुस जाता है। ऐसे ही यह सर्वगत आत्मा मन आदि में प्रवेश कर जाता है। (अपने सात्त्विक अंशों से मन के कारण बनने वाले महाभूतों में जो ईक्षण आदि व्यवहार होता है उसका उपपादक आत्मा का प्रवेश है। एवं च 'मन आदि'-शब्द से मन के हेतुरूप भूत समझ लेने चाहिये। 'उनमें प्रवेश कर नाम-रूप व्यक्त करूँ' ऐसा संकल्प आत्मा ने किया यह प्रकृत छांदोग्यश्रुति में कहा है।)।।२३४।। सोता पुरुष भी शरीर में है

१. 'सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति।।२।।'

यथा शयानः पुरुषः प्रविष्टोऽपि कलेवरे। विशेषतो जागरेण प्रवेशमधिगच्छति।।२३५
तेजोऽबन्नेषु तद्वत् सा प्रविष्टाऽपि च देवता। जीवात्मना विशेषेण प्रवेशार्थमचिन्तयत्।।२३६
अनेन स्वात्मरूपेण जीवस्थेन विशेषतः। अत्राधुना सृष्टिमनुप्रविष्टा जीवरूपतः।।
तेजोऽबन्नात्मिकाः सर्वा इमास्तिस्रोऽपि देवताः।।२३७
विविधं च तथा स्पष्टं करवाण्यद्य सर्वथा। नामरूपं द्वयं त्वेतदुपायस्तस्य भाति मे।।२३८

त्रिवृत्करणम्

तेजोऽबन्नात्मिकास्तिस्रो वर्तन्ते याश्च देवताः। एकैकं करवाण्येता नवधा नवधा पुनः।।२३९

अथाऽहङ्काराद्यवच्छिन्नचिदाभासरूपेण पुनः प्रवेशे दृष्टान्तमाह—यथेति। यथा सुप्तपुरुषस्य जीवनव्यवहाराऽन्यथानुपपत्त्या शरीरे सामान्यरूपेण प्रवेशाऽङ्गीकारेऽपि जागरेण जाग्रदवस्थयाऽभिव्यक्ताऽहङ्कारावच्छिन्नरूपेण विशेषतः प्रवेश स्वीक्रियत इत्यर्थः।।२३५।। दार्ष्टान्तिके योजयति—तेजोऽबन्नेष्विति। सा परमात्मसंज्ञा देवताऽचिन्तयद् वक्ष्यमाणाकारमालोचनं कृतवती।।२३६।। आलोचनमभिनयति—अनेनेति। अनेन साक्षादपरोक्षेण स्वात्मरूपेण स्वकीयशुद्धरूपेण। कीदृशेन? जीवस्थेन आध्यासिकसम्बन्धेन जीवानुप्रविष्टेन जीवकल्पनाऽधिष्ठानभूतेन इति यावत्। पुनः कीदृशेन ? अत्र विशेषतः एषु भूतेषु वर्तमानमहङ्कारादिकं विशेष्यं प्राप्य जीवरूपतः जीवभावं प्राप्तेन,'अधुना'ऽस्यैव विवरणम्—सृष्टिमन्विति। इमाः तेजःप्रभृतिलक्षणा देवताः सूक्ष्माः तेजःप्रभृतिभूतानां व्यक्तीः प्रविष्टाः सन्ति। अहं नाम रूपं चेत्येतद् द्वयं विविधं स्पष्टं च करवाणि कुर्याम्। तस्य नामरूपयोः स्पष्टीकरणस्य अयं वक्ष्यमाण उपायः अपि मयाऽनुसन्धीयते। इति द्वयोरर्थः। अत्र जीवरूपानुप्रवेशं विना अहं-ममत्वाभिमानसाध्यः तत्तज्जातीयव्यवहारः केवलेन परमात्मना दुष्कर इत्यतस्तदुक्तिः। व्याकरणे कर्तृत्वं तु विश्वकर्तुः परमात्मन एव 'संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशाद्' इति सूत्राद् (२.४.२०) इति बोध्यम्।।२३७-८।।

स चोपायस्त्रिवृत्करणरूप[1] इत्याह—तेजोऽबन्नात्मिकास्तिस्र इति। त्रिवृत्पदस्य 'त्रिवृद् बहिष्पवमानं भवति' इत्यादिवैदिकप्रयोगे नवसंख्याकवस्तुप्रतिपादकत्वस्य दर्शनाद् 'वैदिक्याकांक्षा वैदिकेनैव पूर्यत' इति न्यायानुकूल्याच्च एकादशोक्तपञ्चीकरणन्यायेन त्रिवृत्करणमिदम्—तथा हि : प्रत्येकं भूतत्रयं त्रिस्त्रिः विभज्य, सर्वेषां तृतीयांशां-

तो सही, तभी उस अवस्था में भी शरीर जीवित है, फिर भी जब वह जग जाता है तब सारे शरीर में नये ढंग से मानो घुस जाता है; 'सारे शरीर को व्याप्त करने वाले व्यक्त अहंकार से सीमित'—यह वह 'नया ढंग' है जिससे जाग्रत् में जीव शरीर में मानो प्रवेश करता है। सोते समय अहंकार अव्यक्त हो जाता है। इसी प्रकार वह सद्रूप परा देवता तेज-जल-पृथ्वी में मौजूद तो है, तभी उनकी सत्ता प्रतीति आदि संभव हैं, पर जीवरूप से विशेषतः उनमें प्रवेश करने के लिये उस देवता ने चिंतन किया :।।२३५-६।। 'साक्षात् अपरोक्ष जो मेरा शुद्ध रूप है उससे मैं प्रवेश करूँ। इसी रूप को अधिष्ठान बनाकर अध्यासरूप जीव की कल्पना होती है। इन भूतों में वर्तमान जो अहंकारादि 'विशेष' है उसके सहारे जीवरूपता पाकर अब इन भूतों की सृष्टि के बाद इनमें प्रवेश करूँ। तेज-जल-पृथ्वीरूप इन सब 'देवताओं' में मैं कारणरूप से हूँ सही पर अब जीवरूप से घुसूँ और नामों व रूपों को पृथक्-पृथक् सुस्पष्ट कर दूँ। नामरूप को स्पष्ट करने का यही उपाय मुझे प्रतीत होता है (कि पूर्वकल्प की तरह त्रिवृत्करण करूँ)।।'२३७-८।। (अभिप्राय है कि अहन्ता-ममता के अभिमान से ही हो सकने वाला भेद-व्यवहार जीवरूप धारण किये बिना अकेला परमात्मा भी नहीं कर सकता। नाम-रूप का फैलाव ईश्वर ही करता है यह व्याससूत्रों में निर्धारित है।)

---

१. 'तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणीति। सेयं देवतेमास्तिस्रो देवता अनेनैव जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत्।।३।। तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकामकरोद्। यथा नु खलु सोम्य इमास्तिस्रो देवतास्त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति तन्मे विजानीहीति।।४।।' इति तृतीयः खण्डः।।

तासु प्रविश्य चैवं हि स्यातां स्पष्टे उभे अपि। नामरूपे ततः सर्वं जगदेतद्भविष्यति।
इति संचिन्त्य सा सर्वं स्वचिन्तितमथाऽकरोत्।।२४०

त्रेधा त्रेधा विभज्य, सर्वत्र मेलयेत्। इत्थं कृते परकीयं भागद्वयं स्वं स्वं भागसप्तकं च सिद्ध्यति। अविभक्तप्रथमद्वितीयभागयोरपि तृतीयभागतुल्यत्वाद्—इति। अत्रानुकूलयुक्त्यन्तरं च एकादशोक्तं स्मर्तव्यम्। मूलान्वयस्तु—तासु तिसृषु देवतासु प्रविश्य नामरूपयोः स्फुटीकरणाय प्रत्येकं नवधा नवधा करवाणि इति एवं विचिन्त्य सा परा देवता सर्वं चिन्तितम् अकरोद् इति।।२३६-४०।।

त्रिवृत्करण का यह ढंग सोचा—'तेज-जल-पृथ्वी' रूप जो ये तीन देवता हैं इन्हें प्रत्येक को नौ-नौ हिस्सों में बाँट दूँ।' ।१३६।। (जैसे पुराणकार का पंचीकरण विलक्षण ढंग का था वैसे त्रिवृत्करण भी है : प्रत्येक भूत को नौ बराबर हिस्सों में बाँटकर तीनों भूतों में एक-एक नवांश रख दें। इस प्रकार तेज में सात अंश अपना, एक जल का व एक पृथ्वी का होगा। ऐसे ही जल व पृथ्वी में सात अंश अपने तथा एक-एक अन्य दोनों के होंगे। बहुलता होने से मिलित स्थिति वाला भी तेज आदि ही कहलायेगा, कम अंश वाले भूत का व्यवहार उससे नहीं होगा। इस प्रक्रिया में भी वही विशेषता है कि हर कदम पर 'तीन' से व्यवहार हुआ है जो श्रौत त्रिवृत्-पद के अनुकूल है जबकि प्रचलित व्याख्याओं में प्रत्येक भूत के दो हिस्से और आधे हिस्सों के दो हिस्से कर उन छोटे हिस्सों को अपने से भिन्न दोनों महाभूतों में मिला देते हैं अर्थात् हर कदम पर दो का ही व्यवहार होता है। चित्र से समझें तो पुराणानुसार ढंग है :

।।२३६।।

परा देवता ने विचार किया 'तेजआदि तीनों 'देवताओं' में प्रवेश कर उनके नाम-रूप स्पष्ट, व्यक्त करने के लिये उन हर-एक भूत को नौ-नौ प्रकार से बाँट और उनका (पूर्वदर्शित ढंग से) मेलन कर दूँ। यों कर देने से यह सारा जगत् तैयार हो जायेगा।' यह विचार कर उस सद्रूप परदेवता ने जैसा सोचा वैसा संपन्न कर लिया।।२४०।।

अपवादः

सृष्टिमेवं स्वपुत्राय त्रिवृत्करणरूपिणीम्। प्रोच्य कारणरूपत्वं वक्तुं कार्यस्य सोऽवदत्।।
उदाहरणरूपेण वह्न्यादीनां चतुष्टयम्।।२४१
सर्वं हि लोहितं रूपमग्नेरेवाऽत्र निश्चितम्। अपां शुक्लं तथा कृष्णं पृथिव्याः परिकीर्तितम्।।२४२
वह्नौ सूर्ये चन्द्रमसि विद्युत्स्वपि यथा पृथक्। रूपत्रयस्य करणादग्न्यादिर्नोपलभ्यते।।२४३
तथा विश्वमिदं सर्वं रूपत्रयविनिर्गमात्। न लभ्यते पृथग् यस्मात् तस्माद् मिथ्येति कीर्त्यते।।२४४
विकारो नामधेयात्मा कारणान्न पृथग्यतः। वाचैवारभ्यते यस्माद् वस्तुतो नैव विद्यते।।
ततो रूप त्रयं सत्यं यद्विकारस्य कारणम्।।२४५

चतुर्थीं कण्डिकां[1] त्रिवृद्भावोदाहरणमुखेन अपवादपरामवतारयति—सृष्टिमिति। उक्तविधत्रिवृद्भावेन रूपिणीं दृश्यमानरूपां सृष्टिम् अध्यारोपभूतां प्रोच्य कथयित्वा यथा कार्यस्य कारणमात्रात्मताऽपवादभूता प्रतिपादिता भवेत् तथा बोधयितुं वह्निसूर्यचन्द्रविद्युद्रूपं चतुष्टयम् उदाहरणत्वेन पिता पुत्राय अवदद् इत्यर्थः।।२४१।। तत्र वह्न्यादौ भूयस्त्वेन दृश्यमानं रक्तं रूपं तेजसः सप्तभागशालिनो बोध्यम्, शुक्लकृष्णरूपे तु प्रान्तमध्ययोः लेशतया वर्तमाने अबन्नयोः अष्टमनवमभागशालिनोरेवेत्याह—सर्वं हीति। सर्वं प्रचुरम्। अग्नेः तेजसः। अत्र उदाहरणचतुष्टये।।२४२।। एवं भूतत्रयसमुदायरूपाणां वह्न्यादीनां भूतत्रयात् पृथक्करणात्मके विवेके क्रियमाणे वह्न्यादेर्बाधाद् भूतत्रयमेव सत्यतया अवशिष्यत इत्याह—वह्नाविति। रूपत्रयस्य उक्तरूपत्रयाश्रयस्य भूतत्रयस्य पृथक् करणाद् वह्न्यादेः सत्यत्वमागच्छतीत्यर्थः।।२४३।। एवं जलीयभावेषु नद्यादिषु पार्थिवेषु पर्वतादिषु च भूतत्रयांशविवेकेन मिथ्यात्वं बोध्यमित्याह—तथेति। स्पष्टम्।।२४४।।

तत्र हेतुमाह—विकार इति। यतो विकारो वह्न्यादिः नाममात्रात्मकः, वाचैवारभ्यत्वात्, तत्त्वं च वस्तुतोऽर्थ-निरूपणायामभावात्, ततः सिद्धात् कारणावधिकपृथक्त्वाऽभावाद् मिथ्येति सम्बन्धः। फलितमाह—तत इति। विकारजातस्य कारणं भूतत्रयमेव ततो विकारजातापेक्षया सत्यम् इत्यर्थः।।२४५।। इत्थं विकारत्वस्य मिथ्यात्वेन

इस प्रकार आरुणि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को अध्यारोपन्याय से वह सृष्टि समझाई जिसमें दृश्यमानरूपता त्रिवृत्करण से आती है। अब अपवादन्याय से समझाना है कि कारण से विलग कार्य कुछ नहीं है। इसलिये वह्नि, सूर्य, चंद्र और विद्युत्—इन चार उदाहरणों का उन्होंने सहारा लिया।।२४१।। इन चारों उदाहरणों में निर्धारित किया कि सारा ही रोहित रूप तेज का ही है, सारा शुक्ल रूप जल का ही है तथा सारा काला रूप पृथ्वी का ही है। इन भूतत्रय से अलगकर समझें तो अग्नि आदि का बाध ही हो जायेगा; अग्नि अर्थात् जलती हुई जो ज्वाला दीखती है उसमें जो ये तीन रूप दीखते हैं ये उक्त तीनों भूतों के हैं अतः इन तीन भूतों से पृथक् अग्नि कुछ नहीं। अग्नि, सूर्य, चंद्रमा, बिजली (बादलों में चमकने वाली) में से यदि उक्त तीनों रूपों को अलग कर दें तो अग्नि आदि का कोई स्वरूप उपलब्ध नहीं होगा। इसी प्रकार यह सारा विश्व त्रिरूप ही है । इसमें से त्रिरूप हटा दें तो विश्व अपने किसी पृथक् स्वरूप से प्रतीत नहीं होता। क्योंकि भूतत्रय से अलग लगता प्रपंच उनसे अलग कर समझा नहीं जा सकता इसलिये उनसे अलग जो इस प्रपंच का रूप है उसे मिथ्या कहते हैं। (क़दम-क़दम चलें तो पहले भूतत्रय को सत्य समझकर बाकी नाम-रूप मिथ्या जानने चाहिये, फिर सत् को समझकर भूतों को मिथ्या जानना चाहिये।)।।२४२-४।।

कार्य पदार्थ ही ऐसा है जिसका स्वरूप ही नाम है। नाम से अतिरिक्त कार्य का कोई स्वरूप नहीं। विचार करें तो कारण से पृथक् कार्य कुछ नहीं है, उसका जन्मादि सारा व्यवहार वाणी से अर्थात् नाम से ही होता है। ('घट

१. 'यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं, यच्छुक्लं तदपां, यत्कृष्णं तदन्नस्य। अपागादग्नेरग्नित्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्।।१।। यदादित्यस्य रोहितं...।।२।। यच्चन्द्रमसो...।।३।। यद्विद्युतो...।।४।।'

एवं रूपत्रयस्याऽस्य यद्विकारस्य कारणम्। सत्यं तदेव नान्यत् स्यात् कार्यरूपं त्रयं हि यत्।।२४६
एवं ज्ञात्वाऽत्र विद्वांसः पुरा हर्षमुपागताः। आहुरेवं हि मिलिताः क्वचित्ते द्विजसत्तमाः।।२४७
अस्मत्कुले न कोऽप्यत्र जानन् कारणसत्यताम्। कार्यस्याऽसत्यतां तद्वदविज्ञातं वदिष्यति।।२४८
कारणाच्च पृथग्यस्मात् कार्यं किञ्चिन्न विद्यते। ततः कारणविज्ञानात् सर्वः सर्वज्ञतां व्रजेत्।।२४९
एते रूपत्रयं यस्माज्ज्ञातवन्तो मुनीश्वराः। तेजोऽबन्नस्य तस्याऽपि कारणं यत् सदद्वयम्।।२५०

व्याप्तिम् अवधार्य तेन लिङ्गेन तेजःप्रभृतीनां कारणस्य सत एव परमार्थत्वं बोध्यम् इत्याह—एवमिति। विकारस्य विभागलिङ्गेन विकारतया ज्ञातस्य यत्कारणं सद्वस्तु तदेव सत्यं, यत् तु अन्यत् त्रयं तत् न सत्यम् कार्यत्वाद् विकारत्वाद् इत्यर्थः।।२४६।।

अत्रार्थे विद्वदनुभवः श्रुत्योपन्यस्तः,[1] तं वर्णयति—एवं ज्ञात्वेति। एवम् उक्तविवेकविधया ज्ञात्वाऽत्र कारणतत्त्वे विद्वांसः कुशलाः क्वचित् **पूर्वे द्विजा इत्थम्** आहुः इत्यर्थः।।२४७।। **'इत्थं'** कथम्? अतआह—अस्मदिति। अस्माकं विद्यावंशे भवः कोऽपि अविज्ञातं किञ्चिदपि वस्तु न वदिष्यति, किन्तु सर्वं विज्ञातमेव वदिष्यति, कारणसत्यत्वस्य विज्ञानाद् इत्यर्थः।।२४८।। कारणविज्ञानस्य सर्वविज्ञातृत्वप्रयोजकतां स्फुटयति—कारणाच्चेति। स्फुटम्।।२४९।। इत्थं वदनं तेषां युक्तमेव, सद्विज्ञानेन विश्वतत्त्वस्य तैरपरोक्षी कृतत्वाद् इत्याह—एत इति।।२५०।।

का जन्म' अर्थात् मिट्टी की वह स्थिति जब उसे घट कहते हैं। 'वस्तु' तो मिट्टी ही रही अतः जन्म किसी नयी 'वस्तु' का नहीं हुआ, केवल घट नाम के प्रयोग के आरंभ से हम घट का जन्म मानते हैं। यह मतलब नहीं कि लोंदा जल भरने में समर्थ है ! जल भरने के लिये घट रूप को प्राप्त करना पड़ेगा लेकिन वह घट मिट्टी से पृथक् कोई सत्य वस्तु नहीं यह भाव है।) इसलिये समस्त भौतिक कार्यों का कारण जो तीनों भूत वे ही अपने विकारों की अपेक्षा सत्य हैं।।२४५।। जैसे भौतिक विकार (कार्य) मिथ्या तथा उनके कारणरूप भूत सत्य हैं ऐसे रूपत्रय वाले भूतत्रय भी परस्पर विभिन्न हैं अतः कार्य हैं, अत एव कार्यरूप इन भूतों का जो कारण है वही सत्य है, कार्यात्मक ये तीनों भूत सत्य नहीं मिथ्या हैं।।२४६।।

प्राचीनकाल में जिन विद्वानों ने उक्त ढंग से सत्तत्त्व को समझा वे आनंदमग्न हो गये। उन श्रेष्ठ द्विजों ने कहीं मिलने पर यों कहा :।।२४७।। 'हमारे विद्यावंश में कोई ऐसा नहीं होगा जो किसी अविज्ञात वस्तु का कथन करेगा, सभी कुछ जानेगा व उसका उपदेश देगा क्योंकि कार्य असत्य एवं कारण ही सत्य है और उस सत्य को वह जानेगा।' (जो इस तथ्य को अपरोक्ष निश्चय से जानता है कि सामने सर्पादि नहीं रज्जु है वह जब यही बात कहता है तब कहा जाता है कि वह सब जानकर कह रहा है। सर्पादि समझकर जो उनका वर्णन करता है उसके लिये यही कहते हैं कि बिना जाने बोल रहा है। ऐसे ही जो सद्ब्रह्मके जानकार जगन्मिथ्यात्वपूर्वक सत्तत्त्व का कथन करते हैं वे तो विज्ञात तथ्य बताते हैं जबकि नाम-रूप को ही सच्चा मानकर उसके अनुसंधान में ही लगे जो कथनादि करते हैं वह बिना जाने बड़बड़ाना ही है।)।।२४८।। क्योंकि कारण से पृथक् कार्य कुछ नहीं है इसलिये कारण के विज्ञान से सभी लोग सर्वज्ञ हो सकते हैं।।२४९।। क्योंकि वे मुनीश्वर तेज-जल-अन्न के तीनों रूपों को और तेज आदि के भी कारण अद्वय सत् को जानते थे इसलिये उनकी उक्त घोषणा संगत थी।।२५०।।

१. 'एतद्ध स्म वै तद्विद्वांसः आहुः पूर्वे महाशाला महाश्रोत्रिया न नोऽद्य कश्चनाऽश्रुतममतमविज्ञातमुदाहरिष्यतीति ह्येभ्यो विदाञ्चक्रुः।।५।। यदु रोहितमिवाऽभूदिति तेजसस्तद्रूपमिति तद्विदां चक्रुः, यदु शुक्लमिवाभूदित्यपां रूपमिति तद्विदां चक्रुः, यदु कृष्णमिवाभूद् इत्यन्नस्य रूपमिति तद्विदां चक्रुः।।६।। यद्वविज्ञातमिवाभूदित्येतासामेव देवतानां समास इति तद्विदां चक्रुः। यथा नु खलु सोम्येमास्तिस्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति तन्मे विजानीहीति।।७।।' इति चतुर्थः खण्डः।

आध्यात्मिकः प्रपञ्चो भौतिकः

एवमुक्त्वा पुनः प्राह तनयं स्नेहसंयुतः। तद्धेतुत्वं विवक्षुः सन्मनसो वै स आरुणिः।।२५१

अदनीयं हि निखिलं तेजोऽबन्नात्मकं यतः। अशितं च तथा पीतं ततः सर्वं त्रिधा भवेत्।
शरीरे सर्वजन्तूनामन्नपानानुसेविनाम्।।२५२

वाक्प्राणो मन इत्येतत् सूक्ष्मं कार्यमुदीरितम्। मज्जा रक्तं तथा मांसं मध्यमं च प्रकीर्तितम्।।२५३

अस्थि मूत्रं पुरीषं च स्थूलं स्यात् क्रमतस्त्रयम्। तेजोऽबन्नत्रयस्याऽपि सूक्ष्मादिपरिभेदतः।।२५४

एवं बाह्य-प्रपञ्चस्य भौतिकतानिरूपणेऽपि आध्यात्मिकप्रपञ्चस्य स्थूलसूक्ष्मशरीरलक्षणस्य कथं भौतिकता ? इति मन्दशङ्कावारणाय मनःप्रभृतीनां भौतिकतां सप्तमकण्डिकान्तग्रन्थेन श्रुत्या वर्णितां विशदयति—एवमुक्त्वेति एकत्रिंशता श्लोकैः। आरुणिः उद्दालकः एवं तद्बाह्यप्रपञ्चस्य भौतिकत्वम् उक्त्वा अथ मनसो मनःप्रभृतेः आभ्यन्तरप्रपञ्चस्य यद् हेतुत्वं भूतानां तद्द्वारा ब्रह्मणश्च तद् विवक्षुः वक्तुमिच्छन्निदं वक्ष्यमाणमर्थं प्राह इत्यर्थः।।२५१।। अदनीयमिति[1] त्रिवृत्कृतभूतात्मकं बाह्यं द्रव्यम् अन्नोदकाख्यं भक्षितं पीतं वा सज्जठराग्निसम्पर्केण त्रिधा पृथिव्यप्तेजोरूपैः विभक्तं भवति इति वृत्तं सर्वेषामन्नादिसेविनां शरीरेषु सममित्यर्थः।।२५२।। वागिति। एवं त्रेधा विभक्तस्य अशितादेर्यस्तैजसो भागः सोऽपि त्रिधा भवति—सूक्ष्म-मध्यम-स्थूलरूपैः। तत्र सूक्ष्मो भागो वाग्रूपेण परिणमते, मध्यो मज्जारूपेण, स्थूलोऽस्थिरूपेण। जलीयभागस्य सूक्ष्माद्यात्मना त्रिधाभूतस्य प्राणो, रक्तं, मूत्रं चेति यथाक्रमं परिणामः। पार्थिवस्य तु मनो, मांसं, पुरीषं च परिणामः। इति द्वयोरर्थः।।२५३-४।।

बाहरी प्रपंच भूतविकार है यह समझ आता है पर स्थूल-सूक्ष्मशरीर भी भूतविकार ही है यह भी समझना ज़रूरी है। उद्दालक आरुणि ने पूर्वोक्त ढंग से बाह्य संसार की भूतविकारता स्पष्ट कर फिर मन आदि आंतरिक प्रपंच को भी भूतकार्य अत एव सत् का कार्य समझाना आरंभ किया।।२५१।।

जो कुछ हम खाते-पीते हैं वह सब द्रव्य तेज-जल-पृथ्वीरूप है क्योंकि त्रिवृत्करण द्वारा हर चीज़ त्रिभूतात्मक है। अन्न-पेय का उपभोग करने वाले सब जंतुओं के शरीर में खायी-पी सब चीज़ तीन तरह की हो जाती है।।२५२।। तीन तरह बने भोजन-पेय के जो तेज आदि भाग हैं वे सूक्ष्म, मध्यम व स्थूल रूपों में परिवर्तित होकर इन कार्यों का आकार लेते हैं :

	स्थूल	मध्यम	सूक्ष्म
तेज	अस्थि	मज्जा	वाक्
जल	मूत्र	रक्त	प्राण
पृथ्वी	मल	मांस	मन

।।२५३-४।।

---

१. 'अन्नमशितं त्रेधा विधीयते—तस्य यः स्थविष्ठो धातुः तत्पुरीषं भवति। यो मध्यमः तन्मांसम्। योऽणिष्ठस्तन्मनः।।१।। आपः पीतास्त्रेधा विधीयन्ते—तासां यः स्थविष्ठो धातुस्तन्मूत्रं, यो मध्यमस्तल्लोहितं, योऽणिष्ठः स प्राणः।।२।। तेजोऽशितं त्रेधा विधीयते—तस्य यः स्थविष्ठो धातुः तदस्थि भवति। यो मध्यमः स मज्जा। योऽणिष्ठः सा वाक्।।३।। अन्नमयं हि सोम्य मनः, आपोमयः प्राणः, तेजोमयी वाक् इति। भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति। तथा सोम्येति होवाच।।४।।' पञ्चमः खण्डः।।

तेजोमयी हि वागुक्ता ह्यम्मयो वायुरेव च। अन्नात्मकं मनस्तद्वद् इति पुत्रः प्रयत्नवान्।।
प्रपद्य च पुनश्चोद्यमकरोत् पितरं प्रति।।२५५

विलक्षणमिदं सूक्ष्मं कथं तस्मात् स्थवीयसः। तेजोऽबन्नात्प्रजायेत वाक्-प्राण-मनआत्मकम्।।२५६

पुनरेव ततो मां त्वमुपपत्तिसमन्वितम्। भगवन् वद येनाऽहमधिगच्छामि तत्त्वतः।।२५७

एवमुक्तः पुनश्चाह श्वेतकेतुं सुतं प्रति। दधि स्थूलं यथा त्रेधा तक्र-फेन-घृतात्मना।।
मथ्यमानं भवेदेवमन्नं जठरगं भवेत्।।२५८

घृतं यथाऽतिसूक्ष्मांशो दध्न ऊर्ध्वं प्रयाति सः। वाक्प्राणमनसां सोऽपि तेजोऽबन्नत्रयात् तथा।।२५९

वाक्प्राणमन एतस्मात् सूक्ष्मं स्थूलात् प्रजायते। तेजोऽबन्नात्मकाद् भूय इत्युक्ते सोऽप्यचोदयत्।।२६०

षष्ठकण्डिकोक्तो दधिदृष्टान्तो[1] यां शङ्कां वारयितुमुक्तस्तामाह—तेजोमयीति त्रिभिः। वाक्प्राणमनांसि यथाक्रमं तेजोऽबन्नानां कार्याणीति प्रतिपद्य श्रुत्वा प्रयत्नवान् सोत्साहः पुत्रः इदं चोद्यं प्रश्नम् अकरोद् इति।।२५५।।

'इदं' किम् ? अत आह—विलक्षणमिति। स्थवीयसः अतिस्थूलान्नादिरूपेण दृश्यमानात् तेजःप्रभृतेः उपादानात् सूक्ष्मत्वेन विलक्षणं वागादित्रयं कथं जायेत, यतः सजातीयानां तन्तुपटादीनामेव कार्यकारणभावो दृष्ट इत्यर्थः।।२५६।। पुनरेवेति। स्पष्टम्।।२५७।। सामग्रीविशेषसहकृतात् स्थूलादपि सूक्ष्मसम्भवो दृष्ट इत्याशयेन पितुरुत्तरं दर्शयति—एवमुक्त इत्यादिना। यथा घनत्वेन दृश्यमानस्यापि दध्नो मन्थनसहकृतस्य तक्रं फेनो घृतं चेत्येतानि त्रीणि कार्याणि दधिभावकालेऽनुपलब्धान्यपि जायमानानि दृष्टानि तथा जाठराग्निसम्पर्केण तेजःप्रभृतेरपि तत् कार्यत्रयं संभवतीत्यर्थः।।२५८।। घृतमिति। यथा दृष्टान्ते मथ्यमानाद् दध्नः सकाशात् सूक्ष्मांशो घृतरूपेण ऊर्ध्वं गच्छति तथा तेजोऽबन्नानां त्रयाज्जठरगाद् वाक्प्राणमनसां सः प्रत्येकस्य उपादानभूतो भागोऽपि ऊर्ध्वं प्रयातीत्यर्थः।।२५९।। फलितमाह—वागिति। मनोऽन्तः समाहारद्वन्द्वः। भूयइत्यादि उत्तरान्वयि।।२६०।।

इस उपदेश से पुत्र श्वेतकेतु ने प्रयासपूर्वक समझ लिया कि वाक् तेजोमयी, प्राण जलमय और मन अन्नमय है। फिर उसने उत्साहपूर्वक प्रश्न किया :।।२५५।। 'खाये-पिये जाते अन्नादिरूप तेजआदि अतिस्थूल हैं जबकि वाक्-प्राण-मन अतिसूक्ष्म हैं। कार्यकारणभाव सजातीयों में देखा जाता है जैसे तंतु-पट में। परस्पर विलक्षण तेजआदि व वाक् आदि में कार्यकारणभाव कैसे हो सकता है ? हे भगवन् ! आप मुझे युक्तिप्रदर्शनपूर्वक पुनः समझावें ताकि मैं तत्त्व समझ पाऊँ।' ।२५६-७।।

सामग्रीविशेष के सहकार से स्थूल भी सूक्ष्म को उत्पन्न कर सकता है इस तात्पर्य से पिता ने पुत्र को फिर समझाना शुरू किया : दही मथा जाये तो उसके तीन कार्य प्रत्यक्ष होते हैं—स्थूल कार्य तक्र (छाछ), मध्यम कार्य फेन और सूक्ष्म कार्य घृत। ऐसे ही जठर में पकने पर अन्न के तेजआदि भागों के स्थूलादि त्रिविध परिणाम हो जाते हैं।।२५८।।

दही का अतिसूक्ष्म अंश है घी जो मथने पर (मक्खन रूप से) ऊपर आ जाता है, ऐसे ही जाठर-अग्नि के संयोग से तेजआदि के सूक्ष्मांश वाक्-प्राण-मन के रूप में प्रकट होते हैं। इस प्रकार तेजआदि स्थूल से भी जाठरपाकप्रक्रिया द्वारा सूक्ष्म जो वाक्-प्राण-मन वे पैदा हो जाते हैं।।२५९-६०।।

---

१. 'दध्नः सोम्य मथ्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति, तत्सर्पिर्भवति।।१।। एवमेव खलु सोम्यान्नस्याश्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति तन्मनो भवति।।२।। अपां सोम्य पीयमानानां यो...प्राणो भवति।।३।। तेजसः सोम्याश्यमानस्य... वाग्भवति।।४।। अन्नमयं हि...होवाच।।५।।' षष्ठः खण्डः।

प्राणमनसोरबन्नमयता

वाचो यत्तैजसत्वं स्यात् तन्नाम च भवेदिह। यतः श्लेष्मसमुद्रेकात् तेजसोऽभिभवे सति।।
न दृश्यतेऽतिविशदा वागियं सर्वदेहिनाम्।।२६१
मनःप्राणौ च केनैतावन्नकार्यौ भविष्यतः। यतो नैवान्वयो नाऽत्र व्यतिरेकश्च दृश्यते।।२६२
इत्युक्त आरुणिस्तेन तस्मै च श्वेतकेतवे। अन्वयव्यतिरेकौ तौ दर्शयन्निदमब्रवीत्।।२६३
दशेन्द्रियाणि भूतानि पञ्च प्राणाश्च षोडश। पुरुषस्य कलाः प्रोक्ता मनसो वृत्तयो द्विजैः।।२६४
एतद्विषयजास्तास्तु निराहारस्य संक्षयम्। दिवसे दिवसे यान्ति पुत्र सत्यं मयेरितम्।।२६५

इत्युक्त इत्युत्तरसप्तम्या परिहार्यां शङ्कां प्रतिपादयति—वाच इति। इत्युक्तेऽर्थे स पुत्रो भूयः पुनः इति अचोदयत् पृष्टवान्। 'इति' किम् ? वाचस्तेजोमयत्वं यदुक्तं तत् प्रसिद्धं, सम्भाव्यते। जलीयधातोः कफस्य उद्रेके सति वाक्शैथिल्यस्य दर्शनात्। तथापि प्राणस्य अम्मयत्वं, मनसोऽन्नमयत्वं च कथं सम्भावितं, तत्र अन्वयव्यतिरेकयोः अदर्शनाद् इति द्वयोरर्थः।।२६१-२।। इत्युक्त इति। इत्थं पृष्टः पिता तस्मा अन्वयादिकं दर्शयितुम् इदम्[1] उक्तवान् इत्यर्थः।।२६३।। 'इदं' किम् ? अत आह—दशेन्द्रियाणीति। इन्द्रियदशकं भूतपञ्चकं प्राणश्च इत्येतेषां यः समुदायः तप्तायःपिण्डवत् चित्तादात्म्यमापन्नः स पुरुष इत्युच्यते तस्य पुरुषस्य मनसः चन्द्रदैवतकमनःप्रधानस्य कलाः परिपोषापादका भागाः षोडश द्विजैः उक्ताः। ताः किमात्मिकाः ? इत्यत उक्तम्—एतद्विषयजा वृत्तय इति। एतत्पदेन अन्नग्रहः। तथा च—अन्नरूपाद् विषयात् प्रतिदिनमुपभुज्यमानाज्जाता वृत्तयो मनोनिष्ठा वृत्त्युत्पादनाशक्तयः षोडशदिनावच्छेदेन षोडशसङ्ख्या मनोमयपुरुषस्य षोडश कला इत्युच्यन्ते—इत्यर्थः। तास्तु ता उक्तरूपा कलास्तु निराहारस्य अन्नं परित्यजतः पुंसः प्रतिदिनं क्षीयमाणाः षोडशभिर्दिनैः सर्वाः क्षीयन्ते, अत्र न संशयः। इति द्वयोरर्थः।। एतद् नीरोगवृत्तमुक्तम्। रोगे तु 'दोषाणामेव सा[2] शक्तिर्या शक्तिः खलु लङ्घने' इत्यायुर्वेदे विशेषोक्तेरिति ध्येयम्।।२६४-५।। तत्रान्वयव्यतिरेकपरीक्षणोपयोगिनः प्राणस्य संरक्षणाय जलपानं कुर्वता त्वया

श्वेतकेतु ने फिर पूछा—'वाक् को जो आपने तैजस कहा वह भले ही हो क्योंकि यह अनुभवसिद्ध है कि जलीय धातु जो कफ उसके बढ़ जाने पर तेज का अभिभव हो जाता है और यह वाक् अत्यंत स्पष्ट नहीं रह जाती। यह सब देहधारियों को प्रत्यक्ष है कि कफ बढ़ जाये तो आवाज़ साफ नहीं निकलती। कफ जलीय है अतः उसके द्वारा अभिभूत होने वाली वाणी तैजस होना संगत है, जल आग का विरोधी प्रसिद्ध है।।२६१।। किंतु मन को अन्न का और प्राण को जल को कार्य कैसे समझा जाये ? अन्न-जल और मन-प्राण का न अन्वय व न व्यतिरेक मिलता है। ऐसी स्थिति में इनके कारण-कार्यभाव का निश्चय कैसे करें ?'।।२६२।।

इस प्रश्न पर श्वेतकेतु को अन्वय-व्यतिरेक प्रत्यक्ष कराने के लिये आरुणि ने कहा :।।२६३।। दस इंद्रियाँ, पाँच भूत और प्राण—इन सोलह का समुदाय जब चेतन से वैसे ही एक-मेक हुआ रहता है जैसे तपे लोहपिंड में आग और लोहा तब उसे 'पुरुष' कहते हैं। द्विजों ने उस पुरुष के मन की सोलह कलाएँ कही हैं। मन का देवता चंद्र है, चंद्र की भी सोलह कलाएँ प्रसिद्ध ही हैं। कला से यहाँ वे हिस्से कहे जा रहे हैं जो क्षीण व पुष्ट होते हैं। मन तो आमोक्ष रहता है पर उसकी कलाओं का ह्रास-वर्धन होता रहता है। अन्नरूप विषय का जो प्रतिदिन उपभोग करते हैं उससे मन में वह शक्ति बढ़ती जाती है जो वृत्तियों को उत्पन्न कर सकती है। उस शक्ति का सोलह भागों में विकास होता है अतः मन जिसकी प्रधान उपाधि है उस पुरुष की सोलह कलाएँ कही जाती हैं। एक-एक दिन के अन्नोपभोग से बनी शक्ति एक-एक कला है।।२६४।। जो व्यक्ति अन्न छोड़ देता है उसकी ये कलाएँ रोज़ क्षीण होती जाती हैं और सोलह दिनों में सारी कलाएँ क्षीण हो जाती हैं। बेटा ! यह मैं सत्य कहा रहा हूँ। (यद्यपि सोलह ही दिन भूखे रहने

१. 'षोडशकलः सोम्य पुरुषः। पञ्चदशाहानि माऽशीः। काममपः पिब। आपोमयः प्राणो न पिबतो विच्छेत्स्यते। इति।।१।।'
२. अशक्तिरितिच्छेदः; लङ्घनाद् दोषक्षय इति भावः। धातव एव कोपापन्ना दोषपदवाच्या भवन्ति।

दिनमात्रं विना नीरं न प्राणः शक्नुयात् क्वचित्। अवस्थातुं हि तस्मिंश्च गते नैवान्वयादिकम्।।२६६
भवेद्यस्मात् ततो नीरं पिब यावदभीप्सितम्। अन्नं पञ्चदशाहानि मा शीस्त्वं तत एव च।।
अन्वयव्यतिरेकौ तौ जानीषे स्वयमेव हि।।२६७
एवमुक्ते ततः सोऽपि पक्षमात्रं व्यवर्जयत्। अन्नं पक्षान्त आगत्य पितुस्तस्थौ समीपतः।।२६८
ऋचो यजूंषि सामानि सार्थानि वद पुत्रक। एवं पिता तं तनयं प्राह स्वस्य समीपगम्।।२६९
क्षुत्क्षाममानसं सोऽयं न किञ्चिच्चिन्तयन्नपि। प्रतिपेदेऽप्यधीतं यद् दुर्मेधा हि यथा तथा।।२७०
पितरं तत एवाऽयं प्राहाक्रोशेन संयुतम्। न तानि भान्ति यद् दृष्टं ननु तात सुशिक्षितम्।।२७१
भाग्यक्षये यथा पुंसो मन्त्र आराधितो बहु। तद्वच्च निष्फलं जातमधीतं मे पुराऽभवत्।।२७२
एवमुक्तः पिता प्राह सुतं क्षुत्क्षाममानसम्। अशान तत एवैतत् सर्वं ज्ञास्यसि सुव्रत।।२७३

पञ्चदश दिनानि अन्नाशनं हेयमित्याह—दिनेति। प्राणो नीरं विनाऽवस्थातुं दिनमात्रम् अपि न **शक्तः** तस्मिन् **प्राणे गते सति तु** अन्वयादिकं न **भवेत् ज्ञायेत ! यस्मादेवं** ततो नीरं **यथेष्टं** पिब अन्नं **तु** पञ्चदश दिनानि मा शीः मा **भुंक्ष्व।** तत एव **इत्थं करणादेव** अन्वयव्यतिरेकौ **सुबोधौ भविष्यतः।** इति **द्वयोरर्थः।।२६६-७।।**

एवमुक्त[1] इति। स **श्वेतकेतुः** पक्षमात्रं **पञ्चदश दिनानि** अन्नं व्यवर्जयत् **त्यक्तवान्।** ततः पितुः **अन्तिकमागात्।।२६८।।** ऋच इति। पिता तं क्षुत्क्षाममानसं **क्षुधाक्षीणमनसं ऋगादीन् पठितुं तदर्थं वेत्तुं च नियुक्तवान्।** सोऽयं **सुतोऽपि** चिन्तयन् **सन्नधीतमपि** किञ्चिन्न प्रतिपेदे **न सस्मार, दुर्मेधा दुर्बुद्धिः** यथा **न स्मरति** तथा। **इति द्वयोरर्थः।।२६९-७०।।** पितरमिति। ततो **विस्मृतेरेव हेतोः** आक्रोशेन **ग्लान्या सहितोऽयं सुतः** पितरम् **इदं प्राह। 'इदं' किम् ? हे तात !** तानि **ऋगादीनि मम** न भान्ति **ज्ञानं नारोहन्ति।** यत् पुरा सुशिक्षितम् **अधीतं** दृष्टं **सदःसु मानितमभवत्** तद् निष्फलं जातं यथा बहु **भृशम्** आराधितो **मन्त्रः** पुंसो भाग्यक्षये **निष्फलो भवति** तद्वत्। **इति द्वयोरर्थः।।२७१-२।।**

से सारी याददाश्त ख़त्म हो जाये यह नियम नहीं तथापि भूखे रहने से मानसिक क्षमता कमज़ोर पड़ती जाती है इतना निश्चित है। इसी से मन की अन्नमयता पता चल जाती है। सोलह की संख्या शास्त्रसिद्ध है। वैसे नशा खाने से मन विकृत होता है इससे भी स्पष्ट है कि भोजन का मन पर असर है। प्रकृत में समझाना यही है कि मन भी भौतिक वस्तु ही होने से सत्तत्त्व पर ही परिकल्पित है।)।।२६५।। जल के बिना एक दिन भी प्राण नहीं रह सकता और उसके चले जाने पर अन्वय आदि विवेक होगा नहीं! अतः जल-प्राण के संबंध की ज़्यादा खोज-बीन मत कर। अपनी इच्छानुसार पानी पीता रह पर पंद्रह दिन कुछ खा मत। इसीसे तुझे अन्न-मन का अन्वय-व्यतिरेक खुद पता चल जायेगा।।२६६-७।।

पिता के इस निर्देश पर श्वेतकेतु पंद्रह दिन बिना कुछ खाये रहा। पंद्रह दिन पूरे होने पर वह पिता के समीप पहुँचा। पिता ने कहा 'पुत्र ! ऋग्-यजु-साम और उनके अर्थ सुना।' श्वेतकेतु का मन भूख से दुर्बल था ही। सोचकर भी वह कुछ याद नहीं कर पाया मानो मेधाहीन हो। झुँझलाकर उसने आरुणि से कहा 'तात ! ऋगादि मुझे याद नहीं आ रहे। मेरी सुशिक्षितता का जो सम्मान सभाओं में देखा गया था वह सब निष्फल हो गया ! दीर्घकाल तक अभ्यास से सिद्ध किया मंत्र भी जैसे दुर्भाग्यवश विफल हो जाता है वैसे ही पहले किया मेरा सारा अध्ययन निरर्थक हो गया।' ।२६८-७२।। पिता बोले 'भोजन कर ले, उसीसे तू वह सब जान जायेगा जो अभी भूला-सा है।।२७३।।

१. 'स ह पञ्चदशाऽहानि नाऽऽश। अथ हैनमुपससाद। किं ब्रवीमि भो ? इति। ऋचः सोम्य ! यजूंषि सामानि इति स होवाच। न वै मा प्रतिभान्ति भो ! इति।।२।।'

महतो ज्वलतो वह्नेर्यथेन्धनपरिक्षये। खद्योतसदृशोङ्गारः कश्चिदेवावशिष्यते।।२७४
न तेन पूर्ववत् कार्यं महाकाष्ठचयस्य हि। दाहादि जायते किञ्चिद् यथा तद्वत्तवाऽपि हि।।२७५
कलामात्रं स्थितं चेतः किञ्चिद् नैवाऽधिगच्छति। अन्नेन रहितं तस्माद् भुक्त्वा मामेहि पुत्रक।।२७६
इत्युक्ते भोजनं कृत्वा पूर्ववत् पितरं पुनः। आगात् तेनाऽथ सम्पृष्टं सर्वमेषोऽभ्यभाषत।।२७७
पिता पुनस्तथाहेदं व्यतिरेकावधारिणम्। अन्वयप्रतिपत्त्यर्थं वह्निदृष्टान्ततः पुनः।।२७८
खद्योतसदृशोङ्गारः चितः शुष्कैस्तृणैर्यथा। शनैः शनैर्दहेत् सर्वं शुष्कमार्द्रं च सञ्चयम्।।
महान्तमपि काष्ठानामाधिक्यं प्राप्य दाह्यतः।।२७९
एवं ते मानसं शिष्टं कलामात्रमभूत् पुरा। आहारग्रहणाद्धीदं सर्वज्ञं पुनरप्यभूत्।।२८०
अन्नात्मकं मनस्तेन भवताऽप्यवधारितम्। अम्मयश्च तथा प्राणस्तथा तेजोमयी च वाक्।।२८१

एवमुक्त[1] इति। अशान भुंक्ष्व।।२७३।। अधुना विज्ञानसामर्थ्याऽभावे दृष्टान्तमाह—महत इति त्रिभिः। यथा महतोऽपि अग्नेः इन्धनक्षये सति खद्योतमात्रोऽङ्गारकणः शिष्यते तेन खद्योतमात्राऽवशेषेण अग्निना महाकाष्ठचयदाहादिरूपं कार्यं किञ्चिद् अपि न जायते तथा तव मनः पञ्चदशदिनाऽभोजनेन एककलारूपेण अवशिष्टं सत् किञ्चिद् अपि अधिगन्तुं स्मर्तुं न शक्तम्। तस्माद् भोजनेन उपचितमानसो भूत्वा मत्समीपमागच्छ। इति त्रयाणामर्थः।।२७४-६।।

इत्युक्त इति। तेन पित्रा।।२७७।। पितेति। एतावताऽन्नाऽभावे मनसोऽभाव इत्येवंविधव्यतिरेकं ज्ञातवन्तमपि सुतं प्रति वह्निदृष्टान्तेनैव अन्वयस्य बोधनाय पिता पुनः इदम् आह इत्यर्थः।।२७८।। खद्योतेति। यथा सूक्ष्मोऽप्यङ्गारः शुष्कतृणैश्चितः संयोजितः सन् शनैः शनैः दाह्यतो दाह्यभोगप्रयुक्तमाधिक्यं प्राप्य महान्तमपि काष्ठानां सञ्चयं सर्वं शुष्कम् आर्द्रं वा दहेद् इत्यर्थः।।२७९।। एवमिति। एवं ते मनसोऽपि आहारेण उपचितस्य सर्ववेदनशक्तिः प्रादुरभूद् इत्यर्थः।।२८०।। फलितमाह—अन्नात्मकमिति। स्पष्टम्।।२८१।।

महान् आग जल रही हो और ईंधन समाप्त हो जाये तो जुगुनू-सा कोई एक-आध अंगारा ही बचता है और जलते समय वह महान् आग जो दाह आदि कार्य कर सकती थी वैसा कोई कार्य वह अंगारा नहीं कर पाता। इसी तरह अन्नलाभ के अभाव में चित्त जब एक कला जितना रह जाता है तब कुछ समझ-बूझ नहीं पाता। इसलिये बेटा! खाकर मेरे पास आ।' ।२७४-६।।

श्वेतकेतु ने भोजन किया व लौट कर पिता के संमुख पहुँचा। अब जब आरुणि ने प्रश्न किये तब श्वेतकेतु को सारे जवाब स्फुर गये, उसने सही उत्तर सुना दिये।।२७७।। इस प्रकार अन्नाभाव से मनोदौर्बल्य अर्थात् व्यतिरेक तो श्वेतकेतु समझ ही चुका था, अब अन्वय समझाने के लिये पिता ने उसी अग्निदृष्टांत के सहारे कहा 'जुगुनू-से अंगारे के चारों ओर सूखे तिनके आदि रखने से धीरे-धीरे उसी अंगारे से बड़ी आग तैयार हो जाती है जो सूखी-गीली लकड़ियों के बड़े भारी ढेर को भी जला डालती है। जितना ईंधन मिलता जाये उतनी आग बढ़ती जाती है।।२७८-९।। इसी तरह तेरा मन एक कला जितना ही बचा था। जब तूने आहार ग्रहण किया तब कलाएँ बढ़ती गयीं और पुनः मन में सारा ज्ञान प्रकट हो गया। अब तू समझ गया होगा कि मन अन्नात्मक है। ऐसे ही समझ ले कि प्राण जलमय और वाणी तेजोमय हैं। (शंका हो सकती है कि मन को सूक्ष्मभूतों का आमोक्ष रहने वाला कार्य कहा जाता है तो स्थूल

१. 'तं होवाच—यथा सोम्य ! महतोऽभ्याहितस्यैकोऽङ्गारः खद्योतमात्रः परिशिष्टः स्यात् तेन ततोऽपि न बहु दहेद्, एवं सोम्य ! ते षोडशानां कलानामेका कलाऽतिशिष्टा स्यात् तयैतर्हि वेदान्नानुभवसि। अशान, अथ मे विज्ञास्यसीति।।३।।'
२. 'स हाश। अथ हैनमुपससाद। तं ह यत्किं च पप्रच्छ सर्वं ह प्रतिपेदे।।४।। तं होवाच—यथा सोम्य! महतोऽभ्याहितस्यैकमङ्गारं खद्योतमात्रं परिशिष्टं तं तृणैरुपसमाधाय प्रज्वालयेन् तेन ततोऽपि बहु दहेत्।।५।। एवं सोम्य ते षोडशानां कलानाम् एका कलाऽतिशिष्टाऽभूत्। साऽन्नेनोपसमाहिता प्राज्वाली तयैतर्हि वेदान् अनुभवसि। अन्नमयं हि...वागिति। तद्धास्य विजज्ञाविति विजज्ञाविति।।६।।' सप्तमः खण्ड।

अद्वितीयस्य त्वमर्थता

एवं विज्ञाततत्त्वार्थं वाक्प्राणमनसामपि। पुत्रं पुनः पिता प्राह स्वात्मनो बोधसिद्धये।।२८२
यदन्नमयमुक्तं ते मनस्तस्य विजृम्भणम्। तेजोऽबन्नात्मकं विश्वं येन मोमुह्यते पुमान्।।२८३
देहोऽस्य प्रथमः प्रोक्तो बन्धनं स त्रिधा स्मृतः। स्थूलः सूक्ष्मः परश्चेति कारणात्मा य ईरितः।।२८४
कारणं नाम सम्प्रोक्तमज्ञानं सर्वदेहिनाम्। साधारणं शरीरं यत् सर्वदुःखौघकारणम्।।२८५

एतावताऽद्वितीयलक्षणस्तत्पदार्थः शोधितः। अथ तस्य प्रत्यक्त्वलक्षण-त्वंपदार्थतां बोधयितुम् 'उद्दालक' इत्यादेः[1] श्रुतिग्रन्थस्य प्रवृत्तिः। तच्चात्मनः प्रत्यक्त्वं वेदान्तेषु त्रेधा बोध्यते—चिदाभासबिम्बत्वेन, देहाधिष्ठानत्वेन, इन्द्रियवर्गाधिष्ठानत्वेन चेति। तत्र प्रथमं प्रकारं श्रुत्या शकुनिदृष्टान्तेन उपन्यस्तं[2] विशदयति—एवमित्यादिभिः विंशतिश्लोकैः। एवम् उक्तविधया विज्ञातः तत्त्वभूतः तत्पदार्थावच्छेदकभूतोऽर्थो विश्वोपादानताप्रयुक्ताऽद्वितीयतालक्षणो येन स तथा तं पुत्रं प्रति स्वात्मनः त्वम्पदार्थस्य तस्य बोधः शुद्धिः तदर्थं पिता उद्दालकः पुनः आह इत्यर्थः।।२८२।। तत्र चित्प्रतिबिम्बाधारतया मनसः प्राधान्यं दर्शयति—यदन्नमयमिति। यद् मनः पूर्वमन्नमयत्वेन उक्तं तस्य मनस एव विलासभूतं सर्वं विश्वं बोध्यं येन हेतुना मनसि सति पुमान् आत्मा पुनः पुनः मोहं कार्याविद्याख्यं विपर्ययं यातीत्यर्थः।। यदि मनो न स्यात् तर्हि कुतस्तत्र प्रतिबिम्बलक्षणं मोहं व्रजेत् ? तदभावे रागाऽभावात् कथं च संसरेद् ? अतो विश्वनिर्वाहकं मनः प्रधानमिति भावः।।२८३।।

अस्य मनसोऽपि बन्धनम् उपादानतया वशे स्थापकं किम् ? अत आह—देह इति। प्रथम आद्यो देहः कारणाख्यः अस्य मनसः तथेत्यर्थः। तद्विशदयितुं देहस्य त्रैविध्यं संहारक्रमेणाह—स त्रिधेति। स देहः त्रिधा—तत्र स्थूलः चरमः, सूक्ष्मो मध्यः, परः कारणत्वेन सर्वोत्कृष्टः प्रथम इत्यर्थः।।२८४।। तत्र परं देहं वर्णयति—कारणमिति द्वाभ्याम्। यद् इदम् अज्ञानं तत् कारणं शरीरम् उक्तम्। तस्य परत्वं च एकत्वेन सर्वसाधारणत्वात्, सर्वदुःख-

अन्न से वह बनता-बढ़ता है यह कैसे ? समाधान है कि जो वह कला-मात्र भूखे रहने से भी ख़त्म नहीं हुई वह तो स्थायी मन है लेकिन जो न खाने से समाप्त हुईं व खाने से उत्पन्न हुईं वे कलाएँ स्थूल अन्न के परिपाक का कार्य है।)।।२८०-१।।

यहाँ तक के प्रसंग से यह स्पष्ट किया कि तत्पद का अर्थ अद्वितीय सत्तत्त्व है। अब समझाना है कि वही प्रत्यगात्मा है, त्वम्पदार्थ है।

आत्मा की प्रत्यग्रूपता वेदांतों में तीन तरह समझायी जाती है —१) आत्मा बिंबस्थानीय है जिसका मानो प्रतिबिम्ब है चिदाभास। २) देह का अधिष्ठान आत्मा है। ३) इन्द्रियसमूह का अधिष्ठाता आत्मा है। तीनों तरह से बताना यही है कि परम प्रत्यक् वस्तु आत्मा है। प्रथम प्रकार श्लो. २८२-३०२ तक, द्वितीय श्लो. ३०३-१२ तक और तृतीय श्लो. ३१३-७ तक समझायेंगे।

इस प्रकार वाक्-प्राण-मन के अधिष्ठान की अद्वितीय सद्रूपता जिसने समझ ली उस पुत्र को आरुणि ने स्वात्मा के, त्वम्पदार्थ के शोधित स्वरूप की जानकारी के लिये कहना आरंभ किया :।।२८२।। जिसे तुझे अन्नमय समझाया उस मन का ही विलास यह तेजआदि विश्व है। इस मन के रहते ही आत्मा बारम्बार मोह में पड़ता है, कार्याविद्या कहलाने वाले विपर्यय का अनुभव करता रहता है। (मन में एक तरफ से आत्मा का प्रतिबिंब पड़ता है तो दूसरी तरफ से तेजआदि का; मन में ही आत्मा-अनात्मा का सम्बंध स्थापित होने पर राग-द्वेषपूर्वक कर्म होते हैं व उनके फलस्वरूप संसरण चलता है। मन न हो तो यह सब संभव नहीं अतः विश्व के निर्वाह में मन प्रधान है।)।।२८३।।

मन को भी बाँधे रखने वालों में पहला है शरीर। शरीर तीन तरह का है—स्थूल, सूक्ष्म और कारण।।२८४।।

---

१. 'उद्दालको हारुणिः श्वेतकेतुं पुत्रमुवाच—स्वप्नान्तं मे सोम्य ! विजानीहीति। यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति, स्वमपीतो भवति। तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते, स्वं ह्यपीतो भवति।।१।।'

२. 'स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वाऽन्यत्रायतनमलब्ध्वा बन्धनमेवोपश्रयत एवमेव खलु सोम्य तन्मनो दिशं दिशं पतित्वाऽन्यत्रायतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते, प्राणबन्धनं हि सोम्य मन इति।।२।।'

सुषुप्तौ यत् सदानन्दं सर्वैरेवानुभूयते। सर्वदुःखविहीनं तद् विक्षेपपरिवर्जनात्। ।२८६

तस्मात् सञ्जायते सूक्ष्मं समग्रं भूतभौतिकम्। हिरण्यगर्भो भगवान् अधिदैवं यदुच्यते।।
अध्यात्मं मन इत्युक्तं स्थूलं तु तद् विराट् स्मृतम्। ।२८७

प्रातिस्विकं तु यत् प्रोक्तं सर्वेषामिह देहिनाम्। अत्र जागरणावस्था शरीरे परिकीर्तिता। ।२८८

सूक्ष्मे तु कथिता स्वप्नावस्था तां त्वं निशामय। साऽपि प्रोक्ता द्विधा सद्भिः सस्वप्ना स्वप्नवर्जिता।।
द्वितीया सुप्तिरित्युक्ता दुःखं यत्र लयं व्रजेत्। ।२८९

बीजत्वाच्चेत्यर्थः। ।२८५।। तच्च 'सुखमहमस्वाप्सं, न किञ्चिदवेदिषम्' इति सुप्तोत्थितपरामर्शानुमितेन सर्वानुभवेन सिद्धमित्याह—सुषुप्ताविति। सद् भावरूपम् आनन्दम् आनन्दाकारवृत्तिशालि, विक्षेपशक्तेः तिरोभावात् सर्वदुःखहीनं चेत्यर्थः। ।२८६।।

मध्यं शरीरं वर्णयति—तस्मादिति। तस्माद् उक्तरूपाऽज्ञानविशिष्टाद् आत्मनः सूक्ष्माणि भूतानि भौतिकानि मनःप्रभृतीनि च जायन्ते यत् समष्ट्यभिमानी हिरण्यगर्भ इति उच्यते। अध्यात्मं तु मन इति एव उक्तं मनः-प्राधान्यप्रयुक्ततैजसनामकं प्रोक्तमिति यावत्। तद् भूतभौतिकं स्थूलं तु समष्टिरूपेण विराड् भवतीत्यर्थः। ।२८७।। स्थूलव्यष्टीनां विश्वसञ्ज्ञाप्रयोजकतां सूचयन् जागरणहेतुतामाह—प्रातिस्विकमिति। प्रतिस्वं भवं प्रतिद्रष्टारं स्फुटभेदमिति यावत्, तादृशं यत् सर्वजातीयं स्थूलं शरीरं तज्जागरणाऽवस्थायाः स्थानमित्यर्थः। ।२८८।। सूक्ष्मे त्विति। सूक्ष्मे शरीरे तु स्वप्नावस्थायाः स्थानं साऽपि आश्रयस्य अन्तःकरणस्य अभिव्यक्तत्वसंस्कारावस्थत्वलक्षणभेदेन द्विधा; तत्राद्या स्वप्नसंज्ञयैव प्रसिद्धा, अन्त्या तु सुषुप्तिरित्युक्तेत्यर्थः। ।२८९।।

सब देहधारियों को अपरोक्ष अज्ञान ही कारण शरीर है। एक ही अज्ञान सबका कारणशरीर है अर्थात् सर्वसाधारण है। वही समस्त दुःखपुंजों का मूल कारण है। अज्ञान भावरूप वस्तु है जिसका सुषुप्ति में भी स्फुरण रहता है। सुषुप्ति में आनंद के आकार की वृत्ति वाला अज्ञान सभी को अनुभवसिद्ध है। क्योंकि तब कोई विक्षेप नहीं, कार्याविद्या नहीं, इसलिये उस अवस्था में कोई दुःख प्रकट नहीं होता। (आनंद तो आत्मा का स्वरूप है अतः विक्षेप न रहते आनंद तो व्यक्त होगा ही। मूर्छादि में दुःखाकार वृत्तिरूप विक्षेप के कारण आनंद तिरोहित रहता है जैसे जाग्रत्-स्वप्न में। सुषुप्ति में कोई विक्षेप नहीं अतः आनंद रहता है। किंतु अविद्यादशा में आनंद अविद्या से छना हुआ ही उपलब्ध हो सकता है और वह उपलब्धि अविद्या में वृत्तियों की अपेक्षा रखती है क्योंकि कादाचित्क होने से उसके लिये कादाचित्क हेतु चाहिये।)। ।२८५-६।।

उक्त अज्ञान से विशिष्ट आत्मा से सारा भूत-भौतिक सूक्ष्म प्रपंच पैदा होता है जिस समष्टि सूक्ष्म प्रपंच में अभिमानी आत्मा को 'भगवान् हिरण्यगर्भ' कहा जाता है। सूक्ष्म प्रपंच का अध्यात्म (शरीरान्तर्वर्ती) रूप है लिंग देह जिसमें प्रधान मन है और इसमें अभिमानी, अर्थात् व्यष्टि सूक्ष्माभिमानी तैजस कहा जाता है। स्थूल भूत-भौतिक की समष्टि है विराट्। स्थूल व्यष्टि है स्थूल शरीर जिसमें अभिमानी विश्व कहलाता है। हर द्रष्टा को स्पष्ट ही विभिन्न प्रतीत होने वाले स्थूल शरीर जाग्रत् अवस्था के स्थान हैं अर्थात् उन स्थूल शरीरों में स्फुट अभिमान रहते ही जाग्रदवस्था होती है। ।२८७-८।। सूक्ष्म शरीर में ही जब स्फुट अभिमान रहे (स्थूल में नहीं) तब स्वप्नावस्था होती है। सत्पुरुष उस सोने की अवस्था को भी दो तरह का बताते हैं—स्वप्नसहित और सपनों के बिना। जब अंतःकरण कार्यकारी रहे, इंद्रियाँ कार्य न करें तब सपने सहित की स्थिति होती है और जब अंतःकरण संस्काररूप से ही रहे, कार्यकारी नहीं, तब सपनों के बिना की स्थिति होती है। निःस्वप्न शयन को ही सुषुप्ति कहते हैं जिस अवस्था में दुःख विलीन हो जाते हैं। ।२८९।।

आनन्दात्मनि निर्द्वन्द्वे सर्वभेदविवर्जिते। स्वस्मिन्नेष लयं याति तदा जीवो यतस्ततः।।२६०
स्वपितीति वदन्त्येनाम् अवस्थां नामतो द्विजाः। अपरेऽकारलोपेन नामोक्तं परमात्मनः।।२६१

सुप्तिर्मनोऽवस्था

मनसः साऽपि विज्ञेया विकारो दुःखदायिनः। स्वप्ने जागरणे नित्यं मनो धावद्दिशो दश।।२६२
ग्रासार्थं शकुनिर्यद्वद् दुःखमेति निरन्तरम्। बद्धो दृढेन सूत्रेण पञ्जरे केनचित् सदा।।
अप्राप्य प्राप्य वा ग्रासं श्रमेण महता युतः।।२६३

एवमवतारितायाः सुप्तेः प्रकृतोपयोगं दर्शयन् सर्वदुःखाऽभावे हेतुमाह—आनन्दात्मनीति। यतः तदा सुषुप्तिकालेऽयं जीवः प्रतिबिम्बरूपः स्वस्मिन् स्वकीये बिम्बभूते परमार्थस्वरूपे लयं याति दर्पणस्थानीयस्य मनसो लयात् ततो दुःखं लयं व्रजेद् इति पूर्वेण सम्बन्धः। बिम्बस्वरूपस्य सदैक्ययोग्यतासूचनाय आनन्दात्मनीत्यादीनि विशेषणानि। निर्द्वन्द्वत्वं षडूर्मिराहित्यं, तत्र हेतुः सर्वभेदराहित्यमिति।।२६०।। स्वपितीति। एनामवस्थां लौकिकाः स्वपितीति तिङन्तपदेन वदन्ति। अपरे तत्त्वविदो द्विजाः तु इति वदन्ति इत्यनुषङ्गः। 'इति' किम् ? इदं स्वपिति—इत्याकारकं परमात्मन एव नामोक्तं[1] भवति, 'परोक्षप्रिया इव हि देवा' इति श्रौतन्यायसंरक्षणाय विहितो योऽकारयोर्लोपः तेन। अयं भावः—लोपपदेन च श्लिष्टेन नाशः शक्त्या, मध्यह्रस्वेन च विपरिणामो लक्षणया प्रोच्यते। तथा च पूर्वश्लोकोक्तरीत्याऽन्वर्थे स्वापीतेति परमात्मनाम्नि स्वपदगतस्य अकारस्य लोपेन पररूपाख्यनाशेन, तकारगताऽकारस्य इकारभावापत्तिरूपविपरिणामेन च स्वपितीति रूपसिद्धिरिति।।२६१।।

अत्र सुप्तिवर्णनं बिम्बभूतात्मनः स्वरूपोपलक्षणाय, न सुषुप्तिमत्त्ववर्णनाय, कूटस्थे तत्र परिणामरूपावस्थानां दुर्वचत्वात्। कस्य तर्हि इयमवस्थेति चेत् ? संस्काराख्यपरिणामिनो मनस एवेति दर्शयंस्तस्य सर्वावस्थाभागित्वमाह—मनस इति। सा सुषुप्तिः अपि मनस एव विकारः परिणामो यत इदं मनः स्वप्नजागरणयोः दश दिशः प्रति धावनेन श्राम्यति इत्यर्थः। तथा च यत्र मनसि भ्रमणं स्वप्नादिरूपं तत्रैव श्रमकार्यभूतलयरूपा सुप्तिः युक्तेति भावः।।२६२।।

अत्रार्थे श्रुत्योपन्यस्तं शकुनिदृष्टान्तं विशदयति—ग्रासार्थमिति द्वाभ्याम्। यथा पञ्जरे सूत्रेण केनचिद् बद्धः शकुनिः भक्ष्यकामः पञ्जरान्तर्देश एव पक्षचालनेन उड्डीयमानो ग्रासस्य भक्ष्यस्य लाभेऽलाभे वा यदा श्रान्तो भवति

जैसे दर्पण मिट्टी में दफना दें तो उसमें जो प्रतिबिंब पड़ रहा था वह बिंब में विलीन हो जाता है ऐसे सुषुप्ति में मन अविद्या-ग्रस्त हो जाने से प्रतिबिंबरूप यह जीव अपने बिंबरूप निर्द्वन्द्व, निर्भेद आनंदात्मा में लीन हो जाता है जिससे तब दुःख भी अपने कारणरूप अज्ञान में छिप जाते हैं। (द्वन्द्व हैं छह ऊर्मियाँ—भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख। इनसे आत्मा रहित है।)।।२६०।। लौकिक लोग इस अवस्था को 'स्वपिति' कहते हैं। ('स्वपिति' अर्थात् 'सो रहा है', सोने की क्रिया कर रहा है।) तत्त्ववेत्ता ब्राह्मण तो यों कहते हैं : स्वपिति यह परमात्मा का ही नाम है। बड़ों का सीधे नाम नहीं लेना चाहिये इसलिये परमात्मा का मूल नाम 'स्वापीत' होने से 'अ' छोड़कर (और 'इ' को ह्रस्व कर तथा 'त' के अ को इ बनाकर) केवल 'स्वपिति' नाम से उन्हें कहा जाता है।।२६१।।

सुषुप्ति का वर्णन बिम्बस्थानीय आत्मा के स्वरूप के अनावरणार्थ है न कि आत्मा सुषुप्ति वाला है यह समझाने के लिये। आत्मा अपरिवर्तनशील है अतः उसकी जाग्रदादि अवस्थाएँ नहीं हैं। अवस्थाएँ तो मन की ही समझनी चाहिये। सुषुप्ति में भी संस्काररूप से मन रहता ही है। सारे दुःख देने वाला मन स्वप्न व जाग्रत् में हमेशा दसों दिशाओं में भटकता रहकर थक जाता है अतः जहाँ थकान मिटती है वह सुषुप्ति अवस्था भी मन का ही परिणाम हो यह उचित है।।२६२।। पींजरे में किसी मज़बूत धागे से पक्षी बँधा हो, भक्ष्य खाने के लिये इधर-उधर चलता-उड़ता है और भक्ष्य

---

१. तथा च विद्याप्रकाशे (३.७६) 'तिङन्तपदमज्ञानां सुबन्तं तु विवेकिनाम्। स्यान्निद्राणस्य नामेदं वस्तुतत्त्वावभासकम्।।' इति।

पञ्जरे पुनरेवैष उपगम्यातिनिश्चलः। पूर्वदुःखविहीनः सन्नास्ते लीन इवान्ततः।।२६४

एवं दुःखत्रयेणैतत् सन्तप्तं मानसं सदा। कर्मसूत्रेण सम्बद्धं स्वप्नं जागरणं व्रजेत्।।
कर्मक्षये प्रयात्यन्तः सुप्तिं श्रमविनाशिनीम्।।२६५

प्राणोपाधिः सदा देव आनन्दात्मा महेश्वरः। विलीनकरणग्रामस्याश्रयो मनसो मतः।।२६६

अन्यदायतनं तस्य प्रबद्धस्येव पक्षिणः। न विद्यते यतस्तस्मान्न च यातीदमेव हि।।२६७

आत्मनो व्यतिरिक्तं यत् सदसद्वस्तु विद्यते। कार्यं तन्मनसः केन भवेत्तस्याश्रयोऽपरम्।।२६८

मनो विलीयते यत्र प्राणात्मनि महेश्वरे। सदेवैतत्तु विज्ञेयं तेजोऽबन्नादिकारणम्।।२६९

संस्कारशेषमत्रैतल्लीनमुत्पद्यते पुनः। न मुक्तौ कारणाऽभावाद् भेदोऽयं तत एतयोः।।३००

तदा पञ्जरेऽन्तर्मध्य उपगम्य पादन्यासस्थानं प्राप्य पूर्वेण भ्रमकालिकेन दुःखेन विहीनः अतिनिश्चलः च सन् लीन इव भवति। इति द्वयोरर्थः।।२६३-४।। दार्ष्टान्तिके योजयति—एवमिति। एवं शकुनिवद् इदं मनोऽपि कर्मरूपेण सूत्रेण संघातलक्षणे पञ्जरे हृदयदेशे सम्बद्धं बद्धपादं रागरूपक्षुधाप्रसूतैः दुःखैः सन्तप्तं सत् स्वप्नादौ भ्रमति, तच्च श्रान्तं सत् कर्मरूपसूत्रस्य क्षये बन्धस्थानेऽन्तः हृद्देशे सुप्तिं श्रमापनयनाय यातीत्यर्थः।।२६५।। तदानीं मनः कारणे लीयते, तद्गतं प्रतिबिम्बं तु बिम्बे परमात्मनि इत्याह—प्राणोपाधिरिति। प्राणपदेन स्वार्थसम्बद्धं सौषुप्तं कारणाऽज्ञानं लक्ष्यते, तदुपहित आत्मा मनस आश्रयो लयस्थानम्, कीदृशस्य मनसः ? विलीनो वशं गतः करणग्रामो यस्य तत् तथा तस्य, इन्द्रियसहितस्येति यावत्।।२६६।।कारणोपाधिभिन्नस्य मनोनिरूपिताश्रयतायामयोग्यतामाह —अन्यदिति। यतः पञ्जरबद्धपक्षिसमस्य तस्य मनसः तस्मात् प्राणोपाधिकाद् आत्मनः सकाशाद् अन्यद् भिन्नम् आयतनं न विद्यतेऽतः इदं प्राणोपाधिकभिन्नं वस्तुजातं सुप्तौ न याति नाश्रयतयाऽवलम्बत इत्यर्थः।।२६७।। तत्र हेतुतयाऽन्यपदार्थस्य कार्यत्वेन तदानीमसत्त्वमाह—आत्मन इति। यद् आत्मनो व्यतिरिक्तं तत् सर्वं मनसः सकाशाद् अपरं पश्चाद्भावि भवति, तत्कार्यत्वाद्, अतः तस्य मनस आश्रयः कथं स्याद् ? इत्यर्थः।।२६८।। वर्णितस्य प्रकृतोपयोगमाह—मन इति। सप्रतिबिम्बमनोविलयस्थानत्वेन प्रकृतस्य सद्वस्तुनः सर्वान्तरत्वं विज्ञेयम् इत्यर्थः।।२६९।। सुषुप्तौ परमात्मलाभे पुनः संसारः कथम् ? इत्याशङ्कां सुप्तिमुक्त्योः विशेषप्रदर्शनेन परिहरति—संस्कारेति। अत्र सुप्तौ मनः संस्कारशेषं लीयतेऽतः पुनरुत्पद्यते। मुक्तौ तु पुनर्नोत्पद्यते कारणस्य संस्काराधारस्य अज्ञानस्य अभावाज्ज्ञानाग्निना दाहात्। एतयोः सुप्तिमुक्त्योः अयं भेदो विशेष इत्यर्थः।।३००।।

मिले या न मिले, वह पक्षी बहुत थक तो जाता ही है। तब पींज़रे में ही वह एक जगह स्थिर हो जाता है और यहाँ-वहाँ भटकने के दुःख से रहित होकर अंत में लीन-सा हो जाता है।।२६३-४।। इसी तरह यह मन भी कर्मरूप मज़बूत धागे से शरीरसंघातरूप पींजरे में बँधा है। रागरूप भूख से होने वाले आध्यात्मिक-आधिदैविक-आधिभौतिक दुःखों से सदा सन्तप्त रहते हुए यह स्वप्न-जाग्रत् में भटकता रहता है। जब सुख-दुःख देने वाले कर्मों का कुछ देर के लिये अभाव रहता है उस समय थका हुआ मन हृदय के भीतर उस सुषुप्ति को प्राप्त हो जाता है जो थकान मिटा देती है।।२६५।। उस समय मन अपने कारण में लीन होता है और मन में पड़ने वाला प्रतिबिम्ब अपने बिम्बभूत परमात्मा में लीन होता है। सुषुप्ति में भी प्राण कार्यकारी रहता है अतः सुषुप्ति की अवस्था वाले अज्ञान को भी प्राण कह सकते हैं। उस अज्ञान से उपहित आनंदात्मा महेश्वर देव उस मन का लयस्थान है जिसके वश में सारी इंद्रियाँ हैं। अर्थात् इन्द्रिय-समेत मन का विलय अज्ञानोपहित आत्मा में होता है।।२६६।। जैसे बँधे पक्षी का एक ही आयतन, आश्रय स्थान होता है वैसे कारणोपाधि वाले आत्मा से अन्य कोई आयतन मन का नहीं हो संकता। अतः मन और कहीं नहीं उसीमें विलीन होता है।।२६७।।

एकता मनसो नास्ति यस्मात् सर्वशरीरिणाम्। अभेदेऽप्यात्मनस्तेन व्यवस्था सुस्थिता भवेत् ।३०१

एवं सुप्तिरियं मुक्तेः समीपस्था समीरिता। अवस्थाऽन्याऽपि मनसा कृताऽऽनन्दात्मनोऽस्ति हि ।३०२

प्राणस्य नामद्वयम्

अशनायेति यत्राऽयमुदन्येति च तद्द्वयम्। नामावाप्नोति निर्नामा स्वपितीति यथा पुमान्। ।३०३

अस्मिन्नेकात्मवादे बन्धमोक्षादिव्यवस्थाया अपि नानुपपत्तिः, कल्पितानां मनोरूपोपाधीनां भेदेन सर्वसामंजस्यं स्याद् इत्याह—एकतेति। सर्वशरीरिणामात्मन ऐक्येऽपि सति यस्मान्मनस एकता नास्ति तेन मनसामनेकत्वेन व्यवस्था सुखी दुःखी बद्धो मुक्त इत्यादिरूपा सुस्थिता सम्यगुपपन्ना भवेद् इत्यर्थः। ।३०१।।

उक्तविचारमुपसंहरन् देहसङ्घाताधिष्ठानत्वेन सद्वस्तुन आन्तरत्वम् अशनायादिनामोपन्यासमुखेन श्रुत्या दर्शितं[1] निरूपयति—एवं सुप्तिरिति द्वादशभिः। यथा इयं सुषुप्तिः मुक्त्यपेक्षया किञ्चिन्न्यूना मनोद्वारेण आनन्दात्मसम्बद्धा च सम्यग्बिम्बप्रतिबिम्बैक्यबोधरूपफलशालित्वेन निरूपिता, एवंविधा अन्याऽपि स्वप्न-जागरणरूपा अवस्था अस्ति सापि तत्तुल्यफलशालितया बोध्येत्यर्थः। ।३०२।। अशनायेति। यत्र ययोः स्थूलसूक्ष्मदेहाभिमानशालिन्योः जागरणाद्यवस्थयोः अयम् आनन्दात्मा पुमान् निर्नामाऽपि सकलनामहीनोऽपि अशनायेत्याकारकम् उदन्येत्याकारकं[2] च नामावाप्नोति पूर्वोक्तस्वपितिनामवद् इत्यर्थः। ।३०३।। अनयोर्नाम्नोः

आत्मा से अन्य जो कुछ भी स्थूल-सूक्ष्म चीज़ें हैं वे सब मन के बाद होने वाली हैं, मन का कार्य हैं, अतः मन का आश्रय कैसे हो सकती हैं !।२९८।। जिस प्राणात्मा (प्राणशब्दित अज्ञान से उपहित आत्मा) महेश्वर में मन लीन होता है यह वही सत् है जो तेज-जल-पृथ्वी आदि का कारण है। (अर्थात् तत्पदार्थ ही सर्वान्तर प्रत्यक् है)।२९९।। यद्यपि सुषुप्ति में उक्त तरह से प्रतिबिंबस्थानीय जीव बिंबस्थानीय परमात्मा से एक हो जाता है तथापि वह मोक्षदशा नहीं है। सुषुप्ति में मन ऐसा लीन होता है कि इसका संस्कार बचा रहता है जिससे यह पुनः उत्पन्न हो जाता है। मुक्ति में मनःसंस्कार नहीं बचता क्योंकि तब वह अज्ञानरूप कारण भी नहीं रहता जिसमें संस्कार रह सके। अतः मोक्ष हो जाने पर फिर मन पुनः उत्पन्न नहीं होता। इस प्रकार सुषुप्ति व मोक्ष में महान् अंतर है। (कुछ आधुनिक कार्याविद्या से अतिरिक्त दण्डायमान कारणाविद्या नहीं है ऐसा प्रचार करते हैं। उस मान्यता में अन्यान्य ग़लतियों के साथ यह बड़ी ग़लती है कि सुषुप्ति व महाप्रलय की व्याख्या संभव नहीं रहती।)।३००।।

सब शरीरधारियों का आत्मा एक होने पर भी सबके मन एक नहीं विभिन्न हैं अतः सुखी-दुःखी, बद्ध-मुक्त आदि व्यवस्था सही तरह संगत हो जाती है। (मनउपाधिक के भेद से व्यवस्था बन जाती है।)।३०१।।

इस प्रकार यह सुषुप्ति समझाई जो मोक्ष के निकट-सी अवस्था है। (विक्षेपराहित्य समान है, अज्ञानरूप बीज रहने न रहने का भेद है।) मन द्वारा यह अवस्था आनंदात्मा से सम्बद्ध है और इस दशा में प्रतिबिंब (जीव) का बिम्ब से (ईश्वर से) अभेद हो जाता है। सुषुप्ति का विचार यह तथ्य प्रकाशित करता है कि जीव-ब्रह्म एक ही है। इससे अन्य जाग्रत् व स्वप्न अवस्थाएँ भी विवेकदृष्टि से यही तथ्य उजागर कर देती हैं।।३०२।। आनंदात्मा पुरुष वास्तव में नामरहित है पर जाग्रत्-स्वप्न अवस्थाओं में यह अशनाया और उदन्या नाम पा जाता है जैसे सुषुप्ति में स्वपिति नाम पाता है।।३०३।।

---

१. 'अशनापिपासे मे सोम्य विजानीहि इति। यत्रैतत्पुरुषोऽशिशिषति नाम आप एव तद् अशितं नयन्ते। तद्यथा गोनायोऽश्वनायः पुरुषनाय इत्येवं तदप आचक्षतेऽशनायेति तत्रैतच्छुङ्गमुत्पतितं सोम्य विजानीहि, नेदममूलं भविष्यतीति।।३।।'

२. 'तस्य क्व मूलं स्यादन्यत्राऽन्नाद्। एवमेव खलु सोम्य ! अन्नेन शुङ्गेन आपो मूलमन्विच्छ। अद्भिः सोम्य शुङ्गेन तेजो मूलमन्विच्छ। तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ। सन्मूलाः सोम्य ! इमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः।।४।। अथ यत्रैतत्पुरुषः पिपासति नाम तेज एव तत्पीतं नयते। तद्यथा गोनायोऽश्वनायः पुरुषनाय इत्येवं तत्तेज आचष्ट उदन्येति। तत्रैतदेव शुङ्गमुत्पतितं सोम्य। विजानीहि। नेदममूलं भविष्यतीति।।५।। तस्य क्व मूलं स्यादन्यत्राद्भ्योऽद्भिः सोम्य ! शुङ्गेन तेजो मूलमन्विच्छ तेजसा...तिष्ठाः।'

आत्मनो न क्षुधा नाऽपि पिपासाऽद्धाऽत्र विद्यते। किन्तु प्राणस्य स प्राणो नयेदन्नोदके क्वचित्। ।३०४

देहस्यान्तस्ततो यस्मान्नायकस्तद्द्वयोरपि। तस्यैतन्नाम विज्ञेयं तद्द्वारा चात्मनो भवेत्। ।३०५

अशनस्याऽत्र कर्तृणि नयनस्योदकानि हि। तेजः पीतस्य तेनैतच्छब्दे ते कीर्तिते उभे। ।३०६

गवाश्वनायका यद्वत्तद्वदेतद् द्वयं स्मृतम्। अशनायेति सम्प्रोक्ता आपः तेजः समीरितम्। उदन्येति च तद्द्वाराऽऽनन्दात्माऽपि तथेर्यते। ।३०७

सद्वस्तु सर्वान्तरम्

शरीरं प्रथमं कार्यं स्थूलमुक्तं मनीषिभिः। अन्नं द्वितीयं भूमिश्च तृतीयं परिकीर्तितम्। आपश्चतुर्थं तेजश्च पञ्चमं परिकीर्तितम्। ।३०८

आत्मनि सम्बन्धे प्राण उपाधिरित्याह—आत्मन इति। अत्र सङ्घाते दृश्यमाना क्षुधा तृषा च आत्मनः अद्धा साक्षाद् न विद्यते किन्तु प्राणस्य एव ते विद्येते। यस्मात् स प्राण उदरङ्गते अन्नादिके नयति नाडीद्वारा सर्वाङ्गेषु व्यापयति देहस्यान्तः ततत्वाद् व्याप्तत्वात् तत् तस्माद् द्वयोः अशनोदकयोः नायक इत्याख्यायतेऽतोऽशनाय इति उदकनाय इति आकारकं नामद्वयं निपातेन 'अशनाया' 'उदन्या' इत्याकारकं सत् प्राणस्य मुख्यं नाम भवति, प्राणद्वारा चात्मनो भवति। इति द्वयोरर्थः। ।३०४-५। ।

अशनायापदे कर्मसाधनम् अशनपदमिति सूचयन् प्राणस्य आत्मापेक्षया मुख्यनामकत्वेऽपि अप्तेजसोरपेक्षया गौणनामकत्वमेव दर्शयितुम् अप्तेजसोस्ते नामनी मुख्ये इत्याह—अशनस्येति। अशनस्य कर्मव्युत्पत्त्या अशितस्य भक्षितस्य यन्नयनं तस्य कर्तृणि कारकाणि उदकानि भवन्ति द्रावकत्वात्। पीतस्य द्रव्यस्य यन्नयनं तस्य कर्तृ तु तेजो भवति। तेन प्रवृत्तिनिमित्तेन उभे अप्तेजसी एतच्छब्दे उक्तनामके बोध्ये इत्यर्थः। ।३०६। । एतच्छ्रौतदृष्टान्तेन स्फुटयति—गवाश्वेति। यथा लोके गवां नेतारो 'गोनाया' इति कर्मण्यणन्तनाम्नोच्यन्ते, अश्वनेतारस्तु 'अश्वनाया' इति, तथा आप उक्तविधेन अशनायेति नाम्ना प्रोक्ता द्रावकत्वात्, तथा तेजः तु उदन्येति उक्तं शोषकत्वात्। तद्द्वारा अप्तेजोनिरूपितपरम्परया तु आत्माऽपि तदध्यासेन तथा उक्तनामक ईर्यत इत्यर्थः। ।३०७। ।

आभ्यां नामभ्यां देहस्य भौतिकत्वमिति सूचनद्वारा सतः सर्वान्तरत्वं यथा बोधितं तथा दर्शयितुं कार्यकारणपरम्परां वर्णयति—शरीरमिति द्वाभ्याम्। प्रथमादिशब्दा ज्ञानक्रमापेक्षया। तथा च शरीरस्य कार्यत्वं प्रथमं बुद्धावारोहणीयं, ततस्तत्कारणस्य अन्नस्य, ततस्तद्धेतोः पृथिव्याः, ततोऽपां, ततस्तेजस इत्यर्थः। ।३०८। ।

उक्त दोनों नाम आत्मा से सम्बद्ध होते हैं जब प्राण आत्मा की उपाधि बना होता है। संघात में अनुभूयमान भूख-प्यास साक्षात् आत्मा के नहीं हैं किन्तु प्राण के ही हैं। पेट में पहुँचे अन्न-जल को नाडियों द्वारा शरीर के सारे अंगों में क्योंकि प्राण फैला देता है इसलिये यह अशन (अन्न) और उदक (जल) का नायक (ले जाने वाला) है। इस प्रकार प्राण के नाम हैं अशनाय एवं उदकनाय। इन्हीं शब्दों का परिवर्तित रूप है अशनाया और उदन्या। प्राण के तो ये मुख्य नाम हैं, प्राण इनका वाच्य है, और आत्मा के ये लक्षक हैं, लक्षणा से आत्मा को कहते हैं। ।३०४-५। । विचार करें तो ये नाम मुख्यरूप से प्राण के भी नहीं वरन् जल और तेज के हैं। भक्षित वस्तुओं को शरीर के अंगों तक पहुँचाने वाला है जल और पिये हुए द्रवों को शरीर के अंगों तक पहुँचाने वाला है तेज। अतः जल और तेज के नाम हैं अशनाया व उदन्या। लेकिन क्योंकि जल-तेज भी ये सब काम प्राण के सहारे ही करते हैं इसलिये ये नाम प्राण के मान लिये गये हैं। ।३०६। । लोक में गायें ले जाने वालों को 'गोनाया' इस शब्द से कहते हैं, घोड़े ले जाने वालों को 'अश्वनाया' इस शब्द से पुकारते हैं। ऐसे ही अशन को द्रवरूप बनाकर ले जाने वाला होने से जल को अशनाया और जल को तत्र-तत्र पहुँचाने वाला होने से तेज को उदन्या कहा गया है। क्योंकि ये कार्य तभी संभव हैं जब आत्मा का अध्यास हो इसलिये इन नामों से आत्मा का भी व्यवहार हो जाता है। ।३०७। ।

सद् उक्तं तेजसो मूलम् अपां तेजस्तथेरितम्। आपो भूमेश्च भूर्मूलमन्नस्याऽपि प्रकीर्तिता।।
अन्नं देहस्य मूलं स्यात् सर्वक्लेशकरस्य हि। ।३०९
देहाद्या अङ्कुराः प्रोक्ता मूलान्यन्नादयोऽपि च। सदन्ताः सत्तु निर्मूलं ज्ञातं त्वङ्कुरलिङ्गतः। ।३१०
सर्वेषामपि भूतानां भौतिकानां च तत् स्मृतम्। उत्पत्तिस्थितिनाशानां हेतुस्तैस्तु विवर्जितम्। ।३११
एवं जागरणे स्वप्ने क्षुत्पिपासातुरः सदा। प्राणाद्युपाधिको जीवो दुःखमायाति नित्यशः। ।३१२

अथ महावाक्यव्याख्या

स्वप्ने जागरणे सुप्तावेक एवातिसञ्चरन्। ग्राहं ग्राहं शरीराणि विमुञ्चति विमोहितः। ।३१३

सद् उक्तमिति। तस्य पञ्चमकार्यस्य तेजसो मूलकारणं तु सद्वस्तु प्रोक्तम्। तत् तेजः तु जलस्य, जलं भूमेः, भूमिः अन्नस्य, अन्नं तु जलतेजोभ्यां परिणामं नीतं देहस्य मूलम् इत्यर्थः। ।३०९।। उक्तपरम्परायाः फलमाह—देहाद्या इति। देहादिरूपा विकारा अङ्कुरत्वेनोक्ताः श्रौत-शुङ्ग-पदेनेति शेषः। अन्नादयः सत्पर्यन्ताः पदार्थास्तु मूलत्वेन प्रोक्ताः। एवं सति यथा लोकेऽङ्कुररूपलिङ्गेन मूलमनुमीयते तथा देहादिलिङ्गैः तत्तत्कारणम् अन्विच्छन् सद् वस्तु निर्मूलं कारणपरम्परापर्यवसानभूमिभूतं जानीहि इत्यर्थः। ।३१०।। एवं विश्वोपादानत्वेन सर्वान्तरत्वं सतः सिद्धमिति दर्शयति—सर्वेषामिति। सर्वेषाम् उत्पत्तिहेतुत्वेन मूलमिति, स्थितिहेतुत्वेन आयतनमिति, लयहेतुत्वेन तत्प्रतिष्ठेति च सद्वस्तु श्रुतावुक्तम्। कीदृशम्? स्वयं तैः मूलादिभिः वर्जितमित्यर्थः। ।३११।। उक्तनामभ्यां क्षुत्पिपासोपलक्षितस्य स्वप्नादिकालिकसंसारस्य भोक्तृत्वप्रदर्शनद्वाराऽपि सर्वान्तरत्वं द्योतितमिति दर्शयति— एवं जागरण इति। स्पष्टम्। ।३१२।।

अथ मरणावस्थायाम् इन्द्रियवर्गाधिष्ठानत्वेन आन्तरत्वसूचनपूर्वकं[1] महावाक्यप्रथमपर्यायस्याऽर्थमाह—स्वप्न इति त्रयोदशभिः। पूर्वोक्तावस्थात्रयचारी जीवो नानाशरीराणि गृहीत्वा गृहीत्वा त्यजति। ।३१३।। कथं त्यजति?

मनीषियों का कहना है कि सबसे पहले समझ लेना चाहिये कि स्थूल शरीर कार्य है, फिर जानना चाहिये कि शरीर का कारण जो अन्न वह भी कार्य है, फिर समझना चाहिये कि अन्न का कारण जो भूमि वह भी कार्य है, तदनंतर भूमिकारण जल को कार्य समझकर जलहेतु तेज को भी कार्य जानना चाहिये। तेज का मूल तो सत् ही है। वह सत् नित्य एकरस अद्वितीय है, किसी का कार्य नहीं है। तेज जल का कारण है, जल भूमि का और भूमि अन्न का कारण है। जल व तेज द्वारा उपयोगी रूपों में बदल कर अन्न ही उस देह का कारण है जो सारे क्लेश करता है। ।३०८-९।।

देहादि कार्य अंकुर-स्थानीय हैं अतः श्रुति ने इन्हें 'शुंग' (अंकुर) कहा है और अन्न आदि कारण 'मूल' हैं। लोक में अंकुर से मूल का अनुमान हो जाता है, इसी तरह देहादि को चिह्न बनाकर इनके कारणों का अन्वेषण करते हुए सद्वस्तु तक पहुँचना चाहिये जहाँ जाकर कारणपरम्परा समाप्त हो जाती है। ।३१०।। वह सत् ही सभी भूत-भौतिक वस्तुओं की उत्पत्ति-स्थिति-नाश का कारण है व खुद उत्पत्त्यादि से रहित है। ।३११।। इस प्रकार स्पष्ट हुआ कि जाग्रत्-स्वप्नमें हमेशा भूख-प्यास से आतुर है प्राण-उपाधि वाला जीव और वही प्रतिपल दुःख पा रहा है। (अर्थात् अशनाया-उदन्या नामों से आत्मा सर्वान्तर है यह द्योतित है क्योंकि भूख-प्यास से उपलक्षित जो जाग्रत्-स्वप्न का संसार इसका भोक्ता आत्मा है यह इन नामों से पता चलता है। आत्मा का नाम रखा अशनाया आदि। साक्षात् तो वह अशन-नायक आदि है नहीं, प्राणादि ही ये कार्य करते हैं। प्राणादि भी ये कार्य तभी करते हैं जब आत्मा का उनमें अध्यास है क्योंकि जड स्वतः चेष्टा करता नहीं। अतः इन नामों से कहने पर आत्मा अध्यास द्वारा संसार का उपभोग कर रहा है यह बात सूचित हो जाती है।)। ।३१२।।

---

१. 'यथा नु खलु सोम्येमास्तिस्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति तदुक्तं पुरस्तादेव भवत्यस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ् मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम्। ।६।। स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत् सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो ! इति भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच। ।७।।' अष्टमः खण्डः।।

मुमूर्षोरस्य जीवस्य बहुशोऽप्यनुतप्यतः। भूमावत्र शयानस्य कठिनायां सुदुःखितम्। ।३१४

बान्धवैः परिवीतस्य हिक्काश्वासाकुलस्य च। प्रसारितोर्ध्वनेत्रस्य लालालीढाननस्य च। ।३१५

इन्द्रियैर्नवभिः सार्द्धं वाग्वृत्तिर्मनसि व्रजेत्। मनोवृत्तिस्ततो याति प्राणवृत्तौ क्रियात्मनि। ।३१६

साऽपि तेजसि जीवाख्ये सूक्ष्मेऽस्मिन् भूतपञ्चके। आनन्दात्मनि तद्याति जीवरूपं सभूतकम्।
संस्कारशेषं संस्कारैर्बद्धस्याऽत्र शरीरिणः। ।३१७

सुषुप्तौ च मृतौ यत्तु जीवस्य लयकारणम्। यदात्मकश्च जीवोऽयं यच्च सत् कारणं स्मृतम्। ।३१८

स एष श्वेतकेतो ! त आत्मा सोम्य ! मयेरितः। सूक्ष्मात् सूक्ष्मतमो नित्यं महीयान् महतोऽपि च। ।३१९

इत्यपेक्षायामाह—मुमूर्षोरिति। मुमूर्षोः सन्निहितमरणस्य अनुतप्यतः स्वदुष्कृतस्मरणेन पश्चात्तापं कुर्वतः भूमिपाताद्युपलक्षितस्य च जन्तोः इतरेन्द्रियैः सहितस्य वागिन्द्रियस्य वृत्तिः कार्यक्षमत्वं मनसि लीयते व्यापरे[1] सत्यपि वाग्व्यापारः शाम्यतीति यावत्। एवं मनसो वृत्तिः प्राणव्यापारे तिष्ठन्त्येव शाम्यति। इति त्रयाणामर्थः। ।३१४-६।। साऽपीति। सा प्राणवृत्तिः अपि तेजःपदलक्षिते सूक्ष्मभूतपञ्चकवेष्टिते जीवे व्रजति तत्परतन्त्रतया तिष्ठति इति यावत्। तज्जीवरूपम् अपि सह भूतैः सुषुप्तिवत् संस्कारशेषं मायोपाधौ सति आनन्दरूपे याति लीयत इत्यर्थः।। अत्र वागादि-पदानां वृत्त्याद्यर्थेषु लक्षणाया मूलभूता उपपत्तयस्तु शारीरकचतुर्थतृतीयपादे द्रष्टव्याः। संस्कारैरित्यादि उत्तरान्वयि। ।३१७।।

अतीतग्रन्थे शोधितं पदार्थद्वयं स्मारयन् महावाक्यार्थं विशदयति—सुषुप्तावित्यादिना। शरीरिणः शरीरत्रयाऽभिमानवतः सुप्तिमृतिकालयोः संस्कारमात्रात्मबन्धशालिनश्च जीवस्य यद् लयकारणं लयस्थानम् अयं जीवो यदात्मको यद्रूपः, यद् एव जीवरूपेणोपाधिष्वनुप्रविष्टमिति यावत्; यच्च सद्रूपेण तेजःप्रभृतेर्जगतः कारणम् उक्तम्; एतत् सद् एव हे श्वेतकेतो ! तव आत्मा मया उच्यते यः सूक्ष्मात् सूक्ष्मो, महतो महत्त्वेन प्रसिद्धाद् अपि कालादेः महान्। इति द्वयोरर्थः। ।३१८-९।। तस्य महत्त्वे हेतुमाह—ऐतदात्म्यमिति। भूमशब्दवद् भवितृप्रधानो

स्वप्न, जागरण व सुषुप्ति में संचरण करने वाला एक ही आत्मा है जो नाना शरीर ग्रहण कर-करके छोड़ता जाता है क्योंकि 'मैं कर्त्ता-भोक्ता हूँ' इस मोह में पड़ा है। ।३१३।। यह जीव जब मरणासन्न होता है तब किये कुकर्म याद कर बहुत पछताता है। यह कठोर ज़मीन पर लेटकर बहुत दुःखी होता है। बंधुजन उसे घेरे रहते हैं और उसकी हिचकी बँध जाती है। साँस भी पूरा न आने से वह अति व्याकुल हो जाता है। उसकी आँखें ऊपर की ओर फैल जाती हैं और मुँह पर लार बहने लगती है। उस समय बाकी नौ इन्द्रियों समेत वाक् की कार्य-क्षमता मन में लीन हो जाती है अर्थात् मन तो चलता है पर इंद्रियाँ कुछ काम नहीं करती। शीघ्र ही मन की कार्यक्षमता भी क्रियात्मक प्राणवृत्ति में लीन हो जाती है अर्थात् प्राण तो चलता है पर मन काम नहीं करता। ।३१४-६।।

अंत में प्राणवृत्ति भी जीव नामक तेज में लीन हो जाती है। प्राण नहीं चलता पर शरीर गर्म रहता है। जीव को तेज इसलिये कहा कि तेज से लक्षित पाँचों सूक्ष्म भूतों से घिरा हुआ ही जीव शरीर छोड़कर जाता है। इस अवस्था में प्राण कोई चेष्टा नहीं करता पर रहता जीव के परतंत्र ही है, उसके साथ ही निकलकर जाता है। भूतों समेत वह जीवरूप आनंदात्मा में लीन होता है किंतु वैसे ही जैसे सुषुप्ति में अर्थात् मायोपाधि सद्रूप आनंदात्मा में जीवरूप के संस्कार बने रहते हैं अत एव शरीरांतर में जीव व्यक्त हो जाता है। ।३१७।।

शरीरत्रय में अभिमान रखने वाला जीव संसारदशा में संस्कारों सें बँधा रहता है। सुषुप्ति में व मृत्यु होने

१. मनस इति शेषः।

ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तेजोऽबन्नात्मकं जगत्। रज्जुरूपं यथा सर्वं सर्पधारादि रज्जुगम्।।३२०

एतदेवात्मरूपं त्वमसि देहादिकं च न। बुद्धिसाक्षितया यत्तु नित्यं तत्र प्रतीयते।।३२१

आनन्दात्मस्वयंज्योतिर्जडवर्गस्य भासकम्। न कर्ता नाऽपि भोक्ता त्वं न प्रमाता न कर्हिचित्।।३२२

आदेशोऽयं मया प्रोक्त उपदेशः प्रियाय ते। यादृशो हि भवान् स्तब्धस्तादृग्गर्वाधिकाय हि।।३२३

अमुना श्रुतमात्रेण हेतुनाऽपि मतेन वा। विज्ञातेनात्मरूपेण सर्वभूतात्मना सदा।।३२४

श्रुतं मतं च विज्ञातं सर्वमेतद्भवेदिह। अश्रुतं वाऽमतं तद्वदविज्ञातं च पुत्रक।।३२५

निर्देशः, स्वार्थिकः ष्यञ् वा। तथा च सर्वं जगद् एतदात्मकम् एतत् सद्वस्तु आत्मा पारमार्थिकं रूपं यस्य तत्तथा, यथा रज्जुगं सर्पधारादि रज्जुरूपं रज्जौ कल्पितानि सर्पधारादण्डभूविवराणि रज्जुमात्रात्मकानि इत्यर्थः।।३२०।। एवमुपाधीनामधिष्ठानदृष्ट्या बाधे सति परिशिष्टस्य त्वत्स्वरूपस्य सच्चिदानन्दलक्षणस्य तेनैक्यं सिद्धमेवेत्याह—एतदेवेति। एतद् विश्वाधिष्ठानभूतम् आत्मतत्त्वम् एव त्वं भवसि यत् साक्षितया चिद्रूपम्, अद्वयत्वेन आनन्दरूपम्, तदतिरिक्तस्य जडत्वेन चैतन्याऽभावेऽपि तद्भानप्रयोजकत्वात् स्वयंज्योतिश्च भवति। एवं सत्यौपाधिकाः कर्तृत्वादयो धर्मास्त्वयि न सन्तीति द्वयोरर्थः।।३२१-२।।

एष हितोपदेशोऽपि गर्वहरत्वाद् आदेशपदेन राजादिशासनवाचकेन उक्त इत्याह—आदेश इति। तुभ्यं प्रियाय उपदेशभूतोऽपि अयं वाक्यप्रबन्धो गर्वाधिकाय गर्वेण अधिकमानिने तं शमयितुम् आदेशः शासनरूपः यतो यादृशो भवांस्तादृशः स्तब्धत्वाद् उद्धटत्वाद् इत्यर्थः।।३२३।। उक्तविधात्मज्ञानमेव सार्वज्ञ्यफलकमुपन्यस्तमित्याह—अमुनेति। अमुना वर्णितेन आत्मरूपेण श्रवणमनननिदिध्यासनानां गोचरतां नीतेन अश्रुतादिरूपमपि सर्वं श्रुतादिरूपं भवेत्। इति द्वयोः सम्बन्धः। तत्र हेतुपदस्य उपपत्तिवाचकस्य मतपदेन सम्बन्धः। पुत्रकेति अनुकम्पायां कन्।।३२४-५।।

पर उस जीव के विलय का जो आधार है, इस जीव का जो स्वरूप है अर्थात् जो उपाधि में घुसकर जीव बना है, जो तेजआदि संसार का कारण है, हे सोम्य श्वेतकेतु ! वह सत् ही तेरा आत्मा है, वही अत्यन्त सूक्ष्म और अत्यंत महान् है।।३१८-६।। तेज-जल-पृथ्वीरूप इस जगत् का आत्मा अर्थात् परमार्थ स्वरूप यह सत् ही है जैसे अपने पर अध्यस्त सर्प, जलधारा आदि का आत्मा रस्सी ही होती है।।३२०।। तू भी यह सर्वाधिष्ठान आत्मतत्त्व ही है, देहादि तू नहीं है। जो आनंदात्मा स्वप्रकाश बुद्धि के साक्षिरूप से बुद्धि में प्रतीत होता है, वह सारे जडों का भासक तू है, कर्ता भोक्ता प्रमाता आदि तू कभी नहीं है।।३२१-२।।

तू मुझे प्रिय है अतः तुझे यह रहस्य समझा रहा हूँ। हालाँकि यह उपदेश है फिर भी तेरे लिये आदेश का काम कर रहा है; स्वयं को बड़ा मानकर उद्दण्ड बनने वाले तुझ जैसे का अभिमान शान्त करने के लिये यह पर्याप्त है। (राजा का आदेश उद्दण्ड को नियंत्रित करने में सक्षम होता है। ऐसे ही 'एकविज्ञान से सर्वविज्ञान' का रहस्य उन सबको हतप्रभ कर देता है जो वैषयिक ज्ञानों से ही बहुज्ञता बटोरते रहे हैं। जिसे समझना प्रधान हो मानना स्वेच्छा पर निर्भर करे वह उपदेश होता है जबकि जिसे मानना प्रधान हो समझना नहीं वह आदेश होता है। 'तत्त्वमसि' है उपदेश पर क्योंकि अत्यंत सत्य होने से अधिकारी इसे माने बिना रह नहीं सकता इसलिये यह आदेश भी है।)।।३२३।। इस आत्मस्वरूप का केवल श्रवण करने से, श्रुत वस्तु का उपपत्तियों से मनन करने से तथा 'सब भूतों का आत्मा मैं हूँ' यों हमेशा के लिये अनुभव कर लेने से वह सारा ही विषयजात सुना-सोचा-समझा हो जाता है जो अब तक न सुना है, न सोचा है, न समझा है।।३२४-५।।

प्रश्नोत्तराष्टकम्

एवमुक्तः पुनः प्राह पितरं तनयस्ततः। सन्दिग्धहृदयः सोऽपि पुत्रमाह विनिर्णयम्।।३२६
इत्थमष्टौ चकारासौ प्रश्नांस्तावन्ति चाऽवदत्। उत्तराणि स इत्याद्यन्तान्यस्याऽनवबोधने।।३२७
संशये कारणान्यष्टौ श्वेतकेतोरिमानि हि। अभूवन् क्रमतस्तस्य पिता यानि निराकरोत्।।३२८
सुप्तौ मृतौ च जीवानां सति चेद् गमनं भवेत्। तस्याऽज्ञानेऽत्र को नाम दृष्टान्तस्तं वदाऽधुना।।३२९
अथागतानां तत्प्राप्तौ करणानां च संक्षयात्। स्थितायामपि मायायामनुभूतिः कुतो न हि।
दृष्टान्तस्तत एवाऽत्र वर्णनीयः परोऽपि हि।।३३०

इत्थं शास्त्रार्थे समाप्तेऽपि तदनवधारणप्रयोजकानां संशयानां परिहाराय द्वितीयादिपर्यायाणां प्रवृत्तिरिति दर्शयन् 'भूय' इत्यादिवाक्यस्य तत्राष्टश उपात्तस्यार्थमाह—एवमुक्त इति। एवमुक्त उपदिष्टः श्वेतकेतुः पितरं प्रति पुनः प्राह पप्रच्छ। स पिताऽपि पुत्रं प्रति निर्णयजनकमुत्तरजातं प्राहेति।।३२६।। इत्थमिति। इत्थं 'भूयो बोधयतु भवान्' इत्येवंविधवाक्योपन्यासेन असौ श्वेतकेतुः अष्टौ प्रश्नान् अकरोत्। स पिताऽपि अस्य सुतस्य अनवबोधने अबोधे प्रश्नलिङ्गेन ज्ञाते सति तावन्ति अष्टावेव उत्तराणि अवदत्। कीदृशानि उत्तराणि ? इत्याद्यन्तानि 'इति' शब्द आदावन्ते च येषां तानि तथा। सोम्यशब्दपूर्वकम् इतिशब्दमुपक्रम्य तादृशेतिशब्दपर्यन्तं ग्रन्थैरुक्तानीति यावत्। 'स य एषोऽणिमा' इत्यादिभागास्तु 'अपवादापवाद उत्सर्गस्थितिः' इति न्यायेन शङ्कापगमेन पूर्वोक्तसिद्धान्तः तथैव स्थित इत्येतावदेव बोधयन्तीति भावः।।३२७।।

ननु प्रथमपर्याये श्वेतकेतोरबोध एव कथं स्थित इति चेत् ? संशयप्रयोजकतर्कलक्षणप्रतिबन्धाद् इति दर्शयन्नाह—संशय इति। हि यस्मात् तस्य श्वेतकेतोः संशयस्य कारणानि कुतर्करूपाणि इमानि वक्ष्यमाणानि अभूवन् यानि पिता क्रमशो द्वितीयादिपर्यायैः क्रमेण निराकरोत् परिहृतवान् इत्यर्थः।।३२८।।

तत्र द्वितीयपर्यायेण निवर्त्यं तर्कमाह—सुप्ताविति। यदि सुप्तौ मृतौ वा जीवानां सति गमनं भवेत् तदा तत् प्राप्तं जानीयुः, अतः तस्य सतः अज्ञानेऽत्र प्रसिद्धेऽसम्भावनावारको यो दृष्टान्तः स वक्तव्य इत्यर्थः।।३२९।। तृतीयपर्यायनिरस्यं तमाह—अथागतानामिति। सुप्तिकाले करणानां ज्ञानसाधनानां संक्षयवशाद् मायायाम् अविद्यायां स्थितायां क्षेमभागिन्याम् अपि सत्यां यथा गृहादागतस्य 'गृहादागतोऽस्मि' इत्यनुसन्धानं भवति तथा सत आगतानां जीवानाम् अनुभूतिः 'सत आगतोऽस्मी' त्याकारिका कुतो न हि भवेद् ? इति आशङ्कापरिहारायाऽपि दृष्टान्तो वक्तव्यः इत्यर्थः।।३३०।। चतुर्थपर्यायनिरस्यं तमाह—सुषुप्ताविति द्वाभ्याम्। यदि नदीनिदर्शनाद् नदीनां समुद्र इव सुप्तौ

अज्ञात सत्य का ज्ञापन शास्त्र का प्रयोजन है जो उक्त उपदेश से सिद्ध हो गया पर शिष्य को इस तत्त्व का निश्चय नहीं हो पाता क्योंकि बहुत-से संशय रहते हैं। श्रुति ने यही स्फुट करने के लिये श्वेतकेतु के मुख से आठ बार और पुछवाया है और आरुणि के मुख से अलग-अलग ढंग से उत्तर दिलाकर पूर्वोक्त उपदेश का ही समर्थन कराया है। अतः कुल नौ बार इस प्रसंग में महावाक्य की आवृत्ति हुई है। नौ की संख्या में तात्पर्य नहीं, जब तक समझ न आये तब तक आवृत्ति करते रहना चाहिये यह इस प्रसंग का भाव है।

आरुणि ने जब प्रथम बार महावाक्य सुनाया तब श्वेतकेतु का हृदय संदेहशून्य नहीं हो पाया अतः उसने आठ बार फिर-फिर प्रश्न किये और प्रश्न से यह समझकर कि अभी इसका अज्ञान मिटा नहीं आरुणि ने आठों बार उसके प्रश्नों का उत्तर दिया। उनके उत्तर 'इति'-शब्द से आरंभ और समाप्त होते थे। हर प्रश्न का उत्तर देकर मूल उपदेश वे दुहरा देते थे क्योंकि न्याय है कि शंका का समाधान हो जाने पर मूल प्रतिज्ञा यथावत् रह जाती है।।३२६-७।।

श्वेतकेतु को अखण्डार्थ के बारे में संशय इस लिये हुए कि उसके मन में वक्ष्यमाण कुतर्क उठ रहे थे जिनका क्रमशः निराकरण उसके पिता ने किया।।३२८।।

सुषुप्तौ ब्रह्मसम्प्राप्तौ जीवनाशो भविष्यति। नदीनिदर्शनात् स्पष्टो मरणे च कथं ततः।।
ब्रह्मप्राप्तिर्भवेत् तस्य तत्र दृष्टान्तमीरय।।३३१
नदीनां न विलीनानां समुद्रे पुनरुद्भवः। नदीनिदर्शनात्तेन मनो मोमुह्यते मम।।३३२
अतिसूक्ष्मोऽयमात्मा स्यात् कथं स्थूलसमाश्रयः। अत्राऽपि कश्चिद् दृष्टान्तमनुकूलं पितर्वद।।३३३
आस्तिक्याद् बुद्ध्यते स्वात्मा तच्च कुत्राऽपि दर्शनात्। अत्यन्तानुपलब्धेऽर्थे न हि शब्दोऽस्ति
कस्यचित्। अतोऽत्राऽपि च दृष्टान्तः पितर्वाच्यस्त्वया मम।।३३४
लक्षणं हीन्द्रियैर्ग्राह्यं गृह्येताऽपीन्द्रियान्तरात्। अगृहीतोऽपीन्द्रियैर्य आत्मा केनाऽत्र गृह्यते।।
अग्राह्य इन्द्रियैः सर्वैस्तत्र दृष्टान्तमीरय।।३३५
विदुषो मरणे सर्वं तिष्ठेच्चेदिन्द्रियादिकम्। पुनस्तस्य कुतो न स्यादुत्पत्तिर्बहुजन्तुवत्।।
उपपत्तिं ततो मह्यं पितस्त्वं वर्णयाऽत्र भोः।।३३६

मरणे च जीवानां सति लयः तर्हि तेषां नाशः स्पष्टो दृष्टान्तेन स्फुटी कृतः स्यात् तथा च ब्रह्मप्राप्तिः कस्य स्याद् इत्येतच्छङ्कापनुत्त्यै अपि दृष्टान्तो वक्तव्यः यतो लीनानां नदीनां पुनरुद्भवो न् दृष्टः सन् मे मनो व्यामोहं नयतीति द्वयोरर्थः।।३३१-२।। पञ्चमपर्यायनिरस्यं तमाह—अतिसूक्ष्म इति। अयमात्माऽतिसूक्ष्मोऽपि स्थूलस्य प्रपञ्चस्य आधारः कथं स्याद् इति अत्राऽपि कश्चिद् दृष्टान्तो निरूप्य इत्यर्थः।।३३३।। षष्ठव्यावर्त्यं तमाह—आस्तिक्यादिति। भवता पञ्चमपर्यायान्त एतदुक्तम्—श्रद्धयाऽयमात्मा लभ्य इति। तत्र श्रद्धैव दृष्टानुसारिणी कथं स्याद् यतोऽत्यन्तम् अनुपलब्धेऽननुभूतचरेऽर्थे शब्दः अपि न प्रवेष्टुं प्रभवति इति अतोऽत्रापि सम्भावनायै दृष्टान्तो वक्तव्य इत्यर्थः।।३३४।।

सप्तमनिरस्यं तमाह—लक्षणमिति। लक्षणं वस्तुनः स्वरूपं यद् इन्द्रियैः ग्राह्यं ग्रहणयोग्यं भवति तदेव इन्द्रियान्तरेण अपि गृह्यते, यथा चक्षुरादिभिः अगृहीतोऽपि रसो रसनया। आत्मा तु इन्द्रियैरगृहीतः तैरग्राह्यत्वात्, प्रत्यक्त्वेन तदयोग्यत्वात्, तथाऽपि स केन उपायेन गृह्यते ? इत्यत्र दृष्टान्तो वाच्य इत्यर्थः।।३३५।। अष्टमेन परिहार्यं तमाह—विदुष इति। यदि बहूनामज्ञानां जीवानां यथेन्द्रियादिकं मरणकाले सूक्ष्मरूपेण तिष्ठति तथा विदुषोऽपि तिष्ठेच्चेत् तदा तस्य पुनः जन्म कुतो न भवेद् ? अत्र अपि उपपत्तिर्दृष्टान्तो वाच्य इत्यर्थः।।३३६।।

उसके प्रश्न थे —१) सुषुप्ति में व मृत्यु होने पर जीव यदि सत् में पहुँचते हैं तो स्वयं को वहाँ पहुँचा समझते क्यों नहीं ? सभी को यह अज्ञान रहता है ही, कोई नहीं जानता कि वह सुप्ति आदि में सत्संपन्न था। किस उदाहरण से समझा जाये कि यह अज्ञान संभव है ?।।३२९।। २) मान भी लें कि तब जीव सत् को पा जाता है और इंद्रियाँ विलीन होने पर भी माया बची रहती है, किंतु जैसे घर से आये को पता रहता है कि 'मैं घर से आया हूँ' ऐसे सत् से आये हुए जीवों को जाग्रत् में यह अनुभूति क्यों नहीं होती कि 'हम सत् से आये हैं' ? इसमें क्या उदाहरण है ?।।३३०।। ३) जैसे नदियाँ समुद्र में लीन होती हैं वैसे यदि जीवों का सुषुप्ति में व मरणदशा में विलय सत् में होता है तब उसी दृष्टांत से स्पष्ट है कि जीवों का नाश हो गया, अतः ब्रह्मप्राप्ति होती किसे है ? इसमें क्या उदाहरण है कि जैसे समुद्र में विलीन नदियाँ पुनः प्रकट नहीं होतीं अतः नष्ट समझी जाती हैं वैसे जीव नष्ट भी हो जाये और ब्रह्म को प्राप्त कर गया यह भी समझा जाये ? क्योंकि नदीदृष्टांत नदीनाश की तरह जीवनाश संभावित करता है इसलिये मेरा मन इस बारे में काफी मोहग्रस्त है।।३३१-२।। ४) यह आत्मा अत्यन्त सूक्ष्म है अतः यह स्थूल प्रपंच का आधार कैसे हो सकता है ? हे पितः ! इसमें भी कोई दृष्टांत दीजिये।।३३३।। ५) यह बात तय है कि आत्मा श्रद्धा से समझ आता है। लेकिन श्रद्धा तभी होती है जब कहीं अनुभव होवे। अखण्ड वस्तु तो सर्वथा अज्ञात है, उसे कोई शब्द भी विषय नहीं करता। अतः उस पर श्रद्धा कैसे की जाये ? इसमें भी कोई उपयुक्त दृष्टान्त बतायें।।३३४।।

सर्वात्मनाऽत्र वागादि विदुषां लीयते यदि। संसारवर्णनेन त्वं दृष्टान्तं वर्णयाऽत्र भो।।३३७

एवमेव च सन्देहाः श्वेतकेतुसमीरिताः। क्रमशस्तान् पिता सर्वान् एवमेव निराकरोत्।।३३८

मधुदृष्टान्तः

नानावृक्षसमुद्भूतं यथा मधुकरा मधु। मध्वपूपे नयन्त्यैक्यं नानावृक्षसमुद्भवाः।।३३९

न जानन्ति रसास्तत्र स्वात्मानं मधुनि स्थिताः। अहमेतस्य वृक्षस्य नाऽहमेतस्य चेति ते।।३४०

नवमपर्यायपरिहार्यं तर्कमाह—सर्वात्मनेति। यदि विदुषां वागादिकं सर्वात्मना निरवशेषं लीयते तदाऽविदुषामपि तथा किं न स्याद् ? इति शङ्कावारणाय अविदुषां यथा संसार उपपादितः स्यात् तादृशवर्णनेन सहितं दृष्टान्तं ब्रूहीत्यर्थः।।३३७।।

एवंविधा अष्टौ सन्देहजनकास्तर्काः पित्रा द्वितीयादिपर्यायैः क्रमेण निराक्रियन्त इत्याह—एवमेवेति।।३३८।। तत्र द्वितीयपर्यायगतस्य उत्तरभागस्य[1] अर्थमाह—नानेति पञ्चभिः। यथा मधुकरा मध्वपूपे मधुनः अपूपाकारे आयतने मधुकरा नानावृक्षसमुद्भूतं मधु पुष्परसजातम् ऐक्यं नयन्ति मधुत्वेन परिणतं कुर्वन्ति। ते च मधुनि स्थिता मधुभावं गता नानावृक्षजा रसा इति इत्थं स्वात्मानं न जानन्ति। 'इत्थं' कथम् ? अहमेतस्य आम्रस्य रसोऽस्मि, न जम्बीरस्य इति। इति द्वयोः सम्बन्धः।।३३९-४०।। तथा दार्ष्टान्तिके योजयति—यथेति। प्रथमपदं पूर्वान्वयि

६) वस्तुओं का जो स्वरूप इंद्रियों से ग्रहण किया जा सकता है वह एक इंद्रिय से नहीं तो दूसरी से ग्रहण कर लिया जायेगा जैसे स्वाद आँख से नहीं तो जीभ से चख लिया जाता है। आत्मा तो किसी इंद्रिय से ग्रहण किया नहीं जा सकता तो उसके ग्रहण का उपाय क्या ? सब इंद्रियों से अग्राह्य का ग्रहण हो सकता है इसमें क्या दृष्टान्त है ?।।३३५।।७) बहुतेरे सारे जीवों के मरने पर उनके इंद्रियादि जैसे सूक्ष्मरूप से रहते हैं वैसे ब्रह्मवेत्ता के भी इंद्रियादि अगर सूक्ष्मरूप से बचे रहते हैं तो अज्ञानियों की तरह विद्वान् का भी पुनर्जन्म क्यों नहीं हो जाता ? इसके लिये उपयुक्त दृष्टान्त भी दें।।३३६।।८) यदि ब्रह्मज्ञ के वाक् आदि ऐसे लीन होते हैं कि उनका संस्कार भी नहीं बचता तो अज्ञानियों की इंद्रियाँ भी उसी तरह क्यों नहीं लीन होती ? अज्ञानियों का संसरण संगत हो इसके लिये सटीक उदाहरण दीजिये।।'३३७।।

ये आठ संदेह श्वेतकेतु ने रखे जिन सभी को क्रमशः आरुणि ने मिटाया।।३३८।।

पिता ने ये उत्तर दिये : १) विभिन्न वृक्षों के पुष्पों के रसों को मधुमक्खियाँ छत्ते में एकत्र कर शहद रूप में परिणत कर देती हैं। शहद बने वे पुष्परस स्वयं के बारे में यह नहीं जानते कि 'मैं अमुक का—आम का—रस हूँ, मैं अमुक का—जंबीरे का—रस हूँ'। इसी प्रकार नाना जाति वाले जीव सुषुप्ति के समय सत्तत्त्व को प्राप्त होकर उससे एक हो जाने पर भी स्वयं के बारे में यह नहीं जानते कि 'मैं शेर आदि था और अब सत् में विलीन हुआ हूँ'। (दृष्टांत से इतना फर्क है कि पुष्परस जड होने से नहीं जानते जबकि जीव चेतन होने पर भी अविद्या के आवरण के वशीभूत होने से नहीं जानते। यह भी अंतर है कि 'रस नहीं जानते' का अभिप्राय है कि शहद रूप में उन्हें देखने-चखने वाला नहीं समझ सकता कि कौन-सा अंश किस पेड़ के फूल का है जबकि दृष्टांत में जो विलीन हुए हैं वे पुरुष स्वयं ही अज्ञानावृत होने से नहीं जानते।)।।३३९-४१।। तमास बाघ आदि, राजस राजा आदि और सत्त्विक आत्मज्ञ विप्र

१. 'यथा सोम्य मधु मधुकृतो निस्तिष्ठन्ति नानात्ययानां वृक्षाणां रसान् समवहारमेकतां रसं गमयन्ति।।१।। ते यथा तत्र न विवेकं लभन्तेऽमुष्याऽहं वृक्षस्य रसोऽस्म्यमुष्याऽहं वृक्षस्य रसोऽस्मीत्येवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सति सम्पद्य न विदुः सति सम्पद्यामह इति।।२।। त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दंशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तदाभवन्ति।।३।। स एष...होवाच।।४।।' नवमः खण्डः।

यथा तथैव संसुप्तौ सति सम्पद्य ते विदुः। न जीवाः सर्व आत्मानं सता तादात्म्यमागताः।।३४१
तामसा राजसा तद्वत् सात्त्विका अपि जन्तवः। व्याघ्राद्याश्चाऽपि राजाद्या विप्राद्याश्चात्मवेदिनः।।३४२
यच्छरीराः समायान्ति तच्छरीराः पुनश्च ते। भवन्ति नापरे सर्वे सर्वदा संसृतिस्थिताः।।३४३

नदीदृष्टान्तः

सत्प्राप्याप्यागताः सर्वे न जानन्ति विमोहिताः। यथा नानाविधा नद्यः सागरं प्राप्य मेघतः।
आगता नैव जानन्ति सागराद् वयमागताः।।३४४
एवं जीवा इमे सर्वे सत आत्मन आगताः। इत्थं जानन्ति नैवैते सतो वयमिहागताः।।३४५

तथा सुप्तौ ते नानाजातीया जीवाः सति सत्तत्त्वे सम्पद्य प्राप्य तेनैक्यं गताः सन्त आत्मानं विशेषरूपेण न विदुः न जानन्ति इत्यर्थः।। अत्रेदं बोध्यम्—दृष्टान्ते जडत्वं स्वाभाविकं, दार्ष्टान्तिके तु आविद्यकावरणप्रयुक्तं तद् इति विशेषस्य; अथ वा दृष्टान्ते विवेकाऽभावो रसभिन्नप्रमातृनिष्ठोऽपि रसेष्वारोपितो, दार्ष्टान्तिके तु जीवेष्वज्ञाना-वृतेषु मुख्य इति विशेषस्य सत्त्वेऽपि तदनादरेण 'न विदुः' इति पदोक्तस्य अज्ञानस्य साधर्म्यमिति।।३४१।।

यदि तदा सर्वेऽपि एकतां गच्छेयुः तर्हि सुप्तोत्थितानां तज्जातीयशरीरप्राप्तिर्न स्याद् ? इति शङ्कां; मृद्भावगतमण्डूकानामिव संस्कारैः शिष्यमाणैर्व्यवस्थासम्भव इत्याशयेन परिहरति—तामसा इति द्वाभ्याम्। व्याघ्रादयस्तामसजातीयाः राजाद्या राजसजातीयाः, विप्राद्या विद्याप्रधानाः सात्त्विकजातीयाश्च जन्तवो यादृशयादृशशरीराः सुप्तौ सति समायान्ति तादृशं शरीरमेवोत्थाय प्राप्नुवन्ति यतः सर्वदाऽनादिकालतः संसारपातेन सूचितसंस्कारकाः। यदि ज्ञानकर्मसंस्कारा न स्युः तदा तत्तद्योनिवृत्तकौशलाऽसम्भवेन संसरणमेव न स्यात्। तथा च तैः संस्कारैरत्राऽपि व्यवस्था सुसम्पादेति भावः।।३४२-३।।

तृतीयपर्यायगतोत्तरं[1] व्याचष्टे—सत्प्राप्याऽपीति। सद् ब्रह्म प्राप्याऽपि तत आगताः सन्तो 'वयं सत आगताः' इति एवं ते जीवा न जानन्ति यथा नद्योऽब्धिं प्राप्य मेघद्वारा वृष्टिरूपेण आगता अपि 'वयं समुद्राद् आगताः' इत्येवं न जानन्ति तद्वदिति। तत्र हेतुः—विमोहिता इति। येन मूलाज्ञानेन सत्प्राप्तिदशायां भानप्रतिबन्धः कृतः तद् इदानीमपि न निवृत्तम् इति भावः।।३४४-५।।

आदि जंतु जैसे-जैसे शरीरधारी रहते हुए सुषुप्तिमें सत्तत्त्व को प्राप्त होते हैं, जगने पर ठीक वैसे ही शरीर को पुनः पा लेते हैं, अन्य किसी शरीर में जगते हों ऐसा नहीं। सत् को पाकर भी वे पुनः सशरीर इसीलिये हो जाते हैं कि अज्ञान हटने तक वे हमेशा संसरणशील हैं। (ज्ञान के व कर्म के संस्कार लिये हुए ही वे लीन होते हैं अतः उन क्षमताओं वाले ही जगते व पुनरुत्पन्न होते हैं।)।।३४२-३।।

२) सद् ब्रह्म को पाकर उससे हटकर जाग्रत् में आये सब जीव यह नहीं जानते कि 'हम सत् से आये हैं' जैसे नानाविध नदियाँ सागर को प्राप्त कर मेघ द्वारा वृष्टिरूप से आयी हुई यह नहीं जानतीं कि 'हम समुद्र से आयी हैं'। जीव उक्त तथ्य इसलिये नहीं जानते क्योंकि जब वे सत् को प्राप्त थे तब जिस मूल अज्ञान ने उसका भान नहीं होने दिया वह अज्ञान अभी भी हटा नहीं है। उसीसे विमुग्ध हुए सब प्राणी सत्प्राप्ति के प्रति बेखबर रहते हैं।।३४४-५।।

---

१. 'इमाः सोम्य नद्यः पुरस्तात्प्राच्यः स्यन्दन्ते पश्चात्प्रतीच्यः ताः समुद्रात्समुद्रमेवाऽपियन्ति समुद्र एव भवति, ता यथा तत्र न विदुरियमहमस्मीयमहमस्मीति।।१।। एवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सत आगम्य न विदुः सत आगच्छामह इति। त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दंशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति...।।२।।...होवाच।।३।।' दशमः खण्डः।।

आगताः पुनरेवैते त एव स्युर्न तेऽपरे। अन्यथा देहसम्पातो भवेत् तेषां दिने दिने। ।३४६

वृक्षोदाहरणम्

यथा वृक्षस्य शाखानां त्यागात् तासां हि शोषणम्। न हि जीवेन रहिता शाखा काचिद्धि जीवति।
यां यां जहाति जीवोऽयं सा सा शुष्यति तत्क्षणात्। ।३४७

अन्यजीवस्य चेद् देहे प्रवेशः परिनिर्गमात्। भवेच्छाखा न संशोषं कदाचन समाव्रजेत्। ।३४८

एवं देहस्य कस्याऽपि विनाशो न भविष्यति। दृश्यते न यतस्तेन सुप्ते नान्यः समाव्रजेत्। ।३४९

यथा सुप्ते तथैवाऽयं मरणादौ च नाऽपरः। स एव च ततो जीवो ब्रह्म सम्प्राप्य निर्गुणम्।
पुनरुत्पद्यते तस्मात् कर्मपाशवशङ्गतः। ।३५०

अथ नदीनिदर्शनप्राप्तजीवनाशशङ्कावारकस्य चतुर्थपर्यायगतोत्तरस्य अर्थमाह—आगता इति पञ्चभिः। सत आगता जीवाः त एव भवन्ति ये सुप्ताः, अपरे भिन्नजातीया न भवन्ति अन्यथा तेषाम् एवानुत्थाने सुप्तौ सल्लयमात्रेण देहपातः स्याद् ! इत्यर्थः। ।३४६। । किञ्च जीवनाशो न केनचिद् दृष्टः किन्तु तत्परित्यक्तानामन्येषामेव इति दृष्टान्तेन[1] स्फुटयति—यथेति। यथा वृक्षस्य शाखानां मध्ये यस्या यस्या जीवकर्तृकस्त्यागस्तस्यास्तस्याः शोषणं दृष्टं, न जीवनाश इत्यर्थः। ।३४७। । सुप्तस्य मुक्तत्वेऽपि जीवान्तरप्रवेशेन तच्छरीरमुत्तिष्ठेद् इति शङ्कां वृक्षशाखादृष्टान्तेनैव परिहरति—अन्येति। चेद् यदि एकस्य जीवस्य निर्गमनानन्तरम् अन्यस्य जीवस्य प्रवेशो भवेत् तदा शाखा संशोषणं न व्रजेद् इति। ।३४८। । तथा जीवान्तरप्रवेशेन जीवनव्यवहारसन्तानात् कस्याऽपि देहस्य नाशो न व्यवह्रियेत, न चैवं दृश्यते, ततः स एव उत्तिष्ठति इति सिद्धमित्याह—एवमिति। सुप्ते—एकस्मिन् सुप्त्या मुक्ते सति। ।३४९। । य एव म्रियते स एव देहान्तरं गच्छति नान्य इत्येवं नित्यस्य जीवस्याधिकारिणः सत्त्वाद् न मोक्षशास्त्रवैयर्थ्यमित्याह—यथेति। स्पष्टम्। ।३५०। ।

३) जो जीव सुषुप्ति को प्राप्त करते हैं, वहाँ सत् से एक होते हैं, वे ही उस स्थिति से लौटते हैं, अन्य नहीं। यदि ऐसा न हो तो प्रतिदिन सोने पर जीवों का शरीर नष्ट (मृत) हो जाये ! (क्योंकि जीव जब शरीर छोड़ता है तब शरीर शव हो जाता है।)। ।३४६। ।

(जीव का नाश किसी ने नहीं देखा, वही जिसे छोड़ देता है उसका नाश देखा जाता है। यह सोदाहरण समझाते हैं—) जैसे शाखाओं में से जिस-जिस शाखा को जीव छोड़ देता है वे शाखाएँ ही सूख जाती हैं क्योंकि जीवरहित कोई शाखा जीवित नहीं रहती, तत्काल सूखने लगती है। ।३४७। । (कोई शंका करे कि सुषुप्त जीव मुक्त हो जाता होगा, अन्य जीव शरीर में घुस जाता होगा जिससे शरीर ज़िंदा बना रहता होगा ? इसका समाधान करते हैं—) यदि एक जीव के सर्वथा निर्गमन के बाद शरीर में जीवान्तर का प्रवेश हुआ करे तो कोई शाखा कभी सूखा न करे ! ऐसे ही उक्त प्रक्रिया हुआ करे तो किसी शरीर का नाश कभी न हो ! किन्तु यह अनुभवविरुद्ध है। अतः निश्चित है कि सोने पर जीव मुक्त हो जाये और अन्य जीव देह में प्रवेश कर जाये ऐसा नहीं होता। ।३४८-४६। । जैसे नियम है कि सोया जीव ही जगता है वैसे मरने, मूर्छित होने आदि पर भी वह जीव पुनः जन्मादि लेता है, अन्य जीव नहीं। अतः अज्ञदशा में निर्गुण ब्रह्म को पाकर भी कर्मरूप फ़ंदे के बस में हुआ जीव उस ब्रह्म से हट कर पुनः पैदा हो जाता है। ।३५०। ।

१. 'अस्य सोम्य महतो वृक्षस्य यो मूलेऽभ्याहन्याज्जीवन्स्रवेद् यो मध्येऽभ्याहन्याज्जीवन्स्रवेद् योऽग्रेऽभ्याहन्याज्जीवन् स्रवेत् स एष जीवेनात्मनाऽनुप्रभूतः पेपीयमानो मोदमानस्तिष्ठति। ।१। । अस्य यदेकां शाखां जीवो जहात्यथ सा शुष्यति, द्वितीयां जहात्यथ सा शुष्यति, तृतीयां जहात्यथ सा शुष्यति, सर्वं जहाति सर्वः शुष्यति, एवमेव खलु सोम्य विद्धीति होवाच। ।२। । जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियत इति। स य एषोऽणिमै...होवाच। ।३। ।' एकादशः खण्डः। ।

वटधानादृष्टान्तः

आनन्दात्मनि सुप्तेऽस्मिन्नवाङ्मनसगोचरे। यथा तिष्ठति विश्वं त्वं दृष्टान्तमवधारय। ।३५१
वटधानाऽतिसूक्ष्मेयम् आश्रयो महतो यथा। वटस्याऽप्यधुना भेदेनैष नाऽत्र प्रदृश्यते। ।३५२
तथाऽऽत्मा सूक्ष्मरूपोऽयं प्रपञ्चस्य समाश्रयः। प्रागुत्पत्तेर्यतस्तत्र सोऽस्ति शास्त्रदृशां यथा। ।३५३

लवणदृष्टान्तार्थः

उपायादवगम्योऽयं धीमता च स देहगः। जलस्थं लवणं यद्वद् गम्यते रसलाभतः। ।३५४
एवमात्मा प्रपञ्चेऽस्मिन् जडे सर्वत्र वर्तते। चैतन्यरूपसंलाभाज्ज्ञातव्यो ब्रह्मवेदिना। ।
श्रद्धावता सदैवाऽयं नास्तिकेन न कर्हिचित्। ।३५५

पञ्चमपर्यायगतं[1] सूक्ष्मे स्थूलस्थितिदृष्टान्तं वर्णयति—आनन्दात्मनीति। यथा सुप्तिप्रसिद्धे सति आनन्दरूपे सूक्ष्मे जगत् तिष्ठति तथा बोधकं दृष्टान्तं शृण्विति। ।३५१। । वटेति द्वाभ्याम्। यथा वटस्य धाना बीजं—तदवच्छिन्नं चैतन्यमिति यावत्—सूक्ष्ममपि महतो वटस्याश्रयो भवति, असतो जन्माऽसम्भवात्; परन्तु अधुना बीजदशायाम् एष वटः तत्र बीजे भेदेन न दृश्यत इत्यर्थः। ।३५२। । दार्ष्टान्तिके योजयति—तथेति। तथाऽयमात्मा तत्संस्कारशालिमायोपहितः सूक्ष्मोऽपि उत्पत्तेः पूर्वं प्रपञ्चस्य आधारो भवति इति युक्तं यतस्तत्र उत्पत्तिपूर्वकाले स आत्मा अस्ति इति शास्त्रदृशां 'सदेव सोम्येदमग्र आसीद्' इत्यादिशास्त्रचक्षुष्काणां यथा प्रसिद्ध इत्यर्थः। ।३५३। ।

षष्ठपर्यायगतं[2] दृष्टान्तं श्रद्धासमुत्थानाय प्राकृतोपायैः अलब्धोऽपि अर्थः उपायविशेषेण लभ्यत इत्यावेदकं वर्णयति—उपायादिति। स च लौकिकप्रमाणैरनाविष्कृतोऽपि अयं विश्वोपादानभूत आत्मा धीमता श्रद्धासंस्कृतमतिकेन देहगः सङ्घाते प्रत्यक्त्वेन वर्तमान उपलभ्यते यथा जलगतं लवणं चक्षुराद्युपायैरलब्धमपि रसनासंयोगरूपोपायेन लभ्यत इत्यर्थः। ।३५४। । अत्र रसनासंयोगस्थानीयं पदार्थशोधनमिति सूचयन् दार्ष्टान्तिके योजयति—एवमिति। एवं प्रपञ्चे वर्तमानोऽपि आत्मा तदीयस्य चैतन्याख्यस्वरूपस्य सम्यक् सत्यत्वादिविशेषैः परिचयाद् गुरुवेदान्तवाक्यविश्वासवतैव लभ्य इत्यर्थः। ।३५५। ।

४) मन-वाणी का अविषय लेकिन सुषुप्ति में सर्वानुभवसिद्ध इस आनन्दात्मा में विश्व का रहना जैसे समझ आये वैसा दृष्टांत सुनो :। ।३५१। । यह वटबीज अत्यंत सूक्ष्म है और बीज दशा में उससे पृथक् हुआ वृक्ष उस बीज में दीखता भी नहीं, लेकिन अतिस्थूल वटवृक्ष का यह बीज ही आश्रय है, इसी में सारा वृक्ष स्थित है। इसी प्रकार अत्यंत सूक्ष्म स्वरूप वाला यह आत्मा ही इस अनुभूयमान प्रपंच का आश्रय है क्योंकि शास्त्रोक्त दृष्टि से देखने वाले जानते हैं कि उत्पत्ति से पूर्व यह प्रपंच उस आत्मा में ही रहता है। प्रपंच के संस्कारों वाली माया से उपहित आत्मा ही वह बीज है जिससे संसारवृक्ष उगता है। ।३५२-३। ।

५) (साधारणतः उपलब्ध न होने वाली चीज़ें विशेष ढंग से उपलब्ध हो जाती हैं यह सदृष्टांत बताते हैं—) विश्व का उपादानरूप यह आत्मा लौकिक प्रमाणों से विषय नहीं किया जा सकता लेकिन श्रद्धादि सत्संस्कारों से युक्त

१. 'न्यग्रोधफलमत आहरेतीदं भगव इति, भिन्धीति, भिन्नं भगव इति, किमत्र पश्यसीति, अण्व्य इवेमा धाना भगव इति, आसामङ्गैकां भिन्धीति, भिन्ना भगव इति, किमत्र पश्यसीति, न किञ्चन भगव इति। ।१। । तं होवाच यं वै सोम्यैतमणिमानं न निभालयस एतस्य वै सोम्यैषोऽणिम्न एवं महान् न्यग्रोधस्तिष्ठति, श्रद्धत्स्व सोम्येति। ।२। । स य एषो...होवाच। ।३। ।' द्वादश खण्डः। ।

२. 'लवणमेतदुदकेऽवधायाथ मा प्रातरुपसीदथा इति। स ह तथा चकार। तं होवाच—यद् दोषा लवणमुदकेऽवाधा अङ्ग तदाहरेति। तद्धावमृश्य न विवेद। ।१। । यथा विलीनमेवाऽङ्ग ! अस्याऽन्तादाचामेति, कथमिति। लवणमिति। मध्यादाचामेति, कथमिति। लवणमिति। अन्तादाचामेति, कथमिति। लवणमिति। अभिप्रास्यैतदथ मोपसीदथा इति। तद्ध तथा चकार। तच्छश्वत् संवर्तते। तं होवाच—अत्र वाव किल सत् सोम्य न निभालयसेऽत्रैव किलेति। ।२। । स य...होवाच। ।३। ।' त्रयोदशः खण्डः। ।

आचार्यकृत्यम्

अपीन्द्रियैरलभ्यस्य लाभः स्याद्गुरुवाक्यतः। गान्धारस्य यथा पुंसः चोरैर्नीतस्य काननम्।।३५६
पिधानं नेत्रयोः कृत्वा गन्धारेप्साऽतिदुःखिनः। क्रोशतः स्वात्मवृत्तान्तम् अरण्यानीगतस्य हि।।३५७
कृपापरः पुमान् पान्थो वदेत् कश्चिद् विमुच्य तत्। पिधानं नेत्रयोरेतां दिशं याहि सुखं नर।
एतस्यां दिशि गन्धारदेशेभ्यश्च त्वमागतः।।३५८
स यथाऽत्र शनैस्तुष्ट उपदिष्टो व्रजेदमून्। देशान् गन्धारकानेवं विद्वानाचार्यवाक्यतः।।३५९
प्राप्नुयादात्मविज्ञानं मननाद्यैश्च संयुतः। कामक्रोधादिकांश्चोरान् नेत्रबन्धनकारिणः।।३६०
अवमत्य व्रजेदेतमानन्दात्मानमद्वयम्। परित्यज्य महच्चैतद् मायाख्यं नेत्रबन्धनम्।।३६१

प्रकृते स उपायः कः ? इति चेद्; आप्तोपदेश एवेति सूचयन्; उपायान्तरैः दुर्लभस्याऽपि उपदेशेन लाभे दृष्टान्तं सप्तमपर्यायगतं[1] व्याचष्टे—अपीन्द्रियैरिति सप्तभिः। इन्द्रियादिभिः परिचितोपायैः अलब्धस्याऽपि आत्मवस्तुनो गुरुवाक्यरूपाऽपूर्वोपायेन लाभः सम्भवति यथा कस्यचिद् गान्धारदेशीयस्य चोरैः नेत्रयोः पिधानं कृत्वा काननं नीतस्य गन्धारदेशविषयकया ईप्सया अतिशयेन दुःखितस्य स्वात्मवृत्तान्तं क्रोशत उच्चैर्वदतः अरण्यानीं महदरण्यं गतस्य प्राप्तस्य च तत् चोरकृतं नेत्रयोः पिधानं विमुच्य निरस्य कश्चिद् दयालुः इति वदेत्। 'इति' किम्? हे नर ! त्वम् एतां दिशं गच्छ यत एतस्यां दिशि वर्तमानेभ्यो गन्धारदेशेभ्य आगतोऽसि। इति त्रयाणामर्थः।।३५६-८।। स यथेति। स उक्तविधो गन्धारदेशीय एवम् आप्तेन उपदिष्टः तुष्टः तद्वाक्ये कृतविश्वासश्च सन्, अमून् स्वदेशान् गच्छेत्। एवम् आचार्यवाक्येन विद्वान् कुशल आत्मनः स्वदेशस्थानीयस्य विज्ञानं प्राप्नुयात् ततो मननाद्यैः संयुतत्वेन कामक्रोधादींश्चोरवत् संसाराऽरण्यपातहेतून् विज्ञाय प्रमादेन तद्वशं पुनः अगच्छन् माया मूलाऽविद्या तद्रूपं नेत्रस्य साक्षिस्वरूपस्य बन्धनं महद् अनादि कामादिचोरैर्दृढी कृतं गुरुरूपदयालुपान्थस्य वाक्यरूपहस्तोन्मोचितं परित्यज्य अद्वयत्वेन आनन्दरूपमात्मदेशं व्रजेत्। इति त्रयाणां सम्बन्धः।।३५९-६१।।

बुद्धि वाला इसे संघात में (शरीर में) प्रत्यक् रूप से वर्तमान समझ सकता है, आत्मबोध में उपाय ही श्रद्धापूर्वक शास्त्रार्थ समझना है। जल में घुला नमक आँख से नहीं दीखता, छुआ नहीं जा सकता, केवल चखा जाने से पता चलता है कि उसमें नमक है। जैसे सारे पानी में नमक घुलकर एकसार हो जाता है ऐसे इस जड प्रपंच में सभी जगह आत्मा मौजूद है। श्रद्धालु वेदज्ञ इसे अनुभव कर सकता है यदि आत्मा के चैतन्य स्वरूप को सत्य-आनंद-व्यापक समझ ले। नास्तिक, अश्रद्धालु इस परमार्थवस्तु को कभी नहीं जान सकता। (नमक को चखने की जगह आत्मा के साथ मिली उपाधियों को विवेक से अलग कर केवल आत्मा को सही-सही समझना है जिसके लिये गुरु-वेदान्तवाक्यों पर अत्यन्त विश्वास ज़रूरी है।)।३५४-५।।

६) इन्द्रियों से उपलब्ध न होने वाली चीज़ें भी गुरुवाक्य से उपलब्ध हो जाती हैं। उदाहरणार्थ मान लो गान्धार (कन्धार) देश के किसी व्यक्ति को आँखें बाँधकर चोर जंगल ले जाकर छोड़ गये। अब वह अपने देश लौटना चाहता है, अति दुःखी है, रो-रोकर अपने पर बीते का बखान कर रहा है जिसे कोई कृपालु राहगीर सुनकर उसकी आँखें खोल देता है और कहता है 'हे नर ! तुम सुखपूर्वक घर लौटो। इस (अंगुल्या निर्दिश्यमान) दिशा में गांधार है जहाँ से तुम आये हो।' ।३५६-८।। वह बेचारा उस कृपालु को आप्त मानकर उसके उपदेश पर श्रद्धा रखता है,

---

१. 'यथा सोम्य पुरुषं गन्धारेभ्योऽभिनद्धाक्षमानीय तं ततोऽतिजने विसृजेत् स यथा तत्र प्राङ्वोदङ्वाऽधराङ् वा प्रत्यङ् वा प्रध्मायीत, अभिनद्धाक्ष आनीतोऽभिनद्धाक्षो विसृष्टः।।१।। तस्य यथाऽभिनहनं प्रमुच्य प्रब्रूयाद् एतां दिशं गन्धारा एतां दिशं व्रजेति। स ग्रामाद् ग्रामं पृच्छन् पण्डितो मेधावी गन्धारानेवोपसंपद्येत, एवमेवेह आचार्यवान् पुरुषो वेद। तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्य इति।।२।। स य...होवाच।।'३।। चतुर्दशः खण्डः।।

विदुषो मरणम्

वागादीनां हि वृत्तेर्यो लयो मरण ईरितः। विदुषो नैष विज्ञेयः किन्तु संसारिणो हि सः। ।३६२
वृत्तयो वृत्तिमन्तश्च वागाद्याः सर्व एव हि। विदुषो लयमायान्ति ब्रह्मज्ञानप्रभावतः। ।३६३
मरणावसरे प्राप्ते ज्ञातयोत्रोपतापिनम्। उपासते रुद्धकण्ठाः साश्रुनेत्राः समन्ततः। ।३६४
माताऽपि चात्मनः पुत्र ! जानीषे प्रिय ! मां प्रियम्। प्राणेभ्योऽपि च जानीषे[1] भ्रातरं मां च वेत्सि त्वम्। ।३६५
इत्यादि वचनं यद्वद् अविद्वानवगच्छति। लयं व्रजति यावच्च तत ऊर्ध्वं न किञ्चन। ।३६६

विदुषो मरण इतरस्माद् यावत्यंशे विशेषः, यावति च साम्यं तत्सर्वं 'तस्य तावदेव' इत्यादिभागापकर्षेण दर्शयतोऽष्टमपर्यायस्य[2] अर्थमाह—वागादीनामिति। पूर्वं प्रथमपर्याये 'वागादीनां मनःप्रभृतिषु वृत्तिरूपेणैव लयो भवति न स्वरूपेण, स्वरूपस्य तु संस्कारात्मनाऽवस्थितिरेव' इति यदुक्तं तद् अविद्वदभिप्रायेणैवोक्तं, विदुषः तु सत्सम्पत्तिविलम्बे प्रारब्धावसानस्य अवधीकरणाद् वागादिकरणजातं सह वृत्त्यादिप्रपञ्चेन निरवशेषं लीयते, अप्रतिबद्धविद्याप्रभावात्। इति द्वयोरर्थः। तथा च सूत्रम् 'अविभागो वचनाद्' (४.२.१६) इति। ।३६२-३। ।

अयं शास्त्रगम्यो विशेष उक्तः। लोकदृष्ट्या तु तत्साम्यमित्याह—मरणावसर इति। उपतापो रोगः तद्वन्तं मरणावसरे ज्ञातयः सम्बन्धिन उपासते परिवेष्ट्य तिष्ठन्ति। तत्र माता अपिशब्दाद् भ्रात्रादयश्च इत्थमाहुः। 'इत्थं' कथम् ? हे सुत ! प्रेमास्पद ! त्वं माम् आत्मनो मातरम् अपि जानीषे ? भ्राताऽऽह त्वं मां प्राणेभ्योऽपि प्रियं भ्रातरं वेत्सि ? इति। एवमन्येऽप्याहुः। इति द्वयोरर्थः। ।३६४-५। । इत्यादीति। इत्यादि वचनप्रभृतिविषयजातम् अविद्वान् वागादिलयपर्यन्तमेव अवगच्छति। ततो वागादिलयाद् ऊर्ध्वं तु किञ्चिदपि विषयजातं न अवगच्छतीत्यर्थः। ।३६६। ।

इस बात से संतुष्ट रहता है कि वह सही रास्ता बता रहा है, धीरे-धीरे उस रास्ते चलता है तो अपने गांधार देश पहुँच जाता है।

इसी प्रकार कुशल साधक आचार्य के उपदेश से आत्मा का विज्ञान पा लेता है। जीव की ज्ञानदृष्टि को बाँधने वाले चोर हैं कामक्रोधादि। गुरु से मार्ग समझ कर साधक जब मननादि करता है, विचारपूर्वक साधन करता है, प्रमादी नहीं बनता तभी पुनः उन चोरों के वश में जाने से बचता है और साक्षिस्वरूप को परिच्छिन्न प्रतीत कराने वाले मायारूप प्रबल बंधन से छूटकर इस अद्वय आनन्दात्मा को प्राप्त होता है। ।३५९-६१। ।

७) पहले जो यह कहा था कि मरते समय वाक् आदि का मन आदि में स्वरूपतः लय नहीं होता, स्वरूप तो सूक्ष्मरूप से बना ही रहता है, केवल वाक् आदि की वृत्ति का विराम होता है; वह कथन संसारी अज्ञ के विषय में ही है, विद्वान् के विषय में नहीं। ।३६२। । विद्वान् की सत्संपत्ति में प्रारब्धसमाप्ति का ही विलम्ब होता है अतः वृत्तियों समेत वृत्ति वाले विद्वान् के वागादि निरवशेष विलीन हो जाते हैं क्योंकि ब्रह्मज्ञान का यह प्रभाव है। ।३६३। । ब्रह्मवेत्ता के प्रारब्धसमापन पर उसके प्रतीयमान संघात का सम्पूर्ण नाश शास्त्रसिद्ध है, लोकदृष्टि से तो अज्ञ की तरह ही विज्ञ की भी मौत है। रोगाक्रान्त विद्वान् के भी मरण का अवसर आने पर सम्बन्धिजन उसे घेर लेते हैं। आँखों में आँसू भरकर रुँधे कण्ठ से वे चारों ओर बैठे माता भाई आदि पूछते हैं 'पुत्र ! मुझे, अपनी माँ को पहचान रहा है ?' 'मुझे, अपने प्राणप्रिय भाई को पहचानता है ?' अन्य लोग भी अपने-अपने बारे में 'मुझे जानते हो ? पहचानते हो ?' ऐसा पूछते हैं। जैसे वागादि के विलय से पूर्व अविद्वान् इस तरह की बातें समझता है, लय के बाद नहीं, वैसे ही विद्वान् भी लय से पहले समझता है, उसके बाद नहीं। ।३६४-७। ।

१. जानीषे जानीष इति द्विरुक्तिर्वैयग्र्ये।

२. 'पुरुषं सोम्योतोपतापिनं ज्ञातयः पर्युपासते—जानासि मां जानासि मामिति। तस्य यावन्न वाङ् मनसि सम्पद्यते, मनः प्राणे, प्राणस्तेजसि, तेजः परस्यां देवतायां तावज्जानाति। ।१। । अथ यदास्य वाङ् मनसि...देवतायामथ न जानाति। ।२। । स य... होवाच। ।'३। । पञ्चदशः खण्डः। ।

वागादेर्लयतः पूर्वं विद्वानपि तथा वचः। नानाविधं विजानाति लये तस्य न किञ्चन।।३६७

विदुषो न जन्म

देहपाते समे तस्मिन् विदुषोऽविदुषश्च हि। विभेदोऽयं यतो विद्वान् पुनर्जन्म न गच्छति।।३६८

अस्य भेदस्य हेतुश्च ह्युभयोर्विद्यते स्फुटः। एकः सत्यं विजानीते ह्यनृतं च तथा परः।।३६९

विद्वान् सत्यात्मबोधेन मायापाशविवर्जितः। वागादिविलयाद् भूयः शरीरं नाप्नुयात् सदा।।३७०

अविद्वाननृतं सर्वं देहान्तं दुःखकारणम्। जानन्नात्मतया भूयः संस्कारैर्देहमाव्रजेत्।।३७१

लोकेऽपि सत्यसन्धो यो भवेन्मिथ्याऽभिशापितः। स मुच्यतेऽपरो दुःखं प्रयात्यनृतमानसः।।३७२

यश्च चोरश्च साधुश्च धृतौ राजभटैर्बलात्। चोराविमौ निहन्तव्यावित्येवं निश्चये सति।।३७३

तथा वागादिलयपर्यन्तं विषयविज्ञानं, तदुत्तरं विशेषविज्ञानोपरमश्च विदुषोऽपि समान इत्याह—वागादेरिति। स्पष्टम्।।३६७।।

नन्वित्थं विद्वद्मरणे दृष्टसाम्ये सति पूर्वोक्तः शास्त्रीयो विशेषः कथं सम्भाव्येत ? इति शङ्कावारणं नवमेन पर्यायेण[1] कृतमिति दर्शयंस्तमवतारयति—देहेति। एवम् उभयोः देहपाते समे सति विद्वान् यत् पुनर्जन्म न गच्छति तत्प्रयोजको विभेदो विशेषः अयं वक्ष्यमाणो बोध्य इत्यर्थः।।३६८।। 'अयं' कः ? इत्यपेक्षायामाह—अस्येति। उभयोः विद्वदविदुषोर्मध्येऽस्य विद्वज्जन्माभावप्रयोजकस्य भेदस्य विशेषस्य हेतुः प्रयोजको धर्मः सत्य एव आत्मदृष्टिरूपः स्फुटो वर्तते, यत इतरोऽविद्वान् अनृतं शरीरत्रयमेव आत्मत्वेन अवगच्छति, अनुच्छिन्नाऽविद्यातत्संस्कारसन्तान इति यावद् इत्यर्थः।।३६९।। एतदेव स्फुटयति—विद्वानिति द्वाभ्याम्। निगदव्याख्यातं द्वयम्।।३७०-१।। सत्याभिप्रायो मोक्षहेतुरिति लोकेऽपि प्रसिद्धमित्याह—लोकेऽपीति। सत्ये सन्धा अभिप्रायो यस्य स तथा। मिथ्याऽभिशापोऽनृतकलङ्कप्राप्तिरूपः स जातो यस्य स तथा। मुच्यते शुद्धिं गच्छति। 'अपरः' अस्यैव विवरणम् अनृतमानस इति। सुदुःखं यातीति प्रसिद्धमिति।।३७२।।

एतत् कथम् ? इत्याकांक्षायाम् उदाहरति—यश्चेत्यादिना। यथा कश्चित् चोरः साधुश्च इत्युभावपि चोरत्वेन

८) विद्वान् और अज्ञानी का देहत्याग समान है पर एक भेद है जिससे विद्वान् का पुनः जन्म नहीं होता, अज्ञानी का होता है।।३६८।। इस भेद का हेतु भी स्पष्ट है कि एक सत्य को जानता है और दूसरा अनृत शरीरत्रय को ही आत्मा समझे रहता है।।३६९।। सत्य आत्मा के ज्ञान से विद्वान् माया के पाश से छूट जाता है और वाक् आदि के विलय के बाद फिर कभी शरीरबंधन में नहीं फँसता।।३७०।। देहपर्यन्त जो कुछ दुःखहेतु हैं उस मिथ्या उपाधिजाल को ही अज्ञ आत्मरूप से समझता रहता है अतः संस्कारों द्वारा पुनः शरीरांतर पा जाता है। ('संस्कारों द्वारा' अर्थात् कर्मादि द्वारा तथा देहादि का लय भी सावशेष होने से उनका संस्कार अर्थात् सूक्ष्मस्थिति बनी रहती है जो विकसित होकर नये देह का आकार ग्रहण कर लेती है।)।।३७१।। लोक में भी देखा जाता है कि सचाई पर स्थिर व्यक्ति यदि मिथ्या आरोप से कलंकित होता भी है तो परीक्षण होते ही वह कलंक मिट जाता है जबकि जिसके मन में झूठ है वह अति दुःख पाता है।।३७२।। मान लो एक चोर और एक सज्जन है। राजसैनिक दोनों को चोर समझकर उन्हें दण्डनीय

---

१. 'पुरुषं सोम्योत हस्तगृहीतम् आनयन्ति; अपहार्षीत् स्तेयमकार्षीत्, परशुमस्मै तपतेति। स यदि तस्य कर्ता भवति तत एवानृतमात्मानं कुरुते, सोऽनृताभिसन्धोऽनृतेनात्मानम् अन्तर्धाय परशुं तप्तं प्रतिगृह्णाति। स दह्यतेऽथ हन्यते।।१।। अथ यदि तस्याऽकर्ता भवति तत एव सत्यमात्मानं कुरुते स सत्याभिसन्धः सत्येनात्मानमन्तर्धाय परशुं तप्तं प्रतिगृह्णाति, स न दह्यतेऽथ मुच्यते।।२।। स यथा तत्र नादाह्येतैतदात्म्यमिदं सर्वं तत् सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो ! इति। तद्धास्य विजज्ञाविति विजज्ञाविति।।३।।' षोडशः खण्डः।। इति षष्ठोऽध्यायः।।

उभावपि सभामध्ये क्रोशतश्चोरता न हि। प्रत्येकं मम चेत्येवं संजाते संशये सति। ।३७४

सभासद्भिः समे दिव्ये उभयोः परिकल्पिते। ज्वालामालाकुलं तप्तमयःपिण्डं वहन् करे।
साधुर्न दह्यते त्वन्यश्चोरोऽत्र बहु दह्यते। ।३७५

अदग्धो मुच्यते साधुस्तमाद् मिथ्याऽभिशापतः। सत्याभिसन्धिर्यस्मात् स सत्यमेवाऽभ्यभाषत। ।३७६

दग्धहस्तः परः सद्यो बन्धमेति च वध्यते। अमृताशयतो यस्माद् अनृतं सोऽभ्यभाषत। ।३७७

विदुषोऽविदुषश्चैव समाने मरणे सति। भवेद् वागादिविलयो विदुषो नापरस्य च। ।३७८

श्वेतकेतुः साक्षाच्चक्रे

नवकृत्वः श्वेतकेतुं स आत्मा तत्त्वमस्यपि। पितोवाच विजज्ञे स नवमे वचने पितुः। ।३७९

श्वेतकेतुर्महातेजाः कंचित् कालं गृहेऽवसत्। आत्मज्ञानी विरक्तः सन् प्रवव्राज यथा पिता। ।३८०

दण्ड्यतया राजभटैः गृहीतौ। सभायां प्रत्येकं 'मम चोरता न अस्ति' इति क्रोशन्तौ वीक्ष्य जातेन संशयेन सद्भिः धर्माधिकारिभिः समे दिव्ये उभयोः आदिष्टे सति साधुः तप्तलोहेन करे धृतेन न दह्यते, अन्यः चोरः तु दह्यते। इति त्रयाणां सम्बन्धः। ।३७३-५। । अदग्ध इति। तयोः साधुः सत्याभिप्रायकत्वलक्षण-सत्याभिसन्धितवात् सत्यभाषणेन अनुमिताद् अदग्धहस्त एव मुच्यत इत्यर्थः। ।३७६। । दग्धेति। परः चोरोऽनृताशयप्रभावाद् अनृतभाषणानुमिताद् दग्धहस्तो बन्धं निगडम् एति, वध्यते शारीरादिदण्डं च प्राप्नोतीत्यर्थः। ।३७७। । फलितमाह—विदुषइति। वागादिविलयो निरवशेष इति शेषः। अपरस्य अविदुषस्तथा न इति। ।३७८। ।

चरमवाक्यार्थमाह—नवेति। एवं नववारं पित्रा उपदिष्टः श्वेतकेतुः असम्भावनानिवृत्तौ सत्याम् अस्य पितुर्नवमे वचने तत् प्रथमोक्तमेव तत्त्वं विजज्ञे साक्षात्कृतवानित्यर्थः। ।३७९। ।

अतीतकथां सङ्गमयति—श्वेतेति। तदनन्तरं जाबालोक्तं तस्य पारमहंस्यं बोध्यम् इत्यर्थः। ।३८०। ।

रूप में पकड़ लेते हैं। सभा में दोनों कहते हैं 'मैं चोर नहीं', 'मैं चोर नहीं'। राजादि निर्णायक को संशय हो जाता है तो सभासत् दोनों के लिये दिव्य परीक्षा की व्यवस्था करते हैं। आग जैसा तपाया लोहपिण्ड उन्हें हाथ से उठाने को कहा जाता है। सज्जन उसे हाथ में धारण करने पर भी जलन नहीं महसूस करता जबकि चोर अत्यधिक जल जाता है। जो जलता नहीं उसे सज्जन समझ लिया जाता है और झूठे आरोप से वह छूट जाता है। सत्यपरायण होने से वह सत्य ही बोला था। जिसका हाथ जल जाता है वह तुरंत बंधन में डाला जाकर यथासमय वधपर्यन्त दण्ड भोगता है। उसके मन में झूठ था और सभा में वह झूठ ही बोला था। इसी प्रकार विद्वान्-अज्ञानी का मरण समान है पर विद्वान् के वाक् आदि सर्वथा लीन (समाप्त) हो जाते हैं, अज्ञानी के वाक् आदि की वृत्तियाँ ही रुकती हैं, वागादि सूक्ष्मरूप से बने रहकर पुनः शरीरांतर में कार्यरत हो जाते हैं। सत्य बोलने से जैसे सज्जन छूट जाता है वैसे सत्य जानने से विद्वान् मुक्त हो जाता है। (तपा लोहा अभिमंत्रित होता है तभी विद्वान् को नहीं जलाता। यह स्मृतिप्रसिद्ध दिव्यपरीक्षा है।)। ।३७३-८। ।

इस प्रकार श्वेतकेतु को पिता ने नौ बार 'वह आत्मा तू है' यह समझाया। शंकाएँ मिट जाने पर श्वेतकेतु ने नवीं बार सुनने पर उसी तत्त्व का साक्षात्कार कर लिया जिसे आरुणि ने प्रथम बार ही बताया था। (उपदेश एक वस्तु का ही था, समझ भले ही नवी बार आया हो। नौ बार का महत्त्व नहीं, जब तक शंका मिटे नहीं तब तक श्रवण-मनन करते रहना चाहिये)। ।३७९। ।

उत्तराध्यायबीजम्

सत्तायाः सुखरूपत्वमात्मनो नैनमैरयत्। आरुणिः श्वेतकेतुश्च पप्रच्छ न च धीधनः।।३८१

सनत्कुमारो भगवान् नारदाय सुखात्मताम्। अपृष्टोऽपि पुरा प्रश्नतोषितः स उवाच ह।।३८२

इति ते कथितं श्वेतकेतोरज्ञानकारणम्। ज्ञानं च स्वपितुर्भूयः किमन्यच्छ्रोतुमिच्छसि।।३८३

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य्याऽऽनन्दात्मपूज्यपादशिष्येण शङ्करानन्दभगवता विरचित

उपनिषद्रत्न आत्मपुराणे

च्छान्दोग्यसारार्थप्रकाशे आरुणिश्वेतकेतुसंवादो नाम द्वादशोऽध्यायः समाप्तः।।१२।।

उत्तराकांक्षामुत्थापयति—सत्ताया इति द्वाभ्याम्। श्वेतकेतोः धीधनत्वं स्वयं विज्ञानसामर्थ्यरूपं विज्ञाय पिता आरुणिः सत्ताया सुखरूपत्वं न ऐरयद् न उक्तवान् यतः श्वेतकेतुः ततो न अपृच्छद् इत्यर्थः।।३८१।। नारदेन अपृष्टोऽपि च सनत्कुमार एतद् नारदाय उवाचेत्याह—सनत्कुमार इति।।३८२।। उपसंहरति—इति त इति।।३८३।।

द्वादशं करणं शम्भो भवतो व्यक्त्यलङ्कृतम्।

विकाशेन मुकुन्दस्य शान्तां धत्ते चमत्कृतिम्।।

द्वादशं करणम् अहङ्कारूपं भवतः शोधितत्वंपदार्थरूपस्य मुकुन्दस्य तत्पदार्थस्येत्यर्थः।।

इति श्रीदत्तकुलतिलक-कृष्णचन्द्रात्मज-दिलाराम सूरि तनूज-रामकृष्णस्य

श्रीविश्वेश्वराश्रमपूज्यपादानुगृहीतस्य कृतावात्मपुराणटीकायां

सत्प्रसवाख्यायां द्वादशोऽध्यायः समाप्तः।।१२।।

महातेजस्वी श्वेतकेतु उक्त बोध के बाद कुछ समय तो घर रहा, फिर उस आत्मज्ञ को जब पूर्ण उपरति हो गयी तब वह अपने पिता की तरह संन्यासी बन गया।।३८०।।

आरुणि ने सोचा कि श्वेतकेतु समझदार है, उक्त तत्त्व के अन्य रहस्य खुद समझ लेगा इसलिये उन्होंने आत्मा सुखरूप है यह उसे नहीं कहा और न ही श्वेतकेतु ने पूछा।।३८१।। लेकिन बिना पूछे भी नारद को भगवान् सनत्कुमार ने आत्मा की सुखरूपता समझाई थी क्योंकि नारद द्वारा उपन्यस्त जिज्ञासाओं से सनत्कुमार सन्तुष्ट थे कि वह योग्य विविदिषु अधिकारी है।।३८२।।

इस प्रकार तुम्हें सुनाया कि पढ़ लिख कर भी श्वेतकेतु क्यों अज्ञानी था और अपने पिता से उसने क्या ज्ञान पाया। अब और क्या सुनना चाहते हो ?।।३८३।।

।। बारहवाँ अध्याय सम्पूर्ण।।

ॐ

छान्दोग्यसारार्थप्रकाशे

सनत्कुमार-नारद-संवादः

त्रयोदशोऽध्यायः

एतच्छ्रुत्वाऽथ शिष्योऽपि स्वात्मनो ब्रह्मरूपताम्। प्रष्टुकामः पुनः प्राह स्वगुरुं वचनं त्विदम्।।१

शिष्यप्रश्नः

भगवन् भवताऽऽख्यातमैतरेयेण कीर्तितम्। ज्ञानमाख्यानसहितमेवं कौषीतकीरितम्।।२

भूमानोमाल्पतापोहः सकलाकलनस्फुटः।
आशोत्तरधरः शश्वद्राजते सत्रयोदशे।।

अस्यार्थः—भूः पृथिवी, मानं वेदः, उमा कीर्तिः 'उमाऽतसी हैमवती हरिद्राकीर्तिकान्तिषु' इति विश्वप्रकाशकोशात्; एषां पदार्थानां याऽल्पता असुरप्रभावात् सङ्कोचरूपा ताम् अपोहति असुरनिरासेन हरति स तथा; सकलस्य स्वकीयपरिपूर्णरूपस्य यद् आकलनं रावणवधानन्तरं 'त्वं महाविष्णुरसि' इति विधातृवाक्येन अनुसन्धानं, तेन स्फुटः परित्यक्ताऽऽहार्याऽबोधनाट्यः इति; आशा दिदृक्षा तद्वताम् उत्तरकोसलवासिनां धरः सन्निधानेन त्राता; सदा स श्रीरामः सत्रयः त्रयेण अनुजानां त्रिकेण सहितः, अदशे दशा वर्तिः तद्रहितोऽदशो हार्दज्योतीरूपदीपः 'तस्य मध्ये वह्निशिखे'ति महोपनिषदि प्रसिद्धः, तदुपरि राजते आराधकानाम् आविर्भवतीत्यर्थः।। श्रीकृष्णविग्रहपक्षे—भुवो मानः पूजा प्रशंसारूपा गर्वो वा यतः स तथा। पुनः कीदृशः? अमाः प्रमाहीना अज्ञा येऽल्पाः क्षुद्रा दुःशासनादयः, तत्कृतो यो द्रौपदीप्रभृतीनां भक्तानां तापः, तम् ऊहति जानातीति स तथा। पुनः कीदृशः? सकलस्य ककारलकारसहितस्य कामबीजस्य आकलनेन जपेन स्फुटः प्रकटलीलः, आशाया गोप्यादिकामनाया उपशामकत्वेन उत्तरभूतस्य तदानुकूल्यस्य धारकः। स वासुदेवः, सत्रयः सङ्कर्षणादित्रयसहितः, दशाः परिणामरूपा अवस्थाः ताभिर्हीनत्वाद् अदशे निर्विकारस्वरूपे राजते देदीप्यत इत्यर्थः।। श्री -शम्भुपक्षे—भूमान् ज्योतिर्लिङ्गरूपेण भूम्या नित्यसम्बद्धः, ओमा प्रणवेन, अल्पताया जीवनिष्ठपरिच्छिन्नताया अपोहस्य बाधस्य कर्ता; सकलस्य चन्द्रकलासहितस्य विग्रहस्य आकलनेन धारणेन स्फुटो भक्तानां प्रसिद्धः, आशा दिक् तद्रूपस्य उत्तरस्य ऊर्ध्ववस्त्रस्य धारक इति यावत् सः अदशे जाग्रदाद्यवस्थापरित्यागहेतौ तत्त्वज्ञाने तदर्थं यत् सत्रं सत्रतुल्यं सम्प्रदायप्रवर्तनरूपं कर्म तद् याति प्राप्नोति धारयतीति यावत् स तथा।। प्रमेयपक्षे तु—भूमा तत्संज्ञो नः अस्माकम् अधिकारिणां माल्पता मा प्रमा तन्निष्ठा या अल्पता परिच्छिन्नविषयता तस्याः परिहारकः पूर्णत्वात्; सकलस्य द्वैतजातस्य अकलने विस्मरणे स्फुटः; नामादीनां वक्ष्यमाणानां भावानां मध्ये चतुर्दशी आशा तस्या उत्तरः प्राणः तस्याधारः अधिष्ठानभूतः, स प्रसिद्धः, त्रयोदशेऽत्राऽध्याये स्फुरतीत्यर्थः।।

तत्र मेधाविनः प्रश्नं दर्शयति—एतच्छ्रुत्वेति अष्टादशभिः।स्पष्टम्।।१-२।।आदित्यस्येति।आदित्यविशेषणं

'सनत्कुमार का नारद से संवाद'—नामक

तेरहवाँ अध्याय

निज आत्मा ब्रह्म है—यह सुनकर इस बारे में और स्पष्टता पाने की इच्छा से शिष्य ने अपने गुरु से ये वचन कहे—।।१।।हे भगवन्! विभिन्न आख्यानों से मनोरम बनाया आत्मविज्ञान आपने कृपापूर्वक सुनाया। ऐतरेय, कौषीतकि, महेश्वर आदित्य, श्वेताश्वतर, कठ, तित्तिरि, जाबाल आदि ब्राह्मणों ने तथा आरुणि ने जिस ज्ञान का उपदेश दिय था

आदित्यस्य महेशस्य सश्वेताश्वतरस्य च। कठस्य तित्तिरेस्तद्वज्जाबालादिद्विजन्मनाम्।।
आरुणेः स्वपितुर्बाल्ये लब्धं च श्वेतकेतुना।।३

मन्त्रज्ञो वामदेवश्च शक्रः काश्यश्च भूपतिः। गुरवो येऽत्र शिष्याश्च प्रवर्तन्ते प्रजास्तथा।।
बालाकिश्च तथा दृप्तो गार्ग्यो यः परिकीर्तितः।।४

भेदतोऽभेदतश्चाऽपि त्रिपर्वा यत्र कीर्तितः। महान् वंशो मन्त्रदर्शी दस्रौ च प्रतिकोपितः।।५

दध्यङ्ङाथर्वणे यत्र शक्रः क्लेशमुपागतः। आश्विनोर्ब्रह्मविद्या च धैर्यमाथर्वणस्य च।।६

भूपतेर्यज्ञशालायामाश्वलाद्यैर्द्विजोत्तमैः। जल्पाख्यो यत्र संवादः शाकल्यमरणान्तकः।।७

द्विवारं पृथिवीपालं यत्र वाजसनेयकः। गत्वा वादकथां कृत्वा कृतकृत्यं चकार सः।।८

संन्यस्यन्नपि मैत्रेयीं जायां यत्राऽकरोन्मुनिः। कृतकृत्यां याज्ञवल्क्यो लोकातीतस्तपोधनः।।९

कारणे यत्र जिज्ञासा यतीनां च द्विजन्मनाम्। धर्मराजो गुरुस्तद्वद्वरुणश्च तपोधनः।।१०

महेशस्य इति। षष्ठ्यन्तानां 'ज्ञानम्' इत्यनेन प्राक्तनेन सम्बन्धः, 'लब्धम्' इत्यत्र च तदनुषङ्गः।।३।। मन्त्रज्ञ इति। मन्त्राणां सर्वात्मताबोधकानां द्रष्टा वामदेवो गुरुत्वेन प्रथमे, इन्द्रस्तु द्वितीये, अजातशत्रुः तृतीय इति। अथ शिष्या उच्यन्ते—प्रजाः प्रथमे, तथा प्रतर्दनो द्वितीये, बालाकिः तृतीय इत्यर्थः।।४।। चतुर्थगतान् शिष्यानाह—भेदत इति। त्रिविधानि पर्वाणि घटकपुरुषरूपाणि यस्य स तथाविधो वंशो मन्त्रदर्शिनां गुरुशिष्याणां परंपरारूप उक्तः, यत्र वर्तमान आथर्वणे गुरौ दस्रौ शिष्यतयोक्तौ, यत्र तयोः शिष्यतायां शक्रः क्लेशम् ईर्ष्यारूपं प्राप्तः। कीदृशः शक्रः? प्रतिकोपितः हितोपदेशेन प्रत्युत कोपं गतः। तथा दस्रयोः विद्योपदेशः, तत्र महाभयेऽपि गुरोः धैर्यं च उक्तम्। इति द्वयोरर्थः।।५-६।।

पञ्चमाद्यध्यायत्रयाऽर्थं क्रमेण अनुवदति—भूपतेरिति त्रिभिः। यत्र अतीतग्रन्थे। शिष्टं निगदव्याख्यातं त्रयम्।।७-९।। अष्टमार्थमाह—कारण इति। नवमदशमयोस्तमाह—धर्मेत्यादिना। नवमे धर्मराजो गुरुः उक्तो, नचिकेताः तु शिष्यः। कीदृशो महान् गुरुः अग्निविद्ययोः सम्प्रदायप्रवर्तकत्वात्। तथा दशमे वरुणो गुरुः उक्तः, वह आपने मुझे समझाया। वामदेव, इन्द्र, काशिराज अजातशत्रु, दध्यङ् आथर्वण, याज्ञवल्क्य, श्वेताश्वतर, यमराज, वरुण, वेन, आरुणि—इनका गुरुरूप से उपन्यास आपने किया। प्रजायें, प्रतर्दन, बालाकि, अश्विनी कुमार, विभिन्न ऋषि, जनक, मैत्रेयी, ब्रह्मवादी यति, नचिकेता, भृगु, श्वेतकेतु—इन्हें शिष्यरूप में उपस्थित किया। ब्रह्मविद्या के आचार्यों की वंशपरंपराओं में विभिन्न और अभिन्न व्यक्तियों का अपूर्व सामंजस्य आपसे सुनने को मिला जिन परंपराओं के घटक व्यक्ति तीन तरह के थे। इन्द्र भी जब तक अनधिकारी था तब तक निर्विशेष आत्मविद्या से कुपित ही हुआ, संसार की असारता स्वीकार नहीं सका। अश्विनीकुमारों को आत्मज्ञान प्रदान करने की प्रतिज्ञा पूरी करने में दधीचि ने आश्चर्यजनक धैर्य का प्रकाशन किया—यह रोमांचक इतिहास आपने सुनाया।।२-६।।

जनकराज की यज्ञशाला में आश्वलादि उत्तम द्विजों से याज्ञवल्क्य की जल्पकथा, जिसका समापन शाकल्य की मृत्यु से हुआ, आपने विस्तार से समझाई। वाजसनेयक याज्ञवल्क्य ने दो बार राजा जनक के पास जाकर वादकथा से उसे कृतकृत्य किया और उन्हीं अलौकिक तपस्वी ने संन्यास ग्रहण करने से पूर्व अपनी पत्नी मैत्रेयी को भी कृतकृत्य किया यह याज्ञवल्क्यचरित आपने विस्तार से सुनाया।।७-९।। द्विजों ने व संन्यासियों ने जगत्कारण पर जो विचार किया एवं अग्निविद्यापूर्वक जीव-ब्रह्मैक्य का जो ज्ञान यमाचार्य ने प्रतिपादित किया वह मैंने सुना। गन्धर्व वेन ने जो स्वानुभव प्रदर्शन किया उससे साधनों के और साध्य के बारे में मेरी बहुतेरी शंकाएँ मिट गयीं। वहीं निर्धारित हो गया कि सभी साधनों में सर्वोत्तम संन्यास है। फिर आपने बताया कि संवर्त आदि महात्माओं ने संन्यास का अनुष्ठान

नचिकेताश्च यत्राऽभूच्छिष्यस्तद्वद् गुरुर्महान्। गन्धर्वस्याऽपि वेनस्य स्वात्मानुभवकीर्तनम्।।
नानासाधनसङ्घेषु संन्यासो यत्र चोत्तमः।।११
कीर्तितोऽनुष्ठितः पूर्वैः संवर्ताद्यैर्महात्मभिः। तस्य स्वीकारकालश्च वैराग्यस्य जनिस्तथा।।१२
तस्यास्तु हेतवस्तद्वद् गर्भोपनिषदादिषु। विवेको विविधो योगो निमित्तानां च बोधनम्।।१३
विरक्तोऽत्राधिकारी च संन्यासी परिकीर्तितः। शिखादिरहितस्याऽस्य वेष आचार ईरितः।।१४
बाह्य आभ्यन्तरस्तद्वदहिंसादिस्वरूपकः। मुख्योऽपि स्वात्मविज्ञानं ब्रह्मोपनिषदादिषु।।१५
नवकृत्वः श्वेतकेतोर्हार्दाशङ्कां व्युदस्य हि। तत्त्वमस्येवमुक्तं तत् सम्यग् ब्रह्मावबोधने।।१६
आत्मनः सुखरूपत्वम् अध्यायेऽस्मिन् प्रकीर्तितम्। उक्तं सनत्कुमारेण किन्तु तन्नारदाय हि।।१७
तदहं श्रोतुमिच्छामि नारदाय यदीरितम्। ज्ञानं सनत्कुमारेण त्वत्तोऽद्य भगवन् गुरो।
एवमुक्तो गुरुः प्राह शिष्यं वेदस्थितां कथाम्।।१८

नारदजिज्ञासा

सनत्कुमारमासीनमेकान्ते नारदो मुनिः। संसारतापसन्तप्तः कदाचिदिदमब्रवीत्।।१९

तपोधनो भृगुस्तु शिष्य उक्तः। तत्रैव नारायणीये वेनाख्यस्य गन्धर्वस्य स्वानुभवः सर्वसाधनानां मध्ये संन्यासस्य उत्तमत्वं च कीर्तितम्। इति द्वयोरर्थः।।१०-१।।

एकादशवृत्तमाह—कीर्तित इति चतुर्भिः। प्रथमपदं पूर्वान्वयि दर्शितम्। संन्यासस्य अनुष्ठानं संवर्तऋभुप्रभृतिकर्तृकं दर्शितं, तथा तस्य संन्यासस्य स्वीकारकालोपाधिभूतस्य वैराग्यस्य जनिः उक्तेत्यर्थः।।१२।। तस्यास्तु। तस्या वैराग्यजनेः हेतवः गर्भोपनिषदाद्युक्ता विवेकादय उक्ताः। निमित्तानां मरणचिह्नानाम्।।१३।। विरक्त इति। अत्र संन्यासे विरक्तोऽधिकारी प्रोक्तः। तथाऽस्य संन्यासिनो बाह्यो वेषः शिखादिराहित्यरूपः, तदाऽऽचारश्च उक्तः। तद्वद् आभ्यन्तरो मुख्य आचारोऽहिंसादिरूप उक्तः। ब्रह्मोपनिषदाद्युक्तं तत्त्वज्ञानं च वर्णितम्। इति द्वयोरर्थः।।१४-५।। अनन्तरोक्तमनूद्य पृच्छति—नवेति त्रिभिः। निगदव्याख्यातं त्रयम्। तत्र वेदे छान्दोग्य-सप्तमाध्यायरूपे।।१६-८।।

तत्र[1] नारदप्रश्नमवतारयति—सनत्कुमारमिति। एकान्ते स्थितं मुनिं नारद इदं पप्रच्छ इत्यर्थः।।१९।। 'इदं'

किया तथा संन्यास का योग्यकाल वैराग्योत्पत्ति है।।१०-२।।

गर्भोपनिषदादि में विवेकादि विरक्तिहेतु तथा मरणचिह्नों का जैसा वर्णन है वह भी आपने विस्तार से सुनाया। वैराग्य से अधिकारी बनने वाले संन्यासी का वेष—शिखादि से रहित होना इत्यादि—और बाह्य आचार—भिक्षाटनादि—एवं आभ्यंतर आचार—अहिंसा आदि—आपने बताया। ब्रह्मोपनिषदादि में यति के लिये प्रमुख जो तत्त्वज्ञान वह समझाया गया है इसका आपने खुलासा किया।।१३-५।। अभी-अभी आपने वह प्रसंग सुनाया जिसमें श्वेतकेतु के हृदय की शंकाएँ हटाते हुए उसके पिता ने नौ बार विभिन्न ढंगों से समझाकर 'वह सद्रूप ब्रह्म तू है' इस ब्रह्मज्ञान को सही-सही स्पष्ट किया। किंतु उस संदर्भ के समापन में आपने सूचित किया कि आत्मा को सद्रूप से समझकर क्योंकि श्वेतकेतु ने उसकी अन्य विशेषताएँ खुद समझ लीं इसलिये पूछा नहीं तो आरुणि ने भी आत्मा की सुखरूपता को प्रकट किया नहीं जबकि सनत्कुमार ने नारद को आत्मा की आनंदरूपता स्पष्ट उपदिष्ट की। हे भगवन्! गुरुदेव! मेरी प्रार्थना है कि सनत्कुमार ने नारद को जो विद्या प्रदान की वह मुझे सुनाने की कृपा करें।।१६-८।।

१. 'ॐ अधीहि भगव इति होपससाद सनत्कुमारं नारदः।'—छां.७.१.१

भगवन्! भवता सम्यक् ज्ञायतेऽत्र[1] परायणम्। ब्रह्म यत् तत् परं ज्ञानात् शोकं तरति पण्डितः।।२०

शोकस्य तरणे यत् स्यात् कारणं ब्रह्मवेदनम्। तन्मे ब्रूहि महाभाग! शिष्यस्तेऽहं तपोधन!।।२१

सनत्कुमारप्रश्नः

एवमुक्तः स भगवान् नारदेन महात्मना। तदीयाऽज्ञाननाशाऽर्थमिदमाह हसन्निव।।२२

भवान् यदत्र जानीते सर्वज्ञो नारदो मुनिः। तच्छ्रुत्वाशु ततः पश्चाद् अहं वक्ष्यामि ते स्फुटम्।।२३

एवं सनत्कुमारेण कथितो नारदो मुनिः। प्राञ्जलिः प्रणतो भूत्वा सर्वमेव न्यवेदयत्।।२४

नारदस्य शिक्षा

ऋचो यजूंषि सामानि ह्यथर्वाङ्गिरसा समम्। मन्त्रब्राह्मणरूपाणि वेद्मि ब्रह्मप्रसादतः।।२५

किम्? इत्याकांक्षायामाह—भगवन्निति। हे भगवन्! यत् परायणं सर्वाधिष्ठानभूतम् अत एव परं सर्वोत्कृष्टं ब्रह्म यस्य च विज्ञानात् शोकं कर्तृत्वाद्यध्यासरूपं तरति तद् भवता ज्ञायते—इत्यन्वयः।।२०।। शोकस्येति। तस्य शोकस्य तरणे कारणभूतं ब्रह्मवेदनं यत् यादृशं भवति तद् मह्यं शिष्यायउपदेश्यम् इत्यर्थः।।२१।।

एवमुक्त इति। एवं प्रार्थितो मुनिः नारदस्य यत्रांशेऽबोधः तदवधारणाय इदमाह[2]। 'इदं' किम्? भवान् सर्वज्ञत्वेन प्रसिद्धो यावज्जानाति तच्छ्रुत्वा वक्ष्यामि। इति द्वयोरर्थः।।२२-३।।

एवमिति[3]। स्पष्टम्।।२४।। मन्त्रब्राह्मणरूपेण प्रत्येकं द्विविधान् ऋगादिसंज्ञांश्चतुरो वेदान् जानामि ब्रह्मणः पितुः प्रसादाद् इत्यर्थः।।२५।। अत्रेति। अत्र वेदेषु संक्षिप्योक्ता इति शेषः। नानाविधाः कथाः सन्ति। कीदृश्यः?

शिष्य की इस प्रार्थना पर करुणापूर्ण आचार्य ने सामवेद की कौथुमी शाखा की छांदोग्योपनिषत् के सातवें अध्याय में वर्णित कथा शिष्य को सुनाना आरंभ किया :

प्राचीन काल की बात है, भगवन् सनत्कुमार एकान्त में शांति से विराजमान थे तब संसार के संताप से तपे मुनि नारद ने उनसे निवेदन किया—'भगवन्! जो ब्रह्म सबका अधिष्ठान और सबसे उत्कृष्ट है एवं जिसके प्रमाणजन्य अनुभव से जानकार साधक कर्तृत्वादि-अध्यासरूप शोक से छूट जाता है उसे आप निज रूप से भली भाँति जानते हैं। हे तपस्वी महोदय! मैं आपका शिष्य हूँ। मुझे आप वह ब्रह्मज्ञान सुनाने की कृपा करें जो शोकसागर तरने में हेतु बन जाता है।'।।१९-२१।।

महात्मा नारद द्वारा यों प्रार्थित उन भगवान् सनत्कुमार ने देवर्षि का अज्ञान मिटाने के उद्देश्य से मुस्कराते हुए कहा 'संसार में प्रसिद्ध है कि नारद मुनि सर्वज्ञ है! आप जो जानते हैं वह मुझे बताइये, वह सुनकर उसके बाद शीघ्र ही मैं वह तत्त्व स्पष्ट समझा दूँगा जिसकी आपको जिज्ञासा है।।'२२-३।।

सनत्कुमार द्वारा यों कहे जाने पर नारद मुनि ने हाथ जोड़े और नमस्कार करके जो वे जानते थे वह सब सूचित किया।।२४।। उन्होंने कहा—'अपने पिता ब्रह्मा जी की कृपा से मैं अथर्वांगिरस शाखा सहित ऋग्, यजु और साम वेदों को जानता हूँ जो चारों वेद मंत्र-ब्राह्मण भागों में बँटे है।। (आधुनिक काल का एक मत है 'आर्यसमाज' जो स्वयं को वेदानुसर्ता कहता है पर न तो सब शाखाएँ मानता है और जो चार शाखा स्वीकारता है उनमें भी केवल मंत्रभाग को प्रमाण कहता है। सनातन धर्म को वेद के दोनों अंश एक समान स्वीकार हैं। बल्कि विषयवस्तु तथा मन्त्र प्रयोग

१. स्वात्मनि, स्वात्मतयेत्यर्थः।

२. 'तं होवाच—यद् वेत्थ तेन मोपसीद, ततस्त ऊर्ध्वं वक्ष्यामि—इति। स होवाच।'७.१.१।

३. 'ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यम् एकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्यामेतद् भगवोऽध्येमि।।२।।'

अत्र नानाविधाः सन्ति वृत्तलोककथाः शुभाः। इतिहासाऽभिधास्तद्वत् पुराणं जगतोऽपि च। ।२६
सर्गादिकथनं वाक्यमपि व्याकरणं तथा। शब्दाऽपशब्दविज्ञानं पित्र्यं श्राद्धादिकं हि यत्। ।२७
राशिं गणितमित्युक्तं यत्र संख्याऽवतिष्ठते। उत्पातादि तथा दैवं निधिशास्त्रं तथा निधिम्। ।२८
प्रश्नोत्तरं च कथितं वाकोवाक्यं मनीषिभिः। तर्कशास्त्रं न्यायशास्त्रं नीतिशास्त्रं तथैव च। ।२९
देवविद्यां निरुक्ताख्यां वेदविद्यां पुनस्त्रयम्। शिक्षां कल्पं निरुक्तं च भूतविद्यां च सुश्रुतम्।।
आयुर्वेदेन सहितं मन्त्रान् नानाविधानपि। ।३०
धनुर्विद्यां तथा क्षत्रविद्यामस्त्रसमन्विताम्। ज्योतिःशास्त्रं तथा विद्यां नक्षत्राख्यां मुनीश्वर!। ।३१

वृत्तलोककथाः अतीतजनविषयकाः कथा इतिहाससंज्ञा अपि वेद्मि। तथा जगतः सर्गादिनिरूपणपरवाक्यरूपं पुराणं वेद्मि। तथा शब्दाऽपशब्दविज्ञानहेतुत्वेन वेदोपकारकत्वाद् 'वेदानां वेदम्' इति प्रोक्तं व्याकरणं वेद्मि। तथा पित्र्यपदोक्तं श्राद्धादिविधिं वेद्मीति द्वयोरर्थः। ।२६-७।। राशिमिति। श्रुतौ राशिम् इत्युक्तं गणितं वेद्मि यत्र गणितशास्त्रे गुणनभाजनादिना संख्याऽवतिष्ठते स्फुटी भवतीति। तथा दैवपदोक्तम् उत्पातादिनिर्णयशास्त्रं, निधिपदोक्तं भूमिनिखातद्रव्यरूपनिधिशास्त्रं च वेद्मीति। एवमग्रेऽपि द्वितीयान्तानां वेद्मिपदसम्बन्धो द्रष्टव्यः। ।२८।। वाकोवाक्यपदार्थः कैश्चित् प्रश्नोत्तररूपो वेदभाग उक्तो, भाष्यकारैस्तु तर्कशास्त्ररूप इत्यतस्तदुभयमाह—प्रश्नोत्तरमिति। 'किंस्विदावपनं महद्' इति प्रश्नो, 'भूमिरावपनं महद्' इत्युत्तरम्, एवंविधवेदभागं वाकोवाक्यसंज्ञम्। न्यायशास्त्रमक्षपादप्रणीतं तद्रूपं तर्कशास्त्रम् अपि तत्संज्ञम्। तथा श्रुतौ 'एकायन'-पदोक्तं नीतिशास्त्रम् इति। ।२९।। देवेति। निरुक्ते 'महाभागा देवता' इत्युपक्रम्य सर्वदेवानां सार्वात्म्यमुक्तं तदत्र देवविद्यापदेनोक्तम्। परिशिष्टं निरुक्तं शिक्षाकल्पौ च इत्येतत् त्रयं वेदोपकारकत्वाद् वेदविद्येत्युक्तम्। तथा च भूतानां प्राणिनां दृष्टोपकारहेतुत्वाद् भूतविद्येत्युक्तम् आयुर्वेदसहितं सुश्रुतं वैद्यशास्त्रविशेषम्। तथा नानाविधशान्तिपुष्ट्यादिफलकान् मन्त्रान् इत्यर्थः। ।३०।। धनुरिति। क्षत्रविद्यापदोक्ताम् अस्त्रविद्यासमन्वितां धनुर्विद्याम्। तथा नक्षत्रविद्यापदोक्तं ज्योतिःशास्त्रं

समझने के लिये 'ब्राह्मण' नामक वेदभाग ही प्रधान है। केन, प्रश्न, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छांदोग्य, बृहदारण्यक, कौषीतकी आदि प्रधान उपनिषदें ब्राह्मणभाग में ही उपलब्ध हैं। ईश, कठ, मुंडक, श्वेताश्वतर आदि मंत्रभाग की उपनिषदें प्रसिद्ध हैं।)। ।२५।। इन वेदों में नाना प्रकार की शुभ कथाएँ आयी हैं, प्राचीन लोगों से सम्बद्ध घटनाएँ, जिन्हें 'इतिहास' कहते हैं, वे भी इनमें संक्षेप में बतायी गयी हैं। जगत् की सृष्टि आदि बताने वाले 'पुराण' नामक संदर्भ भी इन श्रुतिग्रंथों में हैं जिन सबसे मैं परिचित हूँ। (सृष्टि, प्रलय, वंश, मन्वन्तर, वंशानुचरित—ये पाँच जहाँ कहे जायें वे ग्रंथ पुराण हैं। बृहद्भाष्य (२.४) में पुराणादि शब्दों से सृष्टि आदि के वर्णन करने वाले वैदिक संदर्भ ग्राह्य बताये हैं।) सही-गलत शब्दों के विवेकबोध में हेतुभूत व्याकरण एवं पितरों के लिये किये जाने वाले श्राद्धादि कर्मों का ढंग मैं जानता हूँ। ।२६-७।। 'राशि' कहलाने वाला गणितशास्त्र मुझे मालूम है जिसमें संख्याओं से सम्बद्ध प्रक्रियाओं का विचार है। 'दैव' नामक शकुनशास्त्र और 'निधि' नामक वह विद्या जिससे खजानों आदि का ज्ञान होता है मुझे ज्ञात हैं। कुछ मनीषी मानते हैं कि प्रश्न-उत्तर रूप से प्रकट विद्याएँ वाकोवाक्य हैं तथा आचार्यों ने तर्कशास्त्र को वाकोवाक्य माना है। दोनों तरह का वाकोवाक्य मैं पढ़ चुका हूँ। नीतिशास्त्र में मैं पारंगत हूँ। ।२८-९।।

निरुक्त को देवविद्या कहते हैं जहाँ सब देवताओं की सर्वात्मता समझाई है। शब्दार्थनिर्णायक निरुक्तभाग, उच्चारणविधि-प्रदर्शक शिक्षाशास्त्र और कर्मकाण्ड के क्रियाकलाप बताने वाला कल्पशास्त्र—इन तीन को वेदविद्या कहते हैं। औषधि और शल्य दोनों विभागों वाला चिकित्साशास्त्र भूतविद्या है जो प्राणियों का दृष्ट ही उपकार करती है। शान्ति-पुष्टि आदि फल देने वाले अनेक तरह के मंत्र भी प्रसिद्ध हैं। इन सभी का मैं अध्येता रहा हूँ। ।३०।। अस्त्रों और धनुरादि शस्त्रों के प्रयोग के ज्ञान को क्षत्रविद्या कहते हैं तथा ग्रह-नक्षत्र-राशि आदि सम्बंधित ज्योतिःशास्त्र को

सर्पदेवनिकायानां विद्यां तां गारुडाभिधाम्। गान्धर्वं च विजानामि शास्त्रं सर्वोपकारकम्।।३२

एतत्सर्वं विजानामि वेदगर्भस्थितं मुने! भगवन्नैव जानामि स्वात्मनो मोक्षकारणम्।
मन्त्रवित्तत एवाऽस्मि स्वात्मज्ञानविवर्जितः।।३३

भगवत्सदृशेभ्यस्तु श्रुतपूर्वं मया विभो! आत्मवित् सकलं शोकं तरेदत्र सकारणम्।।३४

ममाऽस्ति च सदा शोकस्तापत्रयसमुद्भवः। वह्निमण्डलसंस्थस्य पङ्गोः पुंसो यथा भुवि।।३५

सोऽहं शोचामि सततमात्मानं दीनवत्सल। शिशुपुत्राऽप्यपुत्रा वा यौवने गतभर्तृका।।३६

सर्वबन्धुविहीना च यथा नारी पतिव्रता। शोचत्यात्मानमनिशं भृशं दारिद्र्यपीडिता।।३७

ग्रहसंस्थादिप्रतिपादकम् इत्यर्थः।।३१।। सर्पेति। सर्पेषु ये देवनिकाया देवशरीराः तद्वशीकारहेतुभूता विद्या गारुडविद्येति प्रसिद्धा ताम्। तथा सर्वजनानां मनोरञ्जकत्वेन उपकारकत्वात् जनविद्येत्युक्तं गान्धर्वशास्त्रं गीतादिप्रतिपादकं जानामीत्यर्थः।।३२।।

[1]एतत्सर्वमिति। सर्वमेतद् उक्तं जानन्नपि अहं वेदस्य गर्भे तात्पर्यरूपे विषयतया स्थितं मोक्षकारणं न जानामि इत्यर्थः। मन्त्रविदिति। तत आनुषङ्गिकार्थविज्ञानेऽपि तात्पर्यविषयस्य अज्ञानादेव अहं मन्त्रवित् मन्त्रपाठवेत्तैव अस्मि, न तु मन्त्रार्थवित्, स्वात्मतत्त्वस्य तत्तात्पर्यगोचरस्य अबोधादित्यर्थः।।३३।।आत्मतत्त्वस्य तत्तात्पर्यगोचरत्वे हेतुतया तज्ज्ञानस्य फलवत्त्वमाह—भगवत्सदृशेभ्य इति। युष्मत्तुल्येभ्य आप्तेभ्यो मया इदं पूर्वं श्रुतम्।'इदं' किम्? आत्मवेत्ता सकारणं समूलं शोकं कर्तृत्वादिरूपं तरतीति।।३४।। तद्वाक्यार्थं मयि समन्वितं विधेहि इति दर्शयन् स्वस्मिन् शोकं वर्णयति—ममाऽस्तीति। यथा वह्निमण्डले त्रिकोणे पतितस्य पङ्गोः शोकः स्यात् तथा मम अध्यात्मादिदुःखत्रयसंसर्गजः शोकः अस्ति इति।।३५।। 'अनीशया शोचति मुह्यमानः'(श्वे.४.७) इति श्रुत्युक्तं दैन्यरूपं शोकं निदर्शनेनाह—सोहमिति। आत्मानं शोचामि,'कां गतिं यास्यामि' इत्याकारकशोकस्य गोचरतां नयामि, बालाऽपत्यत्वादिविशिष्टा नारीव। इति द्वयोरर्थः।।३६-७।। शोचन्तम् इति। तं माम् आत्मानं शोचन्तं शोकाब्धेः

नक्षत्रविद्या कहा जाता है। साँपों में जो देवशरीरों वाले होते हैं उन्हें वश में लाने वाली विद्या गारुड है। इन सबमें मैं निष्णात हूँ। सब जनों का मनोरंजक रूप से उपकारक होने से गांधर्वशास्त्र 'जनविद्या' है जिसमें संगीत का प्रतिपादन है। इस विद्या का तो मैं प्रतिष्ठित विद्वान् हूँ ही। (इस प्रकार इक्कीस विषयों में मेरी विशेषज्ञता हैं: १) ऋग्वेद, २) यजुर्वेद, ३) सामवेद, ४) अथर्ववेद, ५) इतिहास, ६) पुराण, ७) व्याकरण, ८) पित्र्य, ९) राशि (गणित), १०) दैव (शकुनशास्त्र), ११) निधि, १२) वाकोवाक्य, १३) नीतिशास्त्र, १४) देवविद्या, १५) वेदविद्या, १६) भूतविद्या, १७) मन्त्र, १८) क्षत्रविद्या, १९) नक्षत्रविद्या, २०) सर्प-वशीकरण विद्या और २१) जनविद्या (संगीत)।)३१-२।। हे मुने! ये सारे विषय मैं जानता हूँ लेकिन वेद में तात्पर्यतः प्रतिपादित उस विद्या से वंचित हूँ जो स्वात्मा के मोक्ष का हेतु है! निज आत्मा के वास्तविक स्वरूप के ज्ञान से रहित होने से मैं केवल मन्त्रज्ञ हूँ, मन्त्रों के उस रहस्यार्थ का ज्ञाता नहीं जिसे प्रतिपादित करना मंत्रों का प्रधान तात्पर्य है।।३३।। आप सरीखे परम आप्त श्रद्धेय महात्माओं से मैं सुन चुका हूँ कि आत्मवेत्ता जीवित अवस्था में ही कारण समेत सारे शोक को— कर्तृतादि के अभिमान को—पार कर जाता है, इससे सर्वथा रहित हो जाता है। मुझे तो हमेशा ही शोक बना रहता है! ज़मीन पर त्रिकोणात्मक वह्नि के घेरे में कोई लंगड़ा फँस जाये तो उसे जैसा शोक होगा वैसा ही अध्यात्म-अधिभूत-अधिदेव इन तीन से होने वाले ताप से मैं शोकाकुल बना रहता हूँ।।३४-५।। हे दुःखियों पर करुणा करने वाले! मैं हमेशा अपने बारे में शोक करता हूँ कि मेरी क्या गति होगी! कोई

१. 'सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवाऽस्मि नात्मवित्। श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यः—तरति शोकमात्मविद्—इति। सोऽहं भगवः शोचामि। तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयतु इति।'३।

शोचन्तं तमिहात्मानं तापत्रयवशं गतम्। शोकाब्धेरत्यगाधस्य परपाराभिलाषितम्।।३८
भगवान् मां परं पारं तारयत्वत्र सत्तमः। मज्जन्तं बहुधा शोकसागरे दुस्तरे नृभिः।।३९

अथ सनत्कुमारोपदेशः

एवं वदन्तं तं प्राह भगवान् मुनिसत्तमः। यत्किञ्चिदध्यगीष्ठास्त्वं नामैतद् मुनिसत्तम।।४०
वागादिकं प्रपञ्चैकदेशभूतं वदन्ति तत्। नामत्वेनेदमखिलम् उपास्वाऽज्ञोऽसि यावता।।४१

परपारे अभिलाषः सञ्जातो यस्य स तथा तं, नृभिर्दुस्तरे शोकाब्धौ मज्जन्तं च भगवत्त्वात् पूज्यः परं पारं तीरं तारयतु प्रापयतु। इति द्वयोरर्थः।।३८-९।।

एवमिति। एवं नारदं वदन्तं प्रार्थयन्तं प्रति स्थूलारुन्धतीन्यायेन परं तत्त्वं बोधयितुं भगवान् मुनिः सनत्कुमारः एवम् आह। 'एवं' कथम्? हे नारद! यत्किञ्चित्त्वम् अध्यगीष्ठाः अध्ययनेन ज्ञातवान् असि एतत् सर्वं नाम एव शब्दरूपमेव। तत्रोपपत्तिमाह—वागादिकमिति। यतो वागादिकं यावत् प्रपञ्चस्य एकदेशभूतं वस्तुजातं तत् सर्वं नामत्वेन नामत्वरूपेण एव वदन्ति वदनकर्मतां नयन्ति। यदि नाम न स्यात् तर्हि किञ्चिदपि वक्तुं न शक्येत। अतो नाम सर्वात्मकमित्यर्थः। फलितमाह—इदमित्यादिना। तस्माद् इदं नाम अखिलं सर्वात्मकं ब्रह्मरूपमिति यावत् उपास्व पुनः पुनश्चिन्तय। यावता इत्यव्ययं हेतौ। तथा च—यतोऽज्ञः द्वैतवासनाकुण्ठितचित्तः असि अतः चित्तस्य साक्षाद् ब्रह्माकारतायोग्यत्वाय अभ्यस्ते नाम्नि एव तावद् ब्रह्मभावनां कुरु। इति द्वयोरर्थः।।४०-१।।

पतिव्रता नारी जवानी में ही विधवा हो जाये और उसे सँभालने वाला कोई बंधु-बांधव न हो तो चाहे उसके छोटे बच्चे हों या न हों, वह गरीबी से पीडित होकर अपने बारे में लगातार अत्यधिक शोक जैसे करती रहती है वैसे मैं स्वयं के बारे में शोकमग्न रहता हूँ।।३६-७।। अपने बारे में शोकाकुल, त्रिताप के वशीभूत, बहुत गहरे शोकसागर के परले किनारे जाने को उतावले, मनुष्य जिस दुःखसमुद्र को स्वयं पार नहीं कर सकते उसमें बहुत तरह से डूबते हुए मुझ नारद को सज्जनों में श्रेष्ठ तथा समग्र ज्ञानादि से संपन्न आप इस संसारसागर के पार पहुँचाने की कृपा करें'।।३८-९।।

इस प्रकार मुमुक्षा व्यक्त करने वाले नारद से मुनिवर भगवान् सनत्कुमार ने 'सूक्ष्म वस्तु के परिचयार्थ स्थूल चिह्नों का प्रयोग करना चाहिये' इस नीति का आश्रयण ले यों कहना आरंभ किया : मननशीलों में उत्तम नारद! अध्ययन से जो कुछ तुमने जाना है यह 'नाम' ही है, केवल शब्द ही हैं। प्रपंच का हिस्सा वागादि जितनी वस्तुएँ हैं उन्हें नामसामान्य रूप से ही कहते हैं, यदि नाम न होता तो कुछ भी कहा नहीं जा सकता था। इस दृष्टि से नाम सर्वरूप हैं अतः पुनः पुनः चिंतन करो कि यह नाम ही सर्वात्मा ब्रह्म है। तुम्हारा चित्त अभी द्वैत की वासना से कुण्ठित है अतः सीधे ही ब्रह्म का साक्षात्कार कर नहीं सकता। उसकी योग्यता पाने के लिये जिसका तुम्हें अभ्यास है उस नाम में ही ब्रह्मदृष्टि करो। (कार्यवर्ग को नामधेयमात्र पूर्वाध्याय में कह चुके हैं, तदनुसार ही यहाँ नारदजी को ज्ञात अर्थसमूह को 'नाम' कहा है। जो कुछ नारद ने समझा है वह कार्यप्रपंच ही है और वह नाम ही है, कहने भर को ही है। प्रत्येक अभिधेय अपने अभिधान से अलग नहीं। सभी अभिधानों को समानरूप से दृष्टि में रखकर यहाँ सनत्कुमार ने 'नाम' कहा है। जैसे प्रतिमा को विष्णु समझा जाता है ऐसे उस 'नाम' को ब्रह्म समझना है, अभिधानसामान्य में व्यापक सच्चिदानंद दृष्टि करनी है। यद्यपि प्रकरण-प्रतिपाद्य भूमतत्त्व ही है तथापि एकाएक वह वस्तु किसी को समझ नहीं आती अतः उपासना से बुद्धि पैनी की जाना ज़रूरी है। इसके लिये साधक की स्थिति के अनुरूप साधना बतायी जाती है। नारद क्योंकि समग्र शास्त्रों के अर्थों से परिचित व उनके चिंतन में संलग्न रहते थे इसलिये उन्हीं अर्थों के अभिधानों के सहारे उन्हें उपासना बतायी एवं आगे और क़दम बताने जा रहे हैं। अन्य भी जो इस मार्ग का आश्रयण ले वह अपने को ज्ञात सभी अर्थों के नामों को 'नाम' दृष्टि से एक समझकर 'नाम सच्चिदानंद है' यह ध्यान करे।

१. 'तं होवाच—यद्वैकिञ्चाऽध्यगीष्ठा नामैवैतत्।।३।। नाम वा ऋग्वेदो यजुर्वेदः .....सर्पदेवजनविद्या, नामैवैतद्, नामोपास्स्वेति।।४।। स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य यथा कामचारो भवति यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते।'

नाम ब्रह्मेति यो लोक उपास्ते पुरुषो हि सः। यावन्नाम्ना युतं विश्वं तावत्यस्य यथासुखम्।।
गतिर्भवति सर्वत्र महाराजस्य यादृशी।।४२

नाम्नोऽधिकस्य प्रश्नः

एतस्मादधिकं किञ्चिदस्तीत्येवं समीरिते। नारदेन ततो भूयस्तस्मादाह मुनीश्वरः।।४३

त्रयोदशतत्त्वोक्त्योत्तरम्

आशान्तानि हि तत्त्वानि वागादीनि त्रयोदश। उपास्वेत्येव सर्वत्र नामवत् तत्फलं तथा।।४४
तेन तेन च संयुक्ते विश्वस्मिन् गतिरित्ययम्। उक्तवान्नारदायाद्यो मुनिः सर्वार्थदर्शकः।।४५

नामोपासनस्यानुषङ्गिकं फलमप्याह—नामेति। यो नाम शब्दजातं ब्रह्मत्वेन उपास्ते स पुरुषः पुरुषपुङ्गवः 'दिवं स्पृशति भूमिं च शब्दः पुण्येन कर्मणा। यावत् स शब्दो भवति तावत् पुरुष उच्यते।।' इति भारते यक्षोक्तेः। तत्र हेतुमाह— यावन्नाम्नेति। यावद् विश्वं नाम्ना सम्बद्धं तावति सर्वत्र अस्य उपासकस्य गतिः स्वातन्त्र्यं भवति, स्वदेशे महाराजस्य इवेत्यर्थः।।४२।।

[1]एतस्मादिति। नाम्नि ब्रह्मदृष्टिमात्रेण शोको न निवर्तत इत्यत एतस्माद् नाम्नः अधिकं किञ्चिदस्ति चेत्तद् वक्तव्यम् इत्येवं नारदेन समीरिते पृष्टे सति मुनीश्वरः सनत्कुमारः ततो नाम्नो भूयः अधिकं किञ्चित् तत्त्वम् उक्तवान् इत्यर्थः।।४३।।

आशान्तानीति। उक्तरूपजिज्ञासया च अधिकमधिकं निरूपयन्, आद्यः स्वायम्भुवानां प्रथमो मुनिः वाचमारभ्य आशापर्यन्तं त्रयोदश तत्त्वानि आह। सर्वत्र वागादिपर्यायेषु उपास्वेति शब्देन ब्रह्मदृष्ट्या तदुपासनमाह। तथा तेन तेन वागादिना युक्ते विश्वस्मिन् प्रपञ्चे गतिः स्वातन्त्र्यं भवति इति आकारकं फलम् आह। इति द्वयोरर्थः।।४४-५।।

तानि त्रयोदश तत्त्वानि स्वरूपप्रदर्शनपूर्वकं निरूपयति— नाम्न इति पञ्चभिः। नामापेक्षया[2] वागिन्द्रियम्

जैसे मूर्ति विष्णु नहीं यह ज्ञान रहते हुए भी उसमें विष्णुदृष्टि की जाती है या ब्राह्मण मनुष्य दीखता है पर उसमें देवदृष्टि की जाती है वैसे नाम ब्रह्म नहीं यह ज्ञान रहने पर भी उक्त दृष्टि की जा सकती है।)।।४०-४१।। संसार में जो पुरुष यह उपासना करता है कि नाम ब्रह्म है उसकी वहाँ तक आराम से गति (स्वतंत्रता) हो जाती है जहाँ तक संसार नाम से सम्बद्ध है! जैसे महाराजा अपने राज्य में स्वतंत्र होता है वैसे कार्यप्रपंच के संदर्भ में यह उपासक स्वतंत्र हो जाता है, कार्यभूत संसार के व्यवहार में सक्षम हो जाता है। (यद्यपि नामादि में ब्रह्मदृष्टि का मुख्य फल अंत में कहा जाने वाला भूमबोध ही है तथापि इन अवान्तर फलों को साधक प्राप्त कर लेता है, भले ही विरक्तिवश इनका उपयोग न करे।)।।४२।।

यह समझकर कि नाम में ब्रह्मदृष्टि करने मात्र से शोक सर्वथा मिटेगा नहीं, नारद ने पूछा 'क्या इस नाम से बढ़कर भी कुछ है?' इस पर मुनीश्वर सनत्कुमार ने नाम से अधिक जो तत्त्व है उसका उपदेश नारद को दिया।।४३।। वाक् से आशा पर्यन्त एक से बढ़कर एक तत्त्व का नाम की तरह उपासना के लिये उन्होंने विधान किया जिन उपासनाओं का फल वैसा ही बताया जैसा नामोपासना का कहा था। वाक् से आशा तक तेरह प्रतीकों का उल्लेख है। वागादि प्रतीकों से सम्बद्ध प्रपंच के संदर्भ में स्वातंत्र्य ही इन उपासनाओं से लभ्य फल है।।४४-५।। उन्होंने ये तत्त्व बताये:

१. 'अस्ति भगवो नाम्नो भूय इति? नाम्नो वाव भूयोऽस्तीति। तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति।।'७.१.५।।
२. 'वाग्वाव नाम्नो भूयसी। वाग्वा ऋग्वेदं यजुर्वेदं... जनविद्यां दिवं च पृथिवीं च वायुं चाकाशं चापश्च तेजश्च देवांश्च मनुष्यांश्च पशूंश्च वयांसि च तृणवनस्पतीञ्श्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलिकं धर्मं चाऽधर्मं च सत्यं चाऽनृतं च साधु चाऽसाधु च हृदयज्ञं चाहृदयज्ञं च यद्वै वाङ् नाभविष्यन्न धर्मो नाऽधर्मो व्यज्ञापयिष्यन्न सत्यं नानृतं न साधु नासाधु न हृदयज्ञो नाऽहृदयज्ञो वागेवैतत्सर्वं विज्ञापयति। वाचमुपास्वेति।।१।। स यो ह वाचं ब्रह्मेत्युपास्ते यावद्वाचो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्ते। अस्ति भगवो वाचो भूय इति? वाचो वाव भूयोऽस्तीति। तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति।।७.२.२।।

नाम्नो वागिन्द्रियं भूयः तस्मात् संशयरूपभृत्। मनस्ततोऽपि सङ्कल्पो यद् इच्छेतीह गीयते।।४६
चित्तं सङ्कल्पतो भूयः सामान्यज्ञानरूपकम्। तस्मादपि च चिन्ताऽथ ध्यानं ज्ञानप्रवाहभृत्।।४७
ध्यानादपि च विज्ञानं विशेषज्ञानरूपभृत्। विज्ञानाच्च बलं भूयो भीता यस्माद्धि वैरिणः।।४८
बलादप्यधिकं प्रोक्तमन्नं भूमिसमुद्भवम्। भूमेरन्नस्वरूपाया आपोऽथाऽभ्यधिकास्ततः।।४९

अधिकं, कारणत्वात्। तस्माद् वागिन्द्रियादपि मनः अधिकं, तत्प्रेरकत्वात्, यद् मन इच्छेति लोके गीयते; इच्छया हि वागिन्द्रियं प्रेर्यत इति भावः। तस्माद् इच्छारूपाद् मनसोऽपि सङ्कल्पोऽधिकः। कीदृशः? संशयरूपभृत् संशयस्य रूपं नानाकोटिकत्वं तस्य धारकः। सङ्कल्पाख्याऽन्तःकरणवृत्तिर्हि कर्तव्याकर्तव्यलक्षणकोटिद्वयं विभागेन अवगाहमाना इच्छां जनयतीति प्रसिद्धम् इति भाष्यानुसारिव्यवहितान्वयेनाऽर्थः।।४६।। चित्रमिति। उक्तरूपात् सङ्कल्पाद् अपि चित्तम् अधिकम्। तत्र हेतुगर्भं विशेषणं सामान्येति। सामान्यं सादृश्यं तस्य ज्ञानरूपमित्यर्थः। अनुसन्धानात्मकेन चित्तेन हि हिताऽहितसाधनतयाऽनुभूतपदार्थानां सादृश्यं पुरोवर्तिषु यदा विषयी क्रियते तदा सङ्कल्पो भवतीति भावः। तस्मात् चित्तादपि ध्यानं ज्ञानसन्ततिलक्षणचिन्तारूपम् अधिकम्। चिन्तायाः संस्कारोद्बोधकत्वेन अनुसन्धानहेतुतायाः प्रसिद्धत्वाद् इति भावः।।४७।। ध्यानादिति। ध्यानमपि तस्यैव कर्तुं शक्यते यद्वस्तूपेक्षाभिन्नज्ञानरूपेण विशेषज्ञानेन विषयी कृतम् इत्यतो विशेषज्ञानरूपं विज्ञानं स्वकार्याद् ध्यानाद् अधिकं, तथा विज्ञानमपि अन्नाहारकृतावयवोपचयरूपबलशालिनैव मनसा साध्यमित्यतो विज्ञानात् कार्याद् बलम् अधिकं वैरिभयहेतुत्वेनाऽपि प्रसिद्धत्वाद् इति। तस्माद् बलादपि तत्कारणम् अन्नं भूमिरूपमधिकम्। अन्नरूपाया भूमेः अपि तत्कारणभूता वृष्ट्यादिरूपा आपः अधिकाः। इति द्वयोरर्थः।।४८-९।। तेज इति। ऊष्मरूपेण वृष्ट्यादिरूपजलहेतुतया प्रसिद्धमूतं तेजः अपि ततो जलेभ्योऽधिकम्। अत्र वृष्टिहेतुतया प्रसिद्धस्य बाह्यवायोः तेजसि अन्तर्भावो विवक्षित इति द्योतयंस्तेजो विशिनष्टि पवनसंयुक्तम् इति। तस्मात् तेजसोऽपि तदाधारभूत आकाशोऽधिकः। आकाशादपि सुषुप्त्यन्ते तत्सृष्टिनिमित्तभूता स्मृतिरधिका, न हि स्रष्टव्यजातीयस्मृतिं विना किंचित्[1] सृज्यते। तस्याः स्मृतेरपि निदानभूता आशा 'इदमेवं स्याद्' इत्याकारिकाऽधिका, न हि निराशस्य क्षीणकामस्य किञ्चित् स्मरणे प्रयोजनम् इत्यर्थः।

नाम से वाक्-इन्द्रिय बढ़कर है क्योंकि नाम के प्रति वह कारण है। जिस मन को संसार में 'इच्छा' कहा जाता है वह वाक् से बढ़कर है क्योंकि उसका प्रेरक है, इच्छा से ही वागिन्द्रिय प्रेरित होती है। उस मन से बढ़ कर है संकल्प जो संशय को धारण करता है : जिस ज्ञान में एकाधिक कोटियाँ हों वह संशय होता है, संकल्प नामक अंतःकरणवृत्ति ही कर्तव्य-अकर्तव्य इन दो कोटियों का विचार कर इच्छा को उत्पन्न करती है यह सर्वानुभवसिद्ध है अतः मन से संकल्प बढ़कर है यह संगत है। (पुराणवाक्य का सीधा अर्थ लगता है कि संशय रूप वाला मन वाक् से बढ़कर है और इच्छा कहलाने वाला संकल्प मन से बढ़कर है। किंतु भगवान् भाष्यकार ने मन और संकल्प की जैसी व्याख्या की है वैसा ही यहाँ भी समझना उचित होने से टीकाकार ने पूर्वोक्त अर्थ ही ग्रंथारूढ किया है।)।।४६।। समानता का ज्ञान चित्त है जो संकल्प से बढ़कर है। उपस्थित पदार्थों में हितसाधन या अहितसाधन की समानता दीखने पर ही संकल्प होता है अतः वैसा देखने वाला चित्त संकल्प से अधिक है। उस चित्त से बढ़कर है ध्यान अर्थात् एक-से ज्ञान का प्रवाह। ध्यानानुरूप संस्कार ही चित्त द्वारा अनुसन्धान कराते हैं अतः चित्त से अधिक है ध्यान।।४७।।

ध्यान भी उसी वस्तु का किया जा सकता है जिसे उपेक्षा नहीं वरन् विशेष ज्ञान का विषय बनाया हो, ढंग से समझा हो। विशेषज्ञान का ही नाम विज्ञान है। वह विज्ञान ध्यान से बढ़कर है। मन अन्नमय है, अन्न से,

---

१. पूर्वसदृशमिति शेषः। सृज्यते 'नियमत' इति शेषः। तेन काकतालीयेन क्वचित् स्मृतिं विनापि पूर्वतुल्योपजनिर्न वार्यते। तथा पूर्वविसदृशोत्पादने स्मृतिर्न हेतू क्रियते।

तेजः पवनसंयुक्तमाकाशश्च ततो महान्। आकाशात् स्मरणं भूयः तस्मादाशाऽतिदीनता।।५०

आधिक्ये युक्तिः

एवमेतानि तत्त्वानि ह्यधिकान्युत्तरोत्तरम्। उक्त्वोपपत्तिमप्याह स एव मुनिसत्तमः।।५१

वाक्

ऋगादयोऽत्र वाचैव ज्ञायन्ते ये त्वयेरिताः। अर्था नानात्मकास्तद्वल्लोकाः स्वर्गादयोऽपि च।।५२

पृथिव्यादीनि भूतानि पञ्च देवादयस्तथा। जङ्गमाः स्थावरा जीवाः शतकोटिविभेदिनः।।५३

तथा च संग्रहश्लोकः—'वाङ् मनः सङ्कल्पचित्तध्यानविज्ञानकं बलम्। अन्नाऽप्तेजांस्यथाऽऽकाशस्मराशाः स्युस्त्रयोदश।।' इति ५०।।

अथ नामादिभ्यो वागादीनाम् आधिक्यं याभिः उपपत्तिभिः त्रयोदशपर्यायेषु श्रुत्योपन्यस्तं ताः प्रतिपादयितुं प्रतिजानीते—एवमिति। उक्तप्रकारेण एतानि वागादीनि उत्तरोत्तरम् अधिकानि प्रतिपाद्य तेषां प्रत्येकम् आधिक्यसाधिकां युक्तिमपि स आद्यो मुनिरेव प्राहेत्यर्थः।।५१।। तत्र नाम्नो वाच आधिक्ये तामाह—ऋगादय इति चतुर्भिः। ऋग्वेदादयः शब्दविस्तरा ये त्वया नारदेन ईरिताः विदितत्वेनोक्ताः, ये च तेषाम् ऋग्वेदादीनामर्थाः, ये च स्वर्गादयो लोकाः, ते सर्वे पदार्था वाचा वागिन्द्रियेणैव निमित्तभूतेन परैर्विज्ञायन्ते व्यवह्रियन्त इत्यर्थः।।५२।। पृथिव्यादीनीति। तथा पृथिव्यादीनि पञ्च भूतानि, देवा इन्द्रादयः, आदिपदग्राह्या असुरादयश्च, तथा मनुष्यादयो जङ्गमाः, तृणादयः स्थावराश्च नानाभेदाः तेनैव विज्ञायन्त इति।।५३।। धर्म इति। तथा एतद् अष्टकम्

संवर्धित अवयवों वाला अर्थात् बलिष्ठ मन ही विशेष ज्ञान कर सकता है अतः विज्ञान से बढ़कर बल है। यह वही बल है जिससे दुश्मन डरते हैं (अर्थात् यहाँ केवल शारीर बल नहीं वरन् मनोबल भी विवक्षित है। लोक में शारीरिक दृष्टि से पुष्ट लोग भी दृढ़तर मनोबल वाले से डरते देखे जाते हैं।) उस बल से भी बढ़कर है अन्न जो भूमि से उपजता है अतः भूमि ही उसका रूप है। उस अन्नरूप भूमि से बढ़कर है बरसात आदिरूप जल।।४८-९।। बरसात आदि रूप वाले जल के हेतुरूप से प्रसिद्ध है गर्मीरूप तेज अतः जल से बढ़कर तेज है किंतु अकेला तेज जलहेतु नहीं वरन् वायु से मिलकर ही है, एवं च तेज-वायु मिलकर ही जल से बढ़कर हैं। तेज-वायु का आधार जो आकाश वह उन दोनों से बढ़कर है। आकाश से बढ़कर है स्मृति : सुषुप्ति ख़त्म होने पर आकाशादि प्रपंच की उत्पत्ति होती है जिसके लिये ज़रूरी है आकाश आदि की स्मृति होना क्योंकि जिसे उत्पन्न करना है उसकी जाति के पदार्थ की स्मृति के बिना उसका उत्पादन संभव नहीं। इस प्रकार आकाश के प्रति कारण होने से स्मृति उससे बढ़कर है। स्मृति का कारण है आशा, 'यह यों होवे' ऐसी उत्सुकता। जिसे कोई आशा नहीं वह निष्काम सज्जन कुछ याद करे इसमें कोई प्रयोजन नहीं। आशा का प्रकट रूप अत्यंत दीनता है! दीन वही है जो कुछ-न-कुछ माँगता रहे और आशा का मतलब ही है बदली परिस्थिति, वस्तु आदि की माँग मन में रखना। (इस प्रकार अब तक बताये क्रमशः प्रतीक हैं— नाम, वाक्, मन, संकल्प, चित्त, ध्यान, विज्ञान, बल, अन्न, जल, तेज (वायु), आकाश, स्मृति, आशा।)।।५०।।

महामुनि सनत्कुमार ने एक-से-बढ़कर एक तत्त्व बताये ही नहीं अगला-अगला तत्त्व पूर्व-पूर्व से बढ़कर क्यों है यह भी उन्होंने समझाया।।५१।।

पहले बताया कि नाम से वाक् क्यों अधिक है : हे नारद! जिन ऋगादि शब्दविस्तारों को तुमने ज्ञात बताया, जो उन शब्दों के नानाविध अर्थ हैं, स्वर्गादि लोक हैं, इन सभी पदार्थों का अन्य लोग व्यवहार तभी कर सकते हैं जब वाक् इंद्रिय का प्रयोग हो (अर्थात् वाक् जब नाम बोले तभी अन्यों को कुछ पता चले)।।५२।। पृथ्वी आदि पाँचों भूत, देव आदि लोकांतरवर्ती प्राणी, अनंत भेद वाले चराचर जीव सब वाक् के सहारे ही पता चलते हैं।(यद्यपि इनका ज्ञानमात्र प्रत्यक्षादि से संभव है तथापि इनसे कोई प्रयोजन साधने वाला ज्ञान बिना वाक् के नहीं होता, साक्षात् इनके बारे में तथा इनसे सम्बद्ध अन्य बातों के उपदेश के बिना वैसा ज्ञान नहीं होता।)।।५३।।

धर्मः सुखकरः सत्यं यथाभूतार्थभाषणम्। साधु सम्यग्वचः प्रोक्तं हृदयज्ञं मनःप्रियम्।।५४
एतच्चतुष्टयं चास्माद् विपरीतं चतुष्टयम्। वाचा विनाऽत्र को नाम जानीयादष्टकं त्विदम्।।
पूर्ववत्तत एवैषा वाग् ब्रह्मेतीह नामवत्।।५५

मनः

अक्षे वा कुवले वा द्वे यद्वद् आमलके च वा। मुष्टिर्गृह्णाति तद्वत्तु मनो वाचं च नाम च।।५६
मनसा प्रविचार्यैव वेदाध्ययनमाचरेत्। कर्मणां करणं तद्वद् अभिलाषं फलाश्रयम्।।
इह लोके परे वाऽपि कुरुते साधनेष्वपि।।५७

शरीरादि मनः प्रोक्तं सुखं नानाविधं तथा। ब्रह्माऽपि गम्यते तेन यस्माद् ब्रह्म मतं ततः।।५८

अष्टपदार्थानां वृन्दं वाचोऽभावे को ज्ञातुं शक्नुयात्? 'एतत्' किम्? सुखहेतुत्वेन प्रसिद्धो धर्मः प्रथमः। यथा यदनुभूतं तथा तस्य भाषणरूपं सत्यं द्वितीयम्। सम्यक् परोपकारकं यद् वचः तद्रूपं साधु तृतीयम्। मनःप्रियं सद्यो मनःप्रसादकं यद्वचः तद्रूपं हृदयज्ञं चतुर्थम्। एतद् धर्मादिरूपं चतुष्टयम्। तद्विपरीतम् अधर्माऽसत्याऽसाध्वहृदयज्ञरूपं चतुष्टयं यत्तद्रूपमिति। ततः सर्वनामव्यवहारहेतुत्वाद् एषा वाक् ब्रह्मत्वेन उपास्या नामवत्। एतदुपासनस्य फलं तु पूर्ववद् नामोपासनवद् एव। इति द्वयोरर्थः।।५४-५।।

अथ वागपेक्षया मनसोऽधिकत्वे तामाह[1]— अक्षे वेति त्रिभिः। द्वे अक्षे बिभीतकफले, कुवले बदरीफले वा, आमलके वा यथा मुष्टिर्गृह्णाति स्वस्मिन्नन्तर्भावयति तथा मनोऽपि उक्तरूपां वाचं नाम च एतद् द्वयं गृह्णाति स्वस्मिन्नन्तर्भावयतीत्यर्थः। न हि मनसोऽभावे वागादिकं दृश्यत इति भावः।।५६।। मनसेति। यतो मनसा विचार्यैव वेदाध्ययनं, कर्मणां यागादीनां करणम् अनुष्ठानं, तथा लोकद्वयवर्तिफलविषयकं तत्साधनविषयकं वा अभिलाषं च कुरुते—इत्यर्थः।।५७।। शरीरादीति। शरीरमिन्द्रियादिकं वा यत् श्रुतौ 'आत्म'शब्देनोक्तं तत् सर्वं मन एव, तदन्वयव्यतिरेकानुविधानात्। तथा लोकशब्देन कर्मसाधनेन यदुक्तं तन्नानाविधं लौकिकं सुखम् अपि मन एव। तथा तेन मनसा संस्कृतेन ब्रह्म परं लभ्यत इत्यतोऽपि तद् मनो ब्रह्म मतम् इत्यर्थः। तथा च तस्य ब्रह्मत्वेन उपासनं युक्तमिति भावः।।५८।।

बिना वाक् के इन आठ पदार्थों को कौन जान सकता है! १) धर्म—जिसके बारे में प्रसिद्ध है कि वह सुख का हेतु है। २) सत्य—जिसका जैसा अनुभव किया उसका वैसा कथन करना। ३) साधु—अन्यों का उपकार करने वाली बातें। ४) हृदयज्ञ—वे बातें जो तुरंत मन प्रसन्न करें। ५) अधर्म—दुःख का हेतु। ६) असत्य—अपनी समझ की अपेक्षा अलग ढंग से अभिव्यक्ति। ७) असाधु—अपकारक वार्ता। ८) अहृदयज्ञ—मन को सद्यः दुःख देने वाली बातें। यों सभी नाम-व्यवहारों का कारण होने से इस वाक् की ब्रह्मरूप से वैसे ही उपासना करनी चाहिये जैसे नाम की करने के लिये कहा था। इस उपासना का फल भी उसी तरह का है जैसा नामोपासना का बताया था अर्थात् जहाँ तक वाक् की गति है वहाँ तक की स्वतंत्रता इस उपासना का फल है। (नाम से वाक् का क्षेत्र बड़ा है। जिसका नाम नहीं है उसका भी वर्णन आदि द्वारा वाग्व्यवहार हो जाता है।)।।५४-५।।

फिर वाक् की अपेक्षा उन्होंने मन को अधिक बताया : जैसे दो बिभीतक-फल या दो बेर या दो आँवले मुट्ठी पकड़ लेती है (तो उन दो फलों से मुट्ठी को अधिक माना ही जाता है।) वैसे वाक् और नाम दोनों को मन ग्रहण कर

१. 'मनो वाव वाचो भूयो यथा वै द्वे वाऽऽमलके द्वे वा कोले द्वौ वाऽक्षौ मुष्टिरनुभवत्येवं वाचं च नाम च मनोऽनुभवति। स यदा मनसा मनस्यति—मन्त्रानधीयीय—इति अथाऽधीते, कर्माणि कुर्वीय—इत्यथ कुरुते, पुत्रांश्च पशूंश्चेच्छेय—इत्यथेच्छते, इमं च लोकममुं चेच्छेय—इत्यथेच्छते। मनो ह्यात्मा मनो हि लोको मनो हि ब्रह्म मन उपास्स्वेति।।१।। स यो मनो ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्मनसो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति..... ब्रवीत्विति।।'७.३.२।।

सङ्कल्पः

सङ्कल्पवान् पुमान् कुर्याद् व्यापारं मानसं ततः। वागिन्द्रियसमुद्भूतं ततः शब्दसमुत्थितम्।।५६
शब्द ऐक्यं समायाति वैदिकः शब्दसञ्चयः। तत्र कर्माणि तिष्ठन्ति सुखदानि शरीरिणाम्।।६०
एवं सङ्कल्प एव स्यात् कर्मणां कारणं सदा। उत्पत्तौ संहृतौ तद्वत् स्थितावपि च पण्डितः।।६१
स्वर्गादिकास्तथा लोका अपि भूतानि पञ्च वा। सङ्कल्पे सति कुर्वन्ति विश्वमेव चराचरम्।।६२
वृष्टिरन्नं तथा प्राणा मन्त्राः कर्म च तत्फलम्। क्रमेण जायते कर्मफलात् स्वर्गादिमान् भवेत्।।६३

सङ्कल्पस्य[1] आधिक्यमुपपादयति—सङ्कल्पवान् इति षड्भिः। य उक्तरूपसंकल्पयुक्तः स एव मानसव्यापारं सर्वं करोति ततो मानसव्यापारानन्तरं च वाग्व्यापारं, ततो नामाख्यशब्दव्यापारं करोतीत्यर्थः।।५६।। तत्र शब्दव्यापारे सकलः कर्मविधायको वैदिकादिः शब्दसमूहोऽन्तर्भवति, तत्र शब्दसमूहे च तत्प्रकाशकानि सर्वाणि कर्माणि तिष्ठन्ति इत्याह—शब्द इति।।६०।। एवमिति। एवम् उक्तपरम्परया सङ्कल्प एव सर्वेषां कर्मणां कारणं यतस्तेषाम् उत्पत्तिस्थितिसंहारेषु पण्डितः कुशल इत्यर्थः।।६१।। स्वर्गादिका इति। एवशब्दो भिन्नक्रमः। तथा च स्वर्गादयो लोकाः पृथिव्यादीनि भूतानि च यत् चराचरं विश्वं सृजन्ति तद् विश्वसर्जनं सङ्कल्परूपे निमित्ते सति एव भवतीत्यर्थः।।६२।। एतत् स्फुटी करोति—वृष्टिरिति। लोकानां भूतानां च येऽभिमानिनो देवास्तेषां सङ्कल्पेन वृष्टिः भवति। वृष्ट्यभिमानिदेवस्य सङ्कल्पेन च अन्नं भवति। एवमग्रेऽपि देवरूपेण सङ्कल्पसम्बन्धो बोध्यः। तथाऽन्नसङ्कल्पाद् भूतानां प्राणाः सेन्द्रियाः प्रभवन्ति, तेभ्यो मन्त्राः स्मृत्यारूढरूपेण भवन्ति, तेभ्यः कर्माणि, ततः

लेता है। मन से अच्छी तरह सोच-विचार कर ही कोई वेदों का अध्ययन करता है, यागादि कर्मों का अनुष्ठान करता है तथा ऐहिक-आमुष्मिक फलों की व उनके साधनों की अभिलाषा करता है। क्योंकि मन रहते ही शरीरादि समझे जा सकते हैं इसलिये उन सभी को मन कहा जाता है। नाना प्रकार का वैषयिक सुख भी मन ही है क्योंकि उसके बिना विषयजन्य सुख होता नहीं। शास्त्राचार्योपदेश के संस्कारों वाले मन से ब्रह्म भी समझ आ जाता है इसलिये भी मन को ब्रह्म मानना संगत है। (यों नाम-वाक् से अधिक है मन जिसकी ब्रह्मदृष्टि से उपासना करनी चाहिये जिससे उतने क्षेत्र में स्वतंत्रता प्राप्त हो जाती है जितने में मन की गति है।) ।५६-८।।

आगे मन से बढ़कर संकल्प बताया : संकल्प में सक्षम पुरुष ही मानस चेष्टा कर सकता है, उसी से वाग्व्यापार और तत्पूर्वक नामव्यापार संभव है।।५६।। नाम अर्थात् शब्दव्यापार में ही वैदिकादि वे सब शब्द समा जाते हैं जो कर्मों के विधायक हैं अतः शब्दसमूह में ही सारे कर्म और देहधारियों को उनसे मिलने वाले सुखादि फल अंतर्भूत समझने चाहिये।।६०।। इस प्रकार कर्मों के जन्म-स्थिति-भंग में सक्षम संकल्प को ही कर्मों का कारण समझना चाहिये।।६१।। स्वर्गादि लोक (अर्थात् लोकस्थ देव) और पाँचों भूत (अर्थात् इनके अभिमानी देव) जो चराचर विश्व बनाते हैं वह तभी जब संकल्प होवे। लोकों के व भूतों के अभिमानी देवों के संकल्प से वृष्टि होती है, वृष्टि के अभिमानी देव के संकल्प से अन्न होता है, अन्नदेव के संकल्प से जीवों की इंद्रियाँ और प्राण निष्पन्न होते हैं, प्राणदेवों के संकल्प से मंत्र याद होते हैं, मंत्रदेवों के संकल्प से कर्म किये जाते हैं और कर्माभिमानी देवों के संकल्प से अपूर्व नामक फल उत्पन्न होता है जिस अपूर्व के अभिमानी देव के संकल्प से ही जीव स्वर्गादि का भोक्ता बनता है।।६२-३।। यों विश्वकारण है अतः यह संकल्प ब्रह्म है।

१. 'सङ्कल्पो वाव मनसो भूयान् यदा वै सङ्कल्पयतेऽथ मनस्यति अथ वाचमीरयति तामु नाम्नीरयति नाम्नि मन्त्रा एकं भवन्ति मन्त्रेषु कर्माणि।।१।। तानि ह वा एतानि सङ्कल्पैकायननि सङ्कल्पात्मकानि सङ्कल्पे प्रतिष्ठानि समक्लृपतां द्यावापृथिवी समकल्पेतां वायुश्चाकाशं च समकल्पन्तामापश्च तेजश्च तेषां संक्लृप्त्यै वर्षं सङ्कल्पते वर्षस्य संक्लृप्त्या अन्नं संकल्पतेऽन्नस्य संक्लृप्त्यै प्राणाः संकल्पन्ते प्राणानां संक्लृप्त्यै मन्त्राः सङ्कल्पन्ते मन्त्राणां संक्लृप्त्यै कर्माणि संकल्पन्ते कर्मणां संक्लृप्त्यै लोकः संकल्पते लोकस्य संक्लृप्त्यै सर्वं संकल्पते स एष संकल्पः सङ्कल्पमुपास्स्वेति।।२।। स यः सङ्कल्पं ब्रह्मेत्युपास्ते क्लृप्तान्वै स लोकान् ध्रुवान् ध्रुवः प्रतिष्ठितान् प्रतिष्ठितोऽव्यथमानानव्यथमानोऽभिसिद्ध्यति, यावत् सङ्कल्पस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो.... ब्रवीत्विति।।'७.४.३।।

सङ्कल्पस्तत एवाऽयं ब्रह्मरूप उपासनात्। अस्य लोकानवाप्नोति निर्दुःखानविनाशिनः।।
स्वयं च तादृशो भूत्वा सर्वातिशयवर्जितान्।।६४

चित्तम्

यदा सामान्यविज्ञानं सङ्कल्पोऽपि तदा भवेत्। उक्तो यः कारणत्वेन सर्वस्य जगतोऽपि हि।।६५
चित्तं ततोऽत्र विज्ञेयं सङ्कल्पस्याऽपि कारणम्। ब्रह्म सङ्कल्पवच्चाऽत्र फलमुक्तं ततोऽधिकम्।।६६
सर्वज्ञोऽपि यदा चित्तहीनो विद्वान् भवेदिह। तदाऽवजानते सर्वे ह्यपि तं तनयादयः।।६७
एवं वदन्तश्चेदेष सर्वज्ञश्चित्तवर्जितः। कस्मात्ततो न सर्वज्ञश्चित्तशून्यो जडो यथा।।६८
चित्तवन्तं नरं किञ्चिज्जानन्तमपि मानवाः। अङ्गी कुर्वन्ति सततं शृण्वन्ति च ततो वचः।।
लौकिकं वैदिकं वाऽपि सम्बन्धान्विहितानपि।।६९

फलम् अपूर्वाख्यं जायते। एवं क्रमेण सम्पन्नादपूर्वाख्यकर्मफलात् स्वर्गादिभोक्ता भवेद् इत्यर्थः।।६३।। सङ्कल्प इति। तत उक्तविधया विश्वहेतुत्वादेव अयं सङ्कल्पो ब्रह्म भवति, अस्य सङ्कल्पस्य तथा उपासनाद् निर्दुःखत्वाऽविनाशित्वनिरतिशयत्वैः युक्तान् लोकान् स्वयम् अपि तादृशो निर्दुःखत्वादिशाली सन्नवाप्नोतीत्यर्थः।।६४।।

अथ चित्तस्य[1] सङ्कल्पादाधिक्यम् उपपादयति—यदेति पञ्चभिः। यः विश्वकारणत्वेनोक्तः स सङ्कल्पोऽपि तदा भवति यदा वर्णितात्मकसामान्यज्ञानरूपं चित्तं भवति। ततः अन्वयव्यतिरेकाभ्यां सङ्कल्पस्याऽपि कारणं चित्तं ब्रह्म विज्ञेयम्। अत्र चित्तोपासने सङ्कल्पोपासनवत् ततः सङ्कल्पोपासनफलाद् अधिकं च फलं ध्रुवत्वादिशालिलोकप्राप्तिरूपं भवति। इति द्वयोरर्थः।।६५-६६।। चित्तस्याधिक्यं लोकेऽपि प्रसिद्धम् इति श्रुत्युक्तं वर्णयति—सर्वज्ञोऽपीति। सर्वज्ञतया प्रसिद्धोऽपि पुरुषो यदा चित्तेन अनुसन्धानलक्षणेन हीनो भवति तदा तं सर्वे सुतादयोऽवजानते अनादरं नयन्ति। कीदृशाः सुतादयः? एवं वदन्तः। 'एवं' कथम्? यदि अयं सर्वज्ञः तर्हि कस्माद् हेतोः चित्तवर्जितो दृश्यते? ततो जडवच्चित्तशून्यत्वान्न सर्वज्ञः। इति द्वयोरर्थः।।६७-८।। चित्ताऽभावे प्रशंसाव्यतिरेको दर्शितः। अथान्वयमाह—चित्तवन्तमीति। किञ्चिज्जानन्तमपि नरं पूर्वापरानुसन्धानलक्षणचित्तशालिनं सततं मानवा अङ्गी कुर्वन्ति साक्षित्वादौ। तथा ततः चित्तवतो लौकिकं वैदिकं वा वचः शृण्वन्ति च तेनेतिशेषः। तथा तेन चित्तवता विहितान् सम्बन्धान् गुरुत्वोत्तमर्णत्वादीनपि अङ्गी कुर्वन्ति इति व्यवहितान्वयः।।६९।।

संकल्प की ब्रह्मरूप से उपासना के फलस्वरूप उपासक ऐसे लोक पाता है जो दुःख-नाश-अतिशय से रहित हैं और वह खुद भी दुःखादि से रहित हो जाता है।।६४।।

उसके बाद संकल्प से चित्त की अधिकता बताई : चित्त अर्थात् सामान्य विज्ञान रहते ही वह संकल्प हो सकता है जो पूर्वोक्त ढंग से सारे जगत् का कारण है। बिना सामान्य विज्ञान के संकल्प होना संभव नहीं। इसलिये संकल्प का भी कारण चित्त है, उसकी ब्रह्मदृष्टि से उपासना करनी चाहिये। संकल्प की ब्रह्मरूप से उपासना के फल की तरह का किंतु उससे अधिक फल चित्त-ब्रह्मोपासना से प्राप्त होता है।।६५-६।।

सर्वज्ञ व्यक्ति भी जब चित्तशून्य हो जाता है, रोग उम्र आदि से अनुसंधान नहीं कर पाता, तब उसके पुत्रादि समेत सभी लोग उसकी अवज्ञा करते हैं। वे कहने लगते हैं 'अगर यह सर्वज्ञ होता तो अनुसन्धान में अक्षम क्यों हो

१. 'चित्तं वाव सङ्कल्पाद्भूयो यदा वै चेतयतेऽथ सङ्कल्पयतेऽथ मनस्यति अथ वाचमीरयति तामु नाम्नीरयति नाम्नि मन्त्रा एकं भवन्ति मन्त्रेषु कर्माणि।।१।। तानि ह वा एतानि चित्तैकायनानि चित्तात्मानि चित्ते प्रतिष्ठितानि तस्माद् यद्यपि बहुविद् अचित्तो भवति नायमस्तीत्येवैनमाहुर्यदयं वेद यद्वा अयं विद्वान्नेत्थमचित्तः स्यादित्यथ यद्यल्पविच्चित्तवान् भवति तस्मा एवोत शुश्रूषन्ते चित्तं ह्येवैषामेकायनं चित्तमात्मा चित्तं प्रतिष्ठा चित्तमुपास्स्वेति।।२।। स यश्चित्तं ब्रह्मेत्युपास्ते चित्तान् वै स लोकान् ध्रुवान्.....यावच्चित्तस्य ......ब्रवीत्विति।।७.५.३।।

ध्यानम्

स्वर्गादयस्त्रयो लोका ध्यायन्तीव सभूतकाः। गिरयो देवतास्तद्वद् मनुष्या अपि सर्वतः।।७०

मनुष्येषु महान्तो ये ध्यानवन्त इहाऽत्र ते। मनुष्येषु च ये[1] स्वल्पाः परदूषणसूचकाः।।

निन्दाकरास्तथा नित्यं कलहापकृतोद्यताः।।७१

ध्यानशून्याः सदा क्षिप्तचेतसो न च तादृशाः। महान्तः प्रभवो यद्वद् वर्तन्ते ध्यानसंयुताः।।७२

विज्ञानम्

यावद् वाचा विजानाति तावद् विज्ञानतोऽपि च। अदनीयं रसं तद्वत् षोढा भिन्नमयं पुमान्।।७३

अथ[2] चित्ताद् ध्यानाधिक्यम् उपपादयति—स्वर्गादय इति त्रिभिः। स्वर्गाऽन्तरिक्षभूमिसंज्ञाः त्रयो लोकाः पञ्च भूतानि च पर्वताश्च तद्वत् शमादिसम्पन्नत्वेन देवतारूपा मनुष्या एते सर्वे निश्चलत्वेन स्थिता ध्यायन्तीव ध्यानं कुर्वन्त इव लक्ष्यन्त इत्यर्थः। तथा च सर्वैः महद्भिः अभ्यस्यमानत्वाद् ध्यानं प्रशस्तमिति भावः।।७०।। ध्यानस्य लोकेऽपि सत्फलत्वं प्रसिद्धम् इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यामाह—मनुष्येष्विति। अत्र लोके ये मनुष्येषु महान्तो गुणैः पूज्यतां प्राप्ताः ते ध्यानवन्त इव ध्यानफललेशं प्राप्ता इवेति विज्ञायन्ते। इह जन्मनि जन्मान्तरे वा ध्यानं विना महत्त्वं न भवतीति भावः। एतेन श्रुतौ ध्यानापादांशपदस्य ध्यानस्य आपादो ध्यानेन आ समन्तात् पद्यमानं गम्यमानं फलं तदंशवन्त इति व्युत्पत्तिः सूचिता। येषु मनुष्येषु अल्पाः क्षुद्राः, तत्र हेतुगर्भं विशेषणत्रयं—परेत्यादि। कलहे अपकृते अपकारे च उद्यतास्ते ध्यानशून्यत्वादेव सदा विक्षिप्तचित्ता भवन्ति। तथा तादृशा महान्तः पूज्या न भवन्ति यद्वद् ध्यानसंयुताः प्रभवः सामर्थ्यविशेषेण मान्या वर्तन्ते। इति द्वयोरर्थः।।७१-२।।

ध्यानाद्[3] विज्ञानस्य आधिक्यम् उपपादयति—यावदिति। यावान् वाचो विषय उक्त ऋग्वेदादिरहृदयज्ञान्तः तावान् अपि-शब्दात् तदधिकोऽपि विषयो विज्ञानस्य श्रुतौ प्रोक्त इति प्रथमदलार्थः। तत्राऽधिकं दर्शयति—अदनीयमिति।

जाता? अतः मूर्ख की तरह चित्तशून्य होने से यह सर्वज्ञ नहीं है।'।।६७-८।। थोड़ी-बहुत जानकारी वाला भी हो पर पूर्वापर अनुसंधान कर सके, चित्तवान् हो, तो लोग हमेशा उसकी बात सुनते हैं, स्वीकारते हैं, लौकिक-वैदिक विषयों में उसके वचनों को महत्त्व देते हैं, वह जो संबंध प्रकट करता है ('मैं ब्राह्मण हूँ, गुरु हूँ' आदि कहता है) उसे मानते हैं। इस प्रकार चित्त के बिना अपमान और उसके रहते सन्मान मिलने से इसकी अधिकता स्पष्ट है।।६९।।

चित्त से भी ध्यान को अधिक बताया : स्वर्ग, अंतरिक्ष और भूमि ये तीनों लोक, पाँचों भूत, पर्वत, शमादि गुणों से संपन्न होने के कारण जो देवता समझे जा सकते हैं ऐसे मनुष्य—ये सभी निश्चल रूप से रहते हैं मानो ध्यानमग्न हों। अतः महान् जो लोकादि उनके द्वारा इसका अभ्यास किया जाने से ध्यान श्रेष्ठ है।।७०।। लोक में भी प्रसिद्ध है कि ध्यान का फल अच्छा होता है। संसार में जो मनुष्यों में महान् होते हैं, अपने गुणों के कारण पूज्य बनते हैं, उनके बारे में समझा जाता है कि उन्हें ध्यान के फल का हिस्सा मिला है। इस जन्म में या पूर्व जन्म में ध्यानाभ्यास किये बिना महत्त्व उपलब्ध नहीं होता। हमेशा झगड़ा, दूसरे का नुकसान, चुगली, निंदा आदि करने वाले जो क्षुद्र मनुष्य वे कभी ध्यान नहीं लगा पाते, उनका मानस सदा विक्षिप्त रहता है और वे वैसे महान् कभी नहीं हो पाते जैसे ध्यानी सज्जन अपनी सामर्थ्य से सम्माननीय बने रहते हैं।।७१-२।।

---

१. 'येष्वल्पा' इति टीकापाठः।

२. 'ध्यानं वाव चित्ताद् भूयो ध्यायतीव पृथिवी ध्यायतीवान्तरिक्षं ध्यायतीव द्यौर्ध्यायन्तीवाऽऽपो ध्यायन्तीव पर्वता ध्यायन्तीव देवमनुष्यास्तस्माद्य इह मनुष्याणां महत्तां प्राप्नुवन्ति ध्यानापादांशा इवैव ते भवन्त्यथ येऽल्पाः कलहिनः पिशुना उपवादिनस्तेऽथ ये प्रभवो ध्यानापादांशा इवैव ते भवन्ति ध्यानमुपास्स्वेति।।१।। स यो.... ब्रवीत्विति।'७.६.२।।

३. 'विज्ञानं वाव ध्यानाद् भूयो विज्ञानेन वा ऋग्वेदं विजानाति यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं..... (७.२.१ सदृशं वाक्यम्)... चाहृदयज्ञं चान्नं च रसं चेमं च लोकममुं च विज्ञानेनैव विजानाति विज्ञानमुपास्स्वेति।।१।। स यो......विज्ञानवतो वै स लोकान्.......ब्रवीत्विति।'७.७.२।।

लोकद्वयं च विज्ञानादवगच्छति सर्वदा। विज्ञानज्ञानसम्पन्नान् लोकानेष समाप्नुयात्।।७४

बलम्

बलवानेक एवाऽयं शतं विज्ञानसंयुतान्। बलेन कम्पयेत् स्वस्य बलिष्ठो भूमिसंश्रयः।।७५
बलवान् सर्व एवाऽयम् उत्तिष्ठति यतो यतः। उत्तिष्ठन् परिचर्यायां गुर्वादेः शक्तिमान् भवेत्।।७६
उपसत्तिं हि कुरुते परिचर्यारतो नरः। उपसत्तिरतो द्रष्टा श्रोता मन्ता तथैव च।।
बोद्धा कर्ता च विज्ञाता पुमान् भवति वै बलात्।।७७
लोकत्रयी तथा पञ्चभूतानि गिरयोऽपि च। देवोद्यानानि भूतानि जङ्गमानि स्थिराणि च।।
बलमाश्रित्य तिष्ठन्ति बलं ब्रह्म ततः स्मृतम्।।७८

अदनीयं विविधमन्नं तद्गतं षड्विधं रसं च लोकयोः व्यवहारजातं च विज्ञानादेव अवगच्छति इत्यर्थः। ततः प्रशस्तं विज्ञानं ब्रह्मत्वेन उपास्यं, तदुपासनाच्च विज्ञानेन शास्त्रार्थविषयकेन ज्ञानेन व्यवहारकौशलरूपेण च सम्पन्नानां लोकानां प्राप्तिर्भवतीत्यर्थः।।७३-४।।

ततोऽपि[1] बलाधिक्यम् उपपादयति—बलवान् इति चतुर्भिः। एकः अपि बलवान् शतसंख्यानपि विज्ञानयुतान् स्वस्य बलेन कम्पयति इति प्रसिद्धम्। तथा बलिष्ठ एव भूमेः संश्रयो धारको—भूपतिरिति यावद्—भवतीति च, 'वीरभोग्या वसुन्धरे' ति न्यायात्।।७५।। बलस्य शास्त्रोक्तप्रक्रिययाऽपि प्राशस्त्यमाह—बलवान् सर्व इति। यतो हेतोः बलवानेव यतः संयतः सन् उत्तिष्ठति उद्यमशाली भवति ततो गुरुप्रभृतीनां सेवायां शक्तो भवति, ततः परिचर्यारत उपसत्तिं गुरुप्रभृतीनां समीपगमनमप्रतिबन्धेन कुरुते तत उपसत्तौ रतः सन् द्रष्टा उपदेशकानां दर्शनस्य परीक्षणरूपस्य कर्ता भवति ततस्तदुक्तार्थानां श्रोता, ततो मन्ता उपपत्तिभिस्तच्चिन्तनकर्ता, ततो बोद्धा 'एवमेव' इत्यवधारणकर्ता, ततः कर्ता विहितानुष्ठाता, ततो विज्ञाता फलानां साक्षात्कर्ता च भवति। एतस्याः परम्पराया बलप्रयुक्तत्वाद् बलं प्रशस्तम्। इति द्वयोरर्थः।।७६-७।। जगत्स्थितिहेतुत्वाच्च तत्प्रशस्तमित्याह—लोकत्रयीति। यतः त्रिलोक्यादिकं बलप्रभावादेव स्थितं ततो बलं ब्रह्म मतं, ब्रह्मत्वेन ध्येयमित्यर्थः।।७८।।

ध्यान से बढ़कर विज्ञान को बताया : वाणी से व्यक्ति जितना जानता है उतना और उससे अधिक वह विज्ञान से जानता है। यह पुरुष विविध अन्न और उसमें होने वाले छह तरह के रस तथा इह लोक व परलोक के व्यवहार विज्ञान से ही जानता है। यों उत्तम जो विज्ञान इसकी ब्रह्मरूप से उपासना करनी चाहिये, उससे उन लोकों की प्राप्ति होती है जिनमें शास्त्रीय और व्यावहारिक ज्ञान भरपूर होता है।।७३-४।।

उससे भी बढ़कर है बल : विज्ञानसंपन्न सौ लोगों को भी अकेला बलवान् अपने बल से कँपा देता है! बलशाली ही भूमि का धारक अर्थात् राजा बनता है।।७५।। बलवान् ही संयमी होकर उद्यम कर पाता है जिससे गुरु आदि की सेवा कर सकता है। सेवा के फलस्वरूप वह बिना रोक-टोक गुरुजनों के पास जा सकता है, उनका नैकट्य पा लेता है। पास रहने से वह गुरुओं की निष्ठा देख पाता है जिससे उसकी श्रद्धा दृढतर हो जाती है और वह उनके उपदेश तत्परता से सुनता है, उन पर गंभीरता से विचार करता है, उनके बारे में निश्चय पर पहुँचता है, उनके बताये साधनों का अनुष्ठान करता है अतः श्रेष्ठ फलों का साक्षात् अनुभव कर लेता है। यों उत्तम फल पर्यन्त पहुँचने के कदम बल से ही लिये जा सकते हैं अतः बल का अत्यंत महत्त्व है।।७६-७।। त्रिलोकी, पंचभूत, पर्वत, देवताओं के बगीचे, स्थावर-जंगम प्राणी, आदि सब बल के प्रभाव से स्थिर रहते हैं अतः बल की ब्रह्मरूप से उपासना कर्तव्य है।।७८।।

---

१. 'बलं वाव विज्ञानाद् भूयोऽपि ह शतं विज्ञानवतामेको बलवानाकम्पयते स यदा बली भवत्यथोत्थाता भवति उत्तिष्ठन् परिचरिता भवति परिचरन्नुपसत्ता भवति उपसीदन् द्रष्टा भवति श्रोता भवति मन्ता भवति बोद्धा भवति कर्त्ता भवति विज्ञाता भवति, बलेन वै पृथिवी तिष्ठति बलेनान्तरिक्षं बलेन द्यौर्बलेन पर्वता बलेन देवमनुष्या बलेन पशवश्च वयांसि च तृणवनस्पतयः श्वापदान्याकीटपतंगपिपीलिकं बलेन लोकस्तिष्ठति बलमुपास्स्वेति।।१।। स यो.... ब्रवीत्विति।।'७.८.२।।

अन्नम्

दशरात्रं यदाश्नीयान्नैव कश्चिद् बलान्वितः। जीवन् मृतः सविक्षेपो जायते म्रियतेऽथ वा।।
सर्वेन्द्रियाणां व्यापारान् विमुञ्चति च मानसान्।।७९

अन्नं प्राप्यैव बलवान् सर्वेन्द्रियमनोयुतः। व्यापारवान् भवेत्तेन बलादन्नमिहाधिकम्।।८०

उपासनादितो गच्छेद् अन्नपानसमन्वितान्। लोकान् पुमान् यतस्तस्मादन्नं ब्रह्मेति कीर्त्यते।।८१

जलम्

आपो यदा प्रजायन्ते वृष्टिरूपास्तदा भवेत्। अन्नमप्यधिकं तासामभावे नैव किञ्चन।।८२

अन्नाभाव इमे प्राणा व्रजेयुः प्राणिनां क्षयम्। सति तस्मिन् हि वृद्धिं च तस्मादापोऽधिकाः
स्मृताः।।८३

त्रिलोका निखिलाः सर्वे स्थिरजङ्गमसंयुताः। आप एवान्नभूताः स्युर्न ततोऽन्यद्धि किञ्चन।।८४

आपो ब्रह्मेति यो वेद स कामान् निखिलानपि। आप्नुयात् तृप्तिमांश्चाऽयं भवत्येव न संशयः।।८५

बलादपि[1] तत्कारणमन्नमधिकमित्याह—दशेति। बलान्वितः अपि दशरात्रम् अन्नाऽलाभे सविक्षेपो नानाविक्षेपैः सहितो जीवन्मृतो वस्तुतो मृतो वा जायते, यत इन्द्रियव्यापारान् मानसव्यापारांश्च त्यजतीत्यर्थः।।७९।। अन्नं प्राप्येति। स एव च पुनः अन्नप्राप्तौ पूर्ववद् भवति। तेन अन्नस्य बलाद् अधिकत्वं स्फुटमित्यर्थः।।८०।। उपासनादिति। इतः अन्ने ब्रह्मदृष्टिरूपाद् उपासनाद् अन्नादिसम्पन्नानां लोकानां प्राप्तिः तैत्तिरीयादिश्रुत्यन्तरेऽप्युक्ता, ततोऽन्नस्य ब्रह्मत्वं युक्तमित्यर्थः।।८१।।

अथातो[2] जलानामाधिक्यं वर्णयति—आप इति चतुर्भिः। तासाम् अपाम्।।८२।। अन्नाऽभाव इति। वृष्टिप्रयुक्तान्नभावाऽभावयोः प्राणिनां वृद्धिक्षययोर्दर्शनाद् अन्नतोऽपाम् आधिक्यं स्फुटमित्यर्थः।।८३।। त्रिलोका इति। ऊर्ध्वाधोमध्यभावेन त्रिविधा निखिला लोकास्तथा तद्वर्तिनः सर्वे प्राणिनश्च अन्नरूपापन्नजलरूपा एव स्युः बोध्याः यतः ततो जलेभ्यः अन्यत् जलनिरपेक्षं किञ्चिन्नास्तीत्यर्थः।।८४।। आपो ब्रह्मेति। य आपो जलानि ब्रह्मेति आकारेण उपास्ते स निखिलान् कामान् प्राप्नुयात् सदा तृप्तिं चेत्यर्थः।।८५।।

बल से बढ़कर है अन्न : बलशाली व्यक्ति भी जब दस दिनों तक कुछ न खाये तो जीते हुए भी मरे जैसा हो जाता है, अनेक विक्षेपों से आकुल हो जाता है, कदाचित् मर भी जाता है। सभी इंद्रियों की और मन की चेष्टाएँ करना वह छोड़ देता है। उसे जब अन्न प्राप्त होता है तब सब इंद्रियों और मन से संपन्न हुआ वह पूर्ववत् सारे कार्य करने लगता है। इसलिये बल से भी बढ़कर अन्न है यह अनुभूत तथ्य है।।७९-८०।। उपासना के फलस्वरूप अन्नब्रह्मोपासक पुरुष उन लोकों को प्राप्त करता है जहाँ अन्न व पेय की भरमार है। इसलिये अन्यत्र भी वेद ने अन्न को ब्रह्म बताया है।।८१।।

अन्न से जल बढ़कर है : जब जल बरसता है तभी अन्न अधिक होता है, जल के बिना अन्न नहीं उपजता।

---

१. 'अन्नं वाव बलाद् भूयः। तस्माद्यद्यपि दश रात्रीर्नाश्नीयाद् यद्यु ह जीवेद् अथ वाऽद्रष्टाऽश्रोताऽमन्ताऽबोद्धाऽकर्ताऽविज्ञाताभवत्यथ अन्नस्याऽऽयै द्रष्टा भवति श्रोता भवति मन्ता भवति बोद्धा भवति कर्ता भवति विज्ञाता भवति अन्नमुपास्स्वेति।।१।। स यो ....ब्रवीत्विति।।' ७.९.२।।

२. 'आपो वावान्नाद्भूयस्यः, तस्माद् यदा सुवृष्टिर्न भवति व्याधीयन्ते प्राणा अन्नं कनीयो भविष्यतीति। अथ यदा सुवृष्टिर्भवति आनन्दिनः प्राणा भवन्ति अन्नं बहु भविष्यतीति। आप एवेमा मूर्ता येयं पृथिवी यदन्तरिक्षं यद् द्यौर्यत्पर्वता.....।।१।। स यो ....ब्रवीत्विति।।'७.१०.२।।

तेजः

तेजः सन्तापमतुलं दर्शयित्वाऽत्र सर्वतः। विद्युतश्च पुरो वातं सृष्ट्वा पश्चात् प्रवर्षति।।८६
तेजस्वी तेजसा युक्तो दीप्यमानः स्वया श्रिया। तमोलेशेन रहितस्तेजो ब्रह्म विदां भवेत्।।८७

आकाशः

तेजसो वायुसहिताद् आकाशोऽभ्यधिको यतः। तेजो नानाविधं वायुर्विश्वं चाऽत्रैव तिष्ठति।।८८
सर्वेन्द्रियाणां व्यापारानाकाशेनैव कुर्वते। सुखं दुःखं तथाऽऽकाशे सर्वो जन्तुः प्रयाति हि।।८९
अवकाशप्रकाशाभ्यां सम्पन्नान् कीर्तिभाजिनः। आकाशब्रह्मविल्लोकान् प्रयात्येव न संशयः।।९०

अद्भ्योऽपि[1] तेजसोऽधिकताम् उपपादयति—तेज इति द्वाभ्याम्। तेजः प्रवर्षति वृष्टिरूपजलानि सृजति। किं कृत्वा? सन्तापम् ऊष्मरूपं प्रदर्शयित्वा, ततो विद्युतो नानाविधाः पुरो वातं पूर्ववायुं च सृष्ट्वा इति प्रसिद्धम् इत्यर्थः।।८६।। तथाऽध्यात्ममपि तेजसो महिमा प्रसिद्ध इत्याह—तेजस्वीति। तेजस्वी पुरुषः श्रीमत्त्वेन, तमोदोषहीनत्वेन च प्रसिद्धः। ततो विदां विवेकिनां तेजो ब्रह्म भवेद् इत्यर्थः।।८७।।

[2]ततोऽप्याकाशोऽधिकः तत्प्रभृतिविश्वाधारत्वाद् इत्याह— तेजस इति त्रिभिः। वायुः पुरोवातादिरूपः तत्सहितात् तेजस आकाशोऽधिकः यतः तेजःप्रभृति विश्वं तत्र तिष्ठतीति।।८८।। सर्वेन्द्रियाणामिति। अध्यात्ममपि वागादिव्यापारा आकाशालम्बनेनैव जनैः क्रियन्ते, तथा सुखादिरूपकर्मफलभोगश्च क्रियत इत्यर्थः।।८९।। अवकाशेति। अवकाशो विस्तीर्णता, प्रकाशः प्रभा, ताभ्यां सम्पन्नान् कीर्तिशालिनश्च लोकान् स प्रयाति य आकाशं ब्रह्मत्वेन वेद उपास्त इत्यर्थः।।९०।।

अन्न न होने पर प्राणियों के ये प्राण क्षीण हो जाते हैं अन्न रहते ही प्राण प्रबल होते हैं। इसलिये अन्न का भी हेतु होने से जल उससे बढ़कर है।।८२-३।। तीनों अर्थात् सभी लोक और उनमें बसने वाले चराचर सारे प्राणी अन्नरूप को प्राप्त जल ही हैं क्योंकि जल से अन्य, जल से सर्वथा स्वतंत्र कुछ भी है नहीं।।८४।। जो जल की ब्रह्मदृष्टि से उपासना करता है उसकी सारी कामनाएँ पूरी हो जाती हैं और हमेशा तृप्त रहता है।।८५।।

तेजस्तत्त्व का बड़प्पन जल से भी अधिक है—पृथ्वी पर सब ओर बेहद गर्मी का अनुभव करा कर बिजली चमका कर, वृष्टि से पूर्वकालिक आँधी-तूफान चलाकर फिर तेज ही जल बरसाता है।।८६।। मनुष्यों में भी तेज जिसमें विशेष होता है वह प्रतापी-व्यक्ति अपनी कांति से आभामंडित रहता है, उसमें थोड़ा भी तमोगुण नहीं होता। इन कारणों से भी विवेकी तेज की ब्रह्मरूप से उपासना करते हैं।।८७।।

उससे अधिक है आकाश : वायु समेत तेज से बढ़कर है आकाश क्योंकि विविध तेज, वायु आदि सारा विश्व आकाश में ही रहता है। सब इंद्रियों के व्यापार आकाश के, जगह के सहारे ही लोग करते हैं। सभी जंतु आकाश में ही सुख-दुःख भोगते हैं।।८८-८९।। 'आकाश ब्रह्म है' ऐसी उपासना करने वाला निःसन्देह उन लोकों को जाता है जहाँ बहुत जगह और प्रभा है और जिनकी बहुत कीर्ति है।।९०।।

---

१. 'तेजो वावाद्भ्यो भूयः। तद्वा एतद् वायुमागृह्याऽऽकाशमभितपति। तदाहुर्निशोचति नितपति वर्षिष्यति वा इति तेज एव तत् पूर्वं दर्शयित्वाऽथापः सृजते तदेतदूर्ध्वाभिश्च तिरश्चीभिश्च विद्युद्भिराह्रादाश्चरन्ति तस्मादाहुर्विद्योतते स्तनयति वर्षिष्यति वा इति तेज एव तत्पूर्वं दर्शयित्वाऽथापः सृजते तेज उपास्स्वेति।।१।। स यस्तेजो...... ब्रवीत्विति।।'७.११.२।।

२. 'आकाशो वाव तेजसो भूयान्। आकाशे वै सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राण्यग्निराकाशेनाह्वयति आकाशेन शृणोति आकाशेन प्रतिशृणोति आकाशे रमत आकाशे न रमत आकाशे जायते आकाशमभिजायत आकाशमुपास्स्वेति।।१।। स य.... त्विति।।'७.१२.२।।

स्मरः

स्मरणादवगच्छन्ति ह्याकाशमपि मानवाः। व्यापारानिन्द्रियाणां च स्मरणादेव कुर्वते।।६१

ससाधनं सुखं तद्वद् दुःखं च स्मरणात् पुमान्। अवगच्छति सर्वोऽयं यदुक्तं कर्मणः फलम्।।६२

आशा

आशाविष्टः पुमान् सर्वं कुरुते पुण्यपातकम्। लोकद्वये सुखं तद्वद् दुःखमेव ससाधनम्।।
लोकद्वयं समाप्नोति निराशो न स्मरन्नपि।।६३

आशां ब्रह्मेति यो वेद तस्य कामा मनोगताः। सिद्ध्यन्ति सत्यसङ्कल्पः पुमानेष भवेद्धि सः।।६४

त्रयोदशैवं प्रश्नास्ते भूयोविषय ईरिताः। एते सनत्कुमारेण नारदायातिधीमते।।६५

ततोऽपि[1] स्मरपदोक्तायाः स्मृतेः अध्यासहेतुतया प्रसिद्धाया आधिक्यमाह—स्मरणादिति द्वाभ्याम्। अनुभूतप्रपञ्चस्मरणाद् एव हेतोः यत आकाशादिकं जगद् अवगच्छन्ति कल्पयन्ति, इन्द्रियव्यापारान् अप्यारभन्त इत्यर्थः।।६१।। ससाधनमिति। ससाधनस्य सुखादिरूपस्य कर्मफलस्य अपि ज्ञानं स्मृत्यधीनम् अतः स्मृतिः आकाशादधिका। तदुपासनफलं च तद्विषये कामचाररूपं बोध्यमित्यर्थः।।६२।।

ततोऽपि[2] कामनारूपाऽऽशाऽधिकेत्याह—आशाविष्ट इति। कामरूपाशाविशिष्ट एव पुरुषः स्मृत्या कर्माणि कुरुते तत्फलभोगाय लोकद्वये भ्रमति च। यस्तु निराशो निष्कामः स स्मरन् स्मृतिकर्ता अपिशब्दात् व्यापारान्तरकर्ता वा न भवतीत्यर्थः।।६३।। एवं विश्वहेतोः आशाया ब्रह्मत्वेन उपासकः सर्वेप्सितसिद्धिं लभत इत्याह—आशामिति। स्पष्टम्।।६४।।

एवं 'नाम्नः किंभूय' इत्यादिप्रश्नगोचराः त्रयोदशपदार्था वाचम् आरभ्य आशान्ताः सनत्कुमारेण नारदाय उक्ता इत्याह—त्रयोदशैवमिति। भूयोऽधिकं तद्रूपे विषये ये प्रश्नाः त एत ईरिताः समाहिताः।।६५।।

आकाश से स्मृति बढ़कर है : मानव आकाश को भी स्मृति के आधार पर समझ पाते हैं और इंद्रियों से चेष्टाएँ स्मृति के बल पर ही करते हैं, सुखादि कर्मफलों का व उनके उपायों का ज्ञान भी स्मृति के अधीन है, इन सब हेतुओं से स्मृति का बड़प्पन आकाश से ज़्यादा है अतः स्मृति की ब्रह्मदृष्टि से उपासना कर्तव्य है। (आकाश अतिसूक्ष्म होने से कुछ लोग तो उसे तत्त्व न मानकर अन्य तत्त्वों का अभाव ही स्वीकार लेते हैं अतः आकाशज्ञान संस्कारापेक्ष होने से स्मृति के अधीन कहा। इंद्रियों से व्यवस्थित चेष्टाएँ सीखनी पड़ती हैं अतः उसके लिये भी स्मृति चाहिये। कुछ चेष्टाएँ जन्मान्तरीय संस्कारों से हो जाती हैं। इस उपासना से स्मृतिक्षेत्र में स्वातंत्र्य फल मिलता है।)।।६१-२।।

उससे अधिक है आशा या कामना;जिसे आशा होती है वही स्मृति का प्रयोग कर पुण्य-पाप सारे कर्म करता है, इह-पर लोकों में सुख-दुःख देने के साधनों का अनुष्ठान कर फल भोगता है। जो आशाहीन, निष्काम होता है वह न स्मृति करता है व न अन्य चेष्टाओं में ही लगता है। 'आशा ब्रह्म है' यों उपासना करने वाले की मनोगत कामनाएँ पूरी हो जाती हैं, उसके संकल्प अमोघ हो जाते हैं।।६३-४।।

इस प्रकार 'नाम से अधिक क्या है' इत्यादि प्रश्नों के जवाब में वाक् से आशा तक चौदह तत्त्व सनत्कुमार ने नारद को बताये। अतीव बुद्धिमान् नारद जैसे-जैसे 'अधिक' के बारे में जिज्ञासा करते गये वैसे-वैसे सनत्कुमार समाधान देते गये।।६५।।

---

१. 'स्मरो वावाकाशाद् भूयः तस्माद् यद्यपि बहव आसीरन्न स्मरन्तो। नैव ते कञ्चन शृणुयुर्न मन्वीरन्न विजानीरन् यदा वाव ते स्मरेयुरथ शृणुयुरथ मन्वीरन्नथ विजानीरन् स्मरेण वै पुत्रान्विजानाति स्मरेण पशून् स्मरमुपास्स्वेति।।१।। स यः .....त्विति।।'७.१३.२।।
२. 'आशा वाव स्मराद् भूयस्याशेद्धो वै स्मरो मन्त्रानधीते कर्माणि कुरुते पुत्रांश्च पशूंश्चेच्छत इमं च लोकममुं चेच्छत आशामुपास्स्वेति।।१।। स य.... त्विति।।'७.१४.२।।

फलानि तत्र तत्रापि कथितानि ह्युपासनात्। प्रलोभनाय मुनिना तथाप्येषोऽतिधीधनः।।९६
पुनरप्यधिकं तस्मात् प्रसन्नं मुनिपुङ्गवम्। सर्वकामसमाप्तिं तां फलं श्रुत्वाऽपि पृष्टवान्।।९७
आशाया भगवन्! किञ्चिदस्त्यत्राऽभ्यधिकं पुनः। एवमुक्तो मुनिः प्राह ह्याशातोऽभ्यधिकं पुनः।।९८

प्राणः

प्राणं यत्रात्मबुद्धिः स्यात् प्रायः सर्वस्य देहिनः। उपपत्तिमपि प्राह सोऽप्येतां मुनिसत्तमः।।९९
चक्रस्य नाभिसंस्थाना अरा यद्वद् भवन्ति हि। तद्वत्सर्वमिदं प्राणसंस्थानमवधारय।।१००
प्राणः प्राणेन लोकेऽस्मिन् प्राणमेव प्रयाति हि। प्राणं ददाति च प्राणः प्राणायैवेति च स्थितिः।।१०१

फलानीति। यद्यपि तत्तदुपासनजन्यानि फलान्यपि प्रलोभनाय उक्तानि तथाप्येष नारदः सुतरां निपुणः आशोपासनया सर्वकामितार्थप्राप्तिरूपं फलं श्रुत्वापि प्रसन्नं मुनिपुङ्गवं प्रति तस्माद् आशारूपतत्त्वाद् अधिकं तत्त्वं पुनः पृष्टवान्। इति द्वयोरर्थः।।९६-७।। प्रश्नोत्तरे दर्शयति—आशाया इति। हे भगवन्! आशायाः किमधिकम्? इति एवं नारदेन उक्तः पृष्टः मुनिः सनत्कुमार आशायाः प्राणोऽधिकः सर्वैरात्मत्वेन दृश्यमानत्वाद् इति उक्त्वा तत्रार्थे उपपत्तिं सम्भावनाप्रयोजिकां युक्तिम् अपि एतां वक्ष्यमाणरूपामुक्तवान्। इति द्वयोरर्थः।।९८-९।।

[1]तामुपपत्तिं प्रपञ्चयति—चक्रस्य इति अष्टभिः। यथा रथचक्रस्य अराः तिर्यक्काष्ठरूपा नाभिसंज्ञं मध्यकाष्ठं संस्थानं स्थित्याधारभूतं येषां ते तथा, तद्वत् सर्वं विश्वं प्राणाश्रयकमित्यर्थः।।१००।। तत्र हेतुतया सर्वकारकरूपतामाह—प्राण इति। 'देवदत्तोश्वेन गच्छति' इत्यादिप्रयोगेषु यो गमनकर्ता स प्राणरूप एव तस्य करणभूतोश्वः कर्मभूतो ग्रामश्च प्राणरूप एव। तथा 'स गां विप्राय ददाति' इत्यत्रापि सर्वकारकरूपेण प्राण एव

हर उपासना के फल भी सनत्कुमार बताते गये ताकि यदि नारद में कुछ भी संसारप्रवणता हो तो वे इन फलों से तुष्ट हो जायें, निरवच्छिन्न व्यापक सत्य की संसारनिवारक जानकारी से बचे रहें लेकिन देवर्षि भी बहुत कुशल थे, वास्तव में शोक से छूटने को तत्पर थे अतः 'आशा की उपासना से सारी कामनाएँ पूरी होती हैं' यह फल सुनकर भी वे उसमें उलझे नहीं! उन्हें विश्वास था कि भगवान् महामुनि सनत्कुमार उन पर प्रसन्न हैं अतः निःसंकोच नारद ने पूछा कि आशा से अधिक क्या तत्त्व है?।।९६-७।।

नारद बोले 'हे भगवन्! संसार में (अथवा ब्रह्म समझी जा सकने वाली चीज़ों में) आशा से भी अधिक क्या कुछ है?' इस पर सनत्कुमार ने कहा कि आशा से भी सब तरह ज़्यादा प्राण है। प्रायः सब देहधारी प्राण को ही आत्मा समझते हैं। प्राण के बड़प्पन में उन्होंने युक्ति भी समझाई।।९८-९।।

चक्के के अरे (ताड़ियाँ) जैसे नाभि में ही सम्यक् स्थित होते हैं वैसे यह सारा विश्व प्राण में आश्रित है यह समझे लो।।१००।। यह लोकसिद्ध बात है कि प्राण प्राणद्वारा प्राण तक जाता है, प्राण ही प्राण के उद्देश्य से प्राण का दान करता है! (अर्थात् गन्ता, गमनसाधन, गन्तव्य, दाता, सम्प्रदान, देय द्रव्य आदि सब कारक प्राणरूप हैं। यहाँ स्पष्ट है कि सूत्रात्मा, प्रजापति को प्राण समझकर ब्रह्मदृष्टि विधित्सित है, उन्हीं की एक मूर्ति हमारे शरीर में कार्यरत प्राण है जिसका स्थूल रूप नासिकादि में संचार करती वायु है। सामान्यतः निष्प्राण मानी जाने वाली वस्तुएँ भी सतत गत्वर अंशों वाली हैं और गति बिना प्राण के संभव नहीं अतः वहाँ भी प्राण नहीं नकार सकते। सप्राण-निष्प्राण का भेद प्राण की कुछ वृत्तियों को लेकर हैः निर्बल-सबल, निर्धन-धनी, भूखा-तृप्त आदि रहते हुए ही जैसे यह नहीं होता

---

१. 'प्राणो वा आशाया भूयान्। यथा वा अरा नाभौ समर्पिता एवमस्मिन् प्राणे सर्वं समर्पितं प्राणः प्राणेन याति प्राणः प्राणं ददाति प्राणाय ददाति प्राणो ह पिता प्राणो माता प्राणो भ्राता प्राणः स्वसा प्राण आचार्यः प्राणो ब्राह्मणः।।१।।'

पिता माता तथाऽऽचार्यो ब्राह्मणः प्राण ईरितः। भ्राता स्वसा स्नुषा जाया पुत्रः सर्वेऽपि जन्तवः।
प्राण एवाऽत्र विज्ञेयः प्राणान्नास्तीह चापरम्।।१०२।।

प्राणे सति यदा कश्चिद् देहान् प्राणभृतां क्षिपेत्। वचसाऽपि च तं तत्र प्राहुरेवं हि लौकिकाः।।१०३

वधस्त्वया कृतो ह्यस्य क्षेपं यस्य करोषि भोः। अशस्त्रोऽयं वधो नाम ज्ञेय उत्तमदेहिनाम्।।१०४

निर्गते तु पुनः प्राणे विद्ध्वा विद्ध्वा दहन्नपि। शूलेनाऽमुं पुण्यकृतं प्रवदन्त्यखिला अपि।।
पितृमात्रादिरूपोऽतः प्राण एव न चाऽपरः।।१०५

एवं सर्वेन्द्रियैर्जानन् बाह्यैराभ्यन्तरैरपि। अतिवादी पुमानेष भवत्येव न संशयः।।
प्राणमेष यतो ब्रूते सर्वातिशयरूपिणम्।।१०६

इत्येषा स्थितिः सिद्धान्त इत्यर्थः।।१०१।। अत्रैवोदाहरणान्तरमाह—पितेति। तथा पितृमातृब्राह्मणाचार्यादिपदार्थभूतः प्राण एव भवति यतः प्राणाद् भिन्नं लोके किञ्चिद् नास्तीत्यर्थः।।१०२।।

[1]एतल्लौकिकान्वयव्यतिरेकाभ्यां साधयति—प्राणे सतीति। यदा प्राणे विद्यमाने सति प्राणिनां पित्रादीनां देहान् वचसाऽपि क्षिपेत् तिरस्कुर्यात् तदा तं तिरस्कर्तारं प्रति एवं लौकिकवृत्तकुशलाः प्राहुः। 'एवं' कथम्? त्वं यस्य क्षेपं वाचिकं तिरस्कारं करोषि अस्य त्वया वध एव कृतो यत उत्तमानां वधः शस्त्राऽनारब्धः अयम् अधिक्षेपरूप एव प्रसिद्धः। अत एव अर्जुनेन गाण्डीवाऽधिक्षेपकर्तुर्वधप्रतिज्ञा युधिष्ठिरे तुङ्कारेण पूरिता इत्युपाख्यायते कर्णपर्वणि। इति द्वयोरर्थः।।१०३-४।। [2]निर्गत इति। प्राणे निर्गते सति अमुं पित्रादिदेहं शूलेन तीक्ष्णकाष्ठरूपेण विद्ध्वा विद्ध्वा दहन्नपि यदि भवति तदा तं दाहादिकर्तारं पुण्यकर्तारमेव लोके वदन्ति इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्राण एव पित्रादिशब्दाऽभिधेय इत्यर्थः।।१०५।। [3]एवमिति। बाह्यैः चक्षुरादिभिः आभ्यन्तरैः मनःप्रभृतिभिश्च व्यवहारकाले य एवं जानन् 'प्राणः सर्वकारकरूप' इत्याकारकानुसन्धानवान् भवति स एष पुमानतिवादी बोध्यो यतः प्राणं सर्वेभ्योऽतिशयितं वदतीत्यर्थः।। अयं भावः—लोके परं प्रति 'तव पिताऽहम्' इति वदन्, 'किमतिक्रम्य

कि बल, धन आदि का सर्वथा अभाव हो, थोड़ा-सा बल, धन आदि रहते हुए ही उक्त भेद स्पष्ट बना रहता है, वैसे ही मनुष्य-वृक्षादि में प्राण के जितने व्यापार परिलक्षित होते हैं उससे अत्यंत कम जहाँ उपलब्ध हों उन पत्थर आदि को निष्प्राण समझा जाता है। इसलिये सभी कारक प्राणरूप हैं।)।।१०१।। पिता, माता, आचार्य, ब्राह्मण, भाई, बहन, बहू, पत्नी, पुत्र आदि सभी जंतु प्राण ही समझने चाहिये क्योंकि लोक में प्राण से भिन्न कुछ नहीं है।।१०२।।

पिता आदि प्राणियों में प्राण रहते उनके शरीरों का कोई वाणी से भी तिरस्कार करे तो उसे लोग कहते हैं 'अरे! जिसका तुम अपमान कर रहे हो उसका तुम वध ही कर रहे हो' क्योंकि श्रेष्ठ लोगों का अपमान उनका बिना शस्त्र किया वध माना गया है।।१०३-४।। जब पिता आदि के शरीर से प्राण निकल जाते हैं तब पुत्रादि शूल से उन्हें बींध-बींधकर जलाते हैं फिर भी सब लोग उन पुत्रादि को पुण्यकारी ही कहते हैं। (प्राण रहते पिता आदि को सन्मानादि देकर पिता आदि ही माना जाता है; प्राण न रहने पर उन्हीं से अन्यथा व्यवहार किया जाता है;) इस अन्वय-व्यतिरेक से सिद्ध है कि प्राण ही पिता-माता आदि रूप है।।१०५।।

---

१. 'स यदि पितरं वा मातरं वा भ्रातरं वा स्वसारं वाऽऽचार्यं वा ब्राह्मणं वा किञ्चिद् भृशमिव प्रत्याह धिक् त्वाऽस्तु इति, एवैनमाहुः—पितृहावै त्वमसि मातृहा वै त्वमसि स्वसृहावै त्वमसि आचार्यहा वै त्वमसि ब्राह्मणहा वै त्वमसि इति।।'२।।
२. 'अथ यद्यप्येनानुत्क्रान्तप्राणाञ्छूलेन समासं व्यतिषन्दहेन्नैवैनं ब्रूयुः पितृहाऽसीति न मातृहाऽसीति....ब्राह्मणहाऽसीति'।।३।।
३. 'प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवति स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नतिवादी भवति तं चेद् ब्रूयुः अतिवाद्यसीति अतिवाद्यसीति ब्रूयाद्, नापह्नुवीत।'।७.१५.४।।

ब्रूयुस्तं केचिदेवं ह नातिवादी भवान् हि किम्। तथाऽप्येवं न स ब्रूयाद् विद्वत्ताऽपह्नवं सदा।।१०७

नारदस्य तूष्णीं भावः

एवमुक्तो मनोवाचामगम्यं प्रष्टुमक्षमः। अज्ञातत्वेन लोकस्याऽप्रसिद्धेरपि नारदः।।१०८

उपास्वेत्युक्तिशून्यत्वाद् दुरुक्तिः स्यात् फलस्य च। तूष्णीं भूय ततः सोऽपि प्रश्नादुपरराम ह।।१०९

वदसि?' इत्युपालभ्यते, परन्तु स मुख्योऽतिवादी न भवति, आचार्यादीनां ततोऽधिकानां शिष्यमाणत्वात्। 'पित्रादिसर्वात्मकप्राणरूपोऽस्मि' इति दृढनिश्चयेन वक्ता तु मुख्योऽतिवादी, सर्वातिशयशालिनः प्राणस्य आत्मत्वेन वदनाद् इति।।१०६।। ब्रूयुरिति। द्वितीयपादगतस्य नशब्दस्य तृतीयपादगतेन एवं-शब्देन सम्बन्धः। तथा च तं प्राणात्मविदं प्रति ह प्रसिद्धं चेद् यदि केचिद् एवं ब्रूयुः पृच्छेयुः, 'एवं' कथम् ?'भवान् किमतिवादी भवति?' इति, तथाऽपि स प्राणात्मविद् 'न' इति एवम् आकारं विद्वत्ताया अपह्नवं प्रच्छादकं वचो न ब्रूयात् किन्तु स्फुटम् 'अतिवादी भवामि' इत्येव वदेद् इत्यर्थः।।१०७।।

एतावत् श्रुत्वा नारदस्य तूष्णीं भावं सहेतुकमाह—एवमुक्त इति द्वाभ्याम्। एवमुक्तो नारदः तूष्णीं भूय प्रश्नाद् उपरराम निवृत्तोऽभूद् यतः प्राणात् परं तत्त्वं प्रष्टुमक्षमः। तत्र हेतुः अज्ञातत्वम्। सामान्यतो ज्ञातमेव हि पृच्छ्यते। तत्र हेतुगर्भं प्रमेयविशेषणं मनोवाचामगम्यमिति। मनसां वचसां बोधहेतूनाम् अगोचरमिति तदर्थः। ननु लोकतः कथं तद् न विज्ञातम्? इत्यत उक्तम्—लोकस्याऽप्रसिद्धेः इति। लोकाख्यस्य प्रमाणान्तरस्य अप्रसिद्धेः इति तदर्थः। तदुक्तं शारीरके 'न हि लोको नाम प्रमाणान्तरम्'[1] इति। प्रत्यक्षादीनि प्रमाणान्येव हि मनोवागन्यतरव्याप्यानि समाहृत्य लोक इति आख्यायन्ते। तथा मनोवाचामगोचरस्य कथं ततः प्रसिद्धिरिति भावः। अथ नारदेन प्राणोपासनस्य फलमेव कुतो न पृष्टम्? इत्याशङ्कां परिहरति—उपास्वेति। यदि महामुनेः 'प्राणम् उपास्व' इति उक्तिः स्यात् तदा 'तत्फलं किम्?' इत्युक्तिः सदुक्तिः स्यात्। अत्र तु वैपरीत्यात् फलं प्रति फलमभिलक्ष्य या उक्तिः प्रश्नरूपा सा दुरुक्तिः स्याद् निरालम्बनत्वाद् इत्यालोचयन्निति शेषः।।१०८-९।।

चक्षुरादि बाह्य और मनआदि आंतर इंद्रियों से व्यवहार करते समय जिसका यह अनुसंधान बना रहता है कि 'प्राण ही सभी कारकों का रूप धारण किये है', उस पुरुष को 'अतिवादी' समझना चाहिये क्योंकि वह प्राण को ही सबसे ज़्यादा बताता है। (यह अभिप्राय है—लोक में कोई अन्य से कहे 'मैं तेरा पिता हूँ', तो वह जवाब देता है 'क्यों अपनी सीमा लाँघकर बोलता है?' लेकिन स्वयं को बाप कहने वाला भी सारी सीमाएँ नहीं लाँघता क्योंकि खुद को केवल बाप ही कहता है, आचार्य आदि तो अन्य श्रेष्ठ लोग बचे ही रहते हैं। 'पिता आदि सभी का आत्मा प्राण मैं हूँ' इस दृढ निश्चय से यह बात कहने वाला मुख्य अतिवादी है क्योंकि सबसे अतिशय वाले प्राण को ही आत्मा कहता है।)।१०६।। प्राण को आत्मा समझने वाले से यदि कोई पूछे 'क्या तुम अतिवादी हो?' तो उसे मना नहीं करना चाहिये, अपनी जानकारी का निषेध नहीं करना चाहिये। 'हाँ, मैं अतिवादी हूँ' यह घोषणा कर देनी चाहिये।।१०७।।

उक्त उपदेश सुनकर नारद चुप हो गये, प्राण से परे जो तत्त्व है उसके बारे में प्रश्न नहीं उठा पाये। वह तत्त्व न मन का और न वाणी का विषय है और न लोक में ही प्रसिद्ध है तथा प्रश्न करने के लिये सामान्य ज्ञान तो चाहिये ही, नारद को क्योंकि उस व्यापक वस्तु का सामान्य बोध नहीं था इसीलिये वे एकाएक उसके बारे में पूछ नहीं सके। प्राणोपासना का फल भी नारद ने पूछा नहीं क्योंकि सनत्कुमार ने प्राण को अधिक तो बताया था पर 'प्राण की उपासना करो' यह विधान किया नहीं था, एवं च प्राण स्वयं फलरूप प्रतीत हो रहा था जिससे उसका पुनः फल पूछना ग़लत होता। इसलिये नारद ने प्रश्न नहीं उठाये, चुप हो गये।।१०८-९।।

१. 'न हि तावल्लोको नाम किञ्चित्स्वतन्त्रं प्रमाणमस्ति। प्रत्यक्षादिभ्य एव ह्यविचारितविशेषेभ्यः प्रमाणेभ्यः प्रसिद्ध्यन्नर्थो लोकात् प्रसिद्ध्यतीत्युच्यते।' १.३.३२ सूत्रे भाष्यम्।

तूष्णीं भूतं तु तं वीक्ष्य भगवान् कृपयान्वितः। नारदं स्वयमेवाह प्राणाद् अधि परं हि यत्।।११०

सनत्कुमारेण प्रबोधनम्

नारद! प्राणविज्ञानाद् मा मंस्था अतिवादिताम्। एष एवाऽतिवादी स्याद् यो ब्रूते सततं पुमान्।।१११
सत्यमुक्तं परं ब्रह्म भूमानं सुखरूपकम्। नामादिकं तथा प्राणपर्यन्तं यद्धि कीर्तितम्।।११२
इत्यभिप्रायवान् प्राह नारदं पुनरेव सः। सत्यं त्वया विजिज्ञास्यमविचार्य न किञ्चन।।
कृतकृत्यतया स्थेयं पुरेवाहाथ नारदः।।११३।।

ततः किं वृत्तम्? इत्याकांक्षायामाह—तूष्णीं भूतमिति। तं नारदं प्रति करुणाप्लुतचित्तो भगवान् स्वयमेव अपृष्टोऽपि प्राणाद् अधि अधिकं निरतिशयं यत् तत्त्वं तत् प्राह इत्यर्थः।।११०।। 'कथमाह? इत्याकांक्षां पूरयति—नारदेति। हे नारद! प्राणविज्ञानाद् एव अतिवादिता भवति इति मा मंस्था न मन्तव्यं नावधारय, ततोऽधिकस्यापि अवशेषात्। किन्तु एष एव अतिवादी मुख्यो ज्ञेयो यः सततं सत्यं ब्रूते, इत्युत्तरात् 'सत्य'पदानुषङ्गेणार्थः।।१११।। अत्र सत्यपदार्थो ब्रह्मरूपो जिज्ञासाप्रतीक्षया मनसि एव मुनिना निहित इत्याह—सत्यमुक्तमिति। सत्यं सत्यदार्थं परं ब्रह्म वक्ष्यामीति शेषः। कीदृशं परं ब्रह्म? उक्तं पूर्वाध्याये वर्णितं सुखात्मकभूमरूपेण वक्ष्यमाणं च । तथा यद् ब्रह्म नामादि-प्राणपर्यन्तविश्वरूपं कीर्तितं ,व्याख्यास्यमानायाम् आत्मनः श्रुतावित्यर्थः। इति एवं-विधाऽभिप्रायवान् महामुनिः नारदं प्रति एवमाह। 'एवं' कथम्? हे नारद! त्वया सत्पदार्थभूतं वस्तु विजिज्ञास्यम् अधिकारिणाम् अवश्यविचार्यम्, अविचार्य कृतकृत्यतया न स्थेयं , न स्थातव्यमिति। अथ एवंविधोक्तेरनन्तरं नारदः पुरेव पूर्वं यथा पृष्टवांस्तथा आह 'सत्यं ज्ञातुम् इच्छामि' इत्याकारं प्रश्नमकरोद्। इति द्वयोरर्थः।।११२-३।।

भगवान् सनत्कुमार ने नारद को चुप देखा तो उन्हें उस पर कृपा उमड़ पड़ी, उन्होंने प्राण से अधिक जो परम वस्तु है उसका खुद ही नारद को उपदेश दिया। (नारद साधक उत्तम थे, वैराग्यसंपन्न थे, केवल अज्ञानवश प्रश्न नहीं उठा पा रहे थे। यदि उन्हें परमार्थ न समझाया जाता तो वे शोक से तर नहीं पाते अतः सनत्कुमार को कृपावेश स्वाभाविक था। सामान्य जन आत्मप्रश्न करते हैं फिर देवर्षि क्यों न कर सके? उत्तर है कि देवर्षि धूल में लाठी नहीं मारना चाहते थे! प्राण तो दूर, अन्नमय से अन्य आत्मा भी न समझने वाला जब आत्मप्रश्न उठाता है तब धूल में लाठी जैसा ही है क्योंकि सही अवबोध श्रोता को तभी संभव है जब ज्ञेय की संकल्पना उसे पूर्व में हो। आत्मा तत्त्व है अपरोक्ष अतः उसकी परोक्ष संकल्पनामात्र से नारद कुछ पूछना नहीं चाहते थे जबकि साधारण जन तो 'आत्मा' इस नाममात्र के ज्ञान के आधार पर जिज्ञासु बन बैठते हैं। नारद के यों प्रश्न न उठाने से प्राण ही परम तत्त्व है उसी के बारे में और विशेषताएँ आगे बतायी हैं—ऐसी शंका संभव है इसलिये प्राणज्ञतानिमित्तक अतिवदन से भिन्न सत्यज्ञता के निमित्त से अतिवदन के उपन्यास से भगवान् सनत्कुमार ने स्पष्ट कर दिया कि प्राण अंतिम नहीं, उससे अलग व्यापक वस्तु सत्य है। यह रहस्य बादरायणाचार्य ने और सूत्र की (१.३.८) व्याख्या में भाष्यकार ने खोल दिया है।)।।११०।।

सनत्कुमार बोले—'नारद! यह मत मान बैठना कि प्राणात्मता की जानकारी से ही मुख्य अतिवादिता प्राप्त हो जाती है! प्रमुख अतिवादी उसे समझो जो हमेशा 'सत्य' बोलता है।।१११।।

यहाँ 'सत्य' का मतलब है पर ब्रह्म। सनत्कुमार ने सोचा कि उस सत्य को आगे समझाएँगे। उपनिषत्में पूर्वाध्याय (छां.६) में तथा इस (सप्तमाध्याय) में बताया व्यापक सद्रूप सुख ही सत्य ब्रह्म है। नारद को ब्रह्मप्रतीक रूपसे कहे 'नाम' से 'प्राण' तक के पदार्थों के रूप में विवर्तित वही सद्वस्तु है। सनत्कुमार इन्तज़ार में थे कि 'सत्य से अतिवदन करता है' सुनकर नारद पूछेगा 'सत्य क्या है?' किंतु जब नारद ने प्रश्न नहीं उठाया तब सनत्कुमार ने नारद से फिर कहा—'तुम्हें सत्य समझने की कोशिश करनी चाहिये। उस अवाच्य तत्त्व का विचारपूर्वक निश्चय किये बिना तुम यह समझकर चुपचाप न रह जाना कि जो कुछ कर्तव्य है वह तुम कर चुके।' इस पर पहले की तरह फिर नारद ने प्रश्न किया 'भगवन्! मैं सत्य जानना चाहता हूँ।'।।११२-३।।

१. 'एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति सोऽहं भगवः सत्येनाऽतिवदानीति सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति सत्यं भगवो विजिज्ञास इति।' ।७.१६।। अत्र 'सत्येन परमार्थसत्यविज्ञानवत्तये'ति भाष्यम्।

षड्वारमेवमाहैतं विज्ञानादिषु स प्रभुः। पृष्टवान् सोऽपि तेनोक्तः तं तमर्थं तदा मुनिः।।११४

सत्यादिजिज्ञासाः

ज्ञातुमिच्छाम्यहं सत्त्यं यत्त्वया परिकीर्तितम्। सत्त्यवच्चाऽखिलं भूयो विज्ञानादि स पृष्टवान्।।११५

सत्यं गम्यमिह प्रोक्तं सर्वदा सुखरूपकम्। गमकास्तु परे सर्वे विज्ञानाद्याः प्रकीर्तिताः।।११६

जानन्नेव च सर्वोऽयं सत्यं ब्रूते न चाऽन्यथा। मननात् सर्व एवाऽयं विजानाति तथैव च।।११७

श्रद्धावानेव मनुते न कदाचिद्धि नास्तिकः। तात्पर्ययुक्तिचित्तः सन् श्रद्धावांस्तु भवेत् पुमान्।।११८

यथा सत्यविषया जिज्ञासा नारदस्य उत्थापिता तथा विज्ञान-मनन-श्रद्धा-निष्ठा-कृति-सुखेष्वपि षट्सु जिज्ञासोत्थापितेत्याह—षड्वारमिति। एवं यथा सत्यजिज्ञासोत्थापकं वाक्यमुक्तं तथा विज्ञानादिषु षट्सु जिज्ञासाजनकं वाक्यं षड्वारमेतं नारदं प्रति आह उक्तवान् प्रभुः सनत्कुमारः। तत् श्रुत्वा नारदः षड्वारं प्रश्नमकरोदित्यर्थः।।११४।। सत्यगोचरप्रश्नं पूर्वं कृत्वा कृतानां षट् प्रश्नानां प्रकारं दर्शयति— ज्ञातुमिति। अहं सत्यपदार्थं ज्ञातुमिच्छामि इत्येवं सत्यं पृष्ट्वा पुनर्विज्ञानादिपदार्थेषु प्रश्नं कृतवान् स नारद इत्यर्थः।।११५।।

तत्र पौनरुक्त्यपरिहाराय प्रश्नविषयाणां परस्परं विशेषमाह—सत्यं गम्यम् इति। प्रथमप्रश्नविषयी भूतं सत्यं गम्यम् उपेयमेव। परे द्वितीयादिषट्प्रश्नविषया विज्ञानादयस्तु गमकाः पूर्वपूर्वप्राप्तिसाधनत्वेनैव कीर्तिता इति विशेषाद् न पुनरुक्तिरित्यर्थः। अत्रेदमपरं ध्येयम्—सुखस्य काम्यमानतारूपेण कृतिप्रयोजकस्य साधनत्वं, सिद्धरूपस्य तु सत्यभावेन उपेयत्वम् एवेति।।११६।।

अथ विज्ञानादीनां[1] स्वरूपाणि पूर्वपूर्वप्राप्तिसाधनतां च दर्शयति—जानन्नेवेति त्रिभिः। यो हि सत्यस्वरूपं जानन्नवधारयन् भवति स एव सत्यं ब्रह्मतत्त्वं स्फुटं वदति, नान्यः, इत्यतः सत्यवदने विज्ञानं प्रत्यक्षप्रमारूपमेव हेतुः इत्यर्थः। सत्यविज्ञानस्य हेतुर्मननं[2] प्रमेयासम्भावनावारकयुक्त्यनुसन्धानरूपमित्याह—मननादिति।।११७।।

मननस्याऽपि हेतुरुपदेशविश्वासरूपा श्रद्धैव[3], तां विना श्रुतवेदान्तानामपि मनने प्रवृत्त्यदर्शनाद् इत्याह—श्रद्धावानेवेति। श्रद्धाया अपि कारणं प्रमाणासम्भावनावारकयुक्तिचिन्तनरूपा[4] निष्ठैवेत्याह —तात्पर्येति। तात्पर्यावधारणहेतवो युक्तयः तात्पर्ययुक्तयः ताः चित्ते मनसि यस्य स तथाविध एव श्रद्धालुर्भवेदित्यर्थः।।११८।। तस्या

सत्य की तरह विज्ञान, मनन, श्रद्धा, निष्ठा, कृति और सुख—इन छह तत्त्वों के बारे में सनत्कुमार की प्रेरणा से नारद पूछते गये। यों छह बार प्रश्नोत्तर हुए।।११४।।

नारद ने पहले पूछा 'आपके द्वारा कहे सत्य को मैं जानना चाहता हूँ', फिर जैसे-जैसे सनत्कुमार विज्ञान आदि का उल्लेख करते गये वैसे-वैसे उनके बारे में भी नारद इसी तरह पूछते गये।।११५।। यहाँ प्रथमतः उपन्यस्त सत्य गन्तव्य अर्थात् उपेय है और बाकी छह प्रश्नों के विषयभूत विज्ञानादि गमक अर्थात् उपाय हैं। (अंतिम उपदिष्ट सुख सिद्धदशा में तो सत्यरूप होने से उपेय है लेकिन कामनाविषय रूप से वही चेष्टा में प्रवृत्त करने वाला अतः उपाय है।)।।११६।।

---

१. 'यदा वै विजानाति अथ सत्यं वदति नाविजानन् सत्यं वदति विजानन्नेव सत्यं वदति विज्ञानं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति। विज्ञानं भगवो विजिज्ञास इति।।'७.१७।।

२. 'यदा वै मनुतेऽथ विजानाति नामत्वा विजानाति मत्वैव विजानाति मतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्येति। मतिं भगवो विजिज्ञास इति।।'७.१८।।

३. 'यदा वै श्रद्दधाति अथ मनुते नाश्रद्दधन् मनुते श्रद्दधदेव मनुते श्रद्धा त्वेव....।।'७.१६।।

४. 'यदा वै निस्तिष्ठति अथ श्रद्दधाति नानिस्तिष्ठञ्छ्रद्दधाति निस्तिष्ठन्नेव श्रद्दधाति निष्ठा....।।'७.२०।।

कर्तैव कर्मणां लोके पुमांस्तात्पर्यसंयुतः। भवेत् कर्ताऽपि लोकेऽस्मिन् सुखार्थी नाऽपरः पुमान्।।११९
विज्ञेयं च सुखं तद्वत् सर्वदा क्षेमवर्तिना। दुःखमेवाऽत्र विज्ञेयं यत् सुखं संसृतौ भवेत्।।१२०
न हि वैषयिकं नाम सुखं भवति वस्तुतः। आदावन्ते च यद् दुःखं मध्ये तद्धि कुतः सुखम्।।१२१
ततोऽत्र मोहमात्रेण सुखं वैषयिकं सुखम्। दुःखमेव व्रणे यद्वत् सुखं शस्त्रं प्रजायते।।१२२

निष्ठाया हेतुः साधनानां यज्ञादीनां बहिरङ्गाणां याऽनुष्ठानरूपा[1] कृतिरेवेत्याह—कर्तैवेति। कर्मणां द्विविधसाधनानां यः कर्ता स एव चित्तशुद्ध्यैकाग्र्याभ्यां सम्पन्नो वेदतात्पर्यावधारणेन सहितो भवेदित्यर्थः। तस्याः कृतेरपि हेतुः [2]सुखकामनैव इत्याह—कर्ताऽपीत्यादिना। साधनानां कर्ताऽपि स एव भवति यः सुखलक्षणं पुरुषार्थं कामयते, नान्य इत्यर्थः। दुःखाभावस्तु न स्वतः पुरुषार्थः सुखाभिव्यक्तिसाधनत्वेनैव इष्यमाणत्वादिति भावः।।११९।।

एतावत् श्रुत्वा नारदः सुतरां विरक्तः सांसारिकं सुखं दुःखपक्षे निक्षिपन् मुख्ये सुखपदार्थे जिज्ञासामावेदयति— विज्ञेयमिति त्रिभिः। क्षेमवर्तिना 'क्षेमं सदाऽस्तु' इति कामनां चेतसि वर्तयता सुखतत्त्वम् अवश्यं विज्ञेयम्। न च तस्य संसारे सत्त्वम्, तस्य दुःखमयत्वाद् इत्याह—दुःखमेवेति।।१२०।। एतदेव स्फुटयति—न हीत्यादिना। यदि सांसारिकं सुखं स्यात् तर्हि तद् वियोगादिकाले दुःखतां न गच्छेत्, 'न हि स्वभावो भावानामन्यथात्वं प्रपद्यत' इति न्यायविरोधाद् इति भावः।।१२१।। फलितमाह—तत इति। मोहोऽविद्या, तन्मात्रेण प्रयुक्तं वैषयिकसुखस्य दुःखरूपस्य सुखत्वं यथा दुःखरूपमपि शस्त्रप्रहरणं परिपक्वे व्रणे प्रयुक्तं सुखवद् भासत इत्यर्थः। तथा च वास्तवं सुखं वक्तव्यम् इति नारदाशयः।।१२२।।

सनत्कुमार ने समझाया—सभी लोग जो सत्य का स्पष्ट कथन करते हैं वे सत्यस्वरूप को जानते हुए ही कर सकते हैं, बिना जानते हुए नहीं, इसलिये सत्यकथन में हेतु है विज्ञान, अनुभव। इसी प्रकार लोकप्रसिद्ध ये सभी लोग मनन से ही विज्ञान प्राप्त करते हैं। प्रमेय की असंभवता हटाने वाली युक्तियों का विचार मनन होता है।।११७।। श्रद्धालु ही मनन करता है, नास्तिक (मन्तव्य के बारे में 'है' ऐसा जिसे निश्चय नहीं) कभी मनन नहीं करता अतः मनन का हेतु है श्रद्धा। वही पुरुष श्रद्धावान् हो पाता है जिसके चित्त में उन युक्तियों का स्फुरण होता है जो तात्पर्यनिश्चायक हों। (प्रमाण के बारे में 'यह संभव नहीं' ऐसी भावना मिटाने वाली युक्तियों का चिन्तन ही निष्ठा है जो श्रद्धा के प्रति हेतु है।)।।११८।। यह निष्ठा वही पाता है जो व्यवहारभूमि में कर्मों को करता है। (कर्म अर्थात् यज्ञादि बहिरंग साधन जिनका शास्त्र में विधान है, उन्हें तत्तत् फलों के उद्देश्य से न कर आत्मबोध के प्रयोजन से करने वाले मुमुक्षु का जब मन दोषहीन और एकाग्र हो जाता है तभी उसे वेद के अभिप्राय का निश्चय होता है।) कर्म वही करता है जो सुख चाहता है, अतः कृति का हेतु सुख ही है। (केवल दुःख का अभाव पुरुषार्थ नहीं, उसकी इच्छा इतने से ही है कि सुख की अभिव्यक्ति के लिये ज़रूरी है कि तब दुःख न हो। अतः दुःखाभाव नहीं वरन् सुख ही कृति में प्रयोजक है।)।।११९।।

इतना सदुपदेश ग्रहण कर नारद जी क्योंकि अत्यन्त विरक्ति से सांसारिक सुख को भी दुःख ही समझ रहे थे इसलिये उन्होंने मुख्य सुख के बारे में जिज्ञासा करना ज़रूरी समझा। सनातन कल्याण चाहने वाले को आनंद का स्वरूप ज़रूर समझना चाहिये। वास्तविक सुख संसार में है नहीं, संसार के विषयों से प्रतीत होने वाला सुख विचार करें तो दुःख ही निश्चित होता है।।१२०।। मिलने से पूर्व और बिछुड़ने के बाद दुःख देने वाले जागतिक पदार्थ जो मध्य में सुख लगते हैं वह एक विडम्बना ही है। सुई, नश्तर आदि से शरीर काटना है दुःख लेकिन घाव के उपचारार्थ जब काटा जाता है तब रोगी उसे सुख मानता है, ऐसे ही कामना रूप दुःख के घाव पर विषयभोगरूप नश्तर चलता है तो अविवेकी प्राणी उसे सुख मान बैठता है!।।१२१-२।।

---

१. 'यदा वै करोति अथ निस्तिष्ठति नाकृत्वा निस्तिष्ठति कृत्वैव निस्तिष्ठति कृतिस्त्वेव....।।'७.२१।।
२. 'यदा वै सुखं लभतेऽथ करोति नासुखं लब्ध्वा करोति सुखमेव लब्ध्वा करोति सुखं त्वेव....।।'७.२२।।

भूमा

एवमुक्ते सुखे पृष्टे सुखमाह महामुनिः। देशतः कालतो यत्तु वस्तुतश्च कदाचन।
परिच्छेदं न यात्येतत् सुखमुक्तं मनीषिभिः।।१२३
निखिलैर्यत् परिच्छेदैर्वर्जितं भूमशब्दितम्। सुखं तदेव विज्ञेयमितरद् दुःखमानितम्।।१२४
भूमानं च सदैव त्वं विजानीहि तपोधन! इत्युक्ते पृष्टवान् सोऽपि भूमानं नारदो मुनिः।।१२५
उक्तवांश्च ततस्तस्मै परिच्छेदविवर्जितम्। सनत्कुमारो भगवान् पृच्छते नारदाय हि।।१२६
स्वात्मनो व्यतिरिक्तं हि यत्र नान्यत् प्रपद्यते। इन्द्रियैरान्तरैर्बाह्यैः स भूमा सुखरूपभाक्।।१२७
आत्मनो व्यतिरिक्तं तु यत्र किञ्चित् प्रपद्यते। बाह्येन्द्रियैश्च मनसा तदल्पं दुःखमीरितम्।।१२८
मरणादिविहीनोऽयं भूमोक्तसुखरूपभाक्। मरणादिसमाक्रान्तमल्पमुक्तं मनीषिभिः।।१२९

एवमिति। उक्ते कृतिहेतुतया सनत्कुमारेण वर्णिते सुखे नारदेनैवं पृष्टे सति भगवान् सनत्कुमारः सुखलक्षणम् उक्तवान् इति प्रथमदलार्थः। [1]लक्षणमभिनयति—देशत इति। देशादिपरिच्छेदैर्हीनं वस्तु सुखम् इति उक्तम् इत्यर्थः।।१२३।। एतदेव स्फुटयति—निखिलैरिति। यद् वस्तु सर्वपरिच्छेदहीनत्वेन हेतुना भूमशब्देन उक्तं तद्रूपमेव सुखं, न इतरत् यतो दुःखत्वेन रूपेण मानितं मानेन गोचरी कृतमित्यर्थः।।१२४।। भूमानमिति। हे तपोधन! नारद यदि सुखं निर्णेतुमिच्छसि तर्हि भूमपदार्थं जिज्ञासस्व इति एवं महामुनिना उक्ते सति स नारदो भूमपदार्थमेव पप्रच्छेत्यर्थः।।१२५।। तस्मै पृच्छते नारदाय भूमलक्षणमुक्तवानित्याह— उक्तवानिति।।१२६।। भवितृप्रधानो भूमशब्दः परिपूर्णं वदतीति सूचयंस्तल्लक्षणमाह[2]—स्वात्मन इति। यत्र तत्त्वे प्रादुर्भूते स्थितः सन् विद्वान् स्वस्माद् भिन्नं किञ्चिदपि चक्षुरादिभिः न पश्यति, द्वितीयाऽभावात्, तत् तत्त्वं भूमपदार्थः सुखशब्दार्थश्चेत्यर्थः।।१२७।। एतदेव व्यतिरेकमुखेनाह— आत्मन इति। यत्र पदार्थे बुद्ध्यारूढे सति स्वात्मनो व्यतिरिक्तं किञ्चिद् अपि भाति तदल्पं, दुःखरूपम् इत्यर्थः। 'द्वितीयाद्वै भयं भवति' (बृ.१.४.२) इति श्रुत्यन्तराद् इति भावः।।१२८।। तत्र यद् भूमाख्यं तत्त्वं तद् मरणोपलक्षितसर्वविकारहीनम्, इतरद् अल्पं तु विकारास्पदम् इत्याह—मरणादीति। समाक्रान्तम् आस्पदीकृतम्।।१२९।। अस्य भूम्नो निरतिशयत्वाद् एतदात्मदर्श्येव मुख्योऽतिवादी, नेतरः

जब उत्कट वैराग्य से प्रेरित हो वास्तविक सुख के बारे में नारद ने जिज्ञासा की तब महामुनि सनत्कुमार ने उसकी परिभाषा समझाई : 'मनीषी उसे सुख कहते हैं जो देश, काल और वस्तु से कभी सीमित न हो।।१२३।।

जो वस्तु सब तरह की सीमाओं से रहित होने से 'भूम'-शब्द से (बड़प्पन-बोधक शब्द से) कही जाती है उसे ही वास्तविक सुख समझना चाहिये, अन्य सभी दुःख ही हैं यह प्रमाणित बात है।।१२४।। तप को धन समझने वाले नारद! यदि सुख की सचाई का निर्धारण करना चाहते हो तो 'भूमा' को समझो।' इस पर नारद ने भूमा के बारे में ही प्रश्न किया और सनत्कुमार ने असीम तत्त्व का खुलासा कर दिया।।१२५-६।।

हालाँकि 'भूमा'-शब्द बड़प्पनरूप विशेषता का वाचक लगता है फिर भी सनत्कुमार जी का आशय उस तत्त्व से है जिसकी विशेषता नहीं वरन् जिसका स्वभाव बड़प्पन अर्थात् अपरिच्छिन्नता, असीमता है। जिस सत्य के अनावरण पर उसका अपरोक्ष जानकार खुद से पृथक् कर बाह्य-आंतरिक इन्द्रियों से किसी को ग्रहण नहीं करता क्योंकि उससे पृथक् कुछ रह ही नहीं जाता, वही सत्य भूमा है, वही वास्तविक सुख है, आनंद है।।१२७।। जिन वस्तुओं की जानकारी रहते खुद से पृथक् कर बाह्य-आंतर इंद्रियों से कुछ भी समझा जा सकता है, अनुभव किया जा सकता है वे वस्तुएँ

१. 'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति भूमानं भगवो विजिज्ञास इति'।७.२३.।।
२. 'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाऽथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद् विजानाति तदल्पं यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्।।' ७.२४.१।।

अयं भूमा यदा ज्ञातो ह्यतिवादी तदा पुमान। भवेन्न चान्यथा तस्माज्ज्ञातव्यः सर्वदा नृभिः।
अतिवादी पुमान् लोके भवेन्नान्यः कथञ्चन।।१३०

भूमप्रतिष्ठा

इत्युक्तो नारदो भूम्न आधारं पृष्टवान् पुनः। सनत्कुमारमित्थं स कस्मिन्नेष प्रतिष्ठितः।।
भगवन्निति तेनोक्तः स्वे महिम्नीति सोऽब्रवीत्।।१३१

महिमा लोकवन्नाऽयं विभिन्नोऽस्ति ततः पृथक्। गवाश्वादिर्यथा लोके देवदत्तात् पृथक्
स्मृतः।।१३२

प्राणाद्यात्मदर्शी, प्राणादीनामतिशयस्य सापेक्षत्वाद् इत्याह—अयं भूमेति। तस्माद् अतिवादित्वहेतोः अयम् अवश्यं ज्ञातव्यः ।।१३०।।

अस्य भूम्नः साधारत्वे परिच्छेदाऽऽपत्त्या स्वरूपहानिः, निराधारत्वे तु कथं बुद्ध्युपारोहः? इति चिन्ताव्याकुलस्य नारदस्य भूमाऽऽधारगोचरं प्रश्नं[1] दर्शयति—इत्युक्त इति। इति पूर्वोक्तप्रकारेण उक्त उपदिष्टः स नारदो भूम्न आधारं सनत्कुमारं प्रति इत्थं पृष्टवान्। 'इत्थं' कथम्? हे भगवन्! स भूमा कस्मिन्नाधारे प्रतिष्ठितः स्थितिं प्राप्तः? इति तेन नारदेन उक्तः इत्थं पृष्टः सनत्कुमारस्तु—किं व्यवहारमात्रोपयोगी तस्य आधारः पृच्छ्यते, वास्तवो वा? इति विकल्प्य; तत्राद्ये, मायादिसकलप्रपञ्चरूपा तद्विभूतिरेव महिमपदोक्ता तस्याधार इत्याशयेन 'स्वे महिम्नि' इति[2] उत्तरं ददावित्यर्थः।।१३१।। न च तस्य स्वरूपहानिः महिम्नस्ततो भेदाऽभावाद् इत्याह—महिमेति। विभिन्न इत्यस्यैव विवरणं पृथग् इति। लोके यथा देवदत्तस्य विभूतिः गवाश्वक्षेत्रादिरूपा देवदत्तात् पृथग्भूता प्रसिद्धा, तदाश्रितश्च देवदत्त उच्यते, तथाऽत्र न मन्तव्यं, यतोऽयं भूमसम्बन्धी महिमा ततो भूम्नः सकाशाद् भिन्नो न भवतीत्यर्थः।।१३२।। कथं तर्हि अभेदे आधाराधेय-व्यवहारः? इत्याशङ्क्य, 'स्वयं दासास्तपस्विन' इत्यादिवद् अल्प, सीमित, परिच्छिन्न हैं, वे सभी 'दुःख' कही गयी हैं।।१२८।। पूर्वोक्त सुख जिसका स्वरूप है वह भूमा मरण आदि सभी परिवर्तनों से रहित है। विचारकों ने अल्प उस सब को माना है जो परिवर्तनशील है।।१२९।। यह भूमा जब जान लिया जाता है तभी पुरुष मुख्य अतिवादी (बढ़कर बोलने वाला) हो सकता है, अन्य किसी तरह नहीं (क्यों कि तभी वह उस 'अति' को, भूमा को, जानकर बोलता है, उसे जाने बिना तो जिन्हें हम 'अति', बड़ा, समझते हैं वे सब स्वल्प ही हैं)। क्योंकि भूमबोध ही वास्तविक अतिवादिता संभव करता है इसलिये यह भूमतत्त्व ज़रूर जान लेना चाहिये। अतिवादी होने के लिये और कोई तरीका है ही नहीं।।१३०।।

प्रश्न होता है कि इस भूमा का कोई आधार हो तो उसी आधार से यह सीमित हो जायेगा और यदि कोई आधार न हो तो इसे समझें कैसे? यह बात नारद जी ने यों पूछी, 'हे भगवन्! वह भूमा किस आधार में स्थित है?' सनत्कुमार ने बताया कि यदि केवल व्यवहार के उपयोग का आधार पूछ रहे हो तो समझ लो कि वह अपनी महिमा में ही स्थित है। मायादि सकल प्रपंच उस भूमा का वैभव है, वही उसकी महिमा है। इससे यह नहीं समझना कि महिमा में रहने से उसकी व्यापकता खंडित हो जायेगी क्योंकि भूमा और उसकी महिमा में कोई भेद नहीं है। लोक में व्यक्ति की महिमा उसकी धन-संपत्ति मानी जाती है अतः जैसे देवदत्त की महिमा उसके गाय-घोड़े आदि देवदत्त से अलग होते हैं उनमें देवदत्त को आश्रित कहा जाता है, वैसे भूमा के प्रसंग में भूमतत्त्व से उसकी महिमा अलग नहीं है वरन् सुखरूप भूमा का जो सारी सीमाओं से रहित स्वरूप है वही उसकी महिमा है जिसमें भूमा को प्रतिष्ठित समझ सकते हैं। जैसे कहते हैं 'तपस्वी खुद के दास हैं' तो जो दास है और जिसका दास है वे पृथक् नहीं जैसे सामान्यतः दास व मालिक अलग होते हैं, वैसे यहाँ भी भूमा और उसकी महिमा पृथक् नहीं। तपस्वी न अन्य के सेवक हैं, न

१. 'स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति।'

२. 'स्वे महिम्नि यदि वा न महिम्नीति।।१।। गोअश्वमिह महिमेत्याचक्षते हस्तिहिरण्यं दासभार्यं क्षेत्राण्यायतनानीति, नाहमेवं ब्रवीमि ब्रवीमीति होवाच। अन्यो ह्यन्यस्मिन् प्रतिष्ठित इति।।'७.२४.२।।

किन्तु स्वात्मैव महिमा स्वात्मनः सुखरूपिणः। भूम्नः सर्वपरिच्छेदरहितस्तत्र स स्मृतः।।१३३
नान्यत्र स्वस्वरूपात् स भूमोक्तादुपतिष्ठते। स्वप्रतिष्ठस्ततः सोऽयं प्रतिष्ठारहितः स्मृतः।।१३४
दशदिक्षु स एवाऽयं भूमा तिष्ठति सर्वदा। तत्पदार्थोऽत्र तत्रैतद् विश्वं सदसदात्मकम्।।१३५
अध्यस्तं देशकालादिसर्वभेदविवर्जिते। गन्धर्वनगरं यद्वद् गगनेऽत्यन्तनिर्मले।।
अत एव जगत्सर्वं स एव परिगीयते।।१३६
अयं भूमाऽहमस्मीति ज्ञातव्यो मुक्तिमिच्छता। अहंशब्दाद् अहङ्कारो यद्यप्येष प्रतीयते।।
तथाऽपि लक्षयेदेष आत्मानं सदृशत्वतः।।१३७

विकल्पवशात्तदुपपत्तिरित्याशयेनाह—किन्त्विति। सुखरूपिणो भूम्नो यः सर्वपरिच्छेदरहितः स्वात्मा स्वरूपं स एव स्वात्मसम्बन्धी महिमा भवति। तत्र स्वरूपभूते महिम्नि भूमा प्रतिष्ठितत्वेन स्मृतः विकल्पदृष्ट्येति शेषः।।१३३।। वास्तवस्तदाधारस्तु नास्तीत्याह—नान्यत्रेति। स्वस्वरूपाद् उक्ताद् वर्णिताद् अन्यत्र वस्तुतो भिन्ने आधारे यतो भूमा न अवतिष्ठते ततः स भूमा विकल्पाङ्गी कारेण स्वप्रतिष्ठो वाच्यः। विकल्पपरित्यागेन प्रतिष्ठया आधारेण रहितो वा वाच्य इत्यर्थः।।१३४।।

कथं निराधारस्य बुद्ध्युपारोहः? इत्याकांक्षां शमयन् 'स एव' इत्यादिवाक्यस्य[1] प्रथमं तत्पदार्थरूपेण भूम्नो बोधादेशकस्यार्थमाह—दश दिक्ष्विति। 'पूर्वादयश्चतस्रः कोणैर्युक्ताः सहाधरोर्ध्वाभ्यां दशसम्मिता दिशस्तु' इत्युक्तासु दशदिक्षु यावत् किञ्चित् कालत्रये स्थितं तत् सर्वरूपेण भूमैव तिष्ठति इत्यर्थकेऽत्र 'स एव अधस्ताद्' इत्यादिके वाक्ये तत्पदार्थ उक्त इति शेषः। यतस्तत्पदार्थभूते भूम्नि समस्तं जगद् गगने गन्धर्वनगरवत् कल्पितम्। इति द्वयोरर्थः।। तथा च सर्वाधिष्ठानताऽनुसन्धानेन प्रथमं भूमा बुद्धावारोहणीय इति भावः।।१३५-६।।

[2]ततस्ताटस्थ्यवारणाय अहंपदोक्तत्वंपदार्थरूपेण भूमा, तथा सर्वदिग्गतत्वेन अनुसन्धेय इत्याह—अयमिति। अयं सर्वगतो भूमा अहमस्मीति एवं ज्ञातव्यः। नन्वहंशब्दस्य परिच्छिन्नाऽहङ्कारविशिष्टिवाचकस्य कथं भूम्नि प्रयोग इति चेत्? साधर्म्यमूलकया गौणलक्षणयेत्याह—अहं शब्दाद् इति। यद्यपि अहम् इति शब्दादहङ्कारः प्रतीयते तथाऽपि वाच्यार्थस्य अहङ्कारस्य यत्सदृशत्वं वक्ष्यमाणरूपं तेन निमित्तेन भूमानम् एषः अहंशब्दः संलक्षयेत् लक्षणया बोधयेदित्यर्थः।।१३७।। अहङ्कारात्मनोः सादृश्यमेव अभिनयति—सर्वदिक्ष्विति। सर्वदिग्गताः सार्वकालिकाश्च

अन्य को सेवक बनाते हैं—यही 'खुद के दास' का मतलब है, भूमा न किसी अन्य का आश्रय है, न किसी अन्य पर आश्रित है—यह 'अपनी महिमा पर आश्रित' का मतलब है।।१३१-३।। यों व्यावहारिक दृष्टि से महिमा को आधार बताया। वास्तविकता की भूमिका पर तो उसका कोई आधार है ही नहीं। अपने पूर्वोक्त व्यापक स्वरूप से अन्य कहीं भूमा अवस्थित नहीं है। इसलिये उसे 'अपने में स्थित' कहा जाता है लेकिन सच यह है कि उसका कोई आधार है ही नहीं। (जैसे तार्किकों के 'अवृत्ति' पदार्थों का कोई आधार नहीं होता वैसा समझना चाहिये। पूर्व में भी (१.७६१-६) आत्मव्यापकता पुराणकार बता चुके हैं।)।।१३४।।

जिसका कोई आधार नहीं उसे समझा कैसे जाये? इसके समाधानार्थ 'वही नीचे, ऊपर आदि है' यह सनत्कुमार ने कहा जिसमें भूमा का तत्पदार्थ (ईश्वर) रूप में वर्णन है। वही प्रकृत भूमा हमेशा दसों दिशाओं में रहता है। व्यक्त-अव्यक्त जो कुछ भी है वह यह भूमा ही है। इसलिये 'तत्'-पद का अर्थ ईश्वर इस भूमा से पृथक् नहीं। अत्यन्त निर्मल गगन में जैसे गंधर्वनगर अध्यस्त होता है ऐसे देश-काल आदि सब भेदों से रहित इस भूमा में सारा जगत् अध्यस्त है। क्योंकि उसीमें कल्पित है इसलिये कहा जाता है कि वह सारा जगत् है। अभिप्राय है कि 'सबका अधिष्ठान है' इस रूप में पहले भूमा को समझना चाहिये।।१३५-६।।

---

१. 'स एवाऽधस्तात्स उपरिष्टात्स पश्चात्स पुरस्तात्स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदं सर्वम् इति।'
२. 'अथाऽतोऽहङ्कारादेश एवाहमेवाधस्तादहमुपरिष्टादहं पश्चादहं पुरस्तादहं दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेदं सर्वमिति।।'७.२५.१।।

सर्वदिक्षु स्थिता जीवा ये भूता ये च भाविनः। वर्तन्ते ये च ते सर्वेऽप्यहमेव वदन्ति हि।।१३८

अहङ्कारस्ततो यद्वज्जीवात्मैष व्यवस्थितः। दिग्जातं भूतजातं च तद्वद् व्याप्य व्यवस्थितः।।१३९

अहंशब्देन जीवात्मा सर्वोपाधिविवर्जितः। लक्ष्यते सर्वदा योऽयं भूम्ना तादात्म्यमाव्रजेत्।।१४०

आत्माऽहं भूमरूपोऽस्मीत्येवं यः प्रतिपद्यते। मनसाऽपि धिया सर्वकरणैर्मनुजत्ववत्।।१४१

जीवाः देहाभिव्यक्तौ प्रथममहमित्येव अनुभवन्तः सन्तो वदन्ति अभिवदनादिव्यवहारं कुर्वन्ति। ततः सर्वजीवव्यवहाराणां निदानत्वाद् अहङ्कारो यथा दिग्जातं भूतजातं च व्याप्य स्थितः तथा तदाश्रयत्वेन जीवात्माऽपि दिग्जातादिकं व्याप्य स्थितो ज्ञायते। इति द्वयोरर्थः।।१३८-९।। एवंविधाऽहङ्कारस्य चिच्छायाव्याप्तस्य वाचकोऽहंशब्द ऐक्यलक्षणवाक्यार्थनिर्वाहाय सर्वान्तरत्वलक्षणं जीवस्य शुद्धं स्वरूपम् आत्मशब्दप्रतिपाद्यं लक्षयतीत्याह—अहं शब्देनेति। जीवात्मा जीवस्य विशिष्टरूपस्य आत्मा शुद्धं रूपं यस्य भूम्ना सह तादात्म्यम् ऐक्यं महावाक्येन प्रापणीयं तस्य अहंशब्दो लक्षक इत्यर्थः।।१४०।।

आत्मादेशादिवाक्येन[1] महावाक्यार्थानुभवोऽभिनीयत इति दर्शयंस्तद्वतो जीवन्मुक्तिबोधकानाम् आत्मरत्यादिपदानामर्थमाह—आत्माऽहमिति। यथा मनोबुद्धीन्द्रियैः व्यवहरन्तोऽज्ञाः स्वस्य मनुजत्वं मनुष्यत्वं प्रतिपद्यन्ते सन्देहविपर्ययपरिहारेण सदाऽनुभवन्ति, एवं यः अहङ्काराद्युपाधीन् विस्मृत्य आत्मनो भूम्ना सह ऐक्यं प्रतिपद्यते स आत्मन्येव रत्यादिशाली भवति इत्युत्तरेण अभिसम्बन्धः।।१४१।।

यह भ्रम न रह जाये कि भूमा उस साधक से अन्य है जो उसे समझता है, उसी को 'त्वं'-शब्द के अर्थ रूप से समझाया : मुमुक्षु को चाहिये कि 'यह भूमा मैं हूँ' यों उसे समझे। यद्यपि 'मैं'-शब्द से अहंकार उपस्थित होता है तथापि लक्षणा से यही शब्द भूमा को बता देता है। लक्षणा में निमित्त है सादृश्य।।१३७।। सादृश्य इस प्रकार है : भूतकालिक, वर्तमान और भावी जीव सभी दिशाओं में रहते हैं और देह में अभिव्यक्त होने पर पहले-पहल 'मैं' यों अनुभव करते हुए व्यवहार करते हैं। यों सब जीवों के सब व्यवहारों में कारण बनने वाला अहंकार जैसे सब प्राणियों को और दिशाओं को घेर कर मौजूद है वैसे उसका आश्रय जीवात्मा भी दिशा आदि सबको घेर कर स्थित है।।१३८-९।। चेतन की छाया से युक्त उक्त प्रकार के अहंकार का वाचक 'मैं'-शब्द है। वेद ने 'मैं ही यह सब कुछ हूँ' यों 'मैं' की सब कुछ से एकता कही है। यह वाक्य सुसंगतार्थक हो इसलिये 'मैं'-शब्द से जीव का सर्वांतर शुद्ध स्वरूप समझना ज़रूरी है। शरीर आदि सीमाओं से परे जो जीव का आत्मा है, शुद्ध रूप है, वही भूमा से अभिन्न है यह बात वेदप्रमाण से समझ आ सकती है इसलिये 'मैं'-शब्द से उसी शुद्ध वस्तु को लक्षित किया जाता है।(वाक्यतात्पर्य संगत हो इसके लिये ही लक्षणा की जाती है। वेद ने अहं-पदार्थ और व्यापक वस्तु की एकता कही है। अहं-पदार्थ का ससीम अर्थ व्यापक तत्त्व से अभिन्न हो नहीं सकता अतः उसका जो अर्थ उससे अभिन्न हो सकता है वही ग्रहण करना पड़ेगा। वह है अहं-शब्द का असीम अर्थ। व्यापक आत्मा ही शरीरादि सीमाओं में समझा जा रहा है। इन सीमाओं को छोड़ दें तो जो समझ आयेगा वही व्यापक आत्मा है। शब्द का सीधा संबंध जिससे होता है वह वाच्य कहा जाता है और किसी निमित्त से समझ आने वाला अर्थ लक्ष्य होता है। 'सब दिशा आदि में होना'—यह आत्मवस्तु और अहंपदवाच्य में समानता है जिस निमित्त से अहंपद आत्मवस्तु को लक्षणा से उपस्थित कर देता है। अहंपद का लक्ष्य जो आत्मा वही भूमा है।)।।१४०।।

'मैं भूमरूप आत्मा हूँ' यों जो साक्षात्कार कर लेता है वह रति आदि महसूस करने के लिये अनात्मा की अपेक्षा नहीं रखता। मन-बुद्धि-इंद्रियादि से अज्ञानी जैसे स्वयं को मनुष्य समझते हैं वैसे ही तत्त्वज्ञ अहंकारादि उपाधियाँ भूलकर आत्मा की भूमा से एकता समझता है, इस बारे में उसे न कोई संदेह रहता है न कोई अन्यथा-ज्ञान होता है।।१४१।।

---

१. 'अथात आत्मादेश एवात्मैवाऽधस्तादात्मैवोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेदं सर्वमिति। स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति। अथ येऽन्यथाऽतो विदुरन्यराजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति तेषां सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति'।।७.२५.२।।

जीवन्मुक्तः

आत्मन्येव च स क्रीडन् बालकेष्विव बालकः। अत्रैव रतिमागच्छन् युवत्यामिव कामुकः।।१४२
स्त्रीपुंसयोर्हि मिथुनं भवेत्तदितरेतरम्। विषयानन्दहेतुर्यः तद्वदात्मनि सर्वदा।
मिथुनत्वं तथाऽऽनन्दो विषयप्राप्तिसम्भवः।।१४३
अवगच्छन् हि निर्द्वैतं सर्वदुःखविवर्जितः। स्वराट् परानपेक्षः सन् विराडिव भवेद्धि सः।।
तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारश्च सर्वदा।।१४४

जीवन्मुक्तस्य व्यवहार-शास्त्रचिन्तनभेदेन द्विविधायां व्युत्थानदशायां यद् आत्मचिन्तनं तद् रतिक्रीडापदाभ्यां गौण्या वृत्त्या निदर्शितम् इत्याशयेन आह—आत्मन्येवेति। स विद्वान् अध्यात्मशास्त्रचिन्तनकाले आत्मन्येव क्रीडन् बाह्यसाधनोपचितं विहारसुखमिव प्राप्तो भवति यथा बालकगोष्ठ्यां बालक इत्यर्थः। स्नानभोजनादिकालेऽपि अत्र आत्मनि एव रतिं चेतसः सक्तिं धारयन् स भवति। यथा वा कामी विदेशादिगतोऽपि कान्तायां मानसव्यापारं वहति तद्वद् इत्यर्थः।।१४२।।सविकल्पनिर्विकल्पभेदेन द्विविधे समाधौ तु यद् आत्मचिन्तनं तद् मिथुनानन्दपदाभ्यां निदर्श्यत इत्याशयेनाह—स्त्रीपुंसयोरिति। यथा सर्वं व्यवहारं परिहृत्य अवस्थितयोः स्त्रीपुंसयोः मिथुनत्वं मिथुनी भावः परस्परं विषयानन्दहेतुत्वेन प्रसिद्धस्तथा ध्यातृध्येयभावेन मिथुनत्वमात्मनि एव अस्य सविकल्पकसमाधिकाले आनन्दहेतुः भवतीत्यर्थः। यथा च गान्धर्वादिविषयप्राप्त्यनन्तरं तत्फलस्य आनन्दस्य अनुभवो निर्विकल्पकः प्रसिद्धः परीक्षकाणां, तद्वदस्य विदुषो निर्विकल्पकसमाधिकाले निरतिशयानन्दानुभव आत्मन्येव भवतीत्यर्थः।।१४३।। तत्र हेतुभूतं परानपेक्षत्वं स्वराट्पदेन निरूप्यत इति दर्शयन् स्वराट्पदार्थमाह—अवगच्छन्निति। हि यतो निर्द्वैतं स्वरूपम् अवगच्छन् साक्षादनुभवन् जीवन् मुक्तः सर्वदुःखराहित्ये परानपेक्षः सन् विराट् समष्ट्यभिमानीश्वरः; तद्वत् स्वराट् स्वेनैव राजनशीलो भवति। तथा तस्य विदुषः सर्वात्मत्वेन सर्वेषु लोकेषु सत्कर्मफलेषु कामचारः अप्रति-बन्धेन प्राप्तिरूपो भवति इत्यर्थः।।१४४।।

जीवन्मुक्त जब समाधि से अतिरिक्त दशा में होता है तब या भिक्षाटनादि व्यवहार कर रहा होता है और या शास्त्रचिंतन, उपदेशादि में लग्न होता है। हर हालत में वह आत्मा का चिंतन करता ही रहता है। इस चिंतन को ही रति-क्रीडा शब्दों से सनत्कुमार ने कहा। बालकों की गोष्ठी में जैसे बालक क्रीडा करते हैं ऐसे अध्यात्मशास्त्र का चिन्तन करते हुए आत्मवित् स्वयं में ही वह सुख पा लेता है जो बाहरी साधन बटोर कर विहार करने से लोग पाते हैं। इसलिये वह 'आत्मक्रीड' है। जैसे कामुक की रति युवती में ही बनी रहती है, वह हमेशा प्रेयसीचिंतन करता है, वैसे तत्त्वज्ञ स्नान, भोजनादि काल में भी आत्मा में ही रति रखता है, चित्त में आत्मा को ही धारे रहता है। इसलिये उसे 'आत्मरति' कहते हैं। (इस प्रकार आवश्यक व्यवहार करने पर भी निरंतर आत्मप्रकाश बना रहता है और अनात्म-वस्तुओं का यथोचित उपयोग करने पर भी उनमें लगाव, उनके प्रति आग्रह नहीं होता।)।।१४२।।

विद्वान् कभी सविकल्प तो कभी निर्विकल्प समाधि में रहते हुए आत्मचिन्तन करता है, उसे 'मिथुन' और 'आनंद' शब्दों से सनत्कुमार ने बताया। प्रसिद्ध है कि जब सारे व्यवहार छोड़कर स्त्री-पुरुष आपस में जोड़ा हुए रहते हैं—आलिंगनादि में आबद्ध रहते हैं—तब एक-दूसरे को विषयानंद प्रदान करते हैं। इसी प्रकार विद्वान् जब सविकल्प समाधि में होता है तब वह ध्याता-ध्येय का जोड़ा बनकर स्वयं ही स्वयं को सुख देता है।(जैसे एक दम्पती-पदार्थ के ही पति-पत्नी रूप दो हिस्से दम्पती को सुख देते हैं ऐसे आत्मा के ही ध्याता-ध्येय रूप से कल्पित हिस्से आत्मा को ही सुख देते हैं।) संगीत आदि विषयों के उपभोग के बाद, उपभोग समाप्त होने पर, उसके फलभूत आनंद का अनुभव 'निर्विकल्प' करके प्रसिद्ध है क्योंकि उपभोगदशा में होता सुख सविकल्प है और उसके बाद, विषय निवृत्त होने पर रहने वाला सुख वैसा नहीं है। इसी प्रकार निर्विकल्प समाधि की दशा में विद्वान् को स्वयं में ही निरतिशय आनंद महसूस होता है। अतः सविकल्पदशा में आत्मवेत्ता को 'आत्ममिथुन' और निर्विकल्प दशा में 'आत्मानंद' बताया गया है।।१४३।।

एवं ये न विदुर्मन्दा भूमात्मानं विमोहिताः। पराधीनाः क्षीणलोकाः स्वेच्छाचारविवर्जिताः।
जायन्ते च म्रियन्ते च सततं दुःखजीविनः।।१४५

एवं विजानतः पुंस आत्मनो भूमरूपिणः । नामादिप्राणपर्यन्तं जायते स्रजि सर्पवत्।।१४६

मन्त्रब्राह्मणरूपा ये वेदास्तेऽपि सकर्मकाः। जायन्ते किं बहूक्तेन विश्वं सदसदात्मकम्।।
जायते सकलं यद्वद् गन्धर्वनगरं हि खात्।।१४७

विद्याफलम्

अथात्मनोऽत्र विज्ञाने श्लोकमेतं पठन्ति हि। वैदिकाः सर्वदुःखानामभावे सर्वदेहिनाम्।।१४८

पश्यो मृत्युं न पश्यति न रोगं नोत दुःखताम्। सर्वं हि पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वगः।।१४९

उक्तविज्ञानहीनानामनर्थततिमाह—एवमिति। य उक्तविधया भूम्न आत्माऽऽनन्दस्वरूपम् अद्वैतलक्षणं न विदुः किन्तु भेदमेव विदुः जानन्ति विमोहवशात् ते पराधीनाः स्वभिन्नत्वेन कल्पितानां राजादिरूपप्रभूणां वशे स्थिताः, क्षीणा अन्तवन्तो लोका येषां ते तथाविधाः स्वातन्त्र्यहीनाश्च पुनः पुनर्जननमरणादिकं प्राप्नुवन्तीति।।१४५।।

उक्तात्मविदस्तु ईश्वरभावेन विश्वोपादानत्वम् अपि भवति इत्याकारम् 'आत्मनः प्राण' [1]इत्यादिवाक्यस्य अर्थमाह—एवं विजानत इति। भूमात्मानं साक्षाद् अनुभवतः पुंस आत्मनः स्वरूपाद् नामादीनि प्राणान्तानि पञ्चदश तत्त्वानि स्रक्सर्पन्यायेन जायन्त इति।।१४६।। एतेन शास्त्रयोनित्वं परिशिष्टविश्वयोनित्वं च भवतीति सूचितमिति दर्शयन्नाह—मन्त्रेति। सकर्मकाः कर्मभिः यागादिभिः तत्प्राप्यैः फलैश्च सहिताः। स्फुटमन्यत्।।१४७।।

उक्तविद्याफलप्रदर्शकः श्लोकोऽपि बोध्य इत्याह—अथाऽऽत्मन इति। विज्ञाने तत्फले। श्लोकं मन्त्रम्।।१४८।। तं [2]पठति—पश्य इति।।१४९।। अस्यार्थमाह—पश्यो जीव इति षड्भिः। दृशधातोः शप्रत्यये पश्यादेशे च सति

द्वैतहीन स्वरूप का साक्षात्कार करता हुआ जीवन्मुक्त जिस निर्दुःख स्थिति में रहता है उसके लिये क्योंकि वह किसी अन्य का सहारा नहीं चाहता इसलिये वह विराट् अर्थात् समष्टि में अभिमान वाला ईश्वर है और स्वराट् अर्थात् खुद ही विराजमान रहता है। सत्कर्मों के जितने फल हैं उन सबकी वह अप्रतिबद्ध प्राप्ति कर लेता है।।१४४।।

भूमा से अनभिज्ञता रहते अनर्थ ही मिलता है। विवेक-वैराग्य से रहित होने के कारण व्यापक सत्तत्त्व की प्रत्यग्रूपता से अपरिचित जीव पराधीन रहते हैं, जिन्हें अपने से भिन्न मानते हैं उन राजा आदि के अधीन रहते हैं। उन जीवों को नश्वर विषयसुख ही प्राप्त होते हैं। अपनी इच्छानुसार चेष्टा करने में असमर्थ वे लगातार जन्म-मरण के प्रवाह में भटकते हुए दुःखी बने रहते हैं।।१४५।।

इनसे विपरीत हैं जो भूमा को आत्मा जानते हैं। उन्हें पता चल जाता है कि वे उससे अतिरिक्त नहीं जो विश्व का उपादान है। इसे स्पष्ट करने के लिये सनत्कुमार ने बताया कि तत्त्वज्ञ के आत्मा से ही प्राणादि सभी कुछ सत्ता में आता है। माला पर साँप की तरह आत्मा पर वे सब पदार्थ कल्पित हैं जिन्हें प्रतीक रूप से उपासनार्थ बताया था। यद्यपि नाम से प्राण तक के— किं वा विश्व के सभी—पदार्थ आत्मा पर ही अध्यस्त हैं तथापि जो केवल आत्मा के व्यापक स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है उसे इस बात की गैरजानकारी नहीं रहती।।१४६।। मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद, उनके द्वारा विहित यागादि कर्म, उनसे प्राप्य विश्व के सभी स्थूल-सूक्ष्म विषय, संक्षेप में कहें तो सारा ही प्रपंच आत्मा से ही पैदा होता है जैसे आकाश से गंधर्वनगर पैदा होता है।।१४७।।

१. 'तस्य ह वा एतस्यैवं पश्यत एवं मन्वानस्यैवं विजानत आत्मतः प्राण आत्मत आशाऽऽत्मतः स्मर आत्मत आकाश आत्मतस्तेज आत्मत आप आत्मत आविर्भावतिरोभावावात्मतोऽन्नमात्मतो बलमात्मतो विज्ञानमात्मतो ध्यानमात्मतश्चित्तमात्मतः सङ्कल्प आत्मतो मन आत्मतो वागात्मतो नामात्मतो मन्त्रा आत्मतः कर्माण्यात्मत एवेदं सर्वमिति।।'१।।

२. 'तदेष श्लोको—न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखतां सर्वं ह पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वश—इति।'७.२६.२।।

पश्यो जीव इति प्रोक्तः स पश्येत् सर्वमेव यत्। शुभाऽशुभं च संसारमोक्षं च स्वचितेर्बलात्।।१५०
मृत्युर्मरणमित्युक्तं धर्मजातं शरीरगम्। जन्मादिकं हि कालेन जातं यद् व्याधिवर्जितम्।।१५१
रोगो रसविपाकस्य वैषम्याद्यः प्रजायते। अवस्थानमपेक्ष्यैवं स उक्तः पण्डितैः सदा।।१५२
दुःखं देहेन सम्बन्धो नानाधर्मवता सदा। चतुर्विधानां भूतानां बुद्धावत्र विभेदिनाम्।।१५३
सर्वमात्मनि सम्प्रोक्तमध्यस्तं सदसद्वपुः। अध्यस्तत्वेन विज्ञानं तस्य न स्याद् विलोकनम्।।१५४

निष्पन्नं पश्यपदं जीवात्मनो वाचकं, तस्य सकलसंसारस्य मोक्षस्य च द्रष्टृत्वाद् इत्यर्थः।।१५०।। मृत्युपदेन च मरणोपलक्षिता जन्मादयः शरीरधर्मा उक्ताः। परन्तु व्याधिः शरीरधर्मोऽपि अनेन नोपलक्ष्यते, तद्वाचकस्य रोगपदस्य पृथक् सत्त्वाद् इत्याह—मृत्युरिति।।१५१।। रोगपदार्थमाह—रोग इति। रस आहारपरिणामः तस्य यद् विपाके पचन औदर्याग्निना क्रियमाणे वैषम्यं तारतम्येन सम्बन्धः, तस्माद् निमित्ताद् यो जायते ज्वरादिः स रोगपदेन उक्तः। अस्य मृत्युपदेन असंग्रहे हेत्वन्तरमाह—अवस्थानमिति। चिरावस्थानरूपं विशेषम् अपेक्ष्य अभिप्रेत्य स रोगो मृत्युपदभिन्नपदोपन्यासेन उक्त इत्यर्थः। जन्मादयस्तु न चिरस्थायिन इति मृत्युपदेन अचिरस्थायि-बोधकेन त एव सदृशा लक्षितुं शक्या इति भावः।।१५२।। दुःखपदार्थमाह—दुःखमिति। चतुर्विधदेहानाम् आधाराधेयभावसम्बन्धेन सम्बन्धिन्याम् अत्र नानाविशेषशालिन्यां बुद्धौ प्रतिबिम्बितत्वेन विभेदिनाम् विविध-भेदवतां जीवानां यो नानाजन्मादिधर्मवता देहेन सम्बन्धः अहंममाध्यासरूपः स एव दुःखम् इत्यर्थः।।१५३।।

एवमुपनिषत्पूर्वार्द्धगतपदार्था उक्ताः। अथ तेषामदर्शने हेतुरध्यस्ततावगाहनरूपं सर्वदर्शनम् इत्याकारकं तृतीयपादार्थमाह—सर्वमिति। सर्वं द्वैतजातं सदसद्वपुः अनिर्वचनीयम् आत्मनि अध्यस्तं कल्पितमेव। तस्य च तावदेव स्थितिः यावद् अध्यस्तताऽनवगाहनेन अपरिपूर्णं विज्ञानं जायेत भवेत्। यदा तु अध्यस्ततामपि अवगाहमानं परिपूर्णं विज्ञानं भवेत् तदा तस्य अध्यस्तस्य पुनः विलोकनं न स्याद् इत्यर्थः। तथा च—हि यतः सर्वम् अध्यस्ततापर्यन्तं पश्यति विद्वांस्ततो मरणादिकं न पश्यति इति युक्तम् इति तृतीयपादान्तवाक्यार्थः।।१५४।।

दर्शित आत्मा के तत्त्वानुभव के फल के बारे में मंत्र भी प्रकाश डालता है। सब देहधारियों के सभी दुःख मिट जाते हैं यह बात वेदज्ञों ने मन्त्र द्वारा कही है।।१४८।। मंत्र है 'मृत्यु , रोग, दुःखता—इन्हें 'पश्य' नहीं देखता। सर्वगत 'पश्य' सब को देखता है, सब पा जाता है।'।।१४९।। इसका यह अर्थ है : क्योंकि अपने ज्ञानस्वरूप के बल पर सभी शुभ-अशुभ को, संसार व मोक्ष को जीव देखता है, अनुभव करता है, इसलिये जीव को 'पश्य' कहते हैं।।१५०।। मंत्र का 'मृत्यु' शब्द मौत समेत जन्मादि उन सभी धर्मों का बोधक है जो शरीर में उपलब्ध होते हैं। हाँ, व्याधि को क्योंकि स्वयं 'रोग' शब्द से कह दिया है इसलिये उसे मृत्यु द्वारा बोध्य मानने की ज़रूरत नहीं।।१५१।। भोजन के पचने में जो कमोबेश हो जाता है उस निमित्त से होने वाले बुखार आदि 'रोग' हैं। ये रोग क्षणिक नहीं वरन् मिटने तक बने रहते हैं, इसलिये क्षणिक घटना के बोधक 'मृत्यु'-शब्द से इन रोगों की उपलक्षणा विद्वान् नहीं करते। अत एव मंत्र में मृत्यु से रोग को पृथक् कर कहा। (रोग देह में बाहर से आते हैं ऐसी बात संमत नहीं। जिस भी पदार्थ का शरीर उपभोग करता है उसे शरीरसंरचना के अनुकूल बनाकर आत्मसात् करता है। इस प्रक्रिया में शरीर से चूक होने पर उपभुक्त तत्त्व ही शरीर के प्रकृतिभूत धातुओं का सामरस्य बिगाड़ देते हैं जिसकी अभिव्यक्ति ही हमें रोगरूप में अनुभव होती है।)।।१५२।।

मंत्र में कहा कि वह 'दुःखता' नहीं देखता। चारों तरह के शरीरधारियों में अनेक विशेषताओं वाली बुद्धियाँ रहती हैं जिनमें प्रतिबिम्बित हुए जीव नाना प्रकार के भेदों वाले हो जाते हैं। जन्म आदि विविध धर्मों वाले शरीरों से जीवों का संबंध होता है, शरीरों को वे 'मैं' और 'मेरा' महसूस करते हैं। यह शरीरसम्बन्ध ही मंत्रोक्त दुःख है।।१५३।।

प्राप्तिश्च स्वात्मनो ज्ञानात् तदनन्यत्वमीरिता। वेदार्थः सकलोऽप्यस्मिन् लोके वेदसमीरिते।।
अस्ति यस्मादतस्तस्य विज्ञानात् सर्वविद् भवेत्।।१५५

आत्मविज्ञानसम्पन्नः स्वात्मनो मायया सदा। नानारूपोऽपि चैकात्मा भवेद् भूमस्वरूपतः।।१५६

आत्मा माया च तत्कार्यमिति सोऽपि त्रिधा भवेत्। भूतपञ्चकरूपेण पञ्चधा च महेश्वरः।।१५७।।

सप्तलोकादिरूपेण सप्तधा च सदा विभुः। ग्रहादिरूपतस्तद्वद् नवधाऽपि महेश्वरः।।१५८

तुर्यपादोक्तां सर्वप्राप्तिमुपपादयति—प्राप्तिश्चेति। ज्ञानाद् अनन्तरमात्मनः सकाशाद् यत् तदनन्यत्वं तस्य दृश्यजातस्य अन्यत्वाऽभावः, कल्पितभेदबाध इति यावत्, तद्रूपैव सर्वप्राप्तिरुक्तेत्यर्थः। एतदेव स्फुटयति—वेदार्थ इति। अस्मिन् भूमात्मरूपे लोके'ऽयमात्माऽयं लोक' इति श्रुत्यन्तरप्रसिद्धे (बृ.४.४.२२) वेदसमीरिते वेदस्य महातात्पर्यगोचरे सकलो यागलोकादिविशेषशाली वेदार्थोऽस्ति अन्तर्भवति यतः तस्मात् तस्य आत्मरूपलोकस्य विज्ञानात् सर्ववित् सर्वस्य लब्धा भवति इत्यर्थः।।१५५।।

विदुष एकधाभावादिकं श्रुत्युक्तं[1] विशदयति—आत्मविज्ञानेति चतुर्भिः। आत्मनो याथात्म्यस्य वेत्ता स्वकीयमायया नानारूपो भवेद्, भूमस्वरूपेण त्वेकरूप इत्यर्थः।।१५६।। आत्ममायेति। तत्र कथं त्रित्वम्? इति जिज्ञासा—आत्मा च माया च तत्कार्यं च इत्येतद् रूपत्रयमादाय पूरणीया। पंचभावाकांक्षा तु पंचभूत-पंचेन्द्रियादिरूपमादायेत्यर्थः। एवमग्रेऽपि।।१५७।। सप्तेति। लोकादि इति आदिपदेन कुलाचलादिग्रहः। ग्रहा आदित्यादयः। आदिपदेन अङ्कनन्दादिग्रहः[2]।।१५८।। इन्द्रियेति। आदिपदेन रुद्रादिग्रहः। एकादशेन्द्रियाणां

मंत्र ने स्वयं स्पष्ट किया है कि वास्तविकता जीव को क्यों नहीं पता चलती। अध्यस्त सभी द्वैत वस्तुओं के अनुभव में संकुचित रहने के कारण ही जीव सत्य से बेखबर रहता है। अनिर्वाच्य सारा द्वैत आत्मा पर कल्पित ही है। अपरिपूर्ण अनुभव रहते ही द्वैत की मौजूदगी है। जैसे ही द्वैत अध्यस्त है यह समझ आता है वैसे ही 'यह सच है' यों उसका अनुभव समाप्त हो जाता है। तत्त्वज्ञ न केवल 'सर्व' जानता है वरन् सर्व की अध्यस्तता भी जानता है; इस परिपूर्ण जानकारी के फलस्वरूप ही वह मृत्यु आदि से छूट जाता है।।१५४।।

मंत्र में यह भी बताया कि विद्वान् सब कुछ पा जाता है। स्वात्मा के ज्ञान से दृश्यवर्ग के कल्पित भेद का जो बाध हो जाता है, दृश्य की प्रतीयमान अन्यता का निरास हो जाता है, उसी को इस प्रसंग में 'प्राप्ति' समझना चाहिये। वेद ने तात्पर्यतः जिसका प्रतिपादन किया है वह भूमात्मा ही अपरोक्ष लोक है जिसमें सारे वेदार्थ का अंतर्भाव है। अत एव आत्मरूप लोक के अप्रतिबद्ध साक्षात्कार से 'पश्य' सब पा जाता है यह उचित ही है।('सारा वेदार्थ' अर्थात् आत्मा से अन्य जो कुछ धर्म, फल आदि बताये हैं वे सब। क्योंकि वे आत्मा पर अध्यस्त हैं इसलिये आत्मप्राप्ति से सबकी प्राप्ति स्वाभाविक है जैसे रज्जु प्राप्ति से सर्पादि की प्राप्ति।)।।१५५।।

आचार्य सनत्कुमार ने आगे बताया कि विद्वान् एक तरह का, तीन तरह का इत्यादि होता है। आत्मा की यथार्थता का जानकार निज आत्मा की माया से अनेक रूपों वाला हो जाता है किंतु अपने व्यापक स्वरूप से एक-स्वभाव का ही रहता है।।१५६।। आत्मरूप, मायारूप और मायाकार्यरूप—इन तीन को ग्रहण कर वही विद्वान् तीन तरह का होता है। वह महेश्वर ही पाँच भूत, पाँच इंद्रियादि रूप धरे पाँच तरह का होता है।।१५७।।

सात लोक, सात पर्वत (महेंद्र, मलय, सह्य, शुक्तिमान्, ऋक्ष, विंध्य, पारियात्र—ये सात कुलपर्वत साहित्यप्रसिद्ध हैं) आदि रूप धर कर वह व्यापक सनातन आत्मपुरूष सात तरह का हो जाता है। ग्रहादि रूप धारण किये वही नौ

---

१. 'स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा सप्तधा नवधा चैव पुनश्चैकादशः स्मृतः शतं च दश चैकश्च सहस्राणि च विंशतिः' ।२।
२. 'महापद्मश्च पद्मश्च शंखो मकर-कच्छपौ। मुकुन्द-कुन्द-नीलाश्च खर्वश्च निधयो नव।।' इति नवनिधयः, नवरत्नानीत्यादिरूपैश्च नवधेत्यादिशब्दार्थः।

इन्द्रियादिस्वरूपेण भवेदेकादशात्मकः। एकादशेन्द्रियाणां स्याद् वृत्तिभेदाच्छतं पुनः।।१५९
दशाधिकं सदा भेदात् तेषामेकादशात्मनाम्। हंसप्रचारा यावन्तस्तावद्भेदश्च संस्मृतः।।१६०

आहारशुद्ध्यादिसाधनानि

इदं सर्वात्मविज्ञानं दुर्लभं पापचेतसाम्। पुण्यात्मनां च सततं जन्मकोटिशतैरपि।।१६१
आहारो यस्य शुद्धः स्यात् सर्वदा विषयग्रहः। स्ववर्णाश्रमसंप्रोक्तो भावयोगात् कथञ्चन।
स पुमान् पापरहितः शुद्धचेताः प्रकीर्तितः।।१६२
बीजे योनौ तथाऽऽहारे व्यवहारे च यः शुचिः। तस्य कष्टगतस्याऽपि न पापे रमते मतिः।।१६३

प्रत्येकं दश दश वृत्तिभेदमादाय दशाधिकशतरूपो भवेत्। तथा तेषाम् एकादशरूपाणां सदा सर्वस्मिन् कालेऽहोरात्ररूपे यो भेदः प्रतिश्वासं पृथक्त्वम्, तमादाय हंसस्य श्वासरूपस्य यावन्तो यत्संख्याकाः प्रचाराः प्रवृत्तयः तावद्भेदः किञ्चिदधिकैकविंशतिसहस्ररूप इति यावत्। स्फुटितमेतदेकादशाध्याये हंसोपनिषद्व्याख्याने।।१५९-६०।।

उक्तात्मज्ञानसाधनतयाऽऽहारशुद्ध्यादिकं[1] विदधाति— इदमित्यादिना। ये सततं पुण्यात्मानः सदा बहिः पुण्यकर्मानुष्ठानपरा अपि पापचेतसो मनसि पापाः तेषाम् अपीदं ज्ञानं दुर्लभं किमुत बहिरपि पापपराणाम्! इत्यर्थः।।१६१।। कथं तर्हि चित्तशुद्धिः? इत्याकांक्षायामाह—आहार इति। स्ववर्णाश्रमानुसारेण प्राप्तानां विषयाणां ग्रहणरूप आहारो भावस्य साम्याऽवगाहनेन रागाद्यनास्कन्दितस्य[2] धीपरिणामस्य योगेन सन्तानेन यस्य पुंसः शुद्धो निष्पापः स्यात् तस्यैव चित्तशुद्धिर्बोध्येत्यर्थः।।१६२।। एतेन वृद्धकुमारीवरन्यायेन बीजशुद्ध्यादिकमाक्षिप्तम् इति दर्शयन्नाह— बीज इति। बीजे पितृकुले, योनौ मातृवंशे, आहारे विषयग्रहे, व्यवहारे दानादानादिरूपे, एतेषु यः शुद्धः छद्मरहितः तस्य विपत्सन्ततिं गतस्याऽपि पापकर्मणि रुचिर्न भवतीत्यर्थः।।१६३।। तस्य शुद्धचित्तस्य

तरह का होता है। (ग्रह सूर्यादि प्रसिद्ध हैं)।।१५८।। इंद्रियाँ, रुद्र आदि ग्यारह हैं, उन रूपों से वह ग्यारह तरह का होता है। ग्यारहों इंद्रियों में प्रत्येक की दस-दस प्रकार की वृत्तियाँ होती हैं जिनके संकलन से एक सौ दस तरह का वही आत्मा हो जाता है। (राग, द्वेष, कर्तव्यबुद्धि, उपेक्षा और स्वभाव से वैध और निषिद्ध वृत्तियाँ होती हैं अतः दस तरह की हैं।) दिन-रात चलते प्रत्येक श्वास में उक्त ग्यारहों इंद्रियाँ अलग-अलग ढंग की होती हैं, क्योंकि इंद्रियों की कार्यसंपादन शक्ति श्वास-संबंध से ही होती है अतः श्वासभेद से उक्त शक्ति विभिन्न होने पर शक्तिमान् इंद्रियाँ विभिन्न होनी स्वाभाविक हैं। इसलिये हंसरूप श्वास जितनी बार चलते हैं उतनी ही तरह की इंद्रियाँ हो जाती हैं। अतः इक्कीस हज़ार से कुछ अधिक तरह की इंद्रियाँ प्रतिदिन होती हैं जिन रूपों को धारण किया आत्मा भी इतनी तरह का समझा जाता है। (श्वाससंख्या ग्यारहवें अध्याय में पुराणकार बता चुके हैं।)।।१५९-६०।।

व्यापक आत्मा का अवगम जिन साधनों पर निर्भर है उनमें आहार की शुद्धि प्रधान है। बाहर से पुण्य कर लेने पर भी भीतर से पापमना लोगों के लिये भी यह सर्वात्मता का अनुभव अप्राप्य है तो जो भीतर ही नहीं बाहर भी पाप ही करते रहते हैं उनके लिये असंभव है इसमें कहना ही क्या!।।१६१।। अपने वर्ण और आश्रम के अनुरूप शास्त्रानुमत विषयों का ग्रहण 'आहार' है जिसे करते हुए राग आदि से बुद्धि प्रेरित न हो तब आहार को शुद्ध माना जाता है जिससे साधक का पाप निवृत्त होकर उसका चित्त शुद्ध हो जाता है। (भोजनसमेत सभी विषयभोग अनिषिद्ध, उचित और राग-द्वेष पूर्वक न हों—यह आहारशुद्धि है।)।।१६२।। पितृपरंपरा से, मातृपरंपरा से, विषयग्रहण में और

१. 'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः'।२।।
२. 'आह्रियत इत्याहारः शब्दादिविषयविज्ञानं भोक्तुर्भोगायाह्रियते, तस्य विषयोपलब्धिलक्षणस्य विज्ञानस्य शुद्धिराहारशुद्धिः, रागद्वेषमोहदोषैरसंस्पृष्टं विषयविज्ञानमित्यर्थः', इति भाष्यम्।।

अपापमतिरव्यग्रमानसो निर्मलाशयः। गुरूपदिष्टमात्मानं भूमानं स समेति तम्।।१६४

यदैनां स्मृतिमाप्नोति पुमान् कश्चिद्धि भाग्यतः।कामक्रोधादिकान् ग्रन्थींश्छिद्यात् तत्क्षणतस्तदा।।१६५

मृदितकषायो नारदः

आहारशुद्धिमान् स स्याद् नारदो मुनिसत्तमः। शुद्धचेतास्ततः कामक्रोधादिपरिवर्जितः।।१६६

हरीतक्यादिसंजातो रस उक्तो मनीषिभिः। कषायो यस्य सम्पर्काद् वस्त्रं वर्णान्तरं व्रजेत्।।
यथा तथाऽत्र चित्तस्य कामादिः कथितो बुधैः।।१६७

तस्याऽस्य मर्दनं प्रोक्तं ब्रह्मचर्यादिसाधनम्। नारदस्तैस्तु सम्पन्न उद्विग्नो भवसागरात्।।१६८

भिल्लपालितराजपुत्रन्यायेन गुरूपदेशाद् आत्मस्मृतिर्भवतीत्याह—अपापमतिरिति। निर्मलाशयः पुमान् पापरूपप्रतिबन्धाभावेन एकाग्रमनाः सन् गुरूपदेशेन भूमरूपम् आत्मानं समेति सम्यक् स्मरतीत्यर्थः।।१६४।। यदैनामिति। यदा च एनां भूमात्मगोचरां स्मृतिं लभते तदा चिज्जडयोः अध्यासरूपमेलनेन सिद्धत्वाद् ग्रन्थिशब्देन उक्तान् कामादींश्छिनत्ति तज्ज्ञानासिनेति शेषः।।१६५।।

नारदस्य[1] सर्वाधिकारिविशेषणसम्पन्नत्वमाह—आहारशुद्धीति त्रिभिः। स्पष्टम्।।१६६।। 'मृदितकषाय'-पदार्थं वक्तुं कषायपदार्थमाह—हरीतक्यादीति। कषायरसवान् हरीतक्यादीनां द्रवो वस्त्रादौ दृढरागप्रयोजकः कषायपदस्य मुख्योऽर्थः। 'कषायो रसभेदे स्याद् अङ्गरागे विलेपने' इति कोशात्। तद्वत् चित्तरञ्जकत्वात् कामादयोऽपि गौण्या तेनोच्यन्ते। तस्य कामादिरूपकषायस्य मर्दनेऽपहरणे क्षारादिवद् हेतवस्तु ब्रह्मचर्यादयः शास्त्रोक्ताः प्रसिद्धाः। तैः ब्रह्मचर्यादिभिः सम्पन्नो नारदस्तु मृदितकषायोऽभवत्, संसाराद् भृशम् उद्विग्नत्वात्। इति द्वयोरर्थः।।१६७-८।।

देना-लेना आदि व्यवहार में जो छल-कपट आदि दोषों से रहित है वह चाहे जितनी विपत्तियों से घिर जाये पर उसकी कभी पाप में रुचि नहीं होती।।१६३।। जिसकी बुद्धि पर पाप का पर्दा नहीं, जिसका मन विषयाशा से व्यग्र नहीं, जिसके चित्त में रागादि मल नहीं वह साधक गुरु द्वारा उपदिष्ट भूम आत्मा को सही-सही समझ पाता है। (आत्मस्वरूप होने पर भी विषयाध्यास से ग्रस्त रहकर जीव अज्ञ है अतः जैसे बचपन से ही भीलों द्वारा पालित राजकुमार अपने राजत्व के प्रति बेख़बर रहता है वैसे जीव भूमस्वरूप से अपरिचित है। समझदार मंत्री आदि उस राजकुमार को पहचानकर शनैःशनैः उसे उसकी भीलभिन्न-कुलीनता समझाकर भीलपरिवेश से विरक्त करता है तब वह बालक 'मैं राजा हूँ', यह समझ लेता है। जीव भी स्वयं को उपाधि से विलक्षण जानकर उससे वैराग्य पाने पर ही गुरूपदेश से 'मैं ब्रह्म हूँ' यह अनुभव कर लेता है।)।।१६४।।

जैसे ही साधक भूम आत्मा का अप्रतिबद्धज्ञान पाता है वैसे ही उसकी ग्रंथियाँ (गाँठें) खुल जाती हैं। काम-क्रोधादि अध्यास ही ग्रंथियाँ हैं जिनमें जड-चेतन का आपसी अध्यास होता है, अत एव वे 'गाँठ' कहलाते हैं क्योंकि दो रस्सियों में ही गाँठ बँधती है। इन गाँठों को खोलने वाला ज्ञान अत्यंत सौभाग्य से किसी-किसी पुरुष को ही मिलता है, अतीव दुर्लभ है।।१६५।।

मननशीलों में उत्तम देवर्षि नारद का 'आहार' पूर्णतः शुद्ध था जिससे उनका चित्त निर्मल था क्यों कि उसमें काम-क्रोध का कभी उन्मेष नहीं होता था।।१६६।। हरड़ आदि के रस को मनीषी 'कषाय' कहते हैं जिसके संपर्क से कपड़ों का रंग बदल जाता है। अध्यात्म में चित्त को 'रंग' देने वाले होने से कामना आदि कषाय माने गये हैं। जैसे क्षार (साबुन) आदि से वस्त्र का कषाय साफ होता है ऐसे कामना आदि कषाय मिटाने वाले हैं ब्रह्मचर्यादि साधन। नारद जी में ये साधन भरपूर थे इसमें यही पर्याप्त प्रमाण है कि उन्हें संसारमात्र से वैराग्य दृढ हो चुका था। (प्रत्यक्प्रवणता

---

१. 'तस्मै मृदितकषायाय तमसस्पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमारः, तं स्कन्द इत्याचक्षते तं स्कन्द इत्याचक्षते।।७.२६.२।।

तादृशाय परं पारं तमसो दुःखवद् द्विषे। व्यदर्शयद् यतः शोकं न पुनर्याति मानवः।।१६९

सनत्कुमारेतिहासः

सनत्कुमारो भगवान् स्कन्दो योऽन्यत्र जन्मनि। एवं किल वदन्त्यत्र कथां ब्राह्मणसत्तमाः।।१७०
कदाचिद् मुनयः सर्वे वाराणस्यां समागताः। गङ्गातटे महाभागाः कृत्वा पौर्वाह्णिकीः क्रियाः।
आसीना ब्रह्म परमं चिन्तयन्तः स्वबुद्धिभिः।।१७१
अस्मिन्नवसरे देवो देव्या सह महेश्वरः। वीक्ष्यमाणो हृदम्भोजे आनन्दात्मा स्वयं प्रभुः।।
कृपया मांसनेत्राणां दर्शनेऽभूज्जगत्पतिः।।१७२
दृष्ट्वा तं मुनयः सर्वे समुत्तस्थुः समन्ततः। आसनेभ्योऽतिसंहृष्टा देहाः प्राणागमे यथा।।१७३
सनत्कुमारमेकं तं परिहायात्मवेदिनम्। एकमेवाऽयमात्मानं बहिरन्तश्च पश्यति।।
सर्वदैव विशेषेण[1] समाधिस्थस्तदा हि सः।।१७४

तादृशायेति। तादृशाय आहारशुद्ध्यादिगुणविशिष्टाय नारदाय तमसो मूलाज्ञानस्य परं पारं भूमलक्षणं सनत्कुमारो व्यदर्शयत्,यथा द्विषे शत्रवे दुःखं प्रदर्श्यते तद्वदिति। यः सनत्कुमारः स्कन्दाख्यस्वामिकार्तिकेयरूपेण अवतीर्णः। अत्रार्थे एवं वक्ष्यमाणविधां कथां ब्राह्मणसत्तमा इतिहासविद आहुः। इति द्वयोरर्थः।।१६९-७०।।

तां कथां निबध्नाति—कदाचिद् इत्यादिना। गङ्गातट आसीना अभूवन्।।१७१।। अस्मिन्निति। हृदम्भोजे वीक्ष्यमाणो ध्यानेन साक्षात् क्रियमाणः प्रभुः मांसमयनेत्राणां दर्शने दृष्टिगोचरेऽभूद् अतिष्ठद् इत्यर्थः।।१७२।। दृष्ट्वेति। तं दृष्ट्वा सर्व आसनेभ्यः उत्तस्थुः समाधिनिष्ठं सनत्कुमारं विना। इति द्वयोरर्थः।।१७३-४।। उत्थिता की उत्कटता ही बहिरंग साधनों से उपलभ्य शुद्धता है।)।।१६७-८।। दुःखवान् संसार से मानो द्वेष रखने वाले शुद्धमना नारद को सनत्कुमार ने मूलाविद्या का परला किनारा दिखा दिया जिसका स्वरूप भूमतत्त्व है। उसका दर्शन हो जाने पर मानव को फिर शोक नहीं होता। (जैसे शत्रु को दुःख का प्रत्यक्षानुभव सायास कराया जाता है ऐसे गुरु भी सच्छिष्य को कोशिश कर व्यापक आनंद का साक्षात्कार करा देता है।)।।१६९।।

भगवान् सनत्कुमार अन्य जन्म में स्कन्द थे। इस बारे में श्रेष्ठ ब्राह्मण यों कथा सुनाते हैं:।।१७०।।

किसी समय की बात है, सभी मुनि वाराणसी में एकत्र हुए थे। प्रातः कालीन नियम-धर्म पूरे कर वे महोदय गंगाजी के किनारे बैठकर अपनी बुद्धियों से परम ब्रह्म का चिंतन कर रहे थे। उसी अवसर पर देवी उमा सहित महादेव महेश्वर ने कृपा कर उन मुनियों को दर्शन दिया। स्वयं तो उन जगत्पति आनंदस्वरूप प्रभु को वे मुनि अपने-अपने हृदयकमलों में देख ही रहे थे पर वे अपने मांसमय नेत्रों से भी उन परमेश्वर का दर्शन कर लें इसलिये विश्वनाथ भगवती अन्नपूर्णा समेत वहाँ प्रकट हुए।।१७१-२।।

भगवान् को देखते ही सब तरफ फैल कर बैठे सभी मुनि अपने आसनों से तुरंत उठ खड़े हुए। वे अत्यन्त उत्कृष्ट हर्ष से वैसे ही प्रफुल्लित थे जैसे प्राणप्रवेश हो जाने पर शरीर! (कोई मरा पड़ा हो, फिर किसी सिद्धादि की कृपा से उसमें पुनः प्राण-संचार हो जाये तो उसका शरीर जैसे सचेतन हो जाता है वैसे ही शंभुदर्शन से मुनिसमाज में हलचल मच गयी।)।।१७३।।

किंतु उस समुदाय में एक महामुनि थे जिनमें कोई परिवर्तन नहीं आया! आत्मवेत्ता सनत्कुमार हमेशा बाहर-भीतर एक ही आत्मा का अवलोकन करते थे, नाम-रूप की ओर उनकी दृष्टि स्वभावतः नहीं जाती थी और उस समय तो खासकर वे समाधि में स्थित थे। अतः वे जस के तस रहे, देवाधिदेव सामने उपस्थित होने पर भी सनत्कुमार निर्विकार रहे।।१७४।। बाकी सब मुनि उठे, विभु को प्रणाम कर वेदपाठ से, स्वरचित स्तोत्रों से, पररचित स्तोत्रों से स्तुति करने

१. व्युत्थानदशायामपि नासौ भेददर्शी, समाहितस्तथा कथं स्याद् इति भावः।

उत्थिता मुनयः सर्वे नत्वा स्तुत्वा च तं विभुम्। वेदपाठादिभिः स्तोत्रैः स्वैः परैश्च कृतैर्मुहुः।।
भवानीसहितं देवं प्रसाद्य च व्यवस्थिताः।।१७५

व्यवस्थितेषु तेष्वेवं परमात्मा त्रिलोचनः। भवानीसहितस्तेषां वरमिष्टमदाद् विभुः।।१७६
इतस्ततो विलोक्याथ गन्तुकामः स जायया। सहितान् वीक्षयामास मुनीन् सर्वान् महेश्वरः।।१७७
सनत्कुमारमासीनं दृष्ट्वा हर्षमुपागतः। स्वयं नैव भवानी सा परं कोपमुपागता।।
एवं विचार्य मनसा स्त्रीस्वभावमुपागता।।१७८

अयं पुराणपुरुषो योगिनां हृदये स्थितः। अष्टाङ्गयोगयुक्तेन पुंसा ध्येयः सदैव हि।।१७९
अयं समस्तविद्यानां कथितः[1] परमो गुरुः। ब्रह्मा विष्णुस्तथा शक्रो लोकपालास्तथा परे।।
किङ्करा अस्य देवस्य गर्भदासा यथा भुवि।।१८०

अयं समस्ततत्त्वानां जनकः पालकस्तथा। संहर्ता पञ्चभूतानां स्थिरजङ्गमरूपिणाम्।।१८१

मुनय इति। ते मुनयो वेदपाठादिभिः तथा स्वकृतैः परकृतैश्च स्तोत्रैः भगवन्तं प्रसाद्य स्थिताः।।१७५।। व्यवस्थितेष्विति। स्फुटम्।।१७६।। इतस्तत इति। अथ जायया सह गन्तुकामो भगवान्, तान् मुनीन् सहितान् समुदितान् वीक्षयामास, स्वार्थे णिच्, अपश्यदित्यर्थः।।१७७।।

सनदिति। कीदृशो भगवान्? स्वयं पुरुषरूपेण सनत्कुमारस्थितौ हर्षितोऽपि स्वीयवामभागरूपेण विपरीत इति शेषः। यतः सा प्रसिद्धा भवानी एवं विचार्य स्त्रीस्वभावेन परं कोपम् आगता।।१७८।। 'एवं' कथम्? इत्याकांक्षायाम्, भवानीविचारमभिनयति—अयमिति षड्भिः। अयं भगवान् पुराणोऽनादिः पुरुषः।।१७९।। अयं समस्तेति। कथितः महोपनिषदादौ सर्वभेदप्रयोजिकाया मायायाः सत्ताभानादिदानेन अनेन प्रभुणा वशीकारलक्षणं क्रयं नीतत्वे सति तत्प्रयुक्ता ब्रह्मादिदेवभेदा अस्य गर्भदासतामापन्नाः। दास्यां क्रीयमाणायां तद्गर्भस्थितत्वं गर्भदासत्वम् इति व्युत्पत्तिसमन्वयाद् इति भावः।।१८०।। अयं समस्ततत्त्वानामिति। तत्त्वानां महदादीनां जननादिकर्ता, स्थावरादिरूपाणां भूतानां चाऽयं तथेत्यर्थः।।१८१।। नानेनेति। गुणैः अनेन तुल्य इतः अधिको लगे और भवानी-शंकर को प्रसन्न कर हल-चल समाप्त कर तरतीब से स्थित हो गये।।१७५।। तब शिव-शिवा ने उन्हें अभीष्ट वर प्रदान किया। भगवान् जब वहाँ से चलने को हुए तब उन्होंने इधर-उधर फैले सभी मुनियों पर कृपादृष्टि डाली, सभी की ओर देखा।।१७६-७।। सनत्कुमार को निश्चलता पूर्वक व्यापक स्वरूप में प्रतिष्ठित देखकर स्वयं महेश्वर को तो हर्ष हुआ लेकिन उन भगवती भवानी को गुस्सा आ गया! स्त्रियों में जैसा स्वाभाविक है वैसा विचार उनके मन में आया :।।१७८।।

देवी ने सोचा—'ये मेरे पति महादेव अनादि पुरुष हैं, योगियों के हृदय में स्थित रहते हैं, आठों अंगों के अनुष्ठाता पुरुष इन्हीं का सदा ध्यान करते हैं। (यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधि ये आठ अंग हैं।)।।१७९।। सारी विद्याओं का इन्हें ही आचार्य माना जाता है। जैसे पृथ्वी पर गर्भदास होते हैं ऐसे ब्रह्मा, विष्णु, इंद्र, तथा अन्य लोकपाल आदि इन्हीं महादेव के किंकर, आज्ञाकारी सेवक हैं। (गर्भिणी दासी खरीद लेने पर उसकी कोख का बच्चा खरीदने वाले का गर्भदास कहा जाता है। खरीदना अर्थात् सर्वथा अपने अधिकार में कर लेना। सारे भेदों को प्रयुक्त करने वाली माया को महादेव ने अपने वश में ही कर रखा है, वे ही उसे सत्ता आदि प्रदान करते हैं। माया के गर्भ में ही ब्रह्मा आदि विभिन्न देव हैं अतः वे महादेव के गर्भदास हुए।)।।१८०।। महत् आदि सभी तत्त्वों के उत्पादक, पालनकर्ता और विनाशक शिव ही हैं। पाँचों भूतों के तथा चराचर प्राणियों के भी जन्म-स्थिति-नाश शंकर ही करते हैं।।१८१।।

---

१. 'ईशानः सर्वविद्यानाम्', 'कलासर्गकरं', 'स पूर्वेषामपि गुरुः' इत्यादौ।

नानेन सदृशः कश्चिद् आसीदस्ति भविष्यति। कुतोऽधिको ब्रह्मचर्ययुक्तश्चाऽपि पुमानयम्।।१८२
मया सह विलोक्यैष दुरात्मैनं जगद्गुरुम्। स्त्रैणं मत्वा ब्रह्मचारी स्वयं गर्वाधिको जडः।
नोत्तस्थौ तेन दास्यामि शापमस्मै सुदारुणम्।।१८३
कष्टयोनिषु मुख्याः स्युरश्वानां रक्षणे रताः। तत्कुले तव जन्म स्याद् भर्तुर्यो मेऽवमानकृत्।।१८४
इति सञ्चिन्त्य सा शापं ददौ भर्त्रा निवारिता। सोऽभवत्तादृशस्तत्र परं सुखमुपागतः।।१८५
स ब्रह्मकर्माऽभावेन चणकान् भक्षयन् सदा। स्थूलदेहोश्वशालाया द्वारि तिष्ठत्यहर्निशम्।।१८६
तादृशं तं पुनर्देवी देवेन सहितैक्षत। वरं वरयस्वेत्युक्ते मलमूत्रविसर्जनम्।
उपविष्टस्य दूरे स्याद् इति मेऽस्तु वरः परः।।१८७

वा कोऽपि न अस्ति। ब्रह्मचर्यं त्वस्यैव मदनदमनादेर्मुख्यमित्यर्थः।।१८२।।

मयेति। एवं सत्यपि यत एष सनत्कुमारो ब्रह्मचारी प्रभुं मत्सान्निध्यमात्रेण स्त्रैणं मत्वा नोत्तस्थौ ततः शापार्ह इत्यर्थः।।१८३।। तत्र शापं चिन्तयति—कष्टेति। कष्टा दुःखप्रचुरा योनिर्वासस्थानं येषां ते तथा तेषां मध्ये मुख्याः प्रथमगण्या अश्वसेवनजीविनः प्रसिद्धाः, तेषां वाजिशालायां पूतिगन्धायां वासस्य सेवामहत्त्वेऽपि जीवनाल्पतायाश्च प्रसिद्धत्वात्। योनिपदस्य स्थानवचनता तु 'योनिष्टे इन्द्र निषद' इत्यादौ प्रसिद्धा। स्फुटमन्यत्।।१८४।।

इति संचिन्त्येति। निवारिता अपीति शेषः।। ततः स महामुनिः तादृशः अश्वसेवकरूपः तत्र अश्वशालायां परं सुखं प्राप्तोऽभवद् इति।।१८५।। तत्र हेतुमाह— स ब्रह्मेति। यतो ब्राह्मणजातिकर्मानुष्ठानक्लेशाभावेन अश्वान्नानां चणकानां भक्षणेन च स्थूलदेहः सन्नलसत्वात् कर्मान्तरेऽनियुक्तो द्वारमात्ररक्षां कुर्वंस्तिष्ठति इत्यर्थः।।१८६।। तादृशमिति। तादृशं तत्रापि तुष्टं तं मुनिं दृष्ट्वा प्रीतया देव्या 'वरय' इत्युक्ते सति, 'यथा मैत्रकर्मार्थं क्लेशो न भवेत् तथा विधेहि' इति वव्रे—इत्यर्थः।।१८७।।

गुणों में इन जैसा ही कोई संभव नहीं तो इनसे अधिक कोई न था, न है, न होगा इसमें क्या कहना! ये ही वे पुरुष हैं जिनमें ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठित है, इसमें ज्वलंत प्रमाण कामदेव का दहन है।।१८२।।

यह दुरात्मा ब्रह्मचारी सनत्कुमार गर्ववश स्वयं को बहुत बड़ा समझता है जबकि है मूर्ख! जगद्गुरु शंकर को मेरे साथ देखकर इसने उन्हें स्त्रैण (स्त्री के वश में) मान लिया, अत एव खड़े होकर प्रणाम तक नहीं किया। इस अपराध के फलस्वरूप इसे कष्टप्रद शाप दूँगी।।१८३।। सर्वाधिक कष्टप्रद निवासस्थान उनका होता है जो घोड़ों के रक्षक होते हैं। (घुड़साल की दुर्गंध निरंतर दुःख देती है और जीवन भी घटा देती है ऐसा प्रसिद्ध है।) मेरे पति का अपमान करने वाले, तुझ सनत्कुमार का जन्म अश्वपालकों के कुल में होवे।'।१८४।।

यों विचार कर देवी ने मुनींद्र को शाप दे दिया हालाँकि जगद्भर्ता शंभु उन्हें मना करते रहे! सनत्कुमार भी भगवती के शापानुसार जन्म पाकर घुड़साल में तैनात हो गये किंतु वहाँ भी थे परम आनंद में!।।१८५।। पहले तो ब्राह्मण-शरीर था इसलिये तदुचित बहुत कर्म करना स्वभावप्राप्त था, अब जन्मांतर में उस सारे कर्मकाण्ड से छुटकारा मिल गया। वे हमेशा चने फाँकते रहते थे तो बहुत मोटे हो गये जिससे उन्हें और किसी काम पर न लगा कर दरवाजे पर पहरेदारी के लिये नियुक्त कर दिया गया था। वे दिन-रात वहीं आनंद से बैठे रहते थे।।१८६।। किसी समय शिव-पार्वती उधर से गुज़रे तो देवी की उन पर दृष्टि पड़ी। उन्हें उस दशा में भी संतुष्ट देखकर भगवती प्रसन्न हो गयीं और बोली 'कोई वर माँग लो।' सनत्कुमार ने कहा 'मेरे लिये यही श्रेष्ठ वर होगा कि मैं बैठे-बैठे ही मल-मूत्र का त्याग करूँ तो वह दूर जाकर गिरे, मेरे देह को गंदा न करे!'।।१८७।।

उष्ट्रो भवेति कोपेन सा शशाप पुनश्च तम्। अभवत् सोऽपि तद्देहो गृहे राज्ञोऽपि रक्षकैः।।१८८

शिक्षितो बहुशः पश्चात् त्यक्तोऽरण्ये ह्यवज्ञया। अलसोऽयमिति ज्ञात्वा सोऽपि तत्राऽभवत् सुखी।।१८९

करीरादि वने भूरि कण्टकादीन्यभक्षयत्। पिबन् गङ्गाजलं भूरि मलमूत्रविसर्जनम्।
आसीन एव कुर्वन् स परं सुखमुपागतः।।१९०

ब्रह्मणो मानसाद् देह उष्ट्रस्यैवाऽभवद् द्रुतम्। सुखमुष्ट्रवपुष्यस्मादभूत्तस्याधिकं मुनेः।।१९१

पूर्ववत्तादृशं देवी देवेन सहितैक्षत। वरं वरयस्वेत्याह पुनरेव तपोधनम्।।१९२

कृतकृत्यः स तां प्राह वरो नान्योऽधिको मम। भवत्या देवि यद् दत्तमौष्ट्रं जन्मातिशोभनम्।।१९३

वेदतो लोकतो वाऽपि भीतिर्लज्जा न चाऽत्र हि। मलमूत्रे च दूराद् मे पततोऽप्युपवेशने।।१९४

शरीरं यदि कस्यापि भवेद् उष्ट्रस्य तद् भवेत्! यतः सुखं शरीरस्य जन्मन्यस्य प्रदृश्यते।।१९५

अनुभूता मया देहाः सर्वजीवसमुद्भवाः। उच्चावचा नोष्ट्रदेहसदृशः कोऽपि विद्यते।।१९६

ततः पुनः कोपेन देव्या तस्य उष्ट्रभावे दत्ते तत्राऽपि मुनेः सन्तोषं वर्णयति— उष्ट्र इति त्रिभिः। 'अलसोऽयम्' इति ज्ञात्वाऽरण्ये रक्षकैस्त्यक्तः इति सम्बन्धः। निगदव्याख्यातमन्यत् त्रिषु।।१८८-९०।। पशुदेहान् सृजता हिरण्यगर्भेण सुकरत्वात् प्रथमम् उष्ट्रदेह एव निर्मित इति ज्येष्ठतागुणम् अनुसन्धाय अपि स मुनिः तद्देहे तोषं गत इत्याह—ब्रह्मण इति। द्रुतं शीघ्रम्। अभवद् उत्पन्नः। अस्माद् एतदालोच्य।।१९१।।

तत्राऽपि तुष्टं तं प्रति देवी वराय आदिदेशेत्याह—पूर्ववदिति।।१९२।। स च मुनिस्तमेव देहं तुष्टावेत्याह—कृतकृत्य इति।।१९३।। सर्वत्र 'गुणं गृह्णाति पण्डित' इति न्यायेन तद्देहगुणान् आह—वेदत इति। स्पष्टम्।।१९४।। यतोऽस्य देहस्य जन्मनि सुखं दृश्यते ततः सर्वस्य देहप्रसङ्गे उष्ट्रदेह एव भवेद् इति कामय इत्याह—शरीरमिति।।१९५।। तत्र स्वानुभवमनुकूलयति—अनुभूता इति।।१९६।। तं निरपेक्षं दृष्ट्वा भर्त्रा सह

यह प्रार्थना सुनकर जगन्माता को पुनः क्रोध आ गया और उन्होंने शाप दिया 'तू ऊँट बन जा।' सनत्कुमार ऊँट बन गये। राजगृह के रक्षकों ने उन्हें शिक्षित करने की बहुत कोशिश की पर सनत्कुमार तो त्यक्तकर्मा थे, नये सिरे से कर्म में क्योंकर नियुक्त होते! 'यह आलसी जानवर है' ऐसा समझकर राजपुरुषों ने उन्हें तिरस्कारपूर्वक जंगल में छोड़ दिया जिससे मुनि परम प्रसंन हो वन में विचरने लगे।।१८८-९।। जंगल में करीर आदि बहुतेरे कँटीले वृक्ष मिलते हैं जिन्हें उष्ट्रदेह में वे खाते थे और पवित्र गंगाजल पीते थे। बैठे-बैठे ही वे मल-मूत्र का विसर्जन करते जो उनके शरीर से दूर ही गिरता (क्योंकि ऊँट के मलद्वार इसी तरह के होते हैं)। यों वे परम आनंद में रहते थे।।१९०।। ब्रह्मा जी अपने मानस से जब पशुशरीर पैदा करने लगे तब पहले-पहल ऊँट का शरीर ही शीघ्र तैयार हुआ। इस ज्येष्ठतारूप गुण के अनुसंधान से भी मुनि सनत्कुमार को उस उष्ट्रशरीर में अधिक सुख हो रहा था।।१९१।।

पुनः शिव-शिवा की ऊँट हुए सनत्कुमार से भेंट हुई। देवी उनके संतोष से प्रसन्न हो गयीं, कहा 'वर माँगो।' वे तपोधन तो कृतकृत्य थे ही, बोले 'हे देवी! आपने जो अतिशोभन ऊँट का जन्म मुझे प्रदान किया इससे ज़्यादा मुझे कुछ माँगना नहीं है! इस योनि में मुझे वेद या लोक किसी से न भय है न लज्जा। मैं बैठे-बैठे हगता-मूतता हूँ तो मल भी दूर जा पड़ते हैं, मुझे धोने आदि का भी कोई कष्ट नहीं।।१९२-४।। मेरी तो यही कामना है कि यदि किसी भी जन्तु को शरीर मिलना ज़रूरी हो तो उसे ऊँट का ही शरीर मिले क्योंकि इस शरीर के जन्म में सुख ही सुख अनुभव में आता है।।१९५।। सब जीवों को मिलने वाले ऊँचे-नीचे शरीरों का मैंने अनुभव किया है अतः साधिकार कह सकता हूँ कि ऊँट के शरीर जैसा कोई शरीर नहीं।।'१९६।।

एवमुक्ता विचार्यैव महेशेन समं स्वयम्। वव्रे वरं तमेषोऽपि दत्तवान् मनसेप्सितम्।।१९७
सनत्कुमारो भगवान् स्कन्दनामाऽभवत् सुतः। शिवयोर्वरदानेन तत्राऽपि ब्रह्मचर्यवान्[1]।।१९८
इति ते कथितं सर्वं नारदायसमीरितम्। पुरा सनत्कुमारेण भूमरूपं सुखं परम्।।१९९

उत्तराकांक्षाबीजम्

अवस्थात्रयनिर्मुक्तं ब्रह्मा शक्राय चाऽब्रवीत्। विरोचनाय च तथा शक्र एव तदाऽविदत्।।
शुद्धाहारः शुद्धसत्त्वः स्मृतिमान् ग्रन्थिमोचकः।।२००
इति ते कथितं सर्वं यत् पृष्टं भवता त्विह। आत्मनः सुखरूपत्वं किमन्यच्छ्रोतुमिच्छसि।।२०१

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यानन्दात्मपूज्यपादशिष्येण शङ्करानन्दभगवता विरचित उपनिषद्रत्न आत्मपुराणे छान्दोग्यसारार्थप्रकाशे सनत्कुमारनारदसंवादो नाम त्रयोदशोध्यायः समाप्तः।।१३।।

विचार्य भवानी इत्थं प्राह—'वरं न गृह्णासि चेत् परिपूर्णत्वात्, तर्हि अस्मदीप्सितं देहि' इति। तेन मुनिना 'तथा' इत्युक्ते, तस्य स्वपुत्रभावं वव्रे। ततः स्कन्दनामा देव्याः पुत्रोऽभवत्—स्कन्दति कामं शोषयति वशी करोति इति यावद् इति व्युत्पत्तेः समन्वयात् । तथा च स्मृतौ 'स्कन्दिर्गतिशोषणयोः' इति। एतद् वृत्तं दर्शयति—एवमुक्तेति। द्वाभ्याम्।।१९७-८।।

इति त इति। स्पष्टम्।।१९९।।

उत्तराकांक्षामुत्थापयति—अवस्थेति। यथाऽऽत्मनः सद्रूपम् आरुणिना उक्तं, सनत्कुमारेण च आनन्दत्वं, तथाऽस्याऽवस्थात्रयेण सुप्त्यन्तेन हीनत्वं ब्रह्मा इन्द्राय विरोचनाय च उक्तवान् परन्तु तदा इन्द्र एवाऽविदत् तत्त्वबोधं प्राप्तो यत आहारशुद्ध्यादिमान् ग्रन्थीनां मोचकः विमोक्षे यत्नवांश्च इत्यर्थः।।२००।। उपसंहरति—इति त इति।।२०१।।

भूम्नो भूमिविहीनस्याऽप्यधिष्ठानस्य विश्वतः।
गोचरेभ्यः परं रूपमध्यक्षस्याऽस्तु गोचरः।।

स्वयं भूम्या आधारेण रहितस्य अपि विश्वं प्रति अधिष्ठानभूतस्य भूम्नो रूपम् इन्द्रियविषयानतिक्रान्तं साक्षादस्तु इत्यर्थः।।

इति श्रीदत्तकुलतिलककृष्णचन्द्रात्मज-दिलारामसूरितनुज-रामकृष्णस्य श्रीविश्वेश्वराश्रमपूज्यपादानुगृहीतस्य कृतौ आत्मपुराणटीकायां सत्प्रसवाख्यायां त्रयोदशोऽध्यायः समाप्तः।।१३।।

यह निवेदन सुना तो उनकी निरीहता से महादेवी अतीव प्रसन्न हो गयीं। उन्होंने महेश्वर से सलाह कर खुद सनत्कुमार से कहा, 'तुम मुझसे वर नहीं लेते तो मुझे वर दो।' मुनि ने तुरन्त कहा 'आपकी जो इच्छा हो वह मैं देता हूँ।'।।१९७।। पार्वती ने यही माँगा, 'तुम हमारे पुत्र बनो।' तब भगवान् सनत्कुमार ही स्कन्द नाम वाले शिवपुत्र बने। उस रूप में भी वे ब्रह्मचर्य आदि में संलग्न रहे।।१९८।।

(पुराण सुनाने वाले गुरु कहते हैं—) हे शिष्य! तुझे मैंने वह सब सुना दिया जो प्राचीन काल में नारद को सनत्कुमार ने समझाया था। यह व्यापक तत्त्व ही परम सुख है।।१९९।।

आरुणि ने आत्मा की सद्रूपता प्रकाशित की, सनत्कुमार ने आनंदरूपता समझाई, ब्रह्मा जी ने इंद्र-विरोचन को बताया कि जाग्रदादि तीनों अवस्थाओं से आत्मा अतीत है। किंतु ब्रह्मा जी का उपदेश सही ढंग से इंद्र ही ग्रहण कर पाया क्योंकि उसी का आहार शुद्ध था, चित्त निर्मल था, वही मेधावी और अध्यास मिटाने में तत्पर था।।२००।।

आत्मा की सुखरूपता के बारे में जो तुमने पूछा वह सब मैंने बता दिया। अब और क्या सुनना चाहते हो?।।२०१।।

।। तेरहवाँ अध्याय समाप्त।।

---

१. वल्ली-देवसेनयोः पतिर्यद्यपि बभूव तथापि ब्रह्मचार्यासीदत एव नास्य सन्ततिः!

ॐ

छान्दोग्यसारार्थप्रकाशे

प्रजापतीन्द्रविरोचनाऽऽख्यायिका

चतुर्दशोऽध्यायः

भूमरूपमिदं शिष्यः श्रुत्वाऽवस्थात्रयाऽतिगम्। श्रोतुकामः पुनर्वाक्यं गुरुमाहेदमात्मवान्।।१

शिष्यजिज्ञासा

भगवन् ! भवताऽऽख्यातं ज्ञानं नानाविधं पुरा। ऐतरेयो हि यद्वेद यच्च कौषीतकिर्मुनिः।।२

विद्युन्मेघोपमानस्य सम्प्रसादपराकृतेः।

चतुर्दशाशापूरस्य गीयते स्वं चतुर्दशे।।

अस्यार्थः—तडिदन्वितमेघवत् कान्तिशालिनः सम्यग् यः प्रसादोऽनुग्रहः तत्पराऽऽकृतिस्तनुर्यस्य स तथा तस्य; अथ वा सम्यक् प्रसन्ति विवर्धन्ते स्वधर्मेण ये ऋषयः ते सम्प्रसाः—'प्रस विस्तारे' इत्यस्मात् पचाद्यचि साधु—तान् अदन्ति इति सम्प्रसाऽदा राक्षसाः तेषां पराकृतेः विध्वंसरूपस्य; चतुर्दर्शसंख्यलोकानाम्; अथ वा चतस्रो वैखानसादिसंज्ञाः दशा अवस्था येषां ते चतुर्दशाः दण्डकवासिमुनयः तेषाम्; आशा मनोरथाः, तत्पूरकस्य च श्रीरामस्य स्वं धनं यशोरूपं चतुर्दशे चतस्रो दिश एव दशाः प्रान्तभूता यस्य जगत्पटस्य तस्मिन् शौक्ल्यरूपेण सततं गीयते महाभागैः, 'य इमे वीणायां गायन्ति एतमेव ते गायन्ति' (छां. १.७.६) इति श्रुतेरित्यर्थः।। श्रीशम्भुविग्रहपक्षे—विगता द्युत् दीप्तिः प्राबल्यरूपा यस्य स विद्युत् शारदो घनः तद्वदवदातस्य; अनुग्रहपरस्य; चतुदर्शमहारत्नकामनापूरकस्य; च स्वं धर्मरक्षाप्रयुक्तयशोरूपं धनं चतुर्दशे लोके सत्याख्ये गीयते, प्रजापतेः सुतायां धर्ममतिक्रामतः शासनात्।। प्रमेयपक्षे तु—विद्युत्प्रभृतयो यथा तिरोहिता अभिव्यञ्जकवर्षाकालागमे प्रादुर्भवन्ति तथाऽऽत्मा देहादितादात्म्येन तिरोहितोऽपि महावाक्यसान्निध्येन प्रकाशत इत्येवं विद्युद्घनौ तदुपलक्षितं वातादिकं चोपमानं यस्य स तथा; सम्प्रसादः सुषुप्तिः ततः परा आकृतिः शुद्धं रूपं यस्य; दश आशा दिशः तासां पूरकस्य च विभुत्वात्; एवंविधस्य पुरुषोत्तमस्य; स्वं स्वरूपं चतुः चतुर्वारं गीयते प्रजापतिना; चतुर्दशे चतसृणां दशानाम् अवस्थानां जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुरीयाख्यानां समाहारे; चतुर्दशसंख्यापूरकेऽत्राऽध्याये वा। इत्यर्थः।।

छान्दोग्याऽष्टमाध्यायगतेन्द्रप्रजापतिसंवादं शुश्रूषतो मेधाविनः प्रश्नं दर्शयति—भूमरूपमिति सप्तदशश्लोकैः। स्पष्टम्।।१।। भगवन्निति। हे भगवन् ! ऐतरेयादिभिः जाबालाद्यन्तैः शाखाप्रवर्तकैः मुनिभिः दृष्टासु शाखासु वर्णितं ज्ञानम् एकादशाध्यायान्तग्रन्थेनोक्तम्। तत्रादित्यस्यापि वाजसनेयपञ्चदशशाखानामृषित्वं बृहदारण्य-

ॐ

इन्द्र-विरोचन को प्रजापति का उपदेश—नामक
चौदहवाँ अध्याय

अवस्थातीत इस सर्वव्यापक स्वरूप का यथाशास्त्र निर्धारण कर मनस्वी शिष्य समझना चाहता था कि यह तत्त्व जाग्रदादि तीन सर्वप्रसिद्ध अवस्थाओं से परे कैसे है अतः उसने फिर से श्रीगुरु के प्रति यह वाक्य कहा ::।१।।

आदित्यो भगवान् यत्तु स श्वेताश्वतरोऽपि यत्। कठश्च तित्तिरिस्तद्वज्जाबालाद्या मुनीश्वराः।।
आरुणिर्भगवान् यच्च कुमारेणाप्युदीरितम्।।३

यत्र शिष्याः प्रजास्तद्वद् दैवोदासिश्च वीर्यवान्। बालाकिरश्विनौ तद्वद् जनको मिथिलेश्वरः।।४

मैत्रेयी चाऽपि यतयो भृगुश्च वरुणात्मजः। श्वेतकेतुश्च भगवान् नारदः सर्वविन्मुनिः।।५

गुरवो मन्त्रवेत्तारः शक्रो लोकत्रयीपतिः। अजातशत्रुर्भूपालो दध्यङ्ङाथर्वणोऽपि च।।६

याज्ञवल्क्यश्च भगवान् स श्वेताश्वतरोऽपि च। वरुणोऽप्यारुणिस्तद्वत् कुमारः सनदीरितः।।७

अन्येऽपि गुरवस्तद्वत् शिष्या अपि च केचन। त्रिपर्वा त्रिर्महान् वंशः ऋषेः सर्वज्ञताऽपि च।।
शक्राच्च मरणं तद्वद् दध्यङ्ङाथर्वणस्य च।।८

जल्पाऽभिधा कथाऽप्यत्र याज्ञवल्क्यस्य धीमतः। ब्राह्मणैश्च तथा शापः शाकल्यस्य प्रमादिनः।।९

काष्टमाध्याये वंशब्राह्मणे प्रोक्तम्, तथा द्वादशत्रयोदशयोः आरुणि-सनत्कुमाराभ्याम् उदीरितं तद् उक्तम्। इति द्वयोरर्थः।।२-३।।

तत्र ज्ञाने शिष्यत्वेन कीर्तितान् अनुवदति—यत्रेति। यत्र ज्ञाने प्रथमाध्यायमारभ्य पञ्चमनवमैकादशाध्यायान् उपेक्ष्य प्रजादयो नारदान्ताः क्रमेण शिष्या उक्ताः। इति द्वयोरर्थः।।४-५।। अथोक्तशिष्याणां क्रमेण गुरून् दर्शयति—गुरव इति। मन्त्रद्रष्टार ऋषयः प्रथमेऽध्याये गुरुत्वेन उक्ताः। शक्रो द्वितीये। एवमग्रेऽपि। याज्ञवल्क्यः षष्ठ-सप्तमयोरिति विशेषः। सनदीरितः 'सनत्'-शब्दपूर्वकमुक्त इति कुमारविशेषणम्।।६-७।।एकादशोक्तगुरुशिष्यान् अभिप्रेत्य आह—अन्येऽपीति। चतुर्थविशेषवृत्तं कीर्तयति—त्रिपर्वेति। त्रिविधपर्वशाली वंशः त्रिः त्रिवारम् उक्तः। तथा दध्यङ्ङाथर्वण इत्याख्यस्य ऋषेः सर्वज्ञतादिकम् उक्तमित्यर्थः।।८।। पञ्चमवृत्तमाह—जल्पाभिधेति। जल्पो विजिगीषुकथारूपः स ब्राह्मणैः सह याज्ञवल्क्यस्य उक्तः। शाकल्यं प्रति तच्छापश्चेति।।९।। तथाऽष्टमे जगत्कारण-निर्णयः नवमे त्रिविधो वरो नचिकेतसा यमाद् गृहीतो यद्बलाज्ज्ञानवैराग्ये श्रुते इत्याह—कारणानामिति।

हे भगवन्! विगत ग्रंथद्वारा आपने नाना प्रकार का ज्ञान मुझे सुनाया। ऐतरेय मुनि, कौषीतकि मुनि, भगवान् सूर्य, श्वेताश्वतर, कठ, तित्तिरि, जाबाल आदि उत्तम मुनि, श्रीमान् आरुणि और सनत्कुमार ने जो कुछ उपदेश दिया वह आपने मुझे सुनाया।।२-३।।

इन प्रसंगों में शिष्य रूप से कहे सौभाग्यशाली लोग थे—प्रजाएँ, वीर्यवान् दिवोदासपुत्र प्रतर्दन, बालाकि गार्ग्य, अश्विनी कुमार, मिथिलानरेश जनक, मैत्रेयी, अनेक संन्यासी, वरुणसुत भृगु, श्वेतकेतु और भगवान् सर्वज्ञ नारद मुनि।।४-५।। इन्हें उपदेश प्रदान करने वाले ब्रह्मनिष्ठ आचार्य थे—मन्त्रद्रष्टा ऋषिगण, लोकत्रयी का राजा इन्द्र, पृथ्वीपति अजातशत्रु, दधीचि, भगवान् याज्ञवल्क्य, श्वेताश्वतर, वरुण; आरुणि, सनत्कुमार इत्यादि। उपनिषत् में तीन बार आये, तीन तरह के 'पर्व' वाले महान् गुरुवंश का भी आपने अद्भुत समन्वय व्यक्त किया और दधीचि ऋषि की सर्वज्ञता स्पष्ट की।।६-८।। बुद्धिमान् याज्ञवल्क्य की ब्राह्मणों से हुई 'जल्प' नामक वार्ता का और प्रमादी शाकल्य को मिलने वाले शाप का आपने जीता-जागता वर्णन किया। ('मेरा पक्ष जीते, प्रतिपक्ष हारे' इस प्रयोजन से युक्ति-प्रमाण के अनुसार आपसी कथोपकथन जल्प है।)।।९।। जगत्कारणरूप से प्रसिद्ध तत्त्वों के विवेचन से कारण का निर्णय आपने व्यक्त किया। नचिकेता को मिला तीन प्रकार का वर आपने सुनाया जिस प्रसंग में ज्ञान-वैराग्य के बारे में सुनने को मिला।।१०।।

कारणानां च विज्ञानं वरोऽपि नचिकेतसः। त्रिविधोऽयं मतो यत्र ज्ञानं वैराग्यसंयुतम्।।१०
स्वरूपेण च ताटस्थ्याद् ब्रह्मणो लक्षणं द्वयम्। पञ्चकोशविनिर्मोकात् पृथक् तस्य प्रदर्शनम्।।११
विदुषोऽपि च वेनस्य स्वात्मानुभवकीर्तनम्। सत्यादिसाधनेभ्यश्च संन्यासाऽधिकतेरिता।।१२
संवर्ताद्यैरनुष्ठानं तस्य पूर्वैर्महात्मभिः। वैराग्यं तस्य हेतुश्च योगादिस्तस्य चात्र हि।।१३
अधिकारी विरक्तश्च बाह्य आभ्यन्तरस्तथा। वेष आचारनामा स्याद् आचारो बहुधाऽत्र यः।।
अहं ब्रह्मेति विज्ञानकारणं मुख्यमेव च।।१४
तत्प्रसङ्गेन विज्ञानं बहुश्रुत्युदितं पुनः। कीर्तितं चाऽत्र यस्याऽभूत् प्रसङ्गात् सामगा कथा।।१५
अवस्थात्रयनिर्मुक्तं भूमानं ब्रह्मणो मुखात्। इन्द्रो विज्ञातवान् नैव ज्ञातवांस्तु विरोचनः।।१६
तदहं श्रोतुमिच्छामि चित्रमेतद्भवन्मुखात्। गुरो ! कथय मह्यं त्वं सर्वमेतद् यथाऽभवत्।।१७

अथ गुरूपदेशः

एवमुक्तो गुरुः प्राह कथामष्टमकीर्तिताम्। छान्दोग्ये सप्तमे षष्ठे प्रोक्तं प्रोच्य महामतिः।।१८

स्पष्टम्।।१०।। दशमवृत्तमनुवदति—स्वरूपेणेति। सत्यज्ञानादिकं स्वरूपलक्षणम्, आकाशादिकारणत्वं तटस्थलक्षणं च दर्शयित्वा, कोशविवेकेन ब्रह्मणो गुहाप्रवेशनं दशमपूर्वार्द्धे कृतम्। उत्तरार्द्धे तु वेनाख्यगन्धर्वस्य अनुभवः, संन्यासस्य अधिकता चेरितेति द्वयोरर्थः।।११-१२।।एकादशादिषु वृत्तमाह—संवर्ताद्यैरिति त्रिभिः।संवर्तादिमहात्मकर्तृकं तस्य संन्यासस्य हेतुभूतं वैराग्यम् उक्तम्। तस्य वैराग्यस्य हेतुत्वेन च योग आदिपदग्राह्यं मरणनिमित्तादिकं च उक्तम्। तस्य योगस्य संन्यासस्य च अधिकारी विरक्तो दर्शितः। तस्य बाह्यान्तरभेदेन द्विविधो वेषः चोक्तः। तत्र बाह्यो यो वेषः स आचारनाम्ना लोकसंग्रहार्थतया प्रसिद्धः। यः तु अत्र आभ्यन्तरे वर्तमानः शमादिरूप आचारः बहुधा उक्तः स ब्रह्मात्मविज्ञानस्य मुख्यं कारणम्। इति द्वयोरर्थः।।१३-४।। तत्प्रसङ्गेनेति। तस्य आभ्यन्तराचारस्य प्रसङ्गेन बहुभिः श्रुतिभिः ब्रह्मोपनिषदादिभिः उदितं विज्ञानं कीर्तितं यस्य प्रसङ्गात् सामगा छान्दोग्यषष्ठादिकथाऽभूत्, अनन्तराध्यायद्वयेन वर्णितेत्यर्थः।।१५।। पूर्वाध्यायान्तोपन्यस्तं प्रश्नबीजमनूद्य पृच्छति—अवस्थात्रयेति द्वाभ्याम्। निगदव्याख्यातं द्वयम्।।१६-७।।

एवं पृष्टो गुरुश्छान्दोग्यस्य षष्ठसप्तमोक्तं प्रोक्तम् इत्यनुसन्धाय अष्टमाध्याये दहरविद्याप्रदर्शनानन्तरम् उक्तां कथां प्राहेत्याह—एवमिति। स्पष्टम्।।१८।।

ब्रह्म के दोनों लक्षण आपने बताये—स्वरूपलक्षण और तटस्थ लक्षण। पाँचों कोश हटकर स्वयं आत्मा जैसा है वैसा उसका दर्शन भी आपने कराया। विद्वान् वेन ने अपने आत्मा का अनुभव जैसा सुनाया वह भी आपकी कृपा से हमें श्रवण हुआ और सत्यादि विद्योपायों में संन्यास ही सर्वश्रेष्ठ है यह समझ आया।।११-१२।।

आपने यह भी बताया कि प्राचीन संवर्त आदि महापुरुषों ने संन्यास धर्म का श्रद्धा से अनुष्ठान किया था और संन्यास में हेतु होता है वैराग्य जिसमें कारण पड़ते हैं योग आदि। उक्त योग और संन्यास में वैराग्यवान् ही अधिकारी बताया। संन्यासी का बाहरी-भीतरी वेष आपसे सुनने को मिला। बाहरी वेष आचार कहलाता है जिसके सभी भेद आपने समझाये और यह रहस्य बताया कि 'मैं ब्रह्म हूँ' इस अनुभव में प्रमुख कारण शम-दम आदि रूप आभ्यन्तर आचार है।।१३-४।। उसी प्रसंग में अनेक श्रुतियों द्वारा प्रकट आत्मविज्ञान का आपने विषयानुसारी संग्रह किया जिससे बात निकली तो सामवेदोक्त कथाओं का श्रवण हुआ।।१५।। ब्रह्मा जी के श्रीमुख से सुनकर भी अवस्थात्रयरहित भूमा को विरोचन नहीं समझ पाया, अकेले इंद्र ने ही समझा—यह आपने सूचित किया। यह विचित्र उपाख्यान मैं आपसे सुनना चाहता हूँ। हे गुरो ! वह जो घटना हुई, मुझे सारी सुनाइये।'।१६-७।।

ब्रह्मलोकः

ब्रह्मलोकेऽतिमहति सर्वदुःखौघहारिणि। गम्ये संन्यासिभिर्नित्यं मार्गतोऽप्यर्चिरादिना।।
प्रजापतीनां ये लोकास्तेभ्योऽप्युपरिसंस्थिते।।१६
ऐरंमदीयं यत्राऽस्ति सरः फुल्लसरोरुहम्। तापत्रयहरं नृणां पुण्यपापक्षये सति।।२०
अश्वत्थः सोमसवनो यत्र कल्पद्रुमो महान्। मातेव सर्वभूतानां प्रयच्छति मनोगतम्।।२१
वर्तेते यत्र सततं तडागौ सागरोपमौ। पयोदधिघृतैः पूर्णावरण्याख्यौ समीपगौ।।२२
अमानवेन यत्राऽयं विद्युल्लोकात् परं पुमान्। नीयते पुण्यपापाभ्यां रहितो राजबालवत्।।२३
यत्र पञ्चशतं ब्रह्मप्रेरिताः सूर्यसन्निभाः। अम्बाश्चाम्बायवीयाश्च नाना ह्यप्सरसः शुभाः।।२४
आयान्ति सम्मुखं पुंसो ब्रह्मालङ्कारकारिकाः। तूर्यवादित्रनिर्घोषैः सोत्कण्ठास्तं दिदृक्षवः।।२५

अथ वक्ष्यमाणकथोपयुक्तं ब्रह्मलोकस्वरूपं नानाशाखोक्तं वर्णयंस्तत्र 'वेदान्तविज्ञाने' त्यादि मुण्डकवाक्य-प्रदर्शितं (मुं. ३.२.६) विशेषमाह—ब्रह्मलोक इति। अतिविशाले सर्वदुःखविरोधिनि अर्चिरादिमार्गेण संन्यासिभिः वेदान्तविज्ञानादिविशिष्टैः गम्ये प्रजापतीनां भृग्वादीनां ये लोका महरादयः तेभ्य उपरि स्थिते च ब्रह्मलोके; तत्र हिरण्मयाख्यः प्रासादोऽस्तीति चतुर्दशेन (श्लो. ३२) सम्बन्धः।।१६।।

ब्रह्मचर्यप्रसङ्गेन सन्निहितवाक्येनोक्तान् विशेषान् दर्शयति—ऐरंमदीयम् इति। यत्र ब्रह्मलोके इरा अन्नं तद्रसमयत्वाद्, मदहेतुत्वाच्च ऐरंमदीयसंज्ञं सरः अस्ति। कीदृशम् ? उपासनाबलात् क्षुद्रफलकपुण्यानां पापानां च क्षये सति लभ्यम् इत्यर्थः।।२०।। अश्वत्थ इति। अश्वत्थाकारः सोमस्य अमृतस्य स्रावकत्वात् सोमसवनाख्यः कल्पद्रुमः अपि यत्र अस्ति।।२१।। वर्तेते इति। एकः अरसंज्ञो, द्वितीयो ण्यसंज्ञ एतावर्णवतुल्यौ तडागौ यत्समीपे वर्तेते इत्यर्थः।।२२।।

अर्चिरादिमार्गप्रकाशकवाक्येनोक्तं विशेषमाह—अमानवेनेति। चन्द्रलोकाद् विद्युल्लोकं प्राप्त उपासकस्तत्रागतेन अमानवेन मनुसृष्टावनुत्पन्नेन पुरुषविशेषेण राजपुत्रवद् आदरेण यत्र ब्रह्मलोके नीयत इत्यर्थः।।२३।।

अथ कौषीतक्युक्तान् विशेषान् षष्ठाध्याये चतुर्दशाधिकैकादशशतश्लोकोत्तरग्रन्थेन व्याख्यातानपि ब्रह्मणः प्रभावातिशयप्रदर्शनाय स्मारयति—यत्र पञ्चेत्यादिना। यत्र ब्रह्मलोके गतमुपासकं प्रति अम्बासंज्ञा अम्बायवीया संज्ञाश्च अप्सरसः ब्रह्मणो योग्यस्य अलङ्कारस्य देहशोभाया निर्मात्र्यः पञ्चशतसंख्याः प्रभोराज्ञया सोत्कण्ठाः समायान्ति। इति द्वयोरर्थः।। नामव्युत्पत्तिः षष्ठाद् अवगन्तव्या।।२४-५।। तासामुपायनभेदेन

छान्दोग्योपनिषत् के छठे-सातवें अध्यायों का विषय कह ही चुके थे, अब शिष्य के पूछने पर उन्होंने उस उपनिषत् के आठवे अध्याय की कथा सुनाना आरंभ किया ः।।१८।।

प्रिय शिष्य ! यह ब्रह्मलोक की घटना है। ब्रह्मलोक अत्यन्त महान् है, सब दुःखसमूहों का अपहरण करने वाला है। संन्यासी अर्चिरादि मार्ग से हमेशा उस तक पहुँचते हैं। भृगु आदि प्रजापतियों के लोकों से वह ऊँपर संस्थित है।।१६।।

वहाँ ऐरंमदीय सरोवर है जिसमें कमल फूले रहते हैं। त्रितापहारी उस लोक तक वे नर ही पहुँचते हैं जिनके तुच्छ फल देने वाले पुण्य-पाप उपासनादि से निवृत्त हो चुके हैं।।२०।। सोमसवन नामक महान् पीपल के आकार का कल्पवृक्ष वहीं है जो सब प्राणियों की मनोगत कामनाएँ वैसे ही पूरी करता है जैसे बच्चों की ज़रूरतें माता पूरी करती है।।२१।। वहीं पास में सागर-समान दो सरोवर हैं 'अर' और 'ण्य' जो दूध, दही और घी से भरे हैं।।२२।। क्षुद्र पुण्यों से और पापों से रहित उपासक विद्युत्-लोक से आगे अमानव पुरुष द्वारा इसी ब्रह्मलोक तक वैसे ही ले जाया जाता

मालाहस्ताः शतं तद्वत् शतमञ्जनपाणयः। चूर्णहस्ताः शतं तद्वत् शतं वासःकराअपि।।२६

अलङ्कारकराश्चाऽन्याः शतं षोडशवार्षिकाः। रूपयौवनसम्पन्ना मूर्तिमत्यो यथा श्रियः।।२७

आरो ह्रदश्च विरजा नदी यत्राऽतिदुस्तरा। ययोर्मध्यगता यत्र मुहूर्ता येष्टिहाभिधाः।।२८

अपद्राव्य मुहूर्तांस्तान् दर्शनेनात्मचेतसा। ह्रदं नदीं च सन्तीर्य यत्र गच्छेदुपासकः।।२९

इल्यवृक्षं च संलक्ष्य संस्थानमपराजितम्। यत्र यान्त्येनमायान्तं ब्रह्मगन्धरसावपि।।
रूपाणि प्रविशत्याशु सर्वतेजोऽप्युपासकम्।।३०

इन्द्रप्रजापती यत्र द्वारपालौ महौजसौ। भीतवद् गच्छतो नित्यं यत्र मार्गं प्रयच्छतः।।३१

हिरण्मयं च तत्राऽस्ति प्रासादः परमेष्ठिनः। महाननेकरत्नौघराजितश्च सभान्वितः।।३२

विचक्षणाऽभिधा यत्र प्रज्ञोक्ता वेदिका शुभा। सर्वलक्षणसम्पन्ना जगन्निर्माणकारणम्।।३३

विभागमाह—मालेति द्वाभ्याम्। अञ्जनं देहचाकचक्यहेतुः सुगन्धितैलादिरूपम्, चूर्णम् अपि अङ्गमर्दनोपयुक्तम्। अन्यत् षष्ठादवगन्तव्यम्।।२६-७।। आर इति। यत्र ब्रह्मलोके द्वारदेशे आराख्यो ह्रदः, विरजाख्या नदी च वर्तेते ययोः ह्रदनद्योः मध्ये येष्टिहसंज्ञा मुहूर्ताभिमानिनो देवास्तिष्ठन्तीत्यर्थः। व्युत्पत्तिः षष्ठे दर्शिता।।२८।। अपद्राव्येति। तान् येष्टिहसंज्ञान् मुहूर्तान्, दर्शनं विवेकः तच्छालिना आत्मीयमनोरूपसाधनेन अपद्राव्य पलायितान् कृत्वा; ह्रदनद्यौ च तीर्त्वा च; यत्र ब्रह्मलोके गच्छेद् इति।।२९।। इल्येति। यत्र लोके इल्यसंज्ञं वृक्षम् संलक्ष्य—तत्सन्नि-धाविति यावत्—आयान्तम् एनम् उपासकं ब्रह्मगन्धो याति। संस्थानं नगरं शालज्याख्यं गतं तु ब्रह्मरसोऽपि याति। अपराजिताख्यमायतनं संलक्ष्य गतं तु रूपाणि दिव्यानि यान्ति। तथा सर्वतेजः सर्वस्य ब्रह्मणः तेजः प्रविशति इत्यर्थः। व्युत्पत्तिः षष्ठे।।३०।। ततः तत्तेजसाऽभिभूताविन्द्रप्रजापती द्वास्थौ ब्रह्मसंनिधिं गच्छतोऽस्योपासकस्य मार्गदायकौ भवत इत्याह—इन्द्रेति।।३१।।

तत्र ब्रह्मलोके श्रुत्या 'हिरण्मयम्' इत्युक्तः सभास्थलान्वितः प्रासादोऽस्ति ब्रह्मण इत्याह—हिरण्मयमिति।।३२।। विचक्षणेति। यत्र प्रासादे जगन्निर्माणहेतुभूता विचक्षणासंज्ञा च प्रज्ञा बुद्धिः आसन्दीपदोक्तपर्यङ्काधाररूपा वेदिका प्रोक्ता। तद्विन्यासः षष्ठे दर्शितः।।३३।।

है जैसे राजकुमार जानकार प्रौढ़ों द्वारा विशिष्ट स्थानों पर पहुँचाया जाता है।।२३।। वहीं आकर ब्रह्मा द्वारा भेजी पाँच सौ अप्सराएँ उपासक का स्वागत करती हैं। 'अम्बा' और 'अम्बायवीय' कहलाने वाली वे सूर्य-सी और शुभ विभिन्न देवकन्यायें ब्रह्मा के उपयोग के योग्य अलंकार हाथ में लिये गाजे-बाजे से उपासक के सामने उसे देखने को उत्कण्ठित हो आती हैं। सौ अप्सराओं के हाथों में मालाएँ होती हैं, सौ अपने हाथों में अंजन लिये रहती हैं, सौ के हाथों में चूर्ण (सुगंधित द्रव्य), सौ हाथों में कपड़े लिये और सौ अलंकार लिये रहती हैं। मूर्तिमान् श्री की तरह वे सभी सोलह वर्षों की, रूप-यौवन से संपन्न होती हैं।।२४-७।। ब्रह्मलोक के दरवाज़े पर 'आर' नाम का एक तालाब है और 'विरजा' नाम की नदी है जिसे तैर कर पार नहीं किया जा सकता। नदी व तालाब के बीच 'येष्टिह' नामक देवता तैनात हैं जो मुहूर्त के अभिमानी हैं।।२८।।

विवेकशाली मन से उन मुहूर्तदेवों को भगा कर उपासक 'आर' तथा 'विरजा' पार कर ब्रह्मलोक के अंदर पहुँचता है।।२९।। उसी लोक में 'इल्य' नामक वृक्ष के पास जब उपासक पहुँचता है तब उसे ब्रह्मगंध प्राप्त होती है। जब वह 'शालज्य' नामक नगर में पहुँचता है तो उसे ब्रह्मरस मिलता है और 'अपराजित' नामक आयतन में आने पर दिव्य रूप प्राप्त होते हैं और उसमें ब्रह्मतेज प्रवेश कर जाता है।।३०।। ब्रह्मलोक में ब्रह्मा जी के द्वारपाल हैं इंद्र और प्रजापति।

अमितौजाश्च पर्यङ्को यस्यां प्राणाभिधः सदा। उद्गाता च तथोद्गीथो वागाद्यैर्य उपास्यते।।३४
भूतं भविष्यता सार्द्धं तत्पादौ पूर्वदिग्गतौ। श्रीश्चेरा चाऽपि तस्योक्तौ पादौ पश्चिमदिग्गतौ।।३५
दक्षिणोत्तरखट्वाङ्गे बृहत्तद्वद्रथन्तरम्। भद्रं च यज्ञायज्ञीयम् उक्ते ते पूर्वपश्चिमे।।३६
ऋचः सामानि पूर्वस्यां दिशि प्रोक्ताश्च पट्टिकाः। दक्षिणोत्तरसंस्थाना उक्तास्तास्तु यजूँष्यपि।।३७
सोमांशवस्तु संप्रोक्तास्तस्योपस्तरणं सदा। उद्गीथश्चान्तरं वस्त्रं श्रीः प्रोक्ता तूपबर्हणम्।।३८
तत्र यः सर्वदैवास्ते जगत्पटसमावृतः। पञ्चभूतौघपुष्टश्च सर्वजीववपुः पुमान्।।३९

अमितौजा इति। यस्यां प्रज्ञारूपवेदिकायाम् अमितौजानामकः पर्यङ्को भवति। कीदृशः ? प्राणरूपः, यः प्राणो वाजसनेयैः उद्गातृसंज्ञऋत्विग्विशेषरूपेण उपास्यते। छन्दोगैस्तु उद्गीथः प्रस्तावोद्गीथप्रतिहारोपद्रवनिधनाख्यानां सामभागविशेषाणां मध्ये द्वितीयभक्त्यवयवप्रणवरूप उपास्यते। स्फुटमेतद्भाष्ये गुणोपसंहारपादे[1]।।३४।। पर्यङ्कं वर्णयति—भूतमिति चतुर्भिः। तस्य पर्यङ्कस्य पूर्वदिग्गतौ पादौ भूतभविष्यज्जगद्रूपौ बोध्यौ। श्रीः लक्ष्मीः इरा पृथिवी एतद्रूपौ पश्चिमौ पादौ इत्यर्थः।।३५।। दक्षिणोत्तरेति। अत्र खट्वाङ्गपदेन पट्टिकाग्रहणम्। तथा च बृहद्-रथन्तराख्ये सामनी दक्षिणोत्तरायतपट्टिकारूपे बोध्ये। भद्र-यज्ञायज्ञीयाख्ये तु पूर्वपश्चिमायतपट्टिकारूपे भवत इत्यर्थः।।३६।। ऋच इति। अत्र पट्टिकाः वितानोपयोगिन्यः सूत्रमय्यो बोध्याः। तथा च ऋक्सामाख्यमन्त्रात्मिकाः पूर्वपश्चिमायताः, यजुः संज्ञमन्त्रात्मिकास्तु दक्षिणोत्तरायताः ताः सन्तीत्यर्थः।।३७।। सोमांशव इति। चन्द्रस्य किरणा उपस्तरणवस्त्ररूपाः प्रोक्ताः। उद्गीथाख्यः सामभक्तिविशेषस्तस्योपस्तरणवस्त्रस्य यद् अन्तरम् आच्छादकं श्वेतवस्त्रं तद्रूपो बोध्यः। लक्ष्मीस्तु उपबर्हणं शीर्षोपधानं यत्तद्रूपा।।३८।।

तत्रेति। तत्र प्राणरूपपर्यङ्के यो हिरण्यगर्भस्तिष्ठति; कीदृशः ? जगद्रूपेण पटेन आवृतः, पृथिव्यादिपञ्चभूतैः पुष्टशरीरः, सकलजीवसमष्टिरूपश्च इत्यर्थः।।३९।। नीरमिति। यः च देवः अम्बयाशब्दोक्तासु उपासनात्मकनदीषु

जब उपासक ब्रह्मा जी के पास जाने लगता है तब वे महातेजस्वी द्वारपाल मानो डरकर उसके लिये सदा रास्ता छोड़ देते हैं।।३१।। वहीं परमेष्ठी का महान् प्रासाद है हिरण्मय जो रत्नसमूहों से सज्जित है और उसी में सभागार भी है।।३२।। ब्रह्मप्रासाद में ही 'विचक्षणा' नाम की प्रज्ञा वह शुभ वेदी है जो सब श्रेष्ठ लक्षणों से सम्पन्न और जगत्के निर्माण का कारण है।।३३।। उस वेदिका पर 'अमितौजा' नाम का पलंग है जिसे प्राण कहते हैं और वाक् आदि द्वारा जिसकी उद्गाता एवं उद्गीथ रूप में उपासना की जाती है। (शतपथ और छांदोग्य में विहित उपासनाओं के अनुसार एकत्र उद्गाता और अपरत्र उद्गीथ का रूप ग्रहण किया जाता है।)।।३४।। ब्रह्मा जी के पलंग के पूर्वदिशा में स्थित पाये भूत-भविष्य हैं तथा पश्चिम दिशा के पाये हैं श्री (लक्ष्मी) और इरा (भूमि)।।३५।। पाये जोड़ने वाले दक्षिण और उत्तर की तरफ के दण्डे हैं बृहत्साम और रथन्तरसाम एवं पूर्व-पश्चिम की तरफ के दण्डे हैं भद्रसाम और यज्ञायज्ञीय साम।।३६।। इसी प्रकार पूर्व-पश्चिम में बिनी हुई पट्टियाँ हैं ऋक् और साम तथा दक्षिण-उत्तर में बिनी हुई पट्टियाँ हैं यजु नामक मंत्र।।३७।। उस पलंग पर बिछा उपस्तरण (गद्दा) चंद्र की किरणें हैं जिस पर उद्गीथात्मक ढँकने का सफेद वस्त्र बिछा है। लक्ष्मी ही वहाँ तकिया है। (ब्रह्मा जी के इस लोक का वर्णन पर्यङ्कविद्या की व्याख्या में अ. ६. श्लो. १११५-३९ विस्तार से आ चुका है।)।।३८।।

उस प्राणरूप पलंग पर हिरण्यगर्भ ब्रह्मा विराजते हैं। सारा जगत् ही वह कपड़ा है जिसे वे ओढ़े हैं। पृथ्वी आदि पाँचों भूतों से उनका शरीर पुष्ट है (पाँच भूत ही उनका शरीर है)। वे ही सारे जीवों की समष्टि हैं।।३९।। वे देव

१. ब्र. सू. ३.३ सू. ७।

नीरं पिबति यो नित्यमम्बयासरिदाश्रयम्। तेजःपुञ्जं समासाद्य प्रतिरूपा च चाक्षुषी।।
यस्य प्रिया मानसी च कथिता सा सरस्वती।।४०

देवदेवः सपत्नीक आसीनश्च सभागतः। उपासितो मूर्तिमद्भिः ब्रह्माण्डस्थविभूतिभिः।।४१

सर्वभूतहितं शश्वच्चिन्तयन्निदमुक्तवान्। केनचिद्धि प्रसङ्गेन सर्वभूतसुखाप्तये।।४२

ब्रह्मघोषणा

अणोरणीयान् भूमा यः प्रसिद्धः सर्वदेहिनाम्। सर्वप्रियतमो नित्यं प्रवदन्त्यहमः परम्।।४३

आत्माऽपहतपाप्माऽयं सर्वसङ्गविवर्जितः। षडूर्मिरहितस्तद्वत् सत्येच्छाज्ञानसंयुतः।।४४

जरामरणजन्माद्या धर्मा देहस्य नात्मनः। शोकमोहादयस्तद्वन्मनसः केवलस्य ते।।
क्षुत्पिपासे च सम्प्रोक्ते प्राणस्यैव मनीषिभिः।।४५

वर्तमानं नीरं पिबति, यस्य चैका प्रिया प्रतिरूपाख्या; कीदृशी ? तेजःपुञ्जं समष्टिरूपं समासाद्य अभिमानगोचरी कृत्य वर्तमाना; पुनः कीदृशी ? चाक्षुषी सर्वचक्षुषामुपादानभूता। तथा यस्य द्वितीया प्रिया मानसीसंज्ञा या सरस्वतीरूपेण प्रसिद्धेत्यर्थः।।४०।।

देवदेवेति। मूर्तिमद्भिः देवैः; कीदृशैः ? ब्रह्माण्डे व्याप्ता विभूतयो येषां तथाभूतैः उपासितो देवदेवः सर्वहितं चिन्तयन् कुत्रचित्प्रसङ्गे इदम् अब्रवीद्। इति द्वयोरर्थः।।४१-२।।

'इदं'-पदोक्तं प्रजापतिवाक्यं[1] सप्तभिर्विवृण्वन्; तत्र 'यत्'-पदार्थमाह—अणोरिति। अतिदुर्लक्ष्यत्वेन भूमरूपेण च पूर्वं वर्णितः सर्वेषां प्रत्यक्त्वेन च प्रसिद्ध इति प्रथमदलार्थः। आत्मादिपदद्वयाऽर्थमाह—सर्वेति। सर्वेभ्यः पराग्वस्तुभ्य औपाधिकप्रेमास्पदेभ्यो निरतिशयप्रियत्वाद् 'आत्मा' इत्युक्तः यत एनम् अहमः अहङ्कारादपि परं वदन्ति। पाप्मा अनित्यफलकं कर्म तदाश्रयाभ्यां स्थूलसूक्ष्माभ्यां सङ्गराहित्याद् 'अपहतपाप्मा'ऽयमुक्तः। 'विजरा'दि-पदसप्तकस्य अर्थमाह—षडूर्मीति।।४३-४।। तत्र षडूर्मिराहित्यं स्फुटयति—जरेति। जरामरणयोः तदुपलक्षितजन्मादीनां च स्थूलदेहधर्मत्वात्, शोकमोहयोः तदुपलक्षितरागादीनां च मनोधर्मत्वात्, क्षुत्पिपासयोः प्राणधर्मत्वाच्च तेभ्यः साक्षित्वेन विविक्तत्वलक्षणकैवल्यशालिन आत्मनः ते धर्मा न वक्तुं शक्या इत्यर्थः।४५।। सत्येच्छाज्ञानत्वं

हमेशा 'अम्बया' नामक नदी का जल पीते हैं। समष्टि तेजःपुंज में अभिमान करने वाली और सभी चक्षुओं की उपादान 'प्रतिरूपा' उन ब्रह्मा की एक प्रिया है तथा सरस्वतीरूप से प्रसिद्ध 'मानसी' उनकी द्वितीय प्रिया है।।४०।। देवताओं के भी पूज्य ब्रह्मा सभा में सपत्नीक आसीन होते हैं। ब्रह्माण्ड में जिनकी विभूति व्याप्त है वे सृष्टि-संचालक देवगण उन हिरण्यगर्भ की सेवा में स्थित रहते हैं।।४१।।

सभी भूतों के शाश्वत हित का चिंतन करते हुए किसी प्रसंग में उन श्रीमान् ब्रह्मा ने सब प्राणी सुख पायें इस प्रयोजन से यह घोषणा की :।।४२।।

'अत्यन्त दुर्लक्ष्य, मानो अणु से भी छोटा हो, सर्वव्यापक जो सभी को सुज्ञात तत्त्व है, जिसे अहंकार से भी अधिक निकट बताते हैं, वह हमेशा सर्वाधिक निरतिशय प्रिय है।।४३।। अनित्य फल देने वाले कर्म क्योंकि साक्षात् या फलनाश होने पर दुःख ही देते हैं इसलिये पाप हैं; वे कर्म स्थूल-सूक्ष्म शरीरों से ही किये जा सकते हैं; आत्मा का उन शरीरों से कोई सम्बन्ध नहीं अतः वह 'अपहतपाप्मा' (निष्पाप) है। आत्मा का किसी से कोई संग (वास्तविक

१. 'य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः। सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः। स सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान् यस्तमात्मानमनुविद्य विजानाति। इति ह प्रजापतिरुवाच।'। छां. ८.७.१।।

एतद्योगाच्च विज्ञानमिच्छया सहितं सदा। अनृतं विषयाभावाद् भवेत् संसारसङ्गतौ।।४६
अस्य सर्वस्य शून्यत्वे कामः सङ्कल्पसंयुतः। न भवेदथ चेत् सत्य एक एवात्मनो भवेत्।।४७
सर्वसंसारधर्मार्थसंस्पर्शनविवर्जितः। अन्वेषणीयः सततं स बुद्ध्यादिविलक्षणः।।
विवेकतोऽवधार्यैनं बहुधैव पुनः पुनः।।४८
उपायैर्विविधैः पश्चाद् गुरूनाप्य समाहितः। मीमांसामपि कुर्वीत श्रवणापरनामिकाम्।।
मननध्यानसहितां विवेकात् पुरुषः सदा।।४९
विवेकी यस्तमात्मानं पुरुषः श्रवणादिना। साक्षात्कुर्यात् स सर्वात्मप्राप्त्या भेदविवर्जितः।।
सर्वाँल्लोकांस्तथा कामान् प्राप्नुयात् स्वात्मबुद्धितः।।५०

विशदयति—एतद्योगादिति द्वाभ्याम्। एतेषां देहमनःप्राणानां योगाद् अध्यासरूपात् संसारसङ्गतौ जन्मादिलक्षणसंसार-सम्बन्धे सति यावद् विज्ञानम् इच्छा वा भवति तदुभयमनृतं मिथ्या भवति, विषयाभावात् तयोर्बाधितार्थत्वाद् इत्यर्थः।।४६।। अस्येति। अस्य देहादिसङ्घातस्य शून्यत्वे तत्त्वज्ञानेन बाधिते सति तु कामादिकं नैव भवेत् जायेत। अथ यदि बाधितानुवृत्त्या भवेद्, आहार्यज्ञानविधया जायेत, तथाऽपि नाऽनृतम्, आत्ममात्रतयाऽनुसन्धीयमानत्वेन सत्यत्वाद् इत्यर्थः। तथा च विदुषां कामादिकम् उत्पत्तिदशायाम् अधिष्ठानमात्रत्वेन दृश्यमानत्वाद्, अनुत्पत्तौ सन्मात्रतायाः सिद्धत्वाच्च सत्यमेवेति भावः।।४७।।

फलितं दर्शयंस्तस्य अन्वेषणीयतामाह—सर्वेति। सर्वैः संसारधर्मभूतैः पदार्थैः वर्जितः। अत एव बुद्ध्यादि-विलक्षणः चायमात्मा विविधैः ब्रह्मचर्यादिरूपैः उपायैः लब्धेन विवेकसामर्थ्येन बहुधा बहुविधतर्कैः अवधार्य सम्भावनागोचरतां नीत्वा अन्वेषणीयः गुरुशास्त्रोपदेशैः ज्ञातव्य इत्यर्थः।।४८।। उपायैरिति। प्रथमपदद्वयं पूर्वान्वयि दर्शितम्। तत उपदेशानन्तरं मीमांसां प्रमाणाऽसम्भावनावारकत्वेन श्रवणसंज्ञां कुर्वीत। ततः प्रमेयाऽसम्भावनावारकं मननं, विपरीतभावनावारकं ध्यानं निदिध्यासनं च कुर्वीतेत्यर्थः।।४९।। उक्तविज्ञानफलमाह—विवेकीति। उक्तात्मविज्ञः सर्वात्मभावप्राप्त्या भेदहीनः सन् सर्वान् लोकान् भूरादींस्तद्वर्तिनः कामान् काम्यमानान् विषयांश्च आप्नोति स्वात्मबुद्धितः तेषां स्वात्ममात्रत्वेन ज्ञानाद् इत्यर्थः।।५०।।

संबंध) नहीं और न ही वह छहों में से किसी ऊर्मि वाला है। (ऊर्मि अर्थात् स्थूल-सूक्ष्म शरीरों के धर्म।) आत्मा के इच्छा और ज्ञान सत्य ही होते हैं।।४४।। बुढ़ापा, मृत्यु, जन्म आदि स्थूल शरीर के धर्म हैं, आत्मा के नहीं। शोक, मोह आदि मन के धर्म हैं, केवल आत्मा के नहीं। भूख-प्यास भी आत्मा के नहीं वरन् प्राण के धर्म हैं यही विचारकों का कहना है। आत्मा तो इन धर्मों का व इन धर्मों वाले देहादि का साक्षी ही है।।४५।। इन देह-मन-प्राण में अध्यास होने से संसार-सम्बन्ध बना रहता है जिसके चलते ज्ञान और इच्छा मिथ्या होते हैं क्योंकि जो भी उनका विषय बनता है वह वास्तविक दृष्टि से असत् होता है।।४६।। इस सारे देहादिसंघात का जब तत्त्व-ज्ञान से बाध हो जाता है तब संकल्प व कामना होते नहीं। बाधित की प्रतीति के रूप में जो संकल्पादि होते हैं वे मिथ्या नहीं होते क्योंकि जैसे विषय हैं वैसा उनका अवबोध रहता ही है। इसलिये निरज्ञान आत्मा के ज्ञान-इच्छादि सत्य ही होते हैं अर्थात् जिन नाम-रूपों को वे गोचर करते हैं उनके मिथ्यास्वरूप से आत्मा अपरिचित नहीं रहता।।४७।।

वह आत्मतत्त्व संसार के अंगरूप सभी पदार्थों के संस्पर्श से भी हमेशा रहित है, बुद्धि आदि उपाधियों से विपरीत लक्षण वाला अर्थात् प्रत्यक् है। ब्रह्मचर्य आदि विविध उपायों से प्राप्त विवेकरूप सामर्थ्य से नाना प्रकार की युक्तियों के बारंबार अनुसंधान पूर्वक इस आत्मा की अवधारणा स्पष्ट कर लेनी चाहिये, फिर गुरुजनों के समीप इसके बारे में जिज्ञासा करना सार्थक होता है। एकाग्र होकर गुरु के उपदेश का श्रवण करना चाहिये अर्थात् श्रद्धा से वैसा विचार

देवासुरप्रतिक्रिया

इदं प्रजापतेर्वाक्यं ब्रह्मणः परमेष्ठिनः। सभागतस्य श्रुतवद् देवासुरसभाद्वयम् ।।५१

सभायां ब्रह्मणो नित्यं देवा दैत्याः सहस्रशः। वामदक्षिणभागस्था ब्रह्मणः परमेष्ठिनः।।
आसते चण्डनेत्रास्ते परस्परविरोधिनः।।५२

देवानां कथिता देवैरसुराणां तथाऽसुरैः। वार्तेयं ब्रह्मणो वक्त्राद् निर्गता स्वार्थकारिणी।।५३

देवदैत्याधिपौ श्रुत्वा ह्रीमाविन्द्रविरोचनौ। वारयामासतुः स्वीयान् इतरेतरवञ्चकौ।।५४

'तद्धोभये' इत्यादेः 'ऊषतुः' इत्यन्तवाक्यस्य[1] ब्रह्मविद्यादौर्लभ्याऽऽवेदकस्य अर्थमाह—इदमिति अष्टादशभिः। इदं व्याख्यातरूपं प्रजापतिवाक्यं स्वर्गादिस्थानगतं देवासुराणां सभाद्वयं समुदायद्वयं श्रुतवद् अशृणोद् इत्यर्थः।।५१।। तत्र हेतुतया इन्द्रविरोचनयोः सजातीयानां ब्रह्मसभायां सत्त्वमाह—सभायामिति। यतः प्रजापतेः सभायां देवा दैत्याः च सहस्रश आसते तिष्ठन्ति। कीदृशाः? परमेष्ठिनो वामदक्षिणभागयोः स्थिताः; तत्र असुराणां दक्षिणस्थितिनिर्देशो ज्येष्ठत्वात्, तथा च श्रुतिः 'द्वया ह वै प्राजापत्या ज्यायांसोऽसुराः कनीयांसो देवाः' (बृ. १.३.१) इति। तेषां परस्परस्य वृत्त्यज्ञानस्य वक्ष्यमाणेतरेतरवञ्चकत्वस्य चोपपत्तये विशेषणद्वयम—चण्डेत्यादि। चण्डेऽत्युग्रतेजसि प्रभावे नेत्राणि येषां ते तथा। परस्परं विरोधिनश्च। तथा च प्रभुमुखदत्तदृष्टित्वाद् विरोधित्वाच्च परस्परस्थितिं ते न जानन्तीति भावः।।५२।।

देवानामिति। तत इयं वर्णितरूपा वाणी ब्रह्मणो मुखाद् निर्गता सती तत्सभागतैः देवैः देवानां त्रिलोकीस्थानां समीपे कथिता प्रापितेति यावत्। एवम् असुरैरसुराणाम् इति। यतः सा परमपुरुषार्थसाधनस्य प्रकाशिकेत्यर्थः।।५३।। देवेति। ततो देवाधिप इन्द्रो दैत्यानां वञ्चनाय तेभ्यो गोपनाय स्वीयान् देवान् वारयामास। तथा दैत्याधिपो

करना चाहिये जिससे प्रमाणगोचर असंभावना मिटे। प्रमेयविषयक असंभावना मनन से हटाकर विपरीत भावना को ध्यान से, निदिध्यासन से हटाने में तत्पर रहना उचित है। यह सारी प्रक्रिया पुरुष तभी कर सकता है जब हमेशा विवेकी बना रहे।।४८-९।।

जो विवेकी पुरुष श्रवणादि साधनों के अनुष्ठान से उस आत्मा का साक्षात्कार कर लेता है वह सर्वात्मा हो जाने से भेदशून्य होकर 'यह सब निज आत्मा ही है' इस अनुभूति के रूप में सभी लोकों को और कामनाओं को पा जाता है।' (आत्मज्ञान से लोकादि-लाभ क्रिया से फललाभ की तरह नहीं है। लोकादि-प्रतीति रहते उन्हें अधिष्ठान से अभिन्न समझना ज्ञान से उनकी प्राप्ति है। यह रहस्य न जानकर अप्राप्त की प्राप्ति के अभिप्राय से ज्ञानफल मानकर इंद्रादि इस ज्ञान के लिये प्रवृत्त हुए। अन्य साधक भी ज्ञान से वैसे फल की आशा न रखे जैसे क्रिया से होता है इसलिये पुराणकार ने 'स्वात्मबुद्धितः' कह दिया।)।।५०।।

सभास्थित प्रजापति परमेष्ठी ब्रह्मा की यह घोषणा देवसभा और असुरसभा दोनों को ज्ञात हुई। ब्रह्माजी की सभा में हज़ारों देव और दैत्य प्रतिदिन उपस्थित रहते हैं। ब्रह्मा जी की दायीं ओर असुरों का और बायीं ओर देवताओं का स्थान नियत है। परस्पर विरोधी उन दोनों दलों के, उग्र तेज से युक्त नेत्रों वाले सदस्य आपसी रोषवश एक-दूसरे की ओर तो देखते नहीं, ब्रह्माजी की ओर ही टकटकी लगाये रहते हैं अतः उन्हें एक-दूसरे की स्थिति का पता नहीं चलता।।५१-५२।।

---

१. 'तद्धोभये देवासुरा अनुबुबुधिरे। ते होचुः—हन्त! तमात्मानमन्विच्छामो यमात्मानमन्विष्य सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान्—इति। इन्द्रो हैव देवानामभिप्रवव्राज, विरोचनोऽसुराणाम्। तौ हाऽसंविदानावेव समित्पाणी प्रजापतिसकाशमाजग्मतुः।।२।। तौ ह द्वात्रिंशतं वर्षाणि ब्रह्मचर्यमूषतुः।'

वैरिणो मा विजानन्तु वार्तामेतां महाबलाः। इत्युक्त्वा जग्मतुश्चोभौ तदैव ब्रह्मणः सभाम्।।५५
उभाभ्यामप्यविज्ञातावुभाविन्द्रविरोचनौ। स्वकीयैः सह सम्मन्त्र्य देवैश्चैवाऽसुरैस्तथा।।५६
हन्त ! तं वयमात्मानम् अन्विच्छामो महाबलाः। यज्ज्ञानात् सकलाँल्लोकान् कामांश्चाऽपि लभेमहि।।५७
वयं सर्वे यदा तत्र यास्यामो ब्रह्मणः सभाम्। तदैव वैरिणः सर्वे त्रिलोकीं परिवर्जिताम्।।
अस्माभिः स्ववशे कुर्युरस्मच्छिद्रगवेषिणः।।५८
एकेनैव ततोऽस्माकं गन्तव्यं यो गुरुर्भवेत्। परेषामिति सञ्चिन्त्य राजानौ तौ विनिर्गतौ।।५९
बलबुद्ध्यादिसम्पन्नौ धैर्यवन्तौ यशस्विनौ। ब्रह्मविद्यार्थिनौ दृप्तौ परस्परजयैषिणौ।।
समिदादिकरावेतावेककालं प्रजापतिम्।।६०

विरोचनो दैत्यान् वारयामास। किं कृत्वा ? यथा वैरिण एतां वार्तां न जानीयुः तथा यतितव्यम् इत्युक्त्वा। न केवलं वारणमेव तौ चक्रतुः किन्तु स्वकीयैः सह सम्मन्त्र्य ब्रह्मणः सभां प्रति जग्मतुश्च। इति त्रयाणां सम्बन्धः।।५४-६।। स्वीयैः सह मन्त्रमभिनयति—हन्तेति त्रिभिः। हन्त इति वाक्यारम्भे। यद्विज्ञानात् सर्वलाभः तस्य आत्मनो ज्ञानं महाबलैः महोद्यमैरस्माभिः सम्पाद्यमित्यर्थः।।५७।। तत्र सर्वेषां गमनं न युक्तं, वृद्धिमिच्छतो मूलमपि नष्टम् इति न्यायप्रसङ्गात्, इत्याशयेन तद्वचनमाह—वयमिति। यदि सर्वे वयं गच्छेम तदाऽस्मत्त्यक्तां त्रिलोकीं छिद्रान्वेषिणः वैरिणः आक्रमेयुरित्यर्थः।।५८।। फलितं दर्शयति—एकेनैवेति। अस्माकं मध्ये तेन एवैकेन गन्तव्यं य आगत्य परेषाम् अगतानां स्वकीयानां गुरुः शिक्षितोपदेष्टा स्याद्। इति एवं सम्मन्त्र्य तौ इन्द्रविरोचनाख्यौ राजानौ देवानां दैत्यानां च स्वस्वस्थानाद् निर्गतावित्यर्थः।।५९।।

बलेति। प्रजापतिम् उपस्थिताविति शेषः। समित्प्रभृत्युपायनहस्तौ। स्फुटमन्यत्।।६०।। घट्टेति। यथा

ब्रह्मसभा में उपस्थित देवों ने देवलोक में देवताओं को और असुरों ने असुरों को ब्रह्मा के मुख से निकली इस स्वार्थसाधक वार्ता से अवगत कराया।।५३।। देवाधिप इंद्र और दैत्याधिप विरोचन, दोनों ने सोचा कि दैत्यों व देवों को इस रहस्य का पता न चले तो अच्छा है। (ब्रह्मसभा में देवों को दैत्यों की उपस्थिति तथा दैत्यों को देवों की उपस्थिति पता थी नहीं क्योंकि द्वेषवश एक-दूसरे की ओर तो कभी देखते न थे ! अतः दोनों ने समझा कि वे ही यह घोषणा सुन पाये हैं।) दोनों राजाओं ने अपनी-अपनी प्रजाओं को इस घोषणा के बारे में चुप्पी साधने का निर्देश दे दिया। उन्होंने कहा 'महाबल दुश्मन यह बात न जान पायें यह ख्याल रखना।' यह व्यवस्था कर दोनों राजा ब्रह्मसभा की ओर चल दिये।।५४-५।। हालाँकि दोनों ने अपने-अपने समूह से मंत्रणा कर वह विद्या पाने के लिये यात्रा आरंभ की थी फिर भी दोनों को एक-दूसरे का हाल मालूम नहीं था।।५६।।

दोनों ने अपने-अपने मन्त्री आदि से कहा था, 'हम महान् बलशाली तो हैं ही, अब हमें उस आत्मा को जान लेना चाहिये जिसके ज्ञान से सकल लोक पा जायेंगे और हमारी सारी कामनाएँ पूरी हो जायेंगी।।५७।। किंतु इस उद्देश्य से यदि हम सब ब्रह्मसभा में चले गये तो हमारे वैरी—जो हमेशा हमारी कमज़ोरी ख़ोजते रहते हैं—हमसे रहित हुई त्रिलोकी को अपने वश में कर लेंगे!।।५८।। इसलिये हममें से किसी एक को ही ब्रह्मा जी के पास जाना चाहिये जो लौट कर अन्यों को वह विद्या सिखा सके, सबका गुरु बने।' यह विचार कर दोनों दलों के राजा ही विद्या पाने निकले थे।।५९।। इन्द्र-विरोचन बल बुद्धि धैर्य आदि से संपन्न थे, यशस्वी थे। यद्यपि ब्रह्मविद्या के प्रार्थी बने थे तथापि दर्पयुक्त थे और एक-दूसरे को जीतना चाहते थे ! समित् आदि भेंट हाथ में लेकर दोनों राजा एक ही समय प्रजापति के सामने उपस्थित हुए।।६०।।

घट्टकुट्यां प्रभातं तत्तयोरासीन्महात्मनोः। युक्तयोर्वञ्चने राज्ञोर्देवासुरशिरस्थयोः।।६१

बुद्धिमन्तावुभौ कृत्वा तत्र स्नेहं हि कृत्रिमम्। ऐक्यं प्राप्याप्यनेकौ तावुभौ स्वार्थप्रकाशकौ।।६२

प्रजापतेः पदद्वन्द्वं ववन्दाते सुशोभनौ। भ्रातृव्यौ भ्रातृवद् भूत्वा विद्यां पप्रच्छतुश्च तौ।।६३

प्रथमपर्याये ब्रह्मचर्यवासः

भगवानपि विज्ञाततत्त्वार्थश्चतुराननः। अशृण्वन्निव शृण्वन् स तस्थौ पूर्वजपूर्वजः।।
द्वात्रिंशद्वत्सरं कालं व्यग्रः कार्यान्तरेष्विव।।६४

देवासुराधिपौ तत्र सर्वभोगविवर्जितौ। अवज्ञातौ स्थितौ तस्य समीपे परमेष्ठिनः।।६५

दोषी कश्चिद्यथा राज्ञस्तिष्ठेत् स्निग्धः समीपगः। अवज्ञातः सर्वभोगवर्जितो मुखवीक्षकः।।६६

भोजनादिक्रिया नासीद् एतयोः कालयोः क्वचित्। दूरापास्तस्तु ललनासम्भोगः शोच्यवेषयोः।।६७

शुल्कग्राहिराजपुरुषान् वंचयितुं निशि प्रस्थितानां वणिजां मार्गविभ्रमेण घट्टकुट्यां नदीतीरवर्तिशुल्कग्राहिकुटीसमीपे प्रभातं स्यात् तादृशं तद् देवासुराणां मुख्ययोः तयोः प्रजापतिसन्निधिगमनमासीत्, अभीप्सितपरस्पराऽविज्ञान-लक्षणवञ्चनस्य असिद्धेरित्यर्थः।।६१।। श्रुतौ 'आसंविदानौ' इति च्छित्वा तस्य ईषत् संविदं स्नेहाभासं कुर्वन्तौ इत्यर्थं दर्शयन्नाह–बुद्धिमन्ताविति। कार्यसाधने कुशलौ तौ तात्कालिकं कृत्रिमम् आहार्यं स्नेहं कृत्वा भ्रातृव्यौ शत्रू अपि भ्रातृवद् मिलितौ सन्तौ प्रजापतिं ववन्दतुः पप्रच्छतुश्च। इति द्वयोरर्थः।।६२-३।।

भगवानपीति। पूर्वजानां मन्वादीनां पूर्वजो भगवान् ब्रह्माऽपि सर्वाशयवित् तयोर्दोषप्रहाणाय द्वात्रिंशद् वत्सरान् कार्यान्तरव्यग्रवत् शृण्वन्नपि अशृण्वन्निव आसीदिति।।६४।। तथा च तयोरानुषङ्गिकं ब्रह्मचर्यमसिद्धयद् इत्याह–देवासुराधिपाविति। अवज्ञातौ उपेक्षारूपामवज्ञां प्राप्तौ।।६५।। दोषीति। यथा राज्ञः स्निग्धः स्नेहपात्रभूतोऽपि कश्चिद् दोषी कृतमहापराधः सदसि उपेक्षितः तिष्ठेत्तथा तौ स्थितावित्यर्थः।।६६।। भोजनादीति। एतयोः इन्द्रविरोचनयोः भोजनक्रिया एव कालयोः सायंप्रातराख्ययोः नासीत् कुतोऽन्यद् ललनादर्शनादिकं यतस्तौ शोच्यवेषौ, शोच्यत्वं जुगुप्सितत्वम् इति।।६७।।

चुंगी देने से बचने के लिये रात भर बेरास्ते चलें और सुबह चुंगी-नाके के सामने ही पहुँच जायें–यही हाल इन्द्र-विरोचन का हुआ ! देव-असुरों के राजाओं ने सोचा तो था कि एक-दूसरे को ब्रह्मघोषणा की कानों-कान खबर न लगे और वे ब्रह्मद्वार पर एक-साथ ही पहुँचे !।।६१।। दोनों बुद्धिमान् तो थे ही अतः बनावटी स्नेह से आपस में मिले। शरीरों से इकट्ठे होने पर भी मन से तो अलग-अलग ही रहे। बात-चीत में दोनों ने वहाँ आने का प्रयोजन एक-दूसरे को बताया।।६२।। अत्यन्त शोभान्वित दोनों राजाओं ने प्रजापति के चरणद्वय की वंदना की। दुश्मन रहते हुए भी भाई जैसे होकर दोनों ने विद्या के बारे में प्रश्न किया।।६३।।

पूर्वजों के भी पूर्वज भगवान् चतुर्मुख उनका सारा आशय तो तुरंत समझ गये पर उनके प्रश्न को सुनकर भी उन्होंने अनसुना कर दिया और अन्य कार्यों में व्यस्तता-सी रखकर बत्तीस साल बिता दिये !।।६४।। यों उपेक्षित-से हुए इन्द्र-विरोचन सभी भोग-विलास छोड़कर परमेष्ठी के निकट बने ही रहे। राजा का स्नेहपात्र दोष कर बैठे तो उपेक्षित हुआ भी राजा के मुँह की ओर देखते हुए वह राजा के समीप उपस्थित रहता है; इंद्र-विरोचन भी इसी तरह ब्रह्माजी के पास रहे।।६५-६।। उन दोनों की भोजनादि क्रियायों भी सुबह-शाम कभी (नियमतः) नहीं हो पायीं तो स्त्रीसंपर्कादि की संभावना कहाँ ! उनका तो वेष भी घृणित-सा हो गया था। यों उनका बत्तीस साल का समय ब्रह्मचर्यपूर्वक ही

द्वात्रिंशद्वत्सरे काले दुःखिनोर्ब्रह्मचारिणोः। गतेऽनुपश्यतोर्वक्त्रं तयोर्ब्रह्माऽवलोकयत्।।६८
किमर्थं वामकुरुतं वासम् इन्द्र-विरोचनौ। ब्रह्मलोकेऽत्र दुष्प्रापे सर्वभोगविवर्जिते।।६९
इत्युक्तौ ब्रह्मणा देवावूचतुस्तौ महेश्वरम्। य आत्मेत्यादि तद्वाक्यम् अनूद्यैव महाधियौ।।७०
एवं भगवता प्रोक्तम् आत्मानं लोककामदम्। इच्छन्तौ कृतवन्तौ स्वो वासं तौ वत्सरान् प्रभो।।
वीक्ष्यमाणौ ब्रह्मचर्यसंयुक्तौ शिष्यतां गतौ।।७१

जाग्रत्साक्ष्युपदेशः

एवमुक्तः स भगवान् स्मितवक्त्रः प्रजापतिः। ऊचे जागरणावस्थम् आत्मानं चक्षुषि स्थितम्।।७२
य एष दृश्यते शास्त्रबुद्ध्या सर्वैश्च चक्षुषि। पुमानात्माऽयममृतो निर्भयं ब्रह्म निर्गुणम्।।७३

द्वात्रिंशदिति। द्वात्रिंशद् वत्सररूपे काले गते सति ब्रह्मा तयोः मुखं व्यलोकयत्। कीदृशयोः तयोः ? अनुपश्यतोः 'कदाऽनुग्रहीष्यति' इत्याकारां प्रतीक्षां कुर्वतोः।।६८।। अनुग्रहपरेण प्रजापतिना कृतं[1] तयोः प्रयोजनप्रश्नमभिनयति— किमर्थमिति। इन्द्र-विरोचनौ ! युवां ब्रह्मलोके युष्मद्योग्यस्थूलभोगहीने दुःखेन आगत्य किमर्थं वासमकुरुतं कृतवन्तौ।।६९।। एवं गुरुणा पृष्टाभ्यां कृतां प्रार्थनां[2] दर्शयति—इत्युक्ताविति। देवौ सुराणामसुराणां च राजानौ तौ 'य आत्मा ऽपहतपाप्मे'त्यादि श्रौतं प्रजापतिवाक्यम् अनूद्य तद्वत्पठित्वा एवम् ऊचतुः। 'एवं' कथम् ? हे भगवन्! भवता सर्वलोकानां कामानां च ज्ञानद्वारा दातृत्वेन वर्णितम् आत्मानं ज्ञातुम् इच्छन्तौ सन्तौ तौ प्रसिद्धावावां बहून् वत्सरान् वासं कृतवन्तौ स्वः भवावः। कीदृशौ ? भवता वीक्ष्यमाणौ सन्निहिताविति यावत्।।७०-१।।

इत्थं प्रार्थितः प्रजापतिः ताभ्यां जाग्रत्साक्षिणम् आत्मानं चक्षुषि स्थितत्वेन उक्तवान्[3] इत्याह—एवमुक्तः स इति।।७२।। भगवद्वाक्यमभिनयति—य एष इति। य एष प्रत्यक्त्वेन अत्यन्तं सन्निहितः पुमान् सर्वैः अधिकारिभिः शास्त्रदृष्ट्या शास्त्रसंस्कृतया प्रत्यक्प्रवणवृत्त्या चक्षुषि दृश्यतेऽपगतावरणः क्रियतेऽयम् एवात्माऽमृतत्वादिलक्षणः अद्वयत्वेन निर्भयं यद् निर्गुणं ब्रह्म तदेकरूपश्च इति प्रजापतिवाक्यतात्पर्यार्थः।।७३।।

बीता। वे दुःखी तो हुए पर 'कब हम पर ब्रह्माजी अनुग्रह करेंगे' इस प्रतीक्षा में धैर्य से स्थिर रहे। बत्तीस सालों बाद ब्रह्मा जी ने उनके मुँह की ओर दृष्टि की।।६७-८।।

प्रजापति ने पूछा 'हे इन्द्र-विरोचन ! तुम्हारे लायक स्थूल भोगों से रहित इस ब्रह्मलोक तक आना और यहाँ रहना दोनों कष्टप्रद हैं फिर तुमने किस प्रयोजन से यहाँ निवास किया ?'।।६९।। यों पूछे जाने पर उन महाबुद्धिमान् देवराज-असुरराज ने महेश्वर ब्रह्मा से निवेदन किया 'हे भगवन् !' जो आत्मा पापरहित है' आदि वाक्य से आपने लोकप्रद और कामप्रद आत्मा की घोषणा की थी। उसी आत्मा को जानने की इच्छा से हमने आप की पावन संनिधि में निवास किया। हम आपके दृष्टिपथ में रहे, ब्रह्मचर्यपूर्वक रहे और आपके शिष्य हुए उपस्थित हैं।'।।७०-१।।

इस प्रकार प्रार्थना करने पर भगवान् प्रजापति ने मुस्कराते हुए उन्हें जाग्रत् के साक्षी आत्मा का उपदेश दिया जिसका विशेष स्थान आँख को बताया। उन्होंने कहा, 'शास्त्रसंस्कारों वाली और प्रत्यक् की ओर एकाग्र बुद्धिवृत्ति से सभी अधिकारी चक्षु में जिस अत्यंत संनिहित प्रत्यङ्मात्र को अनावृत करते हैं यह अमृत आदि विशेषताओं वाला, अद्वय होने से अभय, गुणातीत, व्यापक चेतन है; यही वह आत्मा है जिसके बारे में मैंने घोषणा की थी।'।७२-३।।

१. 'तौ ह प्रजापतिरुवाच—किमिच्छन्ताववास्तम्? इति।'

२. 'तौ होचतुः—य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः स सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान् यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति भगवतो वचो वेदयन्ते। तमिच्छन्ताववास्तम्—इति।।'३।।

३. 'तौ ह प्रजापतिरुवाच—य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मा—इति होवाच।—एतद् अमृतमभयम् एतद् ब्रह्म—इति।' अत्र चक्षुर्ग्रहणं सर्वेन्द्रियोपलक्षणं, जाग्रत्साक्षिविवक्षणात्। नेह प्रमाताप्युच्यते, आविर्भूतस्वरूपस्यैव प्रतिपिपादयिषितत्वादिति निरणायि सूत्रादिकृद्भिः (१.३.१९)।

तयोरनवगमः

एवमुक्ते महेशानमुभाविन्द्रविरोचनौ। ऊचतुर्भ्रान्तिमापन्नावशुद्धाशयसंयुतौ।।७४

छायात्माऽयं त्वया प्रोक्तः पुमांश्चक्षुषि संश्रितः। आदर्शे वाऽप्सु वाऽन्यत्र स एष परिदृश्यते।।७५

दृश्यते य इति प्राह भवांश्चक्षुषि दक्षिणे। स्वचक्षुषि स्वयं चाऽयं दृश्यते नैव केनचित्।।
विनाऽऽदर्शादिकं तस्मात् कतमस्तेषु संस्मृतः।।७६

ब्रह्मणा स्पष्टीकरणम्

इत्युक्ते भगवान् प्राह सर्वत्रैवेति स प्रभुः। आनन्दात्मा स्वयंज्योतिर्यतः सर्वत्र संस्फुरेत्।।७७

यथा मधुरोऽपि गुडः पित्तदूषितरसनैः कटुत्वेन गृह्यते तथा प्रजापतिवाक्यं सत्परमपि ताभ्यां दुष्कृताविद्यासंस्कारदूषितचित्ताभ्याम् अन्यपरत्वेन गृहीतमिति दर्शयति—एवमुक्ते महेशानमिति। एवं ब्रह्मणा उक्ते सति तं महेशानं प्रति तौ इत्थम् ऊचतुः। कीदृशौ ? अशुद्धैः दुष्कृतगोपितैः आशयैः विपर्ययसंस्कारैः संयुतचित्तत्वाद् भ्रान्तिमापन्नौ।।७४।। तयोर्भ्रान्तिप्रयुक्तं वाक्यमभिनयति[1]—छायात्मेति द्वाभ्याम्। छाया देहप्रतिबिम्बं, तद्रूप आत्मा चक्षुर्गोलकस्थिततत्वेन भवता प्रोक्तः, अस्माभिः स्वबुद्धिबलेन तस्य तत्त्वम् अन्यत्राऽपि ज्ञायते, यथा दर्पणे जले खड्गादौ च एष छायात्मा दृश्यते।।७५।। दृश्यत इति। हे भगवन् ! भवता 'इति' उक्तम्; 'इति' किम् ? यो दक्षिणे चक्षुषि दृश्यते स आत्मेति। तत् तु द्रष्टुरभिप्रायेण न भवति, यतः स्वयं छायां दिदृक्षताऽऽदर्शादिकं विना वर्तमानेन स्वचक्षुषि नैव दृश्यते, किन्तु आदर्शादावेव दृश्यते। एवं सति स्वोत्प्रेक्षितोदाहरणगताश्छायात्मानः परानपेक्षाः किं गृह्येरन् ? किं वा तत्रभवता भवता निदर्शितत्वाच्चक्षुर्वृत्तिरेव[2] च्छायात्मा ग्राह्य इत्याशयेन पृच्छतः—कतमस्तेषु संस्मृत इति। तेषु आदर्शादिचक्षुरन्तोपाधिभिन्नेषु च्छायात्मसु मध्ये कतमः सम्यक्त्वेन स्मृत इति तदर्थः।।७६।।

इत्युक्त इति। इति इत्थं ताभ्यां पाण्डित्याऽभिमानेन प्रोक्तेऽपि भगवान् ब्रह्मा तयोर्वैयात्यमुपेक्ष्य स्वानुभवानुसारेण सर्वत्रैवेति आह[3]। तदुपपन्नमेव, यत आनन्दरूपः चिदात्मा सर्वत्र उपाधिषु साक्षिरूपेण भात्येवेत्यर्थः।।७७।।

पित्त बढ़ जाने पर मीठा गुड़ भी कड़ुवा लगता है ! ऐसे ही इंद्र-विरोचन के मन पाप और अभिमानादि के कुसंस्कारों से भरे थे अतः प्रजापति के सद्बोधक वाक्य से भी उन्हें आत्मभिन्न ही कुछ समझ आया। ब्रह्मा जी ने 'जो पुरुष आँख में दीखता है' ऐसा कहा था जिससे दोनों को लगा कि आँख में पड़ती परछाईं को वे आत्मा बता रहे हैं! उसी भ्रमावस्था में उन्होंने पूछा, 'हे भगवन् ! देहप्रतिबिम्ब को आपने आत्मा बताया, जो प्रतिबिंब आँख में पड़ता है। दर्पण, जल आदि अन्यत्र भी प्रतिबिंब तो दीखता ही है पर आपने दायीं आँख में दीखने वाले का उल्लेख किया। अपनी आँख में पड़ने वाला प्रतिबिंब खुद तो कोई नहीं देख सकता जब तक सामने दर्पणादि न हो। तो क्या दर्पणादि में पड़ती छाया आत्मा है या केवल आँख में पड़ने वाली छाया ही आत्मा है ?'।।७४-६।।

खुद को समझदार मानकर दोनों ने जब यह बेहूदा प्रश्न किया तब भगवान् प्रभु ने उनकी निर्लज्जता की उपेक्षा कर अपने अनुभवानुसार ही जवाब दिया, 'सभी जगह; इन सभी में यही पता चलता है।' उनका अभिप्राय था कि स्वतःसंवित् आत्मा सभी जगह सभी समय स्फुरमाण रहता है।।७७।। निर्लज्जता इसलिये कि परछाई अमर आदि

१. 'अथ योऽयं भगवोऽप्सु परिख्यायते, यश्चाऽयमादर्शे, कतम एष इति ?'
२. चक्षुषि वृत्तिर्वर्तनं यस्य च्छायात्मनोऽसावित्यर्थः। देहच्छायामात्रमात्मा, चक्षुषि प्रतिफलितच्छायैव वाऽऽत्मेति प्रश्नः।
३. 'एष उ एवैषु सर्वेष्वन्तेषु परिख्यायते—इति होवाच।।४।।'

स्फुरणस्यैव चात्मत्वमुक्त्वाऽऽनन्दैकरूपिणः। पूर्ववद् ब्रह्मसम्बोधो नाऽभूदिति विचिन्तयन्।
इदमाह पुनस्तौ स ब्रह्मा लोकपितामहः।।७८
नीरपूर्णे शरावेऽस्मिन्नात्मानमवलोक्य हि। आगम्य च पुनर्मां भो ब्रूतमिन्द्रविरोचनौ।।७९
इत्यभिप्रायवांश्छाया भेदं गच्छति सर्वतः। नात्मनः स्फुरणं क्वाऽपि बहिरन्तश्च सर्वदा।।८०

अथ तयोरुदकशरावे प्रतिबिम्बदर्शनोपदेशे[1] प्रजापतेराशयं दर्शयति—स्फुरणस्यैवेति नवभिः। आनन्दरूपिणः स्फुरणस्यैव आत्मताम् उक्त्वाऽपि अनयोर्ब्रह्मबोधः प्रथमोपदेश इव न जात इति चिन्तयन् सन् ब्रह्मा इदमाह—; 'इदं' किम् ? भो इन्द्रविरोचनौ ! युवां नीरपूर्णे शरावे मृन्मयपात्रे आत्मानं शरीरम् अवलोक्य मामागम्य च ब्रूतं यज्ज्ञातं[2] तन्निवेदयतम्। इति द्वयोरर्थः।।७८-९।। इत्यभिप्रायवानिति। कीदृशो ब्रह्मा ? इत्यभिप्रायवान्—इति इत्थंविधेन अभिप्रायेण विशिष्टः। 'इति' किम् ? छायाया उपाधिभेदेन परिणामित्वाद् अनात्मत्वं स्पष्टम्। साक्षिणस्तु सर्वानुगतत्वे न तदुचितम् इति विशेषे सत्यपि एतौ मोहेन प्रमादलक्षणेन, बालिश्येन सदुपदेशपराङ्मुखत्वलक्षणेन, तथा पाण्डित्यगर्वेण, स्पर्द्धया च दूषितचित्तत्वाद् मदुक्तं चक्षुषि स्थितं साक्षिरूपम् आत्मानम् अविज्ञाय प्रत्युत

होगी यह तो कोई बच्चा भी नहीं समझता ! यदि ब्रह्मोपदेश से इतना ही समझ आया था तो उन्हें अपनी समझ की आलोचना करनी चाहिये थी, उसकी जगह वे 'छायाओं में कौन-सी छाया आत्मा है ?' पूछने लगे, यह सुनते हुए ही अटपटी लगने वाली बात पूछने में उन्हें शर्म नहीं आयी। ब्रह्मा जी ने जो 'सभी जगह' कहकर मानो उनकी बात का समर्थन किया उससे यह नहीं कि उन्होंने ग़लत-फ़हमी पैदा की वरन् उन्होंने यह समझ लिया कि दोनों भ्रम में हैं अतः उनका भ्रम मिटाने के लिये आगे उदशराव आदि का सहारा लिया। परछाई अनात्मा है यह तो अत्यंत सुस्पष्ट है। शरीर भी आत्मा नहीं यह उदशरावके माध्यम से बताया। जिसका पहले-पहल उपदेश दिया उसी के बारे में उदशरावादि द्वारा स्पष्टीकरण है यह बोधित करने के लिये ब्रह्मा जी बार-बार कहते गये 'इसी को फिर समझाता हूँ'। स्वप्न-सुषुप्ति में होने वाले को भी ब्रह्मा जी ने इसी तात्पर्य से आत्मा कहा था कि अवस्थाएँ बदलने पर भी वह बना रहता है अतः अवस्थाओं से स्वतंत्र है यह समझ आ जाये। इसी बात को अंत में इस तरह कहा कि यह संप्रसाद इस शरीर से सम्यक् उठकर परम ज्योति पाकर अपने रूप में स्थित होता है। ब्रह्मा जी का प्राथमिक उपदेश भी सर्वथा वही था जो अंतिम उपदेश था, किंतु अयोग्य होने से इन्द्र-विरोचन उसे समझ न सके। जब योग्यता आयी तब इंद्र ने उसे समझा। यों क्रमशः समझाकर श्रुति ने दिखाया कि विवेकानुसार ही उपदेश और ग्रहण होता है : जैसे अतिपौष्टिक औषधि भी अतिमंदाग्नि व्यक्ति को पच नहीं पाती, उसके लिये न्यूनवीर्य औषधि का ही उपयोग करना पड़ता है, ऐसे विवेकमार्ग में भी अनात्माओं पर एकाग्र करते-करते अंत में आत्मा पर दृष्टि टिक सकती है। साधक अपनी स्थिति के अनुसार उपदेश ग्रहण (= महसूस) करे, केवल ग्रंथ के शब्द कण्ठ करके संतोष न कर बैठे यह भाव है।)

ब्रह्मा जी ने आनंदरूप वाले ज्ञान को ही आत्मा बताया था किंतु उन्होंने देखा कि जैसे पहले वाक्य का सही अर्थ इंद्र-विरोचन ने नहीं समझा ऐसे ही 'सर्वत्र वही है' इससे भी उन्होंने ब्रह्म को नहीं ग्रहण किया। यह परिस्थिति समझकर लोकों के पितामह ब्रह्मा ने उन दोनों से फिर कहा :।।७८।। 'हे इंद्र-विरोचन ! जल से भरी परई में (मिट्टी के कटोरीनुमा बर्तन में) अपने (शरीर की परछाई) को देखकर आओ, फिर मुझे बताओ (कि तुम आत्मा के बारे में क्या नहीं समझे और क्या समझे)।'।।७९।।

---

१. 'उदशराव आत्मानमवेक्ष्य यदात्मनो न विजानीथस्तन्मे प्रब्रूतम् इति।' ८.८.१।

२. 'आत्मनो यद् न विजानीथो युवां तद् मे प्रब्रूतम्' इत्यवोचत्; 'छायात्मानं पश्यन्तौ तत्र छायात्मनि आत्मनः सम्बन्धि आत्मोपलक्षणत्वेनोक्तं यद्, अपहतपाप्मत्वादि न विजानीथः तद् मे ब्रूतम्' इति तदभिप्रायोऽभिनवनारायणेन्द्रोक्तो भाष्यटीकायाम्। किन्तु तौ तदभिप्रायमज्ञात्वा 'इदमावयोरविदितम्' इति नोचतुः। तदा ब्रह्माऽप्राक्षीत् 'किं पश्यथ ?' इति। तदनुसन्धाय प्रकृते टीकाकारः 'यज्ज्ञातं तद्' इत्याह।

एतौ भ्रान्तौ मया प्रोक्तमात्मानं चक्षुषि स्थितम्। स्फुरणैकस्वभावं तमविज्ञायातिमोहितौ।।८१
छायात्मेति गृहीत्वैवं दृष्टवन्तौ हि बालिशौ। सर्वदा पण्डितंमन्यौ स्पर्द्धमानौ परस्परम्।।८२
विपरीतं युवाभ्यां तद् गृहीतं यन्मयेरितम्। इत्युक्ते लज्जया खिन्नचित्तौ मूढतमौ पुनः।।८३
न किञ्चिदवगच्छेतामुक्तमिन्द्रविरोचनौ। तस्मादुपायतस्त्वेतौ बोधयिष्यामि दुर्मदौ।।८४
यादृशोऽत्र भवेच्छिष्यो यद्बुद्धिः सोऽपि तादृशः। तद्बुद्धिश्च गुरुर्भूत्वा बोधयेत् तं सदा बुधः।।८५

विपरीतं 'छायैवात्मा' इति गृहीत्वा एवं दृष्टवन्तौ स्वोत्प्रेक्षितमदुक्तयोर्ग्राह्यत्वसन्देहरूपं बोधं प्राप्तौ। इति त्रयाणामर्थः।।८०-२।।

अनयोरेषा विपरीतमतिः साक्षाद् भ्रमत्वनिवेदनेन न परिहर्तव्या, मानक्षयेण उत्तरोपदेशाऽनर्हतापत्तेः इत्याह—विपरीतमिति। यन्मयेरितं तद्युवाभ्यां विपरीतं गृहीतम् इति मया कथिते सति एतौ इन्द्रविरोचनौ मानक्षयप्रयुक्तलज्जया खिन्नचित्तौ सन्तौ किञ्चिद् अपि मदुक्तं न बुद्ध्येताम्। तस्मात् केनचिदुपायेन उदाहरणोपन्यासरूपेणैव बोधनीयौ। इति द्वयोरर्थः।।८३-४।। गुरोः शिष्यस्वभावानुसरणस्य न्याय्यतामाह-यादृश इति। शिष्याः सत्त्वादिगुणैः त्रिविधाः—उत्तम-मध्यम-मन्दभेदात्। तेऽपि बुद्धेः तीक्ष्णता-मध्यता-मृदुताभिः प्रत्येकं त्रिविधाः। तत्र 'पाण्डित्यं कार्यसाधनम्' इति न्यायेन चिकीर्षितशिष्यबोधरूपं कार्यं सिषाधयिषता गुरुणा शिष्यानुरूपमाकारादिकं तद्बुद्ध्यनुरोधिनी बुद्धिश्च आहार्यज्ञानावगाहिनी धारणीयेत्यर्थः।।८५।। प्रजापतेस्तात्पर्य-

प्रजापति का भाव था—मैंने चक्षुरादि में साक्षिरूप से स्थित को आत्मा कहा जिसका एकमात्र स्वभाव है स्फुरण, किन्तु अत्यंत मोहग्रस्त ये दोनों उसे न समझकर भ्रम में पड़ गये। गंभीरतम सत्तत्त्व का उपदेश आपाततः जैसा प्रतीत होता है वह तब तक सही नहीं हो सकता जब तक अधिकारी परिपक्व न हो। साधारण साधक तो आपात अर्थ पर काफी शोध करे तभी सही अर्थ बुद्धिगत हो सकता है। किंतु इंद्र-विरोचन खुद को विद्वान् मान बैठे अतः सुनते ही जो उनकी समझ में आया वह ग़लत भी हो सकता है, सही समझे हैं या नहीं आदि सोचना ये ज़रूरी ही नहीं समझ पा रहे। साथ ही उनमें आपसी स्पर्धा भी है : इंद्र सोचता है कि विरोचन को यह न लगे कि इंद्र नासमझ है, देर से समझता है; यही विरोचन सोचता है। इसलिये भी जल्दबाजी में जो आपात अर्थ प्रतीत हुआ उसी को ये ब्रह्मोपदेश मान बैठे। इन्हें समझ आया है कि मैंने छाया को (परछाईं को) आत्मा कहा! तभी इनका प्रश्न है कि सभी छायाएँ आत्मा है या सिर्फ आँख में पड़ने वाली। जब इन्हें उदशराव में देखने को कहूँगा तो इन्हें समझ आ जाना चाहिये कि छाया तो सब तरह बदलती रहती है, उसमें भेद, परिच्छेद रहता है जबकि आत्मा का स्वरूपभूत स्फुरण बाहर-भीतर व किसी समय में बदलता नहीं, भेद वाला, परिच्छिन्न होता नहीं। आत्मा का यह भेदराहित्य जब छाया में नहीं मिलेगा तब ये मुझसे स्पष्टीकरण पूछेंगे तभी इन्हें समझाया जा सकता है।।८०-२।। अगर मैं सीधे ही कह दूँ 'जो मैंने कहा उसे तुम दोनों ने उल्टा ही समझ लिया!' तो ये दोनों शरमा जायेंगे। अत्यंत मूर्ख ये लग ही रहे हैं, शरम से इनका चित्त खिन्न हो जायेगा तो ये कुछ भी समझ नहीं पायेंगे। इसलिये इन दोनों अभिमानियों को किसी तरीके से ही समझाना पड़ेगा।।८३-४।। उत्तम, मध्यम और मंद—तीन प्रकार के शिष्य होते हैं। उन तीनों तरह वालों की बुद्धियाँ भी तीन तरह की होती हैं—तीक्ष्ण, मध्यम और मृदु। चतुराई इसी में है कि जैसी बुद्धि वाला जैसा शिष्य हो, गुरु भी वैसा और वैसी बुद्धि वाला बनकर उसे अपनी शिक्षा ग्रहण कराये क्योंकि गुरु का मुख्य उद्देश्य शिष्य को सही बात सिखाना है, न कि इतना ही कि कठिन रहस्य व्यक्त-भर कर दे। (यद्यपि गुरु जैसा और जैसी बुद्धि वाला है, रहेगा तो वैसा और उसी बुद्धि वाला लेकिन जो उत्तम हो वह न्यूनता का व्यवहार तो कर ही सकता है; कठिन शब्द जानने वाला यदि विद्वान् है—न कि शब्द रटकर बोलने वाला—तो उसी बात को सरल शब्दों में भी कह सकेगा। अतः शिष्य की समझ से ज़्यादा ही ऊँचे स्तर का गुरु हो तो वह कोशिशपूर्वक कम स्तर की बात समझाना प्रारंभ करे, धीरे-धीरे शिष्य का स्तर बढ़ा ले। और अगर शिष्य के स्तर से गुरु का स्तर नीचा हो तो या वह स्वयं प्रयास कर अपना स्तर बढ़ाये अथवा शिष्यों को किसी योग्यतर जानकार के पास भेजे। यह ब्रह्मा जी का भाव था।)।।८५।।

इति बुद्धिं समास्थाय शिष्यप्रियहितार्थकृत्। उक्तवान् भगवान् धाता सर्वत्रैवेति तौ प्रति।
शरावे वीक्षणं तद्वत् स्वात्मनः स्फुरणात्मनः।।८६

ईक्षित्वा विदितौ गत्वा ब्रह्माणं समुपस्थितौ। ब्रह्मा तौ पुनरेवाह दृष्टवन्तौ किमत्र भोः।।८७

देवासुराधिपावेवमुक्तौ ब्रह्माणमूचतुः। पितरं बालकौ यद्वत् सम्मुग्धौ कलभाषिणौ।।८८

आपादमस्तकं देहो नखकेशादिसंयुतः। आत्माभिधः शरावेऽस्मिन्नावाभ्यामवलोकितः।।८९

प्रजापतिविचारः

एवमुक्तः खिन्नचेता ब्रह्मा तौ पुनरब्रवीत् विचारयन्निजे चित्ते शिष्यप्रियहितार्थकृत्।।९०

प्रदर्शनमुपसंहरति—इति बुद्धिमिति। एवंविधाभिप्रायम् आलम्ब्यैव प्रजापतिः तौ इन्द्रविरोचनौ प्रति 'सर्वत्रैव' इति आकारकमुत्तरं दत्तवान्, न तु 'किं भ्राम्यतः ! मया प्रत्यग्वस्तूक्तम्' इत्येवमुक्तवान्। तद्वत् तेनैवाऽभिप्रायेण शरावे स्वात्मनो दर्शनमपि उक्तवान् इत्यर्थः।।८६।।

ततः[1] किंवृत्तम्? इत्याकांक्षायामाह—ईक्षित्वेति। ततस्तौ गत्वा शरावे आत्मानम् ईक्षित्वा च समागतौ विदितौ प्रजापतिना द्वाःस्थमुखात् ज्ञातौ सन्तौ प्रजापतेः समीपे स्थितौ। ततः प्रजापतिरित्थं तौ अपृच्छत्। 'इत्थं' कथम्? युवाम् अत्र शरावे प्रतिबिम्बदर्शने किं तत्त्वं ज्ञातवन्तौ ? इत्यर्थः।।८७।। तत इन्द्रविरोचनौ स्वाभिप्रायं पित्रे बालवत्[2] प्रजापतये निवेदितवन्तौ इत्याह—देवासुराधिपाविति।।८८।। आवाभ्यामात्मसंज्ञो देह एव आपादम् आमस्तकं च विलोकितो यो ब्रह्मचर्येण नखादिमान् इत्याकारं तयोर्वचनं दर्शयति—आपादेति।।८९।।

एवंविधं तयोर्भ्रान्तिरूपकं वाक्यं श्रुत्वाऽऽयासवैफल्येन खिन्नचेताः प्रजापतिः वक्ष्यमाणविचाररूपं भाषणं तावुद्दिश्य मनसैवाऽकरोदित्याह—एवमुक्त इति।।९०।। प्रजापतिविचारमभिनयति—अनयोरिति अष्टभिः।।

शिष्यों को प्रिय लगे और उनका हित भी सिद्ध हो जाये—ऐसा उपाय करने वाले भगवान् विधाता ने पूर्वोक्त विचार कर इन्द्र-विरोचन को 'सभी जगह' यह उत्तर दिया था। सीधे ही यह नहीं कहा, 'क्यों भ्रम में पड़ते हो ! मैंने तो प्रत्यग्-वस्तु कही थी।' इसी प्रकार उन दोनों को बुरा न लगे और रहस्य समझ भी आ जाये इसलिये ब्रह्मा जी ने उन्हें उदशराव में स्वयं को देखने को कहा ताकि ज्ञानरूप व्यापक तत्त्व की ओर उनकी दृष्टि जाये।।८६।।

इन्द्र-विरोचन ने जाकर उदशराव में खुद को देखा और लौटकर ब्रह्मा जी के सामने खड़े हो गये। दोनों में से किसी ने ब्रह्मा जी से कुछ नहीं पूछा ! ब्रह्मा जी को खेद हुआ क्योंकि उन्हें आशा थी कि आत्मा का जो अपरिणामी, अनंत, अमरताप्रद स्वरूप मैंने घोषित किया था उसमें से कुछ भी जब इन्हें छाया में नहीं दीखेगा तो ये इस बारे में शंका करेंगे। दोनों को चुप देखकर स्वयं ब्रह्मा जी ने ही पूछा, 'अरे ! उदशराव में जो प्रतिबिंब दीखा इसमें तुम्हें किस तत्त्व का ज्ञान हुआ ?'।।८७।।

किलकारी मारने वाले सर्वथा नासमझ दुधमुँहे बच्चे जैसे अपने पिता से जो कुछ भी कह देते हैं वैसे उन देवराज-असुरराज ने ब्रह्मा जी से कहा 'नाखून, केश् आदि से युक्त पैर से सिर तक शरीर हमने शराव में देखा जिसे आपने आत्मा बताया।'।।८८-९।।

यह सुनते ही ब्रह्मा जी समझ गये कि उनका उपाय नाकामयाब रहा। खेदपूर्वक उन्होंने विचार किया—इन दोनों की बुद्धियाँ बहुत ज़्यादा मोह से (अविवेक से) आवृत हैं। अत एव ये आत्मा को जैसा मैं बताता हूँ उससे बिलकुल

---

१. 'तौ होदशरावेऽवेक्षांचक्राते। तौ ह प्रजापतिरुवाच—किं पश्यथ इति ? तौ होचतुः—सर्वमेवेदमावां भगव आत्मानं पश्याव आ लोमभ्य आ नखेभ्यः प्रतिरूपमिति।।'१।।

२. यद्वच्मि तत्साधु न वेत्यविचार्य स्तनन्धयो यन्मुखमायाति तद्यथा भणति तथेमावापाततोऽपि यदनुचितं तन्निर्लज्जतयाऽब्रुवतामित्यर्थः।

अनयोर्बुद्धिमोहोऽयं विद्यते सुमहानिह। यावेतौ सर्वथैवैतदन्यथैवावगच्छतः।।६१
छायात्मा स्वीकृतः पूर्वं दृश्यते चक्षुषीति हि। कीर्तिते पुनरप्येष सर्वत्रैवेति चेरिते।
नीरे विलोकनात्तद्वद् देह आत्मेति निश्चितः।।६२
आत्मच्छायां परित्यज्य भिन्नादर्शादिसंश्रयाम्। एवं विचार्य दुश्चित्तौ देहात्मत्वमुपागतौ।।६३
दृश्यते सर्वदा देहः स्वात्मनः परचक्षुषि। आदर्शे च तथाम्ब्वादावेको भेदविवर्जितः।।६४
तत्र तत्र तु या च्छाया सा स्याद् भेदवती सदा। परिमाणादिवैषम्यादात्मा देहश्च नेदृशः।।६५
छायातत्त्वपरित्यागो भेददृष्टिविलोकनात्। आभ्यां कृतो यथा तद्वत् कारयिष्ये वपुष्यपि।।६६
नखकेशादिसहितं मलिनं च कुवाससम्। दृष्टवन्तौ पुरा देहमेतौ नीरशरावके।।६७
नखकेशादिरहिताविदानीं स्नानसंयुतौ। निरीक्ष्य भेदतो देह आत्मत्वं त्यक्षतस्त्विमौ।।६८

अनयोः इन्द्रविरोचनयोः बुद्धिमोहको दोषः सुमहान् विचित्ररूपो यद्बलाद् एतौ एतद् मदुक्तं सर्वथा सूक्ष्म-मध्यमृदुप्रकारैः प्रवृत्तमपि अन्यथा विपरीतार्थपरतयैव अवगच्छतः जानीतः।।६१।। एतदेव स्फुटयति—छायात्मेति। हि यतः प्रथमं मया सूक्ष्मरीत्या 'चक्षुषि दृश्यते' इति कीर्तिते सति एताभ्यां छायात्मा गृहीतः। पुनरपि मध्यविधया 'सर्वत्र' एतावति वचने मया ईरिते सति एष च्छायात्मा एव गृहीतः। अथ मृदुप्रकारे नीरविलोकने उपदिष्टे सति देह आत्मत्वेन एताभ्यां निश्चित इत्यर्थः।।६२।।

परन्तु एतावन्नीरविलोकने फलं लब्धं यत् परिणामित्वदोषालोचनेन छायायामात्मबुद्धिं परित्यज्य ततः प्रतीचि देह आत्मबुद्धेरवतार इत्याह—आत्मच्छायामिति त्रिभिः। एतौ दुश्चित्तौ एवं विचारेण भिन्नेषु आदर्शादिषु स्थितामात्मनो देहस्य च्छायां परित्यज्य देह आत्मत्वम् उपागतौ निश्चितवन्तौ।।६३।। 'एवं'-पदोक्तं विचारप्रकारमभिनयति—दृश्यत इति। अयं देहः भेदविवर्जित एव। अत एव एकश्च स्वात्मनः द्रष्टुः देहात् परस्य देहस्य चक्षुषि दर्पणे अम्ब्वादौ जलादौ च दृश्यते तत्र तत्र प्रतिबिम्बस्थानेषु या च्छाया सा तु परिमाणरूपादिभिः भेदवती स्यात् ततो देह एव आत्मा यतो नेदृशः छायावद् भेदशाली न भवति। इति द्वयोरर्थः।।६४-५।।

अनुग्रहेण तयोर्देहादपि विवेकायोपायान्तरं प्रजापतिश्चिन्तयति—छायेति त्रिभिः। यथाऽऽभ्याम् इन्द्रविरोचनाभ्यां छायायां तत्त्वस्य आत्मत्वस्य परित्यागः कृतः, कुतः ? भेदस्य नानारूपत्वस्य या दृष्टिः प्रकारतयाऽवगाहनं तच्छालिनो विलोकनाद् विशिष्टज्ञानात्, तथा देहेऽपि आत्मत्वस्य परित्यागमेताभ्यां कारयिष्यामीत्यर्थः।।६६।। कथम् ? इत्यपेक्षायामाह—नखेति। पूर्वमेताभ्यां ब्रह्मचर्येण नखादिशाली देहो दृष्ट इदानीं क्षौरस्नानाभ्यां नखादिरहितौ सन्तौ देहं पश्येतां ततः पूर्वावस्थातो भेदं निरीक्ष्य परिणामिनि देह आत्मभ्रमं त्यक्षतः त्यक्तं करिष्यतः। इति द्वयोरर्थः।।६७-८।।

उलटा ही समझते हैं ! मैंने कहा 'आँख में दीखता है' तो इन्होंने छाया समझी; फिर मैंने बताया 'सभी जगह' तब भी इन्हें छाया ही समझ आयी; उदशराव में देखने को कहा तो अब ये निश्चय कर आये हैं कि शरीर आत्मा है !।।६०-२।।

फिर भी इतना लाभ हुआ कि विभिन्न दर्पणादि में पड़ती शरीरछाया छोड़कर इन मूर्खों ने कुछ सोचकर यह समझा कि शरीर आत्मा है।।६३।।

इन्होंने यह विचार किया होगा कि दूसरे की आँखों में, दर्पण में, जल आदि में किसी भेद के बिना हमेशा दीखने वाला अपना शरीर ही है, अतः यही एक है जो आत्मा है, परछाइयाँ तो अलग-अलग होती हैं, बदलती रहती हैं अतः आत्मा नहीं।।६४-५।। छायाओं का बहुत्व देखकर इन्होंने यह भाव छोड़ा कि छाया आत्मा है, इतना इन्हें समझ आया कि आत्मा अनेक नहीं एक होना चाहिये। अब इनकी इसी समझ के सहारे मैं इनकी यह बुद्धि भी हटाने की कोशिश करता हूँ कि शरीर आत्मा है।।६६।।

पुनरीक्षणाज्ञा

एवं विचार्य भगवान् इदमाह प्रजापतिः। स्नातौ सुवसनौ भूत्वा कृत्तकेशनखावपि।।
साध्वलङ्कारसम्पन्नौ युवामिन्द्रविरोचनौ।।९९
नीरपूर्णे शरावेऽस्मिन्नात्मानमभिवीक्ष्य हि। पुनरागत्य मां ब्रूतं युवाभ्यां दृश्यते हि यत्।।१००

नाऽज्ञासिष्टाम्

एवमुक्ते तथा कृत्वा पुनरेत्य प्रजापतिम्। ऊचतुर्देह आत्मत्वं सुस्थितं परिगृह्य तौ।।१०१
यथाऽयमावयोरात्मा देह एव प्रजायते। तथा नीरशरावेऽस्मिन्नावाभ्याममिवीक्षितः।।१०२

उपायान्तरम्

प्रजापतिः पुनर्ज्ञात्वा तयोरज्ञत्वमीश्वरः। इदं विचारयामास मनसैव महामनाः।।१०३

एवमालोच्य प्रजापतिना दत्तां[1] तयोः पुनर्नीरविलोकनाज्ञामभिनयति—एवं विचार्येति। कृत्तं छिन्नं केशादिकं याभ्यां तौ तथा। स्फुटमन्यद् द्वयोः।।९९-१००।। तयोस्तु दोषेण अयमपि उपायः फलविपर्यासं नीतः, देहात्मदृष्टेरेव दृढी करणाद् इति[2] दर्शयति—एवमुक्त इति। तथा स्नानादिपूर्वकं नीरशरावे आत्मदर्शनं कृत्वा तेन च सुस्थितं दृढं देहगतम् आत्मत्वं गृहीत्वा पुनः प्रजापतिसमीपम् एत्य इदम् ऊचतुः। 'इदम्' किम् ? यथा च देह एवावयोरात्मा प्रजायते सिद्ध्यति तथाऽऽवाभ्यां नीरपात्रे आत्मा वीक्षितः। इति द्वयोरर्थः।।१०१-२।।

एतत् श्रुत्वा प्रजापतेरुपायान्तरसिद्ध्यर्थां चिन्ताम् अवतारयति—प्रजापतिरिति। तयोरज्ञत्वं भ्रमदार्ढ्यं पुनः अपि दृष्ट्वा इदं मनस्येव चिन्तितवान्।।१०३।। 'इंद'-पदोक्तं प्रजापतिविचारं वर्णयति—अन्वयेति अष्टभिः।

उदशराव में अभी ये जिस शरीर को देखकर आ रहे हैं यह बढ़े हुए नख-केश आदि वाला, मैला और मैले कपड़ों वाला है (क्योंकि ब्रह्मचर्यनियमों से रहने के कारण इन्होंने केश-नखादि बनवाये नहीं और मिट्टी आदि लगाकर नहाये नहीं, कपड़े भी राख आदि से नहीं धोये)।।९७।। अब ये जब स्नान करके बढ़े हुए नख-केश आदि से रहित शरीर की छाया देखेंगे तो देह में आत्मबुद्धि भी छोड़ देंगे (क्योंकि इन्हें समझ आयेगा कि देह में तो परिवर्तन आ गया अतः यह अपरिणामी आत्मा नहीं हो सकता)।।९८।।

यह विचारकर भगवान् प्रजापति ने यह आज्ञा दी—'इन्द्र और विरोचन ! तुम दोनों अपने बढ़े हुए केश, नख आदि बनवा लो, अच्छी तरह स्नान करो, साफ कपड़े पहनो, सुंदर गहनों से सजो, तब आत्मा को इस जलपूर्ण उदशराव में पूरी तरह देखकर फिर मेरे पास आओ और जो दीखता है वह बताओ।'।।९९-१००।।

दोनों ने वैसा ही किया और 'देह ही आत्मा है' यह और दृढ समझ कर प्रजापति के पास आकर बोले, 'हमारा यह शरीर ही आत्मा सिद्ध होता है—यह बात जैसे निश्चित होती है वैसे हमने इस जलपूर्ण शराव में आत्मा को देखा है।'।१०१-२।।

इस उत्तर से प्रजापति समझ गये कि इन्द्र-विरोचन का भ्रम बहुत दृढ है, उनका अज्ञान मिट नहीं रहा। उन

---

१. 'तौ ह प्रजापतिरुवाच—साध्वलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ भूत्वोदशरावेऽवेक्षेथाम्—इति।'

२. 'तौ ह साध्वलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ भूत्वोदशरावेऽवेक्षां चक्राते। तौ ह प्रजापतिरुवाच—किं पश्यथ इति।।२।। तौ होचतुः—यथैवेदमावां भगवः साध्वलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ स्व एवमेवेमौ भगवः साध्वलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ—इति। एष आत्मेति होवाच, एतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति। तौ ह शान्तहृदयौ प्रवव्रजतुः।।३।।'

अन्वयव्यतिरेकाभ्यामात्मनः प्रतिपादनम्। मयैतयोरुपक्रान्तं शिष्ययोरल्पमेधसोः।।१०४

**अन्यत्रैवाऽत्र देहस्य नखकेशादिभिः कृतः। सत्त्वेन वाऽप्यसत्त्वेन तथा ताभ्यामनिश्चितः।।
प्रत्युतात्मैव देहोऽयं विशेषादवधारितः।।१०५**

देह आत्मनि यद्यद्धि क्रियते संस्क्रियादिकम्। छायात्मनो भवेत्तत्तन्न स्वतोऽस्यास्ति किञ्चन।।१०६

आत्मा ततोऽत्र देहोऽयं न च्छायात्माऽनुकारकृत्। देहे सति च लोकेऽस्मिन् सुखं भवति देहिनाम्।।१०७

**इति बुद्धिं समाश्रित्य देह आभ्यां दृढात्मता। स्वीकृताऽतस्तयोर्बुद्धिं समाश्रित्याप्यहं पुनः।।
देहात्मतायाः प्रच्याव्य नयामि स्फुरणं प्रति।।१०८**

अन्वय आत्मनः सर्वत्रानुगमो, व्यतिरेको दृश्यानामागमापायशालिता तयोर्दर्शनेन एतौ शिष्यौ प्रति आत्मबोधनं मया प्रारब्धम् इत्यर्थः।।१०४।। अन्यत्रैवेति। तथाऽत्र नीरविलोकनोदाहरणे देहस्य धर्मभूतैः नखकेशादिभिः क्षौरपूर्वोत्तरकालयोः सत्त्वाऽसत्त्वशालितया दर्शितैः आत्मा देहाद् अन्यत्र एव कृतः स्फुटं भिन्नतया निरूपित इति यावत्। परन्तु एताभ्यां मच्छिष्याभ्यां तथा देहात् पृथक्त्वेन अनिश्चितो न ज्ञातः प्रत्युत विपरीतम् अयं देह एव आत्मत्वेन अवधारित इत्यर्थः।।१०५।। तथापि परिगृहीतयोः अनयोः अनुपेक्ष्यत्वाद् इदानीमेवं क्रियते यदेताभ्यां देहधर्माणां छायायामारोपितत्वं विज्ञाय च्छायाया आत्मत्वं विसृज्य देहात्मत्वं गृहीतं, तथा यदीया अमरत्वादिधर्मा देहे समारोप्यन्ते स आत्मेति बोधयितुम् आत्मधर्मान् अमरत्वादीन् कीर्तयिष्यामि इति चिन्तयति—देह इत्यादिना। संस्क्रिया चन्दनलेपादिरूपा आदिपदेन मालिन्यग्रहः। एतत्सर्वं छायास्वरूपे तदेव भवति यद् देहे क्रियते, न तु किञ्चिदपि स्वतः स्वभावतो भवतीत्यर्थः।।१०६।। आत्मेति। ततो वास्तवसंस्काराद्याश्रयत्वाद् देह एव आत्मा भवति, न च्छाया यतः साऽनुकारस्य आरोपितपरधर्मसेवनस्य कर्त्री तथा सुखसाक्षात्कारलक्षणं फलमपि देहे सति एव दृश्यते, न च्छायायाम् इति एवं देहोत्कर्षावगाहिनीं बुद्धिं समाश्रित्य एताभ्यां देहात्मता दृढा स्वीकृता अत एनं तर्कं समालम्ब्य वर्तमानामनयोर्बुद्धिं समाश्रित्य अनुसृत्य अप्यहम् एतौ शिष्यौ देहात्मतायाः प्रच्याव्य चलितौ कृत्वा स्फुरणरूपमुख्यात्माभिमुख्यं नयामि। इति द्वयोरर्थः।।१०७-८।। कथम् ? इत्यपेक्षायामाह—देह।

महामना प्रजापति ने मन में ही विचार किया :।।१०३।। मेरे ये शिष्य कम मेधावी हैं। इन्हें आत्मतत्त्व समझाने के लिये मैंने अन्वय-व्यतिरेक की युक्ति का सहारा लिया; यह समझाने की कोशिश की कि आत्मा की सर्वत्र व्यापकता है और सभी दृश्य आगमापायी हैं।।१०४।। आत्मा स्थूल देह से अन्य ही है इसे प्रस्फुट करने के लिये मैंने उदशराव में परछाई दिखायी; पहली बार नख-केशादि दीखे, दूसरी बार वे नहीं दीखे जिससे समझना चाहिये था आने-जाने वाले धर्म शरीर के हैं अतः वह अपरिणामी नित्य आत्मा नहीं है। किंतु मेरा प्रयास विपरीतफलक रहा क्योंकि मेरे इन शिष्यों ने उसी अनुभव से यही दृढतापूर्वक समझा कि शरीर आत्मा है !।।१०५।। शिष्यरूप से स्वीकार लिया है तो इनकी उपेक्षा करना भी उचित नहीं। इन्हें जब समझ आया कि छाया में देहधर्म आरोपित हैं तब इन्होंने छाया को आत्मा मानना छोड़कर शरीर को आत्मा समझा। अब मैं पुनः आत्मा की विशेषताएँ सुनाऊँ तो इन्हें पता लगेगा कि देह में वस्तुतः वे विशेषताएँ नहीं हैं, आरोप से ही प्रतीत होती हैं अतः देह के बजाय साक्षी को ये आत्मा समझ सकेंगे। छायारूप आत्मा में वही सजावट आदि होती है जो देहरूप आत्मा पर की जाती है, खुद छाया में स्वभाव से कोई सजावट आदि नहीं होती। इसी से देह को इन्होंने आत्मा समझा, देह का अनुकरण करने वाली छाया को नहीं। सुख आदि का अनुभव भी शरीर में होता है, न कि छाया में; इससे भी छाया छोड़कर देह इन्हें आत्मा प्रतीत हुआ। इनकी इस विचारसरणि के अनुसार ही मैं इन्हें देह की अपेक्षा चिन्मात्र को आत्मा समझाऊँ तभी ये कृतार्थ हो सकेंगे।।१०६-८।।

देहोऽयं म्रियते स्थूलो यतो जन्मादिधर्मवान्। भयं च वैरिणो गच्छेत् परिच्छिन्नश्च दृश्यते।।१०९
अपरिच्छिन्नममृतमभयं स्फुरणं च यत्। उभाभ्यां सर्वपर्यायदृष्टं देहादिसंश्रयम्।।११०
अतो धर्मानिमान् वक्ष्ये देहेऽसम्भावितान् सदा। वीक्ष्य तान् देह आत्मत्वं त्यक्ष्यतः स्वयमेव हि।।१११
इत्थं विचार्य तावूचे एष आत्माऽमृतोऽभयः। ब्रह्म यत् सर्वपर्यायैर्युवाभ्यामनुभूयते।।११२

उपायवैकल्यम्

एवमुक्तावुभौ तेन प्रभू इन्द्रविरोचनौ। प्रतिपन्नौ पुनर्देह आत्मत्वं सर्वथैव तु।।
अमृतत्वादिकं तस्य मेनाते एवमेव हि।।११३
रसायनादयः सन्ति देहस्यामृतताकराः। उपायास्तैरयं देहो जरामरणवर्जितः।।११४

इति। यतो देहः स्वभावतो जन्मादिविकारैः भयेन परिच्छेदेन च विशिष्टो दृश्यते, तस्यामरत्वादिकं च यत्तादात्म्यारोपेण भाति तत् स्फुरणम् अपि उभाभ्याम् एताभ्यां सर्वेषु मदुपदेशपर्यायेषु दृष्टम् एव। तत्र हेतुगर्भं विशेषणं देहादिसंश्रयमिति देहादिषु आध्यासिकसम्बन्धेन अनुगतमिति तदर्थः। न हि स्फुरणभावं विना किञ्चिदपि भाति इत्यर्थः।।१०९-१०।। अत इति। अतः छायादेहविवेकन्यायस्य देहस्फुरणयोः योजयितुं शक्यत्वाद् अधुना देहेऽसम्भावितान् आरोपमन्तराऽनुपपद्यमानान् अमृतत्वादिरूपान् स्फुरणस्य धर्मान् वक्ष्ये प्रतिपादयामि। यान् धर्मान् वीक्ष्य स्फुरणस्य स्वाभाविकान् आलोच्य एतौ देहे दृष्टम् आत्मत्वं त्यक्ष्यतः प्रहास्यत इत्यर्थः।।१११।।

एवं विचार्य प्रजापतिना प्रयुक्तं वाक्यमभिनयति—इत्थमिति। तौ प्रति ऊचे उक्तवान् प्रजापतिः। किमूचे? इत्यतआह—एष इत्यादि। एष स्फुरणरूप आत्मा मरणभयपरिच्छेदैर्हीनो यत आत्मनः स्फुरणलक्षणं स्वरूपं सर्वैर्मदुपदेशक्रमैः युवाभ्याम् अनुभूतमिवेति शेषः, तस्य विवेकेन अविज्ञानाद् इत्यर्थः।।११२।।

एषोऽपि प्रजापत्युपदेशः तयोर्देहात्मतामेव अद्रढयत्। न च देहेऽमृतत्वादीनामनुपपत्तिः, उपायविशेषैस्तेषामपि ताभ्यां साध्यत्वस्य मन्यमानत्वाद्। इति दर्शयति—एवमुक्ताविति। तेन प्रजापतिना एवं पुनः उक्तौ अपि प्रभू देवाऽसुरराजौ देहनिष्ठम् आत्मत्वं सर्वथैव प्रतिपन्नौ निश्चितवन्तौ हि यतः तस्य देहस्य अमृतत्वादिकम् एवं वक्ष्यमाणप्रकारेण तौ मेनाते स्वी चक्रतुरित्यर्थः।।११३।।

ताभ्यां देहात्मवादे प्रजापतिवाक्यानां यथा समन्वयः कृतस्तं प्रकारं वर्णयति—रसायनादय इति ऊनविंशतिश्लोकैः। जरारोगहरमौषधं रसायनम्; तथा च विश्वप्रकाशः 'रसायनं विडङ्गे स्याज्जराव्याधिजिदौषधौ' इति। आदिपदेन मन्त्रकल्पादीनां ग्रहः। एते उपाया देहस्य अमृतत्वहेतवः सन्ति यतः तैः उपायैः अयं

यह स्थूल शरीर जन्म आदि धर्मों वाला है अतः मरता है ही, भयग्रस्त और सीमित भी है। इससे विलक्षण है आत्मा जो स्फुरणरूप है, असीम, अमृत और अभय है। देहादि में ये विशेषताएँ अध्यासवश ही भ्रम से प्रतीत होती हैं। मैंने अब तक जो उपदेश दिये उन सभी में इन्होंने उस ज्ञानस्वरूप को भी समझा तो है ही जिससे एकमेक होने के कारण देहादि में आत्मबुद्धि बनी रहती है।।१०९-१०।। जैसे इन्होंने छाया से विवेक कर देह को आत्मा समझा वैसे देह से विवेक कर स्फुरण को आत्मा समझ सकें इसलिये अब मैं स्फुरण के वैसे धर्म बताता हूँ जो आरोप के बिना शरीर में संभव ही न हों ताकि ये देह में आत्मबुद्धि छोड़ कर उसे ही आत्मा समझें जिसमें ये धर्म स्वाभाविक हैं।।१११।।

यों सोचकर प्रजापति बोले 'यह स्फुरणरूप आत्मा मृत्यु से, भय से और सीमाओं से वर्जित है। मैंने जो-जो उपदेश दिये उनमें तुमने इस आत्मा को समझा ज़रूर लेकिन विवेक-से नहीं, शरीरादि से मिला-जुलाकर ही समझा, आत्मधर्मों को शरीर का धर्म समझा। वस्तुतः यह स्फुरण (ज्ञान) ही ब्रह्म है, सर्वव्यापक सच्चिदानंद है।'।।११२।।

भवेदतोऽमृतत्वं स्यादस्य देहस्य सर्वथा। तदर्थं तत एवैष यत्नः कार्यो महात्मभिः ।।११५

अमृतो न भयं गच्छेद् वैर्यादिभ्यः कथंचन। मृतिहेतोर्यतः प्रोक्तं भयं सर्वशरीरिणाम् ।।११६

अभयश्च भवेद् ब्रह्म योगौषधनिषेवणात्। पुमान् भवेन्मृगोऽप्यश्वो हस्ती वा महिषः पुमान् ।।
स महान् पर्वताकारः पर्वतो वा क्षणादयम् ।।११७

आत्मा ततोऽत्र देहोऽयं सर्वपापविवर्जितः। विजरश्च विमृत्युश्च भवेदेष उपायतः ।।११८

विशोकश्च भवेन्नित्यं जरामरणवर्जनात्। क्षुत्पिपासादिरहितो मन्त्रौषधबलादपि ।।११९

एवंभूतं य आत्मानं देहं कुर्यात् पुमानिह। सर्वाँल्लोकांस्तथा कामान् स आप्नोति न संशयः ।।१२०

देहः जरादिरहितो भवेत्। अतो रसायनाद्युपायैः अमृतत्वमस्य स्थूलस्यापि देहस्य सम्भवति तत इह सम्भवादेव तदर्थम् अमृतत्वार्थं यत्न उक्तरूपः कार्यः। इति द्वयोरर्थः।।११४-५।। अमृतत्वसिद्धौ त्वभयत्वमर्थादेव सिद्ध्यति। न हि मृतिहेत्वभावे भयं युज्यत इत्याह—अमृत इति।।११६।। ब्रह्मत्वं त्वस्य देहस्य अभयत्वेन बोध्यम्, बृहिधातूक्तवृद्धेः सङ्कोचाऽभावरूपत्वात् सङ्कोचस्य च भयनिमित्तकताप्रसिद्धेः। अथ वा नानारूपधारणसामर्थ्यरूपा वृद्धिः तदर्थः। साऽपि सम्भवति, योगौषधसेवाबलेन पुरुषमृगाश्वहस्तिमहिषादिरूपाणां पुरुषत्वेऽपि पर्वतसमाकारत्वस्य प्रसिद्ध-पर्वतरूपस्य वा धारयितुं शक्यत्वाद् इत्याह—अभयश्चेति।।११७।।

उपक्रमे प्रजापत्युक्तलक्षणानामपि सम्भवाद् अयं देह एवात्मा इत्याह—आत्मेति। उपायतो योगादिरूपाद् निष्पापत्वादिकमपि अस्य सम्भवतीत्यर्थः।।११८।। जरादिराहित्ये विशोकत्वं मन्त्रादिबलात्क्षुधादिराहित्यं च भवतीत्याह—विशोक इति।।११९।। 'विजिज्ञासितव्य' इति पदे ज्ञाधातुना कृतिर्लक्ष्यते सर्वलोककामाप्तिरूप-फलसमभिव्याहाराद् इति दर्शयति—एवंभूतमिति। एवंभूतम् अमृतत्वादिशालिनं देहं यः कुर्यात् स स्वबलेन सर्वान् लोकान् कामांश्च जयेदित्यर्थः।।१२०।।

देव-असुरों के राजा इन्द्र-विरोचन को जब ब्रह्मा जी ने उक्त तरह से समझाया तब भी उनका यही निश्चय पक्का हुआ कि देह ही आत्मा है ! शरीर में अमरता आदि को उन्होंने इस तरह संगत किया :।।११३।। देह को अमर बनाने वाले रसायन आदि प्रसिद्ध उपाय हैं जिनसे स्थूल देह भी बुढ़ापे-मृत्यु आदि से रहित हो सकता है।।११४।। इसी दृष्टि से ब्रह्मा जी ने इसे अमर कहा है। अतः महात्माओं को चाहिये कि औषधादि के उपयोग से शरीर को अमर बनायें।।११५।। सभी शरीरधारियों को भय उसी से होता है जो उनके मरण का हेतु बने अतः जब शरीर अमर हो जायेगा तब दुश्मन आदि से किसी तरह का डर नहीं रहेगा। इसी से ब्रह्मा जी ने आत्मा को अभय कहा है।।११६।। अभय हो जाने पर शरीर ही ब्रह्म है क्योंकि ब्रह्म मायंने जो संकुचित न हो और संकोच में हेतु भय ही होता है। या अनेक रूप धारण करने की सामर्थ्य वाले को ब्रह्म कहते हैं। योगाभ्यास और औषधसेवन से पुरुष मृग, घोड़ा, हाथी, भैंसा आदि कुछ भी बन सकता है अथवा पुरुष रहते हुए भी पहाड़ के आकार का बहुत विस्तृत बन सकता है या फिर पर्वत का रूप ही धारण कर सकता है। इन्हीं दृष्टियों से इस शरीर को ब्रह्म कहा है।।११७।। इन हेतुओं से निश्चित है कि अपनी घोषणा में ब्रह्मा जी ने जिसे सब पापों से रहित, बुढ़ापाहीन, अमर आत्मा कहा था वह यह स्थूल शरीर ही है, योग आदि उपायों से इसे ऐसा बना लेना चाहिये।।११८।।

बुढ़ापा-मृत्यु से रहित होने पर शोकरहित होना स्वाभाविक है तथा मन्त्र और औषधि के बल से भूख-प्यास आदि से भी यह रहित बन सकता है।।११९।। जो तो ब्रह्मा जी ने कहा था कि इस आत्मा को जानने की इच्छा करनी चाहिये उसका मतलब यही है कि आत्मा को उक्त ढंग का बनाने की कोशिश करनी चाहिये। जो शरीर को ऐसा बना लेता है वह सब लोकों पर विजय पा लेता है और उसकी सारी कामनाएँ पूरी हो जाती हैं। यही ब्रह्मघोषणा

छायादिदर्शनादात्मा देहो मरणवर्जितः। पापशोकभयाद्यैश्च रहितो ब्रह्मणेरितः।।१२१
शस्त्राग्न्याद्यैर्न हि च्छाया[1] विनश्यति कदाचन। न पापं च न शोकश्च भयं नास्याश्च विद्यते।।१२२
वर्द्धन्तीव भवेदेषा सर्वदा प्रातरादिषु। देहोऽपि च तथैवायं सर्वेषामिह देहिनाम्।।१२३
हेतुनाशाद् यथा च्छाया नाशमायात्यनश्वरी। हेतुनाशात्तथा देहो नाशमायात्यनश्वरः।।१२४
हेतुर्यथात्मा देहोऽयं छायायाः परिकीर्तितः। देहस्याऽपि तथा हेतुः कीर्तितं धातुसप्तकम्।।१२५
दोषत्रयस्य संक्षोभाद् बाह्यान्तरनिमित्ततः। विनाशयेदिमं देहं संक्षुब्धं धातुसप्तकम्।।१२६
मन्त्रौषधादिसेवातो निमित्तप्रतिबन्धनात्। वातपित्तकफाः क्षोभं न गच्छन्ति कदाचन।।१२७
तेषां क्षोभं विना नाऽपि शस्त्राग्न्यादिसमागमः। त्वगादयोऽपि न क्षोभं व्रजन्तीह कदाचन।।१२८
यदा न क्षोभमायान्ति त्वगाद्याः सप्तधातवः। देहनाशस्तदा न स्याद् दाहच्छेदभिदादिना।।१२९

चक्षुषि नीरशरावे प्रतिबिम्बदर्शनोपदेशेन च प्रजापतिना देहस्यैव नित्यत्वादिकं दृष्टान्तेनोक्तमिति तयोराशयं वर्णयति—छायादीति। छायाया आदिपदग्राह्य-तत्कारणस्य च दर्शनाद् उदाहरणाद् देहस्य मरणादिवर्जितत्वमेव प्रजापतिनोक्तमित्यर्थः।।१२१।। कथम् ? इत्यपेक्षायां तदुपपादयति—शस्त्रेति। यथा शस्त्रादिप्रहारैः नाशः पापं शोकश्च—एते पदार्थाः छायायां न भवन्ति तथा देहेऽपि यथा न स्युः तथा यतितव्यमित्यर्थः।।१२२।। वर्द्धन्तीवेति। यथा च पूर्वाह्णेऽपराह्णे च च्छाया वृद्धिं याति तथा यो वर्द्धते स देह आत्मेति दर्शितमित्यर्थः।।१२३।। हेत्विति। यथा च च्छायायाः स्वभावतो विनाशहीनाया नाशो हेतुनाशोपाधिकः तथा देहस्यापि बोध्य इत्यर्थः।।१२४।। दृष्टान्ते दार्ष्टान्तिके च हेतुत्वं दर्शयति—हेतुर्यथेति। यथा छायायाः कारणम् आत्मत्वेन प्रसिद्धो देहः तथा देहस्य कारणं त्वगसृगादिधातूनां सप्तकमित्यर्थः।।१२५।। दोषेति। तच्च धातुसप्तकं प्रहाररोगाद्यैः बाह्यान्तरनिमित्तैः कफवातपित्तानां क्षोभे सति संक्षुब्धम् अन्यथाभावं गतं सत् शरीरं विनाशयतीत्यर्थः।।१२६।। यथा च बिम्बस्थैर्येण छायायाः स्थैर्यं भवति तथा मन्त्रौषधादिसेवया प्रहारादीनां प्रतिबन्धे कृते सति कफादिक्षोभाभावेन धातुसप्तकस्य स्थैर्यं सम्पाद्यमित्याह—मन्त्रौषधादीति द्वाभ्याम्। निगदव्याख्यातं द्वयम्।।१२७-२८।। ततो देहस्य अमृतत्वादिकं स्वयमेव सिद्ध्यतीत्याह—यदेति।।१२९।।

में अभिप्रेत था।।१२०।। छाया आदि दिखाने से भी ब्रह्मा जी ने यही बताया कि देह अमर, निष्पाप, अशोक, अभय आदि है।।१२१।। छाया शस्त्र, अग्नि आदि से कभी विनष्ट नहीं होती, उसे कभी पाप, शोक, भय आदि नहीं होते। शरीर की भी यही स्थिति हो जाये इसके लिये प्रयास करना चाहिये।।१२२।। जैसे सुबह और दोपहर-बाद छाया हमेशा बढ़ती ही है वैसे ही सब देहधारियों का स्थूल शरीर बढ़ता रहता है अतः यही आत्मा है।।१२३।। छाया स्वभाव से नष्ट नहीं होती, हेतुनाशरूप उपाधि से ही छाया का नाश होता है। देह भी नाशवान् स्वतः नहीं है वरन् उसके हेतुओं के नाश से ही देह का नाश होता है।।१२४।। छाया का हेतु बिम्बभूत देहरूप आत्मा है तो देह का भी हेतु त्वक् आदि सात धातु हैं जिनके नाश से देहनाश होता है।।१२५।। बाहरी या भीतरी निमित्त से कफादि दोषों का संतुलन बिगड़ने पर धातु विकृत होकर इस शरीर को नष्ट कर डालते हैं।।१२६।। बिम्ब, दर्पण आदि स्थिर हों तो छाया भी स्थिर रहती

१. नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणीत्याद्यात्मधर्माणां छायायां कश्चिद् यद्यतिव्याप्तिं चोदयेत्तदा ('फोटो'-ऽभिधायां) चित्ररूपच्छायायां शस्त्रच्छेदनादिदर्शनात् प्रत्याख्येयमित्यस्मद्गुरूणामाशयः। किं च 'नित्यः सर्वगत' इत्यादिवाक्यशेषाद् नित्यतादिसमानाधिकरणाऽच्छेद्यतादेरेवात्मधर्मताया विवक्षणादनवसरः शङ्काया इति स्पष्टी कुर्वन्ति।

जलवद् वह्निमध्ये स्यात् शीतलोऽयं शरीरिणः। मन्त्रौषधादिसिद्धस्य देहो नीरे तथैव च।।१३०
पाषाणवच्च भूमौ स्याद् भूसमो नीरवच्च वा। वायौ वायुसमस्तद्वद् गगने गगनोपमः।।१३१
पञ्चभूतैश्च सादृश्यं भूतानां धारणादिभिः। प्रयाति तत एवाऽयं शस्त्रैरपि न भिद्यते।।१३२
बाणादीनां सहस्राणि भिन्द्युर्यद्वज्जलादिकम्। भेदेऽपि च तथैव स्याद् देहः सिद्धस्य सर्वदा।।१३३
इत्यादिकुधियाविष्टौ दृष्टशास्त्रविमोहितौ। देहस्यैवात्मतां सम्यग्बुबुधाते उभावपि।।१३४
बुद्ध्वा देहात्मतां दुष्टावुभाविन्द्रविरोचनौ। प्रसन्नमानसौ भूत्वा जग्मतुर्ब्रह्मणो गृहात्।।१३५
प्रजापतिं नमस्कृत्य कृतकृत्यौ महाबलौ। तावुभावननुज्ञातौ ब्रह्मणा मौनिना ततः।।१३६

प्रजापतेः खेदोक्तिः

निर्यान्तौ वीक्ष्य भगवानिदं वचनमब्रवीत्। इमौ हि पण्डितंमन्यौ देवासुरपती उभौ।
महाबलौ महाप्राज्ञाविति लोके प्रथां गतौ।।१३७

योगादिना सिद्धदेहस्य दाहाद्ययोग्यतां स्फुटयति—जलवदिति त्रिभिः। स्पष्टं द्वयम्।।१३०-१।। पार्थिवादिधारणाभिः वसिष्ठसंहिताद्युक्ताभिः शरीरस्य तत्तद्भूतसादृश्यमपि तस्याऽमरतादिप्रयोजकमित्याह—पञ्चभूतैरिति।।१३२।। भूतसाम्ये सति फलद्वयं भवति—शस्त्राद्यैरभेदो वा, भेदे सति पुनस्तथाभावो वा इत्याह—बाणादीनामिति। यथा जलादिकं बाणाद्यैर्भिद्यमानं पुनः तथा भवेत्, तथा योगसिद्धस्य देहः अपीत्यर्थः।।१३३।।

एतादृशकुबुद्धियुक्तौ तौ देहात्मत्वं दृढी कृतवन्तावित्याह—इत्यादीति। दृष्टशास्त्रम् अर्थशास्त्रं कामशास्त्रं च तेन दूषितचित्ताविति।।१३४।। बुद्ध्वेति। दुष्टौ दूषितचित्तौ तौ एवं देहात्मतां बुद्ध्वा कृतकृत्यमानिनौ प्रजापतिं नमस्कृत्य तेन प्रजापतिना मौनस्थितेन अननुज्ञातौ एव ब्रह्मणो गृहात् जग्मतुः प्रतस्थतुः। इति द्वयोरर्थः।।१३५-६।।

निर्यान्ताविति। तौ निर्गच्छन्तौ विलोक्य ब्रह्मा इदम्[1] आह[2]। 'इदं' किम्? इमौ देवासुरपती मानस्पर्द्धामदैः

है; ऐसे ही मंत्र, दवा आदि के सेवन से और चोट आदि के रोक-थाम की व्यवस्था से देह को स्थायी रख सकते हैं। वात आदि कभी कुपित न हों और शस्त्र-अग्नि आदि के वार से त्वक् आदि में विकार न आये तो देह कभी नष्ट नहीं होगा। जलने, कटने, फटने आदि से संभावित नाश सुरक्षाव्यवस्था से रोका जा सकता है। इस प्रकार आत्मा को जो अमर आदि कहा है वह सब शरीर में घट जाने से इसे ही प्रजापति ने आत्मा बताया है।।१२७-९।। मंत्र, औषध आदि के प्रयोग से संस्कार किया शरीर आग में भी जल की तरह ठण्डा, पानी में पत्थर जैसे न गलने वाला, पृथ्वी पर धूल-सा, वायु में वायु जैसा और गगन में गगन-समान निर्विकार हो जाता है।।१३०-१।। पाँचों महाभूतों की धारण, क्लेदन आदि विशेषताओं के समान विशेषताएँ शरीर में आ जाने से शस्त्र आदि से इस पर असर नहीं पड़ता।।१३२।। हज़ारों बाण जल, वायु आदि को चीर डालें तो भी तत्काल जल आदि यथावत् हो जाते हैं, ऐसे ही जिसने सिद्धि पा ली उसके शरीर पर आघात का कोई असर यदि क्षणभर को दीखे भी तो तत्काल वह असर समाप्त हो जाता है।।१३३।।

इस प्रकार की (श्लो. ११४-३३) सदोष तर्कनाओं के आधार पर उन दोनों को यही सही जँचा कि शरीर ही आत्मा है। उन्हें अपनी सोच में न स्वानुभवविरोध दीखा व न शास्त्रविरोध; लोकानुभव और शास्त्रसिद्धान्त दोनों के ही बारे में वे मोहग्रस्त थे, विवेक नहीं कर पा रहे थे क्योंकि भोग और भोगसाधनों के बारे में ही कामुक बने थे।।१३४।। सदोषमति इन्द्र-विरोचन ने देह को आत्मा समझकर खुशी महसूस की और ब्रह्मा जी ने यद्यपि ऐसा कुछ नहीं कहा कि 'तुम सही समझ गये, अब जाओ', तथापि वे दोनों प्रजापति को प्रणाम कर स्वयं को कृतकृत्य मानकर घर लौट गये।।१३५-६।।

---

१. 'तौ हान्वीक्ष्य प्रजापतिरुवाच—अनुपलभ्यात्मानमननुविद्य व्रजतो यतर एतदुपनिषदो भविष्यन्ति देवा वाऽसुरा वा, ते परा भविष्यन्ति—इति।'

२. मनसीति शेषः।

परस्परं स्पर्द्धमानौ अभिमानगिरी इव। नमस्कृत्वैव सहसा मामपृष्ट्वा च दुर्मदौ।
निर्यातौ देह आत्मत्वं विज्ञाय परिमोहितौ। ।१३८
अनयोर्यद्यहं किञ्चित् सम्प्रेर्य्यात्र निवारणम्। करिष्यामि ततो मन्दावभिमानक्षयाद् भृशम्। ।१३९
निराशौ जीविते स्यातामुभाविन्द्रविरोचनौ। राजसौ सर्वदा यस्मात् कुतश्चिद् वचनागमे। ।
अल्पेऽपि मानक्षयदे क्रोधशत्रुवशंगतौ। ।१४०
देवासुरयुवश्रीमद्बन्धुवैधव्यकारकौ। पिशिताशिजनानन्ददायिनौ साधुभीतिदौ। ।
कुर्वीतां युद्धमतुलं चतुरङ्गक्षयप्रदम्। ।१४१
ततो भूतक्षयो मा भूदेतयोरात्मवेदने। निर्निमित्तं स्वयं यस्मात् फलं स्यादेतयोरिह। ।१४२

दूषितौ देह एव आत्मत्वं विज्ञाय निर्यातौ गतौ अहो ! इति द्वयोरर्थः। ।१३७-८। । अनयोरिति। अनयोर्निवारणं न कर्तव्यम् अनर्थान्तरापाताद् इत्याह—अनयोः इत्यादिना निर्निमित्तम् इत्यन्तग्रन्थेन (श्लो. १४२)। यदि च अहं सम्प्रेर्य्य स्वपुरुषान् आज्ञाप्य अनयोर्निवारणं वृथागमनबोधनरूपं किञ्चिद् अपि करिष्यामि तदैतौ राजसप्रकृतिकौ इन्द्रविरोचनौ अभिमानक्षयाद् हेतोः जीवने निराशौ स्याताम्, यस्माद् अल्पेऽपि मानक्षयदे मानक्षयप्रयोजके वचनागमे वचनप्रसङ्गे सति क्रोधवशं गच्छन्तौ ताविमौ दृश्येते। इति द्वयोरर्थः। ।१३९-४०। । अनयोः क्रोधे किं स्याद् इति चेद् ? युद्धेन भूतक्षय इत्याह—देवासुरेति। एतौ क्रुद्धौ सन्तावतुलं, युद्धं कुर्वीतां, कीदृशौ ? देवासुराणां ये युवानः श्रीमन्तश्च बन्धवो दारसंज्ञा तेषां पतिवधेन वैधव्यकरौ, पिशिताशिनां क्रव्यादानां जनानां पामराणां गृध्रादीनामानन्ददायकौ च सन्तौ अतुलं चतुरङ्गस्य हस्त्यश्वरथपादातरूपस्य क्षयकरं युद्धं कुर्वीताम्। ततः चानयोरात्मवेदनप्रसङ्गे निर्निमित्तम् अकस्माद् भूतानां क्षयः स्यात्, स च मा भूद् इत्येतदर्थम् अनयोः निवारणं न युक्तमिति। तर्हि एतत्प्रवर्तितदेहात्मवादेन लोकोपप्लवः स्याद् ? इत्याशंक्य; तत्प्रवृत्तिप्रतिबन्धाय देहात्मविज्ञानस्य दुष्फलं शापविधया कीर्तयति—स्वयमिति। इतश्च निवारणं न युक्तं यस्माद् इदं वक्ष्यमाणं फलमेतयोः सम्बन्धिनि देहात्मवादे स्वयं केनचिदनारब्धमपि स्यात्। इति द्वयोरर्थः। ।१४१-२। ।

उन दोनों को जाते देख भगवान् ब्रह्मा ने (मन-ही-मन) कहा—देवराज, असुरराज दोनों खुद को बड़ा पंडित मानते हैं; महान् बल वाले हैं; लोक में प्रसिद्धि है कि इनकी प्रज्ञा भी महान् है। लेकिन हैं मानो अभिमान के पहाड़! एक-दूसरे से हमेशा होड़ करते हैं। इन्हें अपने बल-बुद्धि आदि का इतना नशा है कि मुझसे आज्ञा माँगे बिना ही अचानक नमस्कार कर चल दिये ! पूर्णतः अज्ञानग्रस्त इन दोनों ने अभी इतना ही समझा है कि शरीर आत्मा है ! ।१३७-८। । मैं अपने अनुचरों को भेजकर यदि इन्हें जाने से रोकूँ तो भी ठीक नहीं क्योंकि इनका स्वभाव रजोगुणी है जिससे अत्यंत मंदमति होने पर भी ये स्वयं को बहुत श्रेष्ठ मानते हैं और जब मैं खबर भेजूँगा कि 'तुम्हें कुछ समझ नहीं आया, लौट आओ' तो इनके गर्व पर चोट लगेगी तथा 'हम इतने समय में भी, इतना सोचने-विचारने पर भी, ब्रह्मा जी की बात नहीं समझ पाये' इस असफलता से ये जीवन के प्रति भी हताश हो जायेंगे तथा सत्य समझने में और भी अक्षम हो जायेंगे। कहीं से कोई भी बात सुन लें तो इनको अपमान महसूस हो जाता है और तुरंत क्रोधरूप शत्रु के वशीभूत हो जाते हैं। ।१३९-४०। । गुस्सा चढ़ने पर ये आपस में लड़ पड़ेंगे ! उस युद्ध में दोनों पक्षों के जवान मरेंगे, धनवानों को हानि होगी, बंधु मरेंगे, स्त्रियाँ विधवा हो जायेंगी, पर इस सब का ये कोई विचार नहीं कर युद्ध में तत्पर हो जायेंगे जिससे मांसभक्षी जंतु ही प्रसन्न होंगे, सज्जन तो युद्ध के दुष्प्रभाव से भय ही खायेंगे। चारों अंगों वाली सेनायें समाप्त हो जायें, पर क्रोध आने पर ये दोनों लड़ ज़रूर जायेंगे। ।१४१। । इन्हें आत्मज्ञान हो इस प्रसंग में बिना मतलब प्राणियों का क्षय हो यह ठीक नहीं अतः इन्हें अभी रोकना उचित नहीं। इन्हें जो समझ आया है उस देहात्मवाद को मानने

देहात्मवादफलं

देवो वाऽप्यसुरो वा स्यादुभयोरितरोऽपि वा। देहात्मज्ञानसम्पन्नौ येषामिन्द्रविरोचनौ।।
गुरुत्वे परिभूताः स्युरिह वाऽपि परत्र वा।।१४३

इह देहात्ममानेन सर्वदा देहरक्षणे। उद्यमं विफलं कृत्वा दुःखं यास्यन्ति दारुणम्।।१४४

उपायैर्विविधैस्तिष्ठेत् पक्वमन्नं यथा न हि। अविनष्टं तथा देहो न तिष्ठेद् नाशवर्जितः।।१४५

यदा भूमिरियं भूतधात्री भूधरसंयुता। विनश्यति च शुष्यन्ति सागरा नीरपूरिताः।।१४६

न लभ्यतेऽत्र तेजश्च वायुना सहितं च खम्। तदा तिष्ठेत् कथं देहः फेनबुद्बुदसन्निभः।।१४७

मृत्युर्यस्य महाव्याधिर्विसन्धोन्नोदकैः समम्। वसत्यविरतं दाहो जठरे रक्तवह्निवत्।।१४८

'इदम्' इत्युक्तं देहात्मवादफलं दर्शयति—देव इति त्रयोविंशतिश्लोकैः। देवजातीयः; असुरजातीयः, एताभ्याम् इतरो मनुष्यादिजातीयो वा भवति, यस्य यस्यैताविन्द्रविरोचनौ देहात्मज्ञानसम्पन्नौ गरू साक्षात् परम्परया रहस्यत्वेन गृहीतस्य स्वज्ञानस्य प्रापयितारौ भविष्यतस्ते सर्व एतयोः शिष्याः पराभवं श्रेयोमार्गपरिभ्रंशरूपं यास्यन्ति इह वर्तमानजन्मनि परत्र भाविजन्मसु चेत्यर्थः।।१४३।। तत्र इह पराभवं यत्नवैफल्येन दर्शयति—इहेति ऊनविंशत्या। यतस्ते मूढा देहमात्मानं मत्वा तद्रक्षणोद्यमानां वैफल्येन दुःखिता भवन्ति इत्यर्थः।।१४४।।

तत्र हेतुतया देहस्य विनाशशीलतामाह—उपायैरिति। यथा पक्वमन्नम् ओदनादि अविनष्टं न तिष्ठेद् विविधोपायैरपि कृतैः, किन्तु विनश्येदेव, तथा देहोऽपीत्यर्थः।।अथ वाऽन्नं सस्यं; तथा च श्रुत्यन्तरं 'सस्यमिव मर्त्यः पच्यते' (कठ. १.६) इति।।१४५।। तत्र कैमुत्यं दर्शयति—यदेति द्वाभ्याम्। अत्र अधिष्ठानात्मतत्त्वे। स्फुटमन्यद् द्वयोः।।१४६-७।। किं च विपक्षव्याप्तस्य अमृततापक्षो व्याहत इत्याह—मृत्युरिति। विगता सन्धा सन्धिर्यस्य स विसन्धः शत्रुः। तथा च मृत्युरूपो व्याधिरूपश्च विसन्धः शत्रुर्यस्य देहस्य अन्नोदकैः सह वसति, तथा

पर खुद ही दुष्फल मिल जायेगा, वही इस नासमझी का दण्ड है। (स्वयं ये यदि देहात्मवादी रहे तो इन्हें वह दुष्फल मिलेगा और आगे इनके अनुयायियों को तो मिलेगा ही। इस वाद को मानने पर दुष्फल स्वाभाविक भी है और ब्रह्मा जी का यह शाप भी है कि इस दुर्वाद का अनुसरण बुरा फल देता है। आज भी जो देहात्मवादी है वह अतिशीघ्र विभिन्न भौतिक-मानसिक कष्टों से ग्रस्त हो जाता है यह अनुभवसिद्ध है।)।।१४२।।

शरीर को आत्मा समझने वाले इन्द्र या विरोचन का जो साक्षात् या परंपरा से शिष्य होगा, वह देव, दानव, मानव आदि चाहे जो हो, उसे उसी जन्म में तथा भावी जन्मों में कल्याण से भ्रष्ट होना ही पड़ेगा।।१४३।। शरीर को आत्मा मानने से वे देहरक्षार्थ उद्यम करते रहेंगे लेकिन होंगे विफल क्योंकि देह स्थायी चीज़ ही नहीं ! इस प्रकार उन्हें वर्तमान जन्म में ही दारुण कष्ट मिलेगा।।१४४।। चाहे जितने उपाय कर लें, पका अन्न बिगड़े बिना हमेशा के लिये खाने योग्य बना रहे, नष्ट न हो यह संभव नहीं। ऐसे ही शरीर हमेशा स्वस्थ बना रहे, इसके बीमारी, मृत्यु आदि विकार न हों यह सर्वथा असंभव है।।१४५।। सब प्राणियों को धारण करने वाली, पहाड़ों से अलंकृत यह भूमि भी जब नष्ट हो जाती है, जल से भरे सागर सूख जाते हैं, तेज, वायु, आकाश भी उपलब्ध होते नहीं तब यह शरीर क्योंकर रह सकेगा जो फेन (झाग) और बुलबुले जैसा अत्यंत अनित्य है ? (व्यवहारदृष्टि में ही महाभूत नश्वर हैं तो उनके कार्य की प्रत्यक्षसिद्ध नश्वरता का क्या कहना ! परमार्थभूमि पर तो महाभूतों का सर्वथा अभाव है अतः उस भूमिका पर भी इनके कार्यरूप शरीर का अभाव हो इसमें क्या कहना !)।।१४६-७।। मौत और महान् बीमारियाँ इस शरीर के स्थायी शत्रु हैं जिन्हें अन्न-जल की सहायता प्राप्त है। (अन्न व जल का सेवन शरीर के लिये अनिवार्य है और इन्हीं

बाह्यदेशेऽपि भूतानि सर्पादीनि सहस्रशः। शस्त्रास्त्रादीन्यनन्तानि यस्य बाह्याश्च मृत्यवः।।१४९
यथाऽत्र कदलीस्तम्भो निःसारो विदिते सति। त्वगात्मकस्तथा देहः कथमेषोऽमृतो भवेत्।।१५०
अपि कर्मनिमित्तोऽयं देहः सर्वशरीरिणाम्। आरब्धस्तदपाये स्यात् स्थायी केनाऽत्र हेतुना।।१५१
कर्म चाऽत्रादिनियतं कारणं शतवत्सरम्। आयुःप्रदमथाप्येतत् कथं दद्यात्ततः परम्।।१५२
रसायनादयो वादाः केवलं देहधारणे। उपकाराय भूतानि बलवृद्ध्यै भयाय च।।१५३
रसायनादिभिर्नित्यो देहो यद्यत्र जायते। रसायनादिकर्तारो मृतास्ते केन हेतुना।।१५४

तस्य जठरे ऽन्तः दाहः क्षुधारूपस्तिष्ठति रक्तवह्निवत् रक्तवर्णोङ्गाररूपो वह्निः तत्समः इत्यर्थः। तथा यस्य बाह्यदेशेऽपि दाहस्तिष्ठति सर्पवृश्चिकादिभूतरूपः, तथा यस्य शस्त्रादिरूपा मृत्यवो बहिश्चराः प्रसिद्धाः, तथा यो देहो विदिते विवेके क्रियमाणे निःसारो यथा कदलीवृक्षः त्वङ्मात्रात्मकत्वेन निःसारः तद्वत् स एष विपक्षव्याप्तः स्वयं निःसारः च देहः कथममृतः स्यात् ? इति त्रयाणामर्थः।।१४८-५०।।

किं च नश्वरनिमित्तोपादानकस्य अमृतता दुर्लभेत्याह—अपीति। कर्मनिमित्तको भूतैरुपादानभूतैः आरब्धो यः प्रसिद्धः स देहः तदपाये तेषां निमित्तानामुपादानानां चाऽपाये नाशे सति कथं स्थायी स्थितिशीलः स्याद् इत्यर्थः।।१५१।। किं चायुःप्रतानकत्वं कर्मणः शतसंवत्सरपर्यन्तमेव नियतत्वात् शतोत्तरं कथम् अमृतत्वं स्याद् ? इत्याह—कर्म चेति। अत्र देहे कारणभूतं कर्म यद्यपि शतसंवत्सरपर्यन्तम् आयुःप्रदं भवेत् तथाऽपि ततः शतसंख्यापूर्त्यनन्तरं कथम् आयुः दद्यात् ? यतः आदिनियतम् आदिना जगत्कारणेश्वरेण नियतं व्यवस्थां नीतमित्यर्थः।।१५२।।

रसायनादिभिस्तदाशां वारयति—रसायनादय इति द्वाभ्याम्। देहधारणकाले रोगाद्यपचयरूपोपकारार्थमेव सृष्टानि रसायनादीनि, नाऽमृतत्वाऽर्थम्। तथा पृथिव्यादिभूतानि धारणया वशीकृतानि अपि योगिनो बलवृद्ध्यै एव भवन्ति, नाऽमृतत्वाय; यतस्तानि भयाय अपि सृष्टानि। भूतानां भयहेतुत्वं च 'यदा भूमिरियं भूतधात्री' ति (श्लो. १४६) उक्तकैमुत्यन्यायेन बोध्यम्।।१५३।। तत्र हेतुतया रसायनधारणादिप्रवर्तकेष्वेव व्यभिचारमाह—रसायनादिभिरिति। कर्तारः प्रवर्तकाः।।१५४।।

के मार्फत बीमारी और मौत शरीर को नष्ट करती है। जल में विविध कीटाणु आदि रहते हैं जो व्याधि आदि कर देते हैं। अन्न के दोष से मृत्यु होती है ऐसा मनु महाराज ने स्पष्ट किया है।) लाल जलती आग जैसी भूख इस शरीर के उदर में रहती है जो इसे शनैः-शनैः जलाती रहती है। शरीर को भीतर से तो भूख सालती है और बाहर से सर्प आदि हज़ारों प्राणी और शस्त्र-अस्त्र आदि इसे मानो जलाते रहते हैं। यों बाहर-भीतर मारकों से घिरा शरीर स्थायी रहे इसकी आशा भी असंभव है।।१४८-९।। केले के खम्भे की अगर परीक्षा करें तो छिलके से अतिरिक्त उसमें कोई सार नहीं; ऐसे ही यह स्थूल शरीर है, इसमें कोई सार नहीं है। यह अमर हो कैसे सकता है!।।१५०।।

स्वयं नश्वर है ही, देह के निमित्त और उपादान भी नाशवान् हैं अतः देह स्थायी होना असंभव है। सभी शरीर-धारियों का यह शरीर कर्मरूप निमित्त से निर्मित है तो कर्म समाप्त होने पर यह किस हेतु से बना रह सकेगा ? (ऐसे ही महाभूत इसके उपादानकारण हैं। वे ही जब नष्ट होंगे तो शरीर कैसे बना रहेगा ?)।।१५१।। देह के प्रति निमित्तभूत कर्म सौ साल की आयु तो दे सकता है लेकिन उससे ज्यादा आयु कैसे देगा जबकि ईश्वर की इस व्यवस्था से यह नियमबद्ध है (कि पुरुष की पूर्ण आयु सौ साल की होती है)।।१५२।। रसायन आदि के विज्ञान देहधारण में सुविधा के लिये ही हैं, अमरता के लिये नहीं। महाभूतों पर धारणादि योगक्रियाओं से भी बल बढ़ता है, अमरता नहीं मिलती। महाभूत तो भयप्रद भी हैं क्योंकि उनके नाश के बारे में सुनकर दृढ बोध होता है कि जब उनका यह हाल है तब हमारे शरीर का नाश तो अत्यंत सुलभ है।।१५३।। रसायनादि से अगर संसार में शरीर नित्य हो सकता तो रसायनादि के प्रवर्तक किस कारण से मरते !।।१५४।।

अपि जन्मवतां नाशो नियतः परिकीर्तितः। घटादीनां तथा देहः केन नित्यो भविष्यति।।१५५

अपि प्रत्यक्षतो दृष्टो नाशः सर्वैश्च जन्तुभिः। स्वदेहस्य कथं तत्र नित्यताऽत्र भविष्यति।।१५६

जन्तुः सर्वोऽपि बालः स्यात् कुमारः पञ्चहायनः। कुमारोऽथ युवा तद्वत् पूर्णः षोडशवार्षिकः।।
युवा वृद्धः कुतो वृद्धो न मरिष्यति देहभाक्।।१५७

जन्तूनां मरणं तेन देहेन सह जायते। देहे सति न तस्य स्यात् प्रतीकारः कदाचन।।१५८

एक एव प्रतीकारो मृत्योरस्य महात्मनः। देहस्याऽग्रहणं नान्यत् क्वचिल्लोकत्रयेऽपि हि।।१५९

किं च जन्मरूपव्याप्यवति व्यापकस्य मरणस्य अभाववचनं न्यायविरुद्धमित्याह—अपि जन्मवतामिति। जन्मवतां घटादीनां नाशो नियतः अवश्यंभावी दृष्टः, स देहेऽपि जन्मवति कथं न स्याद् ? इत्यर्थः।।१५५।। बालकुमारादिरूपेण नाशप्रतियोगितयाऽनुभूतस्य[1] स्वदेहस्य वृद्धरूपेण अमृतत्वाशा विफलेत्याह—अपि प्रत्यक्षत इति। यतः स्वदेहस्य एव नाशो बालादिरूपस्य सर्वैरनुभूतस्ततस्तस्य नित्यता न युक्तेत्यर्थः।।१५६।।

एतत् स्फुटी कर्तुं बालाद्यवस्थाः पूर्वोत्तरीभूताः कथयति—जन्तुरिति। बालः पञ्चहायनपर्यन्तं, ततः कुमार आ षोडशं, ततो युवा षष्टिपर्यन्तं, ततो वृद्धः; तस्य अमरत्वे का प्रत्याशा ! इत्यर्थः।।१५७।। 'मृत्युर्जन्मवतां वीर ! देहेन सह जायते। अद्य वाब्दशतान्ते वा मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवः।।' इति पुराणवाक्याऽर्थं फलितार्थत्वेन निबध्नाति—जन्तूनामिति। देहे सति विद्यमाने तस्य मरणस्य प्रतीकारः प्रतिबन्धोपायो न अस्तीत्यर्थः।।१५८।। 'मृत्योर्बिभेषि किं मूढ ! भीतं मुञ्चति किं यमः। अजातं नैव गृह्णाति कुरु यत्नमजन्मनि।।' इत्युक्तो मोक्षोपायस्तु देहात्मदर्शिनां दुर्लभ इत्याह—एक एवेति। मृत्योः प्रतीकार एक एव यद् देहाऽग्रहणं नाम ! इत्यर्थः।।१५९।।

सभी विचारकों ने माना है कि जन्मवान् का नाश निश्चित है। घड़े आदि में यह नियम देखा भी जा रहा है। अतः देह ही नित्य कैसे हो सकता है ?।।१५५।। सभी जन्तु अपने शरीर का नाश प्रत्यक्ष अनुभव कर रहे हैं तो शरीर की नित्यता की क्या संभावना है ! (बालक शरीर 'नष्ट' होकर जवान शरीर मिलता है, वह 'नष्ट' होकर बूढ़ा शरीर मिलता है; यों अपने शरीर का नाश हमें प्रत्यक्ष होता है। अथवा कुछ सूक्ष्मेक्षक बताते हैं कि शरीर के वज़न जितना अन्न-पान तीन-चार महीनों में खा-पी लिया जाता है जिसका अर्थ है कि उतने दिनों में पूर्व का शरीर पूर्णतः 'नष्ट' होकर नवीन शरीर बन गया। क्योंकि प्रतिदिन थोड़े-थोड़े अवयव नष्ट होते गये और नये बनते गये इसलिये स्थूल दृष्टि से पता नहीं चलता कि पुराना नष्ट हुआ और नया बना जैसे बहती नदी देखने से ऐसा ही प्रतीत होता है कि 'वही पानी बहे जा रहा है' जबकि प्रतिक्षण जल बिंदु बदल ही रहे हैं। अथवा—सब अपने माता-पिता-भाई आदि के शरीरों का नाश प्रत्यक्ष अनुभव कर रहे हैं तो अपने ही शरीर को नित्य क्योंकर मान सकते हैं ! यह श्लोकार्थ है।)।।१५६।।

सभी जंतु (मनुष्य) पाँच साल तक बालक रहते हैं, फिर सोलह वर्षों तक कुमार रहते हैं, तदनंतर साठ बरस तक युवा रहकर वृद्ध होते हैं; यों हमेशा जिसकी अवस्था परिवर्तनशील है वह शरीरधारी वृद्ध होने के बाद मरेगा क्यों नहीं!।।१५७।। इसलिये जंतुओं के शरीर के साथ ही मौत भी निश्चित हो जाती है, शरीर रहते मौत से कभी नहीं बच सकते। जल्दी हो या देर से पर होती मृत्यु अवश्य है।।१५८।। इस महात्मा मृत्यु से बचने का एक ही उपाय है कि शरीर ग्रहण ही न किया जाये ! तीनों लोकों में कहीं कभी कोई और तरीका नहीं जिससे मृत्यु से बचा जा सके। (मृत्यु को 'महात्मा' इसलिये कहा कि वह समभाव से सबसे बर्ताव करता है। पुराणों में कहा है कि मृत्यु से डरना बेकार है क्योंकि डरे हुए को मृत्यु छोड़ दे ऐसी कोई व्यवस्था नहीं ! हाँ, जो पैदा नहीं हुआ उसे मृत्यु नष्ट नहीं करती अतः कोशिश यही करनी चाहिये कि जन्म न हो।)।।१५९।।

---

१. नायमधुना बालदेहः, नायं युवदेह इत्यादिरूपेण बालादिदेहध्वंसप्रतियोगितयाऽनुभवः। नेदानीं बाल्यावस्थेत्यनुभवात्पृथगेव नायमिदानीं बालदेह इत्यनुभूतेरवस्थाध्वंसानुभवापेक्षया देहध्वंसानुभवोऽन्य इति दिक्।

देह आस्थारता एते नित्यं देहात्मवादिनः। मनसाऽपि न गच्छन्ति देहाग्रहणकारणम्।।१६०
गृहीत्वाऽऽत्मतया देहमेतन्नित्यं विनश्वरम्। विड्भस्ममृत्तिकारूपम् अन्ते यत् सर्वदेहिनाम्।।१६१
प्राह्लादेरपि चेन्द्रस्य देहोऽन्ते तादृशः सदा। देवराजस्य देहोऽपि किमुतान्यस्य देहिनः।।१६२
देहमात्मतया मत्वा निर्गुणाः पापकारिणः। भवन्ति परलोकश्च ततस्तेषां न सम्भवेत्।।१६३
पापिनां परलोकेऽस्मिन् सुखं क्वाऽपि न विद्यते। किन्तु दुःखं बहुविधं यद् वक्तुं च न शक्यते।।१६४
ततो देहात्मवादोऽयं दारुणो येषु यास्यति। लोकद्वयेऽपि ते दुःखं प्राप्स्यन्ति च तथाऽपि ते।।१६५
इति नानाविधां चिन्तां सम्प्राप्य परमेश्वरः। वीक्षमाणोऽवदन्नास्ते गताविन्द्रविरोचनौ।।१६६

विरोचनवृत्तम्

विरोचनोऽतित्वरया व्रजंस्तामासुरीं सभाम्। स्वकीयामाशु गतवान् अतिसन्तुष्टमानसः।।१६७

देह इति। एते देहात्मवादिनो देहम् अन्ते विड्भस्मादिरूपम् आत्मतया गृहीत्वा देहाग्रहणस्य कारणं तत्त्व-बोधं गन्तुं मनसाऽपि न यतन्ते यत आस्थारता इति द्वयोरर्थः।।१६०-१।। देहस्यान्ते विडादिभावे कैमुत्यमाह—प्राह्लादेरपीति। देहात्मवादिनां गुरू एतौ प्राह्लादिः प्रह्लादपुत्रो विरोचनो, देवराजश्च; चेद् यदि अनयोरपि देहोऽन्ते तादृशो विड्भस्मादिरूपः तदाऽन्यस्य किमुत ! इत्यर्थः।।१६२।।

अथ तेषां परलोके पराभवं स्फुटयति—देहमिति द्वाभ्याम्। देहे आत्माऽभिमानेन हेतुना निर्गुणा विवेकसन्तोषादिगुणैर्हीनाः सन्तो यतः पापकारिणो भवन्ति ततः परलोके हानिस्तेषां स्पष्टा इत्यर्थः।।१६३।। सा च सुखाभावदुःखयोरात्यन्तिकत्वरूपेत्याह—पापिनामिति।।१६४।।

फलितमाह—ततइति। यास्यतीति पदमावर्तते। तथा च—अयं देहात्मवादो यद्यपि येषु जनेषु यास्यति प्रवृत्तो भविष्यति ते लोकद्वयेऽपि दुःखं यास्यन्ति तथापि एवमनर्थफलकोऽपि यास्यति प्रसरिष्यति इत्यतो दारुणो महामोहमय इत्यर्थः।।१६५।।

इत्येवं लोकानां भाविफलपरिपाकचिन्तया पश्यन्नपि किञ्चिदवदन् मौनी प्रजापतिः आस्ते तिष्ठति स्म। इन्द्रविरोचनौ तु तावता गतौ इत्याह—इति नानेति।।१६६।।

तयोर्मध्ये विरोचनवृत्तं[1] वर्णयति—विरोचन इति। स्वकीयां स्वसजातीयां तां प्रसिद्धाम् असुराणाम्

ये देहात्मवादी हमेशा देह में ही आस्था रखते हैं अतः मन से भी वह उपाय करने को तैयार नहीं जिससे देहग्रहण निवृत्त हो सके। सभी देहधारियों का यह नश्वर देह अंत में विष्ठा, राख, मिट्टी आदि बन जाता है पर अज्ञ लोग हमेशा इसे ही आत्मा रूप से ग्रहण किये रहते हैं।।१६०-१।। देहात्मवादियों के आद्याचार्य विरोचन और देवराज इंद्र के शरीर भी जब अंत में मिट्टी आदि रूप हो गये तो अन्य देहधारियों के देह ऐसे होंगे इसमें क्या कहना !।।१६२।। विवेक, संतोष आदि गुणों से शून्य लोग देह को आत्मा मानकर पाप करते रहते हैं जिससे उनका परलोक भी बिगड़ता है। पापियों को न परलोक में न इस लोक में कभी कोई सुख होता है किन्तु नाना प्रकार के दुःख ही होते हैं जिनका वर्णन करना भी कठिन है।।१६३-४।।

यह देहात्मवाद यद्यपि जिन लोगों में फैलेगा उन्हें इह लोक में व परलोक में दुःख ही मिलेगा तथापि महामोहमय यह दुर्मत प्रचारित अवश्य होगा।।१६५।।

इस प्रकार इंद्र-विरोचन की नासमझी से लोगों की दुर्गति की परिकल्पना कर परमेश्वर प्रजापति उस ओर देखते ही रह गये जिधर वे दोनों गये थे, कुछ बोले नहीं। इन्द्र-विरोचन तो अपने-अपने राज्यों की ओर चल दिये।।१६६।।

१. 'स ह शान्तहृदय एव विरोचनोऽसुराञ्जगाम। तेभ्यो हैतामुपनिषदं प्रोवाच—आत्मैवेह महय्य आत्मा परिचर्य आत्मानमेवेह महयन्नात्मानं परिचरन्नुभौ लोकाववाप्नोतीमं चामुं चेति।।४।।'

प्रकृत्या तामसो दैत्या रजसा तमसावृताः। सत्त्वलेशेन रहिताः सर्वदैवाऽविचारकाः।।१६८
आगत्य च सभां दैत्यैः सत्कृतः सूर्यसन्निभः। महासने समासीनः सभायां दितिजन्मनाम्।।१६९
देह आत्मेति विज्ञानमुक्तवांस्तान् यथा स्वयम्। गृहीतवान् विमूढात्मा ब्रह्मलोकेऽतिदुःखितः।।१७०
ते सर्वे तामसा नित्यं रजसा च समावृताः। अभावात् सत्त्वलेशस्य विचारपरिवर्जिताः।।
जगृहुर्देह आत्मत्वं यत् स्वयं पूर्वमूहितम्।।१७१
विरोचनो यथा शिष्यास्तथैव गुरुबुद्धितः। विरोचनोपदिष्टं ते देहात्मानं प्रपेदिरे।।१७२
विरोचनस्तु तानित्थमुपदिश्योक्तवान्पुनः। पूजनीयः सदैवात्मा देहोऽयं नैव चापरम्।।
अग्निविप्रादिकं दैत्या ! आत्मनः शेषतां गतम्।।१७३

इन्द्रियारामाणां सभां शीघ्रगत्या प्राप्तः, विपर्ययेऽपि तुष्टमना यतस्तामसस्वभावकः। तत्र हेतुः दैत्या इत्यादि। यतो रजसा उपसर्जनेन विशिष्टं यत्तमः तेन आवृतत्वं, सत्त्वगुणाऽभिभवो विचारराहित्यं च दैत्यानामुत्सर्गतो भवतीति द्वयोरर्थः।।१६७-८।। ततो दैत्यसदसि मानितः संस्तान् असुरान् प्रति कष्टलब्धं स्वज्ञानमुक्तवान् इत्याह—आगत्येति द्वाभ्याम्।।१६९-७०।। ते चासुरास्तज्ज्ञानं स्वानुकूलं पुराऽपि तर्केण सम्भावितं च अधुना गुरुसम्प्रदायलब्धं बुद्ध्याऽवधारणतां निन्युरित्याह—ते सर्व इति द्वाभ्याम्। स्वयं स्वभावेन ऊहितं तर्कितं यथा विरोचनः प्रपेदे निश्चितवांस्तथा तच्छिष्या अपि प्रपेदिरे।।१७१-२।।

तत्र प्रजापत्युपदेशपरिपाटीं श्रावयित्वा अथ तत्फलितार्थसंग्रहम् 'उपनिषत्'-पदोक्तं प्रतिपादितवान् इत्याह—विरोचनस्त्विति सप्तचत्वारिंशच्छ्लोकैः। उपदिश्य प्रजापत्युक्तं श्रावयित्वा इत्थम् उक्तवान्। 'इत्थं' कथम्? हे दैत्याः ! देह एव सर्वेषां शेषी प्रधानम् अत एव आत्मभूतः, सर्वैरुपास्यः, इतरेऽग्न्यादयस्तु तस्य उपकारकत्वेन शेषभूता उपेक्ष्या इत्यर्थः। एतस्य सर्वोत्कृष्टत्वेन ज्ञानमेव पूजनमिति भावः।।१७३।।

विरोचन ब्रह्मोपदेश से बहुत सन्तुष्ट था (जैसा स्वतः चाहता था वैसा ही प्रजापति ने उपदेश दिया यह समझकर प्रसन्न था)। वह शीघ्र गति से अपनी आसुरी सभा में पहुँचा। दैत्य स्वभाव से तमोगुणी होते हैं तथा उन पर रजोगुण-तमोगुण का आवरण भी रहता है। उनमें थोड़ा भी सत्त्वगुण नहीं होता, कभी भी वे विचार की ओर उन्मुख नहीं होते। (आपात सुख आदि से संतुष्ट हो जाना, धैर्यपूर्वक यह विवेक न करना कि यह वस्तुतः हितकर है या नहीं—यह असात्त्विकता है।)।।१६७-८।। सूर्य-सा तेजस्वी दैत्यराज ब्रह्मा जी से विद्या पाकर लौटा तो दैत्यसभा में ऊँचे आसन पर विराजमान उस विरोचन का दैत्यों ने स्वागत-सत्कार किया।।१६९।। उसने प्रजापति से लब्ध रहस्यविद्या सब को सुनायी कि 'देह आत्मा है'। ब्रह्मलोक में ब्रह्मचर्यादि अत्यंत कष्ट सहकर भी उस विमूढबुद्धि ने जैसा स्वयं समझा था वैसा ही अपनी प्रजा को समझाया। वे सब भी रजोगुण से ढके तामस स्वभाव के थे ही, थोड़ा भी सत्त्वगुण उनमें कभी आता नहीं, विचार में प्रवृत्त कभी होते नहीं अतः उपदेश से पूर्व भी 'आत्मा' से स्वयं जो समझते थे उसी बात को उपदेश से उन्होंने समझा कि देह की ही आत्मस्वरूपता है। (पूर्वाग्रहग्रस्त श्रोता तथ्य-श्रवण में असमर्थ होता है। श्रवण के लिये भी अपनी मान्यताओं के प्रति वैराग्य चाहिये, कुछ-न-कुछ तटस्थ रहे बिना श्रवण करेंगे तो ग़लत समझना अस्वाभाविक नहीं है। उपदेश की 'अपूर्वता', नयापन, पर विचार करना चाहिये और फल के बारे में सोचना चाहिये : पूर्वतः ज्ञात के ही ज्ञान का फल जो बताया जाये वह पूर्वतः ही उपलब्ध होना चाहिये ! देह आत्मा है इस ज्ञान से ही यदि सारी कामनाएँ पूरी होती हों तो अभी ही पूरी हो चुकनी चाहिये। हो नहीं रहीं अतः निश्चित है कि इसी ज्ञान को ब्रह्मा जी कह नहीं रहे। किंतु दैत्यों ने यह सब नहीं सोचा अतः ग़लत ही समझ गये।)।।१७०-१।। जैसा विरोचन ने समझा था वैसा ही दैत्यों ने समझा और खुद को गुरु मानकर विरोचन ने जो उपदेश दिया कि देह आत्मा है उसी का उसके शिष्यों ने निश्चय किया।।१७२।।

अस्यैव परिचर्या च करणीया सदादृतैः। गुरोरिव महाभागाः ! पुरुषेण सुखार्थिना।।१७४
आत्मानं देहमेतं यो दुकूलैरतिशोभनैः। रत्नैर्नानाविधैः सार्द्धं जाम्बूनदसमुत्थितैः।।१७५
गजकुम्भादिसञ्जातैः मुक्तैश्चादित्यसन्निभैः। नानालङ्करणैस्तद्वत् पुष्पैश्च मृदुलैरपि।१७६
सुरूपैश्च सुगन्धैश्च चित्रमालादिरूपिभिः। चन्दनैर्हिमसंमिश्रैः कर्पूराद्यैश्च संयुतैः।।१७७
पूजयेद् देहमात्मानं तद्वच्छय्यासनादिभिः। अन्नपानैस्तथा सम्यक् पूजयेच्च परिच्छदैः।।
नित्यं परिचरेच्चर्यं व्रजेल्लोकद्वये सुखम्।।१७८
मरणं च न देहस्य दैत्येन्द्रा ! इह विद्यते। रसायनाद्युपायैर्हि सिद्धिं प्राप्तस्य सर्वदा।।१७९
अथ चेद् मरणावस्था यदा लभ्येत वै ध्रुवम्। तदाऽयं मृत इत्येव न दाह्यः कर्हिचित् पुमान्।।१८०
यथा संग्रामशालायां शस्त्रैरस्त्रैश्च पीडितः। वीरः क्षणं रथोपस्थे शेते चेष्टाविवर्जितः।।१८१
एवमेष गतप्राणः शेत आत्मा शरीरिणाम्। रसायनादिसिद्धीनामलाभेऽत्र मृतोपमः।।१८२

बाह्योपचारैः सत्करणमेव परिचरणम् इति दर्शयति—अस्यैवेति। आदृतैः आदरविशिष्टैः गुरुवद् अस्य देहस्यैव परिचर्या कर्तव्येति।।१७४।। परिचरणमभिनयंस्तत्फलमाह—आत्मानमिति चतुर्भिः। अत्मरूपं देहं चर्य्यं सेवनीयम्। यो दुकूलादिभिः पूजनपूर्वकं परिचरेत् स लोकद्वये सुखं व्रजेद् इति चतुर्णां सम्बन्धः। जाम्बूनदसमुत्थितैः स्वर्णखचितैः रत्नैः गजकुम्भादिरूपाकरजातैः मुक्तैः मुक्तामयगुच्छैः, आदित्यसन्निभत्वम् अलङ्कारविशेषणम्। चित्रमालारूपत्वान्तानि पुष्पविशेषणानि। हिमं शीतलं जलम्। परिच्छदैः उपकरणैः।।१७५-८।। ननु विनश्वरस्य किं परिचरणेन ? इति शंकां वारयति—मरणं चेतिं। सिद्धस्य मरणशङ्कैव नास्तीत्यर्थः।।१७९।।

असिद्धस्य देहेऽपि मूर्च्छितत्वभावनया मरणशङ्का न कार्येति सदृष्टान्तमाह—अथेति त्रिभिः। यदि मरणावस्था मूढैर्मन्येत तथाऽपि विवेकिना तस्य मृतबुद्ध्या दाहादिकं न कार्यं किन्तु सङ्ग्रामे मूर्च्छितवत् शयानत्वेन मन्तव्य इति त्रयाणामर्थः। तत्र रथोपस्थो रथस्य क्रोडभूतमुपवेशनस्थानम्।।१८०-२।।

प्रजापतिप्रोक्त प्रधान उपदेश सुनाकर उपोद्घात कर विरोचन ने आसुर उपनिषत् के रूप में उस पर व्याख्यान दिया : हे दैत्यो ! सभी के प्रति शेषी अर्थात् प्रधान होने से शरीर ही आत्मा है, सब के द्वारा उपासनीय है। इससे अन्य अग्नि, ब्राह्मण आदि तो शरीर के उपकारक होने से इसके शेष हैं अतः पूज्य नहीं वरन् उपेक्षा के ही योग्य हैं। देह ही सबसे उत्कृष्ट है यह ज्ञान ही उसकी पूजा है।।१७३।। सुख चाहने वाले को इसके प्रति आदर रखते हुए इसी की सेवा करनी चाहिये बाहरी अन्न-वस्त्र आदि उपचारों से इसकी परिचर्या करनी चाहिये जैसे लोक में गुरुजनों की करते हैं।।१७४।। जो इस देहरूप आत्मा की सेवा करता है उसे इस लोक में व परलोक में सुख प्राप्त होता है। सेवा के उपकरण बहुत-से हो सकते हैं जैसे अति सुंदर कोमल वस्त्र, स्वर्णजटित विविध रत्न, गजमुक्ता, 'कुम्भ'-नामक आकर में उत्पन्न होने वाले 'मुक्ता' नामक रत्न, सूर्य-समान चमकते विविध आभरण, सुकोमल सुंदर सुगंधित पुष्प, अलग-अलग रंगों के फूलों से बनी मालाएँ, शीतल जल मिले हुए कर्पूर आदि युक्त चंदनचय, शय्या, आसन, विविध भक्ष्य, पेय इत्यादि। जितने हो सकें उतने उपकरणों से हमेशा भली-भाँति इस सेवायोग्य शरीर की सेवा करते रहना चाहिये, इसी से यहाँ और परलोक में सुख मिलेगा।।१७५-८।। हे दैत्यश्रेष्ठो ! रसायन आदि उपायों से जो सिद्धि पा लेता है उस शरीर का कभी मरण नहीं होता।।१७९।।

जब शरीर उस अवस्था में हो जिसे मूढ जन मरण समझते हैं तब आप सरीखे विवेकियों को 'यह मर गया' ऐसा मानकर उस पुरुष को कभी जला नहीं डालना चाहिये। संग्राम में शस्त्र-अस्त्रों से आहत वीर जैसे कुछ समय

ततस्तं स्नापयेद् दिव्यैः जलैस्तस्याऽत्र बान्धवः। अर्चयेच्चन्दनैर्दिव्यैरलङ्कुर्याच्च सर्वतः।।१८३
वसनाद्यैरलङ्कारैर्मालाभिश्च विमानगम्। नानाभक्ष्याणि कृत्वा वै प्रसार्य च समन्ततः।।
सुगन्धनीरपूर्णांस्तु करकांश्च बहूनपि।।१८४
भूगृहं तस्य कुर्वीत मृद्वास्तरणसंयुतम्। तूर्यघोषेण तं तत्र नयेद् बन्धुजनावृतम्।।१८५
शोधयित्वाऽत्रोभयत अन्नपेयानि सर्वतः। भक्ष्यभोज्यानि चित्राणि मुञ्चेदस्य समीपतः।।१८६
महाराजस्य ये कार्या उपचाराः सदैव हि। भोगाश्च निखिलाः कार्या भूगृहे तस्य बन्धुभिः।।१८७
भूगृहं तत्तथा कुर्याद् यथा शक्त्यनुसारतः। न क्षयेद् दीर्घनिद्रायां स्थितमस्याऽत्र बान्धवाः।।१८८
कुर्वीरंस्तु शुभां तस्य गृहस्योपरि वेदिकाम्। यथा कालान्निपतनं भूगृहस्य भवेन्न हि।।
नीराऽऽतपमलादीनां न प्रवेशश्च कर्हिचित्।।१८९

मृतशङ्कागोचरशरीरे कर्तव्यं श्रुतौ[1] 'भिक्षये'त्यादिना प्रदर्शितं वर्णयति—तत इति अष्टभिः। ततो मरणस्य सांशयिकत्वात् तं मृतत्वाभिमतं देहं तदीयो बान्धवः उत्तमजलैः स्नापयित्वा चन्दनपुष्पादिभिः अलंकरणं श्रुतौ भिक्षापदोक्तं कुर्यादित्यर्थः।।१८३।। वसनाद्यैरिति। तथा वसनादिभिः अलङ्कुर्याद् इत्यनुषङ्गः। तथा तस्य वासयोग्यं भूगृहं भूमिखातरूपं गृहं[2] कुर्यात्। तत्र च तं देहं विमानगं कृत्वा तूर्यघोषेण बन्धुभिश्च सह नयेत्। किं कृत्वा ? नानाविधभक्ष्यवस्तूनि बहून् करकान् कमण्डलूंश्च सुगन्धिजलपूर्णान् प्रसार्य विस्तृतान् कृत्वा। इति द्वयोरर्थः।।१८४-५।। शोधयित्वेति। तच्च भूगृहं शुद्धं कृत्वा अस्य मृताभिमतदेहस्य उभयतः पार्श्वद्वयेऽपि तानि प्रसार्य आनीतानि पेयानि चित्राणि भक्ष्यादीनि च मुञ्चेत् न्यसेत्।।१८६।। महाराजस्येति। उपचाराः शय्यादिरूपाण्युपकरणानि भोगा भोग्यपदार्थाः सुरभिद्रव्यादयः, एते तस्य महाराजवद् बन्धुभिः कार्या इत्यर्थः।।१८७।। भूगृहमिति। तद् भूगृहं तथाविधं कुर्याद् यथा अत्र भूगृहेऽस्य देहस्य दीर्घनिद्रायां स्थितं स्थितिः न क्षयेत् क्षयं न गच्छेद् इत्यर्थः। बान्धवपदम् उत्तरान्वयि।।१८८।। कुर्वीरन्निति। तथा तदीया बान्धवाः तस्य भूगृहस्योपरि वेदिकां मण्डपरूपां कुर्वीरन् यथा तस्य भूगृहस्य चिरकालेनाऽपि पतनं न स्यात्। तथा नीरस्य वृष्ट्यादिजलस्य, आतपस्य ग्रीष्मतापस्य, मलस्य पुरीषादेः, आदिना जम्बुकप्रभृतीनां च प्रवेशो न भवेदिति।।१८९।।

के लिये रथ के निचली ओर आराम करता है, सभी चेष्टाएँ छोड़कर सो जाता है, वैसे ही देहधारियों का यह शरीररूप आत्मा प्राण निकल जाने पर सो जाता है। रसायन आदि से सिद्धियाँ न मिलने के कारण यह मरे जैसा लगता है पर मरता नहीं है।।१८०-२।।

इसलिये उसके बंधुओं को चाहिये कि उस शरीर को उत्तम जल से नहलायें, चंदन पुष्प वस्त्र अलंकार माला आदि से उसे सजायें और सुंदर विमान पर उसे वहाँ ले जायें जो उसके वास के लायक भूगृह तैयार किया हो। शरीर रखने के लिये ज़मीन में घर बनाना चाहिये जिसमें नीचे कोमल बिछावत करनी चाहिये। गाजे-बाजे से बंधुजन मृत देह को वहाँ विमान (पालकी) पर ले जायें। उस भूगृह को साफ-सुथरा कर उसे उस में रखकर उसके दायें-बायें सब तरफ विभिन्न प्रकार का बहुत-सा भोजन और सुगंधित जल से भरे बहुतेरे कमण्डलु रख देने चाहिये। ये सब चीजें उस शरीर के आस-पास ही रखनी चाहिये। जैसे उपकरण आदि महाराजाओं की सेवा में प्रयुक्त होते हैं वैसे सभी भोगों की वहाँ व्यवस्था करें यह बंधुओं के लिये उचित है।।१८३-७।।

---

१. श्लो. २२१ टिप्पणे दर्शितायाम्।

२. मिस्र-चीनादिदेशेषु पुरा काल एवं क्रियते स्मेत्यद्यापि तद्ध्वंसावशेषावलोकनाद् निश्चीयते। ईसा-मुहम्मदानुयायिनां मतेऽपि 'निर्णय-दिवसे' सर्वे मृतदेहाः पुनरुज्जीविताः इत्यासुरमतय एव ते।

एवं कृते चिरं कालं शेतोऽसौ राजवत् सुखम्। यावन्नायाति भगवान्न लभ्यः सर्वपूर्वजः।।१६०
आगते भगवत्यस्मिन् सुवायुर्वाति कश्चन। सम्पर्कात्तस्य नु मृता उत्थास्यन्तीह सर्वशः।।१६१
शस्त्राऽस्त्रविद्धो मूर्च्छास्थो वायुना केनचिद् यथा। स्पृष्टः क्षणादिहोत्तिष्ठेत् पूर्ववद् वैरिमर्दनः।।१६२
एवं त उत्थिताः सर्वे पूर्वसंस्कारसंस्कृताः। रसायनादिसिद्धीनां यतन्ते प्राप्तये पुनः।।१६३
आप्य ता अमृतत्वं च गच्छन्त्येव न संशयः। एवं न कर्हिचिद् नाशो योगिनो विद्यतेऽसुराः !।।१६४
योगयुक्तास्ततः सर्वे भवन्ति दितिजोत्तमाः। वैरिणां च क्षयं नित्यं कुर्वते चाऽत्र निर्दयाः।।१६५

इत्थं करणे तस्योपकारः श्रुत्या लोकद्वयजयत्वेनोक्तः, अधुना म्लेच्छग्रन्थेषु कीर्त्यमानश्च, तं वर्णयति—एवं कृत इति षड्भिः। इत्थं रक्षाकरणे सति असौ देहः तावत् शेते यावत् सर्वेषां पूर्वजो ब्रह्मा न लभ्यो दुर्लभो देहात्मवादस्य प्रवर्तकः स्वशिष्यान् द्रष्टुं नाऽऽयाति इत्यर्थः।।१६०।। यदा स आयास्यति तदा तद्देहगन्धेन सर्वे मृता उत्थास्यन्तीत्याह—आगत इति। अस्मिन् सर्वपूर्वजे।।१६१।। तत्र दृष्टान्तमाह—शस्त्राऽस्त्रेति।।१६२।। एवमिति। एवं संग्राममूर्च्छितवत् ते भूगृहन्यस्ताः समुत्थिताः सन्तः पूर्वं यथा रसायनाद्यर्थं यतितवन्तस्तथा पुनर्यत्नं कुर्वन्ति।।१६३।। आप्येति। ताः सिद्धीः प्राप्य चामृता भवन्त्येवेति। एवम् उक्तक्रमेण योगिनो नाशायोग्यत्वं स्यात्। हे असुराः!।।१६४। योगेति। ततो देहामृतत्वस्वरूपं प्रयोजनमभिसन्धायैव दैत्या योगाभ्यासपराः सन्ति वैरिणां देवानां तत्पक्षाणां च क्षयं कुर्वते यतोऽत्र क्षयकर्मणि निर्दया दयारहिताः। तदुक्तं गीतासु (१६.६) 'प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः' इति।।१६५।।

जिसे मूर्ख लोग मरा समझते हैं वह वास्तव में दीर्घकालिक नींद में होता है अतः उसके बंधुओं को चाहिये कि अपनी सामर्थ्य के अनुसार वैसा भूगृह बनायें जो उसके उसमें सोते रहते नष्ट न हो जाये, वह जब तक उसमें रहे तब तक वह भूगृह भी बना रहे।।१८८।। इसके लिये उस भूगृह पर एक मण्डप बनाना ठीक होता है क्योंकि तब वह गृह गिरता नहीं, पानी, धूप, मैला उसमें नहीं जाता।।१८६।।

यों सुव्यवस्था कर देने पर वह शरीर दीर्घ समय तक राजा की तरह आराम करता है, सोता रहता है। समस्त प्रजाओं के आदि पूर्वज ब्रह्मा जी को साधारण व्यक्ति पा नहीं सकता पर वे स्वयं ही कभी सबसे मिलने आते हैं। जब तक वे आते नहीं तब तक सुरक्षित रखे देह सोये रहेंगे। जैसे ही वे आते हैं उनके शरीर से दिव्य सुगन्ध प्रवहित होती है जिसके सम्पर्क से सब ओर रखे वे मरे शरीर तत्काल उठ खड़े होते हैं, जी उठते हैं। शस्त्र, अस्त्र आदि के आघात से मूर्छित व्यक्ति जैसे किसी हवा (या औषधियुक्त हवा, 'आक्सिजन' आदि) के सम्पर्क से स्वस्थ हो जाता है और पहले की तरह ही शत्रुदमन में प्रवृत्त होता है वैसे वे सब जब उठते हैं तब उनके पूर्वार्जित संस्कार उद्बुद्ध हो जाते हैं और रसायन, योगसिद्धि आदि पाने के लिये कोशिश करने लगते हैं। जब सिद्धि पा जाते हैं तब निःसंदेह वे अमर हो जाते हैं। हे असुरो ! इस प्रकार समझ लो कि शरीर का विनाश कभी नहीं होता।।१६०-४।। (असुर सम्प्रदाय के अनुयायी आज भी ऐसा मानते हैं कि स्थूल शरीर आत्मा है, ईसाई आदि स्पष्ट ही स्थूल शरीर को आत्मा का अनिवार्य अंग स्वीकारते हैं और शरीर के जलने से आत्मा का आत्यंतिक नाश समझते हैं, इसलिये मृत्यु पर शरीर को ताबूत आदि में सुरक्षित दफनाते हैं तथा विश्वास करते हैं कि कयामत का दिन आने पर सब मुर्दे (जो जलकर नष्ट हो गये वे नहीं वरन् जो गड़े पड़े हैं वे ही) उठ खड़े होंगे एवं सबके बारे में निर्णय होगा कि किसे स्वर्ग और किसे नरक जाना है। लगभग यही मुसलमान मानते हैं। 'मरने के बाद' के बारे में जो कुछ सोचना नहीं चाहते ऐसे इहलोकमात्रपरायण लोग भी असुरों के अनुगामी हैं। शारीरिक सुख-भोग को ही इकलौता पुरुषार्थ स्वीकार कर वे अपने भी मानसिक स्वास्थ्य की हानि करने को तैयार होते हैं तथा परिवार समाज आदि लौकिक संस्थाओं का भी विनाश कर देते हैं तो धर्म आदि में विप्लव करते हैं इसमें क्या कहना। जब-जब हम किसी भी व्यक्ति-वस्तु-व्यवस्था-परंपरा आदि के बारे में सिर्फ शारीरिक तात्कालिक अनुकूलता के ही मापदण्डों में विचार करते हैं तब-तब हम असुरता करने लगते हैं यह ध्यान करना चाहिये।)

के विप्राः काश्च गावो वा के देवाः के च साधवः। यदा शरीरं सर्वेषां सममेवोपलभ्यते।।१६६
द्विपद्भिर्द्विपदां साम्यं चतुष्पद्भिश्चतुष्पदाम्। एतेषामपि पित्रोः स्यात् कामो येन वपुर्भवेत्।।
शुक्रशोणितसम्भूतमन्येषामिव कामतः।।१६७
कामहेतुकमेवेदं ततो विश्वं महाधियः। कामः सर्वस्य जननी पिता कामस्तथेरितः।
विप्रो गौर्देवता साधुः काम एव न चापरः।।१६८
भ्रात्रादिःसकलो जन्तुः काम एव प्रकीर्तितः। प्रतिग्रहीता दाता च बलतः स्वेच्छयाऽपि वा।।१६९
कामश्च देह एवैष समुद्रसदृशो महान्। देवाद्याः कामकामा ये वयं च दितिजेश्वराः।।२००

ते च येनाऽभिप्रायेण निर्दया भवन्ति, गीताद्युक्तं तं वर्णयति—के विप्रा इति। किंशब्दः क्षेपे। तथा च यदा सर्वेषां शरीरं समं दृश्यते तदा विप्रादिषु केन मानार्हतेत्यर्थः।।१६६।। साम्यमेव कार्यकारणरूपयोः स्फुटयति—द्विपद्भिरिति। द्विपदां विप्रादीनामितरैः द्विपद्भिः साम्यं दृश्यते, चतुष्पदां गवांश्चेतरैः चतुष्पद्भिः। न च कारणे विशेषो येन एतेषां विप्रादीनामपि वपुः अन्येषामिव कामप्रयुक्तशुक्रशोणितसम्भूतमेव भवेत्। न चाऽसम्भवः, यतः पित्रोः कामः सम्भवेत्, न हि निष्कामानां पितृत्वं सम्भवति, व्याघाताद् इत्यर्थः।।१६७।।

न च जगत्कर्तुः सर्वात्मकस्य चेश्वरस्य पक्षपातेन विप्रादीनामाधिक्यम्, तल्लक्षणानां कामे समन्वयेन तस्यैवाऽभावाद् इत्याह—कामेति। हे महाधियः! ततो दृष्टानुगुण्यात् काम एव विश्वस्य हेतुः जनन्यादिरूपश्च। न हि निष्कामस्य जननीत्वादिकं दातृत्वान्तं सम्भवति। इति द्वयोर्भावः।।१६८-९।। एतादृशस्याऽपि कामस्य शेषित्वेन देहः सर्वोत्कृष्ट इत्याह—कामश्चेति। यथा सर्वेषां जलानामंशभूतानामपेक्षया अंशी समुद्र उत्कृष्टः तथा देहविषयकः कामः सर्वकामेभ्य इति प्रथमदलार्थः। एतदेव स्फुटयति—देवाद्या इत्यादिना। ये देवमुनिप्रभृतयो, ये

हे उत्तम दैत्यो ! अतः आप सभी लोग योग में संलग्न हो जाइये। इसी से आप समर्थ होकर बिना दया किये हमेशा दुश्मनों का क्षय करते रहेंगे।।१६५।।

अस्तिक दया का माहात्म्य गाते रहते हैं ! जब सभी प्राणियों का शरीर एक-सा उपलब्ध है तब ब्राह्मण, गाय, देवता, साधु आदि में क्या विशेषता है कि उन्हें संमान दिया जाये ?।१६६।। ब्राह्मण हो या म्लेच्छ सब के शरीर दो पैरों के हैं अतः समान हैं। ऐसे ही गाय हो या गधा, सभी चौपाये एक-समान हैं। यह भी नहीं कि ब्राह्मणादि के शरीरों के जो कारण हैं वे शरीरान्तरों के कारणों से विशेष हों क्योंकि कामनारूप निमित्त और शुक्र-शोणितरूप उपादान सभी के एक-से होते हैं। ब्राह्मणादि के माता-पिता के मन में भी कामनोद्रेक होने पर शुक्रादि व्यक्त होकर शरीराकार में विकसित होते हैं। अतः सभी देह समान हैं तो किन्हीं को पूज्य मानना आदि निरर्थक है।।१६७।।

ईश्वर ने ही ब्राह्मणादि को खास बनाया हो यह भी कहना अनुचित है क्योंकि कामना से अतिरिक्त कोई ईश्वर है ही नहीं ! हे महान् बुद्धिमान् असुरो ! लोकसिद्ध हेतु-फल के आधार पर विचार करो तो स्पष्ट है कि कामना ही इस विश्व का हेतु है। सबके माता-पिता कामना ही है क्योंकि बिना कामना के कोई माता या पिता बनता नहीं, कामना होने पर ही बनता है। इसी तरह ब्राह्मण, गाय, देवता, सज्जन सभी कामना ही है। भाई आदि समस्त जन्तु कामना से अन्य कुछ नहीं, कामना से ही भाई है, कामना हटने पर नहीं। बलपूर्वक या स्वेच्छा से लेने-देने वाला जो कोई है वह कामना ही है।।१६८-९।। यों सबका रूप धरने वाला तथा सबका हेतु जो कामना उसके प्रति भी शेषी है यह देह अतः उससे भी उत्कृष्ट है। 'शेषी' अर्थात् कामना भी शरीर *के लिये* है; जिसके लिये कुछ हो वह उसका शेषी कहलाता है जैसे भोक्ता के लिये भोजन है तो भोक्ता शेषी और भोजन शेष है। जैसे समस्त जल बिन्दुओं की अपेक्षा उन बिंदुओं का अंशी जो समुद्र वह उत्कृष्ट होता है वैसे देहविषयक कामना सब कामनाओं से उत्कृष्ट है। (अन्य

चेष्टां कुर्मस्तथैवान्ये त्रिकालस्थाश्च देहिनः। स्वदेहार्थं च कामोऽयं सर्वेषामिह देहिनाम्।।२०१
देहस्ततोऽत्र विज्ञेयो दैत्याः सर्वैः शरीरिभिः। विप्रो गौर्देवता साधुः संरक्ष्योऽत्र प्रयत्नतः।।२०२
अस्य यत् सुखदं तत् स्यात् पुण्यं पापं च दुःखदम्। अनुकूलो भवेद् योऽस्य स देवादिर्न चापरः।।
असुरः प्रतिकूलश्च वध्यः सर्वोऽपि सर्वदा।।२०३
पिता माता स्वसा भ्राता स्नुषा जाया सुता यदि। प्रतिकूलो भवेत् स्वस्य नैव किन्तु परो जनः।२०४

च वयं दैत्या, ये चान्ये कालत्रयवर्तिनस्ते सर्वे वयं कामकामाः काम्यमानतत्तद्भोग्यपदार्थान् कामयन्त एव सन्तश्चेष्टां देहव्यापारं कुर्मः। सोऽयं नानाभोग्यगोचरोऽपि कामो देहार्थं भवति इत्यर्थः। तथा च सकलचेष्टाप्रयोजककामोद्देश्यत्वाद् भोग्यपदार्था उत्कृष्टाः तेभ्योऽपि देहोपाधिककामगोचरेभ्यो देहः परमोत्कृष्ट इति भावः।।२००-१।।

एवं देहस्यैव सर्वतः प्राशस्त्ये सति लोके यत् प्रशस्तत्वेन रक्षणीयतया प्रसिद्धं तत्तद्भावनां देहे कृत्वा स एव संरक्ष्य इत्याह—देह इति। हे दैत्याः ! ततो मुख्यप्राशस्त्याल्लोके प्रशस्तत्वाऽभिमता ये विप्रादयः ते स्वदेहरूपा एव मन्तव्याः। तथा चास्य देहस्यैव रक्षणे प्रयत्नो योग्य इत्यर्थः।।२०२।। एतेन पुण्यादिस्वरूपमपि व्याख्यातमित्याह—अस्येति। लोके हि इष्टानिष्टहेतू पुण्यपापत्वेन प्रसिद्धे, तदुपचयहेतू देवासुराविति। तत्र देहस्यैव इष्टत्वसिद्धौ तस्य देहस्य सुखदं यत् कर्म पशुहिंसादि, तस्य पुण्यत्वं सिद्धम्। तद्दुःखदस्य प्रातःस्नानादेस्तु पापत्वम्। तथा एतदनुकूलत्वं देवतात्वं साधुत्वं च; प्रतिकूलस्य तु पित्रादेरपि वध्यत्वप्रयोजकमसुरत्वमित्यर्थः।।२०३।। प्रतिकूले हि पितृत्वादिहानिर्लोकेऽपि प्रसिद्धेत्याह—पितेति। पितृप्रभृतिपुत्रपर्यन्तो जनो यदा प्रतिकूलो भवति तदा 'स्वस्य आत्मीय' इति नाख्यायते किन्तु परः शत्रुरेव प्रसिद्ध इत्यर्थः।।२०४।।

कामनाएँ बूँद-सी हैं और देह की कामना समुद्र-सी।)। देवता, मुनि, हम दैत्य तथा किसी भी देश-काल में होने वाले सभी प्राणी विषयकामना से युक्त होते हैं और कामनाप्रयुक्त चेष्टाएँ ही करते हैं। यह तो सुव्यक्त है कि सारी कामनाएँ अपने शरीर के लिये ही होती हैं। इस तरह समस्त चेष्टाओं के प्रयोजक काम के प्रति उद्देश्य होने से—जिनके उद्देश्य से, जिनके लिये कामना होती है वे—विषय उत्कृष्ट हैं और वे भी जिसके लिये हैं वह शरीर ही परम उत्कृष्ट है।।२००-१।।

इस प्रकार निश्चित है कि देह ही सबसे उत्तम वस्तु है। लोक में जो उत्तम माना जाये उसे सुरक्षित रखने की व्यवस्था की ही जाती है अतः सब श्रेष्ठ वस्तुओं की भावना शरीर में करके शरीर को ही संरक्षित रखना उचित है। हे दैत्यो ! संसार में 'अच्छे' समझे जाने वाले ब्राह्मण, गाय, देवता, साधु आदि होते हैं, अपने शरीर को ही ब्राह्मणादिरूप समझना चाहिये क्योंकि प्रधान 'अच्छा' यही है और कोशिश करके इसे सुरक्षित रखना चाहिये। ('शरीररूप मैं ही ब्राह्मण हूँ, गाय हूँ' आदि भावना कर इसी का संरक्षण करो, देहातिरिक्त किसी का नहीं—यह अर्थ है। 'मैं गाय हूँ' का मतलब है कि गाय में जो अच्छाइयाँ ग्रंथों में कही हैं वे सब मुझ में ही हैं ऐसा निश्चय करना। अपने-अपने स्थूल शरीर को इस तरह रक्षितव्य मानने के लिये विरोचन ने कहा। किं च अन्यों के भी स्थूल शरीर को ही प्रधान समझकर यदि उनके लिये व्यवस्था की जाती है जो उनके सूक्ष्म शरीर और भावी स्थूल शरीरों के लिये भी हानिकर है, धर्म-नीति आदि से विरुद्ध है, तो वह विरोचन का अनुसरण ही समझना चाहिये। वस्तुतस्तु स्थूल व सूक्ष्म शरीर मात्र के लिये ही व्यापृत रहना असुरता है, शरीरातीत के बारे में सोचकर उसकी आनंदमय स्थिति के लिये यत्न करना देवत्व है।)।।२०२।। शरीर को जो सुख दे वह पुण्य और उसे दुःख देने वाला पाप है। शरीर के अनुकूल को ही देवता, साधु आदि समझना चाहिये और प्रतिकूल को असुर। जो प्रतिकूल हो वह सब नष्ट करने योग्य होता है। (शरीर को सुखद हिंसा, अपेयपान, अभक्ष्यभक्षण आदि पुण्य हैं और दुःखद कार्य जैसे प्रातः स्नान, उपवास आदि पाप हैं। सुख भोगने में सहायक विट आदि देवता हैं और उसमें प्रतिबंधक पिता, गुरु आदि असुर हैं। असुरों को मार कर समाप्त कर देना चाहिये।—यह विरोचन का निर्देश है।)।।२०३।। लोक में भी बाप, माँ, बहन, भाई, बहू, पत्नी, पुत्र आदि को तभी तक 'अपना' समझा जाता है जब तक वह अपने अनुकूल हो, जब ये प्रतिकूल हो जाते हैं तब उन्हें 'अपना' नहीं वरन् 'पराया' ही समझा जाता है। (अतः प्रतिकूल होने पर पिता आदि भी दुश्मन समझकर मार डालने योग्य हैं।)।।२०४।।

ब्राह्मणादिवधे पापं परदारादिसङ्गमे। अन्यवित्ताऽपहारे च यदुक्तं तन्मृषा वचः।।२०५
पापं दुःखफलं प्रोक्तं दुःखं चानन्तरं ततः। न लभ्यते सुखं चाऽत्र लभ्यते तदनन्तरम्।।२०६
कालान्तरे च दुःखं स्याद् न तत् तत्कारणं भवेत्। न हि कालान्तरे कर्म स्थातुमर्हति कर्हिचित्।।२०७
कर्मणां स्थापना नाऽत्र कल्पनीया कदाचन। दृष्टलाभे न चादृष्टं कल्प्यते वेदवादिभिः।।२०८
अहिंसा ब्रह्मचर्यादि क्लेशकारं तपो हि यत्। यज्ञादिकं तथा कर्म ह्येतेनैव निराकृतम्।।२०९
पापं दुःखफलं यस्मात् पुण्यं सुखफलं तथा। आहुः सर्वे महात्मानो वेदवादरताः सदा।।२१०

एवं स्वमतमुक्त्वा परमतं दूषयति—ब्राह्मणादीति। ब्रह्मवधादौ पापं भवति इति यद् उच्यते वैदिकैस्तदयुक्तमित्यर्थः।।२०५।। तत्र हेतुतया लक्षणाऽसम्भवमाह—पापमिति। यद् दुःखफलं तदेव पापम् इति वाच्यम्। द्वेषिहिंसाद्यनन्तरं तु सुखम् एव लभ्यते, न दुःखम्; अतस्तस्य पापत्वं कथं स्याद् ? इत्यर्थः।।२०६।। कालान्तरीयदुःखस्य तत्फलत्वकल्पना न युक्ता, व्यवहितयोः कार्यकारणभावस्य असम्भवात्। तावत्पर्यन्तं क्षणिकस्य स्थायित्वकल्पनाया व्याहतत्वात्। नाऽप्यदृष्टव्यापारकल्पना युक्ता, दुःखोदयं प्रति दृष्टस्य अपथ्यसेवनादेरेव हेतुत्वसम्भवे तत्कल्पनावैफल्याद् इत्याह—कालान्तरे चेति। तत् कालान्तरीयं दुःखं तत्कारणकं ब्रह्मवधादिकारणकं न भवेत् तावत् कर्मणः स्थित्ययोगात्। स्थापना स्थितिः। स्फुटमन्यत्।।२०७-८।।

एवं दुःखदस्य पापत्वनिश्चये सति सद्यो दुःखदं तपोयागादि पापत्वेन हेयतामेव भजत इत्याह—अहिंसेति। अहिंसादिरूपं तपो, यज्ञादिरूपं कर्म च एतेन पापलक्षणास्कन्दनेनैव निराकृतं हेयतया बोधितं भवतीत्यर्थः।।२०९।। अत्र वैदिकप्रसिद्धिमनुकूलयति—पापमिति। दुःखफलकत्वेन पापं लक्षयन्तोऽपि वैदिकास्तत्स्वरूपं न जानन्ति, वेदवादमोहितत्वात्। वयन्तु अर्थपरास्तदवगच्छाम इति भावः।।२१०।।

वैदिकादि धार्मिक लोग जो यह कहते हैं कि ब्राह्मणादि को मारने में, पराई औरत से अनुचित सम्पर्क करने में, दूसरे का धन चुराने में तथा ऐसे ही अन्यान्य (दृष्ट सुख देने वाले) कार्यों में पाप होता है, वह बात झूठी है।।२०५।। जिसका फल हो दुःख उसी को पाप कह सकते हैं। दुश्मन को मारने आदि के बाद तो सुख ही होता है, दुःख नहीं होता अतः उसे पाप कैसे माना जाये ?।।२०६।। आस्तिक कहते हैं कि अभी तो नहीं पर सुदूर भविष्य में उस क्रिया के फलस्वरूप दुःख होगा किंतु वह कथन भी असंगत है। काल का व्यवधान रहते कार्य-कारणता मान्य नहीं होती। जब दुःख होगा तब तक हमारा किया यह कर्म किसी तरह रह ही नहीं सकता, कर्म तो क्षणभर में ही समाप्त हो जाता है। इस सन्दर्भ में यह कल्पना कभी उचित नहीं मानी जा सकती कि कर्म किसी सूक्ष्म रूप में, जिसे अदृष्ट अपूर्व आदि कहते हैं, बना रहता है अतः कालव्यवधान से होने वाले दुःखादि के प्रति सुपूर्व कृत ब्राह्मणहत्यादि कारण है; उचित इसलिये नहीं कि जब भी दुःखादि होता है तब उसका कोई न कोई दृष्ट कारण अवश्य होता है और वेदविचारक भी स्वीकारते हैं कि दृष्ट कारण मिले तो अदृष्ट कारण की कल्पना नहीं की जाती। (तात्पर्य है कि आस्तिक कहता है कि हमें दुःख हुआ उसके कारणरूप से पाप को मानना ज़रूरी है क्योंकि पाप ही दुःख का कारण होता है। लेकिन जब भी दुःख होता है उसका कोई लौकिक कारण जेसे चोट, रोग, घाटा, गाली आदि अवश्य दीखता है। कार्य से साक्षात् सम्बद्ध कारण उपलब्ध रहते यह मानने का कोई हेतु नहीं कि उस दुःख का कोई अदृष्ट कारण माना जाये। यदि कोई दृष्ट, लौकिक कारण न हो तभी अदृष्ट को कारण मानकर संतोष किया जा सकता है। इसलिये पाप-दुःख, पुण्य-सुख में कार्यकारणता मानना अन्धविश्वास है यह विरोचन समझा रहा है।)।।२०७-८।।

क्योंकि दुःखप्रदता ही पाप का लक्षण है इसलिये तत्काल दुःखदायी जो अहिंसा, ब्रह्मचर्य आदि तपस्याएँ और यज्ञ आदि कर्म उन्हें पाप समझकर छोड़ देना ही उचित है।।२०९।। वेदविचारक सभी महात्मा यह स्वीकारते ही हैं कि पाप का फल दुःख तथा पुण्य का फल सुख है इसलिये तप, यज्ञादि को दुःखद देखकर उन्हें पाप घोषित करना ही ठीक है, न कि आस्तिकों की तरह उन्हें अच्छा मानना, पुण्य मानना।।२१०।।

वेदानां सम्प्रदायोऽयं भीरूणां हृदयं गतः। विपरीतं तथाऽभीते सुखदुःखफलप्रदम्। ।२११
तत आरभ्य दैत्येन्द्रा द्विधाऽयं परिवर्तते। धीराणामपि भीरूणां सम्प्रदायोऽतिभेदवान्। ।२१२
भीरूणां सम्प्रदायोऽयं ब्राह्मणाद्यैः कृतो महान्। वीराणां वर्तते दैत्या! मय्येवान्यत्र न क्वचित्। ।२१३
एवं जानाम्यहं दैत्या! ब्रह्मा देवगुरुस्तथा। रहस्यः सम्प्रदायोऽयं निन्दितोऽज्ञैरनेकधा।
अशक्तैश्च महाभागा! युष्मानद्य समागतः। ।२१४
स्वबाहुबलतस्त्वेनं सर्वलोकसुखप्रदम्। स्थापयन्तु महावीर्याः पुण्यकृच्च जगत्त्रये। ।२१५

स्वस्य वेदार्थवित्त्वं ब्राह्मणादीनां तत्र भ्रान्तत्वं च स्फुटयितुं वेदार्थोपदेशपरम्पराया द्वैविध्यमाह—वेदानामिति। अयं सम्प्रदायः परम्परोपदेशः पुरा ये भीरवः 'हिंसादिकृतौ कोऽनर्थ आपतेद्' इत्येवं भयदूषितचित्ता आसंस्तेषां हृदयं प्रविष्टः। 'अयं' कः? सुखदुःखप्रदं विपरीतं—सद्यः सुखप्रदं हिंसादि पापं, सद्यो दुःखप्रदं यागादि पुण्यम्! इति यावत्! यस्तु पुराऽभीतो भयदोषहीन आसीत्तस्मिंस्तु तथा 'अस्य यत् सुखदम्' (श्लोक.२०३) इत्यादिना मदुक्तरूप एव सम्प्रदायः स्थित इत्यर्थः। ।२११। । तत इति। ततः तान् पुराकालिकान् भीरून् अभीरूंश्च आरभ्य इदानीन्तनेष्वपि द्वैरूप्येणैव अयं सम्प्रदायो वर्तते यतो धीरत्वभीरुत्वाभ्यामधिकारिभेदे सति अतिभेदवान् ऐकरूप्यानर्ह इत्यर्थः। ।२१२। । तत्र भीरुसम्प्रदायो ब्राह्मणैर्देवादिभिश्च बहुधा प्रवर्तितो दृश्यते। वीरयोग्यो द्वितीयस्तु प्रजापतिशिष्ये मय्येव वर्तत इत्याह—भीरूणामिति। ।२१३। । वीरसम्प्रदायस्य प्रख्यात्यभावे हेतूनाह—एवमिति। यतो ब्रह्मा तच्छिष्योऽहं चैतौ द्वावेव जानीवः इतरे जनास्तु अज्ञान-दुःसङ्ग-ऽशक्तिभिर्दूषिताः कथमनुतिष्ठन्तु? हे दैत्या! स सम्प्रदायो महाभागान् युष्मान् प्रति मदुपदेशेन प्राप्त इत्यर्थः। ।२१४। । स्वबाहुबलत इति। एनं सम्प्रदायं भवन्तः स्वबलेन जगत्त्रये लोकत्रये स्थापयन्तु प्रसृतं कुर्वन्तु यतोऽयं पुण्यकृत् पुण्यस्य सद्यः सुखदस्य हेतुः। ।२१५। ।

वेदार्थ सही तरह तो हमें (विरोचनादि को) ही पता है। वेद मानने वाले दो प्रकार के हुए हैं—धीरु और भीरु। 'हिंसा आदि से न जाने क्या अनर्थ हो जायेगा!' —इस भय वाले भीरु-जनों के मन में सुख-दुःख देने वाले पुण्य-पाप उलटे ही समझ आये हैं। सद्यःसुख प्रदान करने वाले हिंसादि को वे पाप और सद्यःदुःखप्रद यागादि को वे पुण्य माने बैठे हैं। जो यों भयभीत नहीं, बुद्धिमान् हैं वे ही सही संप्रदाय समझ पाये हैं, वही सम्प्रदाय मैंने अभी बताया। ।२११। । प्राचीन धीरु और भीरु लोगों से लेकर आज तक यह परस्पर अत्यंत भेद वाला दो प्रकार का वैदिक संप्रदाय चला आ रहा है। ।२१२। । भीरु अधिकारियों का संप्रदाय ब्राह्मणों, देवताओं आदि द्वारा अत्यधिक प्रचारित है। वीरों का संप्रदाय तो साक्षात् प्रजापति से मुझे ही मिला है, अन्य कोई इस सम्प्रदाय का अनुसर्त्ता नहीं है। ।२१३। । देवगुरु ब्रह्मा जी और मैं, हम दो ही इस गुह्य वीर-सम्प्रदाय को समझते हैं। अज्ञानी, दुःसंगी और शक्तिहीन लोग हमारे धीरु सम्प्रदाय की अनेक प्रकार से निंदा करते हैं क्योंकि वे इसके अनुसरण में असमर्थ हैं। हे दैत्यो! आप अतीव सौभाग्यशाली हैं कि आज आपको यह गुप्त परंपरा प्राप्त हुई है। ।२१४। ।

आप लोग अपने भुजबल से इस संप्रदाय की त्रिलोकी में स्थापना कीजिए। आप महान् वीर हैं अतः यह कार्य आसानी से कर सकते हैं। निश्चय रखिये कि सभी लोगों को सुख देने वाला और वास्तविक पुण्य का हेतु यह धीरु-संप्रदाय ही है। (ईसाई-मुसलमान इस विरोचनाज्ञा का अक्षरशः पालन करते हैं, अपने बाहुबल, धनबल आदि के उपयोग से अपने मतों को दूसरों पर लादते हैं। ईसाइयों ने शिक्षाबल भी खोज लिया है, शिक्षा देने के बहाने वे ईसाई संस्कृति के संस्कार आबाल्य रोपित करते हैं जिससे वे मतांतरण में सक्षम हैं। यह असुरों का कर्तव्य ही है, उनके आद्याचार्य का निर्देश ही है!) ।२१५। । हे असुरो! इस संप्रदाय को स्थापित करने के लिये पहले विरोधियों को समाप्त करना चाहिये।

ब्राह्मणादिवधे पापं परदारादिसङ्गमे। अन्यवित्ताऽपहारे च यदुक्तं तन्मृषा वचः।।२०५
पापं दुःखफलं प्रोक्तं दुःखं चानन्तरं ततः। न लभ्यते सुखं चाऽत्र लभ्यते तदनन्तरम्।।२०६
कालान्तरे च दुःखं स्याद् न तत् तत्कारणं भवेत्। न हि कालान्तरे कर्म स्थातुमर्हति कर्हिचित्।।२०७
कर्मणां स्थापना नाऽत्र कल्पनीया कदाचन। दृष्टलाभे न चादृष्टं कल्प्यते वेदवादिभिः।।२०८
अहिंसा ब्रह्मचर्यादि क्लेशकारं तपो हि यत्। यज्ञादिकं तथा कर्म ह्येतेनैव निराकृतम्।।२०९
पापं दुःखफलं यस्मात् पुण्यं सुखफलं तथा। आहुः सर्वे महात्मानो वेदवादरताः सदा।।२१०

एवं स्वमतमुक्त्वा परमतं दूषयति—ब्राह्मणादीति। ब्रह्मवधादौ पापं भवति इति यद् उच्यते वैदिकैस्तदयुक्तमित्यर्थः।।२०५।। तत्र हेतुतया लक्षणाऽसम्भवमाह—पापमिति। यद् दुःखफलं तदेव पापम् इति वाच्यम्। द्वेषिहिंसाद्यनन्तरं तु सुखम् एव लभ्यते, न दुःखम्; अतस्तस्य पापत्वं कथं स्याद् ? इत्यर्थः।।२०६।। कालान्तरीयदुःखस्य तत्फलत्वकल्पना न युक्ता, व्यवहितयोः कार्यकारणभावस्य असम्भवात्। तावत्पर्यन्तं क्षणिकस्य स्थायित्वकल्पनाया व्याहतत्वात्। नाऽप्यदृष्टव्यापारकल्पना युक्ता, दुःखोदयं प्रति दृष्टस्य अपथ्यसेवनादेरेव हेतुत्वसम्भवे तत्कल्पनावैफल्याद् इत्याह—कालान्तरे चेति। तत् कालान्तरीयं दुःखं तत्कारणकं ब्रह्मवधादिकारणकं न भवेत् तावत् कर्मणः स्थित्ययोगात्। स्थापना स्थितिः। स्फुटमन्यत्।।२०७-८।।

एवं दुःखदस्य पापत्वनिश्चये सति सद्यो दुःखदं तपोयागादि पापत्वेन हेयतामेव भजत इत्याह—अहिंसेति। अहिंसादिरूपं तपो, यज्ञादिरूपं कर्म च एतेन पापलक्षणास्कन्दनेनैव निराकृतं हेयतया बोधितं भवतीत्यर्थः।।२०९।। अत्र वैदिकप्रसिद्धिमनुकूलयति—पापमिति। दुःखफलकत्वेन पापं लक्षयन्तोऽपि वैदिकास्तत्स्वरूपं न जानन्ति, वेदवादमोहितत्वात्। वयन्तु अर्थपरास्तदवगच्छाम इति भावः।।२१०।।

वैदिकादि धार्मिक लोग जो यह कहते हैं कि ब्राह्मणादि को मारने में, पराई औरत से अनुचित सम्पर्क करने में, दूसरे का धन चुराने में तथा ऐसे ही अन्यान्य (दृष्ट सुख देने वाले) कार्यों में पाप होता है, वह बात झूठी है।।२०५।। जिसका फल हो दुःख उसी को पाप कह सकते हैं। दुश्मन को मारने आदि के बाद तो सुख ही होता है, दुःख नहीं होता अतः उसे पाप कैसे माना जाये ?।।२०६।। आस्तिक कहते हैं कि अभी तो नहीं पर सुदूर भविष्य में उस क्रिया के फलस्वरूप दुःख होगा किंतु वह कथन भी असंगत है। काल का व्यवधान रहते कार्य-कारणता मान्य नहीं होती। जब दुःख होगा तब तक हमारा किया यह कर्म किसी तरह रह ही नहीं सकता, कर्म तो क्षणभर में ही समाप्त हो जाता है। इस सन्दर्भ में यह कल्पना कभी उचित नहीं मानी जा सकती कि कर्म किसी सूक्ष्म रूप में, जिसे अदृष्ट अपूर्व आदि कहते हैं, बना रहता है अतः कालव्यवधान से होने वाले दुःखादि के प्रति सुपूर्व कृत ब्राह्मणहत्यादि कारण है; उचित इसलिये नहीं कि जब भी दुःखादि होता है तब उसका कोई न कोई दृष्ट कारण अवश्य होता है और वेदविचारक भी स्वीकारते हैं कि दृष्ट कारण मिले तो अदृष्ट कारण की कल्पना नहीं की जाती। (तात्पर्य है कि आस्तिक कहता है कि हमें दुःख हुआ उसके कारणरूप से पाप को मानना ज़रूरी है क्योंकि पाप ही दुःख का कारण होता है। लेकिन जब भी दुःख होता है उसका कोई लौकिक कारण जेसे चोट, रोग, घाटा, गाली आदि अवश्य दीखता है। कार्य से साक्षात् सम्बद्ध कारण उपलब्ध रहते यह मानने का कोई हेतु नहीं कि उस दुःख का कोई अदृष्ट कारण माना जाये। यदि कोई दृष्ट, लौकिक कारण न हो तभी अदृष्ट को कारण मानकर संतोष किया जा सकता है। इसलिये पाप-दुःख, पुण्य-सुख में कार्यकारणता मानना अन्धविश्वास है यह विरोचन समझा रहा है।)।।२०७-८।।

क्योंकि दुःखप्रदता ही पाप का लक्षण है इसलिये तत्काल दुःखदायी जो अहिंसा, ब्रह्मचर्य आदि तपस्याएँ और यज्ञ आदि कर्म उन्हें पाप समझकर छोड़ देना ही उचित है।।२०९।। वेदविचारक सभी महात्मा यह स्वीकारते ही हैं कि पाप का फल दुःख तथा पुण्य का फल सुख है इसलिये तप, यज्ञादि को दुःखद देखकर उन्हें पाप घोषित करना ही ठीक है, न कि आस्तिकों की तरह उन्हें अच्छा मानना, पुण्य मानना।।२१०।।

वेदानां सम्प्रदायोऽयं भीरूणां हृदयं गतः। विपरीतं तथाऽभीते सुखदुःखफलप्रदम्। ।२११
तत आरभ्य दैत्येन्द्रा द्विधाऽयं परिवर्तते। धीराणामपि भीरूणां सम्प्रदायोऽतिभेदवान्। ।२१२
भीरूणां सम्प्रदायोऽयं ब्राह्मणाद्यैः कृतो महान्। वीराणां वर्तते दैत्या! मय्येवान्यत्र न क्वचित्। ।२१३
एवं जानाम्यहं दैत्या! ब्रह्मा देवगुरुस्तथा। रहस्यः सम्प्रदायोऽयं निन्दितोऽज्ञैरनेकधा।
अशक्तैश्च महाभागा! युष्मानद्य समागतः। ।२१४
स्वबाहुबलतस्त्वेनं सर्वलोकसुखप्रदम्। स्थापयन्तु महावीर्याः पुण्यकृच्च जगत्त्रये। ।२१५

स्वस्य वेदार्थवित्त्वं ब्राह्मणादीनां तत्र भ्रान्तत्वं च स्फुटयितुं वेदार्थोपदेशपरम्पराया द्वैविध्यमाह—वेदानामिति। अयं सम्प्रदायः परम्परोपदेशः पुरा ये भीरवः 'हिंसादिकृतौ कोऽनर्थ आपतेद्' इत्येवं भयदूषितचित्ता आसंस्तेषां हृदयं प्रविष्टः। 'अयं' कः? सुखदुःखप्रदं विपरीतं—सद्यः सुखप्रदं हिंसादि पापं, सद्यो दुःखप्रदं यागादि पुण्यम्! इति यावत्! यस्तु पुराऽभीतो भयदोषहीन आसीत्तस्मिंस्तु तथा 'अस्य यत् सुखदम्' (श्लोक.२०३) इत्यादिना मदुक्तरूप एव सम्प्रदायः स्थित इत्यर्थः। ।२११। । तत इति। ततः तान् पुराकालिकान् भीरून् अभीरूंश्च आरभ्य इदानीन्तनेष्वपि द्वैरूप्येणैव अयं सम्प्रदायो वर्तते यतो धीरत्वभीरुत्वाभ्यामधिकारिभेदे सति अतिभेदवान् ऐकरूप्यानर्ह इत्यर्थः। ।२१२। । तत्र भीरुसम्प्रदायो ब्राह्मणैर्देवादिभिश्च बहुधा प्रवर्तितो दृश्यते। वीरयोग्यो द्वितीयस्तु प्रजापतिशिष्ये मय्येव वर्तत इत्याह—भीरूणामिति। ।२१३। ।वीरसम्प्रदायस्य प्रख्यात्यभावे हेतूनाह—एवमिति। यतो ब्रह्मा तच्छिष्योऽहं चैतौ द्वावेव जानीवः इतरे जनास्तु अज्ञान-दुःसङ्ग-ऽशक्तिभिर्दूषिताः कथमनुतिष्ठन्तु? हे दैत्या! स सम्प्रदायो महाभागान् युष्मान् प्रति मदुपदेशेन प्राप्त इत्यर्थः। ।२१४। । स्वबाहुबलत इति। एनं सम्प्रदायं भवन्तः स्वबलेन जगत्त्रये लोकत्रये स्थापयन्तु प्रसृतं कुर्वन्तु यतोऽयं पुण्यकृत् पुण्यस्य सद्यः सुखदस्य हेतुः। ।२१५। ।

वेदार्थ सही तरह तो हमें (विरोचनादि को) ही पता है। वेद मानने वाले दो प्रकार के हुए हैं—धीरु और भीरु। 'हिंसा आदि से न जाने क्या अनर्थ हो जायेगा!' —इस भय वाले भीरु-जनों के मन में सुख-दुःख देने वाले पुण्य-पाप उलटे ही समझ आये हैं। सद्यःसुख प्रदान करने वाले हिंसादि को वे पाप और सद्यःदुःखप्रद यागादि को वे पुण्य माने बैठे हैं। जो यों भयभीत नहीं, बुद्धिमान् हैं वे ही सही संप्रदाय समझ पाये हैं, वही सम्प्रदाय मैंने अभी बताया। ।२११। । प्राचीन धीरु और भीरु लोगों से लेकर आज तक यह परस्पर अत्यंत भेद वाला दो प्रकार का वैदिक संप्रदाय चला आ रहा है। ।२१२। । भीरु अधिकारियों का संप्रदाय ब्राह्मणों, देवताओं आदि द्वारा अत्यधिक प्रचारित है। वीरों का संप्रदाय तो साक्षात् प्रजापति से मुझे ही मिला है, अन्य कोई इस सम्प्रदाय का अनुसर्त्ता नहीं है। ।२१३। । देवगुरु ब्रह्मा जी और मैं, हम दो ही इस गुह्य वीर-सम्प्रदाय को समझते हैं। अज्ञानी, दुःसंगी और शक्तिहीन लोग हमारे धीरु सम्प्रदाय की अनेक प्रकार से निंदा करते हैं क्योंकि वे इसके अनुसरण में असमर्थ हैं। हे दैत्यो! आप अतीव सौभाग्यशाली हैं कि आज आपको यह गुप्त परंपरा प्राप्त हुई है। ।२१४। ।

आप लोग अपने भुजबल से इस संप्रदाय की त्रिलोकी में स्थापना कीजिए। आप महान् वीर हैं अतः यह कार्य आसानी से कर सकते हैं। निश्चय रखिये कि सभी लोगों को सुख देने वाला और वास्तविक पुण्य का हेतु यह धीरु-संप्रदाय ही है। (ईसाई-मुसलमान इस विरोचनाज्ञा का अक्षरशः पालन करते हैं, अपने बाहुबल, धनबल आदि के उपयोग से अपने मतों को दूसरों पर लादते हैं। ईसाइयों ने शिक्षाबल भी खोज लिया है, शिक्षा देने के बहाने वे ईसाई संस्कृति के संस्कार आबाल्य रोपित करते हैं जिससे वे मतांतरण में सक्षम हैं। यह असुरों का कर्तव्य ही है, उनके आद्याचार्य का निर्देश ही है!) ।२१५। । हे असुरो! इस संप्रदाय को स्थापित करने के लिये पहले विरोधियों को समाप्त करना चाहिये।

अस्य मार्गस्य सततं ब्राह्मणाः प्रतिपक्षिणः। यज्ञादिनिरतास्तद्वद् ब्रह्मचर्यादिसाधनाः।।२१६

देवा ये च निसर्गेण स्युरस्माकं च शत्रवः। दुर्बलाः प्राणिनश्चान्य एनं पक्षमुपाश्रिताः।।
अस्माकं वैरपक्षस्था अस्मन्निन्दापरायणाः।।२१७

निघ्नन्तु सकलानेतान् वेदमार्गविरोधिनः। अन्यथाज्ञानिनः पापानस्मासु च विरोधिनः।।२१८

एवं कृते मया प्रोक्ते सुखं वोऽत्र भविष्यति। परलोके च दैत्येन्द्रा दयां त्यजथ सर्वथा।।२१९

एवमुक्तास्तदा दैत्याः पापात्मानो निसर्गतः। निर्घृणाः क्रूरकर्माणः प्रभुणा गुरुणा ततः।।
कृतवन्तस्तथैवैतज्जगत्सर्वं समाकुलम्।।२२०

सम्प्रदायो महांस्तेषां ब्राह्मणादिविरोधकृत। लभ्यतेऽत्र तथाऽऽचारो जीवने मरणेऽपि च।।२२१

अस्य स्थापनोपायः प्रतिपक्षनिरास एव इति वक्तुं प्रतिपक्षान् कीर्तयति—अस्येति। अस्य वीरयोग्यस्य ब्राह्मणा देवाः तथा अन्ये दुर्बलाः च प्रतिपक्षाः। स्फुटमन्यद् द्वयोः।।२१६-७।। एते सर्वे वीरयोग्यस्य वेदोक्तमार्गस्य विरोधिनो विपर्यस्ता अस्मासु दितिजादिषु द्वेषशालिनश्च भवद्भिर्हन्तव्या इत्याह—निघ्नन्त्विति।।२१८।। उपसंहरति—एवमिति। इत्थं मदुक्ते कृते सति युष्माकम् अत्र इह लोके तथा परलोके च सुखं भविष्यति। तत्रैष मदुपदेशसंग्रहो—यद् दयां परदुःखेन दुःखितत्वरूपां भीरुसम्प्रदाय-सन्तानिकां त्यजथेति।।२१९।।

एवं विरोचनेन राज्ञा गुरुणा च सता श्रावितोपनिषत्कास्ते दैत्याः साधून् निहत्य स्वमतं प्रवर्तितवन्त इत्याह—एवमुक्ता इति।।२२०।।

'तस्मादद्यत्वेऽपी' तिकण्डिकाशेषस्य[1] असुरमतापवादकस्य अर्थमाह—सम्प्रदाय इति चतुर्दशभिः। तेषाम् असुराणां सम्प्रदायो ब्राह्मणादिविरोधप्रयोजकदम्भदर्पादिलक्षणः तथाऽऽचारो जीवने शरीरपोषणपरत्वरूपो मरणे शरीरालङ्काररूपश्च अत्र लोके प्रायशो लभ्यते दृश्यत इत्यर्थः।।२२१।। अद्यापीति। यतोऽसुरसम्प्रदायो मनुष्या-

वीरोचित इस मार्ग के स्थाई विरोधी वे ब्राह्मण हैं जो ब्रह्मचर्य आदि साधनों का सहारा लिये रहते हैं, यज्ञादि में संलग्न रहते हैं। हमारे स्वाभाविक दुश्मन जो देवता वे भी इस धीरुमार्ग में रुकावट डालते हैं। अन्य भी दुर्बल प्राणी भीरुपक्ष का सहारा लेकर हमारा विरोध और हमारी निंदा करते रहते हैं।।२१६-७।। हमारा मार्ग ही सच्चा वेदानुसारी है। इसके विरोधी पापी हैं, उन्हें वेदसिद्धान्त के बारे में ग़लत-फ़हमी है। अतः हम दैत्यों के जो विरोधी हैं उन्हें आप लोग मार डालिये।।२१८।। मैंने जैसा समझाया वैसा यदि आप लोग अनुष्ठान करेंगे तो इस लोक में और परलोक में आप अवश्य सुख पायेंगे। मेरे उपदेश का संक्षेप इतना ही है कि दूसरे के दुःख से कभी दुःखी नहीं होना चाहिये, किसी भी तरह दया नहीं करनी चाहिये।।२१९।।

(श्लोक १७३-२१९ तक) विरोचन द्वारा उक्त ढंग से समझाये जाने पर दैत्यों ने सज्जनों पर अत्याचार प्रारंभ कर दिये और सारे संसार को अव्यवस्थित व दुःखी कर अपना मत स्थापित करने लगे। दैत्य स्वभाव से ही पापी हैं, उनके चित्त में पाप करने की प्रेरणा स्वतः होती है, वे हमेशा मार-काट आदि क्रूरता के कर्मों में संलग्न रहते हैं अतः उनमें दया का उन्मेष होता नहीं। (जैसे बंदर स्वतः चंचल होता है, उसे शराब पिला दें तो उसके उत्पात का क्या कहना! वैसे ही) जब दैत्यों को उनके गुरु राजा विरोचन ने निर्दय क्रूरता की आज्ञा दे दी व उसीको पुरुषार्थोपाय समझा दिया तब उन दैत्यों ने जैसा संहार-ताण्डव मचाया उसकी कल्पना से भी सिहरन हो जाती है!।।२२०।।

१. 'तस्मादप्यद्येह अददानम् अश्रद्दधानमयजमानमाहुः—आसुरो बत! इति। असुराणां ह्येषोपनिषत्। प्रेतस्य शरीरं भिक्षया वसनेनाऽलंकारेणेति संस्कुर्वन्ति, एतेन ह्यमुं लोकं जेष्यन्तो मन्यन्ते।।५।।'

अद्यापि ते महात्मानो ब्राह्मणा दीर्घदर्शिनः। एवमाहुः सदाचारा दृष्ट्वा पापरतं जनम्।
नास्तिकं मोक्षरहितं यथेष्टाचारिणं सदा।।२२२
आसुरो जन एवाऽयम् आसुरं कर्म सर्वदा। कुतोऽयं नास्तिको भूत्वा यज्ञादिपरिवर्जितः।।२२३
मृते सति तथा प्रेतं भक्ष्यवस्त्रादिना मुहुः। अलङ्करोति बहुशो मूढो वै स्वस्य मायया।।२२४
अलङ्कारादिना चैवं कृते च प्रेतदेहके। परलोकजयं यस्मान्मन्यतेऽयमतीव च।।२२५
अहो! मौर्ख्यस्य माहात्म्यं मन्दस्य परिवर्तते। आत्मा देहस्ततो नान्यो मृतश्च पुनरेव सः।।
परलोकफलं गच्छेत् प्रेतालङ्करणेन ह।।२२६

दिष्वप्यनुगतस्तत इदानीमपि पापरतं नास्तिकं यागदानादिसत्कर्मविमुखं मोक्षरहितं मोक्षे श्रद्धाहीनमत एव यथेष्टाचारिणं च जनं दृष्ट्वा त आस्तिकाः सज्जना एवं वदन्तीति।।२२२।। 'एवं' कथम्? इत्याकांक्षायामाह—आसुर इत्यादि। अयं पापरतो जन आसुरः असुरसम्प्रदायवर्ती भवति, आसुरम् असुराणां प्रियं कर्म हिंसादि सर्वदा करोति इति शेषः। यद्येवं न स्यात्तदाऽयं नास्तिक्येन यज्ञादिविमुखः कुतः स्यादित्यर्थः।।२२३।। तथा मृतदेहालंकारेण परलोकजयाशंसाऽपि मोहमयी विनाऽसुरावेशं कथं स्याद्? इत्याह—मृते सतीति। मरणोत्तरं यत् प्रेतमलङ्करोति ततो ज्ञायतेऽयं स्वरूपाज्ञानरूपया मायया मूढ इतीत्यर्थः।।२२४।। अलङ्कारादिनेति। यस्मादयम् इति मन्यते विश्वसिति। 'इति' किम्? अलङ्कारादिना प्रेतदेहे एवं कृते पूजिते सति अतीव अतिशयेन परलोकजयः स्याद् इति।।२२५।।

एषोऽस्थाने विभ्रमः कथं मौर्ख्यं विना शोभेतेत्याहुः—अहो! इति। माहात्म्यं विलासः परिवर्तते सन्ततो भवति यतः प्रथमं देह आत्मत्वं भाति ततः स देहरूप आत्मा मृतः सन् शवालङ्करणेन परलोके सत्फलं भुंक्त इति भातीत्यर्थः।।२२६।। उपपत्तिलेशोऽप्यत्र अनुकूलो नास्तीत्याह—तस्येति। प्रेतशवे भूमिभावं गते सति तस्य

असुरों का संप्रदाय बहुत फैला। (आज भी सर्वाधिक जनता ईसाई-मुस्लिम है।) उस संप्रदाय वालों का सामान्य कार्यक्रम ब्राह्मण, वेद, देवता, धर्म आदि का विरोध करना ही है और ऐसा करने में वे अपने को बड़ा समझते हैं! (आज भी पोप आदि यही घोषणा करते हैं कि वे ही सत्य के जानकार हैं, जो उनके अनुयायी नहीं वे सब अंधकार में हैं और उन्हें सत्य का प्रकाश देना सब ईसाइयों का फर्ज़ है, अर्थात् सत्य के धारक होने से भी वे श्रेष्ठ हैं और आगे गुरु बनकर भी श्रेष्ठ होंगे! यों उनमें घमण्ड कूट-कूट कर भरा है।) असुर-संप्रदाय के अनुसार जीवन का सदाचार है शरीर के पोषण में तत्पर रहना तथा मृत्यु पर आचार है शव को सजा-धजा कर सुरक्षित रखने के उद्देश्य से दफना देना, ये आचार संसार में बहुत प्रचलित हैं।।२२१।।

विरोचन का संप्रदाय प्रारंभ असुरों से हुआ पर पहुँच मनुष्यों में भी गया, इसलिये आज भी जब देखा जाता है कि कोई व्यक्ति उत्साह से पाप करता है, वेद परलोक आदि को मानता नहीं, याग दान आदि सत्कर्मों से विमुख रहता है, संसार बंधनरूप है व इससे सर्वथा छूटना परम कल्याण है इस तथ्य को स्वीकारता नहीं, अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिये जैसा अनुकूल हो वैसा कर लेता है, यही सही-गलत का मापदण्ड मानता है कि इच्छा-पूरक सही है तथा इच्छाविरोधी गलत है, तब दूरदर्शी ब्राह्मण महात्मा उस व्यक्ति को असुर ही समझते हैं।।२२२।। वे जानकार सज्जन कहते हैं कि 'यह व्यक्ति असुरों के सम्प्रदाय का अनुसर्ता है इसी से हमेशा वैसे ही कुकर्म करता है जैसे असुरों को पसंद आते हैं। यदि ऐसा न होता, यह नास्तिक न होता, वेदविरोधी न होता तो देवपूजन आदि सत्कर्मों से हमेशा विमुख क्योंकर होता!'।।२२३।। असुरोचित बुद्धि के बिना यह आशा किसीको कैसे हो सकती है कि मुर्दा सजाने से परलोक सुधरेगा! अतः वैदिक कहते हैं 'मर जाने पर शव को वस्त्र, भोजन आदि से बहुत तरह से सजाते हैं जिससे पता चल जाता है कि आत्मस्वरूप के अज्ञानरूप माया से ये पूर्णतः अविवेकग्रस्त हैं।।२२४।। इनकी असुरमति इसीसे निश्चित है कि ये मानते हैं कि मुर्दे को गहने आदि से सजाने का फल होगा कि परलोक पूरी तरह जीत लिया जायेगा!'।।२२५।।

तस्य देहस्य केन स्यात् पुनरुत्थानमेव यत्। भूमिभावं गते प्रेते तत्र यन्नोपपद्यते।।
महातडागसंस्थानां मण्डूकानां निदर्शनम्।।२२७

यतः शुष्के सरस्येते सर्वावयवसंयुताः। मूर्छिताः पुनरुत्थानं प्राप्नुयुर्मेघनीरतः।।
विनष्टसर्वावयवाः पुनर्जीवन्ति नैव ते।।२२८

दृष्टे सति न तत्त्वं स्याददृष्टमिति यन्मतम्। तदस्यैव परावृत्तमत्रैतन्मृतजीवने।।२२६

नारदाद्याश्च भृग्वाद्याः शक्रस्वायम्भुवादयः। महावीर्याः कथं नु स्युर्भीरवः सर्ववेदिनः।।२३०

विनष्टस्यैव देहस्य पुनरुत्थानं कथं स्यात्! ननु मृल्लीनमण्डूकवत् स्यात्? इति शङ्कां परिहरति—तत्रेत्यादिना। यद् यतः तत्र अर्थे मण्डूकानां निदर्शनं दृष्टान्ती करणं नोपपद्यते न सम्भवतीत्यर्थः।।२२७।। तत्र हेतुतया वैषम्यमाह—यत इति। यतः सरसि शुष्के सति सर्वाङ्गैः अविशीर्णैः उपेता मण्डूका जलवियोगेन मूर्च्छिताः सन्तः पुनः मेघनीरसान्निध्येन उत्तिष्ठन्तीति सम्भवति। अत्र तु विशीर्णावयवस्य देहस्य पुनरुत्थानं कथं स्याद् यतः ते दृष्टान्ती कृता मण्डूका अपि काकादिभिः विदारितावयवा ये भवन्ति ते पुनर्न उत्तिष्ठन्तीति प्रसिद्धमित्यर्थः।।२२८।। प्राजापत्यवायुसंसर्गप्रभावाद् विशीर्णोत्थानमाशंक्य; तदीययुक्त्यैव उष्ट्रलगुडन्या येन परिहरति—दृष्टे सतीति। दृष्टे फले सति लभ्यमाने अदृष्टं तत्त्वं वस्तुस्वरूपं न स्याद् न कल्पनायोग्यम् इति यन्मतम् आस्तिकसम्प्रदायनिरासाय तर्कितं विरोचनस्यासीत् तद् एतद् दूषणं प्राजापत्यवायुवशाद् मृतजीवनं कल्पयतः अस्य विरोचनस्यैव मूर्द्धनि पतितमित्यर्थः।।२२६।। यच्च भीरुप्रवर्तितत्वमास्तिकपथस्य उच्यते तद् आन्ध्यविलसितमित्याह—नारदाद्या इति। नु इति वितर्के।।२३०।।

आश्चर्य है कि ऐसी भी मतिमन्दता हो सकती है, मूर्खता का इतना भी साम्राज्य हो सकता है। आत्मा तो देह को माना, देहातिरिक्त आत्मा स्वीकारा नहीं, वह देह मरा हुआ प्रत्यक्ष ही पड़ा रहता है और फिर मानते हैं कि मुर्दा सजाने से परलोक में फल मिलेगा! (परलोक जायेगा ऐसा जब आत्मा माना ही नहीं तब उसके निमित्त शवसज्जा आदि का क्या प्रयोजन?)।।२२६।। गड़ा शरीर तो कुछ ही समय में मिट्टी बन जाता है अतः असुरों का यह मानना कि सुदूर भविष्य में प्रजापति के शरीर की वायु से सारे शव उठ खड़े होंगे, किसी भी युक्ति के अनुकूल नहीं है। बड़ा तालाब सूख जाने पर जैसे मिट्टी में लीन मेंढक पुनः वर्षा होने पर सचेष्ट हो जाते हैं वैसे ही मानव देहों का पुनरुत्थान हो सके यह संभव नहीं। सूखे तालाब की भूमि में मेंढक मूर्छित अवस्था में रहते हैं और उनके शरीर के सभी अवयव यथावत् रहते हैं, केवल सूख जाते हैं अतः बरसात के पानी से पुनः कार्यकारी हो जाते हैं और मेंढक भी जाग्रत् हो जाते हैं। यदि किसी कारण से मेंढक का शरीर विशीर्ण हो जाये, उसके आवश्यक अंग नष्ट हो जायें, तो वर्षा से भी उनका पुनरुत्थान संभव नहीं। मानव शव के तो सभी अवयव पूर्णतः विनष्ट हो जाते हैं अतः उसका पुनरुज्जीवन असंभव है।।२२७-८।।

असुरों का सिद्धांत है कि प्रत्यक्षसिद्ध पदार्थों से व्यवस्था बनने पर अदृष्ट वस्तु की कल्पना नहीं की जा सकती अतः जो वे ऐसा मानते हैं कि मरा व्यक्ति उठता है वह मानना उन्हीं के उक्त सिद्धांत से विरुद्ध है (क्योंकि देहरूप आत्मा प्रत्यक्ष ही मिट्टी बन चुका है और उसका पुनः जी उठना किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं तथा वैसा मानने में कोई युक्ति भी नहीं)।।२२६।। ऐसे ही आस्तिक सिद्धांत को डरपोकों का मार्ग कहना विमूढता ही है, नारदादि देवर्षि, भृगु आदि महर्षि, इन्द्र आदि देवता, स्वायम्भुव आदि प्रजापति—सभी महान् शक्तिसंपन्न रहे, उन सर्वज्ञों को डरपोक कैसे माना जाये?।।२३०।।

विरोचनस्ततो दैत्यः कामज्वरवशंगतः। जजल्प स्वात्महीनांस्तांस्तत्र यत्किञ्चिदेव यत्। ।२३१
तन्मतात् कामुको भूत्वा नरकग्राममार्गगः। दुस्तर्कैरात्मनः पापं पुण्यं कर्तुं समुद्यतः।
अकीर्तिमतुलां प्राप्य लोकेऽस्मिन् पापमोहितः। ।२३२
परलोके तथा दुःखं प्रतीकारविवर्जितम्। यास्यतीत्यादि बहुशः प्राहुस्ते न्यायसंयुतम्। ।२३३
तस्माद् वैरोचनो मार्गो न गन्तव्यः कदाचन। अपि कण्ठगतैः प्राणैः स्वात्मनः सुखकारिभिः। ।२३४

इन्द्रस्य पुनर्ब्रह्मगमनम्

इन्द्रस्ततोऽत्र विज्ञाय तामसं तं विरोचनम्। अर्द्धमार्गे शनैर्गच्छंस्त्यक्तवान् सुखवित्तये। ।२३५
तं त्यक्त्वा क्वचिदासीनो देवानप्राप्य देवराट्। दृष्टवान् भयमेतत् स बुद्धिमान् स्वयमात्मनि। ।२३६

तस्मात् सर्वप्रमाणविरुद्धं वैरोचनं मतम् उन्मत्तप्रलपितत्वेन हेयमित्याह—विरोचन इति। यद् यस्मात् स्वात्महीनान् असुरान् प्रति तत्र दैत्यसभायां यत्किञ्चिद् अयुक्तमेव जजल्प कथितवांस्ततो हेतोः कामज्वरेण व्यामोहितचित्त एव विरोचनो बोध्य इत्यर्थः। ।२३१। । ये तु तन्मतमनुसरिष्यन्ति त 'आसुरीं योनिमापन्ना' इत्यादि (१६.२०) गीतोक्तं दुर्विपाकं यास्यन्तीत्याह—तन्मतादिति। यस्तु कामुको नरकरूपग्रामस्य मार्गे प्रतिष्ठमानः तन्मतात् तद् आसुरं मतमादाय पापं हिंसादिकं पुण्यं कर्तुं पुण्यवद् अनुष्ठेयतां नेतुं समुद्यतः भवेत् स इह लोके निन्दां प्राप्य परलोके दुःखधारां यास्यति इति एवं युक्तिमद् वचो ये शिष्टपुङ्गवास्ते वदन्ति। इति द्वयोरर्थः। ।२३२-३। । फलितमाह—तस्मादिति। सुखकारिभिः सुखकामैः। ।२३४। ।

अथ नवमकण्डिकोक्तम्[1] इन्द्रस्य पुनरागमनवृत्तमाह—इन्द्र इति द्वाविंशतिश्लोकैः। ततो दुर्मतपरत्वात् तं विरोचनं तामसं विज्ञायार्द्धमार्गे शनैः गतिमिषेण इन्द्रः त्यक्तवान् सुखवित्तये सुखलाभाय। ।२३५। । तं त्यक्त्वेति। तं विसृज्य देवानप्राप्य क्वचिद् एकान्ते स्थितो देवराड् इन्द्र एतद् वक्ष्यमाणरूपं भयं भयप्रयोजकं विपरीतात्मग्रहणगतं दोषं दृष्टवान् आलोचितवान् आत्मनि मनसि यतो बुद्धिमान् सात्त्विक इत्यर्थः। ।२३६। ।

इस प्रकार विचार करने पर स्पष्ट है कि दैत्यसभा में कमज़ोर दिमाग वाले असुरों के संमुख विरोचन ने जो कुछ असंगत प्रलाप किया वह सूचित करता है कि उसका चित्त कामना नामक ज्वर से पूर्णतः मोहग्रस्त था। ।२३१। । आसुर मत स्वीकार कर कामना से नियन्त्रित जो व्यक्ति खुद को रुचने वाले कुतर्कों के आधार पर पुण्य की तरह पाप करने में संलग्न रहता है वह पाप पर मुग्ध दुर्जन इस लोक में अतुलनीय अपयश पाता है और मरकर नरकरूप ग्राम की ओर ही जाता है जहाँ बहुतेरा ऐसा दुःख भोगता है जिससे बचने का कोई उपाय संभव नहीं। ये बातें (श्लोक. २२३-३३) सत्तर्क से समर्थिक हैं व इन्हें वे ही कहते समझते हैं जो शिष्टों में अग्रणी हैं। ।२३२-३। ।

इसलिये जो स्वयं के लिये सुख चाहे उसे प्राण निकलने जैसी आपद् दशा में भी विरोचन द्वारा समझे-समझाये मार्ग पर कभी नहीं चलना चाहिये। ।२३४। । (यहाँ तक प्रजापति के एक छात्र विरोचन का प्रसंग बताया।)

ब्रह्मा जी के दूसरे छात्र देवराज इन्द्र थे। ब्रह्मलोक से निकले तो दोनों साथ ही पर 'विरोचन तामस प्रकृति का है' यह जानकर और ब्रह्मोपदेश का उसने जो निष्कर्ष निकाला वह सुनने से उसकी तामसता निश्चित कर इन्द्र ने रास्ते में ही उसका साथ छोड़ दिया क्योंकि इन्द्र सुख चाहता था और तामसों का संग कभी वास्तविक सुख नहीं दे सकता। आनंदलाभ के प्रयोजन से ब्रह्माजी के उपदेश पर चिन्तन करते हुए इन्द्र धीरे-धीरे देवलोक की ओर जा

१. 'अथ हेन्द्रोऽप्राप्यैव देवान् एतद्भयं ददर्श—यथैव खल्वयम् अस्मिञ्छरीरे साध्वलंकृते साध्वलंकृतो भवति, सुवसने सुवसनः, परिष्कृते परिष्कृतः, एवमेवाऽयमस्मिन्नन्धेऽन्धो भवति, स्रामे स्रामः, परिवृक्णे परिवृक्णः, अस्यैव शरीरस्य नाशमन्वेष नश्यति। ।८.९। । नाहमत्र भोग्यं पश्यामि—इति स समित्पाणिः पुनरेयाय।'

देहस्य जनिमृत्यादिधर्माः सन्ति सहस्रशः। सोऽमृतत्वादिगुणकः सत्सु तेषु भवेत् कथम्।।२३७

घटादिवत् ततो देहो नात्मा स्यादत्र सर्वथा। छायात्मा तत एवाऽयं चक्षुरादिषु संस्थितः।।
अभयं चाऽमृतं ब्रह्म ह्यात्मोक्तः परमेष्ठिना।।२३८

यथा बृहदारण्यकसप्तमे देवनरासुरैः श्रेयोमार्गं पृष्टेन प्रजापतिना 'द' इत्यक्षरे उच्चारिते[1] दम-दान-दयाः स्वस्वभावानुसारेण तैः श्रेयोहेतुत्वेन गृहीताः तथाऽत्राऽपि 'दृश्यत' इति पदघटितप्रजापत्युपदेशे लक्षणया दृश्यमानच्छायासदृशो देह आत्मेति विरोचनेन गृहीतं दोषातिशयात्। इन्द्रेण तु श्रुत्यविघातेन[2] छायात्मेति गृहीतमासीदतस्तत्रैव दोषालोचनमिन्द्रस्य दर्शयति—देहस्येति दशभिः। यतश्छायायाः स्वरूपलाभाय उपजीव्ये देहे जन्मादिविकाराणां स्फुटत्वाद् दुर्लभम् अमृतत्वादिकं, प्रत्युत घटादिवद् अनात्मत्वमेव विज्ञायते ततो हेतोः तदुपजीविका छाया चक्षुषि दर्पणादौ वा दृश्यमाना कथमात्मा स्यात्! हि यतः अमृतत्वमभयत्वं ब्रह्मत्वं च यत्र वस्तुनि तस्य आत्मत्वं प्रजापतिनोक्तम्। इति द्वयोरर्थः।।२३७-८।।

रहा था।।२३५।। अभी वह देवताओं के पास पहुँच नहीं पाया था, रास्ते में कहीं बैठा था तो उसे अपनी समझ में दोष प्रतीत हुआ। इन्द्र बुद्धिमान् होने से विरोचन की तरह आपात ज्ञान को पर्याप्त न मानकर उस पर मीमांसा कर रहा था अतः उसे लगा कि ब्रह्मा जी की बात समझने में उससे कोई ग़लती ज़रूर हुई है। उस ग़लतफ़हमी का फल था कि जिस आत्मज्ञान से भय की सकारण निवृत्ति होनी चाहिये उससे वह निवृत्ति नहीं हो पायी, भय बना ही रहा। सात्त्विक प्रकृति का होने से इन्द्र को सही बात समझना स्वाभाविक था इसलिये किसी अन्य द्वारा न समझाये जाने पर भी उसे खुद अपनी समझ में भूल पता चल गयी।।२३६।।

(बृहदारण्यक में प्रसंग आया है कि देवता, मनुष्य और असुर तीनों इकट्ठे ही प्रजापति से शिक्षा लेने पहुँच गये तो प्रजापति ने सोचा कि ये हैं तो अलग-अलग शिक्षाओं के अधिकारी लेकिन अगर इन्हें विभिन्न बातें सिखाऊँगा तो ये अपनी योग्यता के भेद को न समझकर यह मानने लगेंगे कि दूसरे को दी गयी शिक्षा दी बेहतर है! अतः प्रजापति ने एक 'द' अक्षर से ही तीनों को युगपत् उपदेश दे दिया जिससे तीनों ने शिक्षाएँ विभिन्न ग्रहण कर लीं: देवताओं ने समझा 'हमें इंद्रियों पर दमन करना चाहिये', मानवों ने दान को तथा असुरों ने दया को कर्तव्य समझा। तीनों ज्ञान एक 'द' अक्षर से हो गये। योग्यताभेद से अवगति में भेद होता है। इसी तरह प्रकृत छांदोग्य में प्रजापति ने 'दीखता है' आदि जो प्रारंभिक उपदेश दिया था उससे विरोचन ने तो दीखने वाली छाया के समान जो शरीर उसे आत्मा समझा अर्थात् 'दीखने' को उसने लाक्षणिक माना, जो दीखता है उस छाया से सम्बद्ध होने के कारण शरीर को दीखने वाला कहा है ऐसा माना। किन्तु इन्द्र ने उस उपदेश से छाया को ही आत्मा समझा क्योंकि 'दीखने' का सीधा अर्थ उसीमें घटता है। विशेष हेतु के बिना सीधा अर्थ, रूढार्थ छोड़ना अनुचित होता है अतः इन्द्र ने लक्षणा से कुछ और न समझ कर छाया को ही समझा इसलिये वैसा समझने में दोषों का विचार किया :)

जिसकी परछायी पड़ती है वह देह ही हज़ारों तरह से जन्म-मृत्यु आदि परिणामों से युक्त है जिनके रहते वही जब अमरता आदि प्रजापतिप्रोक्त विशेषताओं वाला नहीं हो सकता तब उसकी छाया अमर आदि हो इसकी क्या संभावना! घड़े आदि की तरह परिणामशील शरीर ही आत्मा हो यह हर तरह असंगत है अतः आँख इत्यादि में पड़ने वाली उसकी छाया आत्मा नहीं हो सकती इसमें क्या कहना! परमेष्ठी ने बताया कि आत्मा भयहीन, मृत्युरहित और व्यापक है तथा ये बातें छाया में घटती नहीं अतः वह आत्मा होना नामुमकिन है।।२३७-८।।

---

१. 'तेभ्यो हैतदक्षरमुवाच—द इति' बृ.५.२.१।
२. दृश्यत इति श्रुतिः तस्या रूढार्थत्यागो विघातः स्यात् तन्न विधायेत्यर्थः।

मरणं च भयं वाऽपि दृश्यतेऽत्र स्वतो न हि। प्रातरादिषु कालेषु बृहत्ता चास्य दृश्यते। ।२३९
यद्यप्येवं तथाऽप्यास्य एष देह इवास्ति हि। यतो देहगुणानेष दोषांश्चाप्नोति सर्वदा। ।२४०। ।
देहेऽलङ्करणैर्युक्ते च्छायात्मा स्यादलङ्कृतः। सुवस्त्रे च सुवस्त्रोऽयं छत्री छत्रिणि सर्वदा। ।२४१
अन्धे देहे भवेदन्धः श्लेष्मणे श्लेष्मणा युतः। हीनाङ्गे च विहीनाङ्गः स्वयं नाऽयं हि कश्चन। ।२४२
जडे विनश्वरे चास्मिन्ननुकारस्वरूपिणि। भोगसङ्गत्यभावेन भोक्तृता च कथं भवेत्। ।२४३
लोककामादिभोगाप्तिं नाहं पश्यामि काञ्चन। अस्मिन्नात्मनि तेनात्मा स्यादस्मात् कोऽपि चापरः। ।२४४

अत्राऽमृतत्वादिसत्त्वं शङ्कित्वा परिहरति—मरणं चेति। यद्यपि अत्र छायात्मनि मरणभये स्वतो बिम्बनैरपेक्ष्येण न दृश्येते इति अमृतत्वा-ऽभयत्वयोरुपपत्तिः तथा प्रातःकालादौ वर्द्धमानत्वरूपं ब्रह्मत्वं च सम्भवति, तथाप्येष छायात्मा देहवत् आस्यः, 'असु क्षेपणे' इति स्मृतेः, क्षेपार्हो हेय इत्यर्थः, आत्मत्वेन न द्रष्टव्य इति यावत्। यदि देहधर्मम् आस्यतारूपं न गृह्णीयात् तदा तस्य अनुकारलक्षणः स्वभावो व्याहन्येत इति तर्कं सूचयंश्छायाया देहधर्मानुकारितां हेतुतयाह—यत इति। एष छायारूप आत्मा यतो देहस्य धर्मान् गुणदोषरूपान् आदत्ते तद्धारयति, ततो हेयत्वमपि कथं नाददीत? इति द्वयोरर्थः। ।२३९-४०। । देहगुणदोषधारणमेव स्फुटयति—देह इति। देहे भूषणवस्त्रच्छत्रयुक्ते सति अयं छायात्मा अपि तथैव भातीत्यर्थः। ।२४१। । अन्ध इति। तथा बिम्बे देहेऽन्धे नेत्रद्वय-विकले सति अयं छायात्माऽपि अन्धो भवति, तथा श्रुतौ स्रामपदोक्ते श्लेष्मणे कफेन द्रुतनासिके सति तथा भवति, एवं हस्तादिविकले सति तथा भवति। ननु स्वाभाविकस्तत्र न कोऽपि दोष इति चेद्? मैवम्, निःस्वभावत्वस्यैव तत्र दोषराजत्वाद् इत्याशयेनाह—स्वयमित्यादि। अयं छायात्मा स्वयं स्वभावेन न कोऽपि, केनाऽपि रूपेण निर्वचनार्हो न भवति, परापेक्षत्वेन मिथ्यात्वाद् इत्यर्थः। ।२४२। ।

किं च अस्मिंश्छायात्मनि विज्ञाते सति प्रजापत्युक्तं सर्वलोककामाप्तिरूपं फलं, श्रुतौ 'भोग्य'-पदोक्तं, न युज्यते, अस्मिन् भोक्तृत्वस्यैव असम्भवाद् इत्याह— जड इति द्वाभ्याम्। जडत्वाद् विनश्वरत्वाद् अनुक्रियत इत्यनुकारो बिम्बं तत्सापेक्षस्वरूपत्वाच्च यो भोगानां सङ्गतेर्योग्यताया अभावस्तेन अस्य छायात्मनो भोक्तृता यतो न विद्यते ततोऽस्मिन् आत्मनि विज्ञाते काञ्चन अपि लोकादिफलाप्तिं न पश्यामि। तस्माच्चैतद्भिन्नेनैव केनचिद् आत्मना भवितव्यम्। इति द्वयोरर्थः। ।२४३-४४। ।

यद्यपि पहले मैंने सोचा था कि छाया में स्वभावतः मृत्यु और भय नहीं होते, छाया की उत्पत्ति आदि बिम्ब पर निर्भर करती है अतः उसे अमर-अभय मान लिया था, एवं प्रातः आदि काल में छाया बढ़ती है जिससे उसे 'ब्रह्म' भी मान लिया था, तथापि जैसे शरीर को आत्मा समझना हेय है वैसे ही छाया को भी आत्मा समझना हेय ही है। छाया अपने बिम्बरूप शरीर के सभी धर्मों का अनुकरण करती है तो अनात्मता का अनुकरण भी करेगी। देह के गुण व दोष सभी छाया में प्रतिफलित होते हैं अतः 'शरीर अनात्मा है' यह बात भी छाया में रहेगी ही। ।२३९-४०। । देह गहनों से सजा हो तो छाया भी सजी दीखती है, देह पर अच्छे कपड़े हों तो छाया अच्छे कपड़ों वाली होती है, देह छाता लिये हो तो छाया भी छाते वाली पड़ती है। ।२४१। । बिम्बभूत देह अंधा होने पर छाया भी अंधी होगी, देह की नाक बहती होगी तो छाया में भी बहती नाक दीखेगी, देह का कोई अंग कटा होगा तो छाया में भी वह कटा ही उपलब्ध होगा। इससे आपततः लगता है कि छाया में स्वभावतः कोई दोष नहीं लेकिन सोचने पर समझ आता है कि छाया स्वयं कोई चीज़ ही नहीं है! किसी भी रूप से छाया का निर्वचन नहीं किया जा सकता, उसका स्वरूप बिम्ब-सापेक्ष है और जो कुछ सापेक्ष होता है वह मिथ्या ही होता है। ।२४२। ।

देहे नष्टे तमन्वेष च्छायात्माऽपि विनश्यति। तथा च परलोकस्य गन्ता कश्चित् परो भवेत्।।२४५

तमेतं पुनरेवाऽहं गत्वा पृच्छामि देहतः। छायायाश्च पृथग्भूतमात्मानं परमेष्ठिनम्।।२४६

इत्थं विचार्य देवेन्द्रः सात्त्विकः पुनराव्रजत्। प्रष्टुकामस्तमात्मानं ब्रह्माणं जगतां गुरुम्।।
समिदादिकरो भूत्वा विनयेन समन्वितः।।२४७

तमागतं पुनर्वीक्ष्य ब्रह्मा लोकपितामहः। उक्तवान् वचनं त्वेतद् हृष्टचेता हसन्निव।।२४८

सार्द्धं विरोचनेनास्माद् मघवन्! गतवान् भवान्। हृष्टचेताः किमिच्छन् सन्
पुनरप्यागतोऽधुना।।२४९

इत्युक्तः सर्वमेवाऽऽह दोषं स्वेनाऽवधारितम्। शक्रः प्रजापतिं सोऽपि तमाह वचनं त्विदम्।।२५०

तथा कृतनाशाभ्युपगमोऽपि प्रसज्जेतेत्याह—देह इति। देहे नष्टे सति च्छायात्मा यतः तं देहम् अनुसृत्य नश्यति तदा परलोकगन्ता कश्चिद् अपरः कल्प्यः स्यात्, तथा च कृतनाशापत्तिरित्यर्थः।।२४५।। तस्माद् देहच्छायाभ्यां पृथक्त्वेन सम्भावित आत्मा पुनः प्रजापतिं प्रति प्रष्टव्य इत्याह— तमेतमिति।।२४६।। सात्त्विकत्वाद् एवं विचार्य उपायनहस्त इन्द्रः पुनः प्रजापतिं प्राप्त इत्याह— इत्थमिति।।२४७।।

तमागतमिति। तम् इन्द्रं पुनरागतं वीक्ष्य मुदितचेता ब्रह्मा एतद्[1] वचनमुक्तवान्।।२४८।। 'एतत्' किम्? सार्द्धमिति। हे मघवन्! भवानस्माद् मत्समीपदेशात् हृष्टचेताः सन् गतवान्। इदानीं ते पुनरागमनं किंप्रयोजनकम्? इत्यर्थः।।२४९।। इत्युक्त इति। इति इत्थम् उक्तः पृष्ट इन्द्रो देहच्छाययोरात्मत्वे स्वयं तर्कितं दोषजातं श्रावयामास[2]।

ततः प्रजापतिरिदमाह[3]; 'इदं' किम्? हे मघवन्! भवान्यद् इदं दूषणं देहच्छाययोराह; 'इदं' किम्? अनयोः भोक्तृता भोग्यग्रहणयोग्यता न सम्भवति जडत्वाद्—इति, तद् एवमेव युक्तमेव। परन्तु अनुक्तोपालम्भसमः अयं

किं च प्रजापति ने कहा था आत्मज्ञान से सभी लोकों की व कामनाओं की प्राप्ति हो जाती है, पर छाया तो भोक्ता हो यही जब संभव नहीं तब उसे लोकादि भोग्य उपलब्ध हों इसकी संभावना ही नहीं है। अचेतन, नाशशील और बिम्बसापेक्ष जो छायारूप आत्मा उसका भोग से सम्बन्ध हो यह असंभव है अतः वह भोक्ता नहीं। इसलिये उसके ज्ञान से लोकादिफलों की प्राप्ति हो यह मैं मुमकिन नहीं समझता। अतः छाया से अन्य ही कोई आत्मा होना चाहिये।।२४३-४।।

देह नष्ट होने पर उसका अनुसरण करती छायात्मा भी तुरंत नष्ट हो जाती है अतः कर्मफल भोगने के लिये परलोक जाने वाला आत्मा छाया नहीं हो सकता, और ही कुछ होगा।।२४५।।

इसलिये उचित है कि मैं फिर से परमेष्ठी के पास जाऊँ और छाया से पृथक् जो वास्तविक आत्मा है उसके बारे में पूछूँ।।२४६।।

(श्लोक.२३७-४६ तक) यों विचार कर सात्त्विक देवराज आत्मा के बारे में पूछना चाहते हुए जगद्गुरु ब्रह्मा के पास लौट आये। विनयपूर्वक हाथ में भेंट लेकर वे उनके सामने गये।।२४७।। उन्हें आया देख लोकों के पितामह ब्रह्मा का चित्त हर्षित हुआ (क्योंकि वे समझ गये कि इंद्र को अपना भ्रम पता चल गया है और अब वह सही ज्ञान पा लेगा) तथा हँसते हुए-से वे बोले।।२४८।। 'हे मघवन् इन्द्र! विरोचन के साथ प्रसन्नचित्त तुम यहाँ से गये थे, अब

१. 'तं ह प्रजापतिरुवाच—मघवन्! यच्छान्तहृदयः प्राव्राजीः सार्धं विरोचनेन, किमिच्छन् पुनरागम इति?।'
२. 'स होवाच—यथैव खल्वयं भगवोऽस्मिञ्छरीरे....पश्यामीति।।८.९.२।।'
३. 'एवमेवैष मघवन्निति होवाचैतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि। वसापराणि द्वात्रिंशतं वर्षाणीति।।'

ब्रह्मचर्यवासपूर्वकं पुनरुपदेशग्रहणम्

एवमेव भवानाह यद् देहच्छाययोरिह। भोक्तृता नास्ति ताभ्यां तमेतमन्यं वदाम्यहम्।।
भूयः पूर्वं य उक्तस्ते सह प्राह्लादिना मया।।२५१

पूर्वं द्वात्रिंशतं वर्षान् कालमासीदबुद्धितः। ब्रह्मचर्यमिदानीं तु बुद्धिपूर्वं वसेह भोः।।
तावन्तमेव कालं त्वं ततो वक्ष्यामि ते पुनः।।२५२

एवमुक्ते तथा चक्रे स शक्रस्तद् यथोचितम्। कृते तस्मिन् गते काले धातेदं तमभाषत।।२५३

पूज्यमानः पुमान् स्वप्ने चरति स्वात्मभूतिभिः। यः स आत्मेति भवता ज्ञातव्यः शक्र! सर्वथा।।२५४

श्रमो यस्य अविज्ञानात् कृतः तमेतम् आत्मानं देहच्छायाभ्याम् अन्यं विलक्षणं भूयो वदामि उपदेक्ष्यामि। 'एतं' कम्? य आत्मा ते तुभ्यं प्राह्लादिना विरोचनेन सह वर्तमानाय उक्तः। इति द्वयोरर्थः।।२५०-१।। परन्तु चित्तशुद्ध्यै तावत्कालं ब्रह्मचर्यं कार्यमित्याह—पूर्वमिति। द्वात्रिंशद्वर्षरूपकालावच्छिन्नं ब्रह्मचर्यं पूर्वम् अबुद्धिपूर्वम् असङ्कल्पितमासीत्। इदानीं तु तद् विधिवद् कुरु इत्यर्थः।।२५२।।

एवमुक्त इति। 'इत्थं प्रजापतिना उक्ते सति इन्द्रः तद् ब्रह्मचर्यं यथावत् चक्रे कृतवान्। तस्मिंस्तावति काले कृते प्रजापतिना नियते गते सति प्रजापतिः इदं वक्ष्यमाणं स्वप्नसाक्षित्वेन आत्मनः प्रतिपादकं वचनम् अभाषत आहेत्यर्थः।।२५३।।

दशमकण्डिकार्थमाह[2]—पूज्यमान इति सप्तभिः। यः पूर्वं वर्णित आत्मा स एव स्वप्ने स्वकीयविभूतिभूतैर्नानाविषयैः पूज्यमानः तान् साक्षित्वेन अनुभवन्निति यावत्, चरति वर्तते, एष आत्मत्वेन ज्ञेय इत्यर्थः।।२५४।।

क्या चाहते हुए लौटे हो?'।।२४६।। इस प्रश्न पर शक्र ने ब्रह्मा को अपने विचार का संक्षेप सुनाया कि जिसे उसने आत्मा समझा वह छाया आत्मा हो तो क्या-क्या वैचारिक व आनुभविक दोष उपस्थित होते हैं। तब प्रजापति ने आत्मा के बारे में फिर समझायाः।।२५०।।

'हे इंद्र! देह और उसकी छाया को आत्मा मानने पर जो यह दोष तुमने कहा कि इन दोनों में भोग्यों को ग्रहण करने की योग्यता नहीं है, वह ठीक ही कहा। ये दोनों ही अनात्मा, जड हैं। पर इसका मतलब यह नहीं कि मैंने जो आत्मा बताया था उसे आत्मा समझने पर यह दोष आता हो! विरोचन समेत तुम्हें मैंने जिस आत्मा का उपदेश दिया था उसे तुम दोनों ने समझा नहीं। वह आत्मा शरीर व छाया से सर्वथा स्वतन्त्र है। उसे पुनः स्पष्ट करता हूँ।।२५१।। लेकिन मेरी बात समझ पाओ इसके लिये चित्त में शुद्धि चाहिये। पहले तुमने बत्तीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य-पालन किया तो था पर समझ-बूझकर संकल्पपूर्वक नहीं, मुझ से वार्ता के मौके की इन्तज़ार में ही बलात् संयम से रहना पड़ा था। अब संकल्प करके विधिवत् बत्तीस साल तक ब्रह्मचर्य-पूर्वक रहो, उसके बाद तुम्हें समझाऊँगा।।'२५२।।

प्रजापति के इस निर्देश के अनुसार इन्द्र ने शास्त्रोक्त ढंग से बत्तीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन किया, तब प्रजापति ने उपदेश दिया :।।२५३।। 'हे शक्र! जिसे मैंने पहले आत्मा कहा था वह उसे समझो जो स्वप्न में अपनी विभूतिरूप नाना विषयों से सेवित होते हुए रहता है, साक्षी होकर उनका अनुभव करता है।' (अर्थात् पहले जाग्रत्साक्षी के रूप में वर्णन किया था अब उसीको स्वप्नसाक्षी बताया है।)।।२५४।।

१.'स हापराणि द्वात्रिंशतं वर्षाण्युवास। तस्मै होवाच।।३।।'

२. 'य एष स्वप्ने महीयमानश्चरत्येष आत्मेति होवाच, एतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति। स ह शान्तहृदयः प्रवव्राज। स हाऽप्राप्यैव देवान् एतद् भयं ददर्श—तद् यद्यपीदं शरीरमन्धं भवत्यनन्धः स भवति, यदि स्राममस्रामो नैवैषोऽस्य दोषेण दुष्यति।।८.१०.१।। न वधेनास्य हन्यते नास्य स्राम्येण स्रामो घ्नन्ति त्वेवैनं विच्छादयन्तीवाऽप्रियवेत्तेव भवत्यपि रोदितीव। नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति।।२।।'

तत्रापि दोषचिन्ता

एवमुक्ते स गतवान् पूर्ववद् हृष्टमानसः। मघवानागतस्तद्वद् दोषमेतं विचिन्त्य हि। ।२५५

शरीरगुणदोषाभ्यां छायात्मेव न लिप्यते। यद्यप्येष तथाप्यस्य दोषोऽयं सुमहानिह। ।२५६

स्वप्ने घ्नन्तीव तं केचिद् वैरिणः श्वापदा अपि। उच्चाटयन्ति हस्तीव करमुद्यम्य कोपितः।।
अप्रियाणां च वेत्तेव पुरुषः स्वप्नगो भवेत्। ।२५७

अमृतं निर्भयं ब्रह्म ह्यानन्दात्मेति कीर्तितम्। ब्रह्मणा मह्यमेषोऽपि विपरीतस्ततो न सः। ।२५८

अस्मादन्येन केनाऽपि भवितव्यं त्विहात्मना। ततः प्रजापतिं भूयो गमिष्यामि यथा पुरा। ।२५९

पुनरुपदेशग्रहः

इति सञ्चिन्त्य गत्वा तं तेनोक्ते सन्निवेद्य च। स्वाऽभिप्रायं यथा पूर्वं न्यवसत् तस्य वाक्यतः।।
द्वात्रिंशद् वर्षके काले गते ब्रह्माऽऽह तं पुनः। ।२६०

एवमुक्त इति। एवमुक्ते सति स मघवान् पूर्ववद् गतवान् । तथा मार्गे स्वप्नद्रष्टरि इदं दोषं विचिन्त्य पुनरागमदित्यर्थः। ।२५५।। तद्दोषचिन्तामभिनयति—शरीरेति। यद्यप्येष स्वप्नद्रष्टा देहस्य स्थूलस्य दोषान् आन्ध्यरोगादीन्, छायात्मवत् न भजते, तथाप्ययं वक्ष्यमाणभयमोहादिरूपो दोषः स्फुटो वर्तत इत्यर्थः। ।२५६।। तं दोषं वर्णयति—स्वप्न इति। तं स्वप्नद्रष्टारं केचिद् वैरिणो घ्नन्तीव हिंसन्त इव प्रतीयन्ते, तथा श्वापदा वृकव्याघ्रादय उच्चाटयन्ति इव पलायमानं कुर्वन्तीव यथा मत्तो हस्ती कोपितः सन् करं शुण्डाम् उद्यम्य उच्चाटयेत् तथेत्यर्थः। तथा अप्रियाणां सुहृद्वियोगादीनां वेत्ता चकाराद् रोदनादिकर्ता भवतीत्यर्थः। अत्र सर्वत्र इवशब्दः प्रजापतिवचसि श्रद्दधानेन मघवता 'ममैवात्र व्यामोह' इति सूचयितुं प्रयुक्त इति बोध्यम्। ।२५७।। प्रजापत्युक्तं लक्षणमत्र न सम्भवतीत्याह—अमृतमिति। एष स्वप्नद्रष्टा यतो विपरीतः प्रजापत्युक्ताद् विलक्षणः ततः स उपक्रमोक्त आत्मा न भवतीत्यर्थः। ।२५८।। अस्मादिति। अस्मात् स्वप्नद्रष्टुः सकाशाद् अन्यः कश्चिद् आत्मा संभाव्यते, तन्निर्णेतुं भूयः प्रजापतिं गच्छामीत्यर्थः। ।२५९।।

इति संचिन्त्येति। इत्थं सञ्चिन्त्य तं[1] प्रजापतिं गत्वा,तेन प्रजापतिना पूर्ववत् पृष्टे सति स्वाभिप्रायं श्रावयित्वा, प्रजापतिवाक्येन द्वात्रिंशद्वर्षान् अवसत्। तावति काले पूर्णे ब्रह्मा इदं सुषुप्तिसाक्षित्वेन तस्य आत्मनो बोधकं वाक्यम् आह इत्यर्थः। ।२६०।।

यह सुनकर इंद्र पहले की तरह ही तत्काल प्रसन्न हो गया और तुरंत देवलोक की ओर चल दिया किन्तु मार्ग में पुनः विचारते हुए उसे इस आत्मा में भी दोष प्रतीत हुआ और वह लौट आया। ।२५५।। इन्द्र ने साक्षी के बजाय स्वप्नद्रष्टा को स्वप्नात्मा ग्रहण किया अतः उसके बारे में यह सोचा : यह तो ठीक है कि स्थूल देह के अंधता आदि दोष जैसे छाया में रहते हैं वैसे स्वप्नद्रष्टा में नहीं रहते लेकिन इसमें भी भय, मोह आदि दोष तो स्पष्ट ही हैं जिनके रहते यह आत्मा कैसे? ।२५६।। इसे सपने में कुछ दुश्मन मानो मार डालते हैं, भेड़िये-बाघ आदि इसे मानो दौड़ाते रहते हैं जैसे मदमस्त हाथी नाराज़ होकर सूँड उठाकर लोगों को इधर-उधर दौड़ाता है। ऐसे ही स्वप्नद्रष्टा मित्रवियोग आदि अप्रिय घटनाओं का अनुभव करता-सा है, रोता-चिल्लाता है। ('मानो मारते हैं' आदि; 'मानो' इसलिये कि इंद्र को ब्रह्मा की बात पर श्रद्धा तो थी ही अतः क्योंकि वह स्वप्नद्रष्टा को ब्रह्मप्रोक्त आत्मा समझ रहा था इसलिये उसमें ये दोष प्रतीत

१. 'स समित्पाणिः पुनरेयाय। तं ह प्रजापतिरुवाच—मघवन्! यच्छान्तहृदयः प्राव्राजीः किमिच्छन् पुनरागम इति? स होवाच—तद्यद्यपीदं भगवः शरीरमन्धं...।।३।।...पश्यामीति। एवमेवैष मघवन्निति होवाच। एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि। वसापराणि... होवाच।।४।।'

यदाऽयं पुरुषः शेते समस्तो ज्ञानवर्जितः। दुःखलेशेन रहित एकतां प्राप्य चेन्द्रियैः।।२६१
हार्दाकाशे ब्रह्मलोके मायामात्रशरीरिणि। यत्र गत्वाऽपि सर्वोऽयं यथापूर्वं समाव्रजेत्।।२६२
न जानाति च सन्तं तं स्वेन प्राप्तं कथञ्चन। स त आत्माऽमृतं ब्रह्म भयशून्यं पुरोदितम्।।२६३
एवमुक्ते यथापूर्वं गतवानागतः पुनः। अर्द्धमार्ग इमं दोषं निरीक्ष्येन्द्रोऽतिसात्त्विकः।।२६४

एकादशकण्डिकार्थं[1] त्रिंशता श्लोकैः प्रदर्शयंस्तत्र सुषुप्तिसाक्षिपरस्य प्रजापतिवाक्यस्य अर्थमाह—यदेति त्रिभिः। यदाऽयं पुरुषः सुप्तो भवति, कीदृशः? समस्तः अस्यैव विवरणम्—ज्ञानवर्जितः अस्तंगतविशेषविज्ञानकः; तदा यत्र हार्दाकाशरूपे ब्रह्मलोके मायामात्रोपाधिके, एकतां प्राप्य दुःखलेशैः तत्प्रयोजकैः इन्द्रियैश्च रहितः—सर्वविक्षेपरहित इति यावत्—भवति, तथा यत्र हार्दाकाशे गतो जन्तुः तं हार्दाकाशं प्राप्तम् अपि अविज्ञायैव पुनः पुनरागच्छति, स एव हार्दाकाशोऽमृतादिलक्षणः त आत्मा। इति त्रयाणामर्थः।।२६१-३।।

एवमुक्त इति। एवं प्रजापतिना उक्ते सति तत्रापि अज्ञानविशिष्टात्मविभ्रमेण तुष्ट इन्द्रो गतवान्। तत्र अर्द्धमार्गे गत्वा विमृशन् स्वयं गृहीते प्राज्ञसंज्ञकआत्मनि इमं वक्ष्यमाणं दोषम् आलोच्य पुनरागत इत्यर्थः।।२६४।।

होने पर भी होंगे नहीं ऐसा इन्द्र को विश्वास था।)।।२५७।। ब्रह्मा जी ने मुझे आत्मा का स्वरूप बताया था अमर, अभय, व्यापक, और आनंदस्वरूप। स्वप्नद्रष्टा तो इस तरह का लगता नहीं अतः यह आत्मा नहीं होना चाहिये।।२५८।। ब्रह्मा के उपदेश का विषयभूत आत्मा इससे अन्य ही कोई होगा। उसके बारे में निर्णय समझने के लिये पहले की तरह प्रजापति के निकट चलता हूँ।।२५६।।

यों सोचकर इन्द्र लौट आया तो ब्रह्मा जी ने पूछा कि 'जिज्ञासा शांत करके चले गये थे, फिर कैसे लौटे?' इन्द्र ने अपनी विचारित समस्या उनके सामने रखी तो प्रजापति ने स्वीकारा कि स्वप्नद्रष्टा को आत्मा मानने पर उक्त दोष अवश्य है लेकिन उन्होंने जिसे पहली व दूसरी बार आत्मा कहा उसमें कोई दोष नहीं किन्तु उसे सही-सही समझने की योग्यता के लिये इन्द्र को और बत्तीस साल का ब्रह्मचर्य-पालन करना पड़ेगा। इन्द्र वास्तविक जिज्ञासु था अतः उसने पुनः उतने समय यथानियम निवास किया। तदनंतर ब्रह्मा जी ने इंद्र को फिर से आत्मा के बारे में समझाया :।२६०।।

'सुषुप्ति के विचार से आत्मा को समझो—सभी को स्वात्मरूप से स्फुरने वाला यह पुरुष जब गहरी नींद में जाता है तब सारे विशेष विज्ञान अस्त हो जाते हैं और पुरुष अकेला रह जाता है। हृदयवर्ती आकाश अध्यात्म में ब्रह्मलोक है जहाँ आत्मा की उपाधि सिर्फ माया रह जाती है। सुषुप्ति में पुरुष वहीं अवस्थित होता है एवं उसका थोड़े भी दुःख से और दुःखहेतुभूत इंद्रियों से कुछ भी सम्बंध नहीं रह जाता, सभी विक्षेप से वह रहित हो जाता है। यों वहाँ पहुँचकर भी पुरुष उस हृदयाकाशरूप ब्रह्मलोक के स्वरूप से बेखबर रहता है अतः सुषुप्तिसमाप्ति पर वहाँ पुनः लौट कर वैसा ही उपाधि-सम्बद्ध हो जाता है जैसे सुषुप्ति से पूर्व था। वह जो 'ब्रह्मलोक' है, सुषुप्ति का साक्षी है, वही तुम्हारा आत्मा है। उसे ही मैंने पहले अमृत अभय ब्रह्म कहा था'।।२६१-३।।

प्रजापति द्वारा यों समझाये जाने पर अज्ञानविशिष्ट को ही आत्मा समझकर इन्द्र सन्तुष्ट हो देवलोक की ओर चल दिया पर रास्ते में उस अतिसात्त्विक देवराज को उस 'आत्मा' में भी दोष नज़र आये तो वह पुनः ब्रह्मा जी के पास लौट आया।।२६४।। इन्द्र ने दोष ये समझे : 'गहरी नींद में पड़ा पुरुष न तो खुद को जानता है कि 'यह मैं हूँ' तथा न किसी और को जानता है कि 'मुझे से भिन्न यह अमुक तरह का है' अतः तब यह मूढ ही रहता है मानो नशे से इसका चित्त कुछ समझने में समर्थ न रह गया हो। किं च उस स्थिति में पुरुष भले ही विद्यमान हो पर विनष्ट-सा रहता है क्योंकि तब इसका अदर्शन होता है अर्थात् इसका स्फुट ज्ञान नहीं होता। इस प्रकार सौषुप्त आत्मा में

१. 'तद्यत्रैतत्सुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नः स्वप्नं न विजानाति एष आत्मेति होवाच, एतद् अमृतमभयमेतद् ब्रह्म—इति।'

आत्मानं न परं चैष विजानाति विमोहितः। अयं वाऽहं परो वाऽयमिति यद्वत् पुमानिह।
विनाशमिव सम्प्राप्तो विद्यमानोऽप्यसौ तदा।।२६५

ततः कथं भवेदात्मा ह्यमृतत्वादिलक्षणः। ततः प्रजापतिं भूयो गमिष्यामि यथा पुरा।।२६६

इति सञ्चिन्त्य गत्वा तं तेनोक्ते सन्निवेद्य च। न्यवसत् पूर्ववत् तस्य वचनाद् ब्रह्मवित्तये।।२६७

इन्द्रब्रह्मचर्यकालसंकलनम्

चतुर्थेऽत्र हि पर्याये पञ्च वर्षाण्यतिष्ठिपत्। निवासे ब्रह्मचर्यार्थं विधाता पूर्ववन्न हि।।२६८

वर्षाण्यादौ स्वयं चाऽयं द्वात्रिंशद् ब्रह्मचर्यतः। द्विवारं ब्रह्मणो वाक्याद् एवं षण्णवतिर्ह्यभूत्।।२६९

अधुना पञ्चवर्षाणि ह्येवमेकोत्तरं शतम्। इन्द्रस्याऽभूद् ब्रह्मचर्यं प्रजापतिसमीपतः।।२७०

[1]दोषचिन्तामभिनयति—आत्मानमिति द्वाभ्याम्। एष सुषुप्तः पुमान् अहमयम् एतादृशः, परो मद्भिन्नस्तादृशः इति एवम् आत्मानं परं च न विजानाति यद्वद् विमोहितो मादकैर्दूषितचित्तो न विजानाति तद्वद् इति मौढ्यं; तथा विनष्टप्रायतापत्तिश्चेति एतौ दोषौ स्फुटौ।।२६५।। तत इति। तत उक्तदोषयोगात् प्रजापत्युक्तलक्षणम् आत्मत्वमत्र न सम्भवति इति पुनः तदवधारणाय गुरोरन्तिके गन्तव्यमित्यर्थः।।२६६।।

इति सञ्चिन्त्येति। तच्छब्दार्थो ब्रह्मा।। उक्ते[2] पृष्टे।।२६७।। चतुर्थ इति। अत्र इन्द्रागमनसम्बन्धिनि पर्याये क्रमे चतुर्थे सति चतुर्थवारमागमने सतीति यावत्, विधाता ब्रह्मा निवासे स्वस्थाने ब्रह्मचर्यार्थं पञ्च एव वर्षाणि उपदिष्टवान् इत्यर्थः।।२६८।। इन्द्रस्य ब्रह्मचर्यवर्षाणि सङ्कलयति—वर्षाणीति द्वाभ्याम्। अयम् इन्द्र आदौ विरोचनसहितः स्वयम् अनादिष्टोऽपि ब्रह्मचर्यार्थं द्वात्रिंशद् वर्षाणि अवसदित्यर्थः। तावन्त्येव च वर्षाणि ब्रह्मणो वाक्याद् द्विवारम् अवसत्। एवं द्वात्रिंशतस्त्रिरावृत्तौ वर्षाणां षडधिका नवतिर्जाता।।२६९।। अधुनेति। अधुना चतुर्थे पर्याये पञ्चवर्षाणि अवसत्। एवं सर्वसङ्कलने इन्द्रस्य प्रजापतिसमीपे कृतस्य ब्रह्मचर्यस्य काल एकोत्तरशतसंख्यवर्षरूपोऽभूद् इत्यर्थः।।२७०।।

संमुग्धता व लगभग नष्टता ये दो दोष हैं जिनसे उचित नहीं कि यह अमरता आदि लक्षणों वाला आत्मा हो। अतः पूर्ववत् प्रजापति के पास जाकर पूछना चाहिये।।'।।२६५-६।।

इन्द्र पुनः ब्रह्माजी के पास आया। उन्होंने पूछा 'तुम तो संतुष्ट होकर गये थे, लौटे कैसे?' इन्द्र ने जो दोष समझे थे वे ब्रह्माजी को बताये तो उन्होंने स्वीकारा कि जिसे इन्द्र आत्मा समझे बैठा था उसमें वे दोष अवश्य हैं, तथा वास्तविक आत्मा समझने की योग्यता के लिये इन्द्र को अभी कुछ और समय ब्रह्मचर्यपूर्वक रहना ज़रूरी है। किन्तु इस चौथी बार ब्रह्मचर्य के पालनार्थ निवास के लिए विधाता ने इन्द्र को पाँच वर्षों के लिये रोका, पहले की तरह लम्बे समय तक नहीं।।२६७-८।।

इस प्रकार इन्द्र को आत्मबोध के लिये एक सौ एक वर्षों तक ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक ब्रह्मा जी के पास रहना पड़ा : पहले वह बिना ब्रह्मा जी के कहे ही इन्तज़ार करते हुए बत्तीस वर्षों तक रहा था और उसके बाद दो बार ब्रह्मा के निर्देशानुसार बत्तीस-बत्तीस वर्षों तक रहा था। अन्त में पाँच वर्षों का ब्रह्मचर्य रखा तो कुल एक सौ एक वर्षों का ब्रह्मचर्य सम्पन्न हो गया। (३२×३=९६+५=१०१)।।२६९-७०।।

---

१. 'स ह शान्तहृदयः प्रवव्राज। स हाऽप्राप्यैव देवान् एतद् भयं ददर्श—नाह खल्वयमेवं सम्प्रत्यात्मानं जानाति 'अयमहमस्मि' इति, नो एवेमानि भूतानि, विनाशमेवाऽपीतो भवति। नाऽहमत्र भोग्यं पश्यामीति।।८.११.१।।'

२. 'स समित्पाणिः पुनरेयाय। तं ह प्रजापतिरुवाच—मघवन्! यच्छान्तहृदय...पश्यामीति।।२।। एवमेवैष मघवन्निति होवाच, एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि। नो एवाऽन्यत्रैतस्मात्। वसापराणि पञ्च वर्षाणि इति। स हापराणि पञ्च वर्षाण्युवास। तान्येकशतं सम्पेदुः। एतत् तद् यदाहुः—एकशतं ह वै वर्षाणि मघवान् प्रजापतौ ब्रह्मचर्यमुवास। तस्मै होवाच।।३।।'

ब्रह्मचर्यमहिमा

ब्रह्मचर्येण सर्वोऽपि लभ्यते दुर्लभं हि यत्। ब्रह्मचर्यं च सर्वाणि यज्ञादीनि वदन्ति हि।।२७१
यः कश्चिदात्मनो ज्ञाता ब्रह्मचर्यात् स सर्वदा। जानीते प्रियमात्मानं यज्ञस्तत्तेन कथ्यते।।२७२
इष्टं यत् कथ्यते लोके तदप्येतन्न चापरम्। इष्टं सर्वप्रियतममात्मानममुना यतः।।
जानीते तत एवैतदिष्टमित्युच्यते बुधैः।।२७३
ज्योतिष्टोमादिको यज्ञ इष्टं दर्शादिरीरितम्। अभेदेऽपि भवेद् भेद इत्थं यज्ञेष्टयोः सदा।।२७४

अस्य ब्रह्मचर्यस्य महिमानमुत्तरग्रन्थेन प्रपञ्चयन्, प्रथममेतदध्यायपञ्चमकण्डिकोक्तं तद् दर्शयति—ब्रह्मचर्येणेति नवभिः। सर्वोऽपि अधिकारी यद् दुर्लभं तत् सर्वम् अतो लभते हि यत एतद् ब्रह्मचर्यं समीहितसाधनत्वरूप-साधर्म्येण सर्वयज्ञेष्टादिरूपं[1] वदन्ति वैदिका इत्यर्थः।।२७१।। न केवलमुक्तसाधर्म्येण गौणमेव यज्ञादिरूपत्वमस्य किन्तु निरुक्तालोचने मुख्ययज्ञादित्वमस्यैव इति दर्शयंस्तत्र यज्ञपदसमन्वयं करोति—य इति। 'पदान्तरैरपि निर्ब्रूयाद्' इति निरुक्ते यास्कोक्तविधया यज्ञपदनिर्वचने क्रियमाणे यो यो ज्ञाता कालत्रयेऽपि तस्य सर्वस्य ज्ञेयलाभहेतुरिति श्रुतिदर्शितवाक्यैकदेशभूत-यकार-ज्ञकारयोः समुदायो यथा ब्रह्मचर्ये नियमेन अन्वर्थो, न तथा ज्योतिष्टोमादौ तत्र विद्याङ्गत्वनियमाभावात्, तथा च नियमेन ज्ञानसाधनस्य ब्रह्मचर्यस्यैव मुख्यं यज्ञत्वमित्यर्थः।।२७२।।

तथा[2] स्वर्गादीष्टसाधनत्वमादाय दर्शादिषु प्रयुज्यमान इष्टशब्दोऽपि तदपेक्षयाऽत्रैव मुख्यो यतो दर्शादिलभ्येषु स्वर्गादिषु यद् इष्टत्वं तद् ब्रह्मचर्यलभ्यात्मौपाधिकमेव इत्याशयेन इष्टपदसमन्वयं दर्शयति—इष्टमिति। सर्वापेक्षया प्रियतमत्वेन इष्टशब्दस्य मुख्यार्थभूतम् आत्मानं यतोऽमुना ब्रह्मचर्येणैव लभते तत उपचारादपि इदमेव इष्टम् इति वाच्यमित्यर्थः।।२७३।। यज्ञेष्टपदयोः पर्यायत्वं वारयति—ज्योतिष्टोमादिक इति। यज्ञेष्टशब्दार्थयोः कोशादिलौकिकप्रमाणवशाद् अभेदे भेदाभावेऽपि सति इत्थं वैदिकप्रसिद्ध्यनुसारेण भेदो बोध्यः। 'इत्थं' कथम्? सोमपश्वादिद्रव्यसाध्यो ज्योतिष्टोमादिः यज्ञ इत्युच्यते। दर्शादिकम् औषधद्रव्यकं तु इष्टम् उक्तं मीमांसकैरित्यर्थः।।२७४।।

ब्रह्मचर्य महान् साधन है। जो कुछ भी दुर्लभ है वह सब ब्रह्मचर्य से मिल जाता है। क्योंकि समीहितों की प्राप्ति का उपाय है इसलिये वैदिक लोग ब्रह्मचर्य को सभी यज्ञादि का स्वरूप बताते हैं।।२७१।। इष्टोपायतारूप समानता से इसे यज्ञादिरूप माना ही जाता है पर यज्ञ आदि शब्दों की व्याख्या करें तो पता चलता है कि ब्रह्मचर्य को ही यज्ञ आदि कहना समुचित है— 'यज्ञ' में दो शब्द हैं 'य' और 'ज्ञ'। 'य' मायने जो कोई भी व्यक्ति और 'ज्ञ' मायने जानने वाला। ब्रह्मचर्य के फलस्वरूप जो कोई भी साधक सर्वप्रिय आत्मवस्तु को सदा जानने लगता है अतः ब्रह्मचर्य यज्ञ कहा जाता है (सभी ज्ञाताओं को परम ज्ञेय का लाभ कराने वाला होने से ब्रह्मचर्य 'यज्ञ' है। 'य'-'ज्ञ' के समुदायरूप 'यज्ञ' शब्द का उक्त अर्थ ब्रह्मचर्य में जैसा नियमतः संगत घटता है वैसा ज्योतिष्टोमादि में नहीं क्योंकि उनका अनुष्ठान तत्त्वज्ञान नहीं भी दे सकता है, सिर्फ स्वर्गादि देकर रह सकता है। अतः ब्रह्मचर्य को ही यज्ञ कहना चाहिये, ज्योतिष्टोमादि को यज्ञ कहना उतना संगत नहीं।)।।२७२।।

लोक में जिसे 'इष्ट' कहते हैं वह भी ब्रह्मचर्य से अन्य कुछ नहीं है! सबसे ज्यादा प्रिय आत्मा ही सबको हमेशा इष्ट है, क्योंकि उसे ब्रह्मचर्य द्वारा साधक जान लेता है इसलिये समझदार लोग ब्रह्मचर्य को 'इष्ट' कहते हैं। (दर्श आदि कर्मों को 'इष्ट' इसीलिये कहते हैं कि स्वर्ग आदि इष्ट (इच्छित) वस्तुओं के वे साधन हैं। स्वर्ग आदि की इष्टता औपाधिक है अर्थात् आत्मरूप उपाधि के कारण उन्हें इष्ट समझा जाता है जैसा कि याज्ञवल्क्य-मैत्रेयीसंवादानुसार कह सकते हैं कि 'स्वर्ग स्वर्ग के लिये नहीं वरन् आत्मा के लिये प्रिय है', 'न वा अरे लोकानां कामाय...'। अतः जिसके कारण स्वर्गादि को इष्ट कहते हैं वह आत्मा ही मुख्य इष्ट है तो उसके निश्चित साधन ब्रह्मचर्य को इष्ट कहना सुसंगत है।)।।२७३।।

१. 'अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद् ब्रह्मचर्येण ह्येव यो ज्ञाता तं विन्दते।'८.५.१।।
२. 'अथ यदिष्टमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्। ब्रह्मचर्येण ह्येवेष्ट्वाऽऽत्मानमनुविन्दते।।८.५.१।।'

सत्रायणं च यत् प्राहुः ब्रह्मचर्यं च तद् भवेत्। अमुना सन्तमात्मानं याति संसारभीतितः।।२७५

मौनं च ब्रह्मचर्यं स्याद् मनुतेऽस्य प्रसादतः। यतः सर्वोऽपि चात्मानं नान्यथा जन्मकोटिभिः।।२७६

अनाशकायनं यच्च ब्रह्मचर्यं हि तत् स्मृतम्। अनेन लब्ध आत्माऽयं न नश्यति कदाचन।।२७७

सत्रसङ्घम् अयनं सङ्घी भवनम् इति व्युत्पत्त्या नानाकर्तृकयागविशेषवाचकं सत्रायण-शब्दं[1] प्रकृते योजयति—सत्रायणमिति। सतः त्राणस्य अयनमिति पदान्तरैर्निरुक्तस्य सत्रायणशब्दस्यार्थो ब्रह्मचर्यम् एव यतोऽमुना ब्रह्मचर्येण सत्पदार्थम् आत्मानं याति त्राणं नयति संसाराद् इत्यर्थः।।२७५।।

तथा[2] मुनेर्मननशीलस्य भाव इति व्युत्पत्तिकं मौनपदं वाङ्निरोधात्मके तपसि संन्यासाश्रमे वा प्रसिद्धमपि ब्रह्मचर्यस्यैव वाचकम्, अस्य विद्यालाभद्वारा मननहेतुतायाः समुत्कर्षाद् इत्याह—मौनमिति। यतोऽस्य ब्रह्मचर्यस्य प्रभावादेव आत्मनो मनने क्षमो भवति तत इदमेव मौनपदवाच्यमित्यर्थः।।२७६।।

अशनमाशः स एवाशकः तदभावोऽनाशकः, तस्यायनं धारणम् इति व्युत्पत्त्या उपवासपरायणतावाचकम् अनाशकायनपदमपि[3] नाशरहितात्मलाभसाधनतारूपाऽर्थमादायाऽस्यैव वाचकमित्याह—अनाशकायनम् इति। अनेन ब्रह्मचर्येण लब्ध आत्मा यतो न नश्यति न तिरो भवति, सविलासाऽज्ञानरूपप्रतिबन्धदाहात्, ततोऽस्य अनाशकायनत्वमित्यर्थः।।२७७।।

तथा वनवासे प्रसिद्धमपि अरण्यायनपदम्[4] अरेति ण्येति च संज्ञिताभ्याम् अर्णवतुल्यह्रदाभ्यां युक्तस्य

यद्यपि कोशादि से प्रतीत होता है कि यज्ञ व इष्ट शब्द पर्याय हैं तथापि ज्ञानसाधनता और समीहितोपायता रूप प्रवृत्तिनिमित्तों के भेद से इनके अर्थों में भेद है। वैसे मीमांसकों ने भी इन्हें अलग-अलग माना है —सोमलता, पशु आदि द्रव्यों के उपयोग वाले ज्योतिष्टोमादि को यज्ञ कहते हैं जबकि जिनमें औषधरूप द्रव्यों का ही उपयोग हो उन दर्श आदि को इष्ट कहते हैं। ब्रह्मचर्य में दोनों प्रवृत्तिनिमित्त होने से उसे दोनों शब्द कह देते हैं।।२७४।।

जिन यागों में इकट्ठे ही अनेक कर्त्ता, अर्थात् यजमान होते हैं वे सत्र कहलाते हैं और संवत्सर आदि काल में जब सत्र संपन्न हों तो अयन कहलाते हैं, सत्र व अयन को मिलाकर सत्रायन कहा जाता है। किन्तु विचार करें तो सत्रायण भी ब्रह्मचर्य का ही नाम निश्चित होता है—क्योंकि इस ब्रह्मचर्य के अनुष्ठान से ही 'सत्' कहलाने वाले आत्मा की संसारभय से रक्षा होती है इसलिये ब्रह्मचर्य सत्रायण है। (सत् = आत्मा के, त्र = त्राण की, अयन = प्राप्ति कराने वाला।)।।२७५।। ऐसे ही मौन भी ब्रह्मचर्य ही है क्योंकि सभी साधक इस ब्रह्मचर्य से लभ्य चित्तप्रशान्ति के आधार पर ही आत्मवस्तु पर मनन कर पाते हैं, ब्रह्मचर्य के बिना करोड़ों जन्मों में भी वे मननसमर्थ नहीं होते।।२७६।। जो 'अनाशकायन' अर्थात् उपवास समझा जाता है वह ब्रह्मचर्य ही है क्योंकि ब्रह्मचर्यपालन से प्राप्त आत्मा कभी नष्ट नहीं होता, छिपता नहीं। (उपवास के तात्पर्य से तो अनाश अर्थात् अनशन, उसका नियम धारण करना अनाशकायन है तथा ब्रह्मचर्य के तात्पर्य से जो नष्ट न हो वह अनाश उसकी प्राप्ति का साधन अनाशकायन है। आत्मप्रकाश में रुकावट कार्यसमेत अज्ञान है, वह तत्त्वज्ञान से मिट जाता है तो आत्मा का तिरोधान संभव नहीं रहता। ऐसा तत्त्वज्ञान ब्रह्मचर्य से उपलब्ध है।)।।२७७।।

जिसे 'अरण्यायन' कहते हैं वह ब्रह्मचर्य ही है क्योंकि इसके पालन से साधक ब्रह्मलोक जाता है जहाँ 'अर'

१. 'अथ यत् सत्रायणमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद् ब्रह्मचर्येण ह्येव सत आत्मनस्त्राणं विन्दते।'
२. 'अथ यन्मौनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद् ब्रह्मचर्येण ह्येवात्मानमनुविद्य मनुते।'।।२।।
३. 'अथ यद् अनाशकायनम् इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद् एष ह्यात्मा न नश्यति यं ब्रह्मचर्येणानुविन्दते।'
४. 'अथ यद् अरण्यायनम् इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तत् तदरश्च ह वै ण्यश्चार्णवौ ब्रह्मलोके तृतीयस्यामितो दिवि तदैरं मदीयं सरः, तदश्वत्थः सोमसवनः, तदपराजिता पूर्ब्रह्मणः प्रभुविमितं हिरण्मयम्।।३।। तद्य एवैतावरं च ण्यं चार्णवौ ब्रह्मलोके ब्रह्मचर्येणानुविन्दति। तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति।।४।।'

ब्रह्मचर्यं च सम्प्रोक्तमप्यरण्यायनं हि यत्। अरण्यादियुतं यस्माद् ब्रह्मलोकं च गच्छति।।२७८
ब्रह्मचर्येण सर्वस्मिन्नपि लोकेऽत्र सञ्चरेत्। इच्छया नारदो यद्वद् अव्याहतगतिः पुमान्।।२७९
क्षीरं मधु तथा सर्पिर्दधि चाऽमृतमेव वा। ब्रह्मचर्येण सम्पन्नाः पिबन्ति स्वेच्छयैव हि।।
सोमं च ब्राह्मणाः शश्वत् सर्वभीतिविवर्जिताः।।२८०
मृत्युदुःखात्मकं सर्वं संसारं च तरन्ति ते। सम्प्राप्य स्वात्मरूपं तमानन्दात्मानमव्ययम्।।२८१
किं बहूक्तेन लोकेऽस्मिन् साधनं यद्धि विद्यते। ब्रह्मचर्ये तु तत् सर्वमन्तर्भवति सर्वथा।।२८२
यथा गजपदे सर्वे पादा अन्तर्भवन्ति हि। नैतस्मादधिकं किञ्चिद् ब्रह्मचर्याद्धि विद्यते।।२८३
ब्रह्मचर्यं परं शौचं ब्रह्मचर्यं परं तपः। ये स्थिता ब्रह्मचर्येण ब्राह्मणास्ते दिवं गताः।।२८४

ब्रह्मलोकस्य प्राप्तिसाधनत्वरूपम् अर्थमादाय ब्रह्मचर्यमेव प्रतिपादयतीत्याह—ब्रह्मचर्यमिति।।२७८।। सर्वलोकेषु कामचारोऽप्यस्यैव फलमित्याह—ब्रह्मचर्येणेति। अस्य प्रभावात् सर्वलोकेषु अव्याहतगतिः अप्रतिबद्धगतिः सन् पुमान् चरेद् यथा नारदः।।२७९।।

अथ याज्ञवल्क्यादिस्मृतिप्रसिद्धं महिमानमस्य वर्णयति—क्षीरमिति। ब्रह्मचर्यसम्पन्ना ऋगाद्यध्ययन-प्रभावेण क्षीरादिसोमरसान्तद्रव्यैर्देवादींस्तर्पयन्तः तत्प्रसादेन स्वयमपि क्षीरादिकं यथाकामं भुञ्जत इति तत्स्मृतावुक्तम्।।२८०।। एतत् फलमानुषङ्गिकम्। मुख्यं तु विद्याद्वारा संसारतरणमेव इत्याह—मृत्युदुःखात्मकमिति। ते ब्रह्मचर्यसम्पन्नाः सम्प्राप्य ज्ञात्वा।।२८१।। यदा चैवं परमपुरुषार्थमोक्षसाधकत्वमस्य तदा सर्वेषाम् अभीष्टसा-धनानां फलद्वाराऽत्रान्तर्भावो बोध्यः, 'सर्वे पादा हस्तिपादे निमग्ना' इति न्यायाद् इत्याह—किं बहूक्तेनेति द्वाभ्याम्।।२८२-३।।

शोधकमभ्युदयदं वा ब्रह्मचर्यमेव, कर्तॄणामप्रतिबन्धेन सद्गतिप्रयोजकत्वाद् इत्याह—ब्रह्मचर्यमिति। शौचं शोधकं, तपः अभ्युदयदम्, एतदुभयरूपं ब्रह्मचर्यम् एव यत एतद्वन्तो दिवं महर्लोकं बहवो गताः। न केवलं दिवमेव

'-ण्य' नामक तालाब आदि हैं। (सामान्यतः अरण्य अर्थात् जंगल में व्रतपूर्वक रहने को अर्थात् वनवास या वानप्रस्थाश्रम को अरण्यायन कहते हैं। ब्रह्मलोक में 'अर' और 'ण्य' कहलाने वाले सरोवर हैं अतः ब्रह्मलोक भी अरण्य कहा जाता है, उसकी प्राप्ति का साधन होने से ब्रह्मचर्य अरण्यायन कहा जाये यह संगत है।)।।२७८।। सभी लोकों में यथेष्ट विचरण भी ब्रह्मचर्य का ही फल है। जैसे नारद जी जहाँ चाहें वहाँ जा सकते हैं ऐसे ही ब्रह्मचर्यनिष्ठ पुरुष इस सारे लोक में बिना रुकावट संचरण करने में समर्थ हो जाता है।।२७९।।

ब्रह्मचर्य से संपन्न साधक ऋक् आदि के अध्ययन के प्रभाव से दूध, शहद, घी, दही, अमृत, सोमरस आदि पदार्थों से देवता आदि को तृप्त करके उनके प्रसादरूप में खुद भी उन पदार्थों का सेवन करते हैं। ब्रह्मचारी ब्राह्मणों को किसी तरफ से कोई डर नहीं रह जाता।।२८०।। पर यह ब्रह्मचर्य का प्रधान फल नहीं! ब्रह्मचर्य से वे अव्यय आनंदरूप स्वात्मा को पाकर, उसे जानकर इस सारे संसाररूप सागर को तर जाते हैं जिस संसार का स्वरूप मृत्यु आदि दुःख ही हैं।।२८१।। अधिक कहने से क्या! इस लोक में अभीष्ट का जो कोई भी साधन है वह सब हर तरह से ब्रह्मचर्य के अंतर्गत आ जाता है जैसे हाथी के पैर में सब पैर समा जाते है। (अर्थात् जितनी ज़मीन पर हाथी का पैर रखा जा सके उतनी पर किसी भी प्राणी का पैर रख सकते हैं। सभी प्राणियों के पैरों में हाथी के पैर सबसे बड़े होते हैं।) इसलिये इस ब्रह्मचर्य से अधिक सक्षम साधन कोई नहीं है।।२८२-३।।

शोधन करने वाला और अभ्युदय प्रदान करने वाला ब्रह्मचर्य ही है क्योंकि यह अपने अनुष्ठाता को बेरोकटोक सद्गति देता है। क्योंकि प्राचीन ब्राह्मण ब्रह्मचर्य के प्रभाव से महर्लोक प्राप्त कर चुके हैं इसलिये ब्रह्मचर्य को परम शौच और परम तप समझना उचित है।।२८४।। अट्ठासी हज़ार ऊर्ध्वरेता मुनियों ने उस उत्तरायण से प्रयाण किया जिससे जाने पर संसार में आवर्तन समाप्त हो जाता है और जो मार्ग सूर्य से सम्बन्ध वाला है।। (अर्थात् महर्लोक ही नहीं

अष्टाशीतिसहस्राणां मुनीनामूर्ध्वरेतसाम्। आवृत्तिरहितं मार्गमर्यम्णश्चोत्तरं गताः।।२८५

सर्वसाधनसम्पन्ना ब्रह्मचर्यविवर्जिताः। क्लेशं हि मुनयो भेजुर्विद्वांसोऽपि च कोटिशः।।२८६

समुद्रतरणे यद्वद् उपायो नौः प्रकीर्तिता। संसारतरणे तद्वद् ब्रह्मचर्यं प्रकीर्तितम्।।२८७

स्वर्गं मोक्षं तथा चायुरिह लोके सुखं यशः। ब्रह्मचर्येण सम्पन्नः पुमानाप्नोत्यसंशयम्।।२८८

नीरोगः कान्तिसम्पन्नः सर्वदुःखविवर्जितः। ब्रह्मचारी भवेल्लोके पाप्मना च विवर्जितः।।२८९।।

अपि मातुः प्रियायाश्च विशेषः कोऽस्ति येन सः। ब्रह्मचर्यस्य सम्भ्रेषं पुमान् योषिति गच्छति।२९०

अपि मूत्रस्य पात्रीं तां कद्वायुपरिदूषिताम्। पुंसोऽभिगच्छतः किंस्वित् सुखमत्र प्रदृश्यते।।२९१

किन्तु ब्रह्मलोकद्वारं देवयानपन्थानमपि गता इत्याह—अष्टाशीतीति। ते उत्तरं देवयानाख्यम् अपुनरावृत्तिफलकं मार्गम् अपि गताः। कीदृशं तं मार्गम्? अष्टाशीतिसहस्रसंख्यानां मुनीनां तथा अर्यम्णः सूर्यस्य सम्बन्धिनं; तथा च याज्ञवल्क्यस्मृतिः 'सप्तर्षि नागवीथ्यन्तर्देवलोकं समाश्रिताः। तावन्त एव मुनयः सर्वारम्भविवर्जिताः।।' (२.१७८) इति। यथा दक्षिणमार्गे कर्मकाण्डोपदेष्टारोऽष्टाशीतिसहस्रसंख्या मुनयः स्थिताः तथा निवृत्तिमार्गोपदेष्टारोऽपि तावत्संख्या मुनयः सप्तर्षीणां नागवीथ्याश्च अश्विन्यादिनक्षत्रत्रयात्मिकाया मध्यदेशे तिष्ठन्तीति तदर्थः। सूर्यसम्बन्धस्तु 'सूर्यद्वारेण विरजाः प्रयान्ति' (मुं.१.२.११) इत्यादिश्रुतिप्रसिद्ध एव। इति द्वयोरर्थः।।२८४-५।।

उक्तमहिमानं व्यतिरेकमन्वयं च दर्शयित्वा द्रढयति—सर्वेति त्रिभिः। एकस्य ब्रह्मचर्यस्याऽभावे इतरेषां साधनानां सत्त्वेऽपि क्लेशः पुरुषार्थप्रतिबन्धरूपो दृष्टः। अत्रोदाहरणं सौभरिप्रभृतयः कोटिशः प्रसिद्धा इत्यर्थः।।२८६।। एतत्सत्त्वे तु दुःखध्वंसं बहवो गता इति दृष्टान्तेनाह—समुद्रेति। संसारो जननमरणसन्ततिरूपं दुःखं, तस्य तरणं निवृत्तिरूपं, तदर्थं ब्रह्मचर्यम्।।२८७।। न केवलमेतद् दुःखं हिनस्ति, किन्तु स्वर्गादिरूपं सुखमपि ससाधनं करोतीत्याह—स्वर्गमिति। मोक्षं निरतिशयानन्दाविर्भावलक्षणम् आयुर्जीवनकालातिशयम्, तथा एतल्लौकिकसुखं, कीर्तिं च ब्रह्मचर्यवान् लभते।।२८८।। तत्रेह लोके सुखं यश इत्येतदेव विवृणोति—नीरोग[1] इति। दुःखैर्बाह्यैर्मानसैश्च वर्जितः, पापराहित्याद् यशस्वी च स भवतीति।।२८९।।

यदा प्रोक्तमाहात्म्यं विज्ञायाऽपि ब्रह्मचर्यं स्थिरीकर्तुं न शक्नुयात्, तदाऽनेन विवेकेन स्थिरी कुर्याद् इत्याशयेन विवेकमुपदिशति—अपि मातुरिति। सम्भ्रेषं भ्रंशं गच्छति करोति। तथा च नारीणां मातृसाम्यम् आलोच्य ब्रह्मचर्यं रक्षेद् इति भावः।।२९०।। 'यन्मैथुनादि गृहमेधिसुखं हि तुच्छं कण्डूयनेन करयोरिव दुःखदुःखम्' (७.९.४५) इति भागवतोक्तं वा तदर्थम् आलोचयेद् इत्याह—अपि मूत्रस्येति। अल्पं पात्रं पात्री तद्रूपाम्, कुत्सितो वायुरपानाख्यः तेन दूषितां च तां नारीयोनीं गच्छतः किं सुखम्! न किञ्चिदपीत्यर्थः।।२९१।।

ब्रह्मलोक भी इसके फलस्वरूप मिल सकता है।)।।२८५।। ऐसे करोड़ों विद्वान् मुनि हो चुके हैं जो सारे साधनों से संपन्न थे पर एक ब्रह्मचर्यरूप साधन पर दृढ नहीं रह पाये अतः क्लेश ही पाकर रह गये, पुरुषार्थ से वंचित रहे।।२८६।। जैसे समुद्र पार करने का उपाय जलपोत प्रसिद्ध है वैसे संसार में डूबे बिना इसे पार कर जाने का उपाय ब्रह्मचर्य बताया गया है।।२८७।। इसमें कोई संशय नहीं कि ब्रह्मचर्य से संपन्न पुरुष स्वर्ग, मोक्ष, दीर्घ आयु, इस लोक में सुख और कीर्ति प्राप्त कर लेता है।।२८८।। वह नीरोग रहता है, उसके शरीर पर आभा रहती है, सभी दुःखों से रहित होता है और सब पापों से दूर रहता है।।२८९।।

उक्त महत्ता से प्रेरित होकर जो ब्रह्मचर्य पर स्थिर न रह सके वह विवेक के अभ्यास से मन आदि को संयत करे। वह यों विचार करे : माता और प्रेयसी में क्या अंतर है कि पुरुष प्रेयसी का सम्पर्क होने पर ब्रह्मचर्य से च्युत

१. एतेन रोगादिरब्रह्मचर्यस्य लक्षणम्, यावज्जीवं सर्वांशब्रह्मचर्यपालनस्य दुःशकत्वात्। महता प्रयासेन ब्रह्मचारी स्यादिति तात्पर्यम्।

एवं चेज्जायते नात्र बोधः पुंसोऽतिपापतः। तदैनं प्रार्थयेच्चैवमानन्दात्मानमीश्वरम्।।२६२
सर्वस्याऽहं यशः स्फीतं ब्रह्म चर्याऽभिलाषवान्। नारीयोनिमिमां मा गां यतोऽहं निर्गतः पुरा।।२६३
पिच्छिलां लोमशां तद्वददत्कां व्रणसन्निभाम्। दुर्गन्धां क्लेशसङ्घस्य कारणं सर्वजन्मनि।।२६४
एवं सम्प्रार्थ्यमानोऽयमानन्दात्मा मुमुक्षुणा। प्रसनोत्यत्र वैराग्यं पुमान् येन करोति न।।२६५
स्मरणं कीर्तनं कोलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्। सङ्कल्पो निश्चयो वाऽपि वधूनां रतिहेतवः।।२६६
ब्रह्मचर्ये रतश्चैनं प्राप्नुयाद् दुःखवर्जितम्। आनन्दात्मानमद्वैतं स्वयंज्योतिःस्वरूपिणम्।।२६७

ब्रह्मचर्यसंरक्षणार्थम् ईशप्रार्थनापरत्वेन 'यशोऽहम्' इत्यादिवाक्यं[1] चतुर्दशकण्डिकागतमवतारयति—एवं चेदिति। यदि अतिशयितपापवशाद् एवं नारीसंसर्गहेयताऽवगाही बोधो न जायते तदा तत्सिद्ध्य इत्थम् ईश्वरं प्रार्थयेद् इत्यर्थः।।२६२।। 'इत्थं' कथम्? इत्याकांक्षायामाह—सर्वस्येति। सर्वस्य ब्राह्मणादेः यद् यशः स्फीतं विस्तृतं तद्वन्निरतिशयप्रेमास्पदं ब्रह्म भवितुमिच्छामि यतश्चर्यायां सत्पथस्थितौ अभिलाषवान् अस्मि। यदि ब्रह्मभावं नेच्छेयं तदा सत्पथे किमर्थं तिष्ठेयम्? इति भावः। 'चर्या त्वीर्या पथे स्थितिः' इत्यमरः। ईर्या प्रशस्या ब्रह्मविद्या तस्या मार्गे ब्रह्मचर्याद्युपाये स्थितिः चर्येत्युच्यत इति तदर्थः। हे भगवंस्तत्र इत्थम् अनुगृहाण यथा श्रुतौ 'लिन्दु'-पदोक्तां नारीयोनीं मा गां न गच्छेयं या मया गर्भान्निष्क्रामताऽनुभूतेत्यर्थः।।२६३।। तामेव विशिनष्टि—[2]पिच्छिलामिति। अदत्कां भक्षयित्रीं बलविवेकवैराग्यादिगुणानाम् इति शेषः। व्रणसन्निभत्वेन रक्तवर्णत्वं श्रुतौ 'श्येत'-पदोक्तं दर्शितम्। सर्वजन्मनि नानायोनिषु वक्ष्यमाणविधया दुःखदामित्यर्थः।।२६४।। एवंप्रार्थनस्य फलमाह—एवमिति। इत्थं प्रार्थ्यमान ईश्वरः तस्मै तादृशं वैराग्यम् अत्र वक्ष्यमाणेषु नार्याः स्मरणादिषु प्रसनोति ददाति—'षणु दाने' इति स्मृतेः—येन वैराग्येण पुमांस्तानि न करोतीत्यर्थः।।२६५।।

तानि स्मरणादीनि दर्शयति—स्मरणमिति। वधूनामिति प्रत्येकं सम्बध्यते। केलिः परिहासः। गुह्यभाषणं रहसि वाग्व्यापारः। सङ्कल्पो रमणीयत्वबुद्धिः। निश्चयो विश्वासः। एतेषां हेतूनां त्यागे कथं रतिः स्याद्? इति।।२६६।। इत्थं ब्रह्मचर्यसिद्धौ तत्त्वज्ञानद्वारा सर्वयशोरूपस्य ब्रह्मणः प्राप्तिर्युक्तैवेत्याह—ब्रह्मचर्य इति। एनं यशोरूपेण वर्णितम् आत्मानम्।।२६७।।

हो जाता है? (अर्थात् नारीमात्र को माता-समान समझकर ब्रह्मचर्य की रक्षा करे)।।२६०।। अपानवायु से प्रदूषित और पेशाब का बर्तन जो स्त्रीयोनि उसमे अभिगमन करते हुए पुरुष को क्या सुख हो सकता है! (अर्थात् उस घृणित स्थान के संपर्क से कोई सुख संभव नहीं)।।२६१।।

अत्यधिक पापसंस्कारों के कारण अगर यों विचारने पर भी ब्रह्मचर्यपालन का निश्चय न कर पाये तो इस आंनदरूप ईश्वर से यों प्रार्थना करे :।।२६२।। 'हे परमात्मा! जैसे सर्वत्र फैला यश सब चाहते हैं ऐसे ब्राह्मणादि सब का जिससे असीम प्रेम है वह ब्रह्म मैं होना चाहता हूँ इसीलिये सन्मार्ग पर स्थित रहने की अभिलाषा रखता हूँ। हे भगवन् ! ऐसी कृपा कीजिये कि मैं उस नारीयोनि का उपभोग न करूँ जिससे जन्मकाल में निकला था। वह योनि चिकनाई से लेपित है, रोमों से घिरी है, बल विवेक वैराग्य आदि सद्गुणों का नाश करती है, घाव जैसी है, बदबूदार है और सभी जन्मों में क्लेशसमूह का कारण बनती है।'।।२६३-४।। मुमुक्षु यों जब आनंदरूप परमात्मा से सम्यक् प्रार्थना करता है तब वे उसे वैसा वैराग्य प्रदान करते हैं जिससे वह पुरुष अवाच्य कर्म नहीं करता।।२६५।।

१. 'यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानां यशो राज्ञां यशो विशां यशोऽहमनुप्रापत्सि स हाहं यशसां यशः श्येतमदत्कमदत्कं श्येतं लिन्दु माऽभि गां लिन्दु माऽभिगाम्।'८.१४.१।।
२. दुःखदत्वं, विदारकत्वं च पिच्छधातोरर्थः।

ब्रह्मचर्यं ततः सर्वैः करणीयं मुमुक्षुभिः। अन्यथा स्यादधः पातः प्रतीकारविवर्जितः।।२९८
ब्रह्मचर्यविहीनाय विषयासक्तचेतसे। आनन्दात्माऽपि चित्तस्थो भाति नैव कदाचन।।२९९
किन्तु नारी सदा भाति बहिर्या मलसञ्चयः। तच्चित्तः सततं ध्यानात् संस्कारो बलवान् भवेत्।।
वध्वा स्वप्नादिकालेषु तामेवैषोऽत्र पश्यति।।३००
पश्यंस्तामुदरे गच्छेद् योषितः पुरुषः सदा। तस्याः परस्या वाऽन्यस्या दिवि वाऽन्यत्र वा भुवि।।३०१
जातः पुनश्च संस्कारैस्तामेवैषोऽत्र पश्यति। मृतः पुनश्च तस्यां स जायते पूर्ववत् सदा।।३०२

फलितं दर्शयन् विपक्षे संसारपातं 'क्लेशसङ्घस्य कारणं सर्वजन्मनी'त्युक्तं (श्लोक.२९४) विशदयति—ब्रह्मचर्यमिति षड्भिः। अन्यथा नारीस्मरणादित्यागरूपब्रह्मचर्याभावे। अधो नानायोनिषु।।२९८।। तत्रोपपत्तिमाह—ब्रह्मचर्यविहीनायेति। चतुर्थी तुमन्तलोपापेक्षया। तथा च-आनन्दरूप आत्मा स्वयंप्रकाशत्वेन सदा भासमानोऽपि ब्रह्मचर्यविहीनमुपकर्तुं न भाति, चित्तदोषरूपपुरुषापराधेन हि जाताऽपि विद्या नोपकाराय भवति इति भर्ज्जुन्यायेन[1] सिद्धम्।।२९९।। किन्त्विति। तस्य चेतसि मलरूपा नार्येव भाति यत एष ब्रह्मचर्यहीनः तच्चित्तो नारीसक्तमनाः तां नारीम् एवं स्वप्नमनोरथादौ पश्यति, न त्वात्मानम्। सततध्यानजसंस्कारस्य बलवत्त्वाद् इत्यर्थः।।३००।। ततश्च 'यं यं वापि स्मरन् भावम्' (८.६) इति गीतोक्तविधया नारीगर्भप्राप्तिर्भवति इत्याह—पश्यन्निति। तां नारीं पश्यन् ध्यायंस्तस्या अनुभूतायाः परस्याः तत्सजातीयाया अन्यस्याः तद्विजातीयाया वा उदरे इह परलोके वा गच्छेद् इत्यर्थः।।३०१।। तत्र जन्मलाभे पूर्वसंस्कारप्राबल्येन पूर्ववन्नारीध्यानतदुदरगमनयोः सन्ततिर्भवतीत्याह—जात इति।।३०२।। फलितमाह—एवमिति। हित्वाऽलंध्वा।।३०३।।

स्त्रियों से रति होने में ये प्रधान कारण बनते हैं—१) उपभोग्यरूप से स्त्रियों को याद करना। २) उनका उस रूप से वर्णन करना-सुनना-पढ़ना आदि। ३) स्त्रियों से हँसी-मज़ाक करना। ४) स्त्रियों को, उनके चित्र आदि को देखना। ५) छिपाने योग्य विचारों व क्रियाओं के सन्दर्भ में उनसे वार्तालाप करना। ६) किसी स्त्री के प्रति 'यह रमणीय है' ऐसा भाव बनाना। ७) स्त्री सुखद है यह विश्वास करना। इन कारणों से जो बचा रहेगा वह स्त्रियों पर रति वाला नहीं बनेगा। ईश्वरकृपा से साधक इस लायक हो जाता है कि उक्त स्मरणादि न करे।।२९६।। जो ब्रह्मचर्यपालन में सावधानी पूर्वक लगा रहता है वह यश की तरह सर्वप्रिय इस निर्दुःख अद्वैत स्वप्रकाश आनंदस्वरूप आत्मा को पा जाता है।।२९७।। अतः जो भी मोक्ष चाहे उसे ब्रह्मचर्यपालन करना ही चाहिये अन्यथा वह अधोगति से बच नहीं सकता।।२९८।।

जो ब्रह्मचर्य से विहीन है, जिसका चित्त विषयों में आसक्त है, उसके चित्त में रहता हुआ भी आनंदात्मा उसे कभी भास नहीं पाता! स्वाभाविक आत्मबोध और शब्दज आपात ज्ञान होने पर भी उसका उपकार कर सके, उसकी अविद्या मिटा सके ऐसा आत्मभान उस व्यक्ति को नहीं हो सकता।।२९९।। उसे तो हमेशा नारी का ही भान बना रहता है। बाहर पड़ी जो चीज़ें मल ही निश्चित होती हैं उनका ढेर ही तो नारी है! ब्रह्मचर्यहीन व्यक्ति का मन स्त्री में ही आसक्त होता है अतः स्वप्न में, मनोरथ आदि में उसे कामिनी ही दीखती है, आत्मा के आकार की कोई वृत्ति उसके मानस में कभी नहीं बनती। जिस विषय का लगातार ध्यान, चिन्तन किया जाये उसीके संस्कार दृढतर होते हैं अतः वह मन में भासता रहता है।।३००।। नारी को सदा देखते रहकर जब पुरुष मरता है तब द्यु आदि जिस-किसी लोक में वह नारीगर्भ में उत्पन्न होता है। जैसी स्त्री देखता रहा वैसी के गर्भ में या उससे विजातीय किसी स्त्री के गर्भ में जीव परजन्म में पैदा होता है।।३०१।। पैदा होकर पूर्व संस्कारों के अनुरूप वह पुनः नारीदर्शनतत्पर रहकर मरता है और पहले की तरह फिर किसी स्त्री के गर्भ में जा पहुँचता है। इस प्रकार यह चक्र चलता रहता है।।३०२।।

---

१. मृत्वा प्रेती भूतो भर्ज्जुनामाऽमात्य इति संस्कारवान् राजा तं पुरतो दृष्ट्वाऽपि 'अयं भर्ज्जु' रिति न विश्वसिति स्मैवं मतिकालुष्ये जायमानमप्यात्मज्ञानं न फलपर्यवसायीति सर्वज्ञात्मपूज्यपादैर्न्यरूपि। सोऽयं भर्ज्जुन्यायः। प्रायः भर्च्छुपदप्रयोगो दृश्यते।

एवं संसारमागच्छेद् ब्रह्मचर्यविवर्जितः। आनन्दात्मानमात्मस्थं हित्वा दुःखौघकारणम्। ।३०३
अतो ब्रह्मा ब्रह्मचर्यं बिडौजसे समादिशत्। द्वात्रिंशद्वर्षमानेन ह्यानन्दात्मसमाप्तये। ।३०४
विशुद्धचेतसे स्वल्पपापयुक्ताय स प्रभुः। अन्ते वर्षाणि पञ्चैव ब्रह्मचर्यं समादिशत्। ।३०५
पञ्चमे वत्सरेऽतीते शक्रमाह प्रजापतिः। आनन्दात्मानमद्वैतममुना वचसा प्रभुः। ।३०६

पुनर्ब्रह्मोपदेशः

मघवन्! पूर्वमेवाऽयमशरीरो मयेरितः। चक्षुरादिषु चात्मायं यस्त्वया स्वीकृतोऽन्यथा। ।३०७
त्रिविधं तच्छरीरं स्याद् अज्ञानादुत्थितं हि यत्। तत्र स्थूलं सदा मर्त्यं यदेतदनुभूयते। ।३०८
मृत्युना हि सदैवैतत् स्वी कृतं वर्तते यतः। मण्डूकश्च यथा सर्पैस्तत आत्मा न तद् भवेत्। ।३०९

यत इत्थं ब्रह्मचर्यस्य ब्रह्मविद्याहेतुताऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां सिद्धाऽत एव प्रजापतिना तदधिकारसिद्ध्य इन्द्रं प्रति ब्रह्मचर्यमुपदिष्टमित्याह—अत इति। समाप्तये सम्यग्लाभाय। ।३०४। । अन्ते तु दोषाल्पत्वम् अपेक्ष्य पञ्चैव वर्षाण्यभ्यनुज्ञातवान् इत्याह—विशुद्धेति। स्पष्टम्। ।३०५। ।

पञ्चम इति। पश्चान्निर्दिष्टब्रह्मचर्यवर्षाणां मध्ये पञ्चमे वर्षेऽतीते पूर्णे सति प्रजापतिरमुना वक्ष्यमाणरूपेण वचसा तुरीयमात्मानमिन्द्रं प्रति आह प्रतिपादितवानित्यर्थः। ।३०६। ।

'अमुने' त्युक्तं द्वादशकण्डिकारूपं[1] प्रजापतिवाक्यं व्याचष्टे—मघवन्निति चतुरूनसप्ततिश्लोकैः। हे मघवन्! अयमात्मा मयाऽशरीरः शरीरत्रयविलक्षण एव चक्षुरादिस्थानेषूक्तः। यस्त्वया स्वाऽबोधवशाद् अन्यथा स्थूलादिशरीरतादात्म्यापन्नतया गृहीतः। ।३०७। । तस्य सशरीरत्वमाविधकमिति दर्शयन् शरीरत्रयं सह धर्मैर्वर्णयति—त्रिविधमिति षड्भिः। त्रिविधं शरीरम् अज्ञानमात्रप्रयुक्तम्, अज्ञानाभावे कार्यकारणाभावानुपलम्भात्[2] तत्र कल्पितत्वेन सर्वेषां मर्त्यत्वे मरणधर्मत्वे समेऽपि स्थूलं सदा मर्त्यं व्यवहारदशायामपि विनाशसम्बन्धदर्शनाद् इत्यर्थः। ।३०८। । सदा मर्त्यत्वे हेतुमाह—मृत्युनेति। यत एतत् स्थूलं शरीरं मृत्युना प्रमादलक्षणेन सदा स्वभक्ष्यत्वेन अङ्गी कृतं भवति सर्पैर्मण्डूकवत्, अत एव अजराऽमराऽदिलक्षणम् आत्मत्वं तस्य न सम्भवतीत्यर्थः। ।३०९। ।

जिसने ब्रह्मचर्य का स्थिरता से पालन नहीं किया वह निज में स्थित आनंदरूप आत्मा का अवलोकन न करके दुःखसमूह के कारणभूत संसार में बारम्बार आता रहे यही एक संभावना है, इससे बच सके ऐसी कोई संभावना नहीं। ।३०३। । क्योंकि ब्रह्मविद्या के लिये ब्रह्मचर्य निश्चित तथा अनिवार्य उपाय है इसलिये आनंदात्मा के सम्यक् लाभ के लिये ब्रह्मा जी ने इन्द्र को (तीन बार) बत्तीस वर्षों का ब्रह्मचर्य रखवाया। जब इंद्र के कम ही पाप बच गये, उसका चित्त विशुद्ध हो गया तब अंतिम बार उसे पाँच ही वर्षों तक ब्रह्मचर्य से रहने के लिये प्रभु ने आज्ञा दी। ।३०४-५। । वे पाँच साल बीतने पर प्रभु प्रजापति ने इन शब्दों में इन्द्र को आनन्दरूप अद्वैत शिव का स्वरूप समझाया ः। ।३०६। ।

'हे इन्द्र! शुरू से ही मैं जिस आत्मा का कथन करता रहा हूँ वह तीनों शरीरों से विलक्षण ही है। चक्षु आदि स्थानों में कहा तो मैंने अशरीर आत्मा को था पर तुमने ग़लत ही समझा, स्थूल आदि शरीरों से एकमेक हुए को आत्मा समझा। ।३०७। । जीव का उपाधिभूत वह शरीर तीन तरह का है जो अज्ञान से उठा है। तीनों तरह के स्थूलादि शरीर कल्पित और नश्वर हैं पर उनमें जो यह अनुभवसिद्ध स्थूल शरीर है वह प्रतिक्षण नष्ट होता उपलभ्यमान है। ।३०८। । जैसे मेढक को साँप हमेशा अपना भक्ष्य समझता है ऐसे प्रमादरूप मृत्यु स्थूल शरीर को सदा अपना भक्ष्य माने है, अर्थात् यह मृत्यु से हमेशा ग्रस्त है। इसलिये अजर-अमर आत्मा यह हो सके इसकी कोई संभावना नहीं। ।३०९। ।

१. 'मघवन्! मर्त्यं वा इदं शरीमात्तं मृत्युना तदस्यामृतस्याऽशरीरस्याऽऽत्मनोऽधिष्ठानमात्तो वै सशरीरः प्रियाप्रियाभ्यां, न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति, अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः। ।८.१२.१। ।'
२. कार्यं स्थूलं, कारणं सूक्ष्मम्, अभावः पञ्चमकोशः, तेषामनुपलम्भात्। अज्ञानस्यैव कारणशरीरत्वेऽपि कारणत्वेन शरीरत्वेन प्रयोज्यप्रयोजकत्वमिति बोध्यम्।

प्रियाऽप्रिये च तत्राऽपि वर्तेते स्थूलदेहवत्। आत्मा नैवं ततस्तच्च न स्यादात्मा कथञ्चन। ।३१०
अज्ञानेऽपि तृतीयेऽस्मिन् शरीरे सुप्तकीर्तितम्। आगामि वर्तते दुःखं ततस्तस्याऽपि नात्मता। ।३११
अशरीरोऽयमात्माऽयं देहत्रयविवर्जितः। दुःखशून्यो यथा तद्वज्जनिमत्सुखवर्जितः। ।३१२
प्रीत्यप्रीतिकरे एते सुखदुःखे शरीरतः। योगाच्छरीरहीनस्य दृश्येते न कथञ्चन। ।३१३

मृत्युचिह्नं प्रियाऽप्रियसत्त्वलक्षणं दर्शयन् सूक्ष्मशरीरव्यतिरेकमाह—प्रियाप्रिये इति। तत्र सूक्ष्मशरीरे प्रियम् अनुकूलम्, अप्रियं प्रतिकूलम्, एते उभे अवश्यं वर्तमानतया प्रसिद्धे स्थूलदेह इव। आत्मा तु एवं प्रियाऽप्रिय-धर्मको न भवति, विशोकत्वेनोक्तवात्, साक्ष्यस्य साक्षिधर्मताबाधाच्च। तत आत्मलक्षणाद्यसम्भवात् तत् सूक्ष्ममपि आत्मत्वाऽनर्हमित्यर्थः। ।३१०। ।

तृतीये कारणशरीरे तु बीजविधयाऽनर्थानां सत्त्वात् तस्य अनात्मत्वं स्फुटम्, न हि कूटस्थस्य आत्मनो बीजत्वं सम्भवतीत्याह—अज्ञानेऽपीति। अज्ञानाख्ये तृतीयशरीरेऽपि आगामि भविष्यत्प्रादुर्भावकं दुःखं वर्तते; कीदृशम्? सुप्तकीर्तितम्—सुप्तत्वेन प्रसुप्तत्वेन वर्णितम्; तथा च पतञ्जलिसूत्रम् 'अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्' (२.४) इति। ।३११। ।

फलितमात्मस्वरूपं वर्णयति—अशरीर इति। देहत्रयेण वास्तवसम्बन्धाऽभावाद् अशरीरोऽयमात्मा यथा दुःखेन रहितः तथा जन्यसुखेनाऽपि रहितः, तस्य जन्यसुखस्य दुःखसमानयोगक्षेमत्वाद् इति भावः। ।३१२। ।
आत्मनि प्रियाऽप्रिययोः मृत्युलक्षणयोः भानं तु देहत्रयतादात्म्याध्यासादेव, न स्वत इत्याह—प्रीत्यप्रीतीति। शरीरतः शरीरेण योगात् तादात्म्याध्यासाद् एव हेतोः सुखदुःखे अनुकूलप्रतिकूललक्षणे आत्मनि दृश्येते, न स्वतः, समाधौ शरीरत्रयाभिमानत्यागे तददर्शनाद् इत्यर्थः। । अत्र प्रियाऽप्रिययोः मृत्युलक्षणत्वम् उद्गीथब्राह्मणे वागादीनां रागद्वेषदोषेण असुरेभ्यः पराजयप्रतिपादके वर्णितं बोध्यम्। ।३१३। ।

सूक्ष्म शरीर भी आत्मा नहीं क्योंकि इसमें प्रिय-अप्रिय रहते ही हैं जो मृत्यु का चिह्न हैं ! अनुकूल को प्रिय व प्रतिकूल को अप्रिय कहा जाता है, ये जैसे स्थूल देह में वैसे सूक्ष्म में भी रहते ही है। इंद्रियों को व मन को हर अनुभव और क्रिया में प्रियता या अप्रियता ज़रूर रहती है। वास्तविक आत्मा ऐसा नहीं जिसके लिये कुछ प्रिय-अप्रिय हो क्योंकि वह सबके लिये समान है और शोक से रहित कहा गया होने से उसके प्रतिकूल कुछ हो सके यह संभव नहीं। अनेक अनुसन्धानों से ही प्रिय-अप्रियता होती है एवं अनुसन्धान जिस स्थायी साक्षी की अपेक्षा रखता है वह आत्मवस्तु सक्ष्यभूत प्रियतादि धर्मों वाला हो यह किसी युक्ति से संगत नहीं। इसलिये आत्मलक्षण से रहित सूक्ष्मदेह आत्मा है ही नहीं। ।३१०। ।

तीसरा है कारण शरीर जिसमें समस्त अनर्थों के बीज मौजूद हैं अत एव स्पष्ट है कि वह अनात्मा है क्योंकि अपरिवर्तनीय आत्मा किसीका भी बीज नहीं हो सकता! बीज में परिवर्तन होने पर भी अंकुर आदि कार्य उपलब्ध होते हैं, जो अपरिवर्तनशील है उसके कार्य संभव नहीं तो उसे बीज भी मानना संगत नहीं। अज्ञान में पड़े क्लेशों को 'सुप्त', सोया हुआ कहा जाता है क्योंकि जगने पर वे सब उपलब्ध हो जायेंगे। भूत दुःख भी संस्काररूप से अज्ञान में ही निहित हैं। यों सब क्लेशों का पुंजीभूत रूप जो कारण शरीर अर्थात् अज्ञान वह सर्वकल्याणरूप आनंदात्मा नहीं हो सकता इसमें क्या कहना!। ।३११। ।

तीनों शरीरों से किसी सत्य संबंध से रहित यह आत्मा जैसे निर्दुःख है वैसे ही सादि सुख वाला भी नहीं, अनित्य सुख से भी इसका कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं है। निर्विकार का अनित्य से कोई सत्य सम्पर्क संभव नहीं क्योंकि वैसा संपर्क उसे भी अनित्य बनाये बिना नहीं रहेगा, जैसाकि वार्तिककार ने बताया है 'उपयन्नपयन्धर्मो विकरोति हि धर्मिणम्' अर्थात् आने-जाने वाली विशेषता जिसमें आती है उसे विकृत करती ही है। ।३१२। । मृत्यु के सूचक जो प्रिय अप्रिय उनका आत्मा में भान इसीसे होता है कि आत्मा को शरीरों से एकमेक कर समझते हैं। ये अपरोक्ष सुख व दुःख प्रियता व अप्रियता महसूस कराते हैं किन्तु तभी जब शरीर और आत्मा को एकमेक कर समझा जाये। जब

वाय्वादीनि च भूतानि विद्युदभ्रादयस्तथा। प्रियाऽप्रियाभ्यां सम्बद्धा देहहीना न कर्हिचित्। ।३१४
वाय्वादयो यथा स्वस्य कारणं ज्योतिरद्वयम्। प्राप्नुवन्तः स्वरूपेण स्युरेते भेदवर्जिताः। ।३१५
एवमात्माऽशरीरोऽयं सुषुप्तौ यः प्रकीर्तितः। हार्दं गच्छन् परं ज्योतिः स्वेन रूपेण जायते। ।३१६

अशरीरस्य प्रियाऽप्रियाऽभाव इत्यत्र जडानि वाय्वादीनि दृष्टान्त[1] इत्याह—वाय्वादीनीति। श्रुतौ 'वायुः' इत्युपलक्षणं तेजःप्रभृतीनामित्याशयेन आदिपदम्। अभ्रादय इति आदिपदेन स्तनयित्नुपदवाच्यस्य वर्षुकमेघस्य ग्रहः, अभ्रपदेन तु तित्तिरिपक्षाकारस्य नवमेघस्य। एते पदार्था यथा देहेन घनीभूतावयवलक्षणेन हीना वर्जिताः सन्ति, न हि एतेषां देहाः कुत्रचिद् देशे वसन्तः केनचिद् दृष्टाः! किन्त्वदृष्टादिनिमित्तवशेन अकस्माद् इव प्रादुर्भूय वृष्ट्यादिकं कुर्वाणा उपलभ्यन्ते। ततश्च देहहीनत्वाद् रागद्वेषगोचरलक्षणाभ्यां प्रियाऽप्रियाभ्यां वर्जिताश्च प्रसिद्धाः तथाऽऽत्माऽपि प्रियाऽप्रियरहितो देहहीनत्वादित्यर्थः। ।३१४। ।

अत्र यद्यपि दृष्टान्तस्वरूपमित्थं भाष्यकारैर्लोकानुग्रहपरैर्व्याख्यातम्—वाय्वादयो यथा वर्षादिप्रयोजनाऽभावे शरदादौ भूताकाशे सूक्ष्मभावेन तादात्म्यं गता अपि वर्षाकालादिनिमित्तेन प्रादुर्भवन्ति तथाऽऽत्माऽप्यविद्यया देहतादात्म्येन असद्भावमिवापन्नो वेदान्तवाक्यरूपनिमित्तेन प्रादुर्भूतः स्वरूपावस्थितो भवति—इति, तथाऽपि प्रपञ्चविलयवादिनां प्राचां मतानुरोधी ग्रन्थकृद् अदःशब्दस्य परोक्षवाचिताम् आकाशशब्दस्य ब्रह्मपरत्वे 'आकाशो वै नाम' (८.४.१) इत्यादिवाक्यशेषानुकूल्यं च स्वपक्षेऽनुसन्धाय, विद्वत्प्रसिद्ध्यैव दृष्टान्तस्वरूपं वर्णयन्नात्मनः स्वरूपावस्थितिक्रमं दर्शयति—वाय्वादयो यथेत्यादिना तद्वादात्मा शरीरिणाम् (श्लोक.३४०) इत्यन्तेन ग्रन्थेन। माया निमित्तमात्रं ब्रह्मैव विश्वोपादानम् इति सिद्धान्ताद् वाय्वादीनामुपादानं ब्रह्मैव लयस्थानं, तत्र लीयमाना वाय्वभ्रादयः स्वं पारमार्थिकं रूपं चिद्घनलक्षणं प्राप्य यथाऽद्वैतरूपेण तिष्ठन्तीत्यर्थः। ।३१५। । [2]एवमिति। एवं सुषुप्तिसम्बन्धेन सम्प्रसादसञ्ज्ञोऽयमात्मा जीवः सः अशरीरः परित्यक्तशरीरत्रयाऽभिमानः सन् हार्दं हृदयाकाशरूपं तत्पदार्थभूतं ज्योतिः प्राप्य स्वेन पारमार्थिकेन रूपेण अवस्थितो भवति। ।३१६। ।

आत्मा को शरीरों से अस्पृष्ट समझ लिया जाता है तब आत्मा के लिये सुख-दुःख, प्रिय-अप्रिय का कोई मायने ही नहीं रह जाता। समाधि में जब देहभेद स्फुट होता है तब शरीराभिमान का अभाव रहते कोई जन्य सुख या दुःख क्योंकि अनुभव में नहीं आता इसलिये आत्मा स्वतः सुख-दुःख वाला नहीं यह निश्चित हो जाता है। ।३१३। । वायु आदि भूत तथा बिजली, बादल आदि जो भी देहहीन हैं वे किसी भी दशा में प्रिय-अप्रिय से सम्बद्ध नहीं होते जिससे पता चल जाता है कि बिना शरीरसंबंध के प्रियाप्रिय, सुख-दुःख नहीं हुआ करते। (रागविषय को प्रिय और द्वेषविषय को अप्रिय माना जाता है तथा राग-द्वेष शरीरसापेक्ष भावनाएँ हैं अतः अशरीर आत्मा को प्रिय-अप्रिय से रहित ही माना जा सकता है।)। ।३१४। ।

(श्रुति में यहाँ बताया है कि वाय्वादि अशरीर हैं, ये इस 'आकाश' से समुत्थित होकर 'पर ज्योति' को उपसम्पन्न होकर अपने रूप से अभिनिष्पन्न होते हैं। इसका भाष्यानुसारी तात्पर्य है कि वर्षा आदि प्रयोजन न रहने पर वायु आदि भूताकाश में सूक्ष्मरूप से रहते हैं और प्रयोजन आने पर प्रदुर्भूत हो जाते हैं, ऐसे ही देह से एकमेक हुआ आत्मा भी न के बराबर रह गया है और वेदान्तजन्य बोध से निरावृत होकर अपने वास्तविक व्यापक स्वरूप से वर्तमान हो जाता है। किन्तु आत्मपुराणकार की रुचि प्रपंचानुभव के समापन में है जिसे प्रपंचप्रविलयवाद नाम से जाना जाता है। इसलिये आत्मवेत्ता की दृष्टि से श्रुतिप्रोक्त उदाहरण की व्याख्या करते हुए यह बताते हैं कि आत्मा कैसे स्वरूप में अवस्थित होता है—)

१. 'अशरीरो वायुरभ्रं विद्युत् स्तनयित्नुः। अशरीराण्येतानि तद्यथैतान्यमुष्मादाकाशात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यन्ते। ।२। ।'

२. 'एवमेवैष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते।'

कार्यं सर्वं व्रजेदेतद् विद्युद्वाय्वादिकं हि यत्। परं ज्योतिः परं ब्रह्म यतस्तस्मात् समुत्थितम्।।३१७
विलीयमानं कार्यं हि किं गच्छेदात्मवर्जितम्। रूपान्तरेण वा केन गच्छेत् तत् स्वविवर्जितम्।।३१८
जडान्यपि यदा स्वस्य रूपं तत् स्फुरणात्मकम्। आत्मप्रवेश आयान्ति तदात्मा चेतनः कथम्।
तद्रूपं च न गच्छेत् स तेन तादात्म्यमागतः।।३१९

तत्र दृष्टान्तमेव स्फुटयति—कार्यमिति। यद् दृष्टान्तीकृतं वाय्वादिकं भूतजातं, विद्युद्आदिकं भौतिकं च एतत् सर्वं कार्यं विलयकाले ज्योतीरूपं परं ब्रह्म एव व्रजेद् नान्यद् यतः तद् ब्रह्मैव विश्वोपादानमित्यर्थः। घटो लीयमानो मृदि लीयत इति मूढमतम्, आत्मन्युपादानतायोग्ये लीयत इति तत्त्वविदां मतमिति भावः।।३१७।। तत्र हेतुतयाऽन्यत्र विलयाऽसम्भवमाह—विलीयमानमिति। कार्यं घटादि विलीयमानं सदात्मना विश्वसत्ताप्रदेन वर्जितं परित्यक्तं किं वस्तु प्रति गच्छेत्! न हि निःस्वरूपे लयो युक्तः। तथा च मृदाद्युपहितचैतन्य एव घटादिलय इति भावः। अनात्मनि तु लय एव न सम्भवति, यथा स्थितस्य ताम्रस्य न सुवर्णभावः पूर्वरूपानिवृत्तेः, नाऽपि नष्टस्य, नष्टत्वादेव, तथा इत्यभिप्रेत्याह—रूपान्तरेणेति। रूपान्तरेण आत्मलक्षणस्वरूपाद् भिन्नेन घटादिसंज्ञकेन स्वरूपेण कार्यं कर्तृ कारणं केन न्यायेन गच्छेत्, न केनाऽपि, यत आत्मनः पृथग्भावे स्वविवर्जितम् निःस्वरूपम्। न हि शशशृङ्गस्य कुत्रचिल्लयो, न वाऽनात्मनि पटे घटस्य लयः प्रसिद्ध इत्यर्थः।।३१८।। फलितं कैमुत्यमभिनयति—जडान्यपीति। यदा जडान्यपि स्वकीयविनाशकाले चिल्लक्षणात्मभावं यान्ति, तदा चेतनो जीवः[1] सदा तेन परमात्मना तादात्म्यम् अभेदं प्राप्तः—परस्यैव जीवभावेन प्रवेशश्रवणात्—स लये तद् रूपं चिदेकरसब्रह्मभावं गच्छेद् इति किमु वाच्यमित्यर्थः।।३१९।।

सिद्धांत है कि विश्व का उपादान स्वप्रभ ब्रह्म ही है, माया तो केवल निमित्त है, अतः वायु आदि का विलय अपने उपादानभूत ब्रह्म में ही होता है जिसमें विलीन हुए वायु आदि अपने पारमार्थिक चिन्मय अद्वय स्वरूप को पाकर सभी भेदों से रहित हुए रहते हैं।।३१५।। ऐसे ही जिसे सुषुप्ति-साक्षि रूप से समझाया था वह सर्वप्रसिद्ध आत्मा जब त्रिविध शरीर का अभिमान छोड़कर हृदयाकाशरूप उस चिज्ज्योति को पा जाता है जो तत्पद का अर्थ है, ईश्वर है, तब वह अपने वास्तविक रूप से विद्यमान रहता है।।३१६।। जो वायु आदि भूत और बिजली आदि भौतिक पदार्थ हैं वे सब कार्य हैं अतः जब विलीन होते हैं तब चिद्धातु परब्रह्म को ही प्राप्त होते हैं, और कुछ नहीं बन जाते, क्योंकि वह ब्रह्म ही विश्व का उपादान है।।३१७।। आत्मा से अतिरिक्त हो भी क्या सकता है जिसमें कार्यवर्ग विलीन हो! आत्मरहित अर्थात् निःस्वरूप हो जाये तो कार्य का ऐसा कौन सा अन्य रूप रहेगा जिससे वह विलीन हो! (तात्पर्य है कि कार्य का अपने उपादान में ही लय विज्ञसंमत है अतः सर्वोपादान आत्मा में ही कार्य लीन होता है यही मान्य है। आत्मा ही सत् है, जो आत्मा नहीं वह असत् है तथा असत् में विलय हो नहीं सकता। घटादि का भी मृदादि में नहीं वरन् मृदादि से उपहित चेतन में ही लय होता है यह समझ लेना चाहिये। किं च जो आत्मा अर्थात् स्वरूप नहीं उसमें लय संभव नहीं। कोई कहे कि ताँबा सोना बन जाता है अतः ताँबे का अपने स्वरूप से भिन्न स्वर्ण में लय मान लो —तो वह कहना ग़लत है; ताँबा रहते तो वह सोना नहीं बनता और जब ताँबा रहा ही नहीं तो सोना बनेगा कौन? इसलिये ताँबा कभी सोना बनता नहीं, भले ही कुछ समय के लिये भ्रम हो जाये। यद्यपि पेचीदी तकनीकों से कोई ताँबे आदि को स्वर्णादि बना भी ले तथापि क्योंकि दृश्यता ही समस्त दृश्यों का स्वरूप है इसलिये स्वरूप या आत्मा में परिवर्तन तब भी नहीं होता। स्वरूप छोड़ते ही वस्तु निःस्वरूप हो जाती है और ऐसी चीज़ का कहीं लय संभव नहीं क्योंकि खरगोश के सींग आदि निःस्वरूप पदार्थों का कहीं लय नहीं होता। जिस किसी का लय होता है वह उसके आत्मा में ही होता है जैसे कपड़े का विलय धागों में या बर्फ का विलय पानी में, कपड़े का अनात्मा, जो मान लो घड़ा आदि है, उसमें तो कपड़े का विलय होता नहीं। अतः नियम स्पष्ट है कि सभी कार्य अपने आत्मा में ही विलीन होते हैं। परमात्मा से ही उत्पन्न जगत् का वही आत्मा है तो उसीमें जगत् का विलय होगा।।३१८।।

---

१. बाधमुख्यसमानाधिकरणभेदेन जडजीवयोर्विशेषाद् दृष्टदृष्टान्तता। एतदनुपदं स्फुटी भविष्यति।

आत्मनोऽपररूपाणि कर्तृत्वादीनि सर्वदा। आनन्दात्मा स्वयंज्योतिः निजं रूपं च तस्य तत्।।
परस्य ज्योतिषस्तच्च हृदयाकाशरूपिणः।।३२०
अनयोर्भेदहेतुश्च साज्ञानं हि वपुर्द्वयम्। तस्मिन् गते न कोऽप्यत्र भेदः सम्भाव्यतेऽनयोः।।३२१
अहं ब्रह्मेति विज्ञानादज्ञाने विलयं गते। कर्तृत्वादीनि रूपाणि स्वयं यान्ति लयं ततः।।३२२
रज्ज्वज्ञाने विलीनेऽत्र यथा धर्माः स्वयं लयम्। सर्पस्य सर्पणाद्यास्ते यान्ति हेतुविवर्जिताः।।३२३
घटे यथा विलीने तु घटाकाशो महानयम्। स्वेन रूपेण सम्पन्न आकाशो जायते सदा।।३२४
कर्तृत्वादिविहीनः सन् परं ज्योतिरुपागतः। एवं स्वेनैव रूपेण जीवात्मा जायते त्विह।।३२५

तर्हि जीवस्य संसारदशातः को विशेषो मोक्षे? इति चेत्; कल्पितरूपपरित्याग एवेत्याह—आत्मन इति त्रिभिः। कर्तृत्वभोक्तृत्वादीनि अपराणि आगन्तुकानि कल्पितानि इति यावत्, तादृशानि रूपाणि आत्मनो जीवस्य त्वम्पदार्थस्य भवन्ति। निजं वास्तवं रूपं तु स्वयम्प्रकाशानन्दलक्षणमेव। यच्च त्वंपदार्थस्य शुद्धं रूपम् एतदेव परस्य तत्पदार्थस्याऽपि भवतीत्यर्थः।।३२०।।अनयोरिति। अनयोः तत्त्वम्पदार्थयोः भेदप्रयोजकं स्थूलसूक्ष्मशरीरलक्षण-विलाससहितम् अज्ञानमेव। तस्याऽज्ञानस्य लये सति भेदो दुर्वच इत्यर्थः।।३२१।। तत्र हेतुतया निरूपकाऽभावमाह—अहमिति। स्वयं यत्नमन्तराऽपि।।३२२।। तत्र दृष्टान्तमाह— रज्ज्वज्ञान इति। रज्ज्ववच्छिन्नचैतन्यगोचरेऽज्ञाने विलीने सति तत्र कल्पितस्य सर्पस्य ये सर्पणाद्याः सर्पणपदस्यान्तर्भावितणिच्कत्वात् पलायनप्रयोजकत्वमर्थः, आदिपदेन मोहप्रयोजकत्वादिग्रहः, एते धर्माः कारणनाशेनैव लयं यान्ति इत्यर्थः।।३२३।।

जीवस्य परिपूर्णस्वरूपावस्थितौ निदानभूत उपाधिविमोक एवेति स्फुटी करणाय दृष्टान्तान्तरमाह—घट इति। यथा घटाकाशस्य महाकाशाख्येन स्वरूपेण अवस्थितौ प्रयोजको घटलक्षणोपाधिविमोक एव, तथा कर्तृत्वस्य तदुपलक्षितभोक्तृत्वादीनां च आदिना निमित्तभूतेन शरीरत्रयेण हीनो विवेकं गतो जीवः स्वेन पूर्णरूपेण तिष्ठेत्। इति द्वयोरर्थः।।३२४-५।।

जब जड चीज़ें भी विनाशकाल में आत्मरूपता पाने का अवसर आने पर उस स्फुरणशील निज स्वरूप से ही अभिन्न होती हैं तब चेतन जीवात्मा, जो हमेशा ही उस परमात्मा से अभिन्न है, क्योंकि परमात्मा ही जीवरूप से देह में प्रविष्ट है, लय की परिस्थिति आने पर चिदेकरस ब्रह्मरूप से ही बना रहेगा इसमें क्या कहना! कोई कारण और युक्ति-प्रमाण नहीं कि विलय दशा में, उपाधि हटने की स्थिति में, जीव सिर्फ परमात्मा न हो।।३१९।।

त्वम्पदार्थ रूप से समझे जाने वाले आत्मा के आगन्तुक अर्थात् कल्पित रूप हैं कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि जबकि उसका निजी—उपाधिपरामर्श के बिना हमेशा रहने वाला—रूप है स्वप्रकाश प्रत्यग्भूत आनंद। हृदयवर्ती आकाश में चित्त एकाग्र होने पर जिसका सुस्पष्ट स्फुरण हो जाता है उस तत्पदार्थात्मक परम ज्योति का भी वही स्वरूप है जिसे आत्मा का निजी रूप कहा।।३२०।। तत्पदार्थ और त्वंपदार्थ में जो भेद प्रतीत होता है उसका प्रयोजक है अज्ञान जो स्थूल-सूक्ष्म शरीरों के रूप में फैला हुआ है। उस अज्ञान के मिटते ही इन 'दोनों' में किसी भेद की संभावना भी नहीं रह जाती।।३२१।। 'मैं ब्रह्म हूँ' इस दृढ प्रामाणिक अपरोक्ष से अज्ञान का बाध हो जाने पर जीव के कर्ता-भोक्ता आदि कल्पित रूप खुद ही विनष्ट हो जाते हैं, उन्हें हटाने के लिये अलग से कोई कोशिश नहीं करनी पड़ती।।३२२।। संसार में ही देखा जा सकता है कि रज्जु के अज्ञान से सर्प का भ्रम होने के बाद जब रज्जु का अज्ञान मिट जाता है तब सर्प के जो सर्पण आदि धर्म प्रतीत होते थे वे स्वयं लीन हो जाते हैं क्योंकि उनका जो कारण था वही नहीं रह गया। (सर्पण अर्थात् भगाने की कारणता। सर्प हमें भगा रहा था पर रज्जु का अज्ञान मिटने पर वह हमें अब भगाता नहीं। मोहित करना आदि अन्य भी सर्पधर्म इसी प्रकार अन्य प्रयास के बिना ही समाप्त हो जाते हैं क्योंकि उनका कारण जो अज्ञान था, या सर्परूपापन्न अज्ञान था, वह नष्ट हो गया। रज्जु-अज्ञान हटने पर धर्मसमेत धर्मी साँप का बाध होता है यह भाव है।)।।३२३।।

रूपेण स्वेन निष्पत्तिः परस्य ज्योतिषो हि या। प्राप्तिरुक्ताऽत्र जीवस्य विद्युदादेस्तथेरिता। ।३२६
तत्र भेदः स्वयं ज्ञेयः कार्याकार्यविभागतः। विद्युदादिरिदं कार्यं जीवस्तस्माद्विलक्षणः। ।३२७
कार्यतायां विनाशः स्यात् तस्य देहादिवद् ध्रुवम्। प्रजापतेस्तथात्वे तु मृषावादित्वमापतेत्। ।३२८

यद्येवं ब्रह्मभावो जीवस्य जडानां च समः तदा जडचेतनयोः उपमाया भेदसापेक्षाया निर्वाहको विशेषः कः? इत्याशङ्क्य परिहरति—रूपेणेति द्वाभ्याम्। यद्यपि परस्य अद्वयरूपस्य ज्योतिषः प्राप्तिसमानकालिका स्वरूपेण निष्पत्तिः अवस्थितिः जीवस्य यथेरिता तथा एव विद्युत्प्रभृतेः जडस्याऽपि उदीरिता, तथाऽपि तत्र दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः कार्यत्वाऽकार्यत्वलक्षणेन विभागेन वैलक्षण्येन प्रयुक्तो भेदः स्वयं श्रुत्युपदेशमन्तरापि सिद्धो ज्ञेयः। तमेव स्फुटयति—विद्युदादिरिति। विद्युदादिरूपो दृष्टान्तः कार्यत्वेन प्रसिद्धः। तस्मात् कार्याद् विलक्षणः तु जीवः[1]। इति द्वयोरर्थः। ।३२६-७। ।

जीवस्य कार्यत्वाऽभ्युपगमेऽनिष्टधाराप्रसङ्गं दर्शयति—कार्यतायामिति त्रिभिः। जीवस्य कार्यतायाम् अङ्गीकृतायां सत्यां विनाशप्रसङ्गः ततश्च प्रजापतेः आत्मनो विजरादिभावं प्रतिपादयतो मृषावादिता स्याद् इत्यर्थः। ।३२८। । इन्द्रस्येति। ततश्च पूर्वपूर्वात्मनि विनाशदोषमालोच्य आगतेन इन्द्रेण अविनाशिनस्तत्त्वस्य

जीव अपने वास्तविक परिपूर्ण स्वरूप से बना रहे इसमें उपाधिनिवृत्ति ही कारण है। यह व्यापक आकाश घट रहते घड़े से सीमित प्रतीत होता है और घड़ा विलीन होते ही आकाश केवल अपने व्यापक रूप से बना रहता है, ऐसे ही आत्मा जब कर्तृत्व आदि से और उनके निमित्तभूत शरीरत्रय से स्वयं को स्वतंत्र जान लेता है, उनसे विविक्त जो परम स्वप्रभ स्वरूप है उसका अज्ञान मिटा लेता है, तब वह अपने व्यापक स्वरूप से ही रह जाता है। यही संसारदशा से मोक्ष में अंतर है; संसार रहते आत्मा उपाधि-पराधीन है और मोक्ष में उपाधि से निरपेक्ष पूर्ण है। ।३२४-५। ।

प्रश्न होगा कि जीवात्मा और जड पदार्थों का विलयदशा में ब्रह्मभाव समान है तो विद्युत् आदि जडों के विलय को उदाहरण कैसे बनाया? जिसके लिये उदाहरण दिया जाता है उससे उदाहरण में कोई भेद अवश्य होना चाहिये, खुद ही खुद के लिये उदाहरण नहीं बन सकता। इस प्रश्न का उत्तर है : यद्यपि बताया कि जैसे जीव अपने स्वरूपभूत परम ज्योति आत्मा को पा लेता है वैसे बिजली आदि जड चीज़ें भी, तथापि जीव और बिजली आदि में अंतर स्वयं समझ सकते हैं—बिजली आदि ये जड चीज़े कार्य हैं जबकि जीव कार्य नहीं है। (वेदवाक्यों में आकाशादि जडों की उत्पत्ति कही है जबकि जीव के बारे में कहा कि परमेश्वर ही शरीर में घुस गया तो जीव बन गया अतः जीव उत्पन्न नहीं हुआ, केवल शरीर में रहते उसका परमेश्वर से भेदेन व्यवहार हो रहा है! जड व जीव में यह महान् अंतर है जिससे बाधज्ञान में जडों के बारे में तो निश्चय होगा कि वे हैं ही नहीं जबकि जीव के बारे में निश्चय होगा कि वह बद्ध नहीं है। जीव ही नहीं है—ऐसा श्रौतविचार से कभी निर्णय नहीं हो सकता, उसकी बद्धता का ही निषेध हो सकता है। शास्त्रीय शब्दों में कहते हैं कि जडों की आत्मा से बाध-समानाधिकरणता है व जीव की मुख्य-समानाधिकरणता है। क्योंकि जीव को अज, नित्य आदि कह दिया है इसलिये कहीं जीव का जन्म कथित लगे तो भी वह उपाधिजन्म या उपाधिसंबंध के अभिप्राय से ही समझना चाहिये यही बादरायणादि का निर्णय है। अतः भागवत संप्रदाय की मान्यता कि वासुदेव नामक परमात्मा से संकर्षण नामक जीव उत्पन्न होता है सर्वथा ग़लत और श्रुतिविरुद्ध है। यह बात भाष्यकार ने शरीरक भाष्य २.२.४२ में स्पष्ट की है।)। ।३२६-७। । यदि जीव कार्य हो तो देहादि की तरह उसका नाश अवश्य होगा और तब प्रजापति झूठे होंगे क्योंकि उन्होंने आत्मा को नाशरहित कहा था। किं च इंद्र भी समझे गये आत्मा की नश्वरता सोचकर ही बार-बार ब्रह्माजी के पास जाता रहा, यदि आत्मा है ही नाशवान् तो इन्द्र का वह प्रयास भी व्यर्थ रहा! इतना ही नहीं, अगर अंतिम उपदेश में आत्मा का नाश बताया मानें तो इन्द्र को पुनः लौटकर इस बारे में सवाल करना चाहिये था जो उसने किया नहीं जिससे यही पता चलता है कि उसे अनश्वर आत्मा ही ब्रह्मा के उपदेश से

१. 'नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्य' इत्यादिशारीरके (२.३.१७) ऽकार्यता निरणायि जीवस्य।

इन्द्रस्य गमनं तद्वद् व्यर्थमेव पुनर्भवेत्। आत्मनो नाशमन्वीक्ष्य सर्वत्रैष समागतः।।
अत्राऽपि नाश उक्तश्चेत् कुतो न पुनराव्रजेत्। ।३२९
नष्टानां नैव च प्राप्तिर्भवेत् कुत्राऽपि कर्हिचित्। स्वरूपेणाभिनिष्पत्तिर्दूरापास्ता च तत्र हि। ।३३०
वाय्वादावपि नैतत् स्यात् समानं त्रितयं ततः। कारणस्यैव कार्यत्वं मृषैवेति समास्थितम्।
कार्यं यदि भवेन्नाम तदा तन्न भवेदपि। ।३३१
कार्यवज्जीवतायां चेत् प्रतिबन्दीग्रहो भवेत्। नानिष्टं जीवता तस्मिन् मृषा यस्मात् समाश्रिता ।३३२
घटनाशे यथा लोके घटाकाशत्वधीर्मृषा। आनन्दात्मनि जीवत्वं मृषा तद्वत् समाश्रितम्। ।३३३

अलाभात् तदागमनं वृथा स्याद् यतोऽत्र चतुर्थपर्याये विनाशवानात्मा उक्तोऽभविष्यत् तदा स पुनरागमिष्यद् इत्यर्थः। ।३२९।। तथा परज्योतिःप्राप्तिपूर्वकस्य स्वरूपेण अवस्थितिरूपस्य फलस्य उक्तिरपि व्याहन्येत, न हि नष्टानाम् असद्भावं गतानां प्राप्त्यादिकर्तृत्वं युक्तमित्याह—नष्टानामिति। नष्टकर्तृकायाः प्राप्तेः असम्भवे तत्प्रयुक्तायाः स्वरूपावस्थितेः सुतरामसम्भव इत्यर्थः। ।३३०।।

वस्तुतस्तु नाऽत्रोक्तविशेषाऽपेक्षा व्यक्तिभेदमात्रेणाऽपि दृष्टान्तत्वसम्भवाद् इत्यभिप्रेत्य दृष्टान्तेऽपि कार्यत्वं वस्तुतो नास्तीत्याह—वाय्वादाविति। यदि वाय्वभ्रादौ दृष्टान्ती कृते वैशेषिकादिमतसिद्धं वास्तवं कार्यत्वं स्यात् तदा तस्य विनाशशीलस्य एतत् श्रुतौ प्रसिद्धं त्रितयं समुत्थान-प्राप्ति-स्वरूपावस्थितिरूपं समानं साधर्म्यभावेनोक्तं न स्याद् नोपपद्येत। तत एतदालोच्य 'कारणमेव कार्यभावेन अवस्थितं, न कार्यं कारणात् पृथक् सत्, मृषात्वाद्' इति समास्थितं स्वीकृतं सम्प्रदायविद्भिरिति शेषः। अस्मिन् पक्षे असत्त्वप्रयुक्तो दोषो न प्रसज्जते, कारणस्य सत्तामादाय सर्वोपपत्तेः इत्याशयेनाह—कार्यमिति। यदि कार्यं भवेत् कारणात् पृथक्त्वेन इति शेषः, तदा तत् कार्यं न भवेद् विनाशेन असत्तामपि भजेत्, तथा चोक्तानुपपत्तिः स्यात्। अस्माभिस्तु तथा नैवाभ्युपगम्यत इत्यर्थः। ।३३१।।

ननु दृष्टान्ते कार्यत्वस्य मिथ्यात्वं यद्युच्यते तदा दार्ष्टान्तिकगतस्य जीवस्य अपि तत् स्याद् इति चेत्? इष्टापत्तिरित्याह—कार्यवदिति। प्रतिबन्दी तुल्यताऽऽपादनं तत्र ग्रहो हठः चेत् तव स्यात् 'कार्यवज्जीवताऽपि मृषा स्याद्' इति; तथापि अस्माकं नाऽनिष्टं, तथा स्वीकारादेवेत्यर्थः। ।३३२।। मृषात्वे दृष्टान्तमाह—घटनाश इति। यथा घटरूपोपाधिनाशे सति घटाकाशत्वं स्फुटमृषात्वकं भवेत् तथा शरीरत्रयविवेके जीवत्वम् अपीत्यर्थः। ।३३३।।

समझ आया। ।३२८-९।। ब्रह्माजी ने बताया था कि 'परम ज्योति की प्राप्ति होकर स्वरूप से अवस्थान हो जाता है', यह फलोक्ति भी तब संगत नहीं रह जायेगी जब जीव का नाश माना जायेगा क्योंकि नष्ट वस्तु कभी कहीं कुछ पा ले और पाकर किसी निजी रूप से बनी रहे यह संभव नहीं। 'नष्ट वस्तु' का मतलब ही है कि उसकी सत्ता रही नहीं और जिसकी सत्ता ही नहीं रही वह परम ज्योति को पाने की क्रिया का कर्ता बने यह हो ही नहीं सकता। ।३३०।।

दृष्टान्त और वह जिसे समझाने के लिये दिया गया है उस दार्ष्टान्त में स्वरूपगत भेद होना ही चाहिये यह मानकर पूर्वोक्त व्यवस्था बताई कि कार्यता-अकार्यता का अंतर है। वास्तव में तो व्यक्तिभेद से ही दृष्टान्त-दार्ष्टान्तभाव संगत हो जाता है, एक गाय को दृष्टांत बताकर अन्य गायों को समझा ही जाता है। अतः जड-चेतन का एक-सा विलय मानना भी सुसंगत है। जिन्हें दृष्टान्त बनाया है वे वायु, बिजली आदि अगर वास्तविक कार्य होते तो वे विनाशशील भी होते जिससे यह संगत न होता कि उनका समुत्थान हो, उन्हें प्राप्ति हो और वे स्वरूप से अवस्थित रहें अर्थात् जीव के समान हों। किन्तु श्रौतसंप्रदाय के जानकारों ने स्वीकारा है कि कारण ही कार्यरूप से रहता है, मिथ्या होने से कार्य अपने कारण से पृथक् होकर सत्तावान् नहीं होता। इस सिद्धांत के अनुसार यह आपत्ति न आ सकेगी क्योंकि कार्याकार

आकाशो न मृषा यद्वद् घटाकाशे व्यवस्थितः। आनन्दात्मा तथा जीवस्थितः सत्यतयेरितः।।३३४
ततः कार्येऽथ वा जीवे मायांशेऽसत्यता यदा। तदा भवतु को नाम तस्याः सत्यत्वमीरयेत्।।३३५
आनन्दात्मा सदा सत्यः स्फुरणं योऽत्र वस्तुषु। यश्च जीवस्ततः सम्यगस्मिन्नंशे तु सर्वदा।
विद्युदादेश्च जीवेन विरोधो नाऽत्र कश्चन।।३३६

विशेष्यरूपस्य मोक्षयोग्यत्वाय सत्यत्वमपि तेन दृष्टान्तेनाह—आकाश इति। यथा घटाकाशाख्ये सङ्घाते विशेष्यतया स्थित आकाशः सत्यस्तथा जीवस्थितो जीवाख्ये सङ्घाते स्थित आनन्दात्माऽपीत्यर्थः।।३३४।। तथा च 'अस्ति भाती' त्यादिवाक्यप्रसिद्धे[1] मायांशे मिथ्यात्वापादने इष्टापत्तिरेवेत्याह—तत इति। तत उक्तविवेकात् कार्ये विद्युदादौ दृष्टान्ते, जीवे दार्ष्टान्तिके च गतो यो मायाभागो नामरूपलक्षणः तद्गताऽसत्यता मिथ्यात्वं यदि भवति तदा भवतु नाम! न हि वयं तस्याः मायायाः सत्यत्वम् ईरयाम इत्यर्थः।।३३५।।

फलितं साधर्म्यमभिनयति—आनन्दात्मेति। स्फुरणरूपेण सर्ववस्तुषु योऽनुगतः स आनन्दात्मा एव सत्यः। शरीरत्रयविशिष्टरूपेण प्रसिद्धो यो जीवः स तु ततः तामानन्दात्मसत्तामादायैव सम्यक् सत्यो, न स्वतः इति एतस्मिन्नंशे उपमालङ्कारस्य उपमानोपमेयसाधर्म्यवाचकरूपैश्चतुर्भिरवयवैर्युक्तस्य[2] अंशे साधर्म्याख्ये स्वीकृते सति विद्युदादेः उपमानस्य जीवेन उपमेयेन सह संयोजने विरोधो विघातहेतुर्दोषः कोऽपि न अस्ति। विद्युदादीनामपि छूटने पर भी कारण तो रहेगा ही जिसकी सत्ता के सहारे समुत्थान आदि तीनों संगत होते हैं।।३३१।। दृष्टांतों की कार्यरूपता मिथ्या है, ऐसे ही दार्ष्टान्त में जीवरूपता मिथ्या ही है अतः यदि वादी दृष्टान्त की समानता के आपादन का हठ करे कि कार्य की तरह जीवता मिथ्या मनवाना चाहे तो भी सिद्धांती के लिये कुछ अनिष्ट नहीं हैं, क्योंकि आत्मा में जीवता मिथ्या मानी ही गयी है।।३३२।। लोक में जैसे घड़ा फूटने पर स्पष्ट हो जाता है कि घटाकाशता का ज्ञान भ्रम ही था (क्योंकि वास्तव में आकाश सीमित हुआ होता तो घड़े के रहने-न-रहने से उसमें अंतर न आता) वैसे शरीरत्रय से विवेक हो जाने पर स्पष्ट हो जाता है कि आनन्दरूप आत्मा में जीवता मिथ्या ही है।।३३३।। जीव-*ता* मिथ्या होने पर यह भ्रम नहीं करना चाहिये कि जीव मिथ्या है : घटाकाशरूप से उपस्थित आकाश जैसे मिथ्या नहीं होता— भले ही घटाकाश मिथ्या है—वैसे ही जीव-नामक संघ में स्थित आनन्दरूप आत्मा मिथ्या नहीं सत्य ही है। (जीव आत्मा होने से सत्य है किंतु उसकी जीवता मिथ्या है क्योंकि औपाधिक है। संक्षेपशारीरक के मंगलश्लोक में यह तथ्य बखूब समझाया है।)।।३३४।। विशिष्ट और विशेष्य का उक्त विवेक समझ लेने पर दृष्टान्तभूत वायु आदि कार्यों में और दार्ष्टान्तभूत जीव में जो नाम-रूपात्मक मायाभाग है उसका मिथ्यात्व भले ही हो, उसे हम सत्य कहते ही नहीं हैं। (सांप्रदायिकों ने अस्ति-भाति-प्रिय तथा नाम-रूप ये पाँच अंश दृश्य जगत्—जिसमें प्रमाता भी शामिल है—माने हैं। इनमें नाम-रूप मायांश हैं जो मिथ्या हैं, बाकी तीन ब्रह्मरूप अतः सत्य हैं। जीव के उपाधि-हिस्से को मिथ्या तो माना ही गया है।)।।३३५।।

स्फुरण अर्थात् प्रतीति रूप से सब वस्तुओं में जो यहाँ अनुस्यूत पदार्थ है वह आनन्दरूप आत्मा ही सत्य है। तीन शरीरों वाला जो जीव अनुभूयमान है वह तो इसीसे सत्य है कि उक्त आनन्दात्मा से सत्ता ग्रहण किये हुए है, स्वतः जीव सत्य नहीं है (जैसे बिम्बभूत प्रकाश से रोशनी 'ग्रहण' किया हुआ प्रतिबिम्ब प्रकाशमान होता है, स्वतः नहीं)। आनंदात्मा की सत्ता लेकर सत्तावान् प्रतीत होना—इस बात में जीव और बिजली आदि जड वस्तुएँ समान हैं क्योंकि वे भी स्वतः सत्य नहीं वरन् आत्मसत्य के अनुवेध से सत्य भासती हैं। इस समानता को ध्यान में रखें तो उपनिषत् में दिये दृष्टान्तों का दार्ष्टान्तभूत जीव से विरोध नहीं रहता। (चित्-जड भेद होने से दृष्टान्त-दार्ष्टान्त में अटपटेपन की शंका थी, सद्रूप से समानता के अभिप्राय से समाधान है यह भाव है।)।।३३६।। उदाहरणरूप वायु आदि और

१. 'अस्ति भाति प्रियं, नाम रूपमित्यंशपञ्चकम्। आद्यत्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम्।।' इति।
२. वाचकाभावे रूपकतापत्तेश्चतुरवयवत्वोपपत्तिरुपमायाः।

कार्यतायां न साम्यं स्यादेतैर्जीवस्य कर्हिचित्। उक्तदोषसमापत्त्या कृतनाशादिनाऽपि च।।३३७
अशरीरत्वसम्पत्त्यै ब्रह्मा वाय्वादिकं त्विह। दृष्टान्तमुक्तवान्नैव कार्यत्वेन कथंचन।।३३८
शरीरेऽसति वाय्वाद्याः प्राप्नुयुर्न प्रियाऽप्रिये। यथा तथैव जीवोऽयं शरीरेण विवर्जितः।।
प्रियाऽप्रिये क्वचिन्नैव गच्छेत् कालत्रयेऽपि हि।।३३९
परं ज्योतिर्यथा प्राप्य वाय्वाद्याः प्रलये सति। स्वरूपतो विनिष्पन्ना अशरीराः कदाचन।।
प्राप्नुयुर्नैव ते दुःखं तद्वदात्मा शरीरिणाम्।।३४०

सत्ताया अधिष्ठानपरतन्त्रत्वाद् इत्यर्थः।।३३६।। कार्यतायामिति। कार्यतारूपे साधर्म्ये स्थिते सति यत् साम्यम् उपमाख्यं तदिह न स्यात्, तथा सति कृतनाशाऽकृताऽभ्यागमप्रसक्त्या उक्तदोषः प्रजापतिमृषावादित्वादिरूपः प्रसज्जेतेत्यर्थः।। अपि चेत्युत्तरान्वयि।।३३७।।

तर्हि घटादय एव कुतो न दृष्टांती कृताः? इत्याशङ्कां परिहरन्, वायुविद्युदादेः प्रजापतिना दृष्टान्ततयाऽभिधाने प्रयोजनमाह—अशरीरत्वेति। ब्रह्मा प्रजापतिः यद् वायुविद्युदादिकं दृष्टान्तत्वेन उक्तवान्, तत्प्रजापतिवचनं कार्यत्वेन कार्यत्वबोधरूपेण फलेन फलवद् न भवति किन्तु अशरीरत्वस्य या सम्पत्तिः प्रियाप्रियराहित्यप्रयोजकतारूपा तद्बोधरूपफलेनैव फलवदित्यर्थः। घटादीनां तु वाय्वादिवद् अशरीरतयाऽवस्थानमेव न प्रसिद्धमतो न ते दृष्टान्ती कृता इति भावः।।३३८।। उक्तं फलमेव विशदयति—शरीरेऽसतीति द्वाभ्याम्। यथा शरीरे घनीभूतावयवलक्षणेऽसति परित्यक्ते सति वाय्वभ्रादयः प्रियाऽप्रियसम्पर्करहिताः प्रसिद्धाः तथाऽऽत्माऽपि शरीरवर्जित इत्यर्थः।।३३७।। परं ज्योतिरिति। यथा च प्रलयकाले वाय्वादयः परंज्योतिः सल्लक्षणं परमकारणं प्राप्य स्वेन रूपेण निष्पन्ना अवस्थिताः सन्तो दुःखं संसारधर्मं कमपि न प्राप्नुयुः अशरीरत्वात् तथा सर्वेषामात्माऽपीत्यर्थः।।३४०।।

जिसे समझाने के लिये उदाहरण दिया है उस जीव में कार्यता की समानता नहीं है अर्थात् वायु आदि की तरह जीव को भी कार्य नहीं मान सकते क्योंकि तब प्रजापति को झूठा स्वीकारना रूप दोष होगा और जीव नश्वर होने पर कृतनाश व अकृताभ्यागम दोष प्राप्त हो जायेंगे। (उत्पन्न जीव सुखःदुःख अपने पूर्वार्जित कर्मों से भोगता है और जीव जो करता है उसका फल उसे भोगना ही पड़ता है। अगर जीव आदि-अंत वाला हो तो प्राथमिक भोग का कोई कारण न रह जाये तथा जीवनाश से पूर्व किये कर्म फल दिये बिना समाप्त हो जायें—ये दोनों असंगत स्थितियाँ होंगी अतः ऐसा मानना उचित न होने से जीव आदि-अंत वाला नहीं है। बिना पूर्वकृत कर्म के यदि फल भोगना पड़े तो 'अकृत-अभ्यागम' दोष कहा जाता है तथा किया कर्म बिना फल दिये नष्ट हो जाये तो 'कृत-नाश' दोष कहा जाता है।)।।३३७।। ब्रह्मा जी ने जो वायु, बिजली आदि को दृष्टान्त बनाया वह कार्यता को दृष्टि में रखकर बनाया हो यह किसी तरह संगत नहीं। उन्होंने तो शरीररहितता के अभिप्राय से उक्त दृष्टांत दिये हैं क्योंकि शरीररहितता होने पर प्रिय-अप्रिय की रहितता स्वतः सिद्ध है। इसीलिये कार्य होने पर भी घड़े आदि को दृष्टान्त नहीं बनाया। (घड़ा तो घनीभूत अवयवों वाला होने से सशरीर ही है। उसमें प्रियादिराहित्य में जडता हेतु है। यद्यपि अनुगत होने से वाय्वादि में भी जाड्य को हेतु मान सकते हैं तथापि 'अभिप्रायानुसार दृष्टान्त समझना चाहिये, दृष्टान्तानुसार अभिप्राय नहीं'—यह न्याय है और प्रकृत में अशरीरता अभिप्रेत है अतः उसी दृष्टि से दृष्टांत दिया गया है यही स्वीकार है।)।।३३८।। एवं च यह भाव है कि जैसे शरीर-रहित वायु आदि प्रिय-अप्रिय के संपर्क से रहित रहते हैं वैसे ही यह जीव शरीरों से रहित समझ लिया जाने पर कभी किसी दशा में प्रिय-अप्रिय से सम्बद्ध नहीं हो सकता।।३३९।। तथा जैसे वायु आदि प्रलय होने पर सत्स्वरूप परम कारण को प्राप्त हो जाते हैं और अपने उस वास्तविक स्वरूप से रहते हुए संसार की विशेषता जो दुःख उसे कभी नहीं महसूस करते क्योंकि अशरीर होते हैं, वैसे सभी का आत्मा भी परम ज्योति को पाकर जब स्व-रूप से रहता है तब अशरीर होने से कोई दुःख नहीं महसूस करता।।३४०।।

ज्योतिषः परमत्वं यत् स्वप्रकाशतया हि तत्। ज्योतींषि यत एतानि ह्यपेक्षन्ते स्वतः परम्।
ज्ञानान्तरं न चैवं तत् स्वयं ज्ञानस्वरूपिणः।।३४१
ज्ञानं चेत् स्वप्रकाशाय विज्ञातारमपेक्षते। अनवस्थादयो दोषास्तदा स्युरनिवारिताः[1]।।३४२
स्वयंज्योतिस्ततस्त्वेतत् परं ज्योतिरितीर्यते। आनन्दात्मस्वरूपं यत् सर्वप्रियतमं सदा।।३४३
सम्पत्तिरस्य विज्ञेया ह्यहं ब्रह्मेति वेदनम्। स्वरूपेणाभिनिष्पत्तिरुक्ता तत्त्वंपदार्थयोः।।
विज्ञानाद् भेदराहित्यं फलं यत् स्वात्मबोधजम्।।३४४

आत्मस्वरूपज्योतिषः परमत्वं स्फुटी करोति—ज्योतिष इति। ज्योतिषः परमत्वं यद् उक्तं तत् स्वप्रकाशतया बोध्यं यत एतानि लौकिकानि ज्योतींषि आदित्यादीनि स्वतः परं भिन्नं ज्योतिः ज्ञानरूपम् अपेक्षन्ते। स्वयं ज्ञानस्वरूपिणो ब्रह्मणस्तु तत् स्वरूपभूतं ज्ञानम् एवं लौकिकज्योतिर्वत् ज्ञानान्तरं न अपेक्षत इत्यर्थः।।३४१।। परसापेक्षत्वे दोषमाह—ज्ञानमिति। यदि ज्ञानं स्वसिद्धये ज्ञातारम् अपेक्षेत तदा स ज्ञाता ग्राह्यज्ञानेनैव ज्ञानवान्, ज्ञानान्तरेण वा? आद्ये, आत्माश्रयः। द्वितीये, तस्याऽपि स्वसिद्धये प्रथमज्ञानापेक्षणेऽन्योन्याश्रयः स्वापेक्षणे त्वात्माश्रय उक्त एव। अथ तृतीयकल्पने प्रथमापेक्षायां चक्रकम्। द्वितीयापेक्षायामन्योन्याश्रयः, स्वापेक्षण आत्माश्रयः, ततश्चतुर्थादिकल्पनेऽनवस्था स्यादित्यर्थः।।३४२।। फलितमाह—स्वयमिति।।३४३।।

ननु परमज्योतिषो या प्राप्तिः [सैव] स्वेनैव रूपेण अवस्थितिः, तथाच पौनरुक्त्यं श्रुतौ स्याद् इति शङ्कां परिहरति—सम्पत्तिरिति। महावाक्यार्थज्ञानं सम्पत्तिपदार्थः। तस्य ज्ञानस्य फलं तु द्वैतराहित्यरूपं स्वरूपाभिनिष्पत्तिपदार्थः। इति न पुनरुक्तिरित्यर्थः।।३४४।।

जिससे उपसम्पत्ति होती है उस आत्मा को 'परम ज्योति' कहा। जो अपने और अन्य के ज्ञान को संभव करे उसे ज्योति कहते हैं जैसे सूर्य आदि। किंतु लोकप्रसिद्ध सभी ज्योतियाँ अपने से भिन्न ज्ञानरूप ज्योति से ही सिद्ध होती हैं, ज्ञानज्योति के बिना लौकिक ज्योतियों की सिद्धि नहीं। खुद ज्ञानस्वरूप ब्रह्म का स्वरूपभूत ज्ञान यों अपने से भिन्न किसी (ज्योति) की कोई अपेक्षा नहीं रखता। यही उस ज्योति की परमता है। (ज्ञान स्वप्रकाश है अर्थात् बिना अन्य किसी के सापेक्ष हुए उसका स्फुरण बना रहता है। लौकिक ज्योति भौतिक प्रकाशान्तर के निरपेक्ष होने के कारण लोक में स्वप्रकाश समझी जाती है। वह सर्वथा निरपेक्ष नहीं क्योंकि दृश्य और द्रष्टा की अपेक्षा से ही भौतिक प्रकाश दीखता है, कोई दृश्य न हो तब भी प्रकाश नहीं दीखता और द्रष्टा न होने पर तो नहीं ही दीखता। केवल स्वजातीयनिरपेक्षता से भौतिक प्रकाश को स्वप्रकाश कह देते हैं। आत्मप्रकाश तो अन्यमात्र से निरपेक्ष है अतः परम ज्योति कहा जाता है।)।।३४१।। ज्ञान भी यदि अपनी सिद्धि के लिये ज्ञाता की अपेक्षा रखे तो अनवस्था आदि दोष बलात् प्राप्त होंगे : वह विज्ञाता ज्ञानवान् है या नहीं? न हो तो विज्ञाता ही नहीं हो सकता! ज्ञानवान् है तो जो ज्ञान अपनी सिद्धि के लिये ज्ञाता की अपेक्षा रख रहा है उसी ज्ञान से ज्ञाता ज्ञानवान् है या ज्ञानांतर से? उसीसे हो तो आत्माश्रय दोष है। ज्ञानान्तर से हो तो पुनः प्रश्न होगा कि वह द्वितीय ज्ञान सिद्ध है या असिद्ध? असिद्ध हो तो यदि असिद्ध ज्ञान ज्ञाता बना सकता है तो प्रथम ज्ञान भी सिद्ध हुए बिना ही ज्ञाता बना लेगा, उसकी सिद्धि की जरूरत ही क्या! और द्वितीय ज्ञान को सिद्ध मानें तो वह जिस ज्ञाता से सिद्ध है वह किस ज्ञान से ज्ञानवान् है? द्वितीय से ही हो तो आत्माश्रय, प्रथम से हो तो अन्योन्याश्रय तथा तीसरा मानने चलें तो चक्रक होगा एवं तीसरे के बारे में पूछने पर चौथे का उल्लेख करते ही अनवस्था होगी। अतः ज्ञान को ज्ञानसापेक्ष नहीं मानना चाहिये।।३४२।। अतः इस स्वयं ज्योति आनंदात्मा को ही परम ज्योति कहा गया है जो सदा सबको सर्वाधिक प्रिय है।।३४३।।

१. एतेनानुव्यवसायवादो न्यक्कृतः। द्वितीयज्ञानस्य सत्तया साफल्ये प्रथमस्यैव तथात्वौचित्यात्। ननु 'अयं घटः', 'घटं जान' इत्यनुभवद्वयाज्ज्ञानद्वयमङ्गी कार्यमिति चेदथापि द्वितीयज्ञानात्प्रथमज्ञाने ज्ञानरूपताऽऽयाति इति स्वीकारो मुधा, द्वितीयस्य विषयतया प्रथमं ज्ञानं तिष्ठति, न तु ज्ञानत्वाय द्वितीयं प्रतीक्षत इति भावः। न च वृत्तेः साक्षिसापेक्षताविरोधः, वृत्तेरज्ञानत्वात्, वृत्तौ ज्ञानत्वस्यौपचारिकत्वात्।

फलप्राप्तावभिन्नं स्याद्यद्रूपं तत्त्वमर्थयोः। उत्तमः पुरुषः सोऽयं विद्यते न ततः परम्। ।३४५

जीवन्मुक्तः

उत्तमः पुरुषस्त्वेष यावद् देहस्य धारणम्। तावदेवं वसेत्तत्र ब्रह्मलोकेऽथ वा पुमान्। ।३४६
स्वेच्छया सर्वलोकेषु ह्युत्तमः पुरुषः सदा। पर्येत्यव्याहताज्ञः सन् महाराज इवापरः। ।३४७
अभक्ष्याणि च भक्ष्याणि भक्षयन् दुःखवर्जितः। क्रीडन् बालसमः सर्वैः लाल्यमानो महाजनैः। ।३४८

'उत्तमपुरुषपदार्थमाह—फलेति। तत्त्वम्पदाभ्यामुपलक्षितं यद् ऐक्यलक्षणं स्वरूपं तदेव उत्तमपुरुषपदेन उच्यते, नान्यत् तस्य कार्यकारणाभ्यामुत्तमत्वात्, सर्वोपाधिषु परिपूर्णत्वाच्च इत्यर्थः। ।३४५। ।

'स तत्र पर्येति' इत्यादिना द्वादशकण्डिकान्तग्रन्थेन' जीवन्मुक्तस्य स्थितिप्रकार उच्यत इति दर्शयंस्तदर्थमाह—उत्तम इति पञ्चदशभिः। एष महावाक्यार्थसाक्षात्कर्तृलक्षण उत्तमः पुरुषः प्रारब्धसमाप्तिपर्यन्तम् एवम् अनेन प्रकारेण वसेत्। 'एवं' कथम्? श्रुतौ तत्र-पदोक्ते ब्रह्मरूपे लोके निर्विकल्पसमाधिस्थः सन् पर्येति विहरति, ब्रह्मैव सर्वतः पश्यतीति यावत्। व्युत्थानदशायां तु समष्ट्यात्मदर्शी संस्तत्रपदोक्तेषु सर्वलोकेषु पर्येति व्याप्नोति महाराजवत् स्वतन्त्रः। इति द्वयोरर्थः। ।३४६-७। । अभक्ष्याणीति। तथा सर्वप्राणिरूपेण भक्ष्याऽभक्ष्याणि भुञ्जानः संस्तथा बालवद् महाजनैः आदृतः क्रीडन् सन्निन्द्रादिप्रभुरूपेण वधूभिः, वाहनैः, सखिभिः, सम्बन्धिभिः

श्रुति में कहा कि 'इस शरीर से भली भाँति उठकर परम ज्योति को प्राप्त कर अपने रूप से रहता है'। शंका होती है कि परज्योति पाने और अपने रूप से रहने में भेद क्या है? इसका समाधान है : महावाक्य के अर्थ का ज्ञान, 'मैं ब्रह्म हूँ' यह अनुभव, परम ज्योति की प्राप्ति है। 'अपने स्वरूप से रहने' का मतलब है उक्त ज्ञान का फल जो द्वैतनिवृत्ति; तत्-त्वम्पदार्थों के अद्वय पूर्ण रूप के विज्ञान से अर्थात् निज आत्मा के वास्तविक स्वरूप के अनुभव से होने वाला भेदनिवृत्ति रूप जो फल है उसीको 'स्वरूप से रहना' कहा गया है। ।३४४। । आगे श्रुति ने उसे उत्तम पुरुष कहा। तत्-त्वम् पदों से उपलक्षित जो अभेदस्वरूप है वही उत्तम पुरुष है क्योंकि वह कार्य-कारण दोनों से उत्तम है और परिपूर्ण है। भेदराहित्यरूप फल निरावृत होने पर तत्-त्वम् का जो अभिन्न रूप है उससे अतिरिक्त उत्तम पुरुष कहलाने वाला कुछ नहीं है। ।३४५। ।

महावाक्यार्थ का जिसने साक्षात्कार कर लिया वह उत्तम पुरुष प्रारब्धानुसार जब तक देह धारण करता है तब तक समाधि और व्युत्थान दशाओं में जीवन्मुक्ति का आनंद लेते हुए रहता है। जब वह निर्विकल्प समाधि में रहता है तब ब्रह्म ही उसका लोक होता है, केवल ब्रह्म का वह अवलोकन करता है, उसका विहार ऐसा ही होता है जिसमें सब ओर ब्रह्म ही दीखे। व्युत्थान की दशा में वह समष्टि आत्मा का दर्शन करता है अर्थात् हर तरह से बँटा हुआ जो आत्मा का प्रपंचात्मक रूप उसे इस समझ से देखता है कि यह ईश्वर का विलास है। उत्तम अर्थात् मुक्त पुरुष सभी लोकों में अपनी इच्छा के अनुसार पर्यटन करता है। जैसे महाराजा अपने राष्ट्र में 'फैला' रहता है वैसे उत्तम पुरुष सब लोकों को व्याप्त किये रहता है तथा उसकी आज्ञा कभी न मानी जाये ऐसा नहीं होता। (राजा का राष्ट्र में फैलना ऐसा नहीं होता कि सर्वत्र राजा के देहावयव उपस्थित हों! वरन् राजा को अभिमान होता है कि अपने देश में 'सर्वत्र मैं हूँ', देश की जो चाहे सो खबर पा लेता है, देश में जो चाहे सो कर लेता है। इसी प्रकार उत्तम पुरुष सारे संसार मैं फैला रहता है। इस प्रकार देश में राजा की तरह त्रिलोकी में उत्तम पुरुष होता है)। ।३४६-७। । वह निर्दुःख मुक्त क्योंकि सभी प्राणियों के रूप में मौजूद है इसलिये तत्तद्रूप से भक्ष्य व अभक्ष्य सभी का भक्षण करता रहता है।

१. 'स उत्तमः पुरुषः'।
२. 'स तत्र पर्येति जक्षत्क्रीडन्रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा नोपजनं स्मरन्निदं शरीरं, स यथा प्रयोग्य आचरणे युक्त एवमेवाऽयमस्मिञ्छरीरे प्राणो युक्तः। ।३। ।'

रममाणो वधूभिर्वा देवेन्द्र इव चापरः। यानैर्वा विविधैरेष वयस्यैर्ज्ञातिभिश्च वा।।३४९

विद्यमानमिमं देहं नाऽयं जानाति कर्हिचित्। यथा शयानः पुरुषः शयानं स्वात्मनो वपुः।।३५०

यथा शयाने पुरुषे प्राणेनैवाभिरक्ष्यते। शयानस्याऽत्र देहोऽयं तद्वन्मुक्तस्य तेन हि।।३५१

रथो यथा शयानेऽपि सारथौ शिक्षितैर्हयैः। नीयते पूर्ववत् तद्वद् देहः प्राणैस्तथाऽस्य हि।।३५२

मन्त्रिणा रक्ष्यते राज्यं शयाने नृपतौ यथा। मुक्तस्य च तथा देहः प्राणेनैवाऽभिरक्ष्यते।।३५३

प्राणो यथाऽत्र देहस्य रक्षाहेतुः प्रकीर्तितः। भोगहेतुस्तथैवैतदुक्तं बाह्यान्तरेन्द्रियम्।।३५४

वा रममाणः सन्निमं प्रसिद्धमविद्याकालोपात्तं देहं; कीदृशम्? मूढजनानां समीपे विद्यमानं; न विजानाति, न स्मरति सुप्तपुरुषः स्वशरीरमिव। इति त्रयाणामर्थः।। अत्र विदुषः सर्वज्ञत्वेऽपि आविद्यकव्यवहारविस्मृतौ दृष्टान्तो भाष्यकारैरुक्तः—यथा कश्चिदुन्मादादिना विपरीतं व्यवहरन् पश्चाद् निवृत्तोन्माद उन्मादकालिकं वृत्तं विस्मरन्नपि न 'मन्दधीः' इत्याख्यायते, तथा जीवन्मुक्तोऽपीति।।३४८-५०।।

तर्हि कथं तस्य देहस्थितिः? इत्याशङ्क्यां, श्रौतदृष्टान्तेन परिहरति—यथेति। यथा सुप्तस्य देहे योगक्षेमचिन्ताराहित्येऽपि तस्य देहः प्राणेन रक्ष्यते तथा तेन प्राणेन मुक्तदेहोऽपि।।३५१।। रथ इति। यथा च श्रुतौ 'प्रयोग्य'-पदोक्तैः हयैः सारथौ सुप्तेऽपि रथो नीयते तथाऽस्य मुक्तस्य देहः प्राणैः।।३५२।।

अथवा 'प्रयोग्य'-पदेन प्रकर्षेण राजव्यवहारे योग्य इति व्युत्पत्त्या राजमन्त्री ग्राह्य इति दर्शयन्नाह—मन्त्रिणेति। रक्ष्यते पाल्यते।।३५३।। यथा च देहरक्षाधिकारित्वेन प्राण उक्तः, तथा भोगाधिकारित्वेन इन्द्रियाणि उक्तानि 'अथ यत्रैतद्'[1] इत्यादिश्रुतिग्रन्थेनेत्याह—प्राण इति। बाह्यं घ्राणादि, आन्तरं मनः।।३५४।।

राग-द्वेष से रहित वह बालक की तरह क्रीडा ही करता है (कार्यकारण के आग्रह से ग्रस्त होकर कर्मफलप्रक्रिया में नही फँसता)। सभी महान् लोग उसे आदर देते हैं, इंद्रादि विभूतियों के रूप में वही देवादि से भी आदर पाता है।।३४८।। मानो दूसरा देवराज हो यों वह स्त्रियों से रमण करता है, विविध यानों से चाहे जहाँ घूमता है, मित्रों व सम्बन्धियों से आमोद-प्रमोद करते हुए रहता है।।३४९।। जिस प्रकार सोया पुरुष अपने शरीर के प्रति बेखबर रहता है उसी प्रकार उत्तम पुरुष उसके इस विद्यमान देह को कभी नहीं जानता। (अर्थात् उक्त सारी लीला के दौरान भी मुक्त को कभी देहाभिमान नहीं होता। मुक्त का पर्यटन, भक्षण, क्रीडा, रमण आदि सब यथासंस्कार जानना चाहिये अर्थात् हर मुक्त पर्यटन आदि सभी करेगा ऐसी कोई विधि नहीं की जा रही!)।।३५०।। सोये पुरुष का शरीर जैसे प्राण द्वारा ही अभिरक्षित होता है वैसे ही मुक्त का शरीर भी प्राण से ही सुरक्षित रहता है, मुक्त को उसके योग-क्षेम की कोई चिंता नहीं करनी पड़ती। यदि घोड़े सुशिक्षित हों तो सारथि के सो जाने पर भी वे रथ को समुचित ढंग से लिये जाते हैं, मुक्त का शरीर भी प्राणों द्वारा यथोचित प्रकार से संचालित रहता है। (यहाँ प्राण से अध्यात्म और अधिदैव अर्थात् सूत्रात्मा भी समझना चाहिये अर्थात् शरीरान्तर्वर्ती सुरक्षाव्यवस्था अध्यात्म-प्राण करते हैं और शरीर से बाहर जो व्यवस्था चाहिये वह सूत्रात्मा करता रहता है। यद्यपि हमेशा और सभी के लिये व्यवस्था इसी प्रकार होती है तथापि बद्ध इससे बेखबर होकर स्वयं को कर्त्ता समझकर नाहक परेशान रहता है जबकि मुक्त इस तथ्य को जानने से अपनी अकर्तृता में प्रतिष्ठित रहकर 'गुणों' के परस्पर व्यवहार (गीता.३.२८) का साक्षी बनकर आनंद लेता है।)।।३५१-२।।

---

१. 'अथ यत्रैतदाकाशमनुविषण्णं चक्षुः स चाक्षुषः पुरुषो दर्शनाय चक्षुरथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा गन्धाय घ्राणम्; अथ यो वेदेदमभिव्याहराणीति स आत्माऽभिव्याहाराय वाक्; अथ यो वेदेदं शृणवानीति स आत्मा श्रवणाय श्रोत्रम्।।४।। अथ यो वेदेदं मन्वानीति स आत्मा मनोऽस्य दैवं चक्षुः स वा एष एतेन दैवेन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते य एते ब्रह्मलोके।।५।।'

एकादशेन्द्रियैर्बालो गृह्णन्नपि यथा बहून्। विषयान् न स्मरेत् तद्वत् प्रमत्तो वाऽत्र कश्चन।।३५५
मुक्तस्तद्वदिमान् सर्वान् अधिगच्छन् हि सर्वदा। मनसा नैव जानाति स्वात्मनोऽन्यं कथंचन।।३५६
आसक्तिशून्यो मुक्तोऽयं भोगान् गृह्णाति सर्वदा। मनआद्यैः प्रयुक्तैस्तैर्दैवतैस्तत्तदाश्रितैः।।
ब्रह्मलोकादिलोकेषु सर्वदुःखविवर्जितः।।३५७
उत्तमः पुरुषो योऽयं विद्वद्रूपः प्रकीर्तितः। एनमात्मतया नित्यं सर्वे देवा उपासते।।
उपासनैर्हि विविधैर्यावज्जानन्ति नात्मना।।३५८

विदुषो भोगकाल इतरेभ्यो विशेषं भाष्योक्तमेवाह—एकादशेन्द्रियैरिति। यथा बालः प्रमत्तो वा इन्द्रियैर्विषयान् गृह्णन्नपि पश्चाद् न स्मरतीति।।३५५।। मुक्त इति। तथा जीवन् मुक्तोऽपि दैवचक्षूरूपेण वर्णितेन मनसा सर्वान् विषयान् अधिगच्छन्नपि स्वात्मनो भिन्नं पदार्थजातं नैव विजानाति अनुसन्धत्त इत्यर्थः।।३५६।। तेन अप्रयुक्तानामपीन्द्रियाणां प्रवृत्तावुपपत्तिमाह—आसक्तीति। अयं मुक्त आसक्तिशून्यो ब्रह्मलोकादिषु वर्तमानान् भोगान् मनःप्रभृतिभिरिन्द्रियैः गृह्णाति। कीदृशैरिन्द्रियैः? तैः आदित्यादिभिर्देवैः प्रयुक्तैः प्रेरितैः। तत्र हेतुभूतं विशेषणम्—तत्तदाश्रितैः इति, तांस्तान् चक्षुरादिप्रवर्तनरूपान् अधिकारान् धारयद्भिः इति तदर्थः। अत एव सर्वदुःखविवर्जित इति।।३५७।।

राजा सोया रहे तब भी मंत्री राज्य-व्यवस्था में जागरूक रहता है, ऐसे ही मुक्त जब अभिमान छोड़ देता है तब भी उसके देह की रक्षा प्राण करता रहता है।।३५३।। जैसे यहाँ प्राण को शरीररक्षा का हेतु बताया वैसे ही बाह्य-आन्तर इंद्रियों को भोगहेतु बताया। (अर्थात् मुक्त की जीवनयात्रा के दौरान मुक्त का कोई भोग नहीं है, सारा भोग बाह्य-आंतर इंद्रियों तक ही है। बद्ध दशा में अभिमानी प्रमाता भोक्ता बनता है पर मुक्त का अभिमान न रहने से प्रमाता तो रह नहीं जाता अतः इन्द्रियों तक ही भोग रह जाता है। जीवनोपपत्ति के लिये प्रमाता का आभास भले ही माना जाये पर प्रमाता नहीं माना जा सकता क्योंकि अभिमानी ही प्रमाता होता है, बाधित अभिमान से प्रमातृत्व संगत नहीं होता। जैसे बाधित राधेयता वाले में राधापुत्रत्व नहीं रहता भले ही वह राधा की सेवा-शुश्रूषा करता रहे वैसे ही प्रकृत में समझना चाहिये।)।।३५४-५।।

भोग के समय भी अज्ञानियों की अपेक्षा मुक्त में विशेषता रहती है : जैसे कोई छोटा बच्चा या पागल ग्यारहों इंद्रियों से बहुतेरे विषयों का व्यवहार करते हुए भी उन्हें याद नहीं रखता वैसे ही जीवन्मुक्त उत्तम पुरुष भी दैव-चक्षु कहलाने वाले मन से समस्त विषयों का अधिगमन करते हुए भी 'मुझ से स्वतन्त्र सत्ता वाला कोई भी पदार्थ है' ऐसा अनुसन्धान नहीं करता। (अर्थात् प्रपंचमिथ्यात्व का स्पष्ट भान होने से प्रतीयमान व्यवहार भेदबुद्धि का आपादक नहीं बनता।)।।३५६।। यह मुक्त अनासक्त अतः वैषयिक सुख-दुःखों से अस्पृष्ट रहता है। इन्द्रियों को प्रवृत्त करना जिनका अधिकार है उन आदित्य आदि देवताओं से प्रेरित मनआदि इन्द्रियों द्वारा ब्रह्मलोक आदि भोगभूमियों में वर्तमान भोगों को उत्तम पुरुष हमेशा ग्रहण करता है। (अर्थात् प्रमातृता से रहित होने पर वह तो इन्द्रियों को प्रेरित नहीं करता पर अधिष्ठाता देवता उन्हें प्रेरित करते रहते हैं।)।।३५७।। विद्वान्-रूप जो यह उत्तम पुरुष बताया गया इसकी सब दैवीसम्पत्-संपन्न जीव विविध उपायों से उपासना करते हैं और इसे हमेशा उस परमात्मा से अभिन्न मानते हैं जिसे वे अपना आत्मा जानना चाहते हैं। यह तो स्पष्ट है कि यह उपासना भी तभी तक होती है जब तक वे जीव आत्मरूप से परमात्मा का साक्षात्कार नहीं कर लेते।।३५८।। क्योंकि इस आत्मदेव की प्रमुख उपासना देवता लोग करते हैं इसीलिये सब लोक और कामनाएँ उनके अपने अधीन हैं। (अर्थात् प्रधानतः तो निरज्ञान आत्मा के अधीन लोक-काम हैं पर उसकी उपासना—निकटता—के फलस्वरूप देवताओं के भी वे अधीन हैं।)।।३५९।।

इसलिये इसमें कोई संशय नहीं कि जो कोई भी इस आत्मा को हमेशा अपना आत्मा प्रमाणतः महसूस करता है वह सब लोकों को व कामनाओं को प्राप्त कर लेता है। इस आत्मा के ज्ञान के बिना समस्त लोक-कामों की प्राप्ति

उपासते यतश्चैनमात्मानं देवमञ्जसा। सर्वे लोकास्ततः कामाः स्वाधीना हि दिवौकसाम्। ।३५९

विज्ञायैवैनमात्मानं सर्वदा स्वात्मरूपतः। सर्वान् लोकांस्तथा कामान् सर्वान् प्राप्नोत्यसंशयम्। ।३६०

आत्माऽयं सर्वभूतानां हृदयाकाशसंश्रयः। आनन्दरूपमेतं यो जानीते स्वात्मरूपतः।
न स पापेन केनाऽपि लिप्यते महताऽपि च। ।३६१

आत्मा यस्य हि सत्योऽयं बुद्धिसाक्षी प्रतीयते। नाऽसौ पापानि कुरुते पुमानद्वैतदर्शनः। ।३६२

तस्य विदुषो ब्रह्मभावं स्फुटयन् सर्वदेवोपास्यतारूपं[1] ब्रह्मधर्मं तत्राह—उत्तम इति। योऽयम् उत्तमपुरुषरूपो विद्वान् उक्त एनं सर्वात्मभूतं सर्वे देवाः शमादिसम्पन्नलक्षणाः तैस्तैः सविशेषरूपैः उपासते यावदात्मत्वेन न साक्षात् कुर्वन्तीति। ।३५८।। ततश्च सर्वलोककामेषु स्वातन्त्र्यं देवानाम् उपलभ्यत इत्याह—उपासत इति। ।३५९।। तथा चेदानीमप्यात्मोपासकानां तत्फलं युक्तमित्याह—विज्ञायैवेति। एतद्विज्ञानेनैव सर्वसत्फललाभ इत्यर्थः। ।३६०।।

त्रयोदशकण्डिकायां[2] मन्त्ररूपायामुक्तं दहरोपासकस्य पापनिवृत्तिरूपं फलं कैमुत्येन निर्विशेषब्रह्मविदोऽपि सिद्धं दर्शयति—आत्माऽयमिति। अयं विश्वाधिष्ठानतयोक्त आत्मा तत्पदार्थो दुरवगाह्यतया श्रुतौ श्यामपदोक्तः स एव सर्वेषां हृदयाकाशरूपस्त्वंपदार्थः सन् सङ्घातसङ्कीर्णत्वात् 'शबल' इत्युक्तः। तयोः ऐक्यं यः साक्षात् कुरुते स सर्वैः पापैः न लिप्यत इत्यर्थः। ।३६१।। तत्र हेतुतया समाहितत्वेन पापाऽसम्भवमाह—आत्मेति। यस्य 'परमार्थभूतः साक्षी एव मम आत्मा, न विश्वादिरूप' इति निरावरणं प्रतीयते भाति स पापं कथं कुर्यात्? तत्प्रवृत्तिहेतोर्द्वैतदर्शनस्यैवाऽभावाद् इत्यर्थः। ।३६२।।

होती भी नहीं। (व्यष्टिभाव रहते समस्त नहीं मिल सकता, उसे पाने के लिये समष्टिरूपता चाहिये ही।)। ।३६०।।

साधक के पाप समाप्त हो जाते हैं यह बात दहराकाश में ब्रह्म की उपासना करने वाले के बारे में कही है पर वह इसलिये कि जब ब्रह्मोपासक ही निष्पाप हो जाता है तब ब्रह्मरूप हुआ तत्त्ववित् पाप से अस्पृश्य है इसमें क्या कहना! तत्-पद का अर्थ जो विश्व का आधार वह समझा जा सके यह अतिकठिन है किन्तु वह सब प्राणियों के हृदयाकाश में त्वंपद के अर्थ रूप से मौजूद है और देहादिसंघात से मिला-जुला सबको अपरोक्ष है। प्रिय होने से जिसकी आनन्दरूपता स्फुट है तथा जो साक्षात् अपरोक्ष है केवल उसीको प्रमाणपूर्वक प्रत्यगात्मा जो जानता है वह बड़े से बड़े किसी भी पाप से संबद्ध नहीं हो पाता। अर्थात् तत्पदार्थ और त्वम्पदार्थ की एकता का साक्षात्कार सर्वथा निष्पापता ला देता है। (ऐसे प्रसंगों में पाप से पुण्य भी उपलक्षित होता ही है अतः सभी कर्मों से नैरपेक्ष्य उपलब्ध होता है यह भाव है।)। ।३६१।। पापस्पर्श से छूटने का यह अनर्थ नहीं कि निषिद्धि चेष्टाएँ करता है पर उनके दुष्फल से बचता है! 'पारमार्थिक साक्षी ही मेरा आत्मा है, विश्व-तैजसादि प्रमातृरूप मैं नहीं हूँ' यों यह वास्तविक बुद्धिसाक्षी आत्मा जिसके लिये निरावृत रहता है वह सदा अद्वैत का दर्शन करता हुआ पूर्ण चैतन्य कभी कोई पाप करता ही नहीं। पाप तो द्वैतदर्शनपूर्वक कामना से ही होते हैं, जो हमेशा समाहित है अर्थात् सच्चिदानन्दानन्तप्रत्यङ्मात्र पर ही एकाग्र है वह पाप करे यह संभव नहीं। ।३६२।। कदाचित् प्रारब्धवेग से व्युत्थान होने पर भी, नाम-रूप की प्रतीति होने पर भी, क्योंकि विद्वान् को विषयों की ओर राग नहीं इसलिये वह कोई पाप करने में असमर्थ है। राग होता है इस मान्यता से कि 'यह मेरे लिये प्रिय है, अनुकूल है, सुखद है'। विद्वान् तो सदा सुखात्मक प्रत्यग्रूप को ही प्रिय जानता है अतः आत्मा से इतरत्र उसे जब प्रियबुद्धि ही नहीं तो राग की संभावना नहीं। प्रिय-अप्रिय की सही पहचना वाला और शास्त्रानुसारी निश्चय पर स्थिर

१. 'तं वा एतं देवा आत्मानमुपासते तस्मात्तेषां सर्वे च लोका आत्ताः सर्वे च कामाः। स सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान् यस्तमात्मानमनुविद्य विजानाति। इति ह प्रजापतिरुवाच प्रजापतिरुवाच। ।६।।'

2. 'श्यामाच्छवलं प्रपद्ये शवलाच्छ्यामं प्रपद्येऽश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात्प्रमुच्य धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसम्भवामीत्यभिसम्भवामीति। ।'

आत्मानं यः प्रियं वेद सर्वदा सुखरूपिणम्। पापानि कुरुते कस्माद् विवेकी स हि धीधनः।।३६३

जायते म्रियते चैकः फलं चैकः शुभाऽशुभम्। भुंक्ते चैतद्विजानन् स किमर्थं पापमाचरेत्।।३६४

'सर्वभूतात्मभूतस्य सम्यग्भूतानि पश्यतः। मार्गे देवाश्च मुह्यन्ति ह्यपदस्य पदैषिणः'।।३६५

व्युत्थानदशायामपि विषयरागाऽभावाद् न तत्र प्रवृत्तिरित्याह—आत्मानमिति। य आत्मानम् एव वस्तुतः प्रियं वेद, न विषयजातं, स धीधनो विद्वान् केन हेतुना पापं कुर्वीत? इत्यर्थः।।३६३।। अत्र कैमुत्यमाह—जायत इति। 'एकोऽन्यर्थे' इत्यमरः। तथा च—जननमरणादिविकारभागन्य एव, नाऽहं, तथा शुभाऽशुभकर्मफलभोक्ताऽपि अन्य एव, नाहं, साक्षिमात्रात्मकत्वात्। एतद् यो विजानाति स भोक्तृत्वाऽभावेन सत्कर्मणामपि यदाऽनधिकारभाक् तदा पापे न तथेति किमु वाच्यमित्यर्थः।।३६४।। ननु व्यवहारे स्थितस्य अपि विदुषः कथमीदृशो महिमा? इत्याशंक्य, विदुषः पन्था दुर्लक्ष्य इत्यावेदयन्तं भारतश्लोकं (अनुशा.दानधर्म.११३.७)[1] पठति—सर्वेति। सर्वेषां भूतानामात्मभूतस्य प्रत्यग्भावं गतस्य, तानि भूतानि सम्यग् अभिन्नत्वेन पश्यतः, महावाक्यार्थविदः पथि निष्ठारूपे मुह्यन्ति लोकाः यतः अपदस्य—पदं पादन्यासचिह्नं न विद्यते यस्य स तथा तस्य—ये पदं गम्यं तत्त्वं प्राप्तुमिच्छन्ति ते देवा धन्या इति यावत्। इति वाचस्पत्युक्तयोजनालभ्योऽर्थः।।३६५।। फलितमाह—तत इति। यतो 'या निशा

रहने वाला वह विद्वान् पाप कर कैसे सकता है!।।३६३।। तत्त्ववेत्ता को सर्वदा यह स्फुट रहता है कि 'जन्म-मरण आदि विकारों वाला मैं नहीं कोई और है तथा अच्छे-बुरे फल भोगने वाला भी मैं नहीं कोई और है, मैं तो केवल चिन्मात्र हूँ'; ऐसा जानते हुए किस प्रयोजन से वह पाप करेगा! (फलभोग की संभावना ही अधिकार प्रदान करती है। जो भोग से ही सदा वंचित है क्योंकि भोक्ता कभी हो ही नहीं सकता, वह उपाधिविविक्त आत्मा सत्कर्मों में भी अधिकारी नहीं रह जाता तो पापों में प्रवृत्ति कर पाये यह किसी तरह संभव नहीं। प्रवृत्ति कामना से होती है, कामना भोग की होती है, भोग की संभावना मिट जाने पर कामना नहीं रहती अतः प्रवृत्ति नहीं रहती तो पाप-प्रवृत्ति भी नहीं रहती। पुण्य तो कर्तव्य कहे हैं, उन्हें भी जब वह नहीं करता तो जिन्हें करना सामान्य मूर्खों के लिये भी मना है उन पापों को विद्वान् करे यह किसी तरह संगत नहीं। कुछ विचारक मानते हैं कि विद्वान् के लिये पुण्य बेमानी हो जाने पर भी पाप सार्थक रहता है अर्थात् उससे यदि पाप हो जाये तो दुरदृष्ट उत्पन्न होगा! यह मान्यता 'अघयोः अश्लेष-विनाशौ' इस बादरायण निर्णय (ब्र.सू.४.१.१३), 'सर्वथा वर्तमानः' (गी.१३.२३) आदि भगवत् कथन तथा युक्ति से विरुद्ध है। युक्ति प्रकृत पुराण के टीकाकार ने बतायी कि भोक्तृता के न रह जाने से जो अनधिकार है वह पुण्य-पाप में समान है। अतः उक्त मान्यता वालों का इतना ही अभिप्राय समझना चाहिये कि क्योंकि विद्वान् पापप्रवृत्ति करता नहीं इसलिये 'मानो' वह निषेधवाक्यों का आदर कर रहा हो। बालक दण्डभय से शैतानी नहीं करता तो समझता है कि प्रौढ भी जब शैतानी नहीं करते तो किसी भय से ही रुके रहते होंगे जबकि प्रौढों का स्वतः ही शैतानी न करना स्वभाव हो चुकता है। ऐसे ही विद्वान् पाप नहीं करता यह स्थिति है। इससे अज्ञ मान लेता है कि वह निषेधों को खुद पर लागू मानता होगा! इसका उपयोग यह है कि साधक समझे कि जब विद्वान् भी पाप से बचता है तो मुझे उससे सावधानीपूर्वक बचना चाहिये इसमें कहना ही क्या!)।।३६४।। व्यवहारभूमि में रहकर भी विद्वान् अकर्ता-अभोक्ता बना रहता है यह उसकी अगम्य महिमा है जो स्वल्पमति वाले नहीं समझ सकते! भगवान् वेदव्यास ने भी कहा है कि जो सब प्राणियों का प्रत्यगात्मा बन चुका है और सबको अभिन्न ही समझता है उसकी निष्ठा के बारे में देवता भी सही-सही जानकारी नहीं पा सकते जैसे जिसके पैर ही नहीं हैं उसके चरणचिह्न नहीं खोजे जा सकते। पदरहित अर्थात् अशरीर आत्मा के विज्ञेय स्वरूप को जानना चाहने वाले दैवी-सम्पद्युक्त धन्य साधक को अत्यंत सावधानी से निष्ठालाभ करना चाहिये क्योंकि उस मौके पर भी मोह पथभ्रष्ट करने में सक्षम है। (ज्ञानमात्र से नहीं वरन् ज्ञाननिष्ठा से ही मोहहानि होती है।)।।३६५।।

---

१. सूत्रभाष्ये ४.२.१४ तमे श्लोक उद्धृतः।

ततोऽयं लभ्यते नैव पापी पुण्योऽथ वेति च। पापगन्धेन रहितो ब्रह्मवित् पुरुषोत्तमः। ।३६६
एवं यो भाग्ययोगेन पश्येत् पुरुषरूपिणम्। आनन्दात्मानमद्वैतं मुच्यते स न संशयः। ।३६७
एवं प्रजापतिः प्राह पूर्वं शक्राय सर्ववित्। अवस्थात्रयनिर्मुक्तं भूमानं स्वात्मरूपतः। ।३६८
सर्वेषां हृदयाकाशं नामरूपविधायकम्। नामरूपात् परं नित्यं नामरूपविवर्जितम्। ।३६९

मानवसम्प्रदायः

एकोऽयं सम्प्रदायोऽभूद् इन्द्रादन्यः स्वयंभुवः। यथेन्द्रायोक्तवान् ब्रह्मा मनवे च तथैव सः। ।
मनुः प्रजाभ्यः सर्वाभ्यो भूमौ स प्रथमो गुरुः। ।३७०
त्रैवर्णिकानिदं प्राह ब्रह्मविद्याविवर्जितान्। आत्मज्ञानं न भवतां यावदत्र प्रजायते। ।३७१
चतुर्णां प्रविधायैवं तावदिष्टं निजाश्रमम्। तावत्कर्माणि कुर्वन्तु स्वानि स्वानि समाहिताः। ।३७२
वैराग्ये सति कर्तव्यो ब्रह्मज्ञानस्य हेतुकः। संन्यासः परहंसाख्यो नान्यथा कर्हिचित् क्वचित्। ।३७३

सर्वभूताना'मित्यादिगीतोक्तविधया (२.६९) दुर्लक्ष्यगतिः ततः। स्फुटमन्यत्। ।३६६। । तस्य विदेहमुक्तौ कः संशयः? इत्याह—एवमिति। ।३६७। ।

चतुर्दशकण्डिकागतस्य 'ब्रह्म'[1] इत्यन्तवाक्यस्य अर्थं दर्शयन् प्रजापतीन्द्रसंवादमुपसंहरति—एवमिति द्वाभ्याम्। स्पष्टम्। ।३६८। । सर्वेषामिति। कीदृशं भूमानम्? हृदयाकाशरूपम्, नामरूपात्मकप्रपञ्चस्य विधायकं सत्ताऽऽदिप्रदानेन निर्वाहकम्। 'यत् ते नामरूपे अन्तरा' विना इति श्रुत्यर्थो दर्शित उत्तरार्द्धेन। चतुर्थपादस्य तृतीयपादविवरणात्मकत्वात्। ।३६९। ।

[2]अन्त्यकण्डिकार्थमाह—एक इति। अयम् उक्तविद्यासम्बन्धी सम्प्रदायो गुरुशिष्यपरम्परारूप इन्द्रमारभ्य एकः प्रवृत्तः। द्वितीयस्तु स्वयंभूसंज्ञकाद् मनोः प्रवृत्तः यतः प्रजापतिना यथेन्द्राय इयं विद्योपदिष्टा तथा मनवेऽपीत्यर्थः। स च मनुः भूमिलोके आदिगुरुः प्रजाभ्यः साधिकाराभ्य उक्तवानिति। ।३७०। । अशुद्धान्तःकरणेभ्यस्तु स कर्मैवोपदिष्टवानित्याह—त्रैवर्णिकानिति। ब्रह्मविद्यया वर्जितान् अधिकाराऽभावात् तान् प्रतीदमाह— हे त्रैवर्णिकाः! भवन्तः चतुर्णाम् आश्रमाणां मध्ये इष्टम् आश्रमं कृत्वा यागादीनि कर्माणि कुर्वन्तु। सत्यां वैराग्यलक्षणायां शुद्धौ संन्यासमपि, नान्यथा। इति त्रयाणामर्थः। ।३७१-३। ।

उत्तम पुरुष जो ब्रह्मवेत्ता वह पाप की गंध से भी रहित है। उसकी निष्ठा अबूझ होने से 'पापकारी' या 'पुण्यकारी' उसे समझा नहीं जा सकता। ।३६६। । सौभाग्य से जो मुमुक्षु पुरुषात्मक इस अद्वैत आनंदात्मा का दर्शन पा लेता है वह निःसंदेह मुक्त हो जाता है। ।३६७। ।

श्लोक ३०७ से यहाँ तक का उपदेश सर्वज्ञ प्रजापति ने शक्र को प्रदान किया था। इससे पहले भी बताया उन्होंने आत्मवस्तु को ही था पर इस अंतिम प्रवचन में उन्होंने तीनों अवस्थाओं से रहित व्यापक तत्त्व को प्रत्यग्रूप से इन्द्र को अपरोक्ष करा ही दिया। ।३६८। । वह व्यापक वस्तु सब प्राणियों के हृदय में सदा पूर्णतः विकसित ज्ञानात्मक प्रकाश हैं, नाम-रूपात्मक जगत् को सत्तादि देकर उसका निर्वाह करता है, स्वयं नाम-रूप से रहित है, उनसे निरपेक्ष है। ।३६९। ।

१. 'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद् ब्रह्म।'
२. 'तद्धैतद् ब्रह्मा प्रजापतय उवाच प्रजापतिर्मनवे मनुः प्रजाभ्यः। आचार्यकुलाद् वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानो धार्मिकान् विदधदात्मनि सर्वेन्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठाप्य अहिंसन् सर्वभूतानि अन्यत्र तीर्थेभ्यः स खल्वेवं वर्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते, न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते।।'

इन्द्रः प्रजापतेः प्राप्य ब्रह्मविद्यां सुदुर्लभाम्। देवेभ्यस्तूक्तवान् सर्वां ब्रह्मविद्याप्रसादतः।।३७४
साक्षात्तत्कृतवांस्तद्वद् अग्निर्वायुश्च सत्तमौ। देवानां सात्त्विकत्वेन पक्षपातो महानिह।।
ब्रह्मणो विद्यते यस्माद् दृष्टं ब्रह्माऽत्र तैः क्वचित्।।३७५
इति ते सर्वमाख्यातं यत् पृष्टं भवता त्विह। अवस्थात्रयनिर्मुक्तं किमन्यच्छ्रोतुमिच्छसि।।३७६

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यानन्दात्मपूज्यपादशिष्येण श्रीशङ्करानन्दभगवता विरचित उपनिषद्रत्न आत्मपुराणे च्छान्दोग्यसारार्थप्रकाशे प्रजापतीन्द्रविरोचनाख्यायिका नाम चतुर्दशोऽध्यायः समाप्तः।।१४।।

उत्तराकांक्षामुत्थापयन्निन्द्रशिष्यानाह—इन्द्र इति। चतुर्थपाद उत्तरान्वयी।। स्पष्टम्।।३७४।। साक्षादिति। स इन्द्र उमारूपाया ब्रह्मविद्याया अनुग्रहात् तत् प्रजापत्युपदिष्टं ब्रह्म क्वचिद् देशे लीलाविग्रहमापन्नं साक्षात्कृतवान् अपीति। तथाऽग्निवायू च तत् साक्षात् कृतवन्तौ। देवान् प्रति प्रादुर्भावे हेतुतया परमेश्वरस्य देवपक्षपातमाह—देवानामिति। स्पष्टम्।।३७५।। उपसंहरति— इति त इति।।३७६।।

चतुर्दशेन्द्रान् समनून् यत्कारुण्यं समैदिधत्। का भीतिः श्रमतस्तस्य मन्मतेरुपबृंहणे।।

इति श्रीदत्तकुलतिलककृष्णचन्द्रात्मजदिलारामसूरितनूज-रामकृष्णस्य श्रीविश्वेश्वराश्रमपूज्यपादानुगृहीतस्य कृतावात्मपुराणटीकायां सत्प्रसवाख्यायां चतुर्दशोऽध्यायः समाप्तः।।१४।।

आत्मविद्या की एक यह गुरुशिष्यपरंपरा है जो इन्द्र से आगे चली। दूसरी परंपरा स्वयंभू-नामक मनु से आगे फैली। ब्रह्मा जी ने जैसे इंद्र को वैसे ही मनु को आत्मा का यथार्थ ज्ञान प्रदान किया था। (अत एव विरोचन संप्रदाय की यहाँ उपेक्षा है क्योंकि वह अयथार्थ ज्ञान पर टिकी है।) सारी प्रजाओं को मनुने ही आत्मोपदेश दिया, भूमि पर वे ही पहले गुरु हुए। (यहाँ 'स्वयंभू मनु' से विराट् समझने चाहिये। अन्यत्र कही परंपराओं के आचार्यों के स्थान निर्धारित करते हुए मानव सम्प्रदाय निश्चित कर लेना चाहिये जैसे पहले बृहदारण्यक में कहे वंशों का समंजस निश्चय ग्रंथकार ने किया था।)।।३७०।। जिन्हें व्यापक चित्तत्त्व का ऐसा कोई ज्ञान नहीं था जिससे वे मुमुक्षु होते उन त्रैवर्णिकों को मनु महाराज ने बताया कि 'आप लोगों को जब तक आत्मा की अद्वयता का विज्ञान नहीं हो जाता तब तक चारों आश्रमों में से जो आपको अभिलषित हो उसे स्वीकार कर तदुचित अपने-अपने यागादि कर्म सावधानीपूर्वक आप संपन्न कीजिये। इहलोक-परलोक के भोगों से वैराग्य हो जाने पर ही परमहंससंन्यास करना योग्य है जो संन्यास ब्रह्मज्ञान का हेतु है और ब्रह्मज्ञान से ही वस्तुतः वह संन्यास पूरी तरह संपन्न हो सकता है।' (उपरति के रूप में संन्यास ज्ञान का कारण है तथा 'परम नैष्कर्म्य' रूप में संन्यास ज्ञान के कारण है।) 'वैराग्य के बिना कभी कहीं परमहंससंन्यास नहीं करना चाहिये'।।३७१-३।।

अतिदुर्लभ ब्रह्मविद्या प्रजापति से पाकर इन्द्र ने देवताओं को पूरी तरह समझायी। उमारूप ब्रह्मविद्या की कृपा से प्रजापतिप्रोक्त ब्रह्म का साक्षात् दर्शन भी इंद्र ने किया था। किसी जगह लीलाविग्रह धारण कर ब्रह्म प्रकट हुए तब इन्द्र, अग्नि और वायु ने उनका साक्षात्कार किया था। देवता क्योंकि सात्त्विक हैं इसलिये परमेश्वर उनका बहुत पक्ष लेते हैं, उन पर स्वतः कृपा करते रहते हैं। इसीसे वे ब्रह्म का दर्शन पा सके थे। (ईश्वरानुग्रह के बिना देवता भी परमात्मानुभव नहीं प्राप्त कर सकते।)।।३७४-५।।

(पुराण सुनाने वाले आचार्य अपने पुराणश्रोता शिष्य से कहते हैं।—) तुमने प्रारंभ में जिस अवस्थातीत के बारे में पूछा उसके बारे में सब मैंने इस अध्याय में बता दिया। और क्या सुनना चाहते हो?।।३७६।।

।। चौदहवाँ अध्याय संपूर्ण।।

ॐ

तलवकारोपनिषत्सारार्थप्रकाशः

पञ्चदशोऽध्यायः

देवानां ब्रह्मविद्यायाः प्रसादाद् ब्रह्मबोधनम्। श्रुत्वा शिष्योऽत्र तत् प्रष्टुं पुनराह गुरुं त्विदम्।।१

शिष्यजिज्ञासा

भगवन्नैतरेयोक्तः प्रजानां मुनिभिः सदा। संवादो वामदेवस्य तथाऽनुभवकीर्तनम्।।

ज्ञानवैराग्यसंयुक्तं तेषामप्यधिकारिणाम्।।२

तथा कौषीतकिप्रोक्तं यत्र चेन्द्रप्रतर्दनौ। अजातशत्रुगार्ग्यौ च गुरुशिष्यौ व्यवस्थितौ।।३

देवः पञ्चदशे धेयः स्वाभिमानाक्षमाधरः।

शुक्लपञ्चदशीनाथकलासङ्कलितालिकः।।

अस्यार्थः—क्षिप्तमूढविक्षिप्तैकाग्रनिरुद्धसञ्ज्ञाः पातञ्जलप्रसिद्धाः पञ्च दशा अवस्था यस्य तादृशे चित्ते, देवो दाशरथिः, धेयो धारणीयः, कीदृशः ? स्वस्य सम्मुखे वर्तमानो यो मानो गर्वो जामदग्न्यादिनिष्ठः तत्र अक्षमावान् असहिष्णुः; शुक्लपञ्चदशी पूर्णिमा तस्य नाथः चन्द्रः तद्रूपया कलयांऽशेन सङ्कलिता विशिष्टा आलिर्नाम अक्षरपंक्तिः 'श्री-रामचन्द्रे' त्याकारा यस्य स तथा; 'कला स्यान्मूलरैवृद्धौ शिल्पादावंशमात्रक' इति विश्वः। श्रीकृष्णविग्रहपक्षे—प्रथमपादः समः। स्वेषां भक्तानां गोपिकार्जुनाऽऽदीनां योऽभिमानः स्वात्मनि सर्वाधिकत्वमतिः तत्परिहरणपरः, शुक्लपञ्चदश्यां शारद्यां नाथकलया वशीकरणमन्त्रेण वंशीगीतेन सङ्कलिताः समुदिती कृता आलयः सख्यो येन स तथेत्यर्थः। शम्भुपक्षेऽपि—प्रथमपादस्तथा। स्वपदेन तु रावणो ग्राह्यः। पूर्णिमानाथस्य चन्द्रस्य कलया सङ्कलितं राजितमलिकं मस्तकं यस्य स तथेति विशेषः। प्रमेयपक्षे— पञ्चदशपदमावर्तनीयम्। तथा च पञ्चविधा दशा अवस्था यस्य करणजातस्य 'केनेषिते'त्यादिप्रथममन्त्रोपात्तनामकस्य मनःप्राणवाक्चक्षुःश्रोत्ररूपस्य तत् पञ्चदशं तत्र नियन्तृत्वेन स्थितः, स्वस्याभिमुखं प्रवृत्तेषु मानेषु अक्षमावान् अविषयस्वभाव इति यावत्; अथ वा स्वेषाम् इन्द्रवाय्वादीनां योऽभिमानः परमेश्वरोपकृतिविस्मृतिरूपः तत्र वक्ष्यमाणविधया क्षमारहितः, एतादृशो देवः पञ्चदशेऽत्राध्याये वर्णितो धेयः अवधारणीयः, यस्य लीलाविग्रहश्चन्द्रभूषित इत्यर्थः।

अथ मेधाविनः प्रश्नं दर्शयति—देवानामिति चतुर्दशभिः। स्पष्टम्।।१।। तत्र प्रथमाध्यायार्थमनुवदति—भगवन्निति। मुनिभिः सनकाद्यैः। तेषां वामदेवसतीर्थ्यानां ज्ञानवैराग्ये उक्ते इत्यर्थः।।२।। द्वितीयतृतीयवृत्तमाह—तथेति। स्पष्टम्।।३।। चतुर्थवृत्तमाह—आदित्यस्येति द्वाभ्याम्। आदित्येन याज्ञवल्क्यायोक्तं ज्ञानं कीर्तितं यत्र अभेदेन

ॐ

केनोपनिषत् के सारार्थ का प्रकाशक

पन्द्रहवाँ अध्याय

उत्तम जिज्ञासु तथा श्रुत अर्थ को धारण करने में समर्थ विवेकी शिष्य ने जब सुना कि ब्रह्मविद्यास्वरूप भगवती उमा के प्रसादस्वरूप देवताओंने परमात्मा का साक्षात्कार प्राप्त किया तब इसी सन्दर्भ में प्रश्न उठाने के लिये उसने गुरुदेव से यह निवेदन किया—।।१।। 'हे भगवन् ! आपने अब तक आत्मस्वरूप का उपनिषदनुसार स्पष्ट वर्णन किया है।

आदित्यस्यात्मविज्ञानं यत्र वंशः समीरितः। त्रिपर्वाऽमेदतस्तद्वद् वहन् भेदान् महाशयान्।।४
अश्विभ्यामपि यत्राऽयं संवादो मन्त्रवेदिनः। दध्यङ्ङाथर्वणो यत्र गुरुः शिष्यौ च तावुभौ।।
तत्कृते व्यसनं तद्वदिन्द्रस्यासीद् मुनेरपि।।५
जिगाय यत्र सकलान् विप्रान् वाजसनेयकः। शाकल्याय ददौ शापं सद्यः प्राणविमोचकम्।।
जनकाय च मैत्रेय्यै यत्र ज्ञानमदाद्धि सः।।६
यत् श्वेताश्वतरः प्राह यतिभ्यो हेतुसंश्रयम्। द्विजेभ्यश्च कठो यत्तु यमो यत्र गुरुः स्मृतः।।
नचिकेताश्च शिष्योऽपि बालः सर्वगुणान्वितः।।७
तित्तिरेरपि यज्ज्ञानं कोशपञ्चकतत्परम्। वरुणश्च भृगुर्यत्र गुरुशिष्यौ तपोधनौ।।८
गन्धर्वो यत्र वेनाख्यो ब्रूते स्वानुभवं नृणाम्। साधनेषु च यत्राऽयं संन्यासः परमः स्मृतः।।९

त्रिपर्वा वंशः कीर्तितः। कीदृशः ? महाशयान् महात्मनो मुनीन् पर्वभूतान् अवान्तरमेदतया वहन् धारयन्—इत्यर्थः।।४।। अश्विभ्यामिति। यत्र यस्य आत्मज्ञानस्य स्फुटत्वाऽर्थम्। यत्र संवादे। तौ अश्विनौ। तत्कृते अश्विहिताय। व्यसनं दुःखम्।।५।। पञ्चमादित्रयार्थमाह—जिगायेति। यत्र पञ्चमे। यत्र षष्ठे जनकाय। सप्तमे तु मैत्रेय्यै इति विवेकः।।६।। अष्टमादिद्वयवृत्तं कथयति—यदिति। हेतुसंश्रयं कारणविषयकं यत् ज्ञानं यतिभ्यो द्विजेभ्यः श्वेताश्वतरः प्राह। यत्र कठोक्तज्ञाने यमनचिकेतसौ गुरुशिष्यौ।।७।। दशमवृत्तमाह—तित्तिरेरिति द्वाभ्याम्। कोशपञ्चकं तनोति सत्तादिदानेन विस्तारयतीति कोशपञ्चकतत् पुच्छभूतं ब्रह्म, तदेव परं गोचरी भूतं यस्य तादृशं तित्तिरिमुनेर्ज्ञानम् उक्तम्। यत्र ज्ञाने।।८-९।। एकादशवृत्तमाह — यत्प्रसङ्गेनेति द्वाभ्याम्। यस्य संन्यासस्य प्रसङ्गेन

ऐतरेय ऋषि ने जैसा कहा वैसा प्रजा-मुनिसंवाद तथा वामदेवकृत स्वानुभव-प्रदर्शन और उन अधिकारी प्रजाओं को वैराग्यपूर्वक हुआ ज्ञान आपने उपोद्घात में सुनाया।।२।। ऋषि कौषीतकि ने जो आत्मसन्दर्भ में प्रसंग कहे उन्हें भी आपने बताया। इन्द्र-प्रतर्दन और अजातशत्रु-बालाकि के पृथक्-पृथक् संवादों में दोनों गुरुओं ने दोनों शिष्यों को जैसा ज्ञान दिया वैसा आपने स्फुट किया।।३।।

भगवान् आदित्य ने याज्ञवल्क्य को जो आत्मविद्या प्रदान की उसका भी आपने परिचय कराया और उस संप्रदाय में प्रसिद्ध उत्तम मुनियों के तीन 'पोरों' वाले वंश का वर्णन किया जिसमें परंपरा के अवांतर भेदों में कुछ आचार्य एक ही हैं व कुछ विभिन्न हैं।।४।। मंत्रज्ञ ऋषि का अश्विनीकुमारों से संवाद आपने सुनाया जिससे आत्मज्ञान और स्फुट हुआ; उस संवाद का वर्ण्य विषय था दधीचि का अश्विनीकुमारों को उपदेश, उन्हें आत्मबोध प्रदान करने के लिये दधीचि ने जो जोखिम उठायी और इन्द्र को मुनि के वैराग्यप्रद उपदेश से जो हेठी महसूस हुई।।५।। जिस गोष्ठी में वाजसनेयक याज्ञवल्क्य ने सकल विप्रों पर विजय पायी और शाकल्य को ऐसा शाप दिया जिससे उसके प्राण तत्काल निकल गये, उस गोष्ठी की चर्चा का आपने जीवन्त वर्णन किया। जनक को तथा बाद में मैत्रेयी को याज्ञवल्क्य ने जो ज्ञान दिया वह भी पृथक्-पृथक् आपने सुनाया।।६।। जगत्के कारण के बारे में द्विजों को व यतियों को श्वेताश्वतर ने जो समझाया वह आपने सुनाया और सर्वगुणसंपन्न बालक नचिकेता जहाँ शिष्य था व यम जहाँ गुरु थे उस संवाद का भी आपने व्याख्यान किया।।७।। तित्तिरि महर्षि के ज्ञान का आपने परिचय कराया उस वार्ता के अनुसार जिसमें तपस्वी वरुण गुरु व भृगु शिष्य थे तथा जिसका विषय वह ब्रह्म था जो पाँचों कोशों के बने रहने को संभव करता है। (अन्नमय से आनंदमय तक के पाँच कोश 'पूँछ' रूप ब्रह्म से सत्ता पाकर ही बने रहते हैं।)।।८।। गंधर्व वेन ने अपना जो आत्मानुभव प्रकाशित किया और सभी साधनों में जहाँ संन्यास की श्रेष्ठता स्थापित की है वह प्रसंग भी तित्तिरि मुनि के अनुसार आपने मुझे सुनाया।।९।। उसी संन्यास-प्रसंग में आपने जाबाल आदि से संबद्ध ज्ञान बताया

यत्प्रसङ्गेन जाबालमुख्यानामत्र कीर्तनम्। संवर्तकाद्या यत्रैते पूर्वे संन्यासिनः स्मृताः।।१०
वैराग्यं यत्र कालश्च यमादिस्तत्र कारणम्। यत्राधिकारिणः प्रोक्ता विरक्ताः सर्व एव हि।।
वेष आचार संयुक्तो यत्र न्यासश्च कीर्तितः।।११
आरुणेश्च तथा ब्रह्मपुत्रस्य ब्रह्मणोऽपि च। ज्ञानं विस्तरशो यत्र समासेनाऽपि कीर्तितम्।।
तत्सर्वं भवता प्रोक्तं ब्रह्मज्ञानमनेकधा।।१२
तत्रान्ते भवता प्रोक्तं ब्रह्मविद्याप्रसङ्गतः। इन्द्रादेर्ब्रह्मविज्ञानं जातमत्र विशेषतः।।१३
तदहं श्रोतुमिच्छामि नूनमाश्चर्यमत्र भोः। किञ्चिदस्ति यतस्तेषां 'विशेषो' भवतेरितः।।१४

गुरोरुत्तरम्

एवमुक्तो गुरुः प्राह केनेषितसमीरिताम्। स्वशिष्याय कथामेतां ब्रह्मविज्ञानकारिणीम्।।१५
इन्द्रादवाप्तविद्यास्ते देवाः सर्वे महौजसः। मीमांसां चक्रिरे त्वेताम् इन्द्रं प्राप्य सभागतम्।।१६

जाबालादिसम्बन्धिनि अत्र ज्ञाने कीर्तनं कृतम्। यत्र ज्ञाने परिनिष्ठिताः संवर्तकादयः कथिताः। यत्र यदर्थं वैराग्यादयः संन्यासस्वरूपान्ताः कीर्तिताः। इति द्वयोरर्थः।।१०-११।। द्वादशादित्रयवृत्तमाह—आरुणेरिति। आरुणेर्ब्रह्मपुत्रस्य सनत्कुमारस्य ब्रह्मणश्च ज्ञानं श्वेतकेतुनारदेन्द्रान् प्रति उपदिष्टं विस्तरेण समासेन च यत् कीर्तितं तत् सर्वरूपं ब्रह्मज्ञानम् अतीतग्रन्थे प्रोक्तम् इत्यर्थः।।१२।। प्रश्नबीजमनुभाषते—तत्रेति। तत्र पूर्वाध्यायेऽन्त इदमुक्तम्। 'इदं' किम् ? अत्र देवानां मध्ये इन्द्राग्निवायूनां ब्रह्मविद्याया अनुग्रहाद् ब्रह्मणो ज्ञानं विशेषतो जातम् इति। तत्र अवश्यंभाव्याश्चर्यं श्रोतुमिच्छामि। इति द्वयोरर्थः।।१३-१४।।

एवं पृष्टो गुरुः सामवेदीयत्वेनोपस्थितां केनोपनिषदुक्तां कथां वक्तुमुपचक्रम इत्याह—एवमिति।।१५।। अत्र यद्यपि भाष्यकारैः गुरुशिष्ययोः सामान्यत एव उपन्यासः कृतः तथापि च्छान्दोग्याष्टमे प्रजापतिगृहीतविद्याया विरोचनेन असुरान् प्रति निरूपणोक्तौ सत्यां 'कथमिन्द्रेणाऽपि सा देवान् प्रति उक्ता ?' इत्याकांक्षाया वैदिकवृत्तेनैव पूरणीयत्वाद् देवान् शिष्यत्वेन इन्द्रं गुरुत्वेन ग्रन्थकृद् उपन्यस्यति—इन्द्राद् इति। इन्द्रद्वारा प्रजापतेः लब्धविद्या देवाः शुद्धधिय इन्द्रसमीपे मीमांसां मननं चक्रिरे कृतवन्त इत्यर्थः।।१६।।

जहाँ संवर्तक आदि प्राचीन संन्यासी याद किये गये हैं।।१०।। यह भी बताया कि संन्यास का उचित काल वैराग्य है तथा यम-नियम आदि उसके इतिकर्तव्य हैं। सभी विरक्त ही संन्यासाधिकारी बताये एवं संन्यासी का वेष, आचार तथा संन्यास का स्वरूप विस्तार से स्पष्ट किया।।११।।

आरुणि ने श्वेतकेतु को, सनत्कुमार ने नारद को और ब्रह्मा ने इन्द्र को विस्तार से जो तत्त्वबोध दिया उसे संक्षेप में आपने मुझे सुनाया। यों आपने नाना प्रकार से ब्रह्मज्ञान का प्रवचन दिया।।१२।। उसीके अंत में ब्रह्मविधा के संदर्भ में आपने कहा कि उमा देवी के अनुग्रह से इंद्रादि को खास ब्रह्मविज्ञान मिला। ज़रूर इस घटना में कोई आश्चर्य है क्योंकि एकरूप ब्रह्म के निर्विशेष ज्ञान का वर्णन करते हुए आपने इन्द्रादि के ज्ञान में खासियत बतायी। अतः मैं वही प्रसंग आपके श्रीमुख से सुनना चाहता हूँ।।'१३-४।।

यों प्रार्थना सुनकर गुरु ने अपने शिष्य को 'केनेषित' आदि शब्दों से प्रारंभ होने वाली उपनिषत् में प्रकाशित यह कथा सुनायी जो ब्रह्मविज्ञान कराने में सक्षम है–।।१५।।

महान् तेजस्वी उन सब देवताओं ने इन्द्र से आत्मविद्या पाने के बाद सभास्थित इन्द्र के संमुख यह विचार किया : ।।१६।। (यद्यपि भाष्यकार ने केनोपनिषत् को सामान्यतः गुरु-शिष्यसंवाद रूप में समझाया है तथापि पुराणकार ने पूर्वाध्याय से सम्बन्ध जोड़ते हुए इंद्र को गुरु और देवताओं को शिष्य रूप में निरूपित कर दिया है।)

प्रेरकजिज्ञासा

इन्द्रियाणि दशैतानि मनसा सह कोऽत्र भोः। सम्प्रेषयति सर्वेषाम् अस्वतन्त्रा यतो जनाः।।१७

व्यापारमिन्द्रियोत्थानं न करिष्येऽमुनेत्ययम्। सङ्कल्प्याऽपि करोत्येव भूताविष्ट इवातुरः।।
ततः सर्वः पराधीनो जन्तुरत्रेति निश्चितम्।।१८

इन्द्रियाणि स्वतो नैव मुक्तस्येवेह कुर्वते। व्यापारान्नियतं यस्मादभिसन्धाय कश्चन।
प्रवर्ततेऽथ वा कश्चिद् निवृत्तिमपि गच्छति।।१६

चेतनस्तत एवाऽयं प्रेरकस्तेषु कश्चन। न तेषामिह चैतन्यं नानात्मत्वप्रसङ्गतः।
अतः कर्माऽपि नैव स्याद् व्यापारेष्विह कारणम्।।२०

यतः प्रवर्तते सर्वो विज्ञायैव ततः परः। चेतनः कोऽत्र तेषां स्याद् इन्द्रियाणां प्रवर्तकः।।२१

तत्र शिष्यप्रश्नरूपस्य प्रथममन्त्रस्य[1] अर्थमाह—इन्द्रियाणीति पञ्चभिः। वागाद्युपलक्षितानि दशेन्द्रियाणि मनसा तदुपलक्षितप्राणेन च सहितानि कः प्रेरयति ? न जीवाः तत्प्रेरकाः, तेषां स्वातन्त्र्याऽभावाद् इत्यर्थः।।१७।। अस्वतन्त्रतामेव स्फुटयति—व्यापारमिति। यतः अमुना इन्द्रियविशेषेण इन्द्रियसाध्यं व्यापारं न करिष्ये इति-आकारं सङ्कल्पं कृत्वा अपि अयं जनः तं व्यापारं करोति ततः पारतन्त्र्यं निश्चीयत इत्यर्थः।।१८।।

अत्र इन्द्रियस्वातन्त्र्यमाशंक्य निरस्यन्, 'इषित'-पदसूचितं चेतनपारवश्यमिन्द्रियाणामाह—इन्द्रियाणीति। यथा जीवन्मुक्तस्य इन्द्रियाणि सुप्तसारथिरथाश्वन्यायेन व्यापारान् स्वतः कुर्वन्ति इति नियतं नियमशालि न भवति यस्मात् कश्चिद् बहुलो जनः अभिसन्धाय आलोच्यैव प्रवर्तमानो निवर्तमानश्च दृश्यत इत्यर्थः। अयं भावः—प्रायशो दर्शनाद् अभिसन्धानाख्यचेतनव्यापारपूर्विकैव सर्वत्र प्रवृत्तिर्विज्ञायते। न च मुक्तेन्द्रियव्यापारे व्यभिचारः, तत्राऽपि चक्रभ्रमिन्यायेन व्यवहितचेतनव्यापारानुमानाद्—इति।।१६।। चेतन इति। ततोऽस्वातन्त्र्यात् तेषु इन्द्रियेषु प्रेरणकर्ता कश्चित् चेतनः अभ्युपेयः। न चेन्द्रियाण्येव चेतनानीति वाच्यम्; नानात्मताप्रसङ्गेन मतभेदेन देहभङ्गापादकेन पूर्वं दूषितत्वाद् इत्यर्थः। यथा च जडत्वेन नेन्द्रियाणां स्वातन्त्र्यं तथा कर्मणोऽपि बोध्यमित्याह—अत इति। अतो जडत्वात् कर्म अदृष्टम्।।२०।। यत इति। यत आलोचनपूर्विकैव प्रवृत्तिर्दृश्यते तत इन्द्रियसङ्घातात् परः चेतनः प्रेरकः कश्चित् सम्भाव्यते। स क इति वक्तव्यमित्यर्थः।।२१।।

हे इन्द्रदेव ! मन-प्राण सहित हमारी इन दसों इन्द्रियों को कौन सम्प्रेषित करता है, बलात् प्रेरित करता है ? जीव को ही इनका प्रेरक नहीं कह सकते क्योंकि जीव स्वयं को अस्वतन्त्र ही महसूस करते हैं।।१७।। कोई व्यक्ति यह संकल्प कर भी ले कि 'इस इंद्रिय से इंद्रियसाध्य यह व्यापार नहीं करूँगा', फिर भी उससे वह व्यापार हो ही जाता है जैसे किसी आतुर पर भूत चढ जाये तो वह न चाहकर भी विविध चेष्टाएँ करने लगता है। इससे निश्चित है कि इंद्रियादि-चेष्टाओं में सभी जन्तु परतन्त्र हैं।।१८।।

मुक्त की इन्द्रियों की तरह सभी की इंद्रियाँ खुद ही अपने-अपने स्वाभाविक व्यापार कर लें यह भी संभव नहीं क्योंकि—१) न तो मुक्त की इंद्रियाँ ही खुद व्यापार करती हैं; वहाँ भी यही स्वीकारना संगत है कि चेतन से अधिष्ठित होकर ही इन्द्रियाँ सचेष्ट हैं, जीवन्मुक्त दशा में प्रमाता का आभास रहता ही है और अधिष्ठाता देवताओं का संपर्क भी रहता है जिससे इंद्रियाँ खुद व्यापार करें यह अमान्य है। २) सारथि सो जाये तो जैसे घोड़े रथ को नियमतः घर पहुँचा सकते हैं ऐसे इंद्रियाँ नियमतः खुद व्यापार करती हों यह बात भी नहीं, अन्यत्रमना आदि होने पर दर्शनादि नहीं

---

१. 'केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः। केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति।।'१

तत्समाधानम्

इति पृष्टः सहस्राक्षः तान् शिष्यानिदमब्रवीत्। इन्द्रियाणां हि सर्वेषामिन्द्रियं मनसो मनः।।२२

योऽवस्थात्रयनिर्मुक्तः प्रेरकः स पुमानिह। इन्द्रियाणां हि सर्वेषां सर्वेषामिह देहिनाम्।।२३

अथ खण्डद्वयगतमन्त्रान् गुरुवाक्यत्वेन व्याचक्षाणः, तत्र इन्द्रं गुरुत्वेन उपन्यस्य, द्वितीयमन्त्रार्थमाह[1]—इति पृष्ट इति पञ्चभिः। इत्थं पृष्ट इन्द्र तान् देवान् इदम् आह। 'इदं' किम् ? हे देवाः ! स पुमान् सर्वदेहिनां सर्वेन्द्रियाणां सन्निधानमात्रेण प्रेरकः। 'स' कः ? यः सर्वेषामिन्द्रियाणाम् इन्द्रियभूतो, मनसो मनोभूतश्च। अयं भावः— 'औपाधिकशब्दानाम् उपाधिरेव मुख्योऽर्थ' इति प्रसिद्धं यथाऽग्निसम्बन्धादुदके प्रवृत्तस्य दग्धृशब्दस्य अग्निरेवार्थ इति। तथा[2] च तत्र ज्ञानकर्मसाधनवाचकानां श्रोत्रवागादिशब्दानां, मननसाधनवाचिमनःपदस्य च मुख्यार्थताया जाग्रदादिदूषितेषु प्रसिद्धकरणेषु असम्भवात्, सर्वशक्तः सर्वेषां सत्ताप्रदश्च आत्मैव अर्थतया व्यवतिष्ठत इति; यश्च जाग्रदाद्यवस्थात्रयाद् विविक्तः प्रजापतिनोक्तः। इति द्वयोरर्थः।।२२-३।। तथा जीवनादिप्रयोजकवाचिप्राणपदे-

होता। ३) प्रायशः अधिकतर लोग सोच-समझकर कोशिशपूर्वक ही इंद्रियों की प्रवृत्ति-निवृत्ति करते हैं। इस प्रकार यही मानना सही है कि चेतन का व्यापार जो 'सोचना-समझना' उसके अधीन ही इंद्रियप्रवृत्ति है, खुद नहीं। (कहीं यदि चेतन-व्यापार स्पष्ट नहीं तो वहाँ भी सामान्य नियम का आदर करके किसी चेतन का व्यापार मानना ही उचित है।)।।१६।। इन्द्रियों की परतंत्रता निश्चित होने से यह भी स्फुट है कि इन्हें प्रेरित करने वाला कोई चेतन है। इन्द्रियाँ ही चेतन हों यह संभव नहीं क्योंकि तब प्रतिशरीर अनेक चेतन होने लगेंगे (जिससे देखने-सुनने-सूँघने-चलने आदि का अनुसंधान नहीं हो पायेगा; देखने वाली आँख सुनती नहीं, सुनने वाला कान देखता नहीं तो इन दोनों का अनुसंधान नहीं हो सकेगा जबकि होता है—'जिस मैंने देखा उसीने सुना' यह अनुभव है, अतः आँख-कान पृथक्-पृथक् चेतन नहीं वरन् इन सबसे अन्य ही चेतन है)। अचेतन होने से जैसे इन्द्रियाँ अपने व्यापारों में स्वतंत्र नहीं वैसे ही कर्म, अदृष्ट—पुण्य-पाप—भी स्वतंत्र होकर इन्द्रियों का संचालक हो यह मान नहीं सकते क्योंकि वह भी जड ही है।।२०।। इस प्रकार क्योंकि सभी लोग (प्रायः) सोच-समझकर ही प्रवृत्ति करते हैं इसलिये इन्द्रियसंघात से स्वतंत्र कोई चेतन प्रेरक ही संभावित है। हम यही जानना चाहते हैं कि वह चेतन कौन है ?।।२१।।

यों पूछे जाने पर हजारों नेत्रों वाले इन्द्र ने उन शिष्यभूत देवताओं से यह कहा : हे देवताओं ! जिसे आप जानना चाह रहे हैं वह पुरुष सभी देहधारियों की सभी इन्द्रियों का प्रेरक है पर प्रेरणा के लिये उस पुरुष की सन्निधि के अलावा और कुछ नहीं चाहिये ! उसे सब इंद्रियों का इंद्रिय और मन का मन जानो। (अर्थात् इंद्रियों में जो ज्ञानसामर्थ्य या क्रियासामर्थ्य है वह उस आत्मा की ही है। जैसे घट में जलधारण की सामर्थ्य वस्तुतः आकाश की ही है, घट की नहीं, वैसे ज्ञानकी या क्रिया की सामर्थ्य आत्मा की ही है, नेत्र-पैर आदि की नहीं। इसी से आत्मा को ही इंद्रियों का इंद्रिय, मन का मन, आदि कहा है। इन्द्रियता अर्थात् ज्ञान-क्रिया की सामर्थ्य, यह नेत्रादि में इसी से है कि वे आत्मा को अपने में समेटे हैं जैसे घड़ा आकाश को समेटे है तभी उसमें धारणसामर्थ्य है।) जाग्रद् आदि तीनों अवस्थाओं से छूटा पूर्ण प्रेरक ही आत्मवस्तु है। (जैसे दर्शन-श्रवण-गमन आदि के अनुसंधान से नेत्र-कान-पैर आदि से पृथक् आत्मा पता चला वैसे ही तीनों अवस्थाओं के अनुसंधान से पता चला कि अवस्थाओं से निर्मुक्त वस्तु ही आत्मा है। इंद्रियाँ तो केवल जाग्रत् में सार्थक हैं, स्वप्न-सुषुप्ति में कुछ नहीं करती; मन भी सुषुप्ति में कुछ नहीं करता; अतः इनमें से किसी को या सब को भी आत्मा मानने पर सुषुप्ति का अनुसंधान तो असंगत ही रह जाता है। इसलिये आत्मा वही है जो तीनों अवस्थाओं का अनुसंधाता है। वही इंद्रियों का प्रेरक है। प्रजापति ने इसी का उपदेश दिया था। वह आत्मा एक ही है जो समस्त देहधारियों की सभी इंद्रियों का प्रेरक है। यह बात शास्त्र से समझनी चाहिये। उपपत्ति है कि इंद्रिय-

१. 'श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद् वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः। चक्षुषश्चक्षुः अतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति।।'२

२. तथाऽऽत्मसम्बन्धात्कर्णादौ प्रवृत्तानां श्रोत्रादिशब्दानामात्मैव मुख्योऽर्थ इति भावः।

प्राणस्याऽपि स एवैष प्राण उक्तो मनीषिभिः। प्राणतोऽपानतो नाऽपि मर्त्यो जीवति कश्चन।।
अन्यतः प्राणतः प्राणात् सर्वे जीवन्ति जन्तवः।।२४

एवं विज्ञाय चात्मानं पूर्वं गुरुमुखात् सुराः। दृष्ट्वा पश्चात् स्वयं सर्वबन्धनैः परिवर्जिताः।।
प्राणाद्यात्मानमायान्ति सर्वे भेदविवर्जितम्।।२५

अमृतास्तत एवैते जन्मादिपरिवर्जिताः। तत्र गत्वा पुनर्नैव केचिद् आयान्ति कर्हिचित्।।२६

नाऽपि स एवाऽभिधेय इत्याह—प्राणस्यापीति। य इन्द्रियमनसां प्रेरक उक्तः स एवैष आत्मा प्राणस्याऽपि प्रेरकः तत्र प्रसिद्धप्राणत्वस्य जीवनहेतुत्वस्वरूपस्य अपि आधारत्वात्। अत्र अनुकूलायास्तित्तिरिश्रुतेरर्थं निबध्नाति—प्राणत इति। यतः प्राणापानौ मर्त्यानां मरणधर्मणां जीवनप्रयोजकौ न भवतः किन्त्वन्य एव यः प्राणस्याऽपि स्थितिप्रयोजकत्वेन प्राणभूतः, सर्वेषां जीवननिदानमित्यर्थः।।२४।।

एतद्विज्ञानफलमाह—एवमिति द्वाभ्याम्। हे सुराः ! एवम् इन्द्रियादिप्रवर्तकत्वेन आत्मानं गुरुमुखाद्विज्ञाय श्रुत्वा, पश्चात् समाहितेन मनसा दृष्ट्वा च अवस्थात्रयलक्षणबन्धनेभ्यो मुक्ताः सन्तः प्राणाद्यात्मानं प्राणादिभ्य आन्तरं तत्त्वम् अद्वयरूपम् आयान्ति अवधारयन्तीत्यर्थः।।२५।। अमृत इति। तत उक्तविज्ञानाद् एते विद्वांसो जन्मादिविकारराहित्यरूपम् अमृतत्वं लभन्ते यतः तत्र ब्रह्मणि गत्वा पुनः संसारं न आगच्छन्ति इत्यर्थः।।२६।।

भेद जैसे एक शरीर में आत्मभेद का प्रयोजक नहीं वैसे अनेक शरीरों में भी नहीं हो सकता। देहभेद भी आत्मभेद का प्रयोजक नहीं अन्यथा जन्मान्तर-व्यवस्था नहीं बनेगी और एक जन्म में भी बाल-युवा वृद्ध शरीरों का भेद रहते एक आत्मा बना रहना संभव न होगा। किंच देहभेद का मतलब क्या ? यदि देह का कोई अंश अनुगत रहने से आत्मा वही रहे तो अन्य के आँख-यकृत-गुर्दा आदि अवयवों का प्रत्यारोपण होने पर शरीर में अनेक आत्मा होने लगेंगे तथा दाता-देह निरात्मक हो जायेंगे; ऐसे ही बाप के शरीर के एक अंश का ही विकसित रूप पुत्र है तो पुत्र और पिता में एक आत्मा मानना पड़ेगा ! अत एव सर्वांश में भेद को देहभेद नहीं कह सकते, पुत्रस्थल में सर्वांश में भेद नहीं है। किं च आत्मभेद यदि अनिवार्य हो तभी देहादिभेद से उपपाद्य बनेगा अन्यथा एक का भेद अन्य के भेद का प्रयोजक नहीं माना जाता। भेदबुद्धि जिसे विषय करे उसी के भेद को सिद्ध कर सकती है, अन्य के भेद को नहीं अतः इंद्रियभेद, देहभेद आदि से आत्मभेद सिद्ध हो नहीं सकता। एवं च उपपन्न आत्माद्वैत शास्त्र से समझा जा सकता है।)।।२२-३।।

(इन्द्रिय-मन का इंद्रिय-मन ही नहीं) प्राण का भी प्राण वही है ऐसा विचारशीलों का कहना है। जिसे इंद्रिय-मन का प्रेरक कहा वही प्राण का भी प्रेरक है। जीवनहेतु बनना प्राण का स्वरूप है किन्तु वह वस्तुतः आत्मा का ही स्वरूप है, प्राण तो आत्मा को घेरता है इसी से जीवनहेतु प्रतीत होता है। श्रुति ने कहा ही है कि कोई मरणधर्मा प्राण-अपान से ही जी लेता हो ऐसी बात नहीं वरन् प्राण की भी स्थिति का प्रयोजक जो भौतिक से अन्य पारमार्थिक प्राण है उसी से सब जन्तु जीवित रहते हैं।।२४।।

हे सुरो ! इन्द्रियादि के प्रवर्तकरूप से आत्मा को गुरुवचनानुसार निर्धारित कर, फिर एकाग्र चित्त से उसका सुस्पष्ट दर्शन कर साधक अवस्थात्रयरूप बंधन से छूट जाते हैं और प्राणादि का भी जो निर्भेद आत्मा उस स्वरूप से बने रहते हैं।।२५।। इस ब्रह्मात्मानुभव से वे विद्वान् जन्मादि विकारों से अतीत हो जाते हैं, अमर हो जाते हैं। उस ब्रह्मरूप को प्राप्त कर फिर भेदभिन्न जगत् के अंतर्गत कभी नहीं आते।।२६।।

साम्प्रदायिक ढंग यही है कि आत्मा को यों समझाया जाये कि वह ज्ञानादि किसी का *विषय* नहीं है। जैसे घटत्वादि सामान्य से घटादि को या लाल-पीले आदि विशेष से अन्यान्य चीज़ों को समझाया जाता है ऐसे शुद्ध आत्मतत्त्व को समझाना परंपरानुसारी नहीं है। इसलिये आत्मा को यों ही समझना चाहिये : ज्ञानसाधन व कर्मसाधन सभी इंद्रियाँ

प्रेरकोऽविषयः

यत्रेन्द्रियाणि सर्वाणि ज्ञानकर्मात्मकानि च। कालत्रये न यान्त्येव मनसा सहितान्यपि।।२७

एनं सामान्यतो नैव विशेषाच्च सुरोत्तमाः। जानन्तोऽपि न जानीमो भवतां गुरवो वयम्।।२८

उपदेशं कथं नाम गमिष्यामः सुरोत्तमाः। भवतां सर्वकरणैरगम्यस्य महात्मनः।।२९

विदिताऽविदितान्यः

विदिताऽविदिताभ्यां तदन्यदेवात्मरूपकम्। पृष्टं ब्रह्म भवद्भिर्यद् वक्तुं यच्चोद्यता वयम्।।३०

यच्च विज्ञायते लोके सामान्याद् वा विशेषतः। घटादिवदनात्मा तद्धेयं पण्डितरूपिभिः।।३१

यच्च न ज्ञायते तत्तु भवेद् वन्ध्यासुतादिवत्। असत्तदपि हेयं स्याद् अनात्मत्वेन हेतुना।।३२

श्रुतवन्तो वयं ह्येवं गुरुभ्यः स्वेभ्य ईदृशम्। यैरयं कथितः स्वात्मा ह्यस्मभ्यं शास्त्रवेदिभिः।।३३

अस्याऽविषयत्वेनैव बोधनं सम्प्रदायसिद्धम्, न सामान्यादिरूपेण—इति प्रतिपादयतस्तृतीयमन्त्रस्यार्थमाह[1]—यत्रेन्द्रियाणीति त्रिभिः। यत्र सर्वाणि ज्ञानादिसाधकानि इन्द्रियाणि मनसा सह न प्रवर्तितुमुत्सहन्ते, एनम् आत्मानं जानन्तोऽपि वयं भवतां गुरवो लोकसिद्धसामान्य-विशेषरूपाभ्यां कथयितुं न जानीमः। इति द्वयोरर्थः।।२७-८।। तथा च लोकवासनावासितैः भवद्भिरपेक्षितः सामान्यविशेषाऽन्यतररूपेण तदुपदेशः कथं शक्यः स्याद् ? इत्याह—उपदेशमिति। हे सुरोत्तमाः ! सामान्यविशेषविलक्षणत्वेन भवतां सर्वकरणैरगम्यस्य पूर्णात्मनः उपदेशव्यापारं कथं नाम प्रसिद्धं गमिष्यामः आचरिष्यामः ? इत्यर्थः।।२९।।

तस्य लोकवैलक्षण्यं स्फुटयतश्चतुर्थस्याऽर्थमाह[2]—विदितेति चतुर्भिः। यद् भवद्भिः पृष्टं यच्च वक्तुं वयमुद्यतास्तद् आत्मनो रूपं विदितत्वेन प्रसिद्धाद् अविदितत्वेन प्रसिद्धाच्च भिन्नमित्यर्थः।।३०।। तत्र विदितभेदं स्फुटयति—यच्चेति। यत् तु लोके पृथिवीत्व-घटत्वादिलक्षणैः सामान्य-विशेषैः रूपैर्ज्ञायते विषयी क्रियते तत् सर्वं विदितम् अनात्मत्वभेदगोचरत्वेन दुःखप्रयोजकत्वात् सुधीभिः हेयं यथा घटादीत्यर्थः।।३१।। कदाचिदपि भानाऽनर्हरूपम् अविदितमपि नृशृङ्गादिवत् तुच्छत्वात् कथमात्मा स्याद् इत्याह—यच्च नेति। तत्तु असद् भवेद् इति सम्बन्धः।।३२।। ईदृशमात्मरूपं पूर्वाचार्येभ्यो वयं श्रुतवन्त इत्याह—श्रुतेति। स्पष्टम्।।३३।।

और मन किसी भी समय जिसे विषय कर कभी प्रवृत्त नहीं हो सकते वही इन सब का प्रेरक आत्मा है। हे उत्तम देवो! हम भले ही आपके गुरु बन रहे हैं पर हम इस परमार्थ वस्तु का साक्षात् अनुभव करते हुए भी ऐसा कोई तरीका नहीं जानते जिससे इसका उस प्रकार सामान्य या विशेष के सहारे निरूपण करें जिस प्रकार लौकिक वस्तुओं का होता हैं।।२७-८।। पूर्ण आत्मा न सामान्य है और न विशेष ! न वह आपकी अन्तर-बाह्य किसी इंद्रिय का गोचर है। ऐसे आत्मा का हम उस मायने में कैसे उपदेश दे सकते हैं जिस मायने में सांसारिक पदार्थों का उपदेश दिया जाता है!।।२९।।

आत्मा जिसका अत्यन्त निकट स्वरूप है, जिसके बारे में आपने प्रश्न किया और जिसे हम बताने की कोशिश कर रहे हैं वह व्यापक तत्त्व उस सब से विलक्षण है जो विदित या अविदित है।।३०।। लोक में जो पृथ्वीत्व-घटत्व आदि सामान्य या विशेष रूपों वाला विषय किया जाता है वही 'विदित' होता है और वह अनात्मा एवं सभेद होने

१. 'न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनः। न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यात्।।' 'अन्यदेव' इत्यादि वाक्यं टीकाकारश्चतुर्थतया व्यवहरति।

२. 'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि। इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद्व्याचचक्षिरे।।'

प्रत्यक्

वागाद्यैर्ज्ञायते यत्तु न कदाचित् सुरोत्तमाः। ज्ञानकर्मेन्द्रियैः सर्वैर्मनसा सहितैरपि।
प्राणेनाऽपि क्रियाशक्त्या सर्वदेवैकरूपिणा।।३४
य इन्द्रियाणि सर्वाणि मनःप्राणौ च वेत्त्यपि। व्यापारैर्निखिलैः सार्द्धं तेषां तद्व्यापृतिक्षमः।।३५
तदेव ब्रह्म जानीथ यूयं सर्वे दिवौकसः। उपासते भवन्तो यन्न तदात्मा कदाचन।।३६

प्रत्यक्त्वेन आत्मोपदेशप्रकारं पूर्वाचार्यैरनुष्ठितं 'यद्वाचे' त्यादिमन्त्रपञ्चकदर्शितं[1] निरूपयति—वागाद्यैरिति त्रिभिः। सर्वैः वागादिभिः इन्द्रियैः मनसा च यत् न विषयीक्रियते, तथा सर्वे देवा यस्य विभूतयः तेन प्राणेनाऽपि न विषयीक्रियते—इत्यर्थः।।३४।। य इन्द्रियाणीति। यः च सर्वेन्द्रियाणां मनःप्राणयोश्च तद्व्यापाराणां च साक्षी तेषां सन्निधिमात्रेण तत्तद्व्यापारेषु प्रवर्तयिता चेत्यर्थः।।३५।। तदेवेति। तत् प्रत्यग्वस्त्वेव ब्रह्म बोध्यं हे दिवौकसः! यत् तु पराग्रूपेण उपास्यते तद् आत्मत्वेन न बोध्यम्। इति प्रथमखण्डार्थः।।३६।।

से दुःखप्रद ही होता है अतः सद्बुद्धि वालों के लिये वह त्याग के ही योग्य है। आत्मा ऐसा नहीं अतः विदित से विलक्षण है।।३१।। वन्ध्यासुत आदि की तरह जो इस योग्य नहीं कि उसका भान हो सके वह 'अविदित' असत् अतः अनात्मा होने से सन्मति वाले के लिये त्यागने लायक ही है। आत्मा ऐसा नहीं अतः अविदित से विलक्षण है।।३२।। ज्ञात-अज्ञात से अन्य आत्मा का हमने अपने गुरुओं से इसी तरह उपदेश सुना है क्योंकि शास्त्ररहस्य समझे हुए उन गुरुजनों ने हमें स्वात्मा उसी तरह समझाया था जिस तरह हम उसे विषय जैसा न समझें। (आत्मा को शास्त्र या गुरु बता न सकता हो यही नहीं, वह वस्तु ही ऐसी है जो बतायी नहीं जा सकती। बतायी जाने वाली चीज़ें या ज्ञात के घेरे में हैं या उससे बाहर होने से अज्ञात के क्षेत्र में। आत्मा दोनों परिधियों में नहीं होने से बताया जाये इस लायक नहीं। किंतु आत्मसम्बद्ध अज्ञान ज़रूर मिटाया जा सकता है और उसमें सक्षम तरीका शास्त्रप्रयुक्त विधि-निषेधात्मक उपदेश ही है जो निरज्ञान आचार्य के श्रीमुख से ही उपलभ्य है)।।३३।।

हे देवश्रेष्ठो ! मन समेत ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रियों द्वारा जो विषय नहीं होता वह आत्मा है। वागादि क्रियासाधन उत्पत्ति आदि में सक्षम हैं जब कि आत्मा जन्मादि से रहित है अतः उनका विषय नहीं। किं च वाक् अर्थात् शब्द से आत्मा को जाना जाये यह संभव नहीं क्योंकि शब्द बिना प्रवृत्तिनिमित्त के ज्ञापक बनता नहीं और आत्मा में कोई ऐसा निमित्त नहीं है। जब अज्ञातज्ञापन में सर्वाधिक सक्षम वाक् ही उसके ज्ञापन में असमर्थ है तब अनुमानादि प्रमाणांतर से उसे कैसे जाना जाये ! सभी देव अर्थात् इंद्रियाँ जिसकी विभूति हैं अर्थात् जिसकी सामर्थ्य के अभिव्यंजक हैं वह क्रियाशक्तिरूप प्राण भी स्वयं आत्मा से सत्ता-स्फूर्ति पाता है तो आत्मा को विषय नहीं कर सकता इसमें क्या कहना! पिता की संपत्ति से मौज करने वाला पिता को सम्पन्नतर बनाये यह असंभव है।।३४।। आत्मा वह है जो सभी इंद्रियों का, मन-प्राण का, इन सबके व्यापारों का साक्षी है तथा केवल अपनी संनिधि से उक्त सभी को उनके उचित व्यापारों में प्रवृत्त करता है। (आत्मा मनआदि को 'प्रेषित' करता है पर इसके लिये आत्मा में कोई 'चेष्टा' नहीं, आत्मा की संनिधि ही इसके लिये पर्याप्त है कि वे प्रेषित हो जायें। आत्मसंनिधि अर्थात् मनआदि का आत्मतादात्म्य ग्रहण कर मौजूद होना। आत्मा तो नित्य है, मन आदि जब उसका तादात्म्य लेकर रहते हैं तब प्रवृत्त हो जाते हैं। संनिधि-असंनिधि उपाधि-पक्षीय विकार ही हैं, ऐसा नहीं कि सन्निहित होना-न होना आत्मगत परिवर्तन हो।)।।३५।। उक्त प्रत्यग्वस्तु को ही आप आत्मा समझें, जिस किसी की भी पराग्रूप से, विषयरूप से उपासना की जाती है उसे आत्मा समझने की भूल कभी न करें।।३६।।

---

१. 'यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।।४।। यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्। तदेव...।।५।। यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति तदेव...।।६।। यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदं श्रुतम्। तदेव...।।७।। यत् प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते। तदेव...।।'८।।

मननम्

यन्मन्यते देवगणः सुज्ञेयमिति नैव तत्। आत्मतत्त्वमुपास्यं तद् दहराकाशसंज्ञितम्। ।३७

देवैः सर्वैरहो देवास्त्वमहंशब्दवर्जितम्। विचारयन्तु सकला आत्मानं बुद्धिसाक्षिणम्। ।३८

आत्मरूपं यतस्त्वेवं प्रवदन्ति विपश्चितः। अज्ञेयं वाऽपि विज्ञेयं सुज्ञेयं दुष्प्रबोधनम्। ।३९

अविज्ञातः सदैवात्मा सर्वैरपि शरीरिभिः। सत्यज्ञानादिरूपेण विज्ञातश्चात्मरूपतः। ।४०

अथ द्वितीयखण्डे मननविधयाऽऽत्मतत्त्वमुपदिश्यत इति दर्शयन्, 'ते'[1] इत्यन्तवाक्यार्थमाह—यन्मन्यत इति द्वाभ्याम्। इन्द्र आह—देवगणो यद् इति मन्यते स्वीकरोति; 'इति' किम् ? आत्मतत्त्वं सुज्ञेयं सुखेन ज्ञातुं शक्यं भवति अहरहरुपास्यमानत्वादिति भावः; तत् तथा नैव मन्तव्यं यतः तद् भवत्परिचितमात्मरूपं दहराकाशादिनामकं सर्वैर्देवैः उपास्यं ध्येयमेव भवति, न ज्ञेयम्[2]। अहो ! इत्याश्चर्ये। हे देवाः ! ज्ञेयं यद् आत्मरूपं तत् त्वमहं-प्रभृतिशब्दैर्वर्जितं भवति। अतः तल्लाभाय सकला देवा विचारयन्तु। इति द्वयोरर्थः। एतेन—देवेषु मध्ये वर्तमानोऽपि त्वं यद् दहरपर्यन्तं ब्रह्मरूपं मत्वा 'सुवेद' इति मन्यसे तद् अयुक्तं, यतो ज्ञेयं रूपं ज्ञातुकामः त्वं त्वम्पदादिकम् अस्य परित्यज, तदशक्तौ विचार एव तव युक्त—इति श्रुतियोजना सूचिता। भाष्यविरोधस्तु प्रमेयाऽविरोधात् परिहार्यः। ।३७-८। ।

तत्र हेतुं सुज्ञेयमित्यवधारणस्य प्रमेयाननुसारित्वं दर्शयन् 'वेद' इत्यन्तवाक्यावेदितं[3] ब्रह्मणः स्वभावचतुष्टयमाह—आत्मेति। यतो विपश्चितो 'मन्ये विदितम्' इत्यादिश्रुत्यर्थविद एवं वक्ष्यमाणविधयाऽऽत्मनो रूपम् अज्ञेयत्वादिस्वभावचतुष्टयशीलं वदन्तीत्यर्थः। तत्रेत्थं श्रुत्यर्थविभागः—सुवेदेत्येव न मन्य इत्यनेन अत्यन्ताविषयत्वयत्नपूर्वकवेद्यत्वयोर्निषेधाद् विज्ञेयत्वसुज्ञेयत्वयोः लाभो, नः अस्माकं सम्प्रदायसिद्धं बोधप्रकारं चतुर्थपादोक्तं यो वेत्ति स एव वेदेत्यनेन तर्कागम्यत्वरूपदुष्प्रबोधनत्वस्य मूढैरज्ञेयत्वस्य च लाभ इति। ।३९। ।

अज्ञेयत्वादिषु हेतूनाह—अविज्ञात इति द्वाभ्याम्। यतः सर्वैः देहाभिमानिभिः सत्यज्ञानानन्दादिरूपेण अविज्ञातः ततो ज्ञातुमशक्यत्वाद् एतद्रूपम् अविज्ञेयम् इत्युक्तम्। तथा अहम्-इत्यात्मरूपेण विज्ञातत्वात् तु

हे देवो ! आप लोग जो यह समझते हैं कि क्योंकि रोज़ उसकी उपासना करते हैं इसलिये उसे आराम से जान जायेंगे, वह समझना ठीक नहीं क्योंकि जिसकी उपासना की जाती है वह दहराकाश आदि नाम वाला ध्येय अर्थात् सविशेष आत्मा ही है, ज्ञेय अर्थात् निर्विशेष नहीं। जो तत्त्वज्ञान से समझा जाने लायक आत्मा है वह 'तू'-'मैं' आदि शब्दों से सम्बद्ध नहीं है। ('तू'-से युष्मत्प्रत्ययगोचर सभी विवक्षित हैं तथा 'मैं'-से अव्यापक समझा जाने वाला आत्मा विवक्षित है। आत्मा न विषय है, न विषयी है।) बुद्धि के भी साक्षी आत्मा के बारे में आप सभी को विचार करना चाहिये। (तात्पर्य है कि जब तक त्वमर्थ या तदर्थ के रूप में आत्मा समझें तब तक शोधन में प्रवृत्ति करते रहना चाहिये, पदार्थ-शोधन ही प्रधान कर्तव्य है, तदनंतर वाक्यार्थबोध अयत्नसाध्य है।)। ।३७-८। ।

विद्वान् आत्मा का स्वरूप ऐसा बताते हैं : वह १) अज्ञेय है, २) विज्ञेय है, ३) सुज्ञेय है और ४) दुष्प्रबोधन (कठिनाई से समझ आने वाला) है। (अर्थात् १) मोहग्रस्त उसे जाने यह संभव नहीं ; २) वह किसी तरह न जाना जा सके ऐसी बात नहीं क्योंकि वृत्तिव्याप्त होता ही है; ३) उसे जानना यत्न की अपेक्षा नहीं रखता वरन् यत्नत्याग की

---

१. 'यदि मन्यसे सुवेदेति दहरमेवाऽपि नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपम्। यदस्य त्वं यदस्य देवेषु अथ नु मीमांस्यमेव ते। मन्ये विदितम्। ।'१

२. ज्ञानं नाम अज्ञाननाशकं तद्धि यथावस्त्वेव, वस्तु च निरपेक्षं स्वरूपमिति सोपाधिकं न 'ज्ञेयम्', उपाध्यपेक्षत्वात्, ततो निरुपाधि ब्रह्मैव ज्ञेयम् इति संक्षेपः।

३. 'नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च। यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च। ।'२

सुज्ञेयो गुरुवाक्येन भवेत् सुविदितो हि सः। दुर्विज्ञेयश्च तर्काद्यैस्ततो न विदितो हि सः।।४१
आनन्दात्मानमप्येनं स्वयंज्योतिःस्वरूपिणम्। सत्यादिलक्षणं नित्यं सर्वप्राणिहृदम्बुजे।।
वर्तमानं सुषुप्तौ च प्राप्यं सर्वैश्च जन्तुभिः।।४२
कोऽपि नैवं विजानाति यथाऽन्धः करगं निधिम्। संसारश्रमसन्तप्तो मोहितो देवमायया।।४३
अन्यमेवात्मनः सर्वमवगच्छति देहभृत्। ततो विनष्टिश्चैवेयं वर्तते देहिनां सदा।।४४
विदितश्चाऽस्ति सर्वेषामात्मा धीशब्दयोर्यतः। विषयो व्यवहारस्य हेतुर्भवति सर्वथा।।४५
सदादिविषयो देवः स्वप्ने वै जागरेऽपि च। व्यवहारमिमं सर्वमर्हरूपं करोति हि।
ततोऽत्र विदितोऽप्येष देहिनां वर्तते पुमान्।।४६

विज्ञेयमिति। यतश्च गुरुवाक्येन विदितो भवति ततः सुज्ञेय इति। यतश्च तर्कमयैः शास्त्रैर्विदितो न भवति ततो दुर्विज्ञेय इत्युच्यते। इति द्वयोरर्थः।।४०-१।।

तत्र अविज्ञाततत्वं विशदयति—आनन्दात्मानमिति त्रिभिः। सत्यादिलक्षणम्[1] आनन्दरूपमात्मानं हृदि वर्तमानमपि सुप्तौ सर्वैः लभ्यमपि जनः प्रायशो न वेत्ति, देवमायया विक्षेपाऽऽवरणाभ्यां मोहितत्वात्, श्रान्तोऽन्धः प्राप्तं निधिम् इव। प्रत्युत तत आत्मनोऽन्यदेव पश्यति यतोऽन्यदर्शनाद् इयं दुःखसन्ततिरूपा विनष्टिः[2] हानिर्वर्तते। इति त्रयाणामर्थः।।४२-४।।

विज्ञेयत्वहेतुं विदितत्वं स्फुटी करोति—विदितश्चाऽस्तीति द्वाभ्याम्। अयम् आत्मा सर्वेषां विदितः प्रसिद्धो भवति यतः अहमित्याकारयोः धीशब्दयोर्विषयः सन्नेव व्यवह्रियत इत्यर्थः।।४५।। न केवलमहमित्याकारयो-र्धीशब्दयोरेव विषयः किन्तु अस्ति-भातीत्यादिप्रतीतीनामपीत्याह—सदादीति। तथाऽयमात्मा स्वप्नजागरयोः सदाद्यवगाहिप्रतीतीनां विषयः सन्नेव सर्वं व्यवहारम् अर्हरूपं योग्यरूपं करोति, न हि सत्ताद्यंशविनिर्मोके कश्चिदपि घटादीनां व्यवहारः शोभत इति। फलितमाह—तत इति।।४६।।

ही उसके लिये ज़रूरत है; ४) वह तर्क का विषय नहीं है, न उसे तर्क से समझ सकते हैं और न उसकी समझ को तर्क से काट ही सकते हैं !)।।३९।। वही एकमात्र सत्य है, उसका स्वरूप ही संवित् है, वह निःसीम है आदि दृष्टि से सभी शरीरधारी उसे नहीं जानते, सिर्फ 'मैं'—इस प्रत्यग्रूप से उससे परिचित हैं। उसका पूर्ण स्वरूप आराम से जाना जा सकता है यह इसलिये कि गुरुदत्त उपदेश से उसे भली भाँति समझा जा सकता है। तर्क और उस पर आधारित रीतियों से न समझा जा सकने से उसे समझना कठिन बताया गया है।।४०-१।।

सत्य आदि जिसका स्वरूप है वह आनंदरूप स्वप्रभ आत्मा सब प्राणियों के हृदयरूप कमलों में हमेशा वर्तमान है और सब जंतु सुषुप्ति में उसे प्राप्त भी करते हैं लेकिन जैसे हाथ लगे खजाने को भी अंधा ग्रहण नहीं कर पाता ऐसे ही कोई भी जीव उसे पूर्ण तत्त्व नहीं अनुभव कर पाते वरन् देवकी माया से मोहित हुए संसरण के परिश्रम से दुःखी ही होते रहते हैं। देहधारी आत्मा से अतिरिक्त जो कुछ भी है उसी को ग्रहण करने में संलग्न रहते हैं व इसी बहिर्मुखता से उनका यह अनवरत विनाश मौजूद है।।४२-४।। व्यापक रूप से अज्ञात होने पर भी 'मैं'—इस ज्ञान और शब्द के विषय रूप से यह आत्मा सभी को हमेशा भासमान है। हम लोगों के हर तरह के व्यवहारों का अनुगत हेतु आत्मा ही है क्योंकि 'मैं'—यों स्वयं को जानकर ही कोई भी व्यवहार किया जाता है। आत्मा के बारे में जो कुछ समझा

१. सत्यादीत्यादिनाऽधिष्ठानत्वमुक्तमाधारस्य ज्ञानेऽप्यधिष्ठानस्याऽविज्ञानात्।
२. विनष्टिरज्ञानं तस्य वर्तमानतायाः प्रयोजकः बहिर्मुखभाव इत्यभिप्रायः।

ब्रह्मचर्यादिसम्पन्नः पुमान् जन्मशतायुतैः। कुशलस्य वचस्येतत् तद्ब्रह्मेत्यवगच्छति।।४७

यदा तदा सुखेनैतं स्फुरन्तं हृदयाम्बुजे। आनन्दात्मानमात्मस्थं सुखादेषोऽवगच्छति।।४८

सुखादयो गुणा यत्र संश्रिता द्रव्यरूपिणि। स आत्मेति यदा तर्काज्ज्ञातुमेष प्रवर्तते।।४९

तदा विभ्रान्तचित्तस्य तर्कान्तरसमागमात्। चिदात्मत्वादिकादेष दुर्विज्ञेयः प्रजायते।।५०

सुविज्ञेयत्वं विशदयति—ब्रह्मेति। जन्मशतायुतसिद्धपुण्यैः ब्रह्मचर्यादिसम्पन्नः पुमान् कुशलस्य आचार्यस्य वचसि महावाक्यरूपे प्रवृत्ते सति एतत् प्रत्यग्वस्तु तत्पदार्थभूतं ब्रह्मेति यदा अवगच्छति तदा निरावरणमात्मानं सुखरूपेण भान्तं सुखेन लभते। इति द्वयोरर्थः।।४७-८।।

दुर्बोधताहेतुं तर्कैरविदितत्वं व्यक्ती करोति—सुखादय इति। यदा वैशेषिकादिमतावलम्बी पुरुषो यत्र द्रव्ये सुखादयो गुणाः समवेताः स आत्मेति तर्काद् अवधारयितुं प्रवर्तते तदा चिदात्मत्वम् आदिः विषयविधया कारणं यस्य तथाभूतं श्रुत्यनुगृहीतं तर्कं निरीक्ष्य विभ्रान्तचित्तो व्याकुलचित्तो भवति, तस्य चात्मा दुर्विज्ञेयो भवति। इति द्वयोरर्थः।।४९-५०।।

जाता है वह भी उसे 'मैं'—यों ग्रहण कर ही बुद्धि में बैठता है।।४५।। चाहे सपना हो या जाग्रत्, जितना भी यह योग्य व्यवहार है उसे संभव करने वाला स्वप्रभ आत्मतत्त्व ही है जो 'है'—इत्यादि प्रतीतियों का विषय बनता है। ('है', 'भासता है', 'प्रिय है'—ये अनुभव आत्मा को विषय करते हैं; नाम-रूप के अनुभव अनात्मा को विषय करते हैं। अनात्मा का कोई बोध ऐसा नहीं जो 'है' आदि को भी विषय न करे। कल्पना, विकल्प आदि *बोध* नहीं हैं। 'है'—आदि हिस्सा हटा लेने पर विषयों का कोई योग्य व्यवहार संभव नहीं। अतः 'मैं' ही नहीं, सभी विषयज्ञानों में भी आत्मा ग्रहण किया जा रहा है।) यों विषयरूप से तथा विषयिरूप से व्यवहारभूमि में यह पूर्ण चेतन देहधारियों को विदित भी है।।४६।।

आत्मा के जिस व्यापक स्वरूप का ज्ञान परिपक्व होकर कैवल्य प्रदान करता है वह अनन्त जन्मों के पुण्यों के युगपत् फलीभूत होने पर ही संभव है। अनेक जन्मों तक साधन-अभ्यास करे तभी पुरुषार्थी प्राणी साधनसंपन्न होकर साधिकार ज्ञानयोग में प्रवृत्त होगा। ब्रह्मचर्य जिनमें प्रधान है ऐसे निवृत्तिसाधनों का पुष्कलता से अभ्यास करने वाला जब कुशल आचार्य के निर्देशन में यत्नशील बनता है तब उन्हीं का उपदेश प्राप्त होते ही समझ लेता है कि यही वह ब्रह्म है। (यही—संसारदशापन्न; वह—संसारातीत। प्रत्यभिज्ञान्याय से यह-वह में अनुगत ब्रह्म भास जाता है।)।।४७।। जब ईमानदार साधक शास्त्राचार्यवचनों में निहित रहस्यार्थ अनावृत कर लेता है तब हृदयकमल में आनंदरूप से स्फुरते हुए इस आत्मा को बिना किसी कठिनाई के अनुभव करता रहता है। वह आत्मा समझने को हृदय में है पर वस्तुतः स्वयं में ही है, स्वसे अन्यत्र कहीं नहीं। उसे जानना अज्ञान रहते अति कठिन है पर अज्ञान मिटते ही अति सरल, किं वा स्वाभाविक ही है। उसका दृढ साक्षात्कार ही उसकी प्राप्ति है अतः साधक उसे समझते ही उसे पा लेता है।।४८।।

गुरूपदेश से सुबोध होने पर भी तर्क के आधार पर यह कभी नहीं समझ आता। साधारण व्यक्ति को तर्क समझ आता है—सुख दुःख आदि 'किसी को' अनुभव में आते हुए ही भासते हैं, स्वतंत्र नहीं भासते अतः वे 'गुण' हैं। (जैसे लाल घड़ा, लाल कपड़ा आदि रूपों में 'लाल' अन्य पर आश्रित ही अनुभव में आता है, स्वतंत्र नहीं, इसीलिये लाल को गुण समझते हैं वैसे ही सुखादि गुण हैं।) वे गुण जिस द्रव्यरूप पदार्थ पर रहते हैं वही आत्मा है। (जिसमें गुण, क्रिया आदि रहते हैं वह द्रव्य समझा जाता है। सुखादि गुणों वाला द्रव्य ही आत्मा है। लोकसिद्ध आत्मा यही है। निरात्मवादी को आत्मा समझाना हो तो यही तर्क काम में लिया जाता है कि पत्थर और आंदमी आदि में सुखादि-अनुभूति के होने-न-होने का भेद जिससे संगत है वह आत्मा है।) किंतु जब इस साधारण तर्क से कोई आत्मा समझने को उद्यत होता है तब वेदानुसारी तर्क उक्त बात का विरोध करता है : तर्क जिस प्रमाण पर अनुग्रह करता है उसीका अनुसारी

देवा ! आत्मा ततो ज्ञेयो विदितः सर्वदा हि यः। सामान्येन विशेषाच्च सुज्ञेयो नैव जन्तुभिः।।५१
स्वभावाच्च[1] गुरोर्वाक्यात् सुविज्ञेयः कदाचन। दुर्विज्ञेयः सदा तर्कैः पुंबुद्धिपरिकल्पितैः।।५२

एवं हेतुनिष्पत्तौ निगमनमभिनयति—देवा ! इति द्वाभ्याम्। हे देवाः ! य आत्मा ततो मायावृतत्वात् सामान्यविशेषरूपाभ्यां सुज्ञेयो नैव भवति, स सर्वदा विदितत्वात् सुज्ञेयः च भवति इत्यर्थः। शक्तौ कृत्यप्रत्ययः।।५१।। स्वभावाच्चेति। स्वभावात् स्वप्रकाशत्वरूपात् गुरुवाक्याच्च सुज्ञेयः, तर्कैः दुर्ज्ञेयश्च बोध्य इति।।५२।।

कहलाता है। पूर्वोक्त तर्क हमारे साधारण अनुभव का ही अनुसर्ता है न कि किसी प्रमाण का; हमारा साधारण अनुभव प्रमाण नहीं क्योंकि प्रमाणभूत वेद से विरुद्ध है। वेदानुसारी तर्क बताता है कि आत्मा सुख वाला नहीं वरन् स्वयं सुख है, ज्ञान वाला नहीं वरन् स्वयं ज्ञान है, सत्ता वाला नहीं वरन् स्वयं सत् है। (तर्क उपपादक होता है। आत्मा व्यापक है यह उपपन्न तभी होगा जब वह सभी भेदों से रहित हो अतः गुण-गुणी आदि भेदों से भी उसे वर्जित ही होना पड़ेगा। एवं च अगर गुणरूप सत्तादि से रहित होकर सत् आदि रूप न हो तो आत्मा ही न हो सकेगा—यह तर्क है। केवल सत्तादिरहित तो अलीक भी है ! आत्मा गुणरूप सत्त्वादि वाला नहीं लेकिन वह 'नहीं है' ऐसा कभी नहीं, 'प्रिय नहीं' ऐसा कभी नहीं, 'भासमान नहीं' ऐसा कभी नहीं अतः सत् आदि उसका स्वभाव है।) इस यथाशास्त्र तर्क का विरोध आने पर साधारण विचारक का चित्त व्याकुल हो जाता है, वह निश्चय पर नहीं पहुँच पाता अतः उसके लिये यह आत्मा समझना अत्यन्त कठिन हो जाता है। (तात्पर्य है कि साधारण, अपरीक्षित अनुभव के अनुसारी तर्क की अपेक्षा प्रमाणशिरोमणि वेद के अनुसारी तर्क की प्रबलता समझते हुए साधक शुष्क तर्क, दुस्तर्क से दूर रहे व श्रुतिसंमत तर्क का अनुसंधान करता रहे। यद्यपि नास्तिक को नियंत्रित करने के लिये शुष्क तर्क का विनियोग है तथापि आस्तिक को चाहिये कि शुष्क तर्क को 'मौके का हथियार' ही समझे, वास्तविकता का निर्णायक नहीं। वास्तविकता का निर्णय श्रुति व तदनुसारी तर्क से ही करना चाहिये। श्रुति-अनुसारी तर्क भी हमारे साधारण अनुभव से विरुद्ध नहीं है वरन् हमारे साधारण अनुभव का बेहतर उपपादक ही है यह रहस्य श्रद्धालु को स्पष्ट हो जाता है।)।।४६-५०।। हे देवताओ! जिसे सामान्य या विशेष के परिप्रेक्ष्य में नहीं समझा जा सकता वही 'मैं' एवं 'सत्-चित्-प्रिय' के रूप में हमेशा समझा जा रहा है। हमेशा समझे जाते स्वरूप का ही परीक्षण कर माया-विनिर्मुक्त आत्मस्वरूप को जानें—यही आप सरीखे सज्जनों के लिये योग्य है।।५१।। पौरुषेय मापदण्डों में बँधकर प्रवृत्त होने वाले तर्कों से कभी न समझा जा सकने वाला आत्मा भी बड़े आराम से समझ आ सकता है ! आत्मा का स्वभाव ही ऐसा है कि उसे समझा जा सके। हमेशा एकरूप से अपरोक्ष भासमान वस्तु ही आत्मा है अतः उसे न समझना या ग़लत समझना ही कारणापेक्ष है, उसे सही समझना तो स्वाभाविक है। फिर भी हमें अनुभूयमान अज्ञान मिटे इसके लिये ज़रूरी है कि हम गुरु के उपदेश का श्रवणादि करें। गुरूपदेश में वह अलौकिक शक्ति है जिससे आत्मतत्त्व सुविज्ञेय हो जाता है। जिससे आत्मा का अज्ञान मिटे ऐसा साधन ही वाक्य है व उसका उपदेशक ही गुरु है। गुरु आत्मोपदेश के लिये कोई यत्न नहीं करते, स्वभावतः ही वे आत्मप्रकाशक हैं जैसे रूपप्रकाशनार्थ सूर्य कोई यत्न नहीं करता।।५२।।

हे सुरो ! ब्रह्मनिष्ठ आचार्य से निरपेक्ष रहकर स्वयमेव कोई महाबुद्धिमान् परीक्षक भी इस आत्मतत्त्व का सही अनुभाव नहीं पा सकता। आज तक के सभी अनुभव या विशेष को और या सामान्य को विषय करते हैं अतः कुशलमति जो कुछ समझेगा वह इन्हीं में से कोई (या दोनों) होगा किंतु आत्मा क्योंकि न सामान्य है न विशेष इसलिये इसे सामान्य या विशेष समझने वाला नासमझ ही रह जायेगा ! आत्मा न व्यावृत्त है, न अनुगत है और ऐसी कोई चीज़ लौकिक ज्ञान का विषय है नहीं कि बिना उपदेश किसी को यह तथ्य पता चल सके। किं च तर्क से अगर आत्मा को केवल

१. चकारः साधनसम्पच्छ्रवणादिसंग्राहको देवप्रसादद्योतकश्च।

गुरोरेव ज्ञानम्

आत्मरूपं सदा देवा ! विज्ञातुं नैव शक्यते। स्वयं यतो विशेषैर्यो जानीते नैव वेद सः।।
विशेषै रहितं तद्वदवगच्छति यः पुमान्।।५३

गुरोर्मुखादवगतं जानीते सर्वथैव सः। यतः श्रुतिरियं प्राह स्वरूपं तस्य चेदृशम्।।५४

'यस्याऽमतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः। अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्।।'५५

मन्तुर्यस्य मतं ब्रह्म मेयं मानैर्भवेदिह। न तस्यैतन्मतं यस्माद् भेदमेषोऽत्र पश्यति।।५६

ननु महाधियो लौकिकाः परीक्षकाश्च स्वयमेव तं कुतो न जानीयुः ? इत्याशङ्कावारकं 'यस्यामतम्' इत्यादिश्लोकमवतारयति—आत्मरूपमिति द्वाभ्याम्। हे देवा ! एतद् आत्मतत्त्वं स्वयं ब्रह्मनिष्ठाचार्यनिरपेक्षेण जनेन न ज्ञातुं शक्यं यतः सः पूर्वसंस्कारैः द्विधैव वेत्स्यति—विशेषरूपेण, सामान्यरूपेण वा; तयोरेव संसारे परिचितत्वात्। तत्र विशेषरूपेण य आत्मानं जानाति स नैव वेत्ति, तस्य निर्विशेषत्वात्। यः च विशेषरहितं—सामान्यरूपमिति यावत्, एतादृशम्—आत्मानम् अवगच्छति सोऽपि नैव वेद, निरपेक्षस्य आत्मनः परसापेक्षसामान्याऽभावाद् इत्यर्थः।।५३।। गुरुणा त्वनुपलब्धार्थबोधकवेदवाक्येन स बोध्यत इत्याह — गुरोरिति। स जनो गुरोर्मुखाद् बुद्ध्वात्मानं जानीते साक्षात्करोत्येव यत इयं सन्निहिता श्रुतिः तस्य आत्मनः स्वरूपम् ईदृशम् सामान्यविशेषभावनिर्मुक्तं प्राह दर्शयति इत्यर्थः।।५४।। 'इयम्' इत्युक्तां श्रुतिं पठति—यस्येति।।५५।।

अस्या आर्थक्रमेण अर्थं षड्भिर्दर्शयंस्तत्र हेयावबोधकं द्वितीयपादं व्याचष्टे—मन्तुरिति द्वाभ्याम्। यस्य पुंसः सिद्धान्ते ब्रह्म मतं भवेत्; मतत्वं त्रिपुट्यवगाहिज्ञानगोचरत्वं, तदेवाऽभिनयति—मन्तुमनैर्मेयम् इति; तस्य पुंस एतद् ब्रह्म मतं विज्ञातं न भवति यस्माद् एष पुमान् ब्रह्मस्वभावविपरीतं भेदं पश्यति इत्यर्थः।।५६।। भेदस्य

इतना ही समझेंगे कि वह सब विशेषों से रहित है तो उसे निःस्वरूप मान बैठना सहज होगा जिससे बौद्ध ही बन जायेंगे! गुरु तो ऐसा अर्थ भी समझा सकते हैं जिसका अद्यावधि हमें अज्ञान है अतः आत्मा का जैसा स्वरूप वेद ने बताया है वैसा कोई समझना चाहे तो गुरु के उपदेश से ही समझ सकता है। (कदाचित् साक्षात् गुरु न रहते यदि किसी महापुरुष में तत्त्वविद्या का उदय प्रतीत होता है तो पूर्वादि जन्मों के संस्कारों को या ईश्वर प्रदत्त उपदेश को वहाँ कारण जानना चाहिये। यह अपवादरूप ही है, उत्सर्ग अर्थात् साधारण नियम यही है कि जिस जन्म में ज्ञान होता है उसीमें श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु से उपदेश ग्रहण होता है।)।।५३-४।। श्रुति ने सुस्पष्ट किया है कि लोक से सर्वथा विलक्षण आत्मावबोध है : जिसे आत्मा 'अमत' है उसे यह 'मत' है; जिसे यह 'मत' है वह जानता नहीं ! जानकारों को अविज्ञात और जिन्हें विज्ञान नहीं उन्हें यह विज्ञात है ! (स्वयं पुराणकार इसे समझायेंगे। अभिप्राय इतना ही है कि अन्य विषयों की तरह होने वाला ज्ञान आत्मा का यथार्थ ज्ञान नहीं है, गाय-भैंस जैसा आत्मा को जो समझे वह नासमझ ही है, जो *वैसा* नहीं समझता वह समझदार है।)।।५५।।

'मत' का अर्थ है ऐसे ज्ञान का विषय होना जो ज्ञाता-ज्ञेय का संपर्क स्थापित करता है अर्थात् प्रमाता जब प्रमाणों से प्रमेय को जाने तब प्रमेय को उस प्रमाता का 'मत' कहा जाता है। अतः जो ब्रह्म को 'मत' समझता है उसे ब्रह्मानुभव नहीं ही है क्योंकि जो तत्त्व अद्वितीय है उसके बारे में समझते हुए वह भेद अनुभव कर रहा है। भेद तो ब्रह्म के स्वभाव से विपरीत है अतः भेदज्ञान को ब्रह्मज्ञान नहीं माना जा सकता। 'मैं प्रमाता वेदादिवाक्यरूप प्रमाण से प्रमेयरूप ब्रह्म को जान रहा हूँ' यह अनुभव भेद का प्रकाशन कर रहा है अतः इसे ब्रह्मज्ञान नहीं कह सकते। यद्यपि घटज्ञान जैसे घट प्रकाशित करता है ऐसे उक्त ज्ञान भेद नहीं प्रकाशित कर रहा तथापि इससे भेद अर्थसिद्ध होने के कारण यह भेद का प्रकाशक है। जैसे 'मैं गूँगा हूँ' यह उच्चारित वाक्य अर्थतः बता देता है कि मैं गूँगा नहीं हूँ वैसे

न हि ब्रह्मणि निर्द्वैते मन्ता मेयं च किञ्चन। अस्ति मानादिकं भिन्नं क्रियाकारकरूपवत्।।५७
एवं निर्द्वैतमात्मानं ज्ञात्वा यो मन्यते मतम्। मतं तस्य भवेदेतद् भेदशून्यावबोधनात्।।५८
उभयत्र श्रुतिप्रोक्तो हेतुरेष सनातनः। जानन्ति विविधं ब्रह्म वादिनो येऽत्र भेदतः।
प्रमात्रादिस्वरूपेण मायया परिमोहिताः।।५९
तेषामिदमविज्ञातं सर्वदा भेददर्शिनाम्। न ह्यभिन्नस्वभावं तद् भिन्नं भवितुमर्हति।।६०

प्रमेयविरोधमेव स्फुटयति—न हीति। अद्वैतस्वभावे ब्रह्मणि मन्तृमेयमानादिरूपा त्रिपुटी भेदव्याप्ता न वर्तते, तत्र भेदाऽभावाद् इत्यर्थः।।५७।। प्रथमपादार्थमाह—एवमिति। यः तु निर्द्वैतं त्रिपुटीलक्षणद्वैतरूपसतत्त्वहीनम् आत्मानं गुरुमुखाद् ज्ञात्वा 'मया ब्रह्म मतम्' इति मन्यते सिद्धान्तयति, तस्य विदुषो ब्रह्म मतं विज्ञातमेव, यथावदव-बोधाद् इत्यर्थः।।५८।।

ननु ब्रह्मविज्ञानस्य अप्रमात्वे भेदावगाहित्वं, प्रमात्वे तदनवगाहित्वं च लिङ्गं यत् स्वयमुपन्यस्तं तदसिद्धम्? इत्याशङ्कां वारयति—उभयत्रेति। उभयत्र प्रमात्वाऽप्रमात्वयोः यो हेतुः द्विविधोऽस्माभिरुक्तः स सनातनः, श्रुत्यैव उत्तरार्द्धरूपया प्रोक्तत्वाद् इत्यर्थः। तत्र प्रमात्वे हेतुं तृतीयपादोक्तं वर्णयति—विविधमिति। ये वादिनो मायामोहितत्वत् प्रमात्रादिरूपभेदेन विविधं सद्वैतं ब्रह्म इति जानन्ति तेषा विविधज्ञानवतां बोधेऽविज्ञातम् अनाविर्भूतमेव प्रसिद्धं ब्रह्म, स्वभावत्यागभयाद्। इति द्वयोरर्थः।। तथा च प्रमेययाथात्म्याऽनवगाहिनः तज्ज्ञानस्य अप्रमात्वशालिता प्रायः प्रसिद्धेति भावः।।५९-६०।।

ही पूर्वोक्त ज्ञान 'अद्वैत ब्रह्म नहीं वरन् सभेद ब्रह्म है' यह बता देता है।।५६।। ब्रह्म द्वैतहीन है। मनन आदि करने वाला प्रमाता, कोई प्रमेय और प्रमाणादि—ये भेदभूमिका के पदार्थ अभेदरूप ब्रह्म में नहीं हैं। इनके संदर्भ में ब्रह्म समझा जाये तो ग़लत ही समझा जायेगा। जैसे जो कुछ क्रियारूप या कारकरूप है वह ब्रह्म में नहीं है क्योंकि ब्रह्म सिद्ध वस्तु होने से क्रिया नहीं तथा अविकारी होने से कारक नहीं है वैसे ही ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय का त्रिक ब्रह्म में नहीं है क्योंकि यह भेदापेक्ष है जबकि ब्रह्म अभेद है। जैसे दीपक से बाकी सब दीखता है पर अँधेरा नहीं वैसे ही बाकी अनुभव उक्त त्रिक रहते होते हैं पर ब्रह्मानुभव नहीं।।५७।। गुरुमुख से निर्द्वैत आत्मा जानकर जिसका यह अनुभव बाधित हो जाता है कि 'मैं आत्मा को नहीं जानता' उस विद्वान् को आत्मानुभव है क्योंकि आत्मा के अद्वैत स्वरूप को बिगाड़े बिना वह आत्मा को जान रहा है। (जैसे अतिसूक्ष्म कणों का अवलोकन करने से ही हम उनकी गति प्रभावित कर देते हैं अतः उनकी स्वाभाविक गति का अवलोकन संभव नहीं ऐसा आधुनिक भौतिकी-वेत्ता बताते हैं वैसे ही ज्ञाता-आदि त्रिक वाले ज्ञान से आत्मा को समझते हुए ही हम आत्मा को सभेद कर देते हैं अतः उस ज्ञान से आत्मा की प्रमा संभव नहीं वरन् आत्मप्रमा वह ज्ञान है जो आत्मा के अद्वैत स्वरूप को बिगाड़े नहीं क्योंकि वही ज्ञान अज्ञान का बाधक हो सकता है।)।।५८।।

भेदसंरक्षक ज्ञान ब्रह्मप्रमा नहीं और ब्रह्मप्रमा भेदनिवारक ही है इन दोनों बातों के लिये वेद ने ही यह सनातन हेतु बताया है कि जिसका स्वभाव अभिन्न हो वह सभेद नहीं हो सकता। अतः प्रमेय की यथार्थता को न विषय करने वाले ज्ञान को उसकी प्रमा न मानना उचित है। माया से परिमुग्ध जो वादी प्रमाता आदि त्रिक की दृष्टि से ब्रह्म को सद्वैत समझते हैं ऐसे भेददर्शनशीलों के लिये यह अद्वैत हमेशा अविज्ञात रहता है। संसार में ऐसे ही वादी सर्वाधिक हैं जो अगर आत्मा मानते हैं तो उसे प्रमाता या प्रमेय स्वीकारते ही हैं। कुछ सूक्ष्मदर्शी उसे ज्ञानरूप समझते हैं तो भी द्वैत सत्य मानने से द्वैतप्रकाशक ज्ञान ही वे आत्मा को अवगत कर पाते हैं। अतः वे सब अज्ञानी ही रह जाते हैं।।५९-६०।। सभी भेदों से शून्य, अगुण, आनंदरूप आत्मा को ज्ञाता आदि भेद की दृष्टि से जो सद्वैत नहीं समझते उन्हीं का यह विज्ञान समुचित है क्योंकि वे ही हमेशा सत्य का दर्शन पाते हैं। (तत्त्व का दर्शन जिनका शील है, सापेक्ष को, मिथ्या को तिरस्कृत करते रहकर जो निरपेक्ष को, सत्य को ही ग्रहण करने में तत्पर बने रहते हैं वे ही यह अनुभाव पाते हैं।

विविधं ये न जानन्ति ज्ञातृज्ञेयादिभेदतः। आनन्दात्मानमगुणं सर्वभेदविवर्जितम्।
तेषां विज्ञानमेवैतत् सर्वदा तत्त्वदर्शिनाम्।।६१

अहं ब्रह्मेति बोधो यस्तेन योऽत्र प्रतिक्षणम्। जानीते स्वात्मरूपं तन्मतं तस्य महात्मनः।।६२

एतज्ज्ञानाद्यतः सर्वः पुनर्मरणवर्जितम्। आनन्दात्मानमाप्नोति ह्यमृतत्वं वदन्ति यम्।।६३

मनसा विन्दते विद्यां वीर्यशब्दां महामनाः। ब्रह्मचर्यादिसम्पन्नो गुरुवक्त्रारविन्दतः।।६४

विद्यया लब्धया पश्चाद् अमृतत्वं पुरोदितम्। अवाप्नोति यतो भूयो मरणं नाऽधिगच्छति।।६५

ये ये पूर्वे समाहिताः द्वैतविस्मरणेन अविजानन्तः स्थिताः तदीयबोधे ब्रह्मणः आविर्भूतत्वलक्षणविज्ञातत्वप्रसिद्धेः अमतत्वदर्शनं प्रमैव इति चतुर्थपादार्थमाह—विविधं ये नेति। स्पष्टम्।।६१।।

प्रत्यक्त्वरूपाऽविषयतावगाहिन्येव मतिः ब्रह्मप्रमा फलवत्त्वाद् इति प्रदर्शयतः 'प्रतिबोधे' त्यादिवाक्यस्य[1] अर्थमाह—अहमिति चतुर्भिः। अहं ब्रह्मेति आकारकेण प्रत्यक्त्वाऽवगाहिना बोधेन यः प्रतिक्षणं जानीतेऽनुसन्धत्ते तस्य महात्मनः स्वात्मरूपं मतम् एवेति। यत एतज्ज्ञानाद् अमृतत्वरूपम् आनन्दं प्राप्तो जातः। इति द्वयोरर्थः।।६२-३।। आत्मज्ञानेन अमृतत्वलाभे उपपत्तिमाह—मनसेति। ब्रह्मचर्यादिसम्पन्नो महामनाः कार्पण्यरहितोऽधिकारी श्रुतावात्मपदोक्तेन मनसा समाहितेन गुरूपदिष्टविद्यारूपं वीर्यं बलं लभते। ततश्च प्रमादरूपाद् मृत्योः कृपणेषु शूराद् अस्य भयं न युक्तं, तथा च सिद्धममृतत्वमित्याह—विद्ययेत्यादिना।।६४-५।।

समाधि के अभ्यास से द्वैत का विस्मरण हो जाये तब ब्रह्म का जो स्फुरण चित्त में होता है वह द्वैतापादक नहीं बन पाता। वह स्फुरण साधारण दृष्टि से 'प्रमा' नहीं होने के कारण उस स्फुरण वाले के लिये आत्मा को साधारण दृष्टि से 'अमत' कहने पर भी सत्य यही है कि अविद्यानिवर्तक होने के कारण वही प्रमा है। 'विस्मरण' इसलिये कहा कि तत्त्वनिष्ठा-पर्यन्त द्वैत रह तो जाता है लेकिन जब तक द्वैत के सन्दर्भ में समझते हैं तब तक आत्मप्रमा नहीं हो पाती, जब द्वैत को भूलकर अर्थात् उसका संदर्भ छोड़कर समझते हैं तब आत्मा का अज्ञान मिट जाता है। यह विस्मरण समाधि से हो सकता है ऐसा सभी आचार्य मानते हैं पर भगवत्पूज्यपाद विवेक से भी विस्मरण संभव स्वीकारते हैं यद्यपि 'समाहितः' विधि से वे समाधि का उपयोग मानते ही हैं। उक्त विस्मरण तत्त्वबोध के लिये अनिवार्य है लेकिन तत्त्वनिष्ठा के बाद इसकी अनिवार्यता नहीं। षड्ज को सही समझने के लिये अन्य ध्वनियाँ न रहते षड्ज सुनना ज़रूरी है किंतु समझने के बाद ऐसा प्रतिबंध नहीं, अनेक ध्वनियों के मध्य भी उसे पहचाना जा सकता है; ऐसे ही आत्मज्ञानार्थ द्वैतविस्मरण ज़रूरी है पर फिर भूमिकारोहण *ही* किया जाये ऐसा भाष्यकार का कहना नहीं है।)।।६१।।

विषय न समझते हुए समझने का मतलब है प्रत्यक् समझना। ब्रह्म को प्रत्यक् समझना ही उसकी प्रमा है क्योंकि वही अविद्यानिवृत्तिरूप फल दे सकती है और सफल ज्ञान ही प्रमा हो सकता है। 'मैं ब्रह्म हूँ' इस बोध से जो हर क्षण संसार में स्वात्मा का अनुसंधान करता रहता है उसी महात्मा को वह तत्त्व 'मत' अर्थात् सुविदित होता है। जिसे अमरता कहते हैं वह आनंदरूप आत्मा उक्त आत्मज्ञान से ही सब लोग पा सकते हैं अन्य किसी उपाय से नहीं। उसे पाकर फिर कभी मृत्यु नहीं होती। यों मृत्युरहित अमरत्व प्रदान करने वाला आत्मबोध ही आत्मप्रमा है, वही विवेकी के लिये यत्नतः प्राप्य है। (यहाँ भेददर्शन ही प्रधानतः मरण है, तत्त्वनिष्ठा से भेददर्शन की संभावना मिट जाती है। स्थूल-सूक्ष्म शरीरों का संबंध और उस संबंध का विच्छेद—ये जन्म-मृत्यु तो वैसे ही अनात्मपक्षीय हैं ! आत्मा की मृत्यु तो भेदसत्यता का अवगाहन ही है, उसीसे बचना ज्ञानफल है।)।।६२-३।। जिसमें कृपणता नहीं है, जो कार्पण्य-दोष से उपहत स्वभाव वाला नहीं है, अहं-मम के व्यूह में इतना आग्रही नहीं कि उसे छोड़ने को प्रयासशील न हो, वह जब ब्रह्मचर्य आदि

१. 'प्रतिबोधविदितं मतममृतत्वं हि विन्दते। आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम्।।'४

अवश्यविज्ञेयता

अस्मिन् जन्मनि देवाश्चेज्जानीते पुरुषो हितम्। ब्रह्मचर्यादिसम्पन्नः स्वल्पात् क्लेशात् तदा फलम्।। महदेष समाप्नोति आनन्दात्मानमद्वयम्।।६६
यदवाप्तावयं जीवो भवेदानन्दवारिधिः। मायातत्कार्यदुःखौघफेनबुद्बुदवर्जितः।।६७
नातः परं हि सम्प्रार्थ्यं विद्यते जन्मभाजिनः। नातः परस्तथा लाभः कश्चिदन्योऽत्र विद्यते।।६८
अस्मिन् जन्मनि मूढाप्तविषयासक्तचेतनः। न चेदेनं विजानाति मोहितो देवमायया।।६९
ततः कामादयस्त्वेनं कितवा जितभूमिकाः। दुरक्षदेविनो धूर्ताः कुर्युरस्य दुरात्मनः।
विनष्टिं महतीं यस्माद् दुःखाद् दुःखतमं व्रजेत्।।७०
जीवन्मृतश्च सततं नानादेहग्रहैरिह। म्रियते जायते भूयः कामी दुःखी च सर्वदा।।७१

द्वितीयखण्डान्त्यमन्त्रस्यार्थमाह[1]—अस्मिन्निति चतुर्दशभिः। हे देवाः ! यदि पुरुषः अस्मिन् वर्तमान एव जन्मनि हितम् अनुसन्धाय विद्यासाधनं ब्रह्मचर्यादिकम् अनुतिष्ठति तदा स्वल्पयत्नेन महत् सत्यपदोक्तम् आत्मानन्दरूपं फलं लभत इत्यर्थः।।६६।। अस्य फलस्य महत्त्वं विशदयति—यदवाप्ताविति द्वाभ्याम्। निगदव्याख्यातं द्वयम्।।६७-८।। विपक्षे दोषं द्वितीयपादोक्तं वर्णयति—अस्मिन् जन्मनीति पञ्चभिः। यदि तु मायामोहितत्वाद् मूढसेवितेषु विषयेषु सक्तः सन्नेनं न जानीयात् तदा कामादिरूपाः कितवा वञ्चका धूर्ताः प्रगल्भा अक्षदेविन इन्द्रियरूपपाशचालका जितभूमिका नानारूपग्रहणसमर्थाश्च अस्य पुंसः महतीं विनष्टिं कुर्युः यस्माद् विनष्टिरूपहेतोः पुनः पुनः अतिदुःखं व्रजेत्। इति द्वयोरर्थः।।६९-७०।। विनष्टिमेवाऽभिनयति—जीवन्निति द्वाभ्याम्। कामादिजितो हि निन्दाभाजनत्वात् जीवन्मृतः तथा[2] नानादेहग्रहणैर्जननमरणभाक्, तथा स्वरूपेणैव कामनाया दुःखरूपत्वात् सततं दुःखी भवतीत्यर्थः।।७१।। तथा पारतन्त्र्येण नष्टप्रायत्वं तस्य प्रसिद्धम्

निवृत्तिप्रधान साधनों का पुष्कल अभ्यास कर लेता है तब गुरु के मुखारविंद से श्रवण करने पर उसके एकाग्र हुए निर्मल चित्त में विद्या का उदय हो जाता है। यह तत्त्वविद्या ही वास्तविक वीर्य है, बल है। प्राप्त हुए इस विद्यारूप बल से ही अधिकारी पूर्वोक्त अमरता पा लेता है जिसके बाद मृत्यु का सामना ही नहीं होता क्योंकि वास्तविक मृत्यु है प्रमाद और वह उन्हीं के सामने पड़ती है जो कृपण हैं ! जिसका कार्पण्य हट गया उसके संमुख स्वयं ही मृत्यु नहीं आती।।६४-५।।

हे देवो ! पुरुषार्थी को चाहिये कि जिस जन्म में विवेक जाग्रत् हो जाये उसी जन्म में 'यही मेरे लिये सर्वाधिक हित है' यह निश्चय कर ब्रह्मचर्य आदि विद्यासाधनों के अनुष्ठान में तत्पर हो ही जाये। यदि सीधे ही ब्रह्मचर्य से इस साधना में संलग्न हो जाये तो थोड़े ही क्लेश से महान् फल पा लेगा क्योंकि अद्वय आनंदात्मा की सम्यक् प्राप्ति हो जायेगी।।६६।। उसे पाने पर यह जीव आनंदसागर बन जाता है, वह भी ऐसा समुद्र जिसमें माया व उसके कार्यरूप दुःखसमूहात्मक फेन और बुलबुले भी नहीं होते !।।६७।। जन्मभाक् प्राणी इससे बेहतर किसी फल की प्रार्थना नहीं कर सकता क्योंकि इससे परे कोई लाभ नहीं जिसका आत्मा के संदर्भ में कोई मायने हो।।६८।। देवमाया से मोहित हुआ यदि उन विषयों में अपना चित्त आसक्त रखता है जिन्हें मूर्ख भोगते हैं और उपलब्ध अधिकारिशरीर में इस आत्मवस्तु को नहीं जान पाता तो कामना आदि धूर्त ठग जुआरी इसका महान् विनाश कर डालते हैं। खोटे पासों से जुआ खेलने में कुशल वे कामादि अनंत रूप धरने में समर्थ हैं जिससे वे इसे धोखा देते रहते हैं। आत्मबोध में असंलग्न दुरात्मा का यही महान् विनाश है कि एक से बढ़कर एक दुःख भोगता रहता है। (अध्याय ६ श्लो १४१०-८ तक इस जुए के रूपक का विस्तार आ चुका है।)।६९-७०।।

---

१. 'इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः। भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति।।'५
२. जीवनदशायामपि स्त्रीपुत्रादिष्वभिमानपौष्कल्यात् स्वल्पमपि कष्टं महन्मन्यमानश्च भृशं म्रियत इत्यर्थः। स्त्र्यादिदेहा वा ग्रहास्तैर्हेतुभिरस्य मरणम्। भूयो जन्मनि हेतुरुक्तः कामीति।

आशापाशशतैर्बद्धः क्रोधलोभवशं गतः। उच्चावचेषु देहेषु प्रतिक्षणविनाशिषु।
व्रजन्नवाप्तभोगः सन् कालकर्मवशः सदा।।७२
नष्टस्तस्मादभीतेन पुरुषेणाऽत्र सर्वदा। अस्मिन्नेव शरीरेऽसावात्मा ज्ञेयः सुरोत्तमाः!।।७३
अस्मिन्नेव वपुष्येते स्थित्वा ब्राह्मणसत्तमाः। ब्रह्मचर्यादिसम्पन्नाः परं धैर्यमुपागताः।।७४
आनन्दात्मानमद्वैतं सर्वभूतनिवासिनम्। नभोवत् सर्वगं देवं स्वप्रकाशं च निर्गुणम्।।७५
विज्ञायात्मतया नित्यं जीविनोऽप्यथ वा मृताः। भवन्त्यमृतरूपास्ते पुनर्जन्मविवर्जिताः।।७६
'एक एवात्र भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्।।'७७
एवं विज्ञाय मेधावी सर्वभूतस्थितं परम्। सर्वांल्लोकांस्तथा कामानाप्नोति सततं सुराः!।।७८
वैरिणां विजयश्चाऽस्य प्रभावान्नान्तरीयकः। यथा मृष्टान्नभुक्तेश्च पुष्टिः स्यान्नान्तरीयकी।।७९

इत्याह—आशेति। कालादिवशः सदा नष्टः नष्टप्रायो भवतीत्यर्थः।।७२।। नष्ट इति। प्रथमपदं पूर्वान्वयि। फलितोक्तिः—तस्माद् इत्यादिना। अभीतत्वं[1] धैर्यशालित्वम्। स्फुटमन्यत्।।७३।।

न च सफलात्मज्ञानम् अत्र देहे दुर्लभमेवेति वाच्यं, विद्वदनुभवसिद्धत्वाद् इत्याह—अस्मिन्नेवेति। एते[2] प्रसिद्धा उत्तमाधिकारिणोऽस्मिन्नेव देहे स्थित्वा सर्वेभ्यो भूतपदोक्तशरीरेभ्य उपाधिभ्यो विवेचितम् आत्मानं विज्ञाय जीवनावस्थायां मरणावस्थायां वा अमृतभावं बहवो गताः। इति त्रयाणामर्थः।।७४-६।। तस्मादिदानीमपि 'एक एवे'-त्यादिश्रुत्युक्तविधया ऐकात्म्यं विज्ञाय स्थितस्य सर्वलोककामाप्तिरूपफललाभे न संशय इत्याह—एक एवेति द्वाभ्याम्। तत्र प्रथमार्थो ब्रह्मबिन्दूपनिषद्व्याख्याने दर्शित एकादशे (श्लो. ६७७-९)। सुराः ! इति सम्बोधनम्।।७७-८।। अन्तरङ्गबहिरङ्गवैरिविजयरूपं फलं तु ब्रह्मज्ञानस्य आनुषङ्गिकमेवेत्याह—वैरिणामिति। नान्तरीयक आनुषङ्गिकः, तत्त्वं च—इतरसाधकयत्नसाध्यत्वम्। मृष्टं स्वादु।।७९।।

अज्ञानी की सज्जन निंदा करते हैं और इज़्ज़तदार आदमी को शिष्टों द्वारा कृत अपनी निंदा सुननी पड़े तो मौत से भी बढ़कर कष्ट होता है मानो साँसें लेते हुए भी वह मर जाता है ! अज्ञ अनंत शरीर ग्रहण करते रहने से मरता-पैदा होता रहता है। कामुक रहकर मरता है तो पुनः अधिक कामुक होकर ही उत्पन्न होता है। यों सदा दुःखी बना रहता है।।७१।। वास्तविकता से बेखबर जीव सैकड़ों आशारूप फंदों से बँधा रहता है, क्रोध और लोभ के वशीभूत रहता है, हर क्षण नष्ट होने वाले अच्छे-बुरे शरीरों में भटकते हुए कर्मफल भोगता है। यों काल और कर्म के पराधीन वह हमेशा मानो नष्ट ही होता रहता है।।७२।। इसलिये पुरुषार्थी को सदा धैर्य रखकर उपलब्ध अधिकारिशरीर में ही आत्मा का ज्ञान पा लेना ही उचित है।।७३।। शास्त्रप्रसिद्ध (एवं हमें अपने गुरुजनों के रूप में प्रत्यक्ष) इन श्रेष्ठ ब्राह्मणों ने इसी शरीर में रहकर ब्रह्मचर्य आदि का अभ्यास किया और परम धीरता से आत्मविज्ञान पा लिया जिससे यह कोई असंभव उपलब्धि नहीं कि आप जैसे बलिष्ठ देव इसके लिये यत्न न करें। सब भूतों में निवास करने वाला, आनंद, अद्वैत, स्वप्रभ, गुणवर्जित आत्मदेव आकाश-सा सर्वव्यापक है जिसे ब्राह्मणों ने जाना है। उसे हमेशा अपना आत्मा समझ लेने पर साधक अमृत हो जाता है, उसका फिर मरण हो नहीं सकता। दृश्य शरीर में साँस चले या न चले, उस सिद्ध की अमररूपता में अंतर नहीं आता।।७४-६।। संसार में हर भूत में व्यष्टिरूप से स्थित सत्य आत्मा एक ही है। जैसे आकाशस्थ चंद्र एकरूप दीखता है पर विभिन्न पात्रों में पड़े जलों में प्रतिबिम्बित होकर बहुत तरह का

१. एतेन सकला दैवीसम्पदुपलक्ष्या।
२. बृहस्पतिप्रभृतयो देवसभामलंकुर्वाणाः।।

देवैः फललाभः

एवं शक्रमुखाच्छ्रुत्वा[1] देवा ब्रह्म सनातनम्। सर्वान् लोकांस्तथा कामान् वैरिणां विजयं तथा।।८०
अवाप्य स्वर्गसंस्थाना दुःखलेशविवर्जिताः। आनन्दात्मस्वरूपास्ते वर्तन्ते स्माऽपि नाकगाः।।८१
तेषां ब्रह्मात्मरूपाणां सान्निध्यादसुराः सदा। क्षयं जग्मुर्यथा वह्नेः सान्निध्याच्छलभा इमे।।८२
अयःपिण्डो यथा तप्तः शुष्कमार्द्रं च निर्दहेत्। एवं ब्रह्माग्निसन्दीप्ता अदहंस्तेऽसुरान् बहून्।।८३
अयःपिण्डो यथा वह्निसामर्थ्याद् दाहको भवेत्। ब्रह्मसामर्थ्यतो देवा देहुस्तानसुरानपि।।८४
सामुद्रलक्षणबलाद्यथा वृद्धिर्निधेर्भवेत्। एवं ब्रह्मबलात्तेषां सुराणां विजयोऽभवत्।।८५

तृतीयखण्डस्य ब्रह्मविद्यायाः शमादिलभ्यत्वं, तद्वत्सु ब्रह्मणः पक्षपातं च दर्शयतोऽर्थमुपबृंहयति—एवं शक्रेत्यादिना, 'एवमुक्ताऽथ सा शक्रम्' (श्लो १६४) इत्यतः पूर्वग्रन्थेन। एवम् इन्द्रमुखात् श्रुतया विद्यया ब्राह्मी भूता देवाः स्वर्गवासिनो वैरिविजयान्तं तत्फलं प्राप्य स्वर्गभोगेषु स्थिता अपि ब्रह्मानुसन्धानपरायणाः समभवन्। इति द्वयोरर्थः।।८०-१।।२ [2]तेषामिति। तेषां देवानाम् आत्मानं ब्रह्म पश्यतां सान्निध्याद् अग्निपतङ्गन्यायेन असुराणां क्षयोऽभवत्।।८२।।

तत्र च असुरक्षयबीजं ब्रह्मैवाऽभवद् इति सदृष्टान्तं स्फुटयति—अयःपिण्ड इति त्रिभिः। ते देवा अयःस्थानीयाः परब्रह्मरूपेण अग्निना देदीप्यमाना असुरानदहन् दग्धवन्त इत्यर्थः।।८३।। यथा च दृष्टान्ते दाहशक्तिरग्नेरेव तथाऽसुरक्षयशक्तिर्ब्रह्मण एवेत्याह—अयःपिण्डो यथा वह्नीति। देहुः भस्मी चक्रुः।।८४।। सामुद्रेति। यथा च सामुद्रिकोक्तसल्लक्षणान्येव धनसम्पत्तेः प्रयोजकानि तत्र च स्वयत्नसाध्यताऽभिमानो मूढानां, तथा ब्रह्मैव देवानां विजयस्य प्रयोजकमभवद् इत्यर्थः।।८५।। अत्र ब्रह्मणो वैषम्यदोषं दृष्टान्तैः परिहरति[3]—यथा

दीखता है वैसे आत्मा भी श्रौत विचार की दृष्टि से एकस्वरूप समझ आता है पर अविद्यादशा में दीखता बहुत तरह का है।।७७।। इस तथ्य को दिमाग में रखकर मेधावी को चाहिये सब भूतों में मौजूद परमात्मा को पहचाने। इसीसे वह सब लोकों पर विजयी हो जायेगा तथा हमेशा उसकी इच्छाएँ पूरी होती रहेंगी। ब्रह्मज्ञान का यह तो अनिवार्य प्रभाव है कि आत्मा के वैरियों पर विजय सिद्ध हो जाती है। जैसे स्वादु मिठाई खाने से शरीर में पुष्टि आती ही है वैसे तत्त्वविद्या पाने पर शत्रुओं को हराना स्वाभाविक है। (हमारे वैरी कामादि हैं यह गीता ३.३७ आदि में स्पष्ट है।)।।७८-९।।

(श्लोक २२ से ७९ तक जैसा वर्णन किया गया) वैसा इन्द्र के मुख से सनातन ब्रह्म को सुनकर देवताओं ने सब लोक पा लिये, सारी कामनाएँ पूरी कर लीं और दुश्मनों को हरा दिया। स्वर्ग में रहते हुए उन्हें लेशमात्र भी दुःख नहीं रह गया क्योंकि वे आनंदात्मा ही हो चुके थे भले ही प्रारब्धभोगपर्यन्त देवशरीर में प्रतीत हो रहे थे।।८०-१।। वह्नि-सन्निधि से जैसे ये शलभ क्षीण हो जाते हैं वैसे ब्रह्म को आत्मरूप जानने वाले उन देवताओं की संनिधिमात्र से असुर सदा के लिये क्षीण हो गये।।८२।।

यह विजय कोई देवताओं की उपाधि की विशेषता नहीं वरन् ब्रह्म का ही प्रभाव है। वह्नि सामर्थ्य से ही जैसे तपा लोहपिण्ड सूखे-गीले को जलाता है वैसे ब्रह्मरूप अग्नि से संदीप्त हुए उन देवों ने असुर जला डाले यद्यपि थे असुर बहुतेरे। (वस्तुतस्तु बहुतेरे होने से ही असुर जले, देवता तो ब्रह्मग्नि से तपकर एकरूप हो चुके थे !)।।८३।। लोहपिण्ड को जलाने वाला समझा जाता है जबकि जलाने की सामर्थ्य है वह्नि की ही, ऐसे ही ब्रह्मसामर्थ्य से ही देवताओं ने उन असुरों को भी जला डाला।।८४।। धन-निधि आदि संपत्ति का वर्धन होता है जिसमें प्रयोजक सामुद्रिक-शास्त्रोक्त अच्छे

---

१. श्रुत्वाऽऽनन्दात्मस्वरूपा वर्तन्त इति श्रवणमात्राज्ज्ञानलाभ उच्यते, अधिकारलाभादिनिदिध्यासनान्तसाधनकलापस्त्वर्थसिद्धः।
२. 'ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये।'
३. 'वैषम्यनैर्घृण्ये न, सापेक्षत्वात्, तथा हि दर्शयति' इति सूत्रम् (२.१.३४)। 'इक्षौ रसो विषमुषाणफले च सार्द्धं यद् वर्धते किमपराध्यति तत्र वृष्टिः' इति कवयः। उषाणफलं मरीचम्।

यथा सर्वगतोऽप्येष भगवान् भास्करः सदा। अभिमानं विशेषेण कुरुते सूर्यकान्तके।।८६

एवं सर्वगतं ब्रह्म देवजातौ विशेषतः। अकरोदभिमानं तं देवास्तेजस्विनस्ततः।।८७

सूत्रधारो यथा सूत्रैः पुत्तिकाश्चालयन् भृशम्। जयं ददाति कासांचिद् एवं ब्रह्माऽसुरद्रुहाम्।।८८

बालकोऽत्र यथा क्रीडन् केषुचित्त्वभिमानकृत्। एवं ब्रह्मादिसंसारे देवेष्वेवाऽभिमानकृत्।।८९

महिम्नो ब्रह्मणस्तस्य देवा दैत्याननेकशः। जितवन्तोऽत्र संग्रामे बलवीर्यादिशालिनः।।९०

सर्वगतोऽपीति। यथा सर्वत्र समतेजोवर्षुकोऽपि आदित्यः सूर्यकान्ते नैर्मल्यविशेषशालिनि विशेषतः प्रतिबिम्बते तथा ब्रह्म अपि सत्त्वप्रधानेषु देवेषु अभिमानं विशेषसम्बन्धं कृतवत् ततो हेतोः देवाः तेजोतिशयवन्तः। इति द्वयोरर्थः।।८६-७।।

अथ वा जगत्सूत्रधारस्य लीलायां[1] केषुचिज्जयस्य अवश्यं सम्पाद्यत्वाद् अशोकवनिकान्यायेन[2] देवेष्वेव विजयः सम्पाद्यत इत्याह—सूत्रेति। असुरद्रुहां देवानाम्। सूत्रधारः पुत्तिकानर्तकः।।८८।।[3] अथ वा बाललीलावद् ईशस्वभावस्य न कश्चित् पर्यनुयोग इत्याह—बालक इति। केषुचित् क्रीडनकेषु अभिमानस्य 'एतदुत्कर्षे ममैवोत्कर्ष' इति बुद्धिरूपस्य कर्ता।।८९।। महिम्न इति। तस्य वर्णितविधया देवानुग्राहकस्य ब्रह्मणः सम्बन्धी यो महिमा विभूतिः ततो हेतोः एव देवा दैत्यान् जितवन्तः।।९०।।

लक्षण ही हैं, 'हम संपत्ति बढ़ाने में स्वतंत्र हैं' यह अभिमान तो मूर्खों का ही होता है; उन देवताओं ने जो सर्वत्र विजय पायी उसमें भी बल ब्रह्म का ही था, (देवताओं का यह मान बैठना कि उसमें वे स्वतंत्र थे उनकी मूढता ही थी)।।८५।। यह प्रश्न उचित नहीं कि सर्वसम ब्रह्म में यह विषमता कैसे कि असुरों की हार और देवों की जीत करा दी ? क्योंकि जैसे ये भगवान् दिवाकर सदा सर्वत्र एक-सा तेज फैलाते हैं पर जिसमें विशेष निर्मलता है ऐसे सूर्यकान्त में सूर्य भी खास ही अभिमान करते हैं अर्थात् विशेषतः प्रतिबिम्बित होते हैं वैसे ही सर्वव्यापक ब्रह्म ने सत्त्वगुण-प्रधान देवगणों में विशेष अभिमान किया था, उनसे खास संबंध स्थापित किया था जिससे देवताओं में तेजस्विता का भी आधिक्य व्यक्त हुआ था। (जैसे सूर्यकान्तरूप उपाधि की खासियत से वह सूर्यप्रभा की दाहकता अभिव्यक्त कर देता है वैसे सात्त्विकतारूप खासियत से देवरूप उपाधियों ने ब्रह्म की विजयशीलता अभिव्यक्त कर दी अतः ब्रह्म में वैषम्य नहीं यह भाव है।)।।८६-७।।

कठपुतली नचाने वाला धागों से पुतलियाँ खूब नचाता है, किसी पुतली को जिताता है व किसी को हराता है; ऐसे ही ब्रह्म असुरविरोधी देवों को जिता देते हैं। (नचाने वाले पर वैषम्य-दोष का आरोप नहीं बनता वैसे ही ब्रह्म पर नहीं बनता क्योंकि वह केवल लीला कर रहा है।)।।८८।। संसार में बालक खेलते हुए किसी खिलौने पर खास अभिमान कर लेता है, 'इसका उत्कर्ष मेरा उत्कर्ष है' यह समझता है और उसी खिलौने को जिताता है जबकि खिलौने सभी उसी बालक के हैं ! इसी प्रकार प्रजापति से घास तक के इस संसार में जो कोई हैं वे परमात्मा के ही खिलौने हैं पर देवताओं में परमात्मा अभिमान कर लेते हैं अतः उन्हें ही जीतने वाले के रूप में प्रदर्शित करते हैं। (नचाने वाले का कोई उद्देश्य हो भी सकता है क्योंकि वह समझदार प्रौढ व्यक्ति है पर ईश्वर का कोई भी उद्देश्य नहीं यह बताने के लिये बच्चे का दृष्टांत है। ब्रह्म केवल अज्ञानरूप माया से सारा सृष्टि-खेल कर रहा है।)।।८९।। सार यही है कि

१. 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्' इति सूत्रम् (२.१.३३)।

२. क्वचित्स्थापनीया सीतेति रावणोऽशोकवने स्थापयामास, न तु तद्वनस्य कस्माच्चिद् वैशिष्ट्यात्।

३. सूत्रधारस्यापि 'किंचित्सूक्ष्मं प्रयोजनमुत्प्रेक्ष्येत' परं ब्रह्मणस्तु न किंचनापि, बालवत्स्वभावेनैव ततः सर्वं सम्पद्यते; 'देवस्यैष स्वभावोऽयमि' त्युक्तेरित्यत आह—अथ वेति।

देवगर्वः

कालेन महता तेऽपि देवा ब्रह्मविदोऽपि च। भोगसंसक्तचेतस्त्वाद् मायया परिमोहिताः।।
ब्रह्मणो विजयं तेषां मेनिरे न बलाधिकाः।।९१
इन्द्रो वायुश्च वह्निश्च तथाऽन्ये नाकसंश्रयाः। अस्माकमेव विजय इति ते निश्चयं गताः।।९२
मानवा आर्त्तिमापन्ना यथा देवप्रसादतः। कृतार्था रजसाऽऽविष्टा विस्मरन्तीह तान् क्षणात्।।९३
पराजिताः पुरा दैत्यैरेवं देवाः सहस्रशः। आर्ता ब्रह्मप्रसादेन जितवन्तोऽसुरान् बहून्।।९४
रजसाऽऽविष्टहृदयाः पश्चाद् विस्मृतिमागताः। विजयस्यात्मनो हेतुं ब्रह्म ते न प्रपेदिरे।।९५
कृतघ्ना इवा दुर्धूतदेविनः कितवा इव। स्वोपकारस्य कर्तारं कृतार्था विस्मृतिं गताः।।९६
अहंमानश्च देवानां तेषामासीदयं महान्। रजोगुणकृतो येन विनाशं पुरुषो व्रजेत्।।९७
वयं शान्तास्तथा दान्ता महाकुलसमुद्भवाः। रूपयौवनसम्पन्ना विद्याविनयसंयुताः।।९८

यथाऽर्जुनस्य गीताशास्त्रविस्मृतिः कालभोग-संसर्गाभ्यां प्रयुक्ता अनुगीतोपदेशेन भगवता परिहृता, तथा देवानामपि स्वविस्मृतिः प्रादुर्भावेणेति दर्शयितुम् उपक्रमते—कालेनेत्यादिना।[1] ते देवा ब्रह्मविदोऽपि कालवशोद्रिक्तरजः-प्रधानमायया जातेन भोगसङ्गेन मोहिताः सन्तस्तेषाम् असुराणां जयो ब्रह्महेतुक इति न मेनिरे विस्मृतवन्त इत्यर्थः।।९१।। इन्द्र इति। इन्द्रवाय्वग्नयः तथाऽन्ये च देवाः प्रत्युत जयं स्वप्रभावजमेव निश्चितवन्त इत्यर्थः।।९२।। अत्र लौकिकं दृष्टान्तमाह—मानवा इति। यथा देवमुन्याद्यनुग्रहेण आर्तिम् उत्तीर्णाः पुरुषाः पुनर्वित्तादिमददूषितचित्तास्तान् देवादीन् विस्मरन्ति इति प्रसिद्धम्।।९३।। दार्ष्टान्तिके योजयति—पराजिता इति। स्पष्टं द्वयम्।।९४-५।। कृतघ्ना इति। कीदृशा देवाः ? कृतघ्नसदृशाः। यतो यथा च्छलप्रधानद्यूतपरायणाः कितवा वञ्चकाः, उपकारस्य कर्तारं विस्मरन्ति इति शेषः; तथैते कृतार्थाः सन्तः परमेश्वरविषयिकां विस्मृतिं गताः इति।।९६।।

अहंमानश्चेति। अयं वक्ष्यमाणरूपोऽभिमानश्च विनाशस्य पातित्यरूपस्य प्रयोजकः तेषाम् अभूद् इति।।९७।। तमभिमानमभिनयति — वयमिति सप्तभिः। स्फुटं द्वयम् ।।९८-९।। अस्मत्त इति। अस्मत्तः

उस ब्रह्म की महिमा से ही देवताओं ने इस प्रसिद्ध संग्राम में बल-वीर्य आदि संपन्न दैत्यों पर कई बार विजय पा ली। (जीवनसंग्राम में आसुरप्रवृत्ति पर यदि कोई विजय पाता है तो वह केवल ईश्वरानुग्रह से ही, उसमें स्वयं कोई अभिमान करे तो मूर्खता है।)।।९०।।

काफी समय बीतने पर वे ब्रह्मवित् बलशाली देवता भी माया से परिमोहित होकर ऐसे बन गये कि उनके चित्त भोगों में पूर्णतः संलग्न हो गये जिससे वे भूल ही गये कि असुरों पर हुई उनकी विजय वस्तुतः ब्रह्म की विजय थी।।९१।। इंद्र, वायु, अग्नि आदि स्वर्गस्थित देवताओं को यही निश्चय हो गया कि 'हमारी ही विजय हुई है' ।।९२।। दुर्दशा-ग्रस्त मानव जब देवताओं की कृपा से उस परिस्थिति से बच निकलते हैं तब यदि रजोगुण बढ़ जाये तो देवताओं को क्षणभर में ही भुला देते हैं। ऐसे ही पहले हज़ारों बार दैत्यों से हराये गये देवता दुःखी थे और ब्रह्म की कृपा से ही उन्होंने बहुतेरे असुरों को जीता था किन्तु बाद में रजोगुण से हृदय भर जाने पर वे यह तथ्य भूल गये, उनकी विजय का हेतु ब्रह्म था यह उन्हें भान नहीं रहा।।९३-५।।

जैसे कृतघ्न या धोखे का जुआ खेलने वाले जुआरी काम निकल जाने पर अपने उपकारक को भुला देते हैं

---

१. 'तस्य ह ब्रह्मणो विजये देवा अमहीयन्त। त ऐक्षन्त—अस्माकमेवायं विजयोऽस्माकमेवाऽयं महिमेति।।'१

कीर्तिमन्तो महाभागा भोग्यैर्नानाविधैर्युताः। लोकत्रयीं पालयामः स्वशक्त्या नाकवासिनः।।९९

अस्मत्तः क इमे दैत्या समर्थाः स्युर्जयेष्विति। कालाञ्जनगिरिप्रख्याः कालान्तकयमोपमाः।।

मायाविनोऽतिसंग्रामाः शौण्डीरप्रतिवर्तिनः।।१००

बलवीर्याधिकाः सर्वे त्रिलोकीग्रासकारिणः। एकैकस्य न को नाम योधयेन्नो विहाय तान्।।१०१

अस्मदपेक्षया गणनायाम् इमे दैत्या के ! न केऽपि। ये 'इति' एवंविधैर्वक्ष्यमाणविशेषणैः समर्थाः स्युः समर्थत्वेन सम्भाविताः। 'इति'-पदपरामृष्टानि दैत्यविशेषणानि आह—कालाञ्जनेत्यादिना। अञ्जनगिरिवत् कालवर्णाः। कालः समयाऽभिमानी देवः, अन्तको मृत्युः, यमः संयमनीपतिः, एतैस्तुल्याः। अतिशयितयुद्धपराः। 'शौण्डीर्यं च पराक्रम' इति हैमकोशात् शौण्डीराः पराक्रमवन्तः तेषामभिमुखगन्तारः। त्रिलोकीग्रसनक्षमाः। येषामेकमपि अस्मान् देवान् विना कोऽपि योधयितुं न शक्तः। इति द्वयोरर्थः।।१००-१।।

ऐसे ही देवताओं ने परब्रह्म परमात्मा को भुला दिया था।।९६।। (यद्यपि ब्रह्मज्ञान के बाद ऐसा विस्मरण नामुमकिन लगता है तथापि पुराणकार समझा रहे हैं कि तत्त्वनिष्ठा की दृढता पर्यन्त यदि केवल 'बुद्ध्या विशुद्धया' (१८.५१) आदि गीतोक्त साधनों में ही परिसीमित न रहे तो 'ज्ञानमात्र' से मोक्ष न हो सकने के कारण साधक खुद को सिद्ध मान बैठकर बहिर्मुखी हो सकता ही है या हो ही जायेगा जिससे उसे जो ज्ञानमात्र हुआ था वह भी निरर्थक रह जायेगा। जैसे चार-छह तिनके आग पकड़ें इतने मात्र से लकड़ी का गट्ठर नहीं जल जाता, उस आग को सावधानी से हवा आदि देकर बढ़ाना पड़ता है तभी वह गट्ठर आदि जला सकती है चाहे चार-छह तिनकों वाली भी है आग ही, वैसे ही ज्ञानमात्र है तो ज्ञान पर अभी अविद्या-बाधक नहीं बन सकता, उसके लिये उसे निष्ठारूप में परिपक्व करना पड़ेगा। यह भाष्यकारादि ने भी अनेक जगह स्पष्ट किया है। अन्य वादियों ने इसी संदर्भ में 'तुष्टियों' का विचार किया है। एवं च देवताओं को ज्ञानमात्र ही हुआ था, निष्ठा के लिये सयत्न वे नहीं हुए अतः वे पुनः भ्रम में पड़ गये। 'पुनः' का मतलब यह नहीं कि एक बार उनके भ्रम का बाध हो चुका था ! वरन् इतना ही मतलब है कि वे एक बार इतना समझ चुके थे कि उपाधि में अभिमान आदि भ्रम है। 'भ्रम है' समझना और भ्रम मिटने में अंतर है। अधिष्ठान जाने बिना भ्रम मिटेगा नहीं पर 'भ्रम है' यह पता चल सकता है। जैसे लम्बा हिसाब हो तो यह जान लेने पर भी कि जोड़ ग़लत है, जब तक क्या ग़लती है यह न मालूम चले तब तक ग़लती दूर नहीं होती वैसे ही संसार भ्रम है इतना पता चल जाये तो भी इससे वह भ्रम दूर नहीं होता। देवताओं को ज्ञानमात्र से संसार की भ्रमरूपता तो पता चली थी पर भ्रम मिटा नहीं था। जो उन्हें आत्मलाभ हुआ था वह भी 'लाभमात्र' ही था स्वायत्त नहीं हुआ था।)

उन देवताओं को रजोगुण-वृद्धि के कारण अत्यधिक अभिमान हो गया था। अभिमान वह अकेला दुर्गुण है जिससे पुरुष का विनाश होता ही है।।९७।। वे देव समझनें लगे थे—हम शम-दम से संपन्न हैं, महान् कुलीन हैं, अतीव सुंदर एवं सदा युवा हैं, विद्या और विनय हम में भरपूर है, हमारी कीर्ति दिग्दिगन्त तक फैली है, हम महान् भाग्यशाली हैं, अनेक तरह के सुखसाधन हमें उपलब्ध हैं, त्रिलोकी का हम स्वर्गवासी ही अपनी सामर्थ्य से पालन करते हैं।।९८-९।। हमारी अपेक्षा ये दैत्य हैं कौन ! इनकी क्या गिनती ! हमें जीत सकने में ये समर्थ नहीं हो सकते। इनका रंग भी मानो काले काजल के पहाड़-सा है और रूप भी काल, मृत्यु, यम जैसा भयानक है (हम जैसा सुंदर, दर्शनीय नहीं)। ये धोखेबाज हैं व ज़्यादा ही युद्ध में परायण रहते हैं। पराक्रमियों में ये प्रधान समझे जाते हैं और हैं भी घमण्डी। त्रिलोकी को निगलने की कोशिश में लगे ये सभी प्रभूत बल-वीर्य-संपन्न हैं। इनमें प्रत्येक ऐसा समर्थ है कि हमें छोड़कर और कोई इनसे लड़ नहीं सकता।।१००-१।। (यह तो सभी देवताओं का मनोभाव था।)

इंद्र सोचता था—मैं इंद्र, राजा हूँ। वज्र मेरे हाथ में रहता है। सौ गाँठों वाले, सौ धारों वाले और तीखी नोक वाले इस अचूक वज्र से मैं अपनी ताकत के बल पर हमेशा ऊँचे तने रहने वाले पहाड़ों का भी चूरा बना सकता हूँ।।१०२।।

अहमिन्द्रो वज्रपाणिः वज्रेण शतपर्वणा। शतधारेण तीक्ष्णेन ह्यमोघेनात्मनो बलात्।।
चूर्णी करोमि सततमुन्नतान् पर्वतानपि।।१०२
अहं वायुर्जगत्सर्वं कुक्षौ निक्षिप्य चात्मनः। ब्रह्माण्डगोलकाद् बाह्ये नयामि तृणतूलवत्।।१०३
अहमग्निर्जगत्सर्वं शुष्कमार्द्रं च मूर्तिमत्। करोमि भस्मसाच्छीघ्रं तूलराशिमिवोन्नतम्।।१०४
एवमन्येऽपि देवास्ते नानाकर्मविधायिनः। सम्प्राप्ताः परमं गर्वं स्वस्वकर्मान्वचिन्तयन्।।१०५

ब्रह्मकृपा

तेषां गर्वं समालोक्य रजोगुणसमुत्थितम्। पापहेतुं च वीर्यस्य कीर्तेरपि विनाशनम्।।
पितृवद् ब्रह्म परमम् इदमत्र व्यचारयत्।।१०६
मत्प्रसादादिमे देवाः सर्वलक्षणसंयुताः। जाता विजयिनस्तद्वद् इदानीं वीर्यसंयुताः।।१०७
विस्मृता अपि मामेते कृतघ्ना इव बालिशाः। स्वोपकारस्य कर्तारं मोहिता मम मायया।।१०८
यन्निमित्तं हि यो गच्छेद् उन्नतिं पुरुषः स चेत्। विस्मरेत्तं ततो गच्छेद् दुःखं जन्मशतायुतम्।।१०९

तत्रेन्द्रस्य विशेषाऽभिमानं कीर्तयति—अहमिन्द्र इति। शतं पर्वाणि ग्रन्थयो धारास्तीक्ष्णमुखानि च यस्य तत् तथा तेन। स्फुटमन्यत्।।१०२।। वाय्वग्न्योरपि तमाह—अहं वायुरिति द्वाभ्याम्। बाह्ये बहिर्देशे।।१०३।। अहमग्निरिति। मूर्तिमद् घनम्।।१०४।। एवमन्येऽपीति। अन्ये च वरुणादयः यतः स्वं स्वं कर्मैव अचिन्तयन्, न ब्रह्म, ततो गर्विताः।।१०५।।

तेषामिति। तेषां देवानां गर्वं नानाऽनर्थप्रयोजकं विज्ञाय पितृवद् हितचिन्तकं परं ब्रह्म कर्तृ इत्थम् आलोचितवत्[1]।।१०६।। ब्रह्मकर्तृकां चिन्तामभिनयति—मत्प्रसादादिति सप्तदशभिः। अहो! एते देवा मदनुग्रहादेव योगक्षेमं प्राप्ता माम् एव उपकारकं विस्मृत्य स्थिताः। इति द्वयोरर्थः।।१०७-८।। अस्य दोषस्य परिहरणाय तत्प्रयुक्तमनर्थजातं चिन्तयति—यन्निमित्तमिति। यस्माद् उन्नतिः उत्कर्षलाभः तस्य उपकर्तुः विस्मरणे कृते जन्मशतायुतावच्छिन्नं दुःखं लभत इत्यर्थः।।१०९।। स्वोपकारस्येति। स्पष्टम्।।११०।। अल्पमपीति। यः केनचित्

वायु सोचता था—मैं वायु हूँ। सारे जगत् को अपनी कोख में रखकर ब्रह्माण्ड-गोलक से बाहर कर सकता हूँ मानों कोई तिनका या रुई का रेशा हो!।।१०३।।

अग्नि समझता था—मैं अग्नि हूँ। सूखा-गीला जो भी रूपवान् जगत् है उसे मैं खाक बना सकता हूँ मानो वह रुई के रेशों की बड़ी ढेरी हो!।।१०४।।

विभिन्न कार्यों में संलग्न वरुणादि अन्य देवता भी अपने-अपने कर्म के ही महत्त्व का चिन्तन करते हुए परम गर्वीले हो गये थे।।१०५।।

परब्रह्म परमात्मा को उनकी मनोदशा तुरंत पता चली तो हितकारी पिता की तरह उन्होंने सोचा—रजोगुण की बढ़ोतरी से इनमें गर्व आ गया है। गर्व पाप का हेतु होता है तथा बल और कीर्ति को नष्ट कर डालता है।।१०६।। मेरे अनुग्रह से ही ये देव सब अच्छे लक्षणों वाले हुए हैं, इनका योग-क्षेम मेरे प्रसाद से ही चलता है। शत्रुओं को हरा कर जो अब ये वीर बने हैं वह मेरी ही कृपा से। फिर भी दुष्ट कृतघ्नों की तरह इन्होंने मुझे भुला दिया! इनका मैंने कौन-सा उपकार नहीं किया पर इन्हें मैं याद ही नहीं रहा! है यह भी मेरी ही माया का चमत्कार कि देव होकर भी, प्रजापति-शिष्य इंद्र से तत्त्व सुनकर भी ये मोहग्रस्त हो गये हैं।।१०७-८।। जो पुरुष जिसके कारण उन्नति पाता है

---

१. 'तद्धैषां विजज्ञौ'।

स्वोपकारस्य कर्तारं मूढो यो नैव मन्यते। मृतः स विट्कृमिर्भूत्वा जायते कल्पकोटिषु।।११०

अल्पमप्युपकारं यो न स्मरेत् केनचित् कृतम्। कृतघ्नः स तु लोकेऽस्मिन् ब्रह्मघ्नादपि पापकृत्।।१११

प्रायश्चित्तं हि विहितं ब्रह्मघ्ने वेदवादिभिः। कृतघ्ने नैव तत् किञ्चिदस्य निष्कृत्यभावतः।।११२

ब्रह्मघ्ने निष्कृतिर्दृष्टा कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः। यतस्ततः कृतघ्नत्वमतिकष्टतमं स्मृतम्।।११३

अपि यः स्वात्मनः कर्म मनसाऽपि प्रशंसति। धिक्कुर्याद्वा परस्याऽपि कदाचिद् गर्वसंयुतः।
आत्मानं च परं चाऽपि स हन्यादविचारयन्।।११४

आत्मनोऽत्र प्रशंसायाम् आत्महत्या प्रकीर्तिता। परस्याऽपि च निन्दायां परहत्या मनीषिभिः।।११५

आत्मानं योऽत्र वै हन्याल्लोके पापतमो मतः। आत्मघ्ने निष्कृतिर्नास्ति कृतघ्न इव शास्त्रगा।।११६

आत्मनो व्यतिरिक्तस्य सर्वस्यैते विनिन्दकाः। विश्वहत्या ततोऽमीषां जायते नित्यमेव हि।।११७

कृतं स्वल्पम् अपि उपकारं न मन्यते स कृतघ्न उच्यते, तस्य ब्रह्मघ्नाद् अपि नीचत्वम् इत्यर्थः।।१११।। तत्र हेतुतया प्रायश्चित्तैः अपरिहार्यत्वं सूचयन् प्रायश्चित्ताऽभावे हेतुं तदुपदेशाऽभावमाह—प्रायश्चित्तमिति। अस्य कृतघ्नत्वस्य निष्कृतेः प्रायश्चित्तस्य अभावादिति।।११२।। फलितमाह—ब्रह्मघ्न इति। कष्टतमम् अतिदुःखारम्भकम्।।११३।।

न केवलमेतेषां कृतघ्नत्वमेव प्रसक्तं किन्तु स्वपरस्तुतिनिन्दाभ्याम् आत्मघात-विश्वघातदोषौ अपि प्रसक्तौ, गर्वेण वैषम्यदर्शनाद् इत्याह—अपि य इति। किं च यः स्वकीयं कर्म मनसाऽपि स्तौति, परकीयं निन्दति च तेन स्वस्य परस्य च हिंसा कृता भवति अविवेकवशाद् इत्यर्थः। एतदुक्तं व्यतिरेकमुखेन गीतासु 'समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्। न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्।।' (१३.२८) इति।।११४।। एतत्स्फुटयति—आत्मनोऽत्रेति। स्पष्टम्।।११५।। आत्मघातस्य कृतघ्नत्वसाम्यमाह—आत्मानमिति। शास्त्रगा शास्त्रविहिता।।११६।। गर्वेण स्वातिरिक्तस्य सर्वस्य अपकर्षबोधनरूपनिन्दायां विश्वघातः स्पष्ट एवेत्याह—आत्मन इति।।११७।।

यदि उसे ही भुला दे तो इस कृतघ्नता-दोष से अनंत जन्मों तक दुःख पाता है।।१०९।। जो मूढ अपने उपकारक का सदा संमान नहीं करता वह मरकर करोड़ों कल्पों तक टट्टी का कीड़ा ही बनता रहता है।।११०।। अन्य द्वारा किये थोड़े-से भी उपकार से जो स्वयं को अधमर्ण नहीं समझता उसी को इस संसार में कृतघ्न जानना चाहिये, वह ब्रह्महत्यारे से भी अधिक पापी है।।१११।। वेदवादियों ने ब्रह्महत्या का तो प्रायश्चित्त बताया है पर कृतघ्नता का कोई प्रायश्चित्त संभव न होने से इस पाप से बचने का कोई उपाय नहीं बताया है।।११२।। ब्रह्महत्यारे के लिये पापनिवारण का उपाय शास्त्र में मिलता है लेकिन कृतघ्न के लिये ऐसा कोई उपाय है ही नहीं इसलिये कृतघ्नता को सर्वाधिक कष्ट समझा जाता है।।११३।।

इतना ही नहीं, ये अपनी प्रशंसा और दूसरों की निंदा करने में तत्पर हो रहे हैं जिससे क्रमशः आत्मघात और विश्वहत्या रूप बड़े पाप मान गये हैं। जो गर्वित प्राणी मन से भी कभी अपने कृत्य की प्रशंसा करता है या अन्य को धिक्कारता है वह प्रथम से स्वयं की व द्वितीय से अन्य की हत्या करता है इसमें कोई संशय नहीं। स्वयं अपनी प्रशंसा करना आत्महत्या कही जाती है। मनीषी बताते हैं कि अन्य व्यक्ति की निंदा करना उसकी हत्या करने के तुल्य है।।११४-५।। आत्महत्यारा संसार में सर्वाधिक पापी माना गया है। जैसे शास्त्र में कृतघ्न के लिये प्रायश्चित्त नहीं वैसे आत्महत्यारे के लिये भी नहीं है।।११६।। अपने अतिरिक्त ये देव सभी की निंदा में तत्पर हो रहे हैं अतः इन्हें रोज़ सारे संसार की हत्या का दोष लग रहा है।।११७।। जो लोग आत्महत्यारे, कृतघ्न और विश्वहत्यारे हैं वे अवश्य माया से मोह में

आत्मघ्नाश्च कृतघ्नाश्च विश्वघ्ना अपि वा नराः। मायया मोहिता जाताः कालपाशवशं गताः।।११८
एते पापरताः सर्वे मया शक्या निपातितुम्। यद्यप्येवं तथाप्येतदुचितं मे न तद् भवेत्।।११६
आरोपितः स्वयं यस्माद् वर्द्धितश्च प्रयत्नतः। छेत्तव्यो न स्वयं वृक्षो विषस्याऽपीह कर्हिचित्।।१२०
न पापं प्रति पापः स्यात् साधुरेव सदा भवेत्। आत्मनैव हतः पापो यः पापं कर्तुमिच्छति।।१२१
एते मम सुता देवाः पालिता लालिता मुहुः। कृता विजयिनस्तद्वत् कथं वध्या मयाऽधुना।।१२२
उपायेन ततोऽमीषां दोषत्रयकरं परम्। अपनेष्याम्यहं गर्वमेभ्यः स्वस्ति भवेत्ततः।।१२३

नन्वेवंविधानर्थरूपेषु कर्मसु जनाः किमिति प्रवर्तन्त इति चेत् ? न, अविद्यादिदोषाणां स्वभावस्य[1] अपर्यनुयोज्यत्वाद् इत्याह—आत्मघ्ना इति। मायामोहितानां कालपरवशानां च लोकानां क्षुद्रनिमित्तेन अपि आत्मघ्नत्वादिदोषत्रयाङ्गीकारो न चित्रमिति भावः।।११८।।

एतेषां दण्डेन शोधनं तु न युक्तमित्याह—एत इति। एते देवा यद्यप्येवमू असुरवद् निपातितुं दण्डयितुं शक्याः तथापि एतद् एषां निपातनं न योग्यम् इत्यर्थः।।११६।। तत्र हेतुतया 'विषवृक्षोऽपि'[2] इत्यादिन्याय-विरोधमाह—आरोपित इति। यस्माद् विषस्य वृक्षोऽपि स्वयमारोपितो वर्द्धितश्च स्वयं छेदनयोग्यो न भवति किमुत सज्जातीयाः! इत्यर्थः।।१२०।। किं च क्रूरकर्मणा परनियमनं साधूनां न युक्तं, स्वभावत्यागपिष्टपेषणयोः प्रसङ्गाद् इत्याह—न पापमिति। पापाचरणवन्तं दण्डयितुं स्वयं पापाचरणवानू न स्यात्, साधुत्वभङ्गप्रसङ्गात्। पापः तु स्वयमेव हतः, पापचिकीर्षायाः सावधानतालक्षणजीवनवत्ययोगादित्यर्थः।।१२१।। एतेषां वधस्तु बिडालीकर्मवत्[3] पापरूपएवेत्याह—एत इति। एते देवा मम सत्त्वोपाधिकस्य सुताः पुत्राः।।१२२।। तस्मात्केनचिदुपायेनैवैषां गर्वोऽपसार्यो यो दोषत्रयस्य आत्मघ्नत्व-कृतघ्नत्व-विश्वघ्नत्वरूपस्य प्रयोजक इत्याह—उपायेनेति। ततो गर्वपरिहाराद् एषां भद्रमस्त्विति।।१२३।।

डाले गये हैं अतः काल के फंदे में फँसे हैं। (अर्थात् यह पापचिह्न है कि देवताओं को तत्त्वविद्या सुनकर भी तत्त्वावगम नहीं हुआ है। पुण्यों से भी अधिक पवित्र आत्मज्ञान और ऐसे घृणित पापों का साथ संभव नहीं।)।।११८।। इन सब पापसंलग्नों को मैं दण्डित कर तो सकता हूँ पर वैसा करना मेरे लिये उचित नहीं होगा। खुद बोया और कोशिश कर पोसा गया वृक्ष यदि जहर का भी हो तो उसे खुद कभी नहीं काटना चाहिये ऐसी संसार में परिपाटी है। जब जहरीले पौधे तक के लिये यह बात है तब अच्छी जाति वाले देवों के लिये क्या कहना !।।११६-२०।।

पापी के विरोध में पाप करना सदा अनुचित है, सज्जन को हमेशा सत्-चेष्टा ही करनी चाहिये। जो पाप करने की इच्छा भी कर ले वह पापी तो स्वयं अपने द्वारा ही मानो मारा गया ! (पाप के विरोध में ही सही पर यदि सज्जन पाप करने लगता है तो वह पापकी ही जीत हुई, सज्जनता की हत्या हुई। जीवित रहने का मतलब है सावधान रहना, ग़लती से बचते रहना। जो यों सावधानी से जीता है वह पाप करने का सङ्कल्प ही नहीं करेगा अतः उसका विरोधी पापी अपने ही पाप के बोझ से दबकर नष्ट हो जायेगा।)।।१२१।। ये देवता मेरे ही पुत्र हैं, इनका मैंने लगातार लालन-पालन किया है, इन्हें बारंबार विजयी बनाया है; अब ये मेरे द्वारा मार डालने योग्य कैसे हो सकते हैं !।।१२२।। इसलिये किसी उपाय से इनका गर्व मिटाना चाहिये। आत्महत्या, कृतघ्नता और विश्वहत्या—इन तीन बड़े दोषों में प्रवृत्त करने वाला गर्व ही है। गर्व मिटने से ही इनका कल्याण हो जायेगा। (हितैषी की चिंतन-प्रणाली यहाँ स्पष्ट कर दी। उपेक्षा या दोषवृद्धि होने देना हितैषिता नहीं है वरन् दोष-निदान कर उसकी चिकित्सा करना हितैषिता है।)।।१२३।।

१. स्वभावत्वाद् इत्यर्थः। अथवा दोषस्वभावो जनानामनर्थकर्मसु प्रवर्तनमिति।
२. विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्—इति (कुमार. २.५५) कविभिर्दृष्टो न्यायः।
३. स्वसुतभक्षणं बिडालीकर्म।

यक्षः

एवं संचिन्त्य तत्तेषां देवानां मांसनेत्रयोः। प्रत्यक्षमभवत् सर्वं पूज्यमद्भुतरूपधृक्।।१२४

सहस्रमस्तकं देवं सहस्रेन्द्रियसंयुतम्। सर्वजीवाननं सर्वभौतिकं सर्वसंयुतम्।।१२५

सर्वायुधधरं सर्वं सर्वमाल्याम्बरादिकम्। स्त्रियः पुंसश्च चिह्नेन संयुतं च नपुंसकम्।।१२६

देवव्यामोहः

सभागता महात्मानो ददृशुस्तेऽतिधीधनाः। किमिदं किमिदं चेति समूचुश्च परस्परम्।।१२७

आकारैरिङ्गितैर्मत्या चेष्टया भाषणेन च। नेत्रवक्त्रविकारेण ये जानन्ति मनोऽपि हि।
तेऽपि तद्वपुरन्वीक्ष्य निश्चयं न प्रपेदिरे।।१२८

विस्मयाविष्टमनस उत्फुल्लनयनोत्पलाः। रोमाञ्चकञ्चुका देवाः किं किमित्येव चोचिरे।।१२९

सभाक्षोभो महानासीद् देवानां तस्य दर्शनात्। अदृष्टपूर्वरूपस्य चतुर्विधशरीरिणः।।१३०

एवमालोच्य[1] तद् ब्रह्म देवानां नेत्रगोचरीभूतमभूत्। कीदृशम् ? पूज्यं—यक्षपदोक्तपूज्यताकम्, अद्भुतरूपं च। इत्याह—एवमिति। मांसमयनेत्रयोः इति प्रत्येकाभिप्रायेण द्विवचनम्। सर्वं सर्वरूपम्।।१२४।। रूपाद्भुतत्वं विशदयति—सहस्रेति द्वाभ्याम्। सहस्रशब्दोऽसंख्यपरः। सर्वजातीयजीवानाम् आननैः विशिष्टम्; सर्वभौतिका भूतविकारा यत्र तत्तथा; स्त्रीपुंनपुंसकानां चिह्नधरम्। स्पष्टमन्यद् द्वयोः।।१२५-६।।

तद् दृष्ट्वा देवानां विस्मयं[2] वर्णयति—सभेति। समूचुः उक्तवन्तः।।१२७।। आकारैरिति। ये देवा आकाराद्यन्यतममात्रदर्शनेन परकीयमनोवृत्तं जानन्ति स्म तेऽपि व्यामोहं गताः। तत्र इङ्गितम् अभिप्रायसूचिकावयवक्रिया। चेष्टा अवयवविक्रिया। विकारोऽन्यथाभावः। इत्यपौनरुक्त्यम्।।१२८।। विस्मयाविष्टेति। स्पष्टम्।।१२९।। सभेति। पूर्वमननुभूतरूपशालिनो जरायुजादिचतुर्विधशरीरलक्षणैः विशिष्टस्य च तस्य देवस्य दर्शनाद् देवानां सदसि महान् क्षोभोऽभवदिति।।१३०।। समीपमिति। साध्वसं भयं, तेनाविष्टं व्याप्तं हृदयं येषान्ते तथा; अनिर्ज्ञातं विस्मृतम्

यह निश्चय कर सर्वरूप ब्रह्म ने पूज्य और आश्चर्यकारी यक्षरूप धारण किया तथा देवता उन्हें अपने-अपने मांसमय नेत्रों से देख सकें ऐसी जगह प्रकट हो गये, देवताओं को वह रूप प्रत्यक्ष करा दिया।।१२४।। वह द्युतिमान् रूप हज़ारों मस्तकों वाला, हज़ारों इंद्रियों वाला, सब तरह के जीवों जैसे मुखों वाला, सब महाभूतों के विकारों वाला (अर्थात् हर तरह के गंध रसादि उसमें उपलब्ध थे), सब तरह के अवयवों से संपन्न, सारे आयुध धारण किये हुए, सब माला वस्त्र आदि से सजा तथा स्त्रियों के, पुरुषों के व नपुंसकों के चिह्नों वाला था।।१२५-६।। (भाष्य में यक्ष का पूज्य, महान् और अत्यन्त अद्भुत रूप कहा है जिसे पुराण ने स्पष्ट किया है।)

अत्यंत समझदार उदारमना देवों ने उस यक्ष को देखा और सभा में आपस में विचार किया कि 'यह क्या है? कौन है ?'। (यक्ष देखकर उपेक्षा, भय आदि की जगह जिज्ञासा होना समझदारी है, आपस में विचार करना उदारमनस्कता है।)।।१२७।। जो देवता आकृति, इशारे, क्रियाकलाप, बोली, आँख-मुख की हलचल, आदि से अपनी बुद्धि द्वारा अन्यों के मनोभाव सही-सही समझने में सक्षम हैं वे भी उस यक्ष-शरीर को देखकर चकरा गये, निश्चय नहीं कर पाये कि वह क्या है।।१२८।।

जिनके मनों में आश्चर्य भरा था, जिनके नयनकमल फट-से रहे थे, जिनके शरीर पर रोमांच का मानो कंचुक

१. 'तेभ्यो ह प्रदुर्बभूव'।
२. 'तन्न व्यजानत किमिदं यक्षमिति।।'२

समीपं तस्य ते गन्तुं समर्था नाऽभवन् सुराः। साध्वसाविष्टहृदया अनिर्ज्ञातात्मरूपकाः।।१३१

अग्निवायुयक्षसंवादः

अग्निमूचुस्ततः सर्वे देवानामवमं सुराः। मुखभूतं च सर्वेषां तेजसां राशिमूर्जितम्।।१३२

जातवेद इमं यक्षं विजानीहि किमात्मकम्। प्रतिकूलं सुराणां किमनुकूलमथाऽपि च।।१३३

एवमुक्तो गतो वह्निः तद् यक्षमविशङ्कितः। तेनोक्तः कस्त्वम् इत्याह तद् यक्षमविशङ्कितः।
जातवेदा इति ख्यातो ह्यहमग्निःस्वरूपतः।।१३४

एवमुक्ते पुनः प्राह तद् यक्षं तं विभावसुम्। त्वयि तस्मिन् हि किं वीर्यमत्राग्नौ जातवेदसि।।१३५

एवमुक्तः पुनर्वह्निस्तद्यक्षमवदद् वचः। मूर्तं विश्वमिदं सर्वं दहामि क्षणतो ह्यहम्।।१३६

आत्मनो रूपं प्रभावो यैस्ते तथाविधाश्च देवाः तद् उपगन्तुं न चक्षमिरे।।१३१।।

अग्निमिति।[1] ततः तन्निर्णयाय देवा अग्निम् आज्ञापितवन्तः। तत्र हेतुगर्भाणि विशेषणानि—देवानामवमं कनिष्ठम्, तथा च शतपथश्रुतिः 'अग्निरवमो देवतानां विष्णुः परमो देवते' ति; मुखभूतं प्रथमपूज्यं च, एतद् बृहदारण्यके तृतीयाध्याये स्पष्टम्।।१३२।। कथमूचुरित्याकांक्षायामाह—जातेति। हे जातवेदः ! त्वमेतत्परीक्षस्व किं देवानाम् अनुकूलं प्रतिकूलं वेति।।१३३।।

एवमुक्तो गत इति[2]। एवं देवैः प्रेरितो वह्निः निःशङ्कं तस्य यक्षस्य समीपं गतः। अथ तेन यक्षेण 'कस्त्वम्' इति एवं पृष्टः संस्तद् यक्षं प्रति इति उक्तवान्। 'इति' किम् ? जातवेदा इति नाम्ना—जातं वेदो धनं यस्माद् इति व्युत्पत्त्या धनदातृत्वाऽभिधायकेन, 'जाते जाते विद्यते' इति व्युत्पत्त्या व्यापकत्वाऽभिधायकेन वा—प्रसिद्धोऽस्मि। दृश्यमानस्वरूपेण तु अग्निः, देवानामग्रस्य हविर्भागदौत्यादिरूपस्य नेताऽस्मीत्यर्थः।।१३४।। [3]एवमुक्ते पुनरिति। इत्थमग्निना उक्ते सति तद् यक्षं—कर्तृ—अग्निं प्रतीदं प्राह। 'इदं' किम् ? त्वयि वर्णितनामके किं बलमिति ?।।१३५।। एवं पृष्टोऽग्निः तस्मै यक्षाय स्वस्य सर्वमूर्तद्रव्यदाहशक्तिं न्यवेदयदित्याह—एवमुक्त इति।।१३६।।

था वे एक दूसरे से यही कह रहे थे 'क्या है ? क्या है ?'।।१२९।। जिस रूप को उन्होंने पहले कभी देखा नहीं था, चारों तरह के प्राणियों के रूपों के उस संमिलित संस्करण को देख देवसभा में बहुत हलचल हो गयी।।१३०।। वे देव उस यक्ष के निकट जाने की हिम्मत नहीं जुटा पा रहे थे क्योंकि उससे डर रहे थे और अपनी सामर्थ्य सही-सही आँक नहीं पा रहे थे।।१३१।।

तब सब देवताओं ने अपने में सबसे कनिष्ठ अग्नि को यक्ष की जानकरी पाने के लिये नियुक्त किया। देवों में अग्नि प्रथमपूज्य है तथा सब तेज़ों के विकास का पुंजीभूत रूप है।।१३२।। उन्होंने अग्नि से कहा 'हे जातवेद ! (जो कुछ उत्पन्न है उसे जानने वाले !) इस यक्ष के बारे में पता लगाओ कि इसका स्वरूप क्या है, यह हमारे अनुकूल है या हमसे विपरीत'।।१३३।। इस निर्देश का पालन करते हुए अग्नि निःशंक हो उस यक्ष के पास गया (पर उसके सामने अभिभूत हो गया, उससे कुछ पूछ ही नहीं सका)। यक्ष ने ही पूछा 'तुम कौन हो ?' सोचे-समझे बिना अग्नि बोला 'मेरा स्वरूप आग है, प्रसिद्धि मेरी जातवेदा नाम से है।।'१३४।। यक्ष ने फिर पूछा 'तुममें बल क्या है ?' अग्नि ने कहा 'इस सारे मूर्त विश्व को मैं क्षणभर में जला सकता हूँ।।'१३५-३६।।

---

१. 'तेऽग्निमब्रुवन्—जातवेद ! एतद् विजानीहि किमेतद् यक्षम्—इति। तथेति।।'३
२. 'तदभ्यद्रवत्। तमभ्यवदत्—कोऽसीति। अग्निर्वा अहमस्मीत्यब्रवीज्जातवेदा वा अहमस्मीति।।'४।।
३. 'तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यमिति। अपीदं सर्वं दहेयं यदिदं पृथिव्यामिति।।'५।।

एवमुक्तेऽथ तद् यक्षं शुष्कमेकं तृणं पुरः। निदधौ निर्दहेत्येवम् आह तं च स्मिताननम्।।१३७
इत्युक्ते सर्ववेगेन ह्येतद् निर्दग्धुमुद्यतः। वह्निः शशाक तद् दग्धुं नैव सर्वात्मनाऽपि च।।१३८
अदग्ध्वा तत् तृणं वह्निर्गर्वलेशविवर्जितः। देवान् समागतः प्राह नाहं शक्तोऽत्र वेदितुम्।।१३९
देवानामनुकूलं वा प्रतिकूलमथाऽपि च। एतद् यक्षमहो देवा ! अन्यो गच्छतु कश्चन।।
ज्ञातुं शक्तोऽत्र यो येन मम वीर्यं विनाशितम्।।१४०
इत्युक्ते वायुमाहुस्ते पूर्वमग्निं यथाऽवदन्। अग्निवद् गतवान् वायुः पृष्टः सोऽपि तथाऽमुना।।
मातरिश्वाऽभिधो वायुरहमस्मीत्यभाषत।।१४१
तस्मिंस्त्वयीह किं वीर्यं वायाविति समीरिते। आह सोऽपि ततो ब्रह्म स्ववीर्यमविशङ्कितः।।१४२
विश्वं नयामि सकलं बाह्यं ब्रह्माण्डगोलकात्। प्रक्षिप्यात्मनि बालोऽयं नयेद् यद्वत् तृणं मुखात्।।१४३
इत्युक्ते ब्रह्म तस्याऽग्रे वह्नेरिव दधौ तृणम्। नयेति सर्ववेगेन नेतुं सोऽपि न चाऽशकत्।।१४४
वह्निवद् भग्नमानः सन् देवानेव समागतः। ऊचे तद्वच्च नाहं तज्ज्ञातुं शक्तोऽस्मि भो सुराः।।१४५

[1]एवमुक्तेऽथेति। एवम् अग्निना उक्ते सति तद्यक्षं—कर्तृ—स्मिताननं सदग्नेः पुरः अग्रे एकं शुष्कं तृणं निधाय 'त्वमेतद् दह' भस्मी कुरु इत्युक्तवद् इत्यर्थः।।१३७।। इत्युक्ते सर्वेति। एवं यक्षेणोक्ते सति सर्वेण वेगेन सर्वेण यत्नेन च तत् पुरो निहितं तृणं दग्धुं वह्निः शक्तो न अभवत्। 'आत्मा यत्नो धृतिः' इत्यमरः।।१३८।। अदग्ध्वेति। तस्य तृणस्य अदाहेन हतगर्वो वह्निः देवान् प्राप्य इदमाह—येन मम बलं नाशितं, अहो ! इत्याश्चर्ये, तद् यक्षं देवानुकूलत्वादिना परीक्षितुं नाऽहं शक्तोऽस्मि, तदर्थमन्यं कञ्चित् प्रेरयन्तु भवन्तः—इति द्वयोरर्थः।।१३९-४०।।

[2]इत्युक्त इति। इत्थमग्निना उक्ते सति ते देवा वायुं प्रेषितवन्तः। स च गतः अमुना यक्षेण अग्निवत् पृष्टः सन्नाह—मातरि आकाशे श्वयते वर्द्धत इति व्युत्पत्त्या मातरिश्वसंज्ञो, 'वाति वहति' इति व्युत्पत्त्या वायुसंज्ञश्चास्मीति।।१४१।। [3]तस्मिंस्त्वयीति। पुनस्तेन यक्षेण 'त्वयि किं बलम् ?' इति पृष्टे वायुः तस्मै 'ब्रह्माण्डाद् बहिः विश्वं नेतुं शक्तोऽस्मि यथा बालो मुखेन तृणं नयेत् तथा' इत्युक्तवान्। इति द्वयोरर्थः।।१४२-३।। ततस्तस्याऽग्निवन्मानभङ्गं देवान् प्रत्यागमनं चाह—इत्युक्त इति द्वाभ्याम्। ब्रह्म यक्षम्। नय प्रापय। स्पष्टमन्यद् द्वयोः।।१४४-५।।

यक्ष ने मुस्कराते हुए उसके सामने एक सूखा तिनका रखकर कहा 'इसे जलाओ।' ।१३७।। पूरी तेज़ी और पूरे यत्न से कोशिश करने पर भी अग्नि वह सूखा तिनका नहीं जला पाया।।१३८।। इस विफलता से अग्नि का सारा गर्व मिट गया। देवताओं के पास आकर उसने कहा 'देवो ! जिसने मेरे सारे बल का विलोप करने का आश्चर्य दिखा दिया उस यक्ष के बारे में मैं कुछ नहीं समझ पाया कि वह हमारे अनुकूल है या हमारा विरोधी अतः किसी और को जाना चाहिये जो इसे समझ सके' ।।१३९-४०।।

१. 'तस्मै तृणं निदधौ, एतद् दहेति। तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाक दग्धुम्। स तत एव निववृते नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद् यक्षमिति।'६।।

२. 'अथ वायुमब्रुवन् वायवेतद् विजानीहि किमेतद् यक्षमिति। तथेति।।७।। तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत्कोसीति। वायुर्वा अहमस्मीत्यब्रवीद् मातरिश्वा वा अहमस्मीति।'८।।

३. 'तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यमिति। अपीदं सर्वमाददीय यदिदं पृथिव्यामिति।।९।। तस्मै तृणं निदधौ—एतद् आदत्स्व—इति। तदुपप्रेयाय सर्वजवेन, तन्न शशाक आदातुम्। स तत एव निववृते—नैतदशकं विज्ञातुं किमेतद्यक्षमिति।।'१०।।

इन्द्राद्यक्षतिरोधानम्

एवमुक्ते ततो देवा इन्द्रमूचुः सभागताः। मघवंस्त्वं विजानीहि यक्षमेतदिहागतम्।।
अस्माकमनुकूलं वा प्रतिकूलमथाऽपि च।।१४६
एवमुक्तोऽथ शक्रोऽपि गतवांस्तौ यथा पुरा। वह्निवायू गतौ तद्वत् तद् यक्षं चित्रदर्शनम्।।१४७
आगाच्छक्रो यदा स्वस्य समीपं तत् तदैव हि। अन्तर्दधे महद्यक्षं हस्तप्राप्तमिव स्थितम्।।१४८

एवं वायुनोक्ते सति[1] इन्द्रं देवास्तथा प्रेषयामासुरित्याह—एवमिति।।१४६।। एवं देवैरुक्ते सति तौ वह्निवायू यथा गतौ तद्वद् इन्द्रोऽपि अद्भुतयक्षसमीपं गत इत्याह—एवमुक्तेऽथेति।।१४७।। इन्द्रस्य अभिमानविशेषं परिहर्तुम् असम्भाव्यत्वद्योतकम् अन्तर्धानं चकार तद् यक्षमित्याह—आगादिति। हस्तप्राप्तवत् संनिहितदेशे स्थितमपि तद् यक्षम् अन्तर्दधे इत्यर्थः।।१४८।।

इस पर देवताओं ने वायु को वैसा ही निर्देश दिया जैसे अग्नि को दिया था, वह भी अग्नि की तरह वहाँ पहुँचा और उससे भी यक्ष ने ही पूछा 'तुम कौन हो ?' वायु ने जवाब दिया 'मैं मातरिश्वा नामक वायु हूँ।' (जो अंतरिक्ष में फैले उसे मातरिश्वा तथा जो बहे उसे वायु कहते हैं।) यक्ष ने प्रश्न किया 'तुममें बल क्या है ?' वायु ने भी बिना सोचे-समझे ब्रह्म को अपना बल बताया 'जैसे कोई बच्चा मुँह से तिनका उड़ा देता है ऐसे मैं सारे विश्व को अपने में रखकर ब्रह्माण्डगोलक से बाहर निकाल सकता हूँ।'।१४१-३।। यक्ष ने जैसे अग्नि के सामने रखा था वैसे वायु के सामने भी मुस्कराते हुए एक सूखा तिनका रखा और कहा 'इसे उड़ाओ।' सारी ताकत लगाकर भी वायु उस तिनके को हिला नहीं सका ! उसका अभिमान भी टूट गया, वह देवताओं के पास लौट आया और बोला 'देवो ! अग्नि की तरह मैं भी उसे समझ नहीं पाया।'।१४४-५।।

तब सभास्थित देवताओं ने अपने राजा इंद्र से ही कहा 'हे पूजनीय इंद्र ! हमारे निकट आया यह यक्ष हमारे अनुकूल है या प्रतिकूल इसका तुम ही पता लगाओ।'।१४६।। देवप्रार्थना पर इंद्र भी अग्नि-वायु की तरह उस विस्मापक रूप वाले यक्ष की ओर चल दिया। ('अग्नि आदि की तरह' से ध्वनि है कि वे क्यों नहीं समझ सके, उनका बल क्यों व कैसे अभिभूत हुआ, मैं किस तरह समझने की कोशिश करुँगा आदि सोचे-विचारे बिना ही इंद्र भी तुरंत चल दिया।)।।१४७।।

जैसे ही इंद्र यक्ष के समीप पहुँचा वह महान् यक्ष अन्तर्धान हो गया मानो हाथ लगा खजाना खो जाये ! (यक्ष का भाव था कि सबसे ज्यादा इंद्र ही अभिमानी है अतः इसका अभिमान मिटाने के लिये इसे बात करने का मौका भी नहीं देना चाहिये। भाष्य है 'इन्द्रस्य इन्द्रत्वाऽभिमानोऽतितरां निराकर्तव्य इत्यतः संवादमात्रमपि नादाद् ब्रह्म इन्द्राय।' (पद) 'इन्द्रोऽहम् इत्यधिकतमोऽभिमानोऽस्य। सोऽहम् अग्न्यादिभिः प्राप्तं वाक्सम्भाषणमात्रम् अपि अनेन न प्राप्तोऽस्मीत्यभिमानं कथं न नाम जह्याद् ! इति तदनुग्रहायैव अन्तर्हितं तद् ब्रह्म बभूव।' (वाक्य)। पुराणकार ने यह अभिप्राय मुखतः नहीं कहा जिससे संभवतः वे द्योतित कर रहे हैं कि इंद्र ब्रह्मा जी से उपदेश पा कर तत्त्व जानता था, उसे 'ज्ञानमात्र' नहीं था लेकिन निष्ठा भी परिपक्व नहीं थी अतः यक्ष को समझने का मौका न मिलने पर उसे उमाकृपा से बात समझ आ गयी। तात्पर्य है कि यदि तत्त्वज्ञान हो चुके तो कदाचित् अभिभूत होने पर भी ब्रह्मविद्या पुनः स्पष्ट हो ही जाती है, ऐसा नहीं हो सकता कि हमेशा के लिये ज्ञान अभिभूत हो जाये। लोक में भी कोई कला अभ्यासाधिक्य से स्वाभाविक हो जाती है, कोई अभ्यास की कमी से यत्नपूर्वक ही प्रकट की जा सकती है और कोई अभ्यास के अभाव में सीखी होने पर भी प्रयोग में नहीं लाई जा सकती। इसी तरह ब्रह्मज्ञान जब तक 'ज्ञानमात्र' है तब तक प्रयोग के अयोग्य है, अभ्यास बना रहे तो सावधान होते ही प्रपंच-मिथ्यात्व स्पष्ट कर देता है और अत्यंत अभ्यास हो जाने पर सनक-शुकादि की तरह निमेषार्ध के लिये भी तिरोहित नहीं होता।)।।१४८।।

---

१. 'अथेन्द्रम् अब्रुवन्—मघवन् ! एतद् विजानीहि किमेतद्यक्षमिति। तथेति। तदभ्यद्रवत्। तस्मात्तिरोदधे !'।।११।।

अन्तर्हितं हि तद् वीक्ष्य तदा शक्रः प्रतापवान्। इतस्ततस्तु तत्रैव वीक्षमाणो व्यवस्थितः।।१४९

तस्मिन्नेव तदाऽऽकाशे बलवीर्यसमन्वितः। व्यलोकयत् स्त्रियं काञ्चित् तरुणीं रूपशालिनीम्।।
हिमवत्तनयां सर्वगुणलक्षणशालिनीम्।।१५०

उमा

शोभमानां श्रिया स्वस्या अनौपम्यवपुर्धराम्। आत्मनि स्नेहमापन्नां मातरं भगिनीमिव।
उमां भवानीं देवीं तां ब्रह्मविद्येति कीर्तिताम्।।१५१

सौभाग्यमद्भुतं यस्याः प्राप्नुवन्ति त्रिलोकगाः। पुरुषाः सम्पदस्तद्वत्स्वात्मचित्तस्थिता अपि।।१५२

अखण्डितं ब्रह्मचर्यं वेदाश्च ब्रह्मचारिणः। गृहस्थत्वं गृहस्थाश्च लोकद्वयसुखप्रदम्।।१५३

तपश्च तापसास्तद्वत् सम्यग्वननिवासिनः। भिक्षवोऽपि स्वधर्मस्था ब्रह्मलोकं यतो ययुः।।१५४

आत्मानं परहंसानां सा प्रयच्छति मातृवत्। दर्शनान्ता हि यस्याः स्युर्मोहकारागृहा इमे।।
कामक्रोधादिरचिताः शृङ्खलाश्चातिदुस्त्यजाः।।१५५

तथापीन्द्रः तत्रैव स्थित इत्याह[1]—अन्तर्हितमिति। तद् यक्षरूपम्।।१४९।। तत उत्कण्ठातिशयेन शोधितदोष इन्द्रः तत्र यक्षान्तर्धानदेशे काञ्चित् स्त्रियम् अपश्यद् इत्याह—तस्मिन्नेवेति। हिमवतः पर्वतस्य तनयां; कीदृशीम्? सर्वकल्याणगुणैः सल्लक्षणैश्च शोभिताम्।।१५०।। शोभमानामिति। पुनः कीदृशीम्? श्रिया कान्त्या शोभमानाम्। उपमातुमशक्यं वपुर्धारयन्तीम् आत्मनि इन्द्रे स्नेहं कारुण्यं जनन्यादिवत् कुर्वतीं चेत्यर्थः।। तत्र भगिन्या उपादानं 'दयाया भगिनी मूर्तिः' इति भारतानुसारात्।।१५१।। तस्या अन्यत्रोक्तं महिमानं कीर्तयति—सौभाग्यमिति सप्तभिः। अस्या अनुग्रहात् त्रिलोकीगताः पुरुषाः सौभाग्यं सौन्दर्यं तथा चेतसा चिन्तिताः सर्वाः सम्पदो लभन्त इत्यर्थः।।१५२।। चातुर्वर्ण्यफलप्रदत्वमाह—अखण्डितमिति। यदनुग्रहाद् ब्रह्मचर्याऽखण्डितत्वं सह वेदैर्लभन्ते ब्रह्मचारिणः, गृहस्थास्तु लोकद्वयोपकारिकां गृहस्थत्वसम्पत्तिमिति।।१५३।। तपश्चेति। वनवासिनो यदनुग्रहात् तपो लभन्ते। यतयस्तु ब्रह्मलोकप्रापकं स्वधर्ममित्यर्थः।।१५४।। आत्मानमिति। सा देवी परमहंसेभ्य आत्मानं ब्रह्मविद्यारूपमेव ददाति यद्दर्शनाद् इमे प्रसिद्धा मोहोऽविद्या तद्रूपाः कारागृहा बन्धनागाराणि, तत्र वर्तमानाः कामादिरूपाः शृङ्खलाश्च अन्तं गच्छन्ति इत्यर्थः।।१५५।। वामदेवेति। वामः सुन्दरो देवः कामेश्वराख्यो

तब प्रतापी इंद्र यक्ष को तिरोहित हुआ देखकर इधर-उधर ढूँढते हुए वहीं बना रहा।।१४९।। बल-वीर्य से युक्त इंद्र ने तब उसी जगह किसी रूपसी युवती स्त्री को देखा जो वास्तव में हिमवान् की पुत्री एवं सारे सुलक्षणों वाली भगवती जगन्माता उमा थी।।१५०।। वे अपनी स्वाभाविक कांति से शोभावती थीं और ऐसा शरीर धरे थीं जिसकी कोई मिसाल नहीं। जैसे माता पुत्र पर या बहन भाई पर अत्यधिक स्नेहिल होती है ऐसे ब्रह्मविद्या कहलाने वाली शिवपत्नी उमा इन्द्र पर करुणा कर रही थी।।१५१।। त्रिलोकी के जीव इन्हीं के अनुग्रह से अद्भुत सौभाग्य और मनोवांछित सम्पत्तियाँ प्राप्त करते हैं।।१५२।। उन्हीं की कृपा से ब्रह्मचारी वेदों सहित अविप्लुत ऊर्ध्वरेतस्त्व पाते हैं, गृहस्थ अपने उस गार्हस्थ्य का पालन कर पाते हैं जो इह-पर लोकों में सुख देता है, वानप्रस्थ तपस्वी समुचित तपस्या निभा पाते हैं और संन्यासी अपने उस धर्म का अनुष्ठान करने में सक्षम होते हैं जिससे ब्रह्मलोक पाते हैं।।१५३-४।।

जैसे माता स्वयं को अपने स्तनन्धय पर न्यौछावर कर देती है ऐसे वे परमहंसों को आत्मा प्रदान कर देती हैं। उनका दर्शन पाते ही मोह के ये कारागार समाप्त हो जाते हैं जिनमें काम-क्रोध आदि वे बेड़ियाँ हैं जिनसे छूटना असंभव-सा है।।१५५।। वामदेव नामक परमशिव का कमनीय मुख देखकर वे सुंदर नयनों वाली भगवती सती जो

१. 'स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानामुमां हैमवतीम्।'

वामदेवमुखं वीक्ष्य वामं या वामलोचना। अमूढानपि सौन्दर्यान्मोहयन्तीव संस्थिता।।१५६
सूर्यकोटिसमाभासा शीतला चन्द्रकोटिवत्। कन्दर्पकोटिसदृशी लावण्याद् देहसंश्रयात्।।
लक्ष्मीकोटिसमा सा स्याच्छ्रिया विविधयाऽपि च।।१५७
देहवान् यः क्वचित् क्वाऽपि यस्या दृष्टिविलोकनात्। सामर्थ्यं लभते प्रायः सत्यं वेदो वदन्निव।।१५८
भक्तानामार्तिनाशार्थं सौम्याऽपि गुरुतां गता। सहस्रचक्षुषां तेजो हरन्ती स्वात्मदर्शनात्।।१५९
अदृष्टपूर्वा युवती त्रिलोक्यां च बिडौजसा। गन्धमाल्याम्बरधरा मनोनयननन्दिनी।।
सर्वाऽऽभरणसंयुक्ता स्मितपूर्वाभिभाषिणी।।१६०

महादेवस्तस्य मुखसौन्दर्यं वीक्ष्य या सौन्दर्येण सर्वेषां मनो मोहयन्तीव सती स्थिता।।१५६।। सूर्येति। प्रभातिशये सूर्यकोटिर्यस्या उपमानम्, शान्तरूपत्वे तु चन्द्रकोटिः, या देहगतं लावण्यं मुक्तावदुज्ज्वलत्वरूपम् अपेक्ष्य कन्दर्पकोटिसदृशी, श्रिया ऐश्वर्येण तु लक्ष्मी रमा तत्कोटिसमेति कथ्यते इत्यर्थः।।१५७।। देहवानिति। क्वचिद् अप्रसिद्धदेशे, क्वापि प्रसिद्धदेशे वा स्थितो देहवान् यत्किञ्चित् सामर्थ्यं लभते तत्र सर्वत्र हेतुः यस्याः कृपाकटाक्ष एवेति सत्यम् असन्दिग्धम्। ननु वेदानुक्तेऽर्थे कथं सन्देहाभावः ? इत्याशङ्क्यां परिहरति—वेद इति। अमुं वर्णित-विधम् उमाप्रभावं वेदः प्रकृतश्रुतिरूपो वदन् कथयन्निव भवति इत्यर्थः। अयं भावः—श्रुतार्थापत्तेः श्रुतिसमानकक्षत्वस्य[1] मीमांसकैः सिद्धान्तितत्वाद् 'बहुशोभमानाम्' इति बहु-शब्देन असङ्कुचितवृत्तिना वर्णितं सर्वमाहात्म्यं संगृहीतमिति।।१५८।। भक्तानामिति। या भक्तान् प्रति सौम्या शान्तरूपाऽपि इतरान् प्रति गुरुतां तेजोऽतिशयेन दुर्विज्ञेयतां गता। अत एव इन्द्रस्य गर्वशेषपरिहाराय इन्द्रनेत्रसहस्रगतं तेजो दर्शनेन हरन्ती सती स्थितेत्यर्थः।।१५९।।

मूढ नहीं है उन्हें भी अपने सौंदर्य से मानों मोहित कर लेती हैं ! (तात्पर्य है कि जो अविद्या से रहित हो चुके वे ही भगवती के सौंदर्य पर मुग्ध हो सकते हैं जो सौंदर्य तभी विकसित होता है जब वे शिव की ओर उन्मुख रहती हैं। लब्धज्ञान बुद्धि भी तभी अतिशय सुखद होती है जब अखण्डाकार हो, विक्षेपदशा में बंधक न बनने पर भी उस अलौकिक सुख को नहीं देती।)।।१५६।। उमा की प्रभा करोड़ों सूर्यों जितनी है, उनकी शांत शीतल छवि करोड़ों चन्द्रों-सी है, उनके शरीर की लुनाई करोड़ों कामदेवों जितनी है और उनका विविध ऐश्वर्य करोड़ों लक्ष्मियों जितना है।।१५७।। प्रसिद्ध-अप्रसिद्ध किसी भी देश-काल में जो भी देहधारी जो कोई भी सामर्थ्य पाता है उसमें प्रमुख कारण यही है कि ये उस पर अपनी कृपादृष्टि डाल देती हैं। करुणामयी होने से उनका कृपाकटाक्ष प्रायः उपलब्ध हो जाता है (इसी से उसके बारे में लोग उपेक्षाशील बन जाते हैं)। उमा का यह प्रभाव वेद ने कह जैसा दिया है। (अर्थात् 'बहु-शोभमानाम्' के 'बहु'-शब्द से इतना अभिप्राय निकलता है। अथवा जैसे वेद की सामर्थ्य इसीसे है कि वह सत्य बोलता है वैसे जीवसामर्थ्य उमाकृपा से ही है—यह अर्थ है।)।।१५८।। भक्तों का कष्ट मिटाने के लिये वे गुरुरूप धारण कर लेती हैं। अपना दर्शन देकर उन सौम्य जगन्माता ने इन्द्र के हज़ारों नेत्रों के तेज का अपहरण ही कर लिया, उस चकाचौंध से इंद्र स्पष्ट देख पाने में असमर्थ हो गया। (सौम्यता व गुरुरूपता में कुछ विरोध इसलिये है कि शिष्य को दण्ड आदि द्वारा नियंत्रित करना गुरुमूर्ति में ज़रूरी है किंतु वस्तुतः विरोध इसलिये नहीं कि वह नियंत्रण शिष्यकल्याणार्थ ही है।)।।१५९।।

---

१. यद्विना श्रुतिर्न सङ्गच्छते तन्मात्रस्य श्रुतार्थापत्तिसिद्धत्वात् तदसिद्धौ श्रुत्यसिद्धिप्रसङ्गात्तस्य तत्समकक्षतावाद उपपन्नः। अथवा पुराणेऽयमन्वयः—इव (=यथा) वेदः सत्यं वदन् सामर्थ्यं लभते (तथा) यस्या दृष्टिविलोकनाद् देहवान् सामर्थ्यं लभते। यद्वा इवशब्दोऽवधारणे—एतत्सत्यं वेदो वदन्नेव भवति। प्रायो वदति =पुनः पुनः कथयति। ब्रह्मविद्याप्रभावस्य श्रुतिषु बाहुल्येन समुपलम्भात्।

सर्वदोपनिषत्स्वेव वसन्ती मानसेषु च। यतीनां परहंसानां ब्रह्मचर्यादिभाजिनाम्।।१६१

वामदेवस्य या वामे भागे भर्तुर्महात्मनः। स्मरशत्रोस्त्रिनेत्रस्य ब्रह्मणो यक्षरूपिणः।।१६२

उमयेन्द्रसंवादः

पृष्टवांस्तां स्त्रियं शक्रो दृष्ट्वा तत्र व्यवस्थिताम्। अम्ब ! तत् किमिदं यक्षं यदत्राऽभूत् पुरा स्थितम्।। मातस्त्वं यदि जानीषे तदा मह्यं तदीरय।।१६३

एवमुक्ताऽथ सा शक्रं प्राह ब्रह्मेति[1] भामिनी। वृत्तान्तमखिलं तद्वद् यदर्थं तत् समागतम्।।१६४

इन्द्रोऽज्ञासीत्

एवमुक्तोऽथ शक्रोऽपि गतगर्वोऽवबुद्धवान्। स्वानुग्रहार्थं सम्प्राप्तं ब्रह्म तद् विजयप्रदम्।।१६५

सर्वं शक्राय सम्प्रोच्य भवानी भवहारिणी। तस्मिन्नेव नभस्यासीदन्तर्धानमुपागता।।१६६

अदृष्टेति। पुनः कीदृशी ? बिडौजसा इन्द्रेण त्रिलोक्यामदृष्टपूर्वा पूर्वमदृष्टा, गन्धाद्यलंकृतवेषा च।।१६०।। सर्वदिति। ब्रह्मविद्यारूपेण उपनिषत्सु समाहितयतिमानसेषु वसन्ती।।१६१।। प्रमाणस्य प्रमेयतन्त्रत्वात् प्रमेयेण सविशेषलीला-विग्रहाङ्गीकारे कृते सतीयमपि तद्वामाङ्गे स्थितेत्याह—वामदेवस्येति। वसन्तीति पूर्वादनुषङ्गः।।१६२।।

पृष्टवांस्तामिति। तां वर्णितरूपां तत्र यक्षरूपेण ब्रह्मणः प्रादुर्भावस्थाने स्थिताम्, इन्द्र एवं[2] पृष्टवान्। 'एवं' कथम् ? हे अम्ब ! मातः ! तद् [यद्] यक्षरूपमिह प्रादुर्भूतं किं तद् ? इति।।१६३।।

अथ तुर्यखण्डार्थं वर्णयन् ब्रह्मणः शम्भोः तत्त्वं तदागमनप्रयोजनं चोक्तवतीत्याह[3]—एवमुक्ताऽथेति।।१६४।। इन्द्रोऽपि तदुपदेशेन शम्भोस्तत्त्वं ब्रह्मभावरूपं विस्मृतमपि पुनः अवबुद्धवान् अस्मरद् इत्याह—एवमुक्तोऽथेति।।१६५।। सा च ब्रह्मतत्त्वावबोधनरूपे प्रयोजने सिद्धेऽन्तर्धानमगाद् इत्याह—सर्वमिति।।१६६।।

इन्द्र ने त्रिलोकी में उन युवती का पहले कभी दर्शन नहीं पाया था। वे सुगंध, माला और वस्त्रों से सजी थीं, मन व नयनों को आनंद प्रदान कर रही थीं, सारे आभूषणों से अलंकृत थीं तथा मुस्कराते हुए बात करती थीं।।१६०।। उपनिषदों में ब्रह्मविद्यारूप से उनका सनातन वास है। ब्रह्मचर्यादि-साधन संपन्न परमहंस यतियों के मानसों में भी वे कृपाकर प्रकट होकर रहती हैं।।१६१।। कामदाहक त्रिनेत्रधारी महात्मा वामदेव ब्रह्म ने ही यक्षरूप धरा था अतः उमा भी अपने पति के वामांग में उपस्थित थीं। (अर्थात् ब्रह्मविद्या उनका रूप है अतः ब्रह्म जब सविशेष हो जाये तब विद्या भी विशेषगोचर हो जाती हैं और ब्रह्म जब लीलार्थ शरीर धर लेता है तब उमा भी उचित शरीर ले लेती हैं। ब्रह्म से ब्रह्मविद्या सर्वथा विलग नहीं अतः एक ही शरीर में वाम-उत्तर भाग विद्या-ब्रह्म हैं। यहाँ ब्रह्म ने यक्षरूप धारण किया अतः उमा ने भी सरूप होकर इंद्र को दर्शन दिया। ब्रह्म के तिरोधान के बाद भी उमा का दर्शन हो गया क्योंकि उपेय की अप्राप्तिदशा में ही उपाय की सार्थकता है।)।।१६२।।

वहाँ उपस्थित उस स्त्री को देखकर इंद्र ने पूछा 'माता ! जो यहाँ (आपसे) पहले प्रकट हुआ था वह यक्ष क्या है ? यदि आप जानती हों तो मुझे बतायें।' ।१६३।। उस भामिनी ने इन्द्र को उत्तर दिया 'ब्रह्म।' उन्होंने वह सारा वृत्तांत भी बताया जिस के लिये ब्रह्म का आगमन हुआ था। (वृत्तांत अर्थात् देवताओं को गर्व आदि कुवृत्तियों से ग्रस्त होता देख उन्हें वास्तविकता के प्रति सचेत करने का संकल्प करके ब्रह्म यक्ष बनकर आये थे। इन्द्रादि देवों को याद रखना

१. 'यद्वा तत् प्रातिपदिकार्थते' ति प्रत्यक्तत्त्वप्रदीपिकानुसारं ब्रह्मेति पदमात्रेणाऽखण्डार्थोपदेशः प्रातिपदिकार्थमात्रे प्रथमाविधेः।

२. 'तां होवाच—किमेतद् यक्षमिति।'१२।।

३. 'सा ब्रह्मेति होवाच ब्रह्मणो वा एतद् विजये महीयध्वम् इति। ततो हैव विदाञ्चकार ब्रह्मेति।।'१।।

शिवौ तौ स नमस्कृत्य नभस्यन्तर्हितावगात्। देवानिन्द्रोऽथ तान् गत्वा सर्वमेव न्यवेदयत्।।१६७
देवा इन्द्रमुखाच्छ्रुत्वा वह्निवायुपुरोगमाः। गतगर्वा विपाप्मानो ह्यभवन् प्रकृतिस्थिताः।।१६८
सात्त्विकास्ते स्वभावेन देवाः सर्वे दिवौकसः। गर्वक्रोधादिरहिताः प्रमादेन विवर्जिताः।।१६९
परीक्ष्य कारिणो नित्यं हिताहितविबोधिनः। मायया रजउत्पाद्य मध्ये कालसहायया।।
विमोहिताः पुनर्ब्रह्मविद्याभ्यां परिबोधिताः।।१७०
ब्रह्मविद्याप्रसादेन देवा एवं व्यजानत। ब्रह्मैतत् सर्वजगतः कारणं हेतुवर्जितम्।।१७१
अग्निर्वायुस्तथा शक्रो देवेभ्यश्चाऽधिकाः स्मृताः। प्राप्तवन्तो यतो ब्रह्म यदन्यैः प्राप्यते न हि।१७२

शिवाविति। नभस्यन्तर्धानं गतौ शिवाख्यौ दम्पती नमस्कृत्य इन्द्रः सिद्धार्थो देवानगात्, तेभ्यो वृत्तमश्रावयच्चेत्यर्थः।।१६७।। ततो देवा अपि पूर्ववद् आसन्नित्याह—देवा इति। प्रकृतौ स्वभावे स्थिताः।।१६८।। तेषां प्रकृतिस्थितत्वं विशदयति—सात्त्विका इति द्वाभ्याम्। ते देवाः सात्त्विकत्वात् स्वभावेन गर्वराहित्यादिशालिनः, कालोद्दीपितमायया रजसा विमोहिता अपि यक्षरूपेण ब्रह्मणा उमारूपया विद्यया च प्रतिबोधिताः, दोषाऽपाकरणेन पुनस्तद्वत् कृताः। इति द्वयोरर्थः।।१६९-७०।। एतावता तैः किमवबुद्धमिति चेद् ? विश्वाऽभिन्ननिमित्तोपादानत्वेन विकासितमद्वयत्वरूपं ब्रह्मत्वमेवेत्याह—ब्रह्मविद्येति। एवं कथम् ? इत्याकांक्षायामुत्तरार्द्धप्रवृत्तिः।।१७१।। [1]अग्निरिति। यतोऽन्यैः दुर्लभं ब्रह्म यक्षरूपेण आगतं सामीप्येन प्राप्तवन्तः तस्माद् अग्निवाय्विन्द्रा देवेषु अधिकाः प्रसिद्धाः।।१७२।।

चाहिये कि जिस विजय का श्रेय वे ले रहे थे उसका वास्तव में इकलौता श्रेय ब्रह्म को है।)।।१६४।। उमा द्वारा समझाये जाने पर इंद्र भी गर्वरहित हो गया, उसे उस ब्रह्म का स्मरण हो आया जिसे उसने भुला दिया था और जिस विजय दिलाने वाले ब्रह्म ने इन्द्रादि पर कृपा कर वहाँ आकर दर्शन दिया था।।१६५।। संसारचक्र में भटकने से बचाने वाली भवानी ने जब इंद्र को सारी बात समझा दी तब उसी स्थान पर अंतर्धान हो गयीं।।१६६।।

उस स्थान पर तिरोहित हुए उन कृपालु शिव-शिवा को प्रणाम कर इंद्र देवताओं के पास लौट आया और उन्हें सारी बात समझाई।।१६७।। वह्नि, वायु आदि देवों ने इंद्र से वह रहस्य सुना तो उनका भी गर्व मिट गया और निष्पाप हो वे अपने स्वाभाविक व्यापक स्वरूप में प्रतिष्ठित हो गये।।१६८।।

वे सभी स्वर्गवासी देव स्वभावतः सत्त्वगुणी होने से गर्व, क्रोध, प्रमाद आदि से रहित ही थे, हमेशा विवेकपूर्वक चेष्टा करते थे और हित-अहित समझते थे, किंतु काल से उत्तेजित माया ने उनमें रजोगुण का उद्रेक कर दिया था जिससे वे नाना प्रकार के मोह से ग्रस्त हो गये थे। यक्षरूप ब्रह्म और उमारूप विद्या द्वारा प्रतिबोधित हो जाने पर रजोदोष हटने से वे सत्त्ववृत्ति में ही पुनः स्थित हो गये। (सत्त्वगुणी होने से ज्ञान स्वाभाविक था किन्तु क्योंकि रजउद्रेकवश उन्होंने पूर्व में प्राप्त बोध को परिपक्व नहीं किया था इसलिये उस स्वभावोचित ज्ञान से वंचित थे। उमोपदेश से उन्हें जब अपनी ग़लती महसूस हुई तब ज्ञान को उन्होंने निष्ठा-पर्यन्त स्थिर किया। अतः ऐसा नहीं कि किसी प्राचीन काल में वे तत्त्ववेत्ता थे, समय बीतने पर मोहित हुए और मोह हटने पर फिर से तत्त्वज्ञ हुए। यों ज्ञान-मोह-ज्ञान का चक्र अस्वीकार है। मोह अर्थात् अज्ञान अनादि ही है, मिटने पर पैदा नहीं हो सकता क्योंकि पैदा हो सकने वाली चीज़ ही नहीं है। पुराण में 'मध्ये' का अर्थ हैं संसारदशा में तथा मायासहायक काल अनादि ही है क्योंकि माया-आत्मा का सम्बंध ही काल है।)।।१६९-७०।। ब्रह्म और विद्या की कृपा से देवताओं ने यह अनुभव कर लिया कि निष्कारण

१. 'तस्माद्वा एते देवा अतितरामिवान्यान् देवान् यदग्निर्वायुरिन्द्रः। ते ह्येनद् नेदिष्ठं पस्पृशुः, ते ह्येनत् प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेति।।'२।।

इन्द्रस्तत्राऽपि देवेषु प्रोक्तः श्रेष्ठोऽधिकः सदा। ब्रह्मविद्याप्रकाशेन यतो ब्रह्माऽवबुद्धवान्। ।१७३
प्राप्तं यदग्निवायुभ्यां यदिन्द्रेण च निश्चितम्। अधिदैवादिभावेन तदेवं ब्राह्मणा विदुः। ।१७४

तस्य आदेशः

हिरण्यगर्भो भगवान् सुतो यस्य विराडपि। विश्वात्मा तस्य देहेऽस्मिन्नन्तस्तिष्ठति सर्वदा। ।१७५
विद्युत्प्रकाशसदृशं विद्युतोऽपि विलक्षणम्। इन्द्रियाणां च सर्वेषां प्रेरकं मनसा सह। ।१७६
अधिदैवं यथा तद्वदध्यात्ममपि देहिनाम्। बुद्धिसाक्षि हि सर्वेषां प्रत्येकमवशिष्यते। ।१७७
संसारवनमध्यस्थो ब्रह्मात्मा सर्वदेहिनाम्। भजनीयं हि तन्नाम तस्याहुर्वेदवादिनः। ।१७८
वनमित्यस्य नाम्नो यः पुमान् कुर्यादुपासनम्। अभिवाञ्छन्ति तं सर्वे जन्तवो भजनार्थिनः। ।१७९

तेषां त्रयाणामपि मध्य इन्द्रोऽधिकः, उमामुखेन ब्रह्मतत्त्वस्य सम्यगवबोधाद् इत्याह[१]—इन्द्र इति। ।१७३। ।
प्राप्तमिति। यदग्निवायुभ्यां प्राप्तम्, इन्द्रेण निश्चितं च तद् ब्रह्म ब्राह्मणा एवं वक्ष्यमाणविधया अधिदैवाऽध्यात्मरूपाभ्यां विदुः उपासत इत्यर्थः। ।१७४। ।

श्रुतौ[२] 'आ'-शब्द इवार्थः, षष्ठ्यन्तविद्युत्पदेन सम्बद्ध इति दर्शयंस्तत्र अधिदैवरूपमाह—हिरण्यगर्भ इति द्वाभ्याम्। यो हिरण्यगर्भो विराजोऽपि जनको विश्वशरीरश्च प्रसिद्धः तदीयदेहस्य अन्तः मध्ये सकृद् भानेन विद्युत्प्रकाशसदृशं चिद्रूपत्वेन जडाया विद्युतो विलक्षणं सर्वेन्द्रियाणां मनसश्च सन्निधिमात्रेण प्रेरकं च यत्तत्त्वं तद् अधिदैवम्। इति द्वयोरर्थः। ।१७५-६। ।

अध्यात्मरूपमाह[३]—अधिदैवमिति। यथा तस्य अधिदैवं रूपमुक्तं तद्वदध्यात्ममपि बोध्यम्। किं तत्? यदिह सङ्घातान्तर्गतबुद्ध्यवस्थानाम् अनुसन्धानेन साक्षिभूतं प्रत्येकं प्रसिद्धं तत्त्वमित्यर्थः। ।१७७। । [४]संसारेति। तत् च साक्षिरूपं संसाररूपवने प्रविष्टं ब्रह्म एव सर्वान्तरं भवति यतश्चैतत् प्रत्यग्वस्तु निरतिशयप्रेमास्पदत्वेन सर्वैः भजनीयं भवति ततः तस्य अस्य नाम 'वनम्' इति-आकारं वेदवादिन आहुः, 'वन सम्भक्तौ' इति धात्वर्थानुगमात्। योऽस्य नाम्नो ब्रह्मविशेषणतया उपासनं पुनः पुनश्चिन्तनरूपं करोति तं सर्वे जना आराधनाय कामयन्ते। इति द्वयोरर्थः। ।१७८-९। ।

ब्रह्म ही इस सारे जगत् का अद्वितीय कारण है। ।१७१। । अग्नि, वायु, इन्द्र को अन्य देवताओं से अधिक माना गया है क्योंकि जो अन्यों द्वारा प्राप्त नहीं हुआ वह ब्रह्म इन्होंने प्राप्त किया था। (निर्विशेषसाक्षात्कार समान होने पर भी सविशेष-साक्षात्कार में तथा उसके होने-न-होने से साधक में श्रेष्ठ-कनिष्ठभाव संगत है। इन तीन देवों ने यक्ष का निकट से दर्शन किया और इंद्र ने उमा का भी दर्शन और उनसे संवाद किया अतः इन तीनों को विशेष समझना समुचित है।)। ।१७२। । अग्नि आदि देवों में भी इंद्र हमेशा सबसे ज़्यादा श्रेष्ठ हैं क्योंकि उन्हींने सर्वप्रथम ब्रह्मविद्या के आलोक से व्यापक परमात्मा का अवगम पाया था। ।१७३। ।

अग्नि और वायु ने जिसे प्राप्त किया और इन्द्र ने जिसका स्वरूप उमाकृपा से निर्धारित किया उस ब्रह्म की ब्राह्मण लोग अधिदैवरूप और अध्यात्मरूप से उपासना करते हैं। ।१७४। । अधिदैवरूप यों समझना चाहिये : विराट् भी जिनका पुत्र है उन भगवान् हिरण्यगर्भ का शरीर यह सारा विश्व है। उनके शरीर के मध्य हमेशा वह परमार्थ तत्त्व रहता है जो बिजली के प्रकाश जैसा है लेकिन चिद्रूप होने से जड बिजली से सर्वथा अलग स्वभाव का है और मन समेत सब इंद्रियों का प्रेरक है। ।१७५-६। ।

---

१. 'तस्माद्वा इन्द्रोऽतितरामिवान्यान्देवान् स ह्येनद् नेदिष्ठं पस्पर्श स ह्येनत् प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेति। ।'३। ।
२. 'तस्यैष आदेशो—यदेतद् विद्युतो व्यद्युतदा ३ इतीन्न्यमीमिषदा ३ इत्यधिदैवतम्। ।'४। ।
३. 'अथाऽध्यात्मं यदेतद् गच्छतीव च मनोऽनेन चैतदुपस्मरति अभीक्ष्णं सङ्कल्पः। ।'५। ।
४. 'तद्ध तद्वनं नाम तद्वनमित्युपासितव्यं स य एतदेवं वेदाभि हैनं सर्वाणि भूतानि संवाञ्छन्ति। ।'६। ।

साधनसङ्क्षेपः

ब्रह्मविद्या पुरैवोक्ता तुभ्यं तस्यास्तु साधनम्। संक्षेपेण वदाम्येतत् सावधानमनाः शृणु।।१८०
स्ववर्णाश्रमसम्प्रोक्तं कर्म सर्वस्य देहिनः। तपश्च विविधं तद्वदन्ये शमदमादयः।।१८१
उपासनं च विविधं वेदे सर्वत्र कीर्तितम्। इदं च करणीयं स्यादात्मज्ञानार्थिना सदा।।१८२
वाग्धेनोः कथिताः पादा वेदा अङ्गानि सर्वशः। अङ्गानि ब्रह्म सत्यं यदाधारो भूसमः स्मृतः।।१८३

श्रुतौ[1] शिष्टग्रन्थेन प्रथमादिखण्डत्रयवर्णिताया ब्रह्मविद्यायाः साधनानि विधीयन्त इत्याह—ब्रह्मेति। पुरा खण्डत्रये।।१८०।। स्ववर्णाश्रमेति। स्ववर्णाश्रमानुरूपं कर्म, तथा तपः कृच्छ्रादि, शमादयश्च—एतानि प्रतिबन्धापनयेन स्थितिप्रयोजकत्वेन प्रतिष्ठापदोक्तानि विद्यायाः साधनानि इत्यर्थः।।१८१।। उपासनमिति। वेदोक्तं, नानाविधम् उपासनं च तस्याः साधनमित्यर्थः। तथा इदं प्रकृतश्रुतौ शाखान्तरगुणोपसंहाराभिप्रायेण उक्तं वेदवाग्रूपधेनोः उपासनमपि कर्तव्यमित्यर्थः।।१८२।। वाग्धेनोरिति। वाग्रूपाया धेनोः पादाः चत्वारो वेदचतुष्टयरूपा बोध्याः,वेदाङ्गानि शिक्षादीनि तु शिरःप्रभृत्यङ्गरूपाणि ध्येयानि। तत्र स्तनचतुष्टयं स्वाहाकार-वषट्कार-हन्तकार-स्वधाकाररूपं बृहदारण्यसप्तमाध्यायोक्तम्[2] उपसंहार्यम्। तथा श्रुतौ सत्यपदोक्तं यद् ब्रह्म तद् आधारभूमित्वेन ध्येयमित्यर्थः।।१८३।।

अध्यात्मरूप यों समझना चाहिये : सभी प्राणियों में प्रत्येक प्राणी का वह बुद्धिसाक्षी है, देहादिसंघात की घटक बुद्धि की अवस्थाओं के अनुसन्धान से पता चल जाता है कि बाकी सब पराक् हैं, वही एक प्रत्यक् तत्त्व बचता है। संसाररूप वन में स्थित ब्रह्म ही सब देहधारियों का आत्मा है, वह सर्वान्तर प्रत्यक् ही असीम प्रेम का विषय होने से सब उसी का सेवन करते हैं। वेदवादी उसका नाम 'तद्वनम्' बताते हैं। ब्रह्म का विशेषण समझते हुए इस नाम की उपासना करने वाले को यह फल सिद्ध होता है कि सभी लोग उसकी आराधना करने की इच्छा करने लगते हैं। (भाष्य के अनुसार यहाँ 'तद्वनम्' यह नाम उपासनार्थ विहित है न कि केवल 'वनम्'। अतः पुराण के 'तन्नाम' के 'तत्' को 'वनम्' से जोड़कर यहाँ 'तद्वनम्' नाम की उपासना ही विहित समझनी चाहिये। टीकाकार ने भाष्यप्रसिद्ध होने से 'वनम्' इतना ही कहा है पर अभिप्राय 'तद्वनम्' से ही संगत होता है।)।।१७७-९।।

(पुराण सुनाने वाले सद्गुरु कहते हैं—) हे शिष्य ! ब्रह्मविद्या तुम्हें यहाँ तक सुना ही दी, अब संक्षेप में उसका साधन बताता हूँ, ध्यान देकर सुनो।।१८०।। सभी देहधारियों के लिये बताये गये (सत्य, अस्तेय आदि तथा) अपने-अपने वर्णाश्रमों के लिये उचित क्रियाकलाप 'कर्म' कहे जाते हैं; कृच्छ्र आदि अनेक प्रकार के कष्ट सहने के यथानियम तरीके 'तप' हैं; ऐसे ही शम, दम आदि अभ्यास हैं; नाना तरह के ईश्वर-चिंतन 'उपासना' हैं; आत्मज्ञान चाहने वाले को ये सभी साधन हमेशा करने चाहिये क्योंकि वेद में सभी साधनविधायक प्रसंगों में इनका उल्लेख है। (अर्थात् विद्यासाधनों में प्रधान हैं १) सबके लिये विहित सत्यादि धर्म, २) वर्ण-आश्रम वालों के धर्म, ३) तप, ४) शमादि और ५) उपासना।)।।१८१-२।। वाक् को धेनु के रूप में समझा जाये तो उसके चार पैर चारों वेद हैं तथा सिर आदि सब अंग हैं शिक्षादि छहों वेदांग। उस धेनु के खड़े होने की भूमि है सत्य कहलाने वाला ब्रह्म। (प्रसंगतः यहाँ वाक् की उपासना भी विहित है। उक्त रूपकानुसार चिंतन करना चाहिये। बृहदारण्यक में इस गाय के स्तन आदि का भी वर्णन है, उसे भी यहाँ जोड़ लेना चाहिये। इस प्रासंगिक उपासनाविधि की भी सूचना भाष्य में नहीं है पर पुराणकार को अभिप्रेत है।)।।१८३।। मनोवृत्तिरूप ज्ञान ही वह बछड़ा है जिसकी माँ यह वाक्-धेनु है। इस धेनु की उक्त ढंग से जो उपासना

१.'उपनिषदं भो ब्रूहीत्युक्ता त उपनिषद् ब्राह्मीं वाव त उपनिषदमब्रूमेति।।७।। तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदाः सर्वाङ्गाणि सत्यमायतनम्।।'८।।

२. काण्वबृहदारण्यके ५.८।

फलम्

एवमेतां हि यो वेद धेनुं बोधस्य मातरम्। ब्रह्मज्ञानसमुत्पादादानन्दात्मनि सोऽद्वये।।
प्रतितिष्ठति निर्दुःखं यस्मान्नावर्तते पुनः।।१८४

ब्रह्मविद्याप्रसादेन शक्र एवमबूबुधत्। प्रजापतेस्तु यः शिष्यः पूर्वाध्याये प्रकीर्तितः।।१८५

प्रजापतेर्ज्येष्ठपुत्रो ह्यथर्वा प्राप्तवान् मुनिः। शिष्यो यतः सम्प्रदायाद् ब्रह्मविद्याऽधिकाऽभवत्।१८६

इति ते कथितं सर्वं यत्पृष्टोऽहमिह त्वया। आत्मविद्याप्रसङ्गेन किमन्यच्छ्रोतुमिच्छसि।।१८७

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्याऽऽनन्दात्मपूज्यपादशिष्येण श्रीशङ्करानन्दभगवता विरचित उपनिषद्रत्न आत्मपुराणे तलवकारोपनिषत्सारार्थप्रकाशो नाम पञ्चदशोऽध्यायः समाप्तः।।१५।।

[1]एतदुपासनफलमाह—एवमिति। एतां वेदवाग्रूपां धेनुं बोधस्य मनोवृत्तिरूपस्य बृहदारण्यके वत्सरूपेण उक्तस्य मातरं य उक्तविधया वेद उपास्ते स चित्तशुद्धिद्वारा तत्त्वज्ञानलाभेन अद्वयब्रह्मरूपे सर्वोत्कृष्टे स्वर्गे प्रतिष्ठां स्थितिं गच्छतीत्यर्थः।।१८४।। पृष्टमिन्द्रवृत्तं निगमयति—ब्रह्मविद्येति। अबूबुधत् सम्यक् ज्ञातवान्।।१८५।।

उत्तराकांक्षामुत्थापयति—प्रजापतेरिति। यथा प्रजापतेः इन्द्रः शिष्य उक्तस्तथाऽथर्वाऽऽख्यज्येष्ठपुत्ररूपोऽपरोऽपि शिष्योऽभवद् यतः प्रवृत्तात् सम्प्रदायाद् विद्या विस्तरं प्राप्तेत्यर्थः।।१८६।। उपसंहरति—इति त इति। स्पष्टम्।।१८७

संसारे करुणासिन्धोः शम्भोः केनोपमीयताम्।
निरुपाधि हितारम्भचिन्तनं स्वेषु भाति यत्।।

इति श्रीदत्तकुलतिलक-कृष्णचन्द्रात्मज-दिलाराम सूरितनूज-रामकृष्णस्य श्रीविश्वेश्वराश्रमपूज्यपादानुगृहीतस्य कृतौ आत्मपुराणटीकायां सत्प्रसवाख्यायां पञ्चदशोऽध्यायः समाप्तः।।१५।।

करता है उसका चित्त परिशुद्ध हो जाता है और वह तत्त्वज्ञान पाकर उस सर्वोत्कृष्ट स्वर्ग में सनातन स्थिति पाता है जिसका स्वरूप आनंदात्मक, दुःखहीन अद्वय ब्रह्म है। इस स्थिति के बाद पुनः संसार में आवर्तन असंभव है।।१८४।।

पूर्वाध्याय में जिसे प्रजापति का शिष्य बताया था उसी इंद्र ने उमारूप ब्रह्मविद्या की कृपा से उक्त अद्वैत आत्मा का सम्यक् ज्ञान पाया।।१८५।। प्रजापति के ज्येष्ठ पुत्र थे अथर्वा नामक मुनि। उन्होंने भी प्रजापति का शिष्यत्व ग्रहण कर ब्रह्मविद्या के सम्प्रदाय का प्रसार किया।।१८६।।

हे शिष्य ! आत्मविद्या के संदर्भ में जो तूने जिज्ञासा की थी उसकी पूर्ति के लिये मैंने इन्द्र-देवता संवाद, यक्षदर्शन, उमा का उपदेश और साधन—ये सब विषय समझा दिये। अब और क्या सुनना चाहता है ?।।१८७।।

।। पंद्रहवाँ अध्याय सम्पूर्ण।।

---

१. 'यो वा एतामेवं वेद अपहत्य पाप्मानम् अनन्ते स्वर्गे लोके ज्येये प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति।।'६।।

ॐ

मुण्डकसारार्थप्रकाशे-अङ्गिरःशौनकसंवादः

षोडशोऽध्यायः

ब्रह्मविद्याश्रितामेवं कथां श्रुत्वाऽतिशोभनाम्। अथर्वोक्तां ब्रह्मविद्यां प्रष्टुं शिष्योऽभ्यभाषत।।१

षोडशदलतूणीरे निहितं षोडशकलं ममात्मानम्।

गाङ्गेयप्रहिताशुगमिव लक्ष्ये त्वयि लगन्तमीक्षित्वा।।

षोडशसममभिरूपं साम्मुख्यं नय मुकुन्द! गोविन्द!

मुण्डकगीत! नवं धनुरादधतां ध्रुवकला हि नाथीया।।

गीतिद्वयस्याऽयमर्थः—'प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा' इत्यादि द्वितीयमुण्डकखण्डगतमन्त्रसूचितयुद्धरूपके लक्ष्यभूतो भगवान् मङ्गलाय प्रणम्यते। तथा हि—षोडशदलं कण्ठ्यं चक्रं जीवस्थानम् इत्यागमे प्रसिद्धं, तदेव तूणीरं शरायतनम्। तत्र निहितं; प्राणादयः प्रश्नप्रसिद्धाः (६.४) षोडशसंख्याः कलाः शल्याद्यवयवभूता यस्य स तथा तम्, 'कला स्याद् अंशशिल्पयोः' इति हैमः, एतादृशं मदीयात्मरूपं शरम्। गाङ्गेयो भीष्मः तेन सत्यपालनाय प्रयुक्तं बाणमिव भवदीयवपूरूपे लक्ष्ये लगन्तं संसज्जमानम् आलोक्य; हे मुकुन्द ! मुक्तोपसृप्यत्वेन तत्पदार्थभूत! हे गोविन्द! संसारदशायां सकलेन्द्रियचालकत्वेन अतिसंनिहित! हे मुण्डकगीत! प्रकृतशाखाऽध्येतृभिः मुण्डशिरोभिः निष्किञ्चनयतिभिर्वा गीयमानकीर्ते! त्वं यथा भीष्मप्रतिज्ञापालनाय षोडशवर्षमभिनिर्भयं च रूपं भीष्मसाम्मुख्यं नीतवानसि, तथेदानीमपि षोडशभिः महाभूतैकादशेन्द्रियरूपविकारैः सांख्यप्रसिद्धैः समम् अधिष्ठानतया तत्तादात्म्यापन्नं विश्वाधारमिति यावत्; अथ वाऽस्मिन् षोडशाऽध्याये 'अग्निर्मूर्द्धे' त्यादिना वक्ष्यमाणेन वैराजरूपेण समम् अभि अद्वितीयं तत् संमुखं कुरु। भक्तप्रतिज्ञापूरणं तव युक्तमेव इत्याह—नवमित्यादिना। नवम् इतरविलक्षणप्रणवरूपं धनुर्धारयतां ध्यानशूराणाम् आगमापायिकलाकत्वेन चन्द्रनिभानां या ध्रुवाख्या षोडशी कला सा नाथस्य प्रभोरेव स्वरूपभूता भवति, 'ध्रुवैव षोडशी कले' ति (बृ.१.५.१४) बृहदारण्यश्रुतेः। तथा च यथा ध्रुवाख्यकलावियोगं चन्द्रो न सहते तथा त्वामन्तरा जीवनाक्षमाणां त्वत्तो लब्धसत्ताकानां बालानाम् अपि आग्रहस्त्वया पूरणीय एवेति भावः।।

पूर्वमध्यायत्रयेण ऋग्वेदकथाः, अध्यायसप्तकेन यजुःकथाः, एकादशे प्रकीर्णकथाः, ततोऽध्यायचतुष्टयेन सामकथाश्चोक्ताः। अथ क्रमप्राप्ता अथर्वणकथा अध्यायत्रयेण दर्शयंस्तत्र[1] मुण्डकार्थजिज्ञासां मेधाविनः सानुवादां दर्शयति—ब्रह्मविद्याश्रितामिति षोडशभिः। स्पष्टम्।।१।। प्रथमाद्यध्यायत्रयार्थमनुवदति—भगवन्निति द्वाभ्याम्।

ॐ

अंगिरस् से शौनक का संवाद—नामक

सोलहवाँ अध्याय

सामवेद में अत्यन्त शोभास्पद ढंग से उपस्थापित ब्रह्मज्ञान-सम्बद्ध कथा सुनकर मेधावी शिष्य ने अथर्ववेद में उपदिष्ट ब्रह्मविद्या के बारे में पूछने के लिये अब तक सुने प्रसंगों का स्मरण करते हुए निवेदन किया :।।१।।

---

[1] मुण्डकस्य मन्त्रोपनिषत्त्वात्प्रश्नोपनिषत्पूर्वतैव सम्प्रदायसंमता। मुक्तिकोपनिषदुक्तपरिगणने क्रमेऽनाग्रह इति मन्तव्यम्।

सश्रुतसंग्रहं जिज्ञासा

भगवन्नैतरेयेण कथिता सा कथा शुभा। संवादो यत्र मुनिभिः प्रजानामतिशोभनः।।
वैराग्यं च तथा ज्ञानं वामदेवस्य चेरितम्।।२

तथा कौषीतकिप्रोक्ता यत्र चेन्द्रप्रतर्दनौ। अजातशत्रुबालाकी गुरुशिष्यौ महाधियौ।।३

आदित्येन च सम्प्रोक्ता यत्र वंशस्त्वयेरितः। मन्त्रद्रष्टा तथाऽश्विभ्यामुक्तवान् स्वात्मबोधनम्।।४

दध्यङ्ङाथर्वणस्तद्वद् अश्विनोरभवद् गुरुः। शक्राच्च दुःखमतुलं प्राप्तवानश्विहेतुतः।।५

याज्ञवल्क्यो मुनिर्यत्र जिगाय मुनिमण्डलम्। शास्त्रज्ञो जल्पकथया शाकल्यं च व्यमर्दयत्।।६

जनकं चाऽपि मैत्रेयीं दुस्तराद् भवसागरात्। परपारार्थिनौ प्राप्तौ मज्जतामुदतारयत्।।७

स श्वेताश्वतरो विप्रो यो यतिभ्योऽभ्यभाषत। कथां सा च कठेनाऽपि या प्रोक्ताऽतिमनोरमा।।
यमो यत्र गुरुः साक्षान्नचिकेताश्च बालकः।।८

शिष्यस्तित्तिरिणा प्रोक्ता कथा चित्रार्थसंयुता। वरुणश्च भृगुश्चैव गुरुशिष्यौ महाधियौ।।९

यत्र वेनोऽपि गन्धर्वो ब्रह्माहाऽनुभवन्नपि। संन्यासान्तानि यत्र स्युः साधनान्यात्मवित्तये।।१०

यत्र ऐतरेयकथायां मुनिप्रजासंवादे वैराग्यं ज्ञानं चेरितं तथा गर्भस्थवामदेवस्य ज्ञानमीरितम्। द्वितीयतृतीययोः कौषीतकिकथायाम् इन्द्रप्रतर्दनयोः, अजातशत्रुबालाक्योश्च संवाद उक्तः।।२-३।। चतुर्थवृत्तमाह-आदित्येनेति द्वाभ्याम्। कथोक्तेत्यनुषङ्गः। यत्र कथायां वंश ईरितः। तथा मन्त्रद्रष्टा दध्यङ् स ईरितो योऽश्विभ्याम् आत्मबोधनम् उक्त्वा तयोः गुरुरभवद्, इन्द्राद् दुःखं च प्राप्तवान् ।।४-५।। पञ्चमादित्रयार्थमाह—याज्ञवल्क्य इति द्वाभ्याम्। जिगाय जितवान्। जल्पकथा विजिगीषुवाक्प्रबन्धः।।६।। जनकमिति। संसाराब्धौ मज्जन्तोऽपि जनाः प्रायः परपारं नेच्छन्ति, एतौ तु मज्जतां मध्ये परपारार्थिनौ उदतारयत् पारं नीतवान्।।७।। अष्टमनवमवृत्तमाह—स श्वेताश्वेति। यां कथामभ्यभाषत सा च उक्ता। यत्र कठोक्तकथायां यमो गुरुः नचिकेताश्च शिष्य इत्युत्तरादनुषङ्गः।।८।। दशमवृत्तमाह—शिष्य इति द्वाभ्याम्। प्रथमपदं पूर्वान्वयि। तित्तिरिप्रोक्ता कथा चोक्ता यत्र वरुणभृगुसंवादो, वेनकर्तृकं ब्रह्मानुभवकीर्तनम्, संन्यासान्तानि विद्यासाधनानि चोक्तानि। इति द्वयोरर्थः।।९-१०।। एकादशार्थमाह—

ज्ञान-ऐश्वर्य-बल-वीर्य-तेज से सम्पन्न गुरुवर! आपने मुझे अविद्यापंक से निकालने के लिये उपनिषत्-श्रवण कराने का जो विलक्षण प्रकार 'आत्मपुराण' के रूप में अपनाया उसमें अब तक आप यह सब बता चुके हैं : १) ऐतरेय-प्रोक्त वह शुभ कथा जिसमें मुनियों से प्रजाओं के अत्यंत शोभायुक्त संवाद का विवरण आया, वैराग्योपयोगी विस्तार आया एवं वामदेव द्वारा प्रकट किया आत्मानुभव बताया गया।।२।। २) कौषीतकि-कथित कथाओं में इन्द्र-प्रतर्दन का संवाद। ३) तथा अजातशत्रु ने गुरुभाव से बालाकि को जो प्रबोधन दिया।।३।। ४) भगवान् भास्कर ने जो वेदोपदेश दिया उसके वर्णन के प्रारंभ में आपने वंश सूचित किया, मन्त्रद्रष्टा ऋषि ने अश्विनीकुमारों को जो स्वात्मज्ञान कराया वह बताया, दधीचि अश्विनीकुमारों के कैसे गुरु थे और उनके निमित से दधीचि ने इंद्र से अतुलनीय दुःख पाया यह सब विस्तार से बताया।।४-५।। ५) जनकसभा में शास्त्रवेत्ता याज्ञवल्क्य ने जल्प-प्रकार के वार्तालाप के अंतर्गत मुनिसमाज पर विजय पायी और शाकल्य का समापन किया।।६।। ६) संसारसागर में डूबते हुए भी लोग प्रायः इसके परले किनारे जाने की इच्छा नहीं करते लेकिन कोई-कोई श्रेष्ठ मनस्वी इस उत्तम प्रयोजन की सिद्धि के लिये दत्तसर्वस्व हो जाता है। ऐसा ही था राजा जनक जिसे पुनः पुनः समझाकर याज्ञवल्क्य ने भवाब्धि से तार दिया। ७) उसी तरह की उत्तम अधिकारी उन महर्षि की पत्नी मैत्रेयी थी जो उस सब से कोई सरोकार रखने को तैयार नहीं थी जिससे वह अमृत

जाबालादिश्रुतिप्रोक्ताः कथा नानाविधा अपि। यत्र संन्यासिनः सर्वे संवर्ताद्या उदाहृताः।।११
वैराग्यकारणं न्यासः तच्च योगादिकारणम्। अधिकारी विरक्तश्च तद्वेषो मुण्डनादिकः।।
आचारो ब्रह्मविज्ञानं कीर्तितो यत्र तस्य सः।।१२
सामाध्यायत्रये यावत्कथाः कर्णसुखावहाः। गुरुशिष्या इमे यत्र क्रमादुक्ता महाधियः।।१३
आरुणिः श्वेतकेतुश्च यावेतौ न्यासिनौ स्मृतौ। सनत्कुमारो भगवान् नारदश्च मुनीश्वरः।
ब्रह्मा लोकगुरुस्तद्वदुभाविन्द्रविरोचनौ।।१४
तथा तलवकाराणां ब्राह्मणोपनिषद्यपि। इन्द्रस्य ब्रह्मविद्यायाः प्रसादाद् ब्रह्मबोधनम्।।
एतत् सर्वं त्वयाख्यातं मह्यं शुश्रूषवे गुरो!।।१५
अत्रान्ते ब्रह्मणः पुत्रो ज्येष्ठः शिष्यस्त्वयेरितः। अथर्वा तस्य यां विद्यां ब्रह्मा प्राह सुतापसः[1]।।१६
तामहं श्रोतुमिच्छामि स च केभ्योऽवदन्मुनिः। एतत्सर्वं मया पृष्टं गुरो मह्यं वदाऽधुना।।१७

मुण्डकार्थवर्णनेन तत्प्रशमनम्

इत्युक्तो गुरुरप्याह कथां मुण्डप्रकीर्तिताम्। आथर्वणीं मनःश्रोत्रसुखदां ब्रह्मबोधिनीम्।।१८

जाबालादीति द्वाभ्याम्। तच्च प्रसिद्धं योगादिरूपं कारणं वैराग्यस्योक्तम्। तस्य परमहंसस्य सः श्रुतिप्रसिद्धो ब्रह्मविज्ञानरूपो मुख्य आचारश्चोक्तः। स्फुटमन्यद् द्वयोः।।११-२।। ततश्छान्दोग्याध्यायत्रयकथाऽध्यायत्रयेणोक्तेत्याह—सामाध्यायेति।।१३।। अध्यायत्रयगतगुरुशिष्यान् कीर्तयति—आरुणिरिति। न्यासिनां मुख्यौ स्मृतौ जाबाले कीर्तितौ।।१४।। तथेति। तलवकाराख्या सामशाखा तदीयब्राह्मणगतोपनिषत् केनाख्या तस्याम्।।१५।। अत्रान्त इति। अत्र पूर्वाध्याये तस्य अथर्वणः सम्बन्धिनीम् आथर्वणत्वेन प्रसिद्धाम् इति यावत्। तस्मै सुताय स ब्रह्मा प्राह इत्यन्वयः।।१६।। तामिति। स च अथर्वा।।१७।।

'नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयाद्' (मनु.२.११०) इति न्यायमनुसरतः श्रीगुरोरुत्तरमवतारयति—इत्युक्त इति। अथर्ववेदान्तर्गतमुण्डकाख्यमन्त्रोपनिषदि कीर्तितां कथां गुरुराह।।१८।।

न हो जाये। उसे भी आत्मा समझाकर याज्ञवल्क्य ने संसरण-चक्र से बाहर निकाल दिया।।७।। ८) ब्राह्मण श्वेताश्वतर ने यतियों को संबोधित कर जो अभिभाषण दिया। ९) महर्षि कठ ने जो अतीव मनोरम कथा सुनाई जिसमें बताया गया कि साक्षात् यमराज ने गुरु बनकर बालक नचिकेता को क्या उपदेश दिया।।८।। १०) विचित्र अर्थों से युक्त वह कथा जो तित्तिरि ने सुनाई जिसमें महाबुद्धिमान् वरुण और भृगु गुरु-शिष्य थे तथा ब्रह्मानुभव करते हुए गंधर्व वेन ने प्रवचन दिया और आत्मज्ञान के संन्यासपर्यन्त साधन बताये गये।।९-१०।। ११) जाबाल आदि श्रुतियों में कही अनेक तरह की कथायें जिनमें संवर्त आदि सब संन्यासियों का उल्लेख आया, संन्यास के प्रति वैराग्य और उसके प्रति योगादि को कारण बताया, विरक्त को संन्यास में अधिकारी बताया, वह मुण्डी रहता है आदि उसका उचित वेष तथा उसके लिये वेदोक्त यह आचार बताया कि वह ब्रह्म का अनुभव करे।।११-२।।

१२) सामवेदीय छांदोग्योपनिषत् के तीन अध्यायों में आयी सभी कथाएँ सुनने में बहुत सुखद हैं। महद् ब्रह्म के बारे में जिन्हें निश्चय है उन आरुणि व श्वेतकेतु का संवाद सर्वप्रथम आया। ये दोनों विद्वान् जाबालोपनिषत् में संन्यासियों में प्रमुख कहे गये हैं। १३) भगवान् सनत्कुमार और मुनीश्वर नारद ने गुरु-शिष्य-भाव से भूमविद्या का

१. सुताय स इति टीकापाठः। यथाश्रुतं तु ब्रह्मविशेषणम्।

'आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्। अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः' ।।१९

अभावोऽपि पुरा नासीदसन् योऽत्राऽभिधीयते। भावोऽपि च पुरा नासीद्योऽत्र सन्निति गीयते।२०

तमःपटलमप्येतन्नासीत्तेजोविरोधि यत्। व्योमादीनि च भूतानि नासन् पञ्चापि पूर्वतः।।२१

[1]न दिवा नाऽपि रात्रिश्च उभे सन्ध्ये च नैव ते। न सूर्यादीनि तेजांसि नाऽपि देहाश्चतुर्विधाः।।२२

तमःस्तोमसमं तस्मिन् काल[2] आसीदिदं महत्। मृत्युर्वा नामृतं वाऽपि विदितं स्वात्ममोहकृत्।।२३

'प्राह' इत्यन्तस्य प्रथममन्त्रस्य[3] अर्थं सप्तदशभिः प्रपञ्चयंस्तत्र ब्रह्मणो हिरण्यगर्भस्य प्राथम्यं स्फुटयितुं मनूक्तां (१.५) सृष्टिप्रक्रियामवलम्ब्य तदीयं सृष्टिपूर्वकालिकाऽवस्थाप्रतिपादकं श्लोकं पठति—आसीदिति। इदं कार्यजातं सृष्टेः पुरा तमोभूतं तमस्तुल्याऽव्याकृताऽदिसंज्ञाऽज्ञानोपहितसन्मात्ररूपम् आसीत्। कीदृशं तत्? अप्रज्ञातं प्रत्यक्षाऽयोग्यम्। अलक्षणम् अननुमेयम्। अप्रतर्क्यं तर्काऽनर्हम्। अविज्ञेयं शब्देन अनभिलप्यम्। सर्वतः प्रथमार्थे तसिः; सर्वं प्रसुप्तमिव कार्यारम्भाऽक्षमम् इति तट्टीकाप्रसिद्धोऽर्थः।।१९।।

अत्रानुकूलं 'नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं किन्त्वभूत्तम' (ऋ.८.७.१७) इत्यादि नासदीयाख्यसूक्तवाक्यमर्थतः संगृह्णाति—अभाव इति चतुर्भिः। लोके सदसच्छब्दाभ्यां प्रसिद्धौ भावाभावपदार्थौ[4] नाभूतामित्यर्थः।।२०।। तथेदं लौकिकं तमः पञ्चभूतानि च नासन्, कार्यत्वादित्याह—तमःपटलमिति। पूर्वतः सृष्टिपूर्वकाले।।२१।। न दिवेति। दिनं, रात्रिः, प्रातः-सायंरूपे सन्ध्ये, तच्चिह्नभूतानि सूर्यादितेजांसि च, जरायुजादयो देहाश्च नासन्निति।।२२।। किन्तर्हि तदाऽऽसीद्? इत्यत आह— तमःस्तोममिति। स्वात्मनो मोहस्य आवरणस्य कर्तृत्वेन तमःपुञ्जसममिदं कारणतत्त्वमासीत् यद् मृत्युरूपेण अमृतरूपेण वा न विदितं न ज्ञातम्, मृत्युर्हि संहारक उच्यते, अमृतं त्वाहुतिपरिणामरूपवृद्धिहेतुः, तदुभयमद्वैतदशायां न सम्भवतीति भावः।।२३।।

उपदेश-ग्रहण किया। १४) समस्त लोकों के गुरु ब्रह्मा जी ने इंद्र-विरोचन को आत्मवस्तु समझाई।।१३-४।। १५) सामवेद की ही तलवकार शाखा की ब्राह्मण भाग की उपनिषत् में प्रसंग आया है कि ब्रह्मविद्या उमा के प्रसाद से इंद्र ने ब्रह्म का प्रबोध पाया। हे सद्गुरो! सुनने को उत्सुक मुझे आपने अब तक यह सब सुनाया।।१५।। उसी क्रम में पूर्वोपदेश के उपसंहार में आपने बताया कि ज्ञानमय श्रेष्ठ तप वाले ब्रह्मा जी ने अपने बड़े बेटे अथर्वा को विद्या प्रदान की।।१६।। मैं अब वह विद्या जानना चाहता हूँ। अथर्वा ने भी आगे किसे उपदेश दिया यह भी मुझे जिज्ञासा है। आप कृपाकर यह संदर्भ मेरे लिये प्रकट करें।।१७।।

इस प्रार्थना पर गुरु ने अथर्ववेदीय मुण्डकोपनिषत् में वर्णित वह कथा सुनाई जो मन और कानों को सुख देती है तथा ब्रह्म का बोधन कराती है।।१८।। श्री गुरु बोले :

जितना भी यह कार्यवर्ग है, अपनी उत्पत्ति से पूर्व यह सब अँधेरे जैसा था, अव्याकृत आदि नाम वाले अज्ञान से उपहित सन्मात्र के रूप में ही मौजूद था। तब यह प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द या तर्क का भी विषय बनने योग्य नहीं था। यह सब मानो सोया था, कोई कार्य प्रारंभ नहीं कर सकता था।।१९।। जिसे संसारदशा में असत् कहते हैं वह अभाव और जिसे सत् कहते हैं वह भाव भी उस पूर्वस्थिति में थे नहीं।।२०।।

---

१. आसीदाद्युक्तेस्तदानीं कालसद्भावं सम्भाव्य निषेधति—नेत्यादिना।

२. महाकालस्वरूप ईश्वरे, तच्छक्तितया तत्रैव मायौचित्यात्।

३. 'ॐ ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव। विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता। स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठाम् अथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह।।'१.१.१।।

४. उपाधिदृष्ट्याऽज्ञानस्य सदसद्वैलक्षण्याद्, ब्रह्मणश्च जायतेऽस्तीत्यादिप्रसिद्धसत्त्वाभावात्।

अव्याकृतं जगन्नामरूपहेतुरहेतुकम्। एकं शास्त्रैकगम्यं तत् सर्वलक्षणवर्जितम्।।२४
विद्यमानसमं चाऽपि कारणं न च वस्तुतः। अनादिभावरूपं च स्वात्मबोधाच्च नश्यति।।२५
असङ्गस्याऽक्रियस्याऽपि सङ्गकर्मादिकारणम्। अस्वतन्त्रं जडं चैवेत्यादिदुर्घटलक्षणम्।।२६
तस्माद्बभूव भगवान् आत्मसन्निधिमात्रतः। हिरण्यगर्भो जीवेशो यो जीवघन ईरितः।।२७

तदेव विशिनष्टि—अव्याकृतमिति। अव्याकृतम् अस्पष्टरूपत्वेन वेदान्तेषु अव्याकृतमिति प्रसिद्धम्, जगतो नामादेर्हेतुः, स्वयम् अहेतुकम् कारणानपेक्षम्, एकम् अद्वितीयम् शास्त्रेण अपौरुषेयवाक्येनैव संज्ञेयं, लक्षणैर्लिङ्गैर्वर्जितम् अननुमेयमित्यर्थः।।२४।। तस्य प्रसिद्धवैलक्षण्येन अप्रतर्क्यत्वं स्फुटी करोति—विद्यमानेति द्वाभ्याम्। लोके विद्यमानमेव वास्तवमेव च कारणं प्रसिद्धम्, तत्तु विद्यमानसमं, वस्तुतः अविद्यमानमपि कारणम्। तथा लोके अनादिभावानामविनाशित्वं प्रसिद्धम्, एतत्तु अनादिभावरूपत्वेऽपि तत्त्वज्ञाननाश्यमिति चित्रमित्यर्थः।।२५।। तथा जडत्वेन परतन्त्रमपि असङ्गादिलक्षणस्य आत्मनो बन्धहेतुरित्याह—असङ्गस्येति। इत्यादिभिर्दुर्घटैर-निर्वचनीयताख्यापकैः लक्षणैर्युक्तमिति।।२६।।

तस्माद् अव्याकृताच्छुद्धात्मना प्रतिबिम्बदानेन अनुगृहीताद् हिरण्यगर्भोऽजायत यो जीवव्यष्टीनामध्यक्षः, समष्ट्यभिमानित्वेन जीवघनसंज्ञश्च उच्यत[1] इत्याह—तस्मादिति।।२७।। तस्य सप्तदशाऽवयवं शरीरमाह—एकादशेति।

रोशनी का विरोधी जो यह सर्वप्रसिद्ध अँधेरा है और जो पाँचों आकाशादि महाभूत हैं ये भी सृष्टि से पूर्व के काल में वर्तमान नहीं थे।।२१।। दिन, रात, सुबह, शाम, सूर्यादि प्रकाश, चारों तरह के प्राणिनिकाय—ये सब नहीं थे। (अर्थात् काल भी नहीं था, इसके निरूपक सूर्यादि नहीं थे और भोक्तृवर्ग नहीं था।)।।२२।। उस महाकाल में यह महान् कारणतत्त्व ही था जो स्वात्मा का आवरण करने वाला अँधेरे के ढेर जैसा अज्ञान है, जिसे अमृत या मृत्यु नहीं जाना गया। (मृत्यु कहते हैं संहारक को और आहुतियों से उत्पन्न पुण्य अमृत कहलाता है जो वृद्धि का हेतु है, ये दोनों अद्वैतदशा में हो नहीं सकते यह तात्पर्य है।)।।२३।। वही तत्त्व वेदान्तों में अव्याकृत कहा गया है क्योंकि उसका रूप स्पष्ट नहीं है। जगत् के नाम-रूप-कर्म का वही हेतु है पर स्वयं अनादि है। सभी चिह्नों से रहित वह एक है और अपौरुषेय वाक्यरूप वेद द्वारा ही संज्ञेय है।।२४।। वह विद्यमान जैसा है, न कि विद्यमान! और कारण भी वह वास्तव में नहीं है!! वह अज्ञानरूप तत्त्व अनादि-भाव है और स्वात्मज्ञान से नष्ट हो जाता है। (लोकप्रसिद्ध कारणों से विलक्षण होने से ही वह तर्क का अविषय है यह भाव है। लोक में जो कारण होता है वह वास्तव में ही कारण होता है और विद्यमान रहते ही कारण होता है । अज्ञान न विद्यमान है, न वास्तव में कारण है। ऐसे ही अनादि और भावात्मक वस्तु को साधारणतः अविनाशी भी माना जाता है जबकि अज्ञान ऐसा नहीं। मिथ्या का अभिप्राय ही स्पष्ट किया जा रहा है जिससे कारणानुरूप कार्य भी मिथ्या समझा जा सके।)।।२५।। असंग व निष्क्रिय आत्मा को अज्ञान संग व क्रिया वाला बना डालता है जबकि है परतंत्र और जड। (आत्मा को बाँधता है तो क्या अज्ञान स्वतंत्र है? नहीं! खुद आत्मा के ही परतंत्र होकर भी आत्मा को ही परतंत्र बनाये है यह इसकी विलक्षण महिमा है। आत्मा को बाँधने के लिये यह खुद कुछ सोच-समझ नहीं सकता और अन्य भी कोई इसका बंधन के रूप में प्रयोग करता हो ऐसी बात नहीं। फिर भी बाँधे है, यह आश्चर्य है।)। यों जिनका अस्तित्व संगत नहीं ऐसे लक्षणों वाला यह अलौकिक तत्त्व है।।२६।।

शुद्धात्मा ने उस अव्याकृत को अपना प्रतिबिम्ब प्रदान किया जिससे भगवान् हिरण्यगर्भ उत्पन्न हुए जो जीवेश, जीवघन आदि कहे जाते हैं। (आत्मा की संनिधि ही इसके लिये पर्याप्त है कि अव्याकृत में उसका प्रतिबिम्ब पड़ जाये अर्थात् अज्ञदशा में आत्मा अव्याकृत का अभिमानी होता ही है क्योंकि अज्ञात आत्मा से अतिरिक्त कोई अज्ञान सिद्धांत में स्वीकृत नहीं। वह समष्टि में अभिमानी ही व्यष्टि जीवों का साक्षी है।)।।२७।।

---

१. 'ततः स्वयम्भूर्भगवान् अव्यक्तो व्यंजयन्निदम्। महाभूतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः।।' मनु.१.६।।

एकादशेन्द्रियगणः प्राणो भूतानि पञ्च च। सूक्ष्माणि तत्र निवसन्नात्माऽयं परिकीर्त्यते।।२८

उदपद्यन्त वै तस्मात् स्थूलान्युक्तानि यानि वै। तत्राभिमानी भगवान् विराडित्येव गीयते।।२९

ततः स्थूलेषु भूतेषु वसन् ब्रह्माण्डगोलकम्। स्वात्मनोऽत्र निवासाय चकमे लोकभावनः।।३०

सत्यसङ्कल्पतस्तस्य नीराणामुपरि स्थितम्। तदण्डमभवद्धैमं सूर्यकोटिसमप्रभम्।
सप्तलोकादिसहितं कालेन च समन्वितम्।।३१

तदन्तः स्वयमेवाऽयं ब्रह्मा लोकपितामहः। भूपद्मकर्णिकामेरोरासीत् पूर्वजपूर्वजः।।३२

देवानां प्रथमः सोऽयमिन्द्रादीनां महेश्वरः। कर्ता विश्वस्य सर्वस्य गोप्ता च जगतः प्रभुः।।३३

अन्तःकरणसहितानि एकादशेन्द्रियाणि, प्राणो द्वादशः, सूक्ष्मभूतपञ्चकं च एतत्समुदायरूपे शरीरेऽयं हिरण्यगर्भाख्य आत्मा वसतीत्यर्थः।।२८।।

स च स्थूलानि भूतानि असृजत्[1], तेषु अभिमानेन विराट्संज्ञश्च अभवद् इत्याह— उदपद्यन्तेति। उदपद्यन्त जातानि।।२९।। ततः स्थूलभूतैः ब्रह्माण्डं निर्मातुम् ऐच्छद्[2] इत्याह— तत इति।।३०।। सत्येति। तस्य हिरण्यगर्भस्य सत्यसङ्कल्पवशात् तद् भूतजातं नीरोपरि स्थितं देदीप्यमानसौवर्णाण्डरूपेण परिणतम् यत्राण्डे सप्तलोका भूरादयः पातालादिकं च, संवत्सरादिरूपः कालश्च कल्पित इत्यर्थः।।३१।। तदन्तरिति। तस्य ब्रह्माण्डस्यान्तः भूमिरूपपद्मस्य कर्णिकाभूतो यो मेरुः तस्माच्चतुर्मुखरूपेण स प्रादुरासीद् इत्यर्थः।।३२।।

फलितं श्रुत्यर्थमाह—देवानामिति। स ब्रह्मा देवानाम् इन्द्रादीनां प्रथम आद्यो महेश्वरः पूज्यश्च। तथा जगतः सृष्ट्यादिकर्ता।।३३।। तस्य ब्रह्मणः पुत्रो ज्येष्ठोऽथर्वा नामाऽभूत्। तस्मै एतां वक्ष्यमाणरूपां विद्यामदात्।

यह हिरण्यगर्भ नामक आत्मा सत्रह अवयवों वाले आत्मा में रहता है। ग्यारह बाह्य-आन्तर इन्द्रियाँ, बारहवाँ प्राण और पाँच महाभूत—ये वे सत्रह अवयव हैं।।२८।। उसीसे स्थूल कहलाने वाले भूत पैद हुए जिनमें अभिमान रखने से भगवान् ही विराट् कहे गये।।२९।। स्थूल भूतों में रहते हुए लोकप्रिय उन भगवान् ने यहीं अपने निवास के लिये ब्रह्माण्डरूप गोल की उत्पत्ति की इच्छा की।।३०।। उन भगवान् का संकल्प सत्य ही होता है अतः उनकी वह इच्छा होते ही जल पर स्थित वह भूतसमूह सोने के अण्डे जैसा बन गया जिसकी प्रभा करोड़ो सूर्यों जैसे थी और जो सातों लोकों से एवं काल से युक्त था। (जल अर्थात् प्राणिकर्म, उन्हीं पर भूत निर्भर हैं क्योंकि बिना कर्म भूतों का अस्तित्व संभव नहीं।)।।३१।। उस ब्रह्माण्ड के अंदर भूमि ही पद्म है जिसकी कर्णिका (मध्य भाग) है मेरु। उसी मेरु से लोकों के पितामह ब्रह्मा प्रादुर्भूत हुए जो पूर्वजों के भी पूर्वज हैं।।३२।।

वे ब्रह्मा इन्द्रादि देवताओं से पहले प्रकट हुए, उनसे भी पूज्य हैं। व्यक्त जगत् के कर्ता, रक्षक व पालक वे हैं।।३३।। उनका प्रथम ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा नाम से प्रसिद्ध हुआ। सब विद्याओं की आश्रयभूत यह ब्रह्मविद्या ब्रह्मा ने उसे प्रदान की। (विद्या का काम है अविद्या मिटाना। बाकी विद्याएँ छोटे-छोटे अज्ञान मिटाती हैं जबकि ब्रह्मविद्या सारे अज्ञानों की मूल जो अविद्या उसे ही पूर्णतः समाप्त कर देती है। अतः ब्रह्मविद्या में सभी विद्याओं का अन्तर्भाव हो जाता है जिससे उसे सब विद्याओं का आश्रय बताया गया है।)।।३४।। तृप्ति होने पर जैसे रसों का अंतर्भाव अनुभवसिद्ध है वैसे ब्रह्मविद्या प्राप्त हो जाने पर विद्यान्तर की अपेक्षा न रह जाने से उनका इसमें अंतर्भाव स्फुट है। (रस क़ी जरूरत इसीलिये है कि भोक्ता को तृप्ति मिले अतः जिससे वह तृप्त होता है उसीमें सारे रस अंतर्हित हो जाते हैं। तृप्तिप्रद

१. 'सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः। अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्।।' मनु.१.८।।
२. 'तदण्डमभवद् हैमं सहस्रांशुसमप्रभम्। तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः'।। मन.१.९।।

तस्यासीत् प्रथमः पुत्रो ज्येष्ठोऽथर्वेति कीर्तितः। ब्रह्मविद्यामिमां तस्मै सर्वविद्याश्रितामदात्। ।३४।।

विद्या नानाविधा ब्रह्मविद्यायामेव सर्वथा। अन्तर्भवन्ति फलतस्तृप्तौ यद्वद्रसा इह। ।३५।।

सम्प्रदायः

अथर्वणस्तु शिष्योऽभूदङ्गिरित्यभिविश्रुतः। अङ्गिरोऽप्यभवच्छिष्यो भारद्वाजाभिधो महान्। ।३६

यः सत्यवह इत्येवमत्र लोके प्रथां गतः। भारद्वाजस्य शिष्योऽभूदङ्गिरा इति विश्रुतः। ।३७

शौनकोऽत्र महाशालः शिष्यस्त्वङ्गिरसोऽभवत्। शौनकस्याऽभवन् शिष्याः सर्व एव द्विजातयः। ।३८

अथर्ववदनादेवं प्राप्ता शिष्यपरम्पराम्। ब्रह्मविद्यात्र या तां ते वच्मि ब्रह्मसमीरिताम्। ।३९

कीदृशीम्? मूलाऽज्ञानोच्छेदात् सर्वासां विद्यानामन्तर्भावकत्वेन आधारभूताम् इत्यर्थः। ।३४।। एतल्लाभे इतरविद्यासु अपेक्षाऽभावात् तासाम् अस्याम् अन्तर्भावः इति दृष्टान्तेन स्फुटयति—विद्या इति। इतरविद्याः किंचित् किंचित् प्रमेयं विकासयन्त्यः सर्वप्रमेयद्योतिकायाम् अस्यां फलरूपेण अन्तर्भवन्ति यथा तृप्तिफलसिद्धौ सर्वे कवलरसा इत्यर्थः। ।३५।।

द्वितीयमन्त्रार्थमाह[1]—अथर्वण इति द्वाभ्याम्। तस्य अथर्वणः शिष्यः अङ्गिर्इति रकारान्तनाम्ना प्रसिद्धोऽभूत्। तस्याङ्गिर्नाम्नो भारद्वाजः सत्यवहाऽपरनामकोऽभवत्। तस्य भारद्वाजस्य अङ्गिरस्इति सकारान्तनामकः शिष्य आसीदित्यर्थः। ।३६-७।। 'शौनक' इत्यादेः 'धीरा' इत्यन्तस्य[2] ब्राह्मणवाक्यस्याऽर्थमाह—शौनक इति षोडशभिः। अत्र लोके महाशालो बह्वन्नदानादिशालित्वेन महागृहस्थः शौनकोऽङ्गिरसः शिष्योऽभवत्। तस्माच्च अन्ये विप्रा विद्यां प्राप्ताः। ।३८।। द्वितीयमन्त्रेऽवशिष्टस्य परापदस्यार्थं[3] दर्शयन् प्रकृतविद्याऽभिधानं प्रतिजानीते—अथर्वेति। अत्र मुण्डकोपनिषदि या ब्रह्मविद्या साऽऽदौ ब्रह्मणा हिरण्यगर्भेण समीरिता सती अथर्वणो वदनं प्राप्य एवम् उक्ताकारां शिष्यपरम्परां प्राप्ता तां तुभ्यमहम् वच्मि इत्यर्थः। तथा च तस्य परस्मात्परस्माद् अवरेणावरेण प्राप्तेत्याकारा भाष्यकारोक्ता व्युत्पत्तिः सूचिता ।।३९।। तत्र शौनकपृष्टस्य अङ्गिरसो मुखेन अस्याः

प्राप्त हो जाने पर अन्य की कोई ज़रूरत नहीं रहती इतना ही नहीं वह यदि जबरन मिले तो उद्वेजक ही बनता है! अतः भोक्ता के लिये जो कुछ सरस है वह सब उसीमें निहित है जो उसे तृप्ति देता है। ब्रह्मविद्या के बाद अन्य विद्याएँ भी अनिष्ट बन जाती हैं, उद्वेजक हो जाती हैं, निष्प्रयोजन हो जाती हैं।)। ।३५।।

अथर्वा का सर्वत्र प्रसिद्ध शिष्य था अंगिर् जिसका महान् शिष्य सत्यवह भारद्वाज था। भारद्वाज का शिष्य अंगिरस् था जिसे सभी जानते हैं। ।३६-७।। उसीका शिष्य हुआ शौनक जिसके बारे में लोकप्रसिद्धि है कि वह महागृहस्थ था अर्थात् बहुत अधिक अन्नदान आदि में तत्पर रहता था। सारे ही द्विज शौनक के शिष्य बन गये थे। ।३८।। इस प्रकार ब्रह्मा जी द्वारा सम्यक् प्रतिपादित ब्रह्मविद्या अथर्वा के माध्यम से सारी शिष्यशृंखला को प्राप्त हुई। वही ब्रह्मविद्या मैं तुम्हें सुनाता हूँ। (पूर्व-पूर्व गुरु से उत्तर-उत्तर शिष्य को मिलती रहने से ब्रह्मविद्या 'परावरा' कही जाती है। सभी विद्याएँ गुरुगम्य हैं किंतु ब्रह्मविद्या तो बिना गुरु के मिल ही नहीं सकती क्योंकि श्रुति ने ऐसा ही नियम किया है।)। ।३९।।

---

१. 'अथर्वणे यां प्रवदेत ब्रह्माऽथर्वा तां पुरोवाचाऽङ्गिरे ब्रह्मविद्याम्। स भारद्वाजाय सत्यवहाय प्राह भारद्वाजोऽङ्गिरसे परावराम्। ।'२।।

२. 'शौनको ह वै महाशालोऽङ्गिरसं विधिवद् उपसन्नः पप्रच्छ—कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति— इति। ।३।। तस्मै स होवाच—द्वे विद्ये वेदितव्ये, इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति; परा चैवापरा च। ।४।। तत्राऽपरा—ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते। ।५।। यत् तद् अद्रेश्यम् अग्राह्यम्, अगोत्रम्, अवर्णम्, अचक्षुःश्रोत्रम्, तद् अपाणिपादम्, नित्यं, विभुं, सर्वगतं, सुसूक्ष्मं, तद् अव्ययं, भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः। ।'६।।

३. परेति परावरेत्यर्थः।

शौनकप्रश्नः

अङ्गिराः क्वचिदासीनः कृतपौर्वाह्णिकक्रियः। शौनकेन तु पृष्टोऽयं संसारभयभीरुणा।।४०

स ब्रह्मवेदिनं दृष्ट्वा श्रोत्रियं विगतस्पृहम्। समिदादिकरो भूत्वा पर्यपृच्छद्यथाविधि।।४१

भगवन्! कस्य विज्ञानाज्ज्ञायते सकलं जगत्। तदेकं वस्तु मह्यं त्वमङ्गिरः कथयाऽधुना।।४२

अंगिराः प्रत्याह

इत्युक्तः शौनकं प्राह एकस्मिन्नात्मवस्तुनि। ब्रह्मभूतेऽत्र विज्ञाते विज्ञातं सकलं भवेत्।।४३

उपायः कथितः शाब्दं ब्रह्मोपेतुं तथा परम्। शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माऽधिगच्छति।।४४

यतस्ततोऽत्र विज्ञेये विद्ये द्वे च मुमुक्षुणा। अपरा च परा तद्वत् तयोः प्रोक्ताऽपरा त्वियम्।।४५

अपरा विद्या

वेदाश्चत्वार एवोक्ताः षडङ्गसहिता अपि। अनया तु परा विद्या जायते सर्वदैव हि।।४६

परा विद्या

ब्रह्मविद्या परा प्रोक्ता ब्रह्म चाऽक्षरमीरितम्। अक्षरं चेदृशं प्रोक्तं सर्वदा वेदवादिभिः।।४७

प्रवृत्तिरित्याह— अङ्गिरा इति। क्वचिद् एकान्तदेशे।।४०।। कथं पृष्टः? इत्याकांक्षायामाह— स ब्रह्मवेदिनमिति। स शौनको भगवन्तमङ्गिरसं श्रोत्रियं वेदविदं तत्प्रतिपाद्यब्रह्मविदं च, न केवलं ब्रह्मविदं किन्तु तन्निष्ठावन्तमपीत्याह— विगतस्पृहमिति। एतादृशं दृष्ट्वा परीक्ष्य समित्प्रभृत्युपायनहस्तो विधिवदुपगम्य पर्यपृच्छत्।।४१।। किमपृच्छत्? इत्यत आह— भगवन्निति। हे भगवन्! अङ्गिरः! कस्य विज्ञानात् सर्वं विज्ञातं भवति, तत् सर्वविज्ञानहेतुविज्ञानकं यद् एकं वस्तु तद् मह्यं वक्तव्यमित्यर्थः।।४२।।

इत्युक्त इति। एवं प्रार्थितोऽङ्गिराः शौनकं प्रतीदमाह—। 'इदं' किम्? एकस्मिन्नात्मरूपे वस्तुनि ब्रह्मरूपेऽद्वितीये विज्ञाते सति सकलं विज्ञायत इत्यर्थः।।४३।। तद्विज्ञानलाभोपायस्तु शाब्दं ब्रह्मेत्याह—उपाय इति। परं ब्रह्मोपेतुं प्राप्तुं शाब्दं ब्रह्म ज्ञातं सद् उपायः कथितो ब्रह्मबिन्दूपनिषदीति(१७) शेषः। तद्वाक्यमेव पठति—शाब्दे ब्रह्मणीति। शाब्दं साङ्गवेदशरीरं यद् ब्रह्म तत्र निष्णातः कुशलो यः स एव परं ब्रह्म जानातीत्यर्थः।।४४।। यत इति। यत एवं शाब्दब्रह्मज्ञानस्य परब्रह्मज्ञानसाधनत्वं सिद्धं ततो मुमुक्षुणा द्वे विद्ये विज्ञेये सम्पादनीये ययोर्मध्ये एका अपरा साधनत्वाद्, द्वितीया तु परा फलात्मकत्वाद् इति। तत्र प्रथमं विषयनिरूपणेन निरूपयितुं प्रतिजानीते—अपरा त्वियं तयोः मध्येऽपरा विद्या त्वियं वक्ष्यमाणविषयनिरूप्येत्यर्थः।।४५।।

वेदा इति। यजुरादयः चत्वारो वेदाः सह शिक्षादिभिः षड्भिरङ्गैः यस्या विषयः साऽपरा। अनया अपरविद्यया परा विद्या जायते। तस्याः परात्वं च ब्रह्मविषयत्वात्। ब्रह्म चाऽक्षरम् इति श्रुतौ व्यवहृतम्[1]। तस्य लक्षणं च इदमनुसन्धेयम्। इति द्वयोरर्थः।।४६-७।।

किसी समय अंगिरस् महर्षि एकांत में आनंद से विराजमान थे। दिन के पूर्व भाग में कर्तव्य सभी क्रियाओं से वे निवृत्त हो चुके थे। विवेकशील महामुनि शौनक ने यथाशास्त्र चिंतन कर निश्चय किया कि उन्हें संसरण से ही भय है! उससे बचाव का तरीका जानने के लिये उन्होंने अंगिरस् से प्रश्न किया।।४०।। जब उन्होंने कर्मलभ्य फलों का परीक्षण कर उन्हें क्षयिष्णु जान लिया तब अक्षय की जिज्ञासा से वे हाथ में भेंट आदि लेकर जैसा तरीका है वैसे अंगिरस् के पास गये। शौनक वेदादि समस्त शास्त्रों के तलस्पर्शी विद्वान्, वेदवेद्य परम पुरुष के ज्ञाता एवं उसी में निष्ठावान् अतः समस्त विषयों के प्रति निरीह थे। शौनक ने प्रश्न कियाः।।४१।। 'हे भगवन् अंगिरस्! अब आप मुझे वह एक वास्तविक तत्त्व समझाइये जिसके समग्र अनुभव से सकल जगत् जान लिया जाता है।।'४२।।

१. एतच्च अदृश्यत्वाधिकरणे निपुणतरमुपपादयाचार्यचरणैः।

अक्षरम्

एकादशेन्द्रियगणवर्जितं सर्वदैव यत्। प्राणानामपि भूतानां रहितं पञ्चकेन च।।४८
शब्दस्पर्शरूपरसगन्धैरपि च वर्जितम्। वक्तव्यादानगमनविसर्गानन्दकैरपि।।४६
ततो ज्ञानेन्द्रियैरेतैर्दृश्यते नाऽपि गृह्यते। कर्मेन्द्रियैश्च सकलैर्विषयत्वविवर्जितम्।।५०
रूपनामक्रियाहीनं जन्मादिपरिवर्जितम्। यतस्ततस्त्विदं गोत्रकुलवर्णादिमन्न हि।।५१
नभोवत् सर्वगं सूक्ष्मं नित्यं सर्वस्य कारणम्। विश्वेन रहितं शश्वद् यतस्तेनैकरूपकम्।।५२
ब्रह्मचर्यादिसम्पन्ना यच्च पश्यन्ति चेतसि। तदेव भवता ज्ञेयं न तु वर्णादिकं क्वचित्।।५३

'इदं' किम्? इत्याकांक्षायाम् अक्षरलक्षणम् अतद्व्यावृत्तिमुखेन दर्शयति—एकादशेन्द्रियेति षड्भिः। श्रुतौ चक्षुःश्रोत्राभ्यां विज्ञानसाधनानि, पाणिपादाभ्यां कर्मसाधनानि च सविषयैरुपादानैश्च उपलक्ष्यन्ते। तथा च एकादशेन्द्रियैः प्राणपञ्चकेन भूतपञ्चकेन शब्दादिविषयदर्शकेन च वर्जितत्वं सिद्धम्। इति द्वयोरर्थः।।४८-६।। ज्ञानकर्मेन्द्रियविषयव्यावृत्तेश्च श्रुतिगताऽदृश्यपदोक्तमदृश्यत्वं ज्ञानेन्द्रियाऽगोचरत्वरूपम्, अग्राह्यत्वं तु कर्मेन्द्रियाऽगोचरत्वरूपमिति सिद्धमित्याह— तत इति। यतो विषयत्वविवर्जितं ततो ज्ञानेन्द्रियैर्न दृश्यते, कर्मेन्द्रियैर्न गृह्यतेऽपि इति योजना।।५०।। यतश्च 'अरूपकमनामकम्' (मां.का.३.३६) इति, 'निष्कलं निष्क्रियम्' (श्वे.६.१६) इति च श्रुत्यन्तरे रूपनामक्रियाभिर्वर्जितत्वं प्रसिद्धं ततो नामादिव्याप्यानां गोत्रादीनामभावः सुतरां सिद्ध इत्याह—रूपेति। यत इदम् अक्षरं नामादिभिर्जन्मादिविकारैश्च वर्जितं ततो गोत्रपदोक्तं यत्कुलं, वर्णा ब्राह्मणत्वादयः आदिपदोक्ताः तद्विशेषाश्च अत्र न सन्ति इत्यर्थः। भाष्यविरोधस्य[1] प्रमेयाऽविरोध एव समाधानमित्युक्तम्।।५१।। नभ इति। देशपरिच्छिन्नविलक्षणं नभोवत्। नित्यं कालावच्छिन्नविलक्षणम्। सर्वस्य भूतपदोक्तजन्यमात्रस्य कारणम् अपि विश्वेन सर्वेण द्वैतेन रहितं यतस्तेन हेतुना एकरूपम् अखण्डं वस्तुपरिच्छेदहीनमिति यावत्।।५२।। ब्रह्मेति। ब्रह्मचर्यादिसम्पन्नानां धीराणाम् एव चेतसि यत् स्फुटी भवति तदेव अक्षरं त्वया धीरेण सर्वं जिज्ञासता ज्ञेयं, वर्णादयो विशेषास्तु फल्गवो न ज्ञेया इत्यर्थः।।५३।।

इस पर अंगिरस् ने शौनक से कहाः

ब्रह्मरूप एक आत्मा वह वास्तविक तत्त्व है जिसका विज्ञान हो जाने पर सकल जगत् जान लिया जाता है।।४३।। उस परम ब्रह्म को पाने का उपाय वेदज्ञान बताया गया है। शिक्षादि अंगों सहित वेद को जो भली-भाँति जानता है वही परम ब्रह्म की पूर्ण जानकारी प्राप्त कर सकता है।।४४।। इसलिये मोक्ष चाहने वाले के लिये साधनावस्था में दो विद्याएँ जाननी ज़रूरी हैं—अपरा विद्या और परा विद्या। इनमें अपरा विद्या यह है—छहों अंगों सहित चारों वेद। इस अपरविद्या से ही परा विद्या उत्पन्न होती है। परम जो ब्रह्म उसे विषय करने वाली होने से यह विद्या परा है। ब्रह्म ही एकमात्र अक्षर तत्त्व है। अक्षर का वर्णन वेदवादी हमेशा इस तरह करते हैं :।।४५-७।।

जो हमेशा ग्यारहो इंद्रियों के समूह से रहित है, पाँचों प्राणों से व पाँचों महाभूतों से रहित है, शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध से रहित है, वाक्-विषय हस्तविषय पादविषय पायुविषय उपस्थविषय से रहित है, अतः इन ज्ञानेंद्रियों से जाना नहीं जाता एवं सब कर्मेन्द्रियों से ग्रहण नहीं किया जाता अर्थात् किसी तरह की विषयता से जो रहित है, जिसमें रूप-नाम-क्रिया नहीं हैं, जन्मादि विकार नहीं हैं, अत एव जिसके गोत्र कुल जाति आदि नहीं हैं, जो देशकृत सीमा वालों से विलक्षण है जैसे आकाश, काल से सीमित नहीं है, जन्मवान् सभी चीज़ों का कारण है, सारे ही द्वैत से रहित होने के कारण वस्तुकृत सीमा वाला नहीं, ब्रह्मचर्य आदि साधनों से युक्त साधक जिसे चित्त में देख पाते हैं, उसी वस्तु को तुम अक्षर समझो। क-ख आदि को इस प्रसंग में अभिप्रेत मत समझ लेना।।४८-५३।।

---

१. 'गोत्रमन्वयो मूलम्...अनन्वयमित्यर्थः।...वर्णा द्रव्यधर्माः' इति भाष्यम्।

विश्वविवर्तोपादानम्

जनिस्थितिविनाशानामेकमेवाऽत्र कारणम्। दृष्टान्तं लूतकं प्राहुर्वेदवादरता द्विजाः।।४४

ऊर्णनाभिर्यथा तन्तून् सृजत्यत्ति च पाति च। तथा विश्वमिदं देवः सृजत्यत्ति च पाति च।।५५

एकरूपादनेकात्मकार्योत्पत्तौ महाधियः। दृष्टान्तं भूमिमप्याहुः स्थिरजङ्गमकारणम्।।५६

स्थावरा जङ्गमा देहा यथा भूमेरनेकधा। जायन्ते ब्रह्मणोऽप्येवं विश्वं नानाविधं भवेत्।।५७

विलक्षणस्य कार्यस्य स्वतश्चेतनरूपिणः। जनौ पुरुषमप्याहुः दृष्टान्तं ब्राह्मणोत्तमाः।।५८

चेतनाद्धि सतस्तस्माद् नखकेशाद्यचेतनम्। यथैव जायते तद्वद् ब्रह्मणः सकलं जगत्।।५९

अथ 'विश्वम्' इत्यन्तमन्त्रेण[1] अक्षरस्य विश्वविवर्तोपादानतास्फुटत्वाय दृष्टान्तत्रयमुक्तं तत् प्रयोजनभेदेन विवृणोति—जनीति षड्भिः। जनिः जन्म तत्प्रभृतीनां विश्वसम्बन्धिनां कारणमेकं परानपेक्षम् अभिन्ननिमित्तोपादानमिति यावत्, एतादृशम् अक्षरं भवति अत्र अस्मिन्नर्थे लूताख्यं जन्तुं दृष्टान्तम् आहुः प्रकृतश्रुतिविद इत्यर्थः।।५४।। तमेव विवृणोति—ऊर्णेति। यथा लूताख्य ऊर्णनाभिः तन्तूनां सृष्ट्यादौ परानपेक्षः तथा अक्षरं विश्वस्येत्यर्थः।।५५।।

वैषम्यनैर्घृण्यपरिहाराय संस्काराख्यबीजवैलक्षण्येन नानारूपाणि कार्याणि प्रति एकरूपस्य कारणत्वं सम्भवति इत्यावेदको भूमिदृष्टान्त इत्याह—एकरूपादिति। अनेकात्मनाम् अनेकजातीयानां कार्याणाम् उत्पत्तौ।।५६।। एतं स्फुटयति—स्थावराइति। यथाऽनेकधा वर्तमानाः स्थावरादिदेहाः भूमेः एकजातीयायाः प्रजायन्ते तथा ब्रह्मणोऽपि विश्वम् इत्यर्थः।।५७।।

ननु चेतनाद् ब्रह्मणो विलक्षणस्य जडस्योत्पत्तिः कथं स्याद्? इत्याक्षेपपरिहाराय तृतीयः पुरुषदृष्टान्त इत्याह—विलक्षणस्येति। चेतनरूपात् स्वत आत्मनः सकाशाद् विलक्षणस्य जनौ पुरुषं जीवन्तं चेतनत्वेन प्रसिद्धं दृष्टान्तं वदन्तीत्यर्थः।।५८।। तं प्रकटयति—चेतनाद्धीति। तस्मात् पुरुषात् सतो जीवतः चेतनत्वेन प्रसिद्धात् नखकेशलोमादिकम् अचेतनं जायमानं प्रसिद्धं तथा विश्वमपीत्यर्थः।।५९।।

एक ही रहते हुए कोई जन्म, स्थिति और विनाश का कारण बन सकता है इसमें वेदविचारक ब्राह्मण मकड़ी का उदाहरण पेश करते हैं।।५४।। जैसे मकड़ी जाला पैदा करती, रक्षित रखती और पुनः निगल जाती है वैसे ही इस विश्व की सृष्टि-स्थिति-समाप्ति वे अखण्ड महादेव करते हैं।।५५।। ईश्वर सबका कारण है तो विषमता क्यों? इसका जवाब है कि संस्कार नामक बीजों के भेद से कार्यों में भेद होता है। एक स्वरूप वाले कारण से अनेक स्वरूपों वाले कार्य उत्पन्न होते हैं इसमें महान् बुद्धिमान् लोग भूमि का दृष्टान्त देते हैं। स्थिर-चर अनेक कार्यों के प्रति भूमि कारण है जबकि भूमि एक ही है। एक भूमि से चर-अचर विविध शरीर उत्पन्न होते रहते हैं, ऐसे ही नाना प्रकार का विश्व अद्वितीय ब्रह्म से पैदा होता रहता है।।५६-७।।

फिर भी सवाल होता है कि चेतन ब्रह्म से जड जगत् कैसे पैदा हो सकता है? इसके जवाब में चेतन नरदेह का दृष्टांत है : चेतनात्मक चित्तत्त्व से चिद्विलक्षण जड जगत् की उत्पत्ति की उपपत्ति के लिये उत्तम ब्राह्मण जीवित शरीर का उदाहरण उपस्थापित करते हैं। जीवित देह को लोक में चेतन माना जाता है जिससे अचेतन नाखून, बाल आदि उत्पन्न होते ही हैं। ऐसे ही चेतन ब्रह्म से सारा जड जगत् पैदा हो जाता है।।५८-९।।

---

१. 'यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च, यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति। यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि, तथाऽक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्।।'७।। विलक्षणत्वाधिकरणे २.१.३.सू.४-१२ विचारो दर्शनीयः।

तपःपूर्वं सृष्टिः

अत्राऽपि जन्म जगतः क्रमादस्माद् वदन्ति हि। विद्वांसो ब्राह्मणा ब्रह्म पूर्वं विश्वस्य चिन्तनम् ।।
कुरुते वेदविज्ञातनामरूपस्य सर्वतः।।६०
ततो ब्रह्म स्थूलमिव भवेत् तत्तस्य चिन्तनात्। तस्माद्भूतानि सान्नानि जायन्ते ज्ञानसञ्चितात्।
अन्नाद् विश्वमिदं सर्वं सर्वदैव प्रजायते।।६१
आत्मज्ञानेन सम्पन्नं ब्रह्मोपचयमाव्रजेत्। अन्नमव्याकृतं स्वस्मिन् सर्वसाधारणं यतः।।
नामरूपविधानं तदजातं जायते तथा।।६२

'अमृता'-न्तमन्त्रस्य[1] अर्थं प्रादुष्करोति—अत्राऽपीति पञ्चभिः। अत्र जगतो जन्मस्थितिसंहाराणां मध्ये जन्म अनेन क्रमेण भवतीति विद्वांसो ब्राह्मणा वदन्ति। 'अनेन' केन? इत्यत आह—ब्रह्मेत्यादि। प्रथमं ब्रह्म कर्तृ विश्वस्य स्रष्टव्यस्य प्रपञ्चस्य चिन्तनरूपं तपः कुरुते। कीदृशस्य विश्वस्य? सर्वतः सर्वभेदेषु वेदप्रसिद्धनामरूपकस्य इत्यर्थः।।६०।। तत इति। ततः स्रष्टव्यालोचनरूपात्तपसो हेतोः सजलक्षेत्रोप्तबीजवद् ब्रह्म स्थूलतां सृष्ट्यनुकूलतारूपां भजते तस्माद् ब्रह्मणो ज्ञानेन सञ्चितात् स्थूली कृतात् सान्नानि श्रुतिगताऽन्नपदेन स्वार्थसम्बन्धेन लक्षितानि पञ्चभूतानि जायन्ते। तस्मात् पञ्चभूतरूपाद् अन्नात् सर्वं विश्वं जायत इत्यर्थः।।६१।। एवं वृत्तिकृदनुसार्यर्थो दर्शितः।

अथ भाष्यकारसंमतं[2] तमाह—आत्मेति। ब्रह्म परमेश्वर आत्मीयेन ईश्वरधर्मतया प्रसिद्धेन ईक्षणाख्येन ज्ञानेन सम्पन्नं सद् उपचयम् कार्यानुकूल्यरूपं तथा व्रजति यथा स्वस्मिन् उपाधितया वर्तमानम् अव्याकृतं मायादिपदैः प्रसिद्धं नामरूपयोः विधानम् आरम्भकम् अजातम् अनाद्यपि जायते तत्सृष्टिकाले प्राधान्यापत्तिरूपं जन्म लभते। कीदृशमव्याकृतम्? सर्वसाधारणत्वसाधर्म्येण अन्नम् इत्युक्तमित्यर्थः। भूतानामाहुत्यादिकर्मजानाम् अनादीश्वरोपाधित्वस्याऽयुक्तत्वात् मूलाऽज्ञानमेवाऽत्र अन्नपदेन ग्रहीतुमुचितमिति भावः।।६२।।

जगत् के जन्मादि में भी जन्म का निश्चित क्रम है ऐसा विद्वान् ब्राह्मण कहते हैं। वृत्तिकार के अनुसार क्रम ऐसा है : ब्रह्म पहले उत्पाद्य प्रपंच का चिंतन करता है जिसे तप कहते हैं। उस प्रपंच का नाम-रूप हर तरह से वेद द्वारा विज्ञात है। (अतः प्रपंचचिंतन वेद से ही सम्पन्न हो जाता है।)।।६०।। जैसे जलयुक्त खेत में बोया बीज फूल जाता है वैसे उत्पाद्य के चिंतनरूप तप से ब्रह्म भी उत्पत्ति के अनुकूल बन गया और यों तैयार हुए उस ब्रह्म से अन्न-समेत पाँचों महाभूत उत्पन्न हुए।।६१।। भाष्यकार के अनुसार क्रम यों समझना चाहिये : ईश्वर के धर्मरूप से प्रसिद्ध ईक्षण-नामक ज्ञान से संपन्न होकर पमेश्वर ने कार्य के अनुकूल ऐसा रूप धारण किया ताकि उपाधिरूप से स्वयं में वर्तमान मायादि-नाम वाला, नाम-रूप के आकार में परिणत होने वाला, अनादि अव्याकृत प्रधान हो जाये। (ब्रह्म प्रधान रहते सृष्टि आदि विकार संभव नहीं, उपाधि माया प्रधान होने पर ही विकार हो सकता है।) वह अव्याकृत क्योंकि सब के लिये एक-सा है इसलिये अन्न कहलाता है। (आहुति आदि कर्मों से उत्पन्न भूत अनादि ईश्वर की उपाधि हों यह अनुचित होने से मूलाज्ञान ही इस श्रौतप्रसंग में अन्न कहा गया है यह स्वीकार्य है। यदि भाष्यकार व वृत्तिकार के मतों का सामंजस्य इष्ट हो तो क्रम मान लेना चाहिये कि पहले अव्याकृत उपाधि को कार्यानुकूल बनाया फिर भूतों को व्यक्त किया।)।।६२।।

१. 'तपसा चीयते ब्रह्म ततोन्नमभिजायते। अन्नात् प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम्।।'८।।
२. 'तपसा ज्ञानेन उत्पत्तिविधिज्ञतया भूतयोनि अक्षरं ब्रह्म चीयते उपचीयते, उत्पिपादयिषद् इदं जगद् अंकुरमिव बीजम् उच्छूनतां गच्छति पुत्रमिव पिता हर्षेण।... अन्नम् अद्यते भुज्यत इत्यन्नम् अव्याकृतं साधारणं संसारिणाम्...' इति भाष्यम्। तत्र टीकाकारोऽचकथत् 'कर्मापूर्वसमवायिभूतसूक्ष्ममव्याकृतम् इति केचित्। तन्न...' इत्यादि। पुराणकृत्तु व्याख्ययोर्विरोधं नाऽद्राक्षीत्; आत्मज्ञानेनोपचितं ब्रह्म अव्याकृतस्य कार्यानुकूल्यं कृतवत्, विश्वचिन्तनेनोपचितं च भूतसृष्टिमकार्षीद् इति व्यवस्थासंगतेः।

मनःप्राणात्मकस्तस्माद् मृत्युरेष प्रजायते। ततोऽपि जायते सत्यं विराडिति यदीरितम्।।६३
तस्मिन् लोकाः श्रिताः सप्त वेदोक्तं कर्म चाऽखिलम्। कर्मण्यप्यमृतं तद्वद् यदुक्तं कर्मणः फलम्।।६४

वैराग्यायाऽपरविद्याविषयः

सामान्येन विशेषाच्च वेत्ति यः सर्वमेव हि। ब्रह्मरूपाज्ज्ञानचितात् तस्मादेवाऽक्षरात्मनः।।
नामरूपे स्थूलमिदमन्नं सूक्ष्मं च जायते।।६५
तदेतत् सकलं प्रोक्तं पण्डितैः कर्मणः फलम्। विश्वं हिरण्यगर्भादिशरीरं सत्यशब्दितम्।।६६
अग्निहोत्रादिकं कर्म यागैर्दर्शादिभिः समम्। वेदोदरे स्थितं नानारूपं द्रव्यादिभेदतः।।६७

मन इति। तस्माद् अन्नपदोक्ताद् मनःप्राणसमष्टिशरीर एष हिरण्यगर्भो बृहदारण्यके(१.२) मृत्युः इति व्यवहृतो जायते। तस्माच्च सत्यपदोक्तस्थूलपञ्चभूतशरीरो विराट् भवतीत्यर्थः। 'सत्'-पदेन पृथिव्यप्तेजसां, 'त्यत्'-पदेन वाय्वाकाशयोः परोक्षयोः अभिधानमित्युक्तं चतुर्थाऽध्याये (श्लोक ५१९ आदौ)।।६३।। तस्मिन्निति। तस्मिन् विराजि सत्यपदोक्ते जाते सति तदाश्रिताः सप्त भूरादयो लोकाः जाताः तेभ्यश्च तद्वासिजनाधिकारिकं वेदोक्तं कर्म जातम्। तस्मिन् कर्मणि सति तस्मात् कर्मणः फलं जातम्। कीदृशम्? यच्छ्रुताववश्यभावित्वेन अमृतम् इति उक्तम् इत्यर्थः।।६४।। एतावता परा विद्या सविषया संक्षेपेण निरूपिता।

अथ अपरविद्याविषयं वैराग्याय दर्शयितुं सृष्टिप्रक्रियां संक्षेपेण अनुवदतो 'यः सर्वज्ञ' इत्यादिवाक्यस्य[1] अर्थमाह—सामान्येनेति। सामान्यरूपेण सर्वस्य ज्ञानात् सर्वज्ञो, विशेषरूपेण सर्वज्ञानात् सर्वविद् इति च य उक्तः तस्माद् अक्षराद् इदं नामरूपात्मकं सूक्ष्मं ब्रह्म हिरण्यगर्भाख्यं, स्थूलं तु विराडाख्यं यच्छ्रुत्यन्तरे अन्नम् इति व्यवहृतम् एतदुभयं सर्वप्रपञ्चसंग्राहकं जायत इत्यर्थः।।६५।। 'तत्सत्यम्' इत्यादेः 'ब्रह्मलोक' इत्यन्तग्रन्थस्य[2] तात्पर्यं यावति सफलकर्मप्राशस्त्ये भवति तद् दर्शयति—तदेतदिति चतुर्भिः। तत् सूक्ष्मसमष्टिरूपम् एतत् स्थूलसमष्टिरूपं वा यद् विश्वं हिरण्यगर्भादिशरीरमयम् एतत्पर्यन्तमैश्वर्यं कर्मणः फलम् उक्तम्। कीदृशं कर्मफलम्? सत्यशब्दितं कर्मानन्तरमवश्यभावात् सत्यशब्देनोक्तमित्यर्थः।।६६।। कस्य कर्मण इदम् ऐश्वर्यं फलम्? इत्याकांक्षायां, यद् वेदविहितमित्याह—अग्निहोत्रादिकमिति। अग्निहोत्रं सायंप्रातराहुतिरूपम्, आदिपदेन आदित्योपस्थानादिग्रहः; एतत्प्रभृति कर्म दर्शादिसंज्ञैः नित्यकाम्यादिभिन्नैः यागैः सहितं वेदेन विहितम्। कीदृशम्? दध्याज्यादिद्रव्याणाम् आदिपदेन कर्तृ-मन्त्र-देशानां च भेदेन नानाविधमित्यर्थः।।६७।। अधिकारिण एतदकरणे दोषप्रतिपादकमनु-

अन्न-नामक उस अव्याकृत से यह मृत्यु पैदा होता है जो समस्त मनों व प्राणों की समष्टि है (अर्थात् ईश्वर से हिरण्यगर्भ उत्पन्न होता है)। उससे भी वह विराट् पैदा होता है जो सत्-त्य कहा गया है। (हिरण्यगर्भ को मृत्यु और स्थूल भूतों को सत्-त्य बृहदारण्यक में कहा गया है।)।।६३।। सत्य नामक विराट् पैदा हो जाने पर उसमें आश्रित भूः आदि सात लोक पैदा हुए एवं उनसे वेदोक्त कर्म बना जिसके अनुष्ठान का अधिकार उन लोकों के निवासियों को है। कर्म विद्यमान हो जाने पर उस कर्म से वह फल पैदा हुआ जो श्रुति में अमृत कहा गया है क्योंकि उसका फल अवश्य होता है।।६४।। (परा विद्या और उसके विषय अक्षर तत्त्व का संक्षेप में निरूपण हुआ।)

१. 'यः सर्वज्ञः सर्वविद्, यस्य ज्ञानमयं तपः। तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते।' ।९।।
२. 'तदेतत्सत्यम्। मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा सन्ततानि। तान्याचरथ नियतं सत्यकामा एष वः पन्थाः सुकृतस्य लोके।।'१.२.१।। यदा लेलायते ह्यर्चिः समिद्धे हव्यवाहने। तदाज्यभागावन्तरेणाहुतीः प्रतिपादयेत्।।२।। यस्याग्निहोत्रम् अदर्शम् अपौर्णमासम् अचातुर्मास्यम् अनाग्रयणम् अतिथिवर्जितं च। अहुतम् अवैश्वदेवम् अविधिना हुतम् आ सप्तमांस्तस्य लोकान् हिनस्ति।।३।। काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा। स्फुलिंगिनी विश्वरुची च देवी लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः।।४।। एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु यथाकालं चाहुतयो ह्याददायन्। तं नयन्त्येताः सूर्यस्य रश्मयो यत्र देवानां पतिरेकोऽधिवासः।।५।। एह्येहीति तमाहुतयः सुवर्चसः सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहन्ति। प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽर्चयन्त्य एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः।।'६।।

अकुर्वन् वैदिकं कर्म निषिद्धं च समाचरन्। इन्द्रियार्थे विमूढात्मा पुमान् गच्छेदधोगतिम्। ।६८
यथोक्तं कर्म कुर्वाणो निषिद्धं च विवर्जयन्। पुमान् स्वर्गादिलोकेषु सुखदं देहमाव्रजेत्। ।६९
अशरीरं न मोक्षं स विहितैरपि कर्मभिः। प्राप्नुयात् कृतकं यस्माद् अनित्यं कर्मणः फलम्। ।७०
कर्माणि निखिलान्यस्माज्ज्योतिष्टोमादिकानि च। भवाब्धेस्तु परं पारं नरं नेतुं भवन्ति न। ।७१
पयोनिधौ यथा क्षुद्राः प्लवा मत्स्यादिघातने। कृतास्तीरस्य विधये नासते ह्यदृढाः स्वयम्। ।७२

वाक्यमर्थतः (मनु.११.४४) पठति—अकुर्वन्निति। वेदविहितकर्माऽकरणं, तन्निषिद्धाचरणं, विषयासक्तिश्च—एतत् त्रयम् अधोगतिलक्षणमित्यर्थः। ।६८। । निषिद्धपरिहारपूर्वकं विहितानुष्ठाने च हिरण्यगर्भलोकान्तलोकेषु ऐश्वर्यशालिदेहप्राप्तिर्भवतीत्याह—यथोक्तमिति। ।६९। । उक्तं कर्म द्विविधम् स्वर्गाद्यर्थं, चित्तशुद्ध्यर्थं च। तत्राद्यस्य फलं दर्शितम्।

अथ द्वितीयस्य फलभूतं वैराग्यमभिनयन्ति 'प्लवा' इत्यादयः पञ्च मन्त्राः। तत्र[1] प्रथमस्यार्थमाह—अशरीरमिति एकादशभिः। स कर्मी शरीरत्रयाऽभावशालिनं मोक्षमपि प्राप्नुयाद् इति आशा न कर्तव्या, कृतकत्वेन अनित्यस्यैव कर्मलभ्यत्वात्; मोक्षस्य तद्वैलक्षण्यादित्यर्थः। ।७०। । कर्माणीति। अस्माद् अनित्यसाधनत्वादेव ज्योतिष्टोमादीनि निखिलानि कर्माणि भवाब्धेः परं पारं तीरं नित्यमोक्षरूपं नेतुं प्रापयितुं न समर्थानि भवन्ति इत्यर्थः। ।७१। । अत्र दृष्टान्तमाह—पयोनिधाविति। यथा पयोनिधिजले कृताः प्लवाः तृणकाष्ठनिर्मितानि तरणसाधनानि मत्स्यघातनायैव उपयुज्यन्ते, पारस्य पारगमनस्य विधये साधनाय तु नासते न योग्यतया तिष्ठन्ति, क्षुद्रत्वाद् अदृढत्वाच्च। तथा

(अपरा विद्या का विषय है जगत्। जगत् से वैराग्य हो इस प्रयोजन से सृष्टिप्रक्रियादि का कथन करते हैं:) सामान्य रूप से सबका जानकार अतः सर्वज्ञ और विशेष रूप से सबका जानकार अतः सर्ववित् वह अक्षर है जिसका रूप है ज्ञान से फूला हुआ ब्रह्म (अर्थात् पूर्वोक्त तप से संपन्न ब्रह्म ही सर्वज्ञ-सर्ववित् अक्षर, ईश्वर है)। उस अक्षरात्मक तत्त्व से ही यह नाम-रूपात्मक सूक्ष्म ब्रह्म अर्थात् हिरण्यगर्भ और अन्न कहलाने वाला यह स्थूल ब्रह्म अर्थात् विराट् उत्पन्न होते हैं। ।६५। । पण्डितों ने इस सबको कर्म का फल बताया है। (अर्थात् विराट्-हिरण्यगर्भ तक का ऐश्वर्य कर्मों से प्राप्य है।) हिरण्यगर्भादि का शरीर यह विश्व 'सत्य' कहा जाता है। ।६६। । किस कर्म का फल पूर्वोक्त ऐश्वर्य है? वेदोक्त कर्म का ही वह फल है। दर्श आदि यागों समेत अग्निहोत्रादि कर्म वेदों के अंदर विहित है जो अपने रूपभूत द्रव्यादि के भेद से अनेक तरह का है। ।६७। ।

इन्द्रियविषयों के प्रति विमोहपूर्ण चित्त वाला पुरुष वैदिक कर्म न करते हुए और जिनका निषेध है वे कर्म करते हुए अधोगति पाता है। ।६८। । जिन्हें करना मना किया गया है उनसे बचते हुए यथाविधि कर्म करते रहने पर पुरुष स्वर्गादि लोकों में सुखप्रद शरीर पाता है। ।६९। । (कर्म स्वर्गादि प्रयोजन सिद्ध करता है यह बताया। वही कर्म विनियोगवश चित्तशुद्धि भी कर सकता है। चित्तशुद्धि अर्थात् वैराग्य। यह तथ्य अब प्रकाशित करेंगे।)

कर्मानुष्ठाता वह मोक्ष पा जाये जिसमें तीनों शरीर होते नहीं, यह आशा नहीं रखनी चाहिये। कर्मफल क्रियाजन्य होने से अनित्य ही होता है जबकि कैवल्य ऐसा है नहीं अतः कर्म से उसे नहीं पा सकते। ।७०। । क्योंकि अनित्य का साधन हैं इसलिये ज्योतिष्टोमादि सारे कर्म मनुष्य को संसार समुद के परले किनारे पहुँचाने में सक्षम नहीं हैं। ।७१। । छोटी नौकाएँ समुद्र में मछली पकड़ने के उपयोग की भले ही हों, समुद्र के परले किनारे नहीं पहुँचा सकतीं क्योंकि खुद कमज़ोर होती हैं। लहरों की मार से हमेशा मानो वे डूबती रहती हैं और उनमें पानी आ जाने पर वे काँपने लगती हैं जिससे उन नौकाओं पर आश्रित लोग डर जाते हैं। ।७२-३। । ऐसे ही संसारसागर में उपलब्ध ये कर्मरूप नावें

१. 'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म। एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवाऽपि यन्ति। ।'७। ।

कल्लोलमालाकुलिता मज्जन्त इव सर्वदा। नीरपूर्णाश्च कम्पन्ते आश्रितानां भयप्रदाः।।७३

एवं कर्मप्लवा एते संसारजलधौ स्थिताः। कामक्रोधादिकल्लोलैः कम्पिता दार्ढ्यवर्जिताः।।
स्वर्गादिसुखमत्स्यानां प्राप्तये परिकल्पिताः।।७४

अध्वर्योर्यजमानोऽत्र पत्न्याऽपि सहितः सदा। ऋत्विजः कथितास्तेषां नेतारः षोडशाऽपि च।।७५

कर्णधारो न कोऽप्यत्र कर्मनौषु भवार्णवे। अनुकूलो न वातश्च ब्रह्मचर्यादिरूपभाक्।।७६

स्वयं चादृढरूपत्वात् प्रतिक्षणविनश्वरान्। एतान् विश्वस्य को नाम प्रविशेद् भवनीरधौ।।७७

सुखार्थिना ततः सर्वे तरीतुं भववारिधिम्। कदाचिन्नैव संग्राह्याः स्वर्गमत्स्यसुखाप्तिदाः।।७८

एतान् कर्मात्मकान् हृष्टाः प्लवान् संगृह्य ये स्थिताः। संसारजलधेर्नैते भवेयुः परपारगाः।।७९

कामक्रोधादिकल्लोलैः प्लवेऽस्मिन् परिवर्तिते। जरामरणनीरेऽस्मिन्नुन्मज्जन्ति पतन्ति च।
शतशो दुःखसहिताः संसारश्रमकर्षिताः।।८०

कल्लोलमालयाऽऽकुलिताः सन्तो मज्जन्त इव भवन्ति, नीरपूर्तिदशायां च कम्पमानाः, आश्रितानां भयप्रयोजका भवन्ति। इति द्वयोरर्थः।।७२-३।। दार्ष्टान्तिके योजयति—एवमित्यादिन। इत्थं कर्मरूपाः प्लवाः संसारजलधौ स्वर्गसुखादिरूपमत्स्यानां प्राप्तय एव रचिताः, न परपाराय। कीदृशाः? कामादिरूपकल्लोलवेगैः कम्पिता अदृढाः स्वल्पविघ्नेन अपि प्रतिहतत्वाद् इत्यर्थः।।७४।।

ननु कर्मप्लवेषु क्षेपणीचालकधीवरस्थानीयाः के? इत्याकांक्षायामाह—अध्वर्योरिति। अध्वर्युमारभ्य षोडश ऋत्विजो यजमानः तत्पत्नी च—एतेऽष्टादश, तेषां कर्मप्लवानां नेतारः प्रवर्तकाश्चालका इति यावत्। तत्र षोडशानामृत्विजां नामानि यथा—यजुर्विदः—अध्वर्युप्रतिप्रस्थातृनेष्टुन्नेतारः चत्वारः; ऋग्विदः—होतृमैत्रावरुणाच्छावाकग्रावस्तुतः चत्वारः; सामविदः—उद्गातृप्रस्तोतृप्रतिहर्तृसुब्रह्मण्याः चत्वारः; त्रयीविदः—ब्रह्मब्राह्मणाच्छंस्याग्नीध्रपोतारः चत्वारः; सङ्कलने षोडश।।७५।। श्रोत्रियब्रह्मनिष्ठगुरुलक्षणः कर्णधारो ब्रह्मचर्यलक्षणसन्मार्गावर्जितेश्वरलक्षणो वाऽनुकूलवातश्च कर्मरूपासु नौकासु नास्तीत्याह-कर्णेति।।७६।। स्वयमिति। स्वभावेनैव प्रतिक्षणविनश्वरान् एतान् कर्मप्लवान् विश्वस्य आस्थया समालम्ब्य भवाब्धौ कः प्रविशेत् निःशङ्कः प्रचरेत्? इत्यर्थः।।७७।। फलितमाह—सुखार्थिनेति। स्वर्गादिमत्स्यानां यत् सुखं तल्लाभदाः।।७८।। एतानिति। ये मूढा एतान् कर्मरूपान् प्लवान् संगृह्य आलम्ब्य हृष्टाः स्थिताः ते भवाब्धिं न तरन्ति प्रत्युत कामादिकल्लोलवशात् कर्मप्लवे परिवर्त्तिते विप्लुते सति शतशोऽत्र निमज्जन्ति। इति द्वयोरर्थः।।७९-८०।।

स्वर्गादिसुखरूप मछलियाँ पकड़ने के लिये ही तैयार की गयी हैं, संसार से परे जाने के लिये नहीं। काम-क्रोध आदि लहरों से ये कर्म-नौकाएँ काँपती रहती है, इनमें कोई दृढता नहीं हैं, थोड़े भी विघ्न से ये प्रतिहत हो जाती हैं।।७४।।

(नौका में धीवर की जगह कर्मों में कौन है?—) उन कर्मनौकाओं के चालक अठारह हैं— अध्वर्यु आदि सोलह ऋत्विक्, यजमान और उसकी पत्नी।।७५।। भवसागर में पड़ी इन कर्मनौकाओं का कोई कर्णधार नहीं। (श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु ही योग्य कर्णधार संभव है जो उपलब्ध नहीं।) ये नावें सही दिशा में बहें इसके लिये ज़रूरी उचित हवा भी नहीं बह रही। ब्रह्मचर्य जिसमें असाधारण है ऐसे सदुपाय से प्रसन्न किया ईश्वर ही अनुकूल वायु है।।७६।। खुद कमजोर रूप वाली होने से हर क्षण नष्ट होने के शील वाली इन कर्मनौकाओं पर भरोसा कर संसार सागर में कौन घुसे!।।७७।। स्वर्गादिरूप मत्स्यात्मक सुखलाभ देने वाले किसी भी कर्म का उसे कभी संग्रह नहीं करना चाहिये जो आनंद का प्रार्थी भवसागर पार करने को उत्सुक हो।।७८।। जो मूर्ख इन कर्मरूप नौकाओं का सहारा लेकर प्रसन्न हुए संतुष्ट रहते हैं

अविद्यानीररचिते सर्वदा भवसागरे। धीवरा इव वर्तन्ते भूतोपद्रवकारिणः।।८१
दुर्धियः पण्डितंमन्याः स्वपराऽनर्थकारिणः। यतस्ततो भ्राम्यमाणा मायागर्ते गता भृशम्।।८२
मूढाः कर्तव्यतायां ते स्वात्मज्ञानविवर्जिताः। अन्धेन नीयमानाः स्युर्यद्वदन्धाः सहस्रशः।।८३
याज्ञिकेनैवमेवैते स्वात्मज्ञानविवर्जिताः। स्वर्गाभिलाषिणो घोरे मायानीरे भवार्णवे।।८४
स्वयं च तादृशा नित्यं कामक्रोधवशं गताः। आत्मदुःखं न जानन्ति भूतग्रस्ता इवातुराः।।८५
वयं कृतार्था इति च मन्यन्ते स्वल्पबुद्धयः। नृत्यन्तोऽपि हसन्तश्च पिशाचा इव कर्मिणः।।८६
कामग्रहसमावेशाद् भूतावासेऽनिजे तथा। परां च सुखबुद्धिं ते प्राप्ता दैवविमोहिताः।।८७

तत्र[1] द्वितीयार्थमाह—अविद्येति चतुर्भिः। अविद्या एव यत्र नीरस्थानीया तादृशे भवसागरे धीवरवत् स्वं परं च क्लेशयन्तः ते कर्मिणो वर्तन्ते।।८१।। दुर्धिय इति। कीदृशाः? दुर्धियोऽपि आत्मानं पण्डितं मन्यमानाः। दुर्धीत्वे हेतुः स्वपराऽनर्थकारिणः इति। पुनः कीदृशाः? यतस्ततो रोगाद्यनर्थैः भ्राम्यमाणा विक्षेपं नीताः सन्तो मायाप्रयुक्ते मोहमयगर्ते गताः पतिताः।।८२।। मूढा इति। पुनः कीदृशाः? कर्तव्यतायाम् अनुष्ठेयव्यवस्थायां व्यामोहवन्तः। तेषां निर्णयो गुरुभ्योऽपि न भवति, गुरूणामपि तादृशत्वाद् इत्याह—स्वात्मेत्यादिना। यद्वत् स्वकीयविवेकरहिता अन्धा अन्धेन नीयमाना दुःखसन्ततिमन्तः स्युस्तथा एते कर्मिणः स्वात्मज्ञानविवर्जिता याज्ञिकेन कर्मिणा गुरुणा नीयमानाः स्वर्गाभिलाषिणो घोरे भवार्णवे दुःखिताः स्युः। इति द्वयोरर्थः।।८३-४।।

[2]तृतीयचतुर्थयोरर्थमाह— स्वयमित्यादिना। तादृशा जनाः स्वयं गुरुनिरपेक्षा आत्मीयं दुःखं तन्निवृत्त्युपायं वा न जानन्ति कामवशत्वेन आतुरत्वाद् भूताविष्टवद् इत्यर्थः।।८५।। भूताविष्टसाम्यमेव स्फुटयति—वयं कृतार्था इति।।८६।। कामेति। कलिद्रुमे पाञ्चभौतिकदेहे च रूढियोगाभ्यां वर्तमानं भूतावासपदम् आवर्तनीयम्। तथा च अनिजे परकीये भूतावासे देह एव भूतावासे कलिद्रुमे परां सुखबुद्धिं प्राप्ताः दैवप्रातिकूल्यात्। तत्र विशेषहेतुः कामरूपस्य ग्रहस्य भूतस्य समावेश एव इत्यर्थः।।८७।। तेषां कामग्रहप्रयुक्तचिन्तया व्याप्ते चेतसि आत्मानु-

वे संसारसागर के परले किनारे नहीं पहुँच पाते वरन् काम-क्रोधादि बृहत्तरंगों से उन नावों के उलट जाने पर सैकड़ों बार इस संसार में डूबते-उबरते रहते हैं जिसमें जलस्थानीय है बुढापा और मौत। संसरण के परिश्रम से पीडित वे अविवेकी दुःखी ही बने रहते हैं।।७९-८०।। जैसे समुद्रीय प्राणियों को कष्ट देने वाले धीवर खुद भी हमेशा समुद्र में परेशानी का ही जीवन बिताते हैं ऐसे कर्मपरायण जीव स्वयं को व अन्यों को क्लेश देते हुए हमेशा इस भवसागर में पड़े रहते हैं जिसमें जलस्थानीय है आत्मस्वरूप का अज्ञान।।८१।। जिनकी बुद्धि में दोष है वे खुद को बड़ा समझदार मानते हैं और जिस-किसी हेतु से विक्षिप्त होते रहकर मोहमय गड्ढे में तो गिरते ही हैं, अपने व अन्यों के लिये अनर्थ भी बटोरने में कसर नहीं छोड़ते।।८२।।

स्वात्मा के स्वरूप से बेखबर वे कर्मजड इस बारे में भी सही निर्णय नहीं ले पाते कि उन्हें क्या करना चाहिये। जैसे कोई अंधा चाहे हज़ारों अंधों को रास्ता बताते हुए ले चले, सभी की परेशानी का ही कारण बनेगा वैसे ही अनात्मज्ञ स्वर्गेच्छुकों को जब ऐसा गुरु मार्गदर्शन कराये जो यज्ञादि कर्म को ही परमसाधन समझता है तब वे मायारूप जल वाले भीषण भवसागर में डूब ही सकते हैं, बचने की कोई संभावना नहीं।।८३-४।। ऐसे हतभाग्य सद्गुरु के निर्देश के

---

१. 'अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः। जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः।।'८।।

२. 'अविद्यायां बहुधा वर्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः। यत् कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात् तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते।।९।। इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः। नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति।।'१०।।

अयं नो निहतः शत्रुर्भाग्ययोगादयं पुनः। हन्तव्योऽयमिदं मित्रं ममोर्जितमभूदिह।।८८
इत्यादि चिन्तया विद्धा मृत्युग्राहवशंगताः। आनन्दात्मानमात्मस्थं न जानन्ति विमोहिताः।।८९
कर्मैव येऽत्र संसारे सम्यगित्येव संस्थिताः। ते सर्वे सुकृतं सर्वमनुभूयाऽथ कालतः।
क्षीणपुण्याः पतन्त्यस्माद् दुःखशोकसमन्विताः।।९०
यथा च धनिनो मृत्युकाले पुत्रादिसंवृताः। दुःखिनः स्वर्गिणस्तद्वत्काले कर्मक्षयात्मके।।९१
राज्ञोऽत्र मरणे यावद् दुःखं स्यात् सुखिनो महत्। कर्मक्षये तथा दुःखं स्वर्गिणो जायते सदा।।९२
स्वर्गेऽपि सर्वदा तेषां पारतन्त्र्यमनीशता। एतल्लोके यथा दुःखं धनिनां धननाशने।
स्वर्गनाशात्तथा दुःखं स्वर्गिणामिह जायते।।९३

सन्धानाऽवकाशो न भवति इत्याह—अयमिति द्वाभ्याम्। अयं शत्रुः हतः। अयं तु सः पुनः उत्थितः इति शेषः। स्फुटमन्यत्।।८८।। इत्यादीति। विद्धाः संव्याप्तचेतसः। मृत्युः प्रमादः स एव ग्राहः तद्वशं गताश्च आत्मानं ज्ञातुं न शक्नुवन्तीत्यर्थः।।८९।। आत्मविस्मरणापराधेन तेऽनित्यलोकाः स्युः इत्याह—कर्मैवेति। ये कर्मैव सम्यक् श्रेय इति निश्चित्य अत्र संसारे संस्थिताः परिनिष्ठिताः ते सर्वे सुकृतफलं सर्वमनुभूय कालेन क्षीणपुण्याः सन्तः अस्मात् स्वर्गात् सशोकाः पतन्ति।।९०।।

तेषां स्वर्गपातकाले दुःखशोकसमन्वितत्वं स्फुटयति—यथा चेति। निगदव्याख्यातं द्वयम्।।९१-२।। न केवलं पातकाल एव तेषां दुःखं किन्त्वन्यदापीत्याह—स्वर्गेऽपीति। अनीशता अधिकैश्वर्यलाभाक्षमत्वम्। यथैतल्लोके धनव्ययाद् दुःखं तथा भोगभूमौ सुकृतस्य नाशाद् व्ययाद् दुःखमिति।।९३।। 'कष्टं कर्म' इति न्यायेन कर्मण बिना न अपने दुःख को पूरी तरह समझ पाते हैं न उसे मिटाने का तरीका और भूतावेश से आतुर हुए की तरह काम-क्रोध के नियंत्रण में ही कष्टमय जीवन व्यतीत करते रह जाते हैं।।८५।। तुच्छ बुद्धि वाले वे कर्मपरायण लोग पिशाचों जैसे नाचते-हँसते हुए ही मानते हैं कि उन्हें उनका पुरुषार्थ प्राप्त हो गया! (अर्थात् तात्कालिक हर्षोल्लास से अधिक उनका कोई लक्ष्य होता ही नहीं कि उसके लिये प्रयत्न की प्रेरणा संभव हो।)।।८६।। दुर्भाग्य से मोहग्रस्त उन लोगों पर कामना-नामक ग्रह का आवेश हुआ रहता है जिससे वे अपने शरीर को ही सर्वाधिक सुख माने रहते हैं। (अपने व पराये शरीर में ही सुखबुद्धि रहने से शरीरातीत सुख की उन्हें कोई संकल्पना नहीं होती तो धर्मप्रवृत्ति ही संभव न होने पर मोक्षार्थ प्रवृत्ति की असंभवता का क्या कहना!)।।८७।। उनके चित्त इन्हीं चिन्ताओं में व्यस्त रहते हैं कि 'सौभाग्य से हमारा यह दुश्मन मार लिया गया, अब उस शत्रु को और मारना है; इस परिस्थिति में यही मेरा सर्वाधिक समर्थ मित्र है' इत्यादि। मृत्युरूप घड़ियाल के मुँह में फँसे वे आत्मरूप से स्थित आनन्दरूप आत्मा के अनुसन्धान का अवसर ही नहीं निकालते, अत्यधिक मोह में पड़कर पूर्वोक्त आसुर-सम्पत् के विकास में ही व्यस्त रहते हैं।।८८-९।। जो पूर्वापर शास्त्रविचार किये बिना यही निश्चय कर इस संसार में संलग्न रहते हैं कि कर्म ही समुचित कल्याण-साधन है वे सब अपने पुण्यों का सारा फल भोग कर यथासमय पुण्य समाप्त हो जाने पर दुःख व शोक से पीडित होते हुए स्वर्ग से गिर पड़ते हैं। ('कर्म' अर्थात् विहित धर्म, अतः पुण्यफल भोगने की बात कही। जो उससे भी निकृष्ट लौकिक कर्म में ही लगे रहते हैं वे भी किये शुभ-अशुभ का फल भोग कर फिर-फिर जन्म लेते रहते हैं। पुण्यकर्मी का स्वर्गभोग्य कर्म समाप्त होते ही उसे निकृष्ट लोकों में आ जाना पड़ता है। कृतात्ययाधिकरण में (ब्र.सू. ३.१.२.सू.८-११) इस पर विस्तार द्रष्टव्य है। भगवान् ने भी (९.२१) यह तथ्य बताया है।)।।९०।।

मौत आने पर पुत्रादि से घिरे धनी जैसे दुःखी होते हैं वैसे कर्म क्षीण होने पर स्वर्गस्थ जीव दुःखी होते हैं।।।९१।। सुखी राजा को मरने का जितना महान् दुःख होता है उतना ही उस स्वर्गस्थ जीव को होता है जिसका स्वर्गोपभोग्य कर्म क्षीण हो जाता है।।९२।। स्वर्ग में भी जीवों को हमेशा परतंत्र रहना पड़ता है, अपने हक से ज़्यादा ऐश्वर्य वे

कर्मणां करणे दुःखं फलप्राप्तौ तथैव च। फलक्षये पुनर्जन्मसम्भवं चाऽतिदारुणम्।।६४
जायमानः पुमान् को वा ह्यत्र स्वर्गाद् भविष्यति। उत्तमो मध्यमो वा स्यादधमो नारकोऽथ वा।।६५
को नाम कर्मणः पाकं तस्य जानाति भाविकम्। अयं दक्षिणमार्गः स्यात्स्वर्गिणो येन यान्त्यमी।।६६
उत्तरोऽपि द्वितीयोऽस्ति मार्गः संसृतिमध्यगः। परपारसमीपस्थः स तु केषाञ्चिदेव हि।।६७
आत्मनस्तूर्ध्वरितस्त्वं सङ्कल्प्य न पुनः स्त्रियम्। देहेनाऽनेन गच्छन्ति ते यान्त्युत्तरमार्गतः।।
उपासका गृहस्थाश्च ये च पञ्चाग्निवेदिनः।।६८
तत्राऽपि ब्रह्मविज्ञानं जायते दैवयोगतः। ततः परं प्रयान्त्येते यथा भूमिस्थिता नराः।।६९

आदिमध्यावसानेषु दुःखरूपतामाह—कर्मणामिति। करणेऽनुष्ठानकाले, फलाप्राप्तौ[1] पारतन्त्र्यादिरूपं दुःखम्। पुनर्जन्मसम्भवं पुनर्जन्मावधिकं दुःखमतिदारुणं भवति इति।।६४।। पुनर्जन्मदुःखमेव स्फुटयति—जायमान इति। स्वर्गं प्राप्य पुनः जायमानो जन्तुः को भविष्यति इति भाविनं तस्य कर्मणो विपाकं को जानाति? एषा इष्टापूर्तपरायणानां गतिरुक्तेत्युपसंहरति—अयमिति।।६५-६।।

'तप' इत्यादिमन्त्रेण[2] देवयानवतां फलमुक्तं विशदयति—उत्तर इति पञ्चभिः। द्वितीय उत्तरमार्गोऽपि संसारान्तर्गत एव। स तु परपारसमीपगतः केषाञ्चिद् विरतानामेव भवतीत्यर्थः।।६७।। तत्र हेतुतया तत्साधनब्रह्मचर्यादीनां दुष्करत्वमाह—आत्मन इति। ये तु ऊर्ध्वरितस्त्वं सङ्कल्प्य अनेन देहेन स्त्रियं न गच्छन्ति ते नैष्ठिकाः; तथा दहराद्युपासकाः; तथा गृहस्था अपि पञ्चाग्न्युपासकाः; एत उत्तरमार्गेण गच्छन्ति इत्यर्थः।।६८।। ब्रह्मलोकेऽपि मोक्षस्य पाक्षिकत्वमाह—तत्रेति। तत्र उत्तरमार्गगम्ये ब्रह्मलोके यदि ब्रह्मज्ञानं जायते तदा एत उक्ताधिकारिणः ततः कार्यब्रह्मणः परं परस्ताद् वर्तमानं परमात्मानं प्रयान्ति। तत्र ज्ञानेन परमात्मलाभो भूमौ ब्रह्मलोके च सम इत्याह— यथेति।।६९।। अन्यथेति। अन्यथा तत्र तत्त्वज्ञानाऽभावे एतं मानवलोकं पुनः आवर्तन्ते

वहाँ किसी तरह नहीं पा सकते अतः वहाँ भोग भोगते हुए भी वे दुःखी रहते हैं। इस लोक में जैसे धनिक को धनव्यय से दुःख होता है वैसे स्वर्गस्थ जीव जब सुख भोगता है तब 'पुण्य खर्च हो रहा है' समझकर दुःखी बना रहता है।।६३।। कर्म तो प्रारंभ-मध्य-अंत सदा दुःख ही देता है : कर्म करने में परिश्रम का दुःख स्पष्ट है, फल मिलने पर परतंत्रता क्षयिष्णुता तुलनात्मकता आदि से दुःख अनुभवसिद्ध है तथा फल क्षीण होने पर स्वर्गपात से पुनः जन्म तक अतिदारुण दुःख होता ही है।।६४।। स्वर्ग पाकर लौटा पुनः उत्पन्न होने वाला जीव इस लोक में कौन-सी योनि पायेगा यह कौन जानता है! उत्तम देवयोनियाँ पा सकता है, मध्यम मानवयोनि में आ सकता है या अधम पशु आदि योनियों में पैदा हो सकता है। कदाचित् तो उसे नरक में ही पड़ना पड़े यह संभव है। कब कौन-सा कर्म फलीभूत होगा यह ईश्वर से अन्य कोई जान नहीं सकता। यह दक्षिण का रास्ता है जिससे स्वर्ग पाने वाले जाते हैं।।६५-६।। (एवं च विवेकी को कर्ममार्ग की कष्टमयता के विचार से निश्चय करना चाहिये कि कर्म कल्याण का पर्याप्त साधन नहीं।)

संसरण के मार्गों में दूसरा है उत्तर मार्ग। यद्यपि यह भी जन्म-मृत्यु के चक्र में घुमाने वाला ही है तथापि कुछ वैराग्यशीलों को यह संसारसागर के परले किनारे के निकट तक पहुँचा सकता है।।६७।। जो यह संकल्प कर लेते हैं कि हम ऊर्ध्वरिता, ब्रह्मचारी रहेंगे और उस संकल्प के बाद उस स्थूल शरीर से स्त्रीसंसर्ग नहीं करते वे उत्तर मार्ग से प्रयाण करते हैं। दहरविद्या आदि के अनुष्ठाता उपासक एवं पंचाग्निविद्या के अभ्यासी गृहस्थ भी उत्तरायण से गमन करते हैं।।६८।।

१. फलप्राप्ताविति लेखनीयम्।
२. 'तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्षचर्यां चरन्तः। सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा।।'११।।

अन्यथा पुनरेवैतमावर्तन्ते यथागतम्। कालेऽतीते हि महति तस्मिन् मन्वन्तरादिके।।१००
उत्तरोऽपि ततो मार्गो हेयो दक्षिणमार्गवत्। अत्राऽपि यत एतत् स्याद् देहं कारागृहं पुनः।।१०१

परीक्षा

वनिनां न्यासिनां तद्वद् नैष्ठिकब्रह्मचारिणाम्। विद्याविदां तथैवैषां सर्वेषां गृहिणामपि।।१०२
ब्रह्मलोकेऽथ वा स्वर्गे पाताले नरकेऽथ वा। भूमौ वा ब्रह्मविज्ञानं मुक्तिहेतुरसंशयम्।।१०३
शरीरं दुःखदं तद्वत् सर्वत्रैवेति निश्चितम्। ब्रह्मलोकादिको लोकः ततो दुःखस्य कारणम्।।
स्वर्गादिवदतो ज्ञेयो विद्वद्भिर्नरको यथा।।१०४
राजार्थं रचिते यद्वत् प्रासादे सप्तभूमिके। उपर्यधो वा दुःखाप्तौ भेदः कोऽपि न विद्यते।।१०५
हैमी लौह्यथ वा यद्वच्छृङ्खला बन्धनप्रदा। दैवो वा मानुषो वाऽयं देहो दुःखप्रदस्तथा।।१०६

परिवृत्त्यागच्छन्ति परन्तु अस्मिन् मन्वन्तरे कल्पे वा नायान्ति किन्तु परस्मिन्नेवेत्याह– काल इति। तस्मिन् श्रुतौ 'एतम्' इति पदेन विवक्षिते।।१००।। फलितमाह–उत्तर इति।।१०१।।

अथ 'परीक्ष्य' इत्यादेः 'कृतेन' इत्यन्तस्य[1] अर्थम् अष्टाविंशत्या वर्णयंस्तत्र परीक्षामभिनयति– वनिनामित्येकादशभिः। विद्याविदाम् उपासकानाम् वनिप्रभृतीनाम् अधिकारिणां ब्रह्मलोकादौ यत्र कुत्राऽपि लोके[2] ब्रह्मज्ञानमेव मोक्षहेतुः। इति द्वयोरर्थः।।१०२-३।। तथा शरीरस्य सर्वत्र दुःखमयत्वाऽविशेषाद् ब्रह्मलोकादिकं हेयमित्याह–शरीरमिति। ततो देहसम्बन्धाद् ब्रह्मलोकादिः ऊर्ध्वलोकोऽपि[3] स्वर्गादिवद् वर्णितविधया दुःखकारणं भवति अतो हेतोः विद्वद्भिः नरकवज्ज्ञेय इत्यर्थः।।१०४।। तत्र देहानामवान्तरवैषम्येऽपि तत्फलदुःखसाम्यं सदृष्टान्तमाह–राजार्थमिति द्वाभ्याम्। यथा राजकीयप्रासादे यत्र कुत्राऽपि भूमौ स्थितस्य ज्वरादिदुःखं समं तथोत्तमदेहेऽपि इत्यर्थः।।१०५।। यथा च शृङ्खला हेममयी वाऽस्तु लोहमयी वा सर्वस्या बन्धकत्वं समं तथा देहस्य दुःखदत्वमित्याह–हैमीति।।१०६।।

किंतु इतने मात्र से उन्हे मोक्ष नहीं मिल जाता। ब्रह्मलोक में भी अत्यंत सौभाग्य से ही ब्रह्मसाक्षात्कार होता है जिससे मुमुक्षु उस कार्यब्रह्म का अतिक्रमण कर परमात्मस्वरूप से अवस्थित हो पाता है जो मोक्ष है। जैसे पृथ्वीगत जीव के लिये परमात्मप्राप्ति तत्त्वज्ञानैकसाध्य है वैसे ही ब्रह्मलोकस्थ जीव के लिये भी।।९९।। जिन अनधिकारियों को ब्रह्मलोक में भी तत्त्वबोध नहीं होता वे लौटकर फिर इस मानव लोक में आ जाते हैं किंतु जिस मन्वन्तर में उन्हें ब्रह्मलोक मिला उस मन्वन्तर में लौटकर नहीं आते, वह मन्वन्तर बीतने के बाद ही लौटते हैं अतः बहुत अधिक समय तक वहाँ का आनंद भोगते हैं (तेंतालीस लाख बीस हज़ार मानवीय वर्षों का समय एक मन्वन्तर है।)।।१००।। क्योंकि फिर शरीररूप जेल में डालता है इसलिये दक्षिणमार्ग की तरह उत्तर मार्ग भी छोड़ने लायक ही है।।१०१।।

वनवासी, संन्यासी, नैष्ठिक ब्रह्मचारी या उपासनाशील गृहस्थ हों, सभी के लिये अधिकारप्राप्ति-पूर्वक ब्रह्मज्ञान ही मुक्तिहेतु है। ब्रह्मलोक, स्वर्ग, पाताल, नरक या पृथ्वी—चाहे जहाँ जीव हो उसे यदि कैवल्य मिलेगा तो केवल अद्वैतसाक्षात्कार से ही मिलेगा।।१०२-३।। उक्त नियम की तरह ही यह भी ध्रुव है कि चाहे जहाँ हो, शरीर दुःख अवश्य देता है। देहसम्बंधी होने से ब्रह्मलोकादि ऊर्ध्व लोक दुःखप्रद हैं अतः समझदार को चाहिये कि स्वर्गादि की तरह उन्हे भी हेय समझे।।१०४।। अलग-अलग लोकों में शरीर विभिन्न प्रकार के होते हैं पर दुःख सर्वत्र एक-सा है। मान लो

१. 'परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायाद् नास्त्यकृतः कृतेन।'
२. 'तदुपर्यपी' त्यादिदेवताधिकरण एवं निरणायि (ब्र.सू.१.३.८)। सूत्रे 'सम्भवाद्' इत्युक्तेः पुराणकारः पातालादावपि सम्भवं सम्भाव्य 'पाताले नरकेऽथे' त्यवोचत्।
३. अपिना कैवल्येतरमोक्षाणां संग्रहः।

ब्रह्मणोऽपि च यो देहो देहो यश्च शुनोऽपि च। नानयोर्विद्यते भेद उभयोर्देहधारिणोः।।१०७
यो देहो येन जीवेन स्वीकृतस्तस्य सोऽधिकः। न्यूनः परो जगत्यस्मिन् सर्वत्रैवेति च स्थितम्।१०८
हा दैवं! यदयं देहो दुःखराशेस्तु कारणम्। दुर्गन्धोऽप्यशुचिस्तद्वत् स्वस्मिन्नेवं न गृह्यते।।१०९
कर्मकामतमश्छन्नदोषो देहः शरीरिणाम्। अमृतेन समो भाति सर्वेषामपि सर्वतः।।११०
धिक् कर्म कामसहितं धिङ्मायां चाऽपि मोहिनीम्। यया मूढः पिबेदेष श्लेष्माणं स्वमुखस्थितम्।१११
पदार्था नरके ये स्युः देहे सन्ति त एव हि। सर्वेषामपि पापेन विपरीता विभान्त्यमी।।११२
इत्येवं मनसा सर्वान् ब्रह्मलोकादिकानपि। लोकान् विज्ञाय मेधावी तेषु वैराग्यमाव्रजेत्।।११३
मानसात् कर्मणः केचित् कायिकादेव केचन। लोका नृभिरवाप्यन्ते सर्वदैव न चान्यथा।।११४

अत्र चतुर्थाद्युक्तं (४.६३५) स्मारयति—ब्रह्मण इति। हिरण्यगर्भ-श्वदेहयोः तदभिमानिनोश्च पाञ्चभौतिकत्वे साविद्यत्वे च विशेषो नास्तीत्यर्थः।।१०७।। आभिमानिकमुत्कृष्टत्वम् अपि सर्वत्र सममित्याह— यो देहमिति। स्थितं प्रपञ्चितम्।।१०८।। तत्र मूढान् शोचति—हा दैवमिति। लोकस्य दैवम् एव शोच्यं यत्प्रभावाद् दुःखहेतुत्व-दुर्गन्धत्वा-ऽशुचित्वैः युक्तोऽपि देहः स्वस्मिन् स्वकीये चेतसि एवं दुःखत्वादिरूपैः न गृह्यत इत्यर्थः।।१०९।। कर्मेति। कर्म प्रारब्धफलं, कामो रागः, तमः कार्याविद्या, एतैः प्रच्छन्नदोषः।।११०।। कर्मादित्रयं निन्दति—धिगिति। कर्मकामौ धिक् अनादरणीयौ। तथा मायाम् अविद्यां धिक्, यया मायया मूढोऽयं जनः स्वकीयमुखगतं श्लेष्माणं लाला-गण्डूषादिरूपं पिबति। अन्यथा परकीयमुखश्लेष्मादिभ्य उद्वेगः स्वदेहगताद् अनुद्वेगश्च कथं स्याद्? इति भावः।।१११।। पदार्था इति। ये पदार्थाः कफाऽसृगादयः नरके वैतरण्यां प्रसिद्धाः त एव देहगताः सन्तः सौन्दर्येण भान्ति इत्यहो! पापादिदोषमहिमेत्यर्थः।।११२।। इत्येवमिति। ब्रह्मलोकप्रभृतीन् लोकान् उक्तविधया अनर्थमयत्वेन विज्ञाय परीक्ष्य मेधावी कुशलोऽधिकारी वैराग्यं प्राप्नुयात्।।११३।।

न केवलं वर्णितदोषजातादेव लोकानां हेयत्वं किन्तु कर्मजत्वेन अनित्यत्वादपीत्याह—मानसादिति द्वाभ्याम्। केचिद् लोकाः त्रिलोकीबाह्या मानसस्य कर्मणः उपासनाख्यस्य फलभूताः। केचित्तु त्रिलोक्यन्तर्गताः कायिकस्य फलभूताः। अयं नियमः कालत्रयेऽपि नान्यथा भवति इत्यर्थः।।११४।। कर्मजा इति। ततो

राजा के लिये सात भूमिकाओं वाला (सात मंजिला) महल बना हो, उसमें चाहे ऊपरी भूमिका पर रहते हुए राजा को बुखार चढे या निचली भूमिका पर रहते हुए चढे, राजा को तो दुःख एक जितना ही होगा। ऐसे ही जीव ऊर्ध्व लोक में हो या नीचे लोक में, अध्यात्मादि दुःख तो समान ही भोगने पड़ेंगे।।१०५।। बेड़ियाँ सोने की हों या लोहे की, बंधनकारी ही होती हैं; शरीर भी देवता का हो या मनुष्य का दुःख-दायी होता ही है।।१०६।।

शरीर ब्रह्मा का हो या कुत्ते का, होता एक जैसा भौतिक है तथा उनमें अभिमानी भी एक जैसा अविद्यावान् होता है।।१०७।। जो शरीर जिस जीव द्वारा 'मैं, मेरा' यों स्वीकार लिया जाता है वह शरीर उस जीव को बेहतर लगता है और अन्य शरीर बदतर लगते हैं। इस संसार में सब जगह यही परिस्थिति है कि उत्कर्ष-अपकर्ष अभिमानप्रयुक्त है।।१०८।। ढेर-सा दुःख देने वाले, बदबूदार, अशुद्ध इस स्थूल शरीर को लोग अपने में ऐसा महसूस नहीं करते यह उनका दुर्भाग्य ही है।।१०९।। प्रारब्धकर्म, राग और अभिमान से जिसके स्वाभाविक दोष ढँके रहते हैं वह अपना-अपना शरीर सभी शरीरधारियों को सब तरह से अमृत जैसा प्रतीत होता है।।११०।। कामना व कर्म को धिक्कार है। जिस मोहकरी माया के कारण मूर्ख जंतु अपने मुँह की श्लेष्मा पी जाता है उस माया को भी धिक्कार है।।१११।। जो चीज़ें नरक में हैं वे ही शरीर में होती हैं पर पापवश सभी को वे घृणास्पद चीज़ें सुंदर लगती हैं।।११२।। इन सब तरीकों से विचार कर मेधावी को चाहिये कि ब्रह्मलोक पर्यन्त सभी विषयों के प्रति मन में वैराग्य उपजाये।।११३।।

कर्मजास्तत एवैते सर्व एव प्रकीर्तिताः। कर्मजानामनित्यत्वं भवेत्तेषां घटादिवत्।।
कर्मजन्यं हि लोकेऽस्मिन् नित्यं किञ्चिन्न दृश्यते।।११५

मोक्षो नित्यः

कर्मजश्चेद्भवेद् मोक्षः सोऽप्यनित्यो भविष्यति। अनित्ये हि सदा मोक्षे श्रमो व्यर्थः शरीरिणाम्।।
तदर्थं स्वर्गतश्चाऽस्य वैषम्यं च न सम्भवेत्।।११६

न हि विश्वजिता स्वर्गो ज्योतिष्टोमेन वाऽपि च। साध्यतेऽत्र च वैषम्यं तयोरस्तीह किञ्चन।।
स्वर्गत्वे तद्वदेव स्यादत्राऽपि स्वर्गमोक्षयोः।।११७

मोक्षस्याऽनित्यभावश्चेद् वैयर्थ्यं च प्रसज्जते। अनावृत्तिश्रुतेस्तद्वत् प्रसिद्धेश्च महात्मनाम्।।११८

नान्यः पन्था इति प्रोक्तं श्रुतेर्व्यर्थं वचो भवेत्। ब्रह्म वेदेति च ततो मोक्षो न स्याद्धि कर्मजः।।११९

मानसकायिकव्यापारयोः कर्मत्वस्य अनुगतत्वाद् एते लोकाः कर्मजा एव। कर्मजत्वस्य च अनित्यत्वव्याप्यत्वं लोके प्रसिद्धमित्यर्थः।।११५।।

यथैते लोकाः कर्मजास्तथा मोक्षो न भवति अनित्यत्वापाताद् इत्याह—कर्मज इति। तत्रेष्टापत्तिं वारयति—अनित्ये हीति। मोक्षेऽनित्ये सति तदर्थं देहिनां यत्नो व्यर्थः स्यात्। किं च वर्णितदोषव्याप्यं स्वर्गत्वमेव मोक्षस्य स्याद् इत्याह—स्वर्गत इति। अस्य मोक्षस्य कर्मजत्वे स्वर्गापेक्षया विशेषो न स्यात् किन्तु स्वर्गविशेषत्वमेव स्याद् इत्यर्थः।।११६।। स्वर्गवैषम्याभावमेव स्फुटयति—न हीति। विश्वजिदाख्यक्रतुसाध्यस्य ज्योतिष्टोमाख्यक्रतुसाध्यस्य वा स्वर्गस्य यत्किञ्चिदवान्तरवैषम्येऽपि तयोः स्वर्गत्वे तद्व्यापकानित्यत्वादौ वा किञ्चन वैषम्यं नास्ति, तथा प्रकृतेऽपि स्यादित्यर्थः।।११७।। मोक्षस्याऽनित्यतां श्रुतिगणो विद्वदनुभवश्च न सहत इत्याह—मोक्षस्येति। मोक्षस्य अनित्यत्वं यदि स्वी क्रियते तदा 'न स पुनरावर्तते' (छा.८.१५.१) इति श्रुतिवाक्यं मुक्तस्य अनावृत्तिप्रतिपादकं व्यर्थं स्यात्। तथा महात्मनां सकलतन्त्राचार्याणां या मोक्षनित्यत्वप्रसिद्धिः साऽपि व्यर्था स्यात्।।११८।। 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (श्वे.३.८) इति श्रुतिर्मोक्षस्य ज्ञानैकलभ्यत्वं वदति, तथा 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मुं.३.२.९) इति श्रुतिः, एतयोर्विरोधादपि मोक्षस्य अनित्यत्वप्रयोजकं कर्मजत्वं न मन्तव्यमित्याह—नान्य इति।।११९।।

मनुष्यों को कुछ विषय मानस कर्म से मिलते हैं व कुछ शरीरिक कर्म से, पर कभी ऐसा नहीं होता कि बिना कर्म के विषयप्राप्ति हो जाये।।११४।।

इसलिये सभी विषय कर्मजन्य कहे जाते हैं। कर्म से उत्पन्न विषय घड़े आदि की तरह अनित्य ही होते हैं क्योंकि इस लोक में कुछ ऐसा नहीं दीखता जो कर्मजन्य होकर भी नित्य हो।।११५।। (एवं च दुःखद ही नहीं अनित्य होने से भी विषय हेय हैं अतः इनसे वैराग्य करना ही उचित है।)

मोक्ष यदि कर्म से उत्पाद्य हो तो वह भी अनित्य ही होगा और अनित्य मोक्ष के लिये प्रयास करना बेकार ही है! किं च अनित्य हो तो स्वर्ग से उसमें अन्तर भी नहीं रहेगा। विश्वजित् याग से स्वर्ग मिले या ज्योतिष्टोम याग से, स्वर्गरूप से समान ही होता है, अनित्यतादि की दृष्टि से उसमें कोई अंतर नहीं होता। ऐसे ही मोक्ष भी अनित्य हो तो स्वर्ग से उसे अन्य प्रकार का क्योंकर माना जा सकेगा! (विभिन्न कर्मों के फलस्वरूप प्राप्य स्वर्ग में अन्य भेद भले ही हों पर अनित्यतादि एक-सी होती है अत एव उन्हें 'स्वर्ग' पहचान लिया जाता है। मोक्ष भी यदि वैसा ही होगा तो स्वर्ग से पृथक् कर उसे समझना संभव नहीं होगा।)।।११६-७।। मोक्ष में यदि अनित्यता हो तो अपुनरावृत्ति-प्रतिपादक वेदवाक्य और महात्माओं की प्रसिद्धि दोनों बेकार हो जायेंगी! (वेद ने मोक्ष को नित्य कहा है। वैदिक दर्शनों के आचार्य भी मोक्ष को नित्य मानते हैं। विद्वानों का निजी अनुभव भी ऐसा ही है। इन सबका विरोध कर मोक्ष को अनित्य स्वीकारना

मोक्षो ब्रह्मैव कथितं सर्वैरेव महात्मभिः।[1] अविद्यारहितं माया लोकेऽज्ञानं[2] प्रकीर्तितम्।।१२०
अज्ञानं ज्ञानतः सर्वं विलयं याति नान्यथा। यस्याऽज्ञानं हि लोके स्यात्तज्ज्ञानात्तल्लयं व्रजेत्।।१२१
ब्रह्मात्माऽज्ञानमेतच्च ब्रह्मात्मज्ञानतो लयम्। व्रजेदज्ञाननाशेन तज्जं दुःखं विनश्यति।।१२२
दुःखं ससाधनं चेत् स्याद् वस्तुभूतं सदा हि तत्। अनित्यं चेद् वृथैव स्याच्छ्रमो मोक्षेऽत्र वादिनः।१२३
नित्यता कारणे चेत् स्यात् पुनस्ते न कुतो भवेत्।दुःखान्तरं कुतो हेतौ सति कार्यं भवेद् न हि।१२४

मोक्षस्य ज्ञानैकलभ्यतायाम् उपपत्तिमाह—मोक्षो ब्रह्मैवेति त्रिभिः। अविद्यारूपावरणविमुक्तं ब्रह्मैव मोक्ष इत्युच्यते, 'ज्ञाते द्वैतं न विद्यत' इत्यात्मप्रबोधश्रुतेः (मां.का.१.१८)। सा चाऽविद्या मायाऽज्ञानादिनामभिः प्रसिद्धेत्यर्थः।।१२०।। अज्ञानस्य ज्ञानैकनाश्यत्वम् अज्ञाननाशकज्ञानस्य अज्ञानसमानविषयकत्वं च प्रसिद्धं रजतप्रयोजकशुक्त्यज्ञानादावित्याह—अज्ञानमिति। अन्यथा कर्मरूपैः उपायैः न विलीयते। यस्य यद्विषयकम् अज्ञानं तद्विषयकज्ञानादेव च तल्लय इति च प्रसिद्धम्।।१२१।। ब्रह्मात्मेति। एतत् संसारप्रयोजकम् अज्ञानं ब्रह्मात्मैक्यविषयकमेव अतो ब्रह्मात्मैक्यज्ञानादेव तस्य लयो युक्तः। तन्नाशे तत्प्रयुक्तस्य दुःखस्य लयस्तु स्वत एव भवतीत्यर्थः।।१२२।।

ये दुःखम् अज्ञानजं न अभ्युपगच्छन्ति तेषां मते मोक्षार्थं श्रमो वृथेत्याह—दुःखमिति। यदि वैशेषिकादिमतानुरोधेन साधनैः समवायिकारणादिभिः सहितं दुःखं वस्तुभूतं सत्यं स्यात् तदा तद् दुःखं सदा सर्वदा भवेद् आत्मवद् इत्यर्थः। ननु सत्यस्याऽपि घटादिवद् अनित्यत्वं मन्यत इति चेत्? सुतरां मोक्षार्थश्रमवैयर्थ्यं स्याद्, अनित्यभावनाशस्य चिरकुसूलनिहितधान्यवद् अवश्यंभावाद् इत्याह—अनित्यं चेदिति।।१२३।। किञ्च भवतां मते दुःखोच्छेदो न युक्तः, तत्समवायिकारणस्य आत्मनो नित्यत्वेन पुनस्तत्प्रसङ्गाद् इत्याह—नित्यतेति। यदि दुःखस्य कारणे नित्यता तदा ते मते तेन कारणेन पुनः दुःखं कुतो न स्यात्? हेतौ सति कार्यं न स्यादिति हि न युक्तमित्यर्थः।।१२४।। एतदेव स्फुटयति—दुःखस्येति। विश्वं द्वैतं दुःखस्य कारणं, तस्य सत्यत्वे दुःखनिवृत्तिः

प्रमाणाधारित विचारक के लिये उचित नहीं।)।।११८।। श्रुति कहती है कि मोक्ष सिर्फ़ ज्ञान से मिलता है, उसके लिये और कोई साधन नहीं है; ऐसे ही श्रुति ने कहा है कि ब्रह्म का जानकार ब्रह्म होता है; इसलिये निश्चित है कि मोक्ष किसी कर्म से जन्य हो नहीं सकता। अनित्यविलक्षण 'अकृत' मोक्ष 'कृत' कर्म से उपलब्ध हो इसकी कोई संभावना नहीं यह निर्णय कर विवेकी को कर्म पर से आस्था हटा लेनी चाहिये।।११६।। लोक में माया, अज्ञान आदि कहलाने वाली अविद्या से रहित ब्रह्म ही मोक्ष है यह सभी महात्माओं का कथन है।।१२०।।

सारा अज्ञान ज्ञान से ही मिटता है, अन्य उपाय से नहीं। लोक में हमेशा यही देखा गया है कि जिसे जिसका अज्ञान हो उसे उसका ज्ञान होने पर ही वह मिटता है।।१२१।। ब्रह्म की प्रत्यग्रूपता का यह सर्वसुलभ अज्ञान ब्रह्म की प्रत्यग्रूपता के ज्ञान से ही विलीन होगा। अज्ञान नष्ट होने पर ही अज्ञानजन्य दुःख समाप्त होगा।।१२२।।

जो दुःख को अज्ञानकार्य नहीं मानते उनका मोक्षार्थ परिश्रम व्यर्थ ही है। साधनों समेत दुःख यदि वास्तविक है तो वह हमेशा होना चाहिये जैसे वास्तविक आत्मा हमेशा रहता है और हमेशा होने वाले दुःख से कोई बच सके यह नामुमकिन है। घटादि वास्तविक होने पर भी नाशवान् हैं, ऐसे ही यदि दुःख हो तो भी उसके नाश के उद्देश्य से श्रम बेकार है क्योंकि नश्वर वस्तु के नाशार्थ कोई प्रयत्न न करने पर भी वह नष्ट हो ही जाती है!।।१२३।। किं च, वैशेषिकादि मानते हैं कि दुःख का कारण है आत्मा और वह आत्मा नित्य है। उनके मतानुसार एक दुःख मिट जाने पर भी दूसरा

१. एतद्विरुद्धप्रतिपादकानां महात्मत्वमेव नास्तीत्यर्थः।
२. एवं च मायाऽविद्याभेदवादोऽश्रद्धेयः। अत एव मूलाऽज्ञानाऽस्वीकर्तृमते मोक्षोऽपि दुर्बोध इत्यनुसन्धेयम्।

दुःखस्य कारणं विश्वं विश्वं चेद् वास्तवं भवेत्। ईश्वरेणाऽपि नाशोऽस्य कर्तुं शक्यो न कर्हिचित्।।१२५

न हि विश्वस्य संहारं कुर्वन्नेष महेश्वरः। पुनरुत्पत्तिरोधं हि कर्तुं शक्नोति कर्हिचित्।।१२६

ततोऽज्ञानसमुत्थानं पुनरज्ञानसंक्षये। दुःखमुत्पद्यते नैवेत्येतदेवाऽत्र शोभनम्।।१२७

रज्ज्वज्ञानसमुत्थानं सर्वं दुःखं यथा महत्। रज्ज्वज्ञाने विलीनेऽस्मिन् पुनर्नैव प्रजायते।।१२८

आत्माऽज्ञानसमुत्थानमेवं दुःखमिदं महत्। आत्माऽज्ञाने विलीनेऽस्मिन् पुनर्नैव प्रजायते।।१२९

ज्ञानं गुरोः

आत्मनो ब्रह्मणस्तस्य ज्ञानमाचार्यवाक्यतः। भवेदेवं यतः प्राह श्रुतिः सर्वार्थदर्शिनी।।१३०

तज्ज्ञानार्थं ततो गच्छेच्छ्रोत्रियं ब्रह्मवेदिनम्। स गुरुं जातवैराग्यः समिदादिकरः पुमान्।।१३१

ईश्वरेणाऽपि कर्तुं दुःशकेत्यर्थः।।१२५।। यदि सत्यनिवर्तनपर ईश्वरः स्यात् तदा संहृतस्य जगतः पुनरुत्पत्तिं वारयेद्! न च तथा दृश्यते इत्याह— न हीति। भवन्मते सत्यत्वेन प्रसिद्धस्य जगतः संहारं कृत्वा तस्य पुनरुत्पत्तेः प्रतिरोधं प्रतिबन्धं कुर्याद् यदि सत्यस्य बन्धस्य निवर्तनपरः स्याद् ईश्वर इत्यर्थः।।१२६।। फलितमाह—तत इति। तस्माद् दुःखस्य अज्ञानप्रयुक्तत्वं, तन्निवृत्त्या निवृत्तिः इत्यौपनिषदं मतमेव युक्तमित्यर्थः।।१२७।। एतद् दृष्टान्तेन स्फुटयति—रज्ज्वज्ञानेति द्वाभ्याम्। निगदव्याख्यातं द्वयम्।।१२८-९।।

अस्य ब्रह्मात्मज्ञानस्य गुरूपदेशमात्रलभ्यत्वं 'स गुरुमेवाऽभिगच्छेद्'[1] इत्यादिश्रुत्या प्रतिपाद्यत इत्याह—आत्मन इति। ब्रह्मरूपस्य आत्मनो विज्ञानम् आचार्यवाक्यादेव भवति यतः श्रुतिरेवं वक्तीत्यर्थः।।१३०।। 'एवं' कथम्? इत्याकांक्षायाम्; श्रुतिमर्थतः पठति—तज्ज्ञानार्थमिति। ततो मोक्षस्य उपायान्तराऽसाध्यत्वात् सोऽधिकारी समित्प्रभृत्युपायनहस्तः।।१३१।।

दुःख नहीं क्यों उत्पन्न होगा? कारण बना रहे तो कार्य का न होना संगत नहीं।।१२४।। दुःख का कारण संसार है वह यदि सत्य है तो भगवान् भी दुःख को कभी पूर्णतः नष्ट कर नहीं सकते! विश्व का संहार करते हुए भी ये महेश्वर उसकी पुनरुत्पत्ति कभी नहीं रोक सकते। (यदि सत्य को ईश्वर निवृत्त कर सके तो संहार किये जगत् की पुनरुत्पत्ति रोक दे, किंतु ऐसा कर नहीं सकता अतः सत्य की निवृत्ति में असमर्थ है। ईश्वरसामर्थ्य का यह परिसीमन स्वयं तार्किक मानता है, परमाणु आदि अनेक नित्य पदार्थ स्वीकारता है जो न ईशरचित हैं न ईश्वर द्वारा विनाश्य। कार्य-कारण की तार्किक-संमत नियमावलि के अंतर्गत ही यहाँ स्पष्ट किया कि उसके दर्शन में दुःख का उच्छेद असंगत है। पुराण में निष्कर्षमात्र कहा है, इस पर तार्किकों ने काफी कोटियाँ कल्पित की हैं जिनका निराकरण वादग्रंथों में उपलब्ध है।)।।१२५-६।। क्योंकि दुःख को और उसके कारण को सत्य मानने पर श्रुत्यादिसंमत नित्य मोक्ष असंभव है इसलिये दुःख अज्ञानजन्य ही स्वीकार्य है और अज्ञान का सम्यक् क्षय होने पर ही दुःख का आत्यंतिक अभाव है यह उपनिषत्संमत मत ही बुद्धिसंगत है।।१२७।।

रज्जु न जानकर (साँप देखने से) होने वाला महान् सारा दुःख फिर कभी नहीं उत्पन्न होता जब रज्जु का यह अज्ञान विलीन हो जाता है। इसी तरह आत्मा के अज्ञान से यह महान् दुःख प्रतीत होता है मानो समीचीन हो और निश्चित कार्यक्रम से प्रकट हो किंतु आत्मा का यह प्रत्यक्ष अज्ञान बाधित हो जाने पर दुःख न केवल विलुप्त हो जाता है वरन् पुनः इसकी उत्पत्ति की कोई संभावना भी रह नहीं जाती क्योंकि केवल उसीका नहीं उसके कारण का भी नाश हो चुकता है।।१२८-९।।

---

१. 'तद्विज्ञानार्थं से गुरुमेवाऽभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।।'१२।।

विधिवच्चोपसन्नाय स्वशिष्याय महात्मने। गुरुस्तस्मै वदेदात्मविद्यां दुःखौघनाशिनीम् ।।१३२
ययाऽक्षरं परं ब्रह्म पुमानेषोऽधिगच्छति। शान्तिदान्त्यादिसम्पन्नो ब्रह्मचर्यादिसाधनः ।।१३३

परविद्याविषयः

एतत् सत्यं परं ब्रह्म यद् वेद गुरुवाक्यतः। विरक्तोऽत्र मुमुक्षुः सन्नन्यत् सत्याभमीरितम् ।।१३४
सत्यादस्मात् सदैवैतद् विश्वमुत्पद्यते तथा। अस्मिंस्तिष्ठति चैवान्ते लीयतेऽत्रैव सर्वथा ।।१३५
ज्वलतः पावकाद्यद्वद् महतो विस्फुलिङ्गकाः। उत्पद्यन्तेऽत्र धूमाश्च सरूपाश्च विरूपकाः ।।१३६
चेतनाऽचेतनं सर्वम् एवमस्मात् परात्मनः। उत्पद्यते सर्वकाले जगदेतदनेकधा ।।१३७

एतादृशशिष्याय च आत्मबोधनं गुरुणाऽवश्यं[1] कर्तव्यमित्याह—विधिवदिति। तस्मै शिष्याय गुरुः तां विद्यां वदेत्। 'तां' काम्? यया शान्त्यादिमान् पुमान् परमक्षराख्यं ब्रह्म अधिगच्छेत्। इति द्वयोरर्थः।।१३२-३।।

एवं प्रथममुण्डके परापरविद्ये संक्षिप्य वर्णिते। परविद्याधिकारिष्वथ परविद्यां विस्तरेणाऽऽख्यातुं द्वितीयं मुण्डकं प्रवृत्तम्। तस्य[2] क्रमेणाऽर्थमाह—एतत् सत्यमित्यादिना। विरक्तः पुमान् मुमुक्षुः सन् यद् वेद जानाति गुरुवाक्यत एतत् परं ब्रह्म एव परं मुख्यं सत्यम्, अन्यद् द्वैतजातं तु परसत्तोपजीवित्वात् सत्याऽऽभासमुक्तमित्यर्थः।।१३४।। तस्य अद्वितीयत्वं स्फुटयितुं विश्वोपादानतामाह—सत्यादिति। अस्माद् ब्रह्मणः सत्यत्वेन वर्णिताद् विश्वम् उत्पद्यतेऽत्रैव तिष्ठति, लीयते च इत्यर्थः।।१३५।। तत्रोत्पत्तौ दृष्टान्तमाह—ज्वलत इति। यथा ज्वलतोऽग्नेः सकाशाद् विस्फुलिङ्गाः कणाः सरूपा ज्योतिष्ट्वेन समानरूपाः, धूमाश्च मलिनत्वेन विरूपा उत्पद्यन्त इत्यर्थः।।१३६।। एवं चेतनं सरूपम् अचेतनं विरूपं च जगदस्मादात्मनो जायत इत्याह—चेतनाऽचेतनमिति।।१३७।।

साधनों सहित पुरुषार्थ के प्रतिपादक वेद ने क्योंकि यह तथ्य प्रकट कर दिया है इसलिये निश्चित है कि उस ब्रह्मरूप प्रत्यक्स्वरूप का अविद्यानिवर्तक साक्षात्कार आचार्यप्रोक्त महावाक्योपदेश से ही संभव है।।१३०।। अन्य उपाय से प्राप्य न होने के कारण अखण्डज्ञान पाने के लिय वेदज्ञ ब्रह्मवेत्ता के पास हाथ में भेंट आदि लेकर उस पुरुषार्थ-प्रेप्सु को अवश्य ज़ाना चाहिये जिसने विवेकपूर्वक वैराग्य पा लिया है।।१३१।। जिसने अपने चित्त में धार लिया है कि महान् परब्रह्म ही उसे चाहिये ऐसा शिक्षार्थी जब ढंग से अपनी शरण में आये तब गुरु को भी चाहिये कि उसे वह आत्मविद्या प्रदान करे जो समस्त दुःखों का आत्यंतिक नाश करती है।।१३२।। ब्रह्मचर्य आदि बाह्य एवं शम-दम आदि आंतरिक साधनों से संपन्न शास्त्रप्रसिद्ध अधिकारी पुरुष जिसके द्वारा अनश्वर पारमार्थिक व्यापक चेतन को आत्मसात् कर लेता है वही विद्या सद्गुरु योग्य शिष्य को दे यह उचित है।।१३३।।

(यहाँ तक प्रथम मुंडक का व्याख्यान हुआ जिसमें पर-अपर विद्याओं का संक्षिप्त वर्णन है। अब मुख्यतः परविद्या के अधिकारियों को सम्बोधित करने वाले द्वितीय मुंडक का व्याख्यान होगा।)

इन्द्रियापेक्ष सुखों के प्रति निरीह एवं व्यापक आनंद का ही अभिलाषी साधक ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु के उपदेश से जिस अधिष्ठान सच्चिदानंद को निरावृत करता है वही मुख्य सत्य है, उससे अतिरिक्त द्वैतसमूह सत्य का आभास ही है क्योंकि द्वैत की सत्ता अपने से विलक्षण परमात्मा पर निर्भर है।।१३४।। इस मुख्य सत्य से ही यह विश्व पैदा होता है, इसीमें रहता और विलीन होता है। जब भी विश्व के जन्मादि होते हैं तब उक्त सत्य ही उसमें अंतिम कारण है और जिस भी तरह से जन्मादि हों, होते उस परम सत् से ही हैं। ('जिस भी तरह' अर्थात् अवस्थांतरण आदि।)।।१३५।।

---

१. 'तस्मै स विद्वान् उपसन्नाय सम्यक् प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय। येनाऽक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्।।'१३।।
२. 'तदेतत्सत्यम्। यथा सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिंगाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः। तथाऽक्षराद् विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवाऽपि यन्ति।।'२.१.१।।

'दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः। अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः।।'१३८
कारणं यत् परं ब्रह्म गीयते वेदवादिभिः। अक्षरं कथितं माया परं यज्जगतः सदा।।
तस्मादपि परः प्रोक्तः परमात्मा सनातनः।।१३९
दिव्यः स्वयंप्रकाशोऽयममूर्तः सर्वगः स्मृतः। अन्तर्बहिश्च सम्पूर्णः पुरुषः परिकीर्तितः।।१४०
अजः स्थूलेन देहेन रहितः परमेश्वरः। अप्राणो ह्यमनाः प्रोक्तः सूक्ष्मदेहविवर्जितः।।
शुभ्रो मायाविरहित आनन्दात्मा सदा स्फुरन्।।१४१

अध्यारोपः

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुर्ज्योतिरापश्च पृथिवी विश्वधारिणी।।१४२

तत्स्वरूपावेदकं द्वितीयमन्त्रं (२.१.२) पठति—दिव्य इति।।१३८।। अस्यार्थं त्रिभिर्वर्णयंस्तत्र चतुर्थपादार्थमाह—कारणमिति। यद् यत उपाधेः परं ब्रह्म कारणम् इति व्यवह्रियते वैदिकैः सा माया कार्यपेक्षया चिरस्थायित्वाद् अक्षरम् इत्युक्ता। तस्याः कार्यरूपजगदपेक्षया परत्वं च युक्तम्। तस्माद् मायारूपादक्षराद् अपि यः परः स परमात्मेत्यर्थः।।१३९।। दिव्य इति। स्वयम्प्रकाशत्वेन लोकविलक्षणत्वाद् दिव्य इत्युक्तः, सर्वगतत्वाच्च अमूर्त इति, सर्वोपाधिषु बहिरन्तः पूर्णत्वात्तु पुरुष इत्युक्त इत्यर्थः।।१४०।। अजपदेन जन्माऽभाववाचकेन तस्य स्थूलदेहराहित्यम्, अप्राण इत्यादिपदद्वयेन सूक्ष्मदेहराहित्यम् शुद्धत्ववाचकशुभ्रपदेन च मायाख्यकारणशरीरराहित्यमुक्तमिति दर्शयति—अजइति। फलितमाह—आनन्दात्मेति। अद्वयत्वेन भासमानानन्दरूप इत्यर्थः।।१४१।।

तस्य वास्तवीं सदाऽखण्डतां स्फुटी कर्तुं ततः सर्वां सृष्टिं प्रतिपादयन्ति 'एतस्माद्' इत्यादयोऽष्टौ मन्त्राः। तेषां[1] क्रमेणार्थमाह—एतस्मादिति त्रयोदशभिः। प्राणमनसी दशेन्द्रियाणि पञ्चभूतानि चोक्ताद् आत्मनो जायन्त इत्यर्थः।।१४२।। एवं सप्तदशाऽवयवस्य हिरण्यगर्भस्य सृष्टिः दर्शिता। अथ[2] विराजस्तामाह—अस्येति। अस्य धूँ-धूँ कर जलती महान् आग से ज्योतिर्मय कण और मलिन धुएँ निकलते हैं यह प्रत्यक्ष है। ऐसे ही इस परमात्मा से सब समय यह नाना प्रकार का सारा जगत् उत्पन्न होता रहता है। चेतन प्रपंच परमात्मा के समान प्रतीत होता है अतः चिन्गारी की तरह है क्योंकि चिन्गारी और आग समानरूप से प्रकाशशील होते हैं। अचेतन जगत् परमात्मा से विपरीत रूप का प्रतीत होता है अतः धुएँ की तरह है क्योंकि आग से पैदा होने पर भी धुआँ प्रकाशवान् न होकर अँधियारा ही होता है। (हमेशा उत्पन्न होने वाला जगत् को इस दृष्टि से कहा कि बना रहना भी तत्तत् क्षण में पैदा होना ही है और नष्ट होना भी प्रतियोगी रूप से पैदा होना ही है। नाश पैदा होते ही जिसका वह नाश है वह वस्तु प्रतियोगी *बन* जाती है अर्थात् प्रतियोगी रूप से पैदा हो जाती है। अथवा उत्पत्ति को उपलक्षणार्थ मान लेना चाहिये।)१३६-७।।

उस परब्रह्म का स्वरूप दिव्य है, अलौकिक है। पूर्ण तत्त्व इन्द्रियगोचर नहीं है, सक्रिय नहीं है। अनादि सद्वस्तु में अंदर-बाहर के कोई मायने नहीं। व्यक्त का कारण जो व्यापक अव्यक्त उसका भी अधिष्ठान जो चिन्मय वह प्राण और मन से निरपेक्ष है।।१३८।। परब्रह्म को कारण समझा जाये यह संभव करने वाली उपाधि माया अपने कार्यों की अपेक्षा ज़्यादा स्थायी है इसलिये अक्षर और कार्यों की अपेक्षा परे भी कही जाती है। सनातन परमात्मा तो उस माया से भी उत्कृष्ट है।।१३९।। वह स्वयंप्रकाश होने से दिव्य और सर्वव्यापक होने से मूर्तिहीन है। सभी उपाधियों के बाहर अंदर भरा-पूरा होने से उसे पुरुष भी कहा जाता है।।१४०।। स्थूल शरीर वाला न होने से परमेश्वर अजन्मा है। उसे प्राण व मन से रहित बताना इस तात्पर्य से है कि वह सूक्ष्म शरीर वाला नहीं। हमेशा स्फुरमाण आनंदरूप प्रत्यक् को शुभ्र कहकर उसे मायात्मक कारणशरीर से रहित बताया जाता है।।१४१।।

---

१. 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी।।'३।।
२. 'अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः। वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा।।'४।।

अस्य देवस्य यद्रूपं वैराजं तदिदं विदुः। अग्निर्मूर्द्धा चन्द्रसूर्यौ नेत्रे श्रोत्रे दिशस्तथा।
वेदाः सर्वे च वाक् प्रोक्ता वायुः प्राणो महात्मनः।।१४३
हृदयं सकलं विश्वं पादौ भूमिस्तथैव च। भूतान्तरात्मा कथितो विराडेष द्विजोत्तमैः।।१४४
तस्माद् वैराजतो रूपाद् अग्निः कर्मकरोऽभवत्। समिदादि द्रव्यजातं सूर्याद्यं च कलात्मकः।।१४५
सोमश्च भगवान् योऽयं प्राप्यते कर्मभिः सदा। सोमात्पर्जन्य एषोऽपि पर्जन्यादोषधीगणाः।।१४६

ईश्वरस्य वैराजं रूपं तद् एवंविधम् आहुः। 'एवं' कथम्? अग्निः द्युलोकः तद्रूपं यस्य शिरः, चन्द्रसूर्यौ नेत्रे, दिशः श्रोत्रे कर्णौ, यस्य वाग्रूपाः सर्वे वेदाः कथिताः, बाह्यो वायुः च यस्य प्राणः, सर्वं जगद् यस्य हृदयं[1], पृथिवी तु पादरूपा काथिता। एष एवंविधशरीरः सर्वेषां व्यष्टिभूतानाम् आत्मभूतो विराट् कथित इति द्वयोरर्थः।।१४३-४।।

एतस्माल्लोकवृद्धिहेतूनां पञ्चाग्नीनामुत्पत्तिमाह[2]—तस्मादिति। उक्ताद् वैराजाद् अग्निः प्रसिद्धोऽधिदैवरूपेण द्युलोकात्मकश्च जातः। कीदृशः ? कर्मकरः आहवनीयादिरूपेण फलरूपेण च कर्मणां प्रवृत्तिहेतुः। तथा श्रुतौ समित्पदोपलक्षितं समित्प्रभृत्युपकरणद्रव्यवृन्दं जातम्। कीदृशम्? सूर्याद्यम् आदित्यादिरूपम्। द्युलोकाद्यग्नीनाम् आदित्यादिसमित्प्रभृत्युपकरणं षष्ठाध्याये चतुश्चत्वारिंशदधिकैकादशशततमश्लोकमारभ्य उक्तमनुसन्धेयम्। कलात्मक इति उत्तरान्वयि।।१४५।। सोमश्चेति। सोमः चन्द्रश्च ततोऽभवत्। कीदृशः कलात्मकः अग्निहोत्राहुतिभिः कलारूपेण परिणताभिः आदित्यप्रसूताभिः उपचितशरीरः। अत एव कर्मिभिः इष्टादिकारिभिः प्राप्यः। तस्मात् सोमात् च द्रुतात् पर्जन्याख्यो द्वितीयोऽग्निर्भवति। पर्जन्याच्च वृष्टिद्वारा तृतीयाग्नेः पृथिवीरूपाद्

(एलोरा के कैलास मंदिर में सारे सामान्य भेद रहते हुए भी क्योंकि एक अखण्ड शिला में ही वह सारा मंदिर खुदा है इसलिये अभेद पर—शिलाऽद्वैत पर—किसी तरह की आँच नहीं आती। ऐसे ही सारा जगत् क्योंकि एक सच्चिदानंद में ही अध्यस्त है इसलिये वास्तविक अद्वैत बना रहता है। इसी निश्चय के दार्ढ्य के लिये श्रुति आदि में सभी का जन्मादि एक सद्वस्तु से बताया जाता है।—)

प्राण, मन, सभी इंद्रियाँ, आकाश, वायु, तेज, जल, सबको धारण करने वाली पृथ्वी—ये सभी इस दिव्य पुरुष से ही पैदा होते हैं। (उक्त सत्रह अवयव वाला हिरण्यगर्भ है, वह ईश्वर से उत्पन्न हुआ, यह भाव है।)।।१४२।। समष्टि स्थूल शरीर वाला विराट् भी दिव्य पुरुष से ही उपजता है। ईश्वर का विराट्-रूप ऐसा समझा जाता है—द्युलोक उसका सिर है, चाँद-सूरज उसकी आँखें हैं, दिशाएँ कान हैं, सारे वेद उसकी वाक् हैं बाहरी वायु उस महात्मा (व्यापक शरीर धारी) का प्राण है, सकल जगत् उसका हृदय है और भूमि उसके दोनों चरण हैं। उत्तम ब्राह्मणों द्वारा सब व्यष्टि-प्राणियों का आत्मा इस तरह के शरीर वाला विराट् कहा गया है। (यह परमेश्वर का रूप है इस विषय में ब्रह्म-सूत्र १.२.२३ के भाष्यादि का अनुसंधान करना चाहिये।)।।१४३-४।।

विराट् के इस रूप से अग्नि उत्पन्न हुई। आहवनीय आदि कारक रूप से और फलरूप से अग्नि कर्मों का प्रवर्तक है। पंचाग्निविद्यानुसार द्युलोक भी अग्नि है, वह भी इसी विराट्-रूप से उत्पन्न है। समिद् आदि जो यज्ञादि के उपकरणरूप द्रव्य हैं वे भी इसीका कार्य हैं। पंचाग्निविद्या में सूर्यादि को उपकरणरूप बताया है अतः वे भी यहाँ समित् आदि से समझने चाहिये, उनकी भी उत्पत्ति विराट् से हुई है। (पंचाग्नि का वर्णन ६.११५१ आदि में स्पष्टतः किया जा चुका है।)।।१४५।। अग्निहोत्र में दी गयी आहुतियाँ आदित्य द्वारा प्रसूत होकर जिसकी कलाओं का रूप धारण कर लेती हैं वह पूज्य चंद्रमा भी इसी विराट् से बना जिस चंद्र को इष्टादि कर्मों को यथाविधि संपन्न करने

१. मध्यशरीरमित्यभिप्रायः। वैश्वानरदेहं छांदोग्यपंचमे (१८.२) च वर्णितम्।
२. 'तस्मादग्निः समिधो यस्य सूर्यः सोमात्पर्जन्य ओषधयः पृथिव्याम्। पुमान्रेतः सिंचति योषितायां बह्वीः प्रजाः पुरुषात्सम्प्रसूताः।।'५।।

ओषधिभ्योऽत्र पुंसि स्याद् रेतो योषिति तद्गतम्। गर्भरूपेण शतशः प्रादुर्भवति ताः प्रजाः।।
भवन्ति सकलो याभिर्व्यवहारः प्रसिद्ध्यति।।१४७

यस्मादेव विराड् जातः पुरुषान्निर्गुणादिह। ऋगादयस्ततो वेदा ह्यपरब्रह्मशब्दिताः।।१४८
ऋतवो दक्षिणाभिश्च सार्द्धं नानाविधा अपि। दीक्षाः संवत्सरस्तद्वद् यजमानोऽभिलाषवान्।।१४६
सोमो द्रव्यात्मकस्तद्वत् फलं चेह य ईरितः। जायते सर्वमेवैतत् पुरुषात् परमात्मनः।।
सूर्यो लोकादिभिः सार्द्धं यच्च पूर्वं प्रकीर्तितम्।।१५०

ओषधयो व्रीहिप्रभृतयो भवन्ति। ओषधिभ्यः च अन्नरूपेण चतुर्थाग्निं पुरुषं प्राप्ताभ्यो रेतो भवति। रेतश्च योषिति पञ्चमाग्नौ गतं सद् गर्भरूपेण प्रादुर्भवति यतः प्रजाः सकलव्यवहारकर्त्र्यो जायन्ते। इति द्वयोरर्थः।।१४६-८।।

यस्मादिति।[1] निर्गुणात्परस्माद् यतः पुरुषाद् विराज उत्पत्तिः तस्मादेव निःश्वसितन्यायेन ऋगादिवेदानाम् उत्पत्तिरित्यर्थः।।१४८।। तथा यज्ञोपकरणानि तस्मात्परमात्मनो जातानीत्याह—ऋतवइति। ऋतवो वसन्ताद्याः, दक्षिणाभिः एकगवादिरूपाभिः सह तथा नानाविधा दीक्षाः कर्तृनियमविशेषरूपाः, संवत्सरः कालः, फलकामोऽधिकारी च[2]। सोम इति। द्रव्यात्मको लताविशेषरसरूपः, फलं द्युलोकशरीरारम्भकरूपश्च यः स सोमः। तथा लोकैः कर्मफलैः, आदिपदग्राह्यैः आतिवाहिकादिभिः सहितः सूर्यः; एतद् 'ऋतव' इत्यादिनोक्तं सर्वं परमात्मनो जायते। यच्च पूर्वं प्रकीर्तितं वैराजशरीरादिकं तदपि जायते। इति द्वयोरर्थः।।१४६-५०।।

वाले आधिकारी नियमतः प्राप्त करते हैं। द्रवीभूत चंद्र से पर्जन्य नामक (पंचाग्निक्रम में) दूसरी अग्नि पैदा होती है। पर्जन्य बरसता है तो पृथ्वीरूप तीसरी अग्नि से व्रीहि आदि ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं। वे ओषधियाँ अन्नरूप से पुरुषात्मक चौथी अग्नि में पहुँचकर शुक्र बन जाती हैं जो स्त्रीरूप पाँचवी अग्नि में गर्भरूप से प्रकट हो जाता है। गर्भ से वे सैकड़ों प्रजाएँ पैदा होती हैं जो सारे व्यवहार करती हैं।।१४६-७।।

जिस श्रुतिप्रसिद्ध निर्गुण परम पुरुष से विराट् पैदा हुआ उसीसे ऋक् आदि वेद भी उत्पन्न हुए जिन्हें 'अपर ब्रह्म' भी कहा जाता है। (ब्रह्मशब्द वेदों का भी वाचक है अतः अपर अर्थात् अन्य ब्रह्म वेद भी हैं। कर्ममीमांसकों की तरह उत्तरमीमांसक वेद को अजन्य नहीं मानते क्योंकि श्रुति में ही अनेक जगह वेदों की उत्पत्ति बतायी गयी है जैसे आकाशादि की कही गयी है। अतएव शास्त्रयोनि कहकर बादरायणाचार्य ने इस विषय को स्पष्ट किया है। जैसे आकाशादि का अवकाशादिरूप प्रतिसृष्टि समान मान्य है ऐसे वेद की आनुपूर्वी भी; इतने से उसे सनातन भी कहा जाता है। वस्तुतस्तु सनातन धर्म व ब्रह्म का प्रतिपादक होने से ही वेद का सनातनत्व संगत है, शब्द*क्रम* का 'बना रहना' ज़रूरी नहीं यह विचार करना चाहिये।)।।१४८।। यज्ञोपयोगी अन्य उपकरण भी उस परमात्मा से ही उत्पन्न हुए। वसंत आदि ऋतुएँ विभिन्न यज्ञों के लिये उपयुक्त काल बतायी गयी हैं अतः यज्ञोपयोगी हैं। वे भी परमात्मा से पैदा हुईं। गाय, स्वर्ण आदि दक्षिणाएँ एवं अनुष्ठान करने वालों के लिये आवश्यक नियम जिन्हें 'दीक्षा' कहते हैं, वे भी उसी से जन्य हैं। संवत्सरात्मक पूर्ण काल, फलेच्छुक अधिकारी, लतारूप सोम और फलरूप सोम भी उसका कार्य है। (कर्मफलरूप से चंद्रलोक की प्राप्ति होने से वह फलरूप है। स्वर्गीय शरीर भी चंद्रमय होता है इससे भी चंद्र फलरूप है।) आतिवाहिक आदि शरीर, कर्मलभ्य लोक, सूर्य आदि जो कुछ विराट् का शरीर आदि पहले कह आये हैं वह सब इस परमात्म-पुरुष से ही उत्पन्न होता है। (मरने पर सूक्ष्मदेह जिसमें संपिण्डित हुआ लोकांतर (या शरीरांतर) तक जाता है वह यात्रामात्रोपयोगी शरीर आतिवाहिक कहा जाता है। अथवा धूमादि के अधिष्ठाता भी आतिवाहिक कहलाते हैं, वे भी परमात्मकार्य हैं।)।।१४६-५०।।

---

१. 'तस्माद् ऋचः साम यजूंषि दीक्षा यज्ञाश्च सर्वे क्रतवो दक्षिणाश्च। संवत्सरश्च यजमानश्च लोकाः सोमो यत्र पवते यत्र सूर्यः।।'६।।
२. फलकामः काम्यादौ, अधिकारी नित्यादावित्यर्थः। अथवा, कर्त्रन्वयाऽधिकारान्वययोर्भेदोऽभिप्रेतः, स च तृतीयवर्णकविवरणादौ स्पष्टतरः।

चतुर्विधानि भूतानि देवादीनि सहस्रशः। प्राणाः सर्वेऽपि तपसा श्रद्धया च समन्विताः।।१५१
अवश्यंभाविना तद्वत् कर्मणोऽपि फलेन च। सत्येन ब्रह्मचर्येण विधिना शास्त्रकर्मणा।।१५२
सप्तधाऽत्र विभक्तं यद् विश्वमेतच्चराचरम्। लोकादिभेदतः सर्वं तदिदं ब्रह्मणोऽभवत्।।१५३
समुद्रा गिरयो नद्यो यच्चाऽत्र स्थिरजङ्गमम्। भव्यं भूतं वर्तते वा तत् सर्वमभवत् ततः।।१५४

अपवादः

इदं विश्वं पुमानेव य एतदुदपादयत्। तपः कर्म च वेदाश्चाऽमृतं ब्रह्म परं च यत्।।१५५

चतुर्विधानीति[1]। देवादीनि इत्यतद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः; तथा च देवा वस्वादयः प्रथमं जाताः, ततः साध्या मनुष्याः पशवो वयांसि इति चतुर्विधानि भूतानि जातानि। तथा प्राणाः पञ्चविधाः। अपिशब्दाद् व्रीह्यादयोऽन्नभेदाश्च। तपः प्रसिद्धं, श्रद्धाऽऽस्तिक्यरूपा, सत्यम् इत्यवश्यंभावित्वेन कर्मफलम् उच्यते, अपिशब्दाद् यथार्थभाषणं च, ब्रह्मचर्यम् उपस्थसंयमः, विधिपदेन शास्त्रविहितं कर्मोच्यते; एतैः तपःप्रभृतिभिः सह प्राणास्ततो जाता इत्यर्थः।।१५१-२।।

सप्तधात्रेति[2]।एतच्चराचरं विश्वमत्र अध्यात्मभागे लोकादिभेदैः प्रतिलोमक्रमेण सप्तधा विभक्तं मन्त्रे कीर्तितं तत्सर्वं ब्रह्मणो जातमिति सम्बन्धः। तत्र सप्त प्राणाः शीर्षण्यानीन्द्रियाणि—द्वे श्रोत्रे, द्वे चक्षुषी, द्वे घ्राणे, एका वाग्—इति। अर्चिषः तदीयवृत्तयः। समिधस्तद्विषयाः। होमा उपासनानि। लोका गोलकानि। एकं प्रत्येकं सप्तपदार्थाः प्रतिप्राणिभेदम् उत्पन्ना इति भाष्योक्तः श्रुत्यर्थोऽवधार्यः।।१५३।।

समुद्रा इति।[3] समुद्रादित्रयं, यच्च ओषधिपदोपलक्षितं स्थिरं स्थावरं, रसपदोपलक्षितं चाहारपरिणाममयं शरीरं जङ्गमम्, एतदुपलक्षितमन्यच्च जगत् कालत्रयवर्ति परमात्मन उत्पन्नमित्यर्थः।।१५४।।

एवमध्यारोपितस्य जगतोऽपवादेन शुद्धतामात्मनो दर्शयति[4]—इदं विश्वमिति। एतद्विश्वं स पुरुष एव, न ततोऽन्यत्। 'स' कः ? य एतद्विश्वमुदपादयत् जनितवान्। कीदृशं विश्वम् ? तपः कर्म वेदा इत्येतत्त्रितयात्मकम्; तत्र तप उपासनाफलं,कर्म यागादिफलं, वेदाः तत्प्रकाशकाः। फलितमाह—अमृतमिति। यत्परं ब्रह्म अमृतं कूटस्थमखण्डं

देवता आदि एवं अन्य भी चारों तरह के हज़ारों प्राणी, पाँचों तरह के प्राण, विविध अन्न, तपस्या, आस्तिकता, सत्य अर्थात् अवश्य होने वाला कर्मफल, यथार्थ-भाषण, उपस्थसंयम, शास्त्रविधि से कर्तव्य क्रियाकलाप—ये सभी परमात्मा से पैदा हुए।।१५१-२।। यह जो सारा चर-अचर विश्व लोक इत्यादि भेद से सात तरह बँटा है वह ब्रह्म से ही उत्पन्न हुआ। (सात तरह इसलिये कि यहाँ गर्दन के ऊपर होने वाली इंद्रियाँ सात प्राण कही गयी हैं—२ श्रोत्र, २ आँखें, २ नासिकाएँ और १ वाक्। इनकी वृत्तियों को अर्चि और विषयों को समित् कहा गया है। उपासनाएँ ही होम और सातों के गोलक ही लोक हैं। हर प्राणी को ये सात-सात पदार्थ उपलब्ध हैं। ये सब ईशकार्य हैं। अथवा भूरादि सातों लोक व उनमें स्थित चराचर विश्व ब्रह्मजन्य है यह भाव है।)।।१५३।। समुद्र, पर्वत, नदियाँ, जगत् में जो कुछ भी वृक्षादि स्थावर है, जो कुछ आहार के परिणामरूप से बनने वाला जंगम अर्थात् शरीर है, भावी-भूत-वर्तमान है, वह सभी उस परमात्मा से ही उत्पन्न हुआ।।१५४।। (यहाँ तक कहा कि जगद्रूप से परमेश्वर फैला है। यह अध्यारोप हुआ। अब अपवाद द्वारा बतायेंगे कि जगत् वस्तुतः नहीं, वास्तविक केवल परमेश्वर है। जैसे मृत्कार्य मृत् होता है ऐसे सत्कार्य सत् होगा—यह शंका स्वाभाविक है अत एव अपवाद द्वारा स्पष्ट किया जाता है कि प्रपंच परिणामात्मक कार्य नहीं वरन् विवर्तात्मक कार्य है अतः सत् नहीं मिथ्या ही है।)

---

१. 'तस्माच्च देवा बहुधा सम्प्रसूताः साध्या मनुष्याः पशवो वयांसि। प्राणापानौ व्रीहियवौ तपश्च श्रद्धा सत्यं ब्रह्मचर्यं विधिश्च।।'७।।
२. 'सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात् सप्तार्चिषः समिधः सप्त होमाः। सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा गुहाशया निहिताः सप्त सप्त।।'८।।
३. 'अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽस्मात् स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः। अतश्च सर्वा ओषधयो रसश्च येनैष भूतैस्तिष्ठते ह्यन्तरात्मा।।'९।।
४. 'पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम्। एतद् यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य।।'१०।।

एवं सर्वगतं सर्वरूपमात्मानमव्ययम्। सर्वभूतहृदम्भोजे वसन्तं भेदवर्जितम्।।
यो वेद पुरुषः स स्यादविद्याग्रन्थिवर्जितः।।१५६

अक्षरबोधः

स्वप्रकाशं सदा स्वस्य सन्निधानमुपागतम्। बुद्धिस्थितं महत् प्राप्यमस्मिन्नेव कलेवरे।।१५७
प्राणेन्द्रियाणां चेशानं हेतुभूतं सनातनम्। एतदेव सदा ज्ञेयं बुद्धेः परमुदाहृतम्।।१५८
सदसद्रूपतां प्राप्तं सदसद्भेदवर्जितम्। वरणीयं सदा सद्भिः वरिष्ठं सर्वदेहिनाम्।।१५९

तदेव सर्वम् इत्यर्थः।।१५५।। एवमिति। एवं वर्णितविधया सर्वगतत्वादिना वर्णितम् आत्मानं सर्वान्तरमद्वयं च यो वेद जानाति स पुरुषः अविद्याग्रन्थिना 'अहमज्ञ' इत्याकारेण विमुक्तः सर्वविद्भवतीत्यर्थः।।१५६।।

उक्तविधया सकृदुपदेशेन यस्य अक्षरज्ञानं नोत्पद्यते तं प्रति ससाधनम् अक्षरबोधं जनयितुं प्रवृत्तस्य द्वितीयमुण्डकद्वितीयखण्डस्यार्थं वर्णयति क्रमेण—स्वप्रकाशमित्यादिना।[1] स्वप्रकाशत्वेन सदाविर्भूतम् अतिसन्निहितं बुद्धिगुहास्थितत्वात्, महत् सर्वोत्कृष्टम्, अत्राधिकारिदेह एव प्राप्यं, प्राणानाम् इन्द्रियाणां च अरनाभिन्यायेन ईशानम् अधिष्ठानम्। तथा हेतुभूतं सर्वेषां कम्पनप्राणनादिव्यापारस्य संनिधिमात्रेण निमित्तं च। एतद् वर्णितं ब्रह्मैव ज्ञेयम् अवश्यज्ञातव्यम्। इति द्वयोरर्थः।।१५७-८।। तदेव पुनर्विशिनष्टि[2]— सदसदिति त्रिभिः। मायया स्थूलसूक्ष्मरूपतां प्राप्तम् अपि वस्तुतस्तदुभयवर्जितं सद्भिः विवेकिभिः वरणीयं सर्वसङ्घातेषु प्रविष्टमति प्रशस्तं

उपासना का फलभूत तप, यागादिका फलभूत कर्म, कर्मोपासना के प्रकाशक वेद इत्यादि यह विश्व वह अमृत व्यापक परम पुरुष ही है जिसने विश्व को उत्पन्न किया।।१५५।। सर्वव्यापक, सर्वरूप, सब प्राणियों के हृदयकमल में रहने वाले भेदरहित अव्यय आत्मा को जो पुरुष जान लेता है उसकी अविद्या की गाँठ खुल जाती है। ('मैं अज्ञानी हूँ' यह अनुभव अविद्या की गाँठ है।)।।१५६।।

(एक बार सीधे-सीधे सुनकर ज्ञान होना कठिन है अतः सहायक साधन बताते हुए अक्षर का स्पष्टीकरण द्वितीय मुंडक के द्वितीय खंड में किया गया है जिसे समझाते हैं :)

जिसके बारे में संशय-विपर्यय मिटाकर प्रामाणिक ज्ञान पाना हमेशा उचित है उसका यह स्वरूप है—१) वह किसी अन्य के अधीन हुए बिना ज्ञानात्मक है अतः कहा जाता है कि वह सदा प्रकाशमान है। २) सबकी बुद्धियों का भी साक्षी होने से वह हमारे निःसीम निकट है, हमारा प्रत्यग्रूप है। ३) सबसे उत्कर्षशाली और सर्वाधिक व्यापक होने से महान् है। ४) जिस शरीर में रहते जीव को उसे पाने की तीव्र ललक हो जाये उसी शरीर में रहते उसे चाहिये कि विवेकादि पाकर अधिकारी बने और उस अक्षर को आत्मसात् कर ले। ५) जैसे चक्के की नाभि उसमें स्थित अरों पर प्रशासन करती है ऐसे वह अक्षर प्राणों व इंद्रियों का अधिष्ठानभूत शासक है। ६) जहाँ कहीं भी कंपन, प्राणन आदि व्यापार होता है वहाँ मुख्य निमित्त अक्षरतत्त्व की संनिधि ही है।।१५७-८।। ७) स्थूल-सूक्ष्म भेदों से वस्तुतः रहित रहते हुए ही अपनी अघटितप्रदर्शिका मायाशक्ति से स्थूल-सूक्ष्म रूप धारण किये है। ८) अन्य पुरुषार्थ त्यागकर अकेले उस अक्षर का चयन वे ही कर सकते हैं जो सज्जन हैं। ९) सब देहधारियों में समानरूप से प्रवेश की हुई सबसे श्रेष्ठ वस्तु वह अक्षर ही है।।१५९।। १०) उसके ज्ञान के लिये अन्य कोई सहारा नहीं चाहिये। ११) जिन्हें लक्षित करना

१. 'आविः सन्निहितं गुहाचरं नाम महत्पदमत्रैतत् समर्पितम्। एजत् प्राणद् निमिषच्च यदेतज्जानथ सदसद्वरेण्यं परं विज्ञानाद् यद् वरिष्ठं प्रजानाम्।।'२.२०१।।

२. 'यदर्चिमद् यदणुभ्योऽणु च यस्मिँल्लोका निहिता लोकिनश्च। तदेतदक्षरं ब्रह्म स प्राणस्तदु वाङ् मनः। तदेतत्सत्यं तदमृतं तद् वेद्धव्यं सोम्य विद्धि।।'२।।

दीप्यते यत् स्वतो भासा यदणुभ्योऽप्यणु स्मृतम्। यस्मिँल्लोका इमे विश्वे निहिताः सन्ति सर्वदा।।१६०

तदेतदक्षरं ब्रह्म तत् प्राणेन्द्रियरूपभृत्। स्वर्गादिकं च मोक्षश्च तदेवोक्तं मनीषिभिः।।१६१

ध्यानयोगः

धीरेणात्मनि विज्ञानकारिणा शिक्षितेन च। कामक्रोधादिशत्रूणां सर्वदा भयकारिणा।
वेद्धव्यमेतदेवाऽत्र रूपं सर्वमवासनम्।।१६२

वेदान्तोदरसंस्थानः प्रणवो धनुरीरितः। आत्मज्ञानेन सहितः शर आत्मा च तस्य सः।।१६३

ब्रह्मात्मत्वेन यद् ध्यानं धनुराकर्षणं हि यत्। लक्ष्यं ब्रह्मात्मरूपं च यत्राऽऽत्माऽयं शरो व्रजेत्।।१६४

वस्तु।।१५६।। दीव्यत इति। स्वरूपभूतया भासा देदीप्यमानं, दुर्लक्ष्येभ्योऽपि दुर्लक्ष्यं, यदाश्रिताः सर्वलोकाः सह लोकपैः।।१६०।। तदेतदिति। यत्त्वया पृष्टं 'कस्य विज्ञानात् सर्वं ज्ञायते ?' इति तद् ब्रह्म एतद् एव। तथैव प्राणेन्द्रियादिरूपम्। तथैतदेव सत्यपदोक्तं स्वर्गादिरूपं कर्मफलं, तथा मोक्षरूपमित्यर्थः।।१६१।।

ध्यानयोगेन चैतदेव लभ्यमित्याह[1]—धीरेणेति। धीरेण धैर्यशालिना आत्मविषयकविवेकशालिना कामादिरूपशत्रूणां पराभवकारिणा ध्यानशूरेण एतद् वर्णितमेव आत्मनो रूपं यद् अवासनं वासनाभिर्मुक्तं तुरीयमिति यावत्, वेद्धव्यं लक्ष्यतां नेयमित्यर्थः।।१६२।।

वेधनपरिकरमाह[2]—वेदान्तोदरेति। वेदान्तमहावाक्यानि उदरस्थितानि यस्य स तथा; तदुक्तं 'सकारं च हकारं च लोपयित्वा प्रयोजयेत्। सन्धिं च पूर्वरूपाख्यां ततोऽसौ प्रणवो भवेद्।।' (मानसोल्लास ६.४३) इति। एतादृशः प्रणवो धनुः उक्तः। शोधितो ध्यातुः आत्मा एव शर उदीरितः। महावाक्यार्थचिन्तनं यत्तदेव आकर्षणस्थानीयम् शुद्धं ब्रह्म तु लक्ष्यं यत्राऽयं प्रत्यगात्मा 'शरवत् तन्मयो भवेद्'। इति द्वयोरर्थः।।१६३-४।।

दुष्कर प्रसिद्ध है उनसे भी ज़्यादा दुष्कर इस अक्षर को लक्षित करना है। १२) लोकपालों समेत ये सारे लोक हमेशा इस अक्षर में ही आश्रित हैं।।१६०।।

हे शौनक ! जिसके बारे में तूने पूछा कि 'किसे जान लेने पर सब कुछ जान लिया जाता है' वह ब्रह्म यह अक्षर ही है। प्राण, इंद्रिय, स्वर्ग आदि सभी रूप यही धारण किये है। मनीषी कहते हैं कि यही सनातन मोक्ष है।।१६१।।

जिस बुद्धिमान् में धैर्य हो, जिसने आत्मा-अनात्मा का विवेक कर लिया हो, सद्गुरु से शिक्षा पायी हो, काम-क्रोध आदि दुश्मनों को हमेशा डराने की कोशिश करता हो, ऐसे ध्यानवीर को आत्मवस्तु के वासनारहित इस शास्त्रोक्त स्वरूप का ही वेधन करना चाहिये। (उपनिषत् ने धनुष पर चढाकर बाण चलाकर लक्ष्य बींधने का रूपक उपस्थापित किया है। उपनिषत्प्रसिद्ध ओंकार ही यहाँ महान् धनुष है और सतत ध्यान से संस्कारित जीव ही बाण है। प्रत्यंचा खींचने की जगह है चित्त को अक्षर के प्रति भावनापूर्ण बनाना और उस अक्षर तत्त्वरूप लक्ष्य का ही भान रहे, अन्य भान अभिभूत हो जायें यह वेधन है।)।।१६२।।

वेदांतप्रसिद्ध महावाक्य जिसमें निहित हैं वह प्रणव यहाँ धनुष कहा गया है। (महावाक्य का अर्थ है 'वह परमेश्वर मैं हूँ'—'सोऽहम्'। इस वाक्य का संक्षेप करने के लिये सकार और हकार का लोप कर दिया जाता है तो बचता है 'ओऽम्'। इस प्रकार ॐ में महावाक्यार्थ निहित है।) जिस ध्याता ने आत्मवस्तु का शोधन कर लिया है, अनात्मा से

---

१. 'धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासानिशितं सन्धयीत। आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि।।'३।।
२. 'प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते। अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्।।'४।।

यस्मिँल्लोकत्रयी सर्वा सह भूतैश्च पञ्चभिः। प्राणाद्यैर्भौतिकैस्तद्वच्छब्दब्रह्मेति कीर्त्त्यते।।१६५

एकं तदेव विज्ञेयं न तु तस्मात् परं हि यत्। वाचश्चान्या विमोक्तव्या वाक्तालुगलशोषदाः।।१६६

अमृतस्य सेतुः

विनोपनिषदो नैव वदेद् वा शृणुयाच्च वा। नानाविधा हि या वाचः ताः स्युर्नैवात्र कर्हिचित्।।
अमृतत्वस्य मोक्षस्य प्राप्तये पुरुषस्य हि।।१६७

किन्तु धर्मप्रदाः काश्चित्काश्चिदर्थप्रदा अपि।कामप्रदाश्च काश्चित्तु काश्चिद् दुःखप्रदाः सदा।१६८

'यस्मिन् द्यौः'[1] इत्यादेरर्थमाह—यस्मिँल्लोकत्रयीति एकादशभिः। यस्मिन् त्रिलोकी पञ्चभूतानि प्राणादीनि भौतिकानि च एतत् सर्वं प्रतिष्ठितं तथा एतदुपलक्षितो वेदश्च यत्र प्रतिष्ठितो यः शब्दब्रह्मेति कीर्त्त्यते, तद् विश्वाधिष्ठानं ब्रह्मैव विज्ञेयम्, अन्याः तदितरप्रतिपादिका वाचः च हेयाः, श्रमहेतुत्वात्। इति द्वयोरर्थः।।१६५-६।। फलितमाह—विनोपनिषद इति।उपनिषदो विहाय अन्या वाचः नाभ्यसेद् मुमुक्षुः, इतरासां द्वैतप्रतिपादकत्वेन अमृतत्वरूपस्य मोक्षस्य अनुपयोगित्वाद् इत्यर्थः।।१६७।।

तत्रान्यासां वाचां चतुर्विधत्वमाह—किन्त्विति। किन्तु ताः किमर्था इति चेत् ? धर्मार्थकामदाः तिस्रः, चतुर्थ्यस्तु व्यर्थरूपा दुःखदा इत्यर्थः।।१६८।। तत्र दुःखप्रदानां हेयतायाः प्रेक्षावतः प्रति सिद्धत्वात् सा नाऽत्र पृथक् कर आत्मा को समझ लिया है उसका वह आत्मा ही बाण है।।१६३।। 'ब्रह्म ही प्रत्यगात्मा है' यह ध्यान प्रत्यंचा खींचने की जगह है। आत्मस्वरूप व्यापक सच्चिदानंद लक्ष्य की जगह है जहाँ यह प्रत्यगात्मा तन्मय होगा। (उपनिषद्भाष्यटीका में संक्षेप में कहा है : साधक अपने इंद्रियसमूह को निश्चेष्ट बना ले और 'प्रणव ब्रह्म है' यह ध्यान करे। उस एकाग्र दशा में प्रणव से उपरंजित चैतन्य का प्रतिबिम्ब चित्त में स्फुरेगा, वही आत्मा है यह अनुसंधान करे, इसीका नाम शरसंधान है। फिर उस प्रतिबिम्ब को बिम्ब से एक समझना लक्ष्यवेध है।)।।१६४।।

पाँचों भूतों सहित, प्राणादि भूतकार्यों सहित, और जिसे शब्द ब्रह्म कहते हैं उस वेद सहित सारी त्रिलोकी जिसमें प्रतिष्ठित है, विश्वाधिष्ठान उस एक ब्रह्म का ही विज्ञान करना चाहिये, उससे अन्य जो कुछ प्रतीत हो उसे सोचने-समझने लायक न मानकर उपेक्षित ही रखना चाहिये। भेद-प्रतिपादक वाणी सर्वथा हेय है, जीभ-तालु-गले को सुखाने से ज़्यादा उसका कोई फल नहीं। ('नानुध्यायाद् बहून् शब्दान्' की व्याख्या में अ. ६. श्लो. १५०६ अत्यन्त विस्तार से यह प्रकट किया जा चुका है।)।।१६५-६।। नानात्व-विधायिका वाणी पुरुष को कभी अमरतारूप मोक्ष नहीं प्राप्त करा सकती इसलिये मुमुक्षु को उपनिषदों से अन्य किसी वाणी का न उच्चारण और न श्रवण करना चाहिये। (उप-नि-षद् जीवेश्वरैक्यबोधक ग्रंथ हैं। यदि यह अभेद न बतावे तो चाहे शीर्षक 'उपनिषत्' हो उसे मुमुक्षु हेय ही जाने एवं यदि अभेदतात्पर्यक हो तो 'उपनिषत्'-शीर्षक के बिना भी ग्रंथ मुमुक्षु के लिये अध्येतव्य है। व्यर्थ के अखबार-पत्रिका आदि में समय-सामर्थ्य गँवाना तो सर्वथा त्याज्य है। शरीरयात्रा-निर्वाह के लिये ज़रूरी होने पर भेदार्थक वचन बोलने पड़ें तो भी न्यूनतम ही बोले तथा बोलते समय भी कोशिश याद रखने की करे कि 'जिस भेद का व्यवहार कर रहा हूँ वह वास्तविक और कल्याणप्रद नहीं है'। जैसे खोटे सोने के गहने बेचने वाला यद्यपि ग्राहक से यह कहता रहता है कि 'असली सोने का माल है' तथापि लगातार जानता है कि है खोटे सोने का वैसे मोक्षेच्छुक को शास्त्रश्रद्धा से याद रखना चाहिये कि संसार अतः संसारपरक वचन मिथ्या हैं।)।।१६७।।

उपनिषदों से भिन्न वचन चार तरह के होते हैं—१) धर्मप्रद—उनके उच्चारण से पुण्य होता है या धर्म का वे प्रबोधन करते हैं। २) अर्थप्रद—उनके उच्चारण से धन मिलता है, जैसे गीत काव्यादि बोलना, या वे धनलाभ के

१. 'यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षम् ओतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः। तमेवैकं जानथ आत्मानम् अन्या वाचो विमुंचथाऽमृतस्यैष सेतुः।।'५।।

दुःखप्रदाः सदा वाचो न वदन्तीह धीधनाः। वारयन्ति च तद्वक्तॄन् मृतान्वीक्षणकादयः।।
ततस्ताः स्वयमेवाऽत्र न वक्तव्या इति स्थितम्।।१६९
कामदा अपि वाचः स्युरर्थदा याश्च ता अपि। दुःखदा अर्थकामाभ्यां वियोगे सति सर्वदा।।१७०
अशास्त्रीयौ यदा स्यातामर्थकामौ तदा हि ताः। दुःखदा एव को नाम ता वदेद्धीधनो जनः।।१७१
धर्मोऽपि च यदा[1] लोके संसारसुखदो भवेत्। तदा दुःखप्रदः स स्यात् तत्सुखं यद्विनश्वरम्।।१७२
ततो धर्मार्थकामानां दायिन्यो दुःखकारिकाः। वाच एवं स्थितास्ताश्च न वक्तव्या हि धीमता।।१७३

विधीयते किन्तु अर्थदत्वादिनाऽभिमतानां दुःखदत्वं श्रुत्या बोध्यत इत्याशयं दर्शयति—दुःखप्रदा इति पञ्चभिः। धीधनाः कुशलाः दुःखप्रदान् शब्दान् स्वयं न वदन्ति, तद्वक्तॄन् वारयन्ति च इति प्रसिद्धम् ततः शिष्टाचारादेव ता दुःखप्रदा वाचो न वक्तव्या इति स्वयमेव श्रुत्युपदेशं विनाऽपि स्थितं सिद्धम्। कीदृश्यस्ता वाचः ? मृतान्वीक्षणकादयः निन्दितं यद् मृतानामन्वीक्षणं वृत्तान्तप्रतिपादनं तत्प्रभृतिरूपाः, आदिपदेन काकदन्तकथादिग्रहः। यथाहुः 'काकस्य कति वा दन्ता मेषस्याऽण्डं कियत्पलम्। गर्दभे कति रोमाणीत्येषा मूर्खविचारणा।'। इति।।१६९।। प्रकृते तु कामदादीनां दुःखदत्वं बोध्यत इति दर्शयंस्तत्र अर्थकामौ धनार्जनविषयभोगरूपौ द्विविधौ—शास्त्राविरुद्धौ, तद्विरुद्धौ च। तत्राद्ययोः वियोगादौ दुःखरूपतायाः प्रसिद्धत्वात् तत्परवाचामपि दुःखदत्वं बोध्यमित्याह—कामदा इति।।१७०।। शास्त्रविरुद्धयोः तु इह निन्दादिना परत्र नरकेण च दुःखदत्वमविवादम् इत्याह—अशास्त्रीयाविति। ताः तत्प्रतिपादिका वाचः।।१७१।। एवमभ्युदयार्थस्य धर्मस्याऽपि विनश्वरफलकत्वेन[2] दुःखदत्वात् तद्वाचां दुःखदत्वमित्याह—धर्मोऽपीति। यद् यतः।।१७२।। फलितमाह—तत इति। धर्मादीनां दायिका वाचो दुःखकारिका एव स्थिता विवेकतः सिद्धा धीमता मुमुक्षुणा न वक्तव्या इत्युपदेशः।।१७३।।

साधन प्रकट करते हैं। ३) कामप्रद— उनका कथन-चिंतन तत्काल सुख देता है या कामनापूर्ति के उपाय बताता है। ४) दुःखप्रद—उनका उच्चारणादि स्वयं दुःख देता है जैसे गाली आदि तथा वे दुःखसाधनों में प्रेरित करते हैं जैसे विभिन्न वैषयिक विज्ञापन आदि। उपनिषदन्य वचन इनमें से किसी प्रकार के ही हो सकते हैं।।१६८।। इनमें जो दुःखप्रद वचन हैं उनका उच्चारण तो वे लौकिक लोग भी नहीं करते जो बुद्धि के धनी हैं तथा अन्य कोई भी उन्हें बोले तो उसे वैसा करने से रोकते हैं। इसलिये दुःखद वाणी न बोलना शिष्टाचार से ही सीखा जा सकता है अतः उसके लिये वेद के उपदेश की ज़रूरत नहीं। दुःखद वाणी नाना प्रकार की प्रसिद्ध है—जो मर चुके उनके क्रियाकलाप सुनाते रहना, शुष्क तर्कानुसारी कोटियाँ बढ़ाने वाले वचन, पुरुषार्थसिद्धि में परंपरया भी निरुपयोगी बातें इत्यादि एवं पापोत्पादक झूठ, निंदा, चुगली आदि जो भविष्य में दुःख देंगी। ऐसे सभी वचन कभी भी बोलने लायक नहीं होते। (प्राचीन वृत्तांत यदि शिक्षाप्रद हों या सामान्यतः उपयोगी न लगने पर भी लौकिक विकास में सहायक हों तो वे वचन धर्म-अर्थप्रद कोटि में आयेंगे। मुमुक्षु के लिये हेय होने पर भी साधारण बुद्धिमान् के लिये वे वक्तव्य हैं। दुःखद कोटि के वचन तो किसीके लिये भी बोलने लायक नहीं।)।।१६९।।

क्योंकि स्पष्ट दुःखद वचनों के कथन का निषेध लोकसिद्ध होने से शास्त्रद्वारा विधेय मानना अनावश्यक है इसलिये विचार्यमाण श्रुति 'अन्यवाक् के विमोक' के द्वारा कामद आदि वाणी की भी दुःखप्रदता के अभिप्राय से उनके निषेध में तात्पर्य रखती है। धनार्जन और विषयभोग दो प्रकार के हो सकते हैं—शास्त्र से अविरुद्ध और शास्त्रविरुद्ध। शास्त्रानुकूल होने पर भी धन और विषय तब अवश्य दुःख देते हैं जब उनका वियोग होता है अतः वैसे धन और

१. एतेन विविदिषाविनियुक्तधर्मतद्बोधकानामदुःखदताऽगादि।
२. न तु सांख्यानामिव कृष्णतया धर्मस्य दुःखजनकता।

अमृतत्वं ततो मोक्षो याभिरात्माऽवगम्यते। ता एव सर्वदा सद्भिर्वक्तव्या नापराः क्वचित्।।१७४
आनन्दात्मा स्वयंज्योतिः सेतुवत् संस्थितो हि सः। अमृतत्वे सुखं यस्य गृहीत्वा परमेश्वरः।।१७५

आत्मा प्रत्यक्

वर्तते हृदयाकाशे हृदयाकाशरूपभाक्। यस्मिन् हि हृदयाम्भोजे नाड्यः शतसहस्रशः।।
रथनाभावरा यद्वत् तद्वदेव समर्पिताः।।१७६

किन्त्वमृतत्वरूपमोक्षस्य साधिका एव वाचोऽभ्यसनीयाः 'आ सुप्तेरा मृतेः कालं नयेद् वेदान्तचिन्तया' इत्युक्तेरित्याह—अमृतत्वमिति।।१७४।। आत्मशास्त्रस्य अवश्याऽभ्यसनीयत्वे हेतुतयाऽऽत्मज्ञानमात्रसाध्यत्वं मोक्षस्याह—आनन्दात्मेति। हि यतः स्वयम्प्रकाशानन्दरूप आत्मा अमृतत्वे मोक्षे—तदर्थमिति यावत्—सेतुवत् स्थितः[1], यथा सेतुमार्गेणैव पारं लभ्यते तथाऽऽत्मविज्ञानेन अमृतत्वं लभ्यत इत्यर्थः; अत्र 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चन' (तै. २.९.१) इति श्रुतिमर्थतः संवादयति—सुखमिति। यस्य आत्मनः स्वरूपभूतं सुखं गृहीत्वा विज्ञाय परमेश्वरो निर्भयो भवतीति शेषः।।१७५।।

आत्मनः प्रत्यक्त्वेनैव ज्ञानं, प्रणवालम्बेन ध्यानं वा मुमुक्षोरावश्यकमिति विदधतः 'अरा' इत्यादेः 'परस्ताद्' इत्यन्तस्य[2] मन्त्रस्यार्थमाह—वर्तत इति पञ्चभिः। अयमात्मा सर्वेषां हृदयाकाशे वर्तते। कीदृशः ? हृदये विषय की बोधक वाणी भी दुःखदायी ही है।।१७०।। शास्त्रविरुद्ध अर्थ-काम तो इह लोक में भी शिष्टनिंदादि दुःख देते हैं और मरणानंतर नरकादि दुःख देते हैं अतः उनके बारे में बताने वाले वचन भी उभयथा दुःखद होने से कौन समझदार उनका कथन करेगा ! (असत्य, हिंसा, स्तेय आदि निषिद्ध क्रियाओं से धनार्जन और विषयभोग के उपायों के उपदेशक वचनों का कथन-चिन्तन आदि लौकिक शिष्ट के लिये भी अत्यंत हेय है तो मुमुक्षु उस संदर्भ में कल्पना भी न करे इसमें क्या कहना।)।।१७१।। विषयभोग के क्षेत्र में सांसारिक सुख देने वाला धर्म भी क्योंकि विनाशशील सुख ही प्रदान करने में सक्षम है इसलिये उस धर्म को और उसके बोधक-वचनों को भी दुःखप्रद ही समझना चाहिये। (जो वचन वैषयिक सुखलाभकारी धर्म के विधायक न होकर विविदिषा द्वारा मोक्षोपयोगी धर्म के विधायक हैं वे दुःखद नहीं।)।।१७२।। इस प्रकार विवेक से निर्णीत है कि धर्मप्रद, अर्थप्रद और कामप्रद वचन दुःखकारक ही होने से बुद्धिमान् द्वारा बोलने लायक नहीं हैं।।१७३।।

इसलिये जिनके द्वारा आत्मा अमरतारूप मोक्ष पाता है वे ही वचन सज्जनों को हमेशा बोलने-सुनने चाहिये, अन्य बातें नहीं। (शास्त्रकारों ने कहा है कि जब तक नींद न आये या मौत न आये तब तक वेदांतचिंतन करता रहे ताकि कामनादि को सफल होने का मौका ही न मिले। आरुणिकोपनिषत् में कहा है कि परमहंस वेदों में भी आरण्यक भाग की आवृत्ति करे और खासकर तो उपनिषदों की ही आवृत्ति करे। सूत्रकार ने (४.१.१) भी आवृत्ति का विधान किया है। 'मच्चित्ता मद्गतप्राणाः' (१०.९) आदि से और पुष्पित-वाक् को अविद्वानों के वचन कहने से (२.४२) भगवान् ने भी यही अभिप्राय व्यक्त किया है।)।।१७४।।

आत्मशास्त्र का अभ्यास इसलिये आवश्यक है कि उसके बिना ज्ञाननिष्ठा दुर्लभ है व बिना ज्ञाननिष्ठा के मोक्ष असंभव है। जैसे नदी आदि पार करने का मार्ग सेतु ही होता है वैसे अमरता पाने का एकमात्र उपाय आत्मसाक्षात्कार है। स्वप्रकाश आनंदरूप आत्मा ही वह 'सेतु' है जो अमरता के प्रयोजन से मानो बिछा हुआ है। उसका यथाप्रमाण अकंप बोध ही उस पर चलना है। परमात्मा के स्वरूपभूत आनंद के विज्ञान से ही जीव सब भयों से छूटकर खुद परमेश्वर हो जाता है।।१७५।।

मुमुक्षु को चाहिये कि आत्मा प्रत्यक् है यह जाने। जब तक जानना संभव न हो तब तक प्रणव के सहारे ऐसा ध्यान ही करता रहे। श्रुतिप्रसिद्ध आत्मा सबके हृदयाकाश में सदा वर्तमान है। हृदयकमल के भीतर जो छोटी जगह

१. एतच्छान्दोग्याष्टमे (४.१-२) श्वेताश्वतरे (६-१९) स्पष्टतरम्। अत्र च 'सामान्यात्तु' (३.२.३२) सूत्रमपि दर्शनीयम्।
२. 'अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाड्यः। स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमानः। ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात्।।'६।।

अन्तश्चरति तत्राऽयं भूते भूते परः पुमान्। जायमानो यथाकाशो घटजन्मनि जायते।।१७७
अहं ब्रह्मेति चेज्ज्ञातुं न शक्योऽत्र मनीषिभिः। केनचित् प्रतिबन्धेन[1] तदोम् इत्येव चिन्तयेत्।।१७८
चिन्तयन्नेवमात्मानं पुरुषः पापवर्जितः। उत्पन्नब्रह्मविज्ञानो ह्यविद्यायाः परं व्रजेत्।।१७९
एवं पूर्वे महात्मानः स्वशिष्यान् प्रति सर्वदा। स्वस्तीति च वदन्तस्ते कथयन्ति पुनः पुनः।।१८०

आत्मतत्त्वम्

सामान्येन विशेषाच्च यः सर्वं वेत्ति सर्वदा। जगज्जन्मादिरूपश्च यस्यैष महिमा भुवि।।
दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष ह्यात्मा व्योम्नि प्रतिष्ठितः।।१८१

हृदयकमलेऽन्तर्यदाकाशं दहराख्यं तद्रूपः। तदेव लक्षयति—यस्मिन्निति। यस्मिन् हृदयकमले नाभिस्थानीये, अराः तिर्यक्काष्ठानि तद्रूपाः शतसहस्रसंख्या नाड्यो हितासंज्ञाः समर्पिताः तत्र हृदयाम्भोजे अन्तर् मध्यावच्छेदेन अयं वर्णितः परः पुमांश्चरति। कीदृशः ? जायमान उपाधिजन्मना जायमानत्वेन मन्यमानः घटजन्मनि घटाकाशवद्। इति द्वयोरर्थः।।१७६-७।।

एवमुपदेशेन साक्षात्काराऽभावे प्रणवेन चिन्तयेद् इत्याह—अहमिति।।१७८।। प्रणवालम्बनध्यानदीपेन पापरूपान्धकाराऽपहारे साक्षात्कारः सफलो भवत्येव इत्याह—चिन्तयन्निति। एवं प्रणवालम्बनेन।।१७९।। गुरोराशिषा पुनः पुनरुपदेशेन च प्रतिबन्धापाय इति दर्शयति—एवमिति। एवम् उक्तविधया महात्मानो दयालवः शिष्यान् प्रति पुनः पुनः उपदिशन्ति। किं कुर्वन्तः ? हे शिष्याः युष्मभ्यं स्वस्ति तत्त्वज्ञानप्राप्तौ विघ्नाऽभावोऽस्तु इत्येवं वदन्तः।।१८०।।

आत्मनः संक्षेपेण तत्त्वं प्रदर्शयतोः 'यः सर्वज्ञ'[2] इत्यादिमन्त्रयोरर्थमाह—सामान्येनेति षड्भिः। यः परमात्मा सामान्यरूपेण विशेषरूपेण च सर्वं वेत्ति, यस्य य महिमा विभूतिः जगत्सृष्ट्यादिरूप एषः अपरोक्षो भुवि भूरादिलोकेषु प्रसिद्धः एष परमात्मा ब्रह्मपुरे यद् दिव्यं व्योम तत्र प्रतिष्ठित इति।।१८१।। ब्रह्मपुरत्वादिकं स्फुटयति—ब्रह्मणेति।

है, दहराकाश है, वही रूप धरे आत्मा स्थित है। हृदयकमल मानो चक्के की नाभि है और उसमें अरों की तरह सैकड़ों-हज़ारों नाडियाँ हैं। प्रतिप्राणि उसी हृदय में परम पुरुष विराजता है। जैसे घट बनने पर घटाकाश मानो पैदा होता है वैसे ही वह परमेश्वर उपाधिजन्मवश जन्मवान् प्रतीत होता है। (दहराकाश 'में' आत्मा वैसे ही है जैसे घट 'में' आकाश।)।।१७६-७।।

उपदेश पाकर भी किसी प्रतिबंधक के कारण मनीषी यदि यह न समझ पायें कि 'मैं ब्रह्म हूँ' तब वे 'ॐ' इसीका चिंतन करें।।१७८।। ॐ के सहारे आत्मा का चिन्तन करता रहे तो पापरूप अँधेरा मिट जाता है और ब्रह्मानुभव हो जाने पर पुरुष अविद्या से परे निकल जाता है। (अधिकारी के लिये प्रणवोच्चारण भी पापशोधक है तो प्रणवार्थविचार के शोधकत्व का क्या कहना। अन्य प्रतीकोपासनाओं की अपेक्षा प्रणवप्रतीक की उपासना भी अत्यधिक श्रेष्ठ फल देने में सक्षम है यह 'ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्सः' (१.३.१३) आदि के भाष्य, परिमल आदि में सुस्पष्ट है।)।।१७९।। प्राचीन दयालु गुरुजन हमेशा अपने शिष्यों को पूर्वोक्त ढंग से आत्मोपदेश देते रहे हैं। क्योंकि गुरु का आशीर्वाद भी प्रतिबंधक मिटाता है इसलिये प्राचीन गुरुजन बार-बार कहते रहे हैं 'तुम्हें शुभ प्राप्त होवे, तत्त्वज्ञान की प्राप्ति में आने वाली रुकावटें दूर होवें'।।१८०।।

---

१. अस्तिभातीतिव्यवहर्तव्यविषये तद्विपरीतव्यवहारापादकस्य प्रतिबंधकसंज्ञा पंचदशीतत्त्वविवेकप्रकरणे। ध्यानदीपे च प्रतिबंधत्रैविध्यं प्रादर्शि (श्लो. ३८ आदौ)। पुरुषापराधपदोक्तप्रतिबंधकान् पंचविधान् मधुसूदनाचार्यः संक्षेपशारीरकतृतीये व्याचष्टे। १) विषयभोगवासना, २) वेदांतानां ब्रह्मण्यबोधकत्वकल्पना, ३) ब्रह्मणि बाधितत्वकल्पना, ४) ब्रह्मप्रमितावसाक्षात्कारत्वकल्पना, ५) मोक्षे पुरुषार्थताऽभावकल्पना चेति।

२. 'यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्यैष महिमा भूवि। दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः।। मनोमयः प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय। तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद् विभाति।।'७।।

ब्रह्मणा पूर्यते यस्माच्छरीरं ब्रह्मणः पुरम्। दिव्यं व्योम स्वयंज्योतिरात्मैव परिकीर्तितः।।
स्वे महिम्नि स्थितस्तत्र स्थित इत्यभिधीयते।।१८२

मनःप्रधानः प्राणानां नेता देहेन्द्रियैः सह। अन्ने ह्यव्याकृते तस्मिंस्तिष्ठत्यामोक्षमेव सः।।१८३

एवं विज्ञानतो धीरा ब्रह्मचर्यादिसाधनाः। आनन्दात्मानमात्मस्थं परिपश्यन्ति केचन।।१८४

सर्वैः संसारसम्बद्धैः धर्मैर्नानाविधैरपि। विमुक्तं निर्द्वयं यत्तज्ज्ञातृज्ञेयादिवर्जितम्।।१८५

ज्ञानफलम्

'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चाऽस्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।।'१८६

यथा जायमान एव घट आकाशेन पूर्यते तथा शरीरं ब्रह्मणा पूर्यमाणत्वाद् ब्रह्मपुरम् इत्युच्यते। तद्गतं दिव्यं व्योम तु दहराकाशाख्यं स्वयंप्रकाशात्मरूपं परं ब्रह्मैव। तत्र स्वरूपे आत्मनः स्थितिः तु 'स भूमा कुत्र प्रतिष्ठितः ? स्वे महिम्नि' इति वाक्यवद् उपचारादेव उच्यतइत्यर्थः।।१८२।। अस्य अज्ञातस्य ज्ञातस्य च स्वभावमाह — मन इति। स आत्माऽज्ञातो यदा तदा मनःप्रधानः सन् प्राणानां देहस्य इन्द्रियाणां च नेता तत्तद्व्यापारेषु प्रवर्तकः अन्नपदोक्ते तस्मिन् जगद्बीजभूतेऽव्याकृते मूलाज्ञाने तादात्म्याध्यासेन तिष्ठति यावन्मोक्षो मोक्षहेतुः ब्रह्मात्मज्ञानं न भवतीत्यर्थः।।१८३।। यदा चैतत् तस्य रहस्यं ब्रह्मचर्यादिसम्पन्ना जानन्ति तदैनमानन्दरूपं पश्यन्ति इत्याह— एवमिति।।१८४।। अमृतपददर्शितं सर्वसंसारधर्मराहित्यं तस्य वर्णयति—सर्वैरिति।।१८५।।

आत्मज्ञानस्य फलमभिनयन्तं मन्त्रं पठति—भिद्यत इति। तस्मिन् परमात्मनि परावरे परं कारणम् अवरं कार्यं तदुभयरूपे सर्वात्मक इति यावत्।।१८६।। तत्र हृदयग्रन्थ्यादिपदानामर्थमाह — कामाद्य इति त्रिभिः।

ब्रह्मपुर के दिव्य व्योम में यह आत्मा प्रतिष्ठित है जो सामान्यरूप से और विशेष रूप से सब कुछ हमेशा जानता है एवं जिसका जगत्सर्जन आदि वैभव भूरादि लोकों में अपरोक्ष है। (सामान्यरूप से जानना जैसे 'यह आदमी है' जानना, विशेषरूप से जानना जैसे 'यह देवदत्त है' जानना। अथवा मायोपाधि द्वारा जानना सामान्यतः ज्ञान है और व्यष्टि-अविद्योपाधि द्वारा जानना विशेषतः ज्ञान है—यह मुण्डकभाष्य की टीका में (१.१.९) कहा है। तत्तद्वस्तु के परिप्रेक्ष्य में सबको जानना तथा सबके—समष्टि के—परिप्रेक्ष्य में तत्तद्वस्तु को जानना यहाँ अभिप्रेत है।)।।१८१।।

'ब्रह्मपुर' अर्थात् ब्रह्म का पुर यह शरीर; जैसे उत्पन्न होते हुए ही घट आकाश से भर जाता है वैसे शरीर भी ब्रह्म से भरा-पूरा रहने के कारण ब्रह्मपुर है। 'दिव्य व्योम' दहराकाश कहलाने वाला स्वप्रभ आत्मा ही है। क्योंकि पहले (१३.१३१) बता चुके हैं कि आत्मा अपनी ही महिमा में रहता है इसलिये यहाँ भी दिव्य व्योम में आत्मा को प्रतिष्ठित कह दिया है।।१८२।। अज्ञात दशा में वह मनरूप उपाधि से ऐसा एक-मेक होता है कि प्रधानता मन की ही प्रतीत होती है। उस स्थिति में देह-इन्द्रिय-प्राणों को अपने-अपने व्यापारों में वह प्रवृत्त करता रहता है। अन्न अर्थात् जगत्का बीज जो मूलाज्ञान उसमें अभेदाध्यास किये हुए यह आत्मा तब तक रहता है जब तक इसे कैवल्यलाभ नहीं हो जाता।।१८३।। जो बुद्धिमान् आत्मा का उक्त रहस्य समझ लेते हैं वे ब्रह्मचर्य आदि साधन अपना कर आत्मारूप से स्थित आनंदस्वरूप का समग्र दर्शन पा लेते हैं किंतु ऐसे बुद्धिमान् विरले ही होते हैं। ('रहस्य' अर्थात् अज्ञात दशा में संसरणशील रहता है और इस संसारचक्र से तभी निकलता है जब अज्ञात न रह जाये।)।।१८४।। संसार-संदर्भ की नानाविध सभी विशेषताओं से छूटा हुआ, कार्य-कारणादि सब जोड़ों से अतीत, विषय-विषयिभाव से रहित परमार्थ वस्तु ही अमृतपद है।।१८५।।

कार्य-कारण दोनों रूप धारण करने वाले सर्वात्मा परमात्मा का साक्षात् दर्शन हो जाने पर साधक के हृदय की गाँठ खुल जाती है, सारे संशय मिट जाते हैं और कर्म क्षीण हो जाते हैं।।१८६।। 'हृदय की गाँठ' अर्थात् बुद्धि

कामाद्यो हृदयग्रन्थिः सर्वदुःखौघकारकः। संशयः स्वात्मनो दृष्ट्वा संसारित्वं परस्य च।।
ईश्वरत्वं द्विधा नृणां तयोस्तादात्म्यसंश्रयः।।१८७
अनारब्धफलान्यत्र कर्माण्युक्तानि भूरिशः। पुण्यपापात्मकान्येष यैरन्यं देहमाव्रजेत्।।१८८
श्रवणादेः फलं प्रोक्तं दर्शनं वेदवादिभिः। यस्मिन् सति भवेन्नेयमविद्या दुःखकारिणी।।१८९

कामानाम् आद्यः कारणभूतो योऽन्योन्याध्यासः हृदये बुद्धौ अभिव्यक्तः स हृदयग्रन्थिः उच्यते इत्यर्थः। संशयः तु सोऽत्र निवर्त्यतया विवक्षितो यः स्वात्मनः त्वम्पदार्थस्य संसारित्वम् अल्पज्ञत्वादिकं, परस्य तत्पदार्थस्य ईश्वरत्वं सार्वज्ञ्यादिरूपं च दृष्ट्वा तयोः तत्त्वंपदार्थयोः तादात्म्यसंश्रय ऐक्यगोचरः असम्भावनारूपः; स च द्विधा पदार्थगतयोर्विरुद्धधर्मयोः निमित्तयोर्भेदाद् इत्यर्थः।।१८७।। कर्माणि त्वत्र सञ्चितागामिरूपाणि तथा विवक्षितानि, प्रारब्धफलानां भोगैकनाश्यत्वाद्[1] इत्याह—अनारब्धेति। यैः संचितादिरूपैः।।१८८।। आत्मदर्शनस्य स्वरूपमवधारयति—श्रवणादेरिति। यथा दृष्टार्थावघातफलस्य तुषविमोकस्य तदेव स्वरूपं यत् तण्डुलनिष्पत्तिः एवं श्रवणादीनां दृष्टार्थानां फलभूतस्य दर्शनस्य तदेव रूपं यदविद्याक्षपणम् इत्यर्थः।।१८९।।

में स्फुट होने वाला इतरेतराध्यास जो समस्त कामनाओं का कारण है। (इसे ही पंचपादिकादि में अहंकार कहकर स्पष्ट किया है।) जीव को अनुभूयमान सभी दुःख संभव करने वाला यह अभिमानरूप अध्यास ही है। परमात्मदर्शन से मिटने वाले संशय हैं अद्वैत के बारे में होने वाली असंभावनाएँ। प्रत्यगात्मा में संसरणशीलता, अल्पज्ञता आदि देखकर तथा परमात्मा की ईश्वरता, सर्वज्ञता आदि सुनकर लगता है कि जीव-ईश्वर की एकता असंभव है; यह असंभावना मिटना ही संशयनिवृत्ति है। वाक्यार्थ अखंड होने पर भी पदार्थविधया वह विभिन्न है अतः तत्पदार्थ व त्वंपदार्थ में रहने वाले परस्पर विरुद्ध धर्मों की दृष्टि से वह असंभावना भी दो तरह की समझी जा सकती है। (जीव का ईश्वर होना संभव नहीं और ईश्वर का जीव होना संभव नहीं—ये दो प्रकार हैं। श्रुति में 'सर्वसंशयाः' कहा होने से संशयनानात्व इस प्रकार उपपादित है। भाष्य में 'सर्वज्ञेयविषयाः' कहा है। अज्ञदशा में अनंत संशय संभावित हैं—जैसा भाष्य में कहा कि गंगा-प्रवाह की तरह अज्ञानियों को अनवरत संशय होते रहते हैं—वे सब तभी असंभव बन जाते हैं जब अधिष्ठान-साक्षात्कार से अज्ञान मिट जाता है।)।।१८७।। आत्मज्ञान से क्षीण होने वाले कर्म संचित और आगामी हैं। पुण्यात्मक व पापात्मक अनंत कर्म हैं जो प्रारब्ध-कोटि से बाहर हैं, जिनसे देहान्तर-प्राप्ति होती है; वे कर्म ज्ञान से क्षीण हो जाते हैं। (प्रारब्ध कर्म तो भोगकर नष्ट किये जाते हैं। अथवा भूमिकारोहण किया जाये तो तीव्रतम से अतिरिक्त प्रारब्ध भी बिना भोगे समाप्त किया जा सकता है।)।।१८८।।

वेदविचारकों ने श्रवणादि का फल दर्शन बताया है जिसके हो जाने पर यह दुःखद अविद्या रह नहीं जाती। (जैसे धान कूटने का यही फल है कि भूसा हटकर चावल मिल जाये वैसे श्रवणादि का यही फल है कि अविद्या मिट जाये। तात्पर्य है कि अविद्या मिटने तक श्रवणादि में संलग्न रहना आवश्यक है, ज्योतिष्टोमादि की तरह ऐसा नहीं कि एक बार करके शांत हो जायें कि 'फल यथासमय हो जायेगा'! यद्यपि प्रतिबंधकवश तत्त्वज्ञान जन्मांतर में ही हो यह संभव है (ब्र. सू. ३.४.५१) तथापि वह फलबलकल्प्य व्यवस्था है अर्थात् यावज्जीवन श्रवणादि में तत्पर रहकर भी तत्त्वज्ञान न हो तब माना जायेगा कि अनुष्ठित श्रवणादि जन्मान्तर में फलीभूत होगा अथवा बिना श्रवणादि किये यदि किसीको तत्त्वानुभूति का स्फुरण हो जाये तब माना जायेगा कि पूर्व जन्म में उसने श्रवण किया था जो तब प्रतिबद्ध था, अब प्रतिबंधक हटने पर फलीभूत हो गया है। पानी की नली में पानी होने पर भी यदि हवा भर जाये तो नलके में पानी नहीं आता। हवा ही वहाँ प्रतिबंधक है। जब हवा निकाल दी जाती है तब पानी बहने लगता है। नलके में

१. सूत्रेषु ४.१. अधि. ८-११ यथाश्रुति विद्वदनुभवाद्यनुसारमेवं स्थापनात्। भिद्यत इत्यादेरभिप्रायः चित्रदीपे (श्लो. २६० आदौ) दर्शनीयः।

दर्शनीय आत्मा

'हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्। तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद् यदात्मविदो विदुः।'१६०

हिरण्मयः परः कोश आनन्दमय ईरितः। विरजं रजसा हीनं मायया परिवर्जितम्।।

मायाकार्येण रहितं निष्कलं च प्रकीर्तितम्।।१६१

ज्योतिषां ज्योतिरुक्तं स्यात् स्वप्रकाशं सुखं परम्। शुभ्रमानन्दरूपं तद् यज्जानन्ति महाधियः।१६२

स्वप्रकाशत्वमस्यैवं प्रवदन्ति मनीषिणः। सूर्यादिभिर्न यद् भायाद् मनआद्यैश्च तैजसैः।।

यद्भानमनुभात्येतज्जगत्सर्वं जडाजडम्।।१६३

दर्शनीयम् आत्मानमेव संक्षेपेण प्रतिपादयन्तं मन्त्रं पठंति—हिरण्मय इति।।१६०।। अस्यार्थमाह—हिरण्मय इति द्वाभ्याम्। हिरण्मयः सत्त्वप्रचुरत्वेन प्रकाशमयः परः पञ्चसु चरमः कोश आनन्दमयाख्यः तैत्तिरीयव्याख्याने दशमे वर्णितः तस्मिन् पुच्छभूतं ब्रह्म तिष्ठति। कीदृशम् ? मायारूपेण रजसा आवरकरेणुना हीनत्वाद् वर्जितत्वाद् विरजम् इत्युक्तम्। मायाकार्येण च कालाख्यपरिच्छेदहेतुना रहितत्वाद् निष्कलम् इत्युक्तमित्यर्थः।।१६१।। ज्योतिषामिति। तत् परं सुखं स्वप्रकाशत्वात् ज्योतिषां ज्योतिः इति उक्तम्। अद्वयत्वेनानन्दरूपत्वाच्च शुभ्रम् इत्युक्तम् अतिशुद्धत्वादित्यर्थः।।१६२।।

आत्मनः स्वप्रकाशत्वं विशदयतो 'न तत्र'[1] इत्यादेर्मन्त्रस्याऽर्थमाह—स्वप्रकाशत्वमिति त्रिभिः। अस्य आत्मनः स्वप्रकाशत्वमेवं वर्णयन्ति विद्वांसः। 'एवं' कथम् ? यत् तत्त्वं सूर्यादिभिः बाह्यैः तैजसैः मनःप्रभृतिभिराभ्यन्तरैश्च उपकृतं सद् न भायात् न स्फुरेत्, किन्तु स्वत एव स्फुरेत्; किं च यद्भातं[2] भासमानम् अनुसृत्य सर्वं जगद्भाति तत् स्वप्रकाशमित्युक्तम् इति तृतीयेनाऽभिसम्बन्धः।।१६३।। अत्रानुभानव्यपदेशे भवति 'तातं गच्छन्तमनुगच्छति'

पानी न आने का यह भी कारण होता है कि नली में पानी ही नहीं है ! उस दशा में 'हवा निकलेगी तब पानी आयेगा' यह आशा नहीं की जा सकती। जब मालूम हो कि पानी है, अन्य दोष नहीं तभी हवा निकालने की कोशिश करते हैं। ऐसे ही श्रवणादि से तत्त्वज्ञान के बीच में प्रतिबंधक (की हवा) है जो कभी ऐसा भी होता है जो जन्मांतर में ही दूर होता है। उस परिस्थिति में श्रवणादि का व्यवहित फल मान्य है। अन्यथा सामान्य नियम यही मान्य है कि तत्त्वावगति-पर्यन्त श्रवणादि में तत्पर रहना चाहिये।)।।१८६।।

जिसे आत्मवेत्ता जानते हैं वह ज्योतियों की ज्योति, शुभ्र, निष्कल, विरज ब्रह्म हिरण्मय परम कोश में है। (इसे स्वयं समझाते हैं—)।।१६०।। आनंदमय कहलाने वाले अंतिम कोश में क्योंकि सत्त्व प्रचुर है इसलिये वह हिरण्मय अर्थात् प्रकाशमय है। (सत्त्व प्रबल होने पर ही सुख होता है और आनंदमय के प्रियादि सब अवयव सुखात्मक हैं अतः आनंदमय सत्त्वप्रचुर है। ज्ञानप्रधान न होने से उस सत्त्व को मलिन भी माना जाता है; तत्त्वबोध में कहा है 'कारणशरीरभूताऽविद्यास्थमलिनसत्त्वं प्रियादिवृत्तिसहितं सद् आनंदमयकोशः।' अवस्था की दृष्टि से निद्रा भले ही तामस है पर कोषदृष्ट्या आनंदमय सात्त्विक है। अथवा विज्ञानमय का साक्षात् उपादान होने से आनंदमय को सत्त्वप्रचुर समझना चाहिये।) जीव के स्वरूप को आवृत करने वाले पाँच कोशों में अंतिम होने से आनंदमय 'परम' कोश है। उसी की 'पूँछ' होकर ब्रह्म रहता है यह उपनिषदों में प्रसिद्ध ही है। ब्रह्म पर माया-नामक धूल नहीं पड़ी है अतः वह विरज है। माया के कालादि कार्यों से भी ब्रह्म परिसीमित नहीं अतः निष्कल है।।१६१।। वह परम आनंदरूप वस्तु स्वप्रभ है इसी को 'ज्योतियों की ज्योति' द्वारा कहा जाता है। व्यापक अद्वय होने से अतिशुद्ध है जो शुभ्र-शब्द का अर्थ है। जिनका हृदय विशाल है वे साधक ऐसे आत्मतत्त्व का निरावरण करते हैं।।१६२।।

१. 'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।।'१०।।

२. मूले यद्भानमिति मुद्रितमर्थेऽविशेषः।

भासा यस्य विभातं सत् स्फुरेल्लोहमिवाऽग्निना ।अतोऽनुभानमेतस्य भवेत् तत् स्वप्रभस्य हि ।।१६४

तत् स्वप्रकाशमित्युक्तमानन्दात्मस्वरूपधृक् । सूर्यादिज्योतिषां ज्योतिर्मनआदेश्च सर्वदा ।।१६५

दिक्षु सर्वासु तज्ज्योतिः ब्रह्म विश्वं सदिक् तथा । कालत्रयात्मकं कालः सदसत् तत्परं च यत् ।।१६६

इत्यत्रानुगमनमिव गमनाज्जगतो भानं तद्भानात् पृथगिति शङ्काम्; अग्निलोहदृष्टान्तेन श्रुतिचतुर्थपादसूचितेन परिहरति—भासेति । तत् श्रुत्युक्तम् अनुभानम् एतस्य एतज्जगन्निष्ठं स्वप्रभस्य स्वप्रकाशात्मनिरूपितं च अतः अनेन प्रकारेण स्यात् । 'अतः' कुतः ? तप्तं लोहम् अग्निना यथा विभातं स्फुरेद् न स्वतः तथा यस्य परस्य भासा विभातं जगत् स्फुरेद् इति ।।१६४।। तत् स्वप्रकाशमिति । स्पष्टम् ।।१६५।।

वर्णितज्योतिषः सर्वात्मतां प्रकटयतो[1] द्वितीयमुण्डकचरममन्त्रस्याऽर्थमाह—दिक्ष्विति । तत् स्वप्रकाशं ज्योतिः ब्रह्म अद्वितीयं भवति यतः सर्वासु दिक्षु व्याप्तं तथा सदिक् विश्वं दिक्सहितविश्वरूपं, तथा कालत्रयोपाधिरूपं कालरूपं च सदसत् स्थूलसूक्ष्मरूपं, ताभ्यां परं यत् कारणं तद्रूपं; सर्वात्मकमिति यावत् ।।१६६।।

विचारकों ने आत्मा की स्वप्रभता यों समझायी है : सूर्यादि बाहरी तेजोमय पदार्थों से या मन आदि आन्तरिक तेजोमय पदार्थों से उपकृत हुआ स्फुरे ऐसा वह आत्मा नहीं है, उसका स्फुरण सर्वथा स्वतः है। स्वप्रकाश आत्मवस्तु वह है जिसके भासने के आधार पर यह सारा जड-चेतन जगत् भासमान होता है।।१६३।। आत्मा के आधार पर ही सही पर जगत् का भान आत्मभान से स्वतन्त्र होता होगा ?—इस शंका को मिटाते हैं : लोहा तपने पर चमकता है, लाल दीखता है तो कह भले ही दें कि 'आग के आधार पर लोहा चमक रहा है' लेकिन सत्य यही है कि वहाँ चमक तो आग ही रही है। ऐसे ही 'आत्मा के भान से जगत् का भान है' का मतलब यही समझना चाहिये कि आत्मरूप भान ही जगत् के संदर्भ में देखा जाये तो लगता है कि जगत् का भान है। जैसे लोहे की अपनी कोई चमक नहीं वैसे जगत् का निजी कोई भान नहीं। इसीको उपनिषदों ने 'अनुभान' कहा है। जिसके 'अनु', पीछे यह भान होता है वह स्वप्रभ आत्मा है।।१६४।।

उसी आनंदस्वरूप को सूर्यादि बाह्य और मनआदि आन्तरिक प्रकाशों का प्रकाशक बताया गया है।।१६५।। वही स्वप्रकाश अद्वितीय ब्रह्म है क्योंकि वह न केवल सब दिशाओं में व्याप्त ही है, वही सब दिशाएँ भी हैं, सारा विश्व वही है। भूत-भविष्य-वर्तमान तीनों काल जिन वस्तुओं की उपाधि बनते हैं वे वस्तुएँ ही नहीं स्वयं काल भी वह आत्मा ही है। स्थूल, सूक्ष्म और उनसे परे जो कारण—ये सब रूप भी उसी सर्वात्मा अक्षर के हैं।।१६६।।

(तीसरे मुंडक में महावाक्य का अर्थ समझने के साधन प्रधानतः बताये गये हैं। वाक्यार्थ-बोध के लिये पदार्थज्ञान अनिवार्यतः अपेक्षित है अतः महावाक्यार्थोपयोगी पदार्थ का वर्णन प्रारंभ में किया है। इसे ही पदार्थशोधन कहते हैं कि पदों का—तत्-त्वम् शब्दों का—वह अर्थ समझना जो महावाक्यार्थ में निविष्ट हो। उदाहरणार्थ 'गंगाजी पर घर है' वाक्य में आये गंगापद का शोधितार्थ तट है क्योंकि वाक्य के तात्पर्यार्थ में उसीको स्थान है। ऐसे ही तत्-त्वम् पदों के अभिप्रेतार्थ समझना ही पदार्थशोधन है। उपनिषत् ने दो पक्षिओं के रूपक से यह शोधन व्यक्त किया है, उसी को पहले स्पष्ट करते हैं :)

वेदोक्त महावाक्य से यदि शिष्य पूर्वदर्शित स्वरूप न समझ पाये तो गुरु को चाहिये कि उस सच्छिष्य को तत्-त्वम् पदार्थों के बारे में बताये। (यद्यपि लोक में पदार्थज्ञान पहले कराते हैं बाद में वाक्यार्थ बताते हैं तथापि मानव की अवगम-प्रक्रिया में वाक्य की प्राथमिकता मानी गयी है यह शक्तिग्रह आदि के विचार में प्राचीन आचार्यों ने स्पष्ट किया

---

१. 'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण। अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ।।'११।।

पदार्थशोधनम्

एवं भूतं न चेद् ब्रह्म जानाति श्रुतिवाक्यतः। तदा तत्त्वंपदार्थौ द्वावेतस्मै तद्गुरुर्वदेत्।।१६७
उभौ सुपर्णौ सयुजौ सखायौ वृक्षशब्दिते। शरीरे तत्र वर्तेते वपुस्तादात्म्यमागतौ।।१६८
एकः कर्मफलं स्वादु भजन् जीवाऽभिधो हि सः। अन्यः प्रकाशयत्येव सकलं कर्मणः फलम्।।
तत्पदार्थः स ईशाख्यस्त्वंपदार्थः पुरेरितः।।१६६
एकस्मिन्नेव वृक्षेऽस्मिन् कर्तृत्वादियुतो हि यः। अनीश्वरत्वमापन्नः शोकं गच्छति सर्वदा।।२००
अनीश्वरत्वादपरमात्मानं तत्पदाभिधम्। आनन्दवारिधिं पश्येत् परप्रेमास्पदं परम्।।२०१
यदा तदा समाप्नोति महिमानममुष्य सः। भेदशून्योऽमुना भूत्वा सर्वदुःखविवर्जितः।।२०२

अथ महावाक्यार्थबोधसाधनोपदेशप्रधानस्य तृतीयमुण्डकस्य अर्थं क्रमेण वर्णयंस्तत्र पदार्थशोधनपरस्य प्रथममन्त्रस्य[1] अर्थमवतारयति—एवंभूतमिति। एवंभूतं वाक्यार्थरूपम्। एतस्मै शिष्याय।।१६७।। उभाविति। तत्र कठशाखायामश्वत्थतयावर्णिते शरीररूपे वृक्षे उभौ सुपर्णौ पक्षिणौ वर्तेते। कीदृशौ ? सयुजौ सर्वदा सहयोगिनौ, सखायौ चिन्मयत्वेन समानरूपौ, तथा शरीररूपवृक्षेण तथा सम्पृक्तौ यथा पृथग्न लक्ष्येते इत्याह—वपुस्तादात्म्यमागताविति।।१६८।। एक इति। तयोर्मध्य एकः कर्मफलरूपं वृक्षफलं स्वादु यथा स्यात्तथा भजन् भुञ्जानो जीवसञ्ज्ञोऽभवत्। द्वितीयस्तु सर्वं कर्मफलं प्रकाशयत्येव, न भुंक्ते। स द्वितीयः प्रकाशकत्वेन सर्वव्यापकः अद्वयस्वभावः तत्पदार्थ उक्तः। यस्तु पुरेरितः भोक्तृत्वेन सूचितप्रत्यक्त्वः स त्वंपदार्थ इत्यर्थः।।१६६।।

तत्र त्वंपदार्थस्य पक्षिण एतावदेव दुःखनिदानं यत् सख्युः स्वभावाऽनालोचनम् इति दर्शयतः 'समान' इत्यादिमन्त्रस्य[2] अर्थमाह—एकस्मिन्निति। अस्मिन् देहरूपे वृक्षे वासस्थानतया ईश्वरसाधारणे वसंस्त्वम्पदार्थो हि यतः कर्तृत्वभोक्तृत्वादिशालितयाऽनीश्वरत्वम् 'अनीशा'-पदोक्तं दैन्यं प्राप्तः ततः शोकं गच्छति इत्यर्थः।।२००।। अनीश्वरत्वादिति। स च यदा तत्पदार्थरूपं सखायम्; कीदृशम् ? अनीश्वरत्वादपरं यतोऽयमनीश्वरो जातः तावन्मात्रेण भिन्नमानन्दरूपतया प्रेमास्पदं चात्मत्वेन पश्येत् तदा तदीयं महिमानम् अद्वयत्वलक्षणं प्राप्नुयात्। इति द्वयोरर्थः।।२०१-२।।

है और आधुनिक मनोवैज्ञानिक व शिक्षाशास्त्री मानते हैं। अतः उपनिषदुपदेश में भी वाक्योपदेश पहले है; कुशलमति उसी पर विचार करे तो पदार्थशोधन स्वयं कर लेगा। जो स्वयं उतना गंभीर चिंतन न कर पाये उसे गुरु पदार्थ-ज्ञान करावे—यह क्रम विवक्षित है।)।।१६७।।

वृक्ष-नामक शरीर में उस शरीर से एक-मेक हुए रहने वाले दो ऐसे पक्षी हैं जो हमेशा सहयोगी रहते हैं, चिन्मय होने से जिनका रूप समान है और शरीर से यों जुड़े हैं कि पृथक् उपलब्ध नहीं होते।।१६८।। उन पक्षियों में एक है त्वंपदार्थ जीव जो स्वाद लेकर कर्मफल भोगता है और दूसरा है तत्पदार्थ ईश्वर जो कर्मों के समस्त फलों को केवल प्रकाशित करता है, उनका भोग नहीं करता। ईश्वर व्यापक और अद्वय-स्वभाव वाला है किंतु परोक्ष प्रतीत होता है। जीव प्रत्यक् तो महसूस होता है किंतु भोक्ता (और कर्ता) ही समझा जाता है।।१६६।। अपने सखा, सहयोगी के स्वभाव पर विचार न कर पाने से ही त्वमर्थ जीव दुःखी बना रहता है ! ईश्वर के साथ एक ही वृक्ष पर अर्थात् शरीर में रहते हुए भी जीव कर्त्ता-भोक्तापन अपना स्वभाव माने हुए है इसीसे वह खुद को ईश्वर से अलग समझते हुए हमेशा शोक में डूबा रहता है।।२००।।

---

१. 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वद्वत्ति, अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।।' ३.३.१।।
२. 'समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः। जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः।।'१२।।

विमुक्तनामरूपः

त्वंपदार्थो यदा जीवः स्वप्रभं तत्पदात्मकम्। तादात्म्येनाऽऽत्मनः पश्येत् तदा विद्वानयं व्रजेत्।।
नामरूपविनिर्मुक्तं नामरूपविवर्जितः।।२०३

प्राणोपाधिरयं देवः सर्वभूतव्यवस्थितः। ईशानीशादिभेदेन कल्पितो यो विभाति हि।।२०४

एतमात्मतया जानन्नतिवादी पुमान् भवेत्। अतिवादित्वमस्यैतदुक्तं वेदार्थवादिभिः।।२०५

एतदेव स्फुटयतो 'यदे' त्यादेः[1] तृतीयमन्त्रस्यार्थं वर्णयति—त्वंपदार्थ इति। यदा त्वंपदार्थरूपो जीवः तत्पदार्थं स्वप्रभं तप्तकाञ्चनवद् देदीप्यमानम् आत्मन ऐक्येन पश्येत् तदा विद्वान् सन्नामरूपरहितं तद्भावं व्रजेत् इत्यर्थः।।२०३।।

चतुर्थार्थमाह[2]—प्राणोपाधिरिति चतुर्भिः। अयं देवः परमात्मा प्राणोपाधिकहिरण्यगर्भभावद्वारा सर्वेषु भूतेषु व्यष्टिरूपेषु अनुगतः सन् विभाति। कीदृशः ? ईशानीशादिभेदपञ्चकविशिष्टरूपेण कल्पितः। तं शोधितम् आत्मतया यदा जानाति श्रुतौ नृपदोक्तः पुमान् तदा अतिवादी भवति। अस्य विदुषः अतिवादित्वं निरतिशयात्मनिष्ठत्वम् एतद् वक्ष्यमाणरूपं बोध्यम्। इति द्वयोरर्थः। अत्र भाष्यकारैः यद्यपि 'अतिवादी स न भवति, द्वितीयाऽभावाद्' इति योजितं तथापि एतैः 'एष तु वा अतिवदति यः सत्येनाऽतिवदति' (७.१६.१) इति छन्दोगश्रुत्यनुसारात् 'ना' पुमान् 'अतिवादी भवति' इति योजनयाऽपि तस्यैव प्रमेयस्य संग्रहाद् अविरोधः।।२०४-५।।

जीव का तत्पदार्थरूप सखा इसी कारण अलग-थलग पड़ा है कि जीव स्वयं को उससे अलग मानने में आग्रही है। वास्तविकता यह है कि जीव को जिससे अकारण असीम प्रेम है वह आनंदसागर तत्पदार्थ ईश्वर ही है। उस ईश्वर पर जो प्रत्यग्भेद आरोपित है उसे हटाकर जब जीव उसका दर्शन कर लेता है तब उसकी अद्वयतारूप महिमा पा लेता है। ईश्वर से भेदरहित होकर जीव सब दुःखों से छूट जाता है।।२०१-२।।

त्वम्पदार्थ जीव जब तत्पदार्थ स्वप्रभ को अपने से सर्वथा अभिन्न जान लेता है तब स्वयं भी नाम-रूप से रहित हुआ वह नाम-रूपरहित ब्रह्म को पा लेता है। (श्रुति में 'परम साम्य' की प्राप्ति कही होने से पुण्य-पाप के परित्याग का अभिप्राय नाम-रूपपरित्याग से है यह पुराणकार का तात्पर्य है।)।।२०३।।

वस्तुतः नाम-रूपरहित यह परमात्मदेव प्राणरूप उपाधि धारण करके, अर्थात् हिरण्यगर्भ बनकर, व्यष्टिरूप सभी प्राणियों में अनुस्यूत होकर ईश, अनीश आदि भेदों वाले के रूप में भासता है। (ईश, अनीश आदि पाँच भेद प्रसिद्ध हैं यह पुराण के प्रथम श्लोक व्याख्या में स्पष्ट किया जा चुका है। तथापि यहाँ पाँच की संख्या में कोई आग्रह नहीं, सभी भेद अभिप्रेत हैं।)।।२०४।। उक्त परमात्मदेव को आत्मा जान ले तो अधिकारी पुरुष 'अतिवादी' हो जाता है। आत्ममात्र में निरतिशय निष्ठा रखना ही अतिवादी होना है। इस अतिवादिता का ऐसा वर्णन वेदार्थविचारकों ने किया है : विद्वान् की जो बाल-तुल्य क्रीडा होती है वह अद्वय आत्मा में ही होती है; जैसे युवा को युवती से रति होती है वैसे विद्वान् को निरंजन आत्मा से ही रति होती है; जैसे यज्ञकर्ताओं की विविध क्रियाएँ होती हैं वैसे विद्वान् की सभी क्रिया आत्मा में ही होती हैं। यों हमेशा आत्मतत्त्व का अनुसंधान करने वाला अतिवादी ब्रह्मज्ञों में सर्वोत्तम कहा गया है। (बाह्य साधनों की अपेक्षा रखकर क्रीडा होती है और केवल प्रीति को रति कहते हैं। ज्ञान-ध्यान-वैराग्यादि यहाँ क्रिया है। ऐसा भाष्य में स्पष्टीकरण है। अभिप्राय है कि अज्ञानी की क्रीडा-रति-क्रिया अनात्मसंदर्भ में होती है जबकि आत्मविज्ञान के ही निमित्त से क्रीडादि विद्वान् को सदा प्राप्त है। छांदोग्य ७.२५.२ भाष्य में यह व्यक्त है। गीता ३.१७ में भी यह दिशा निर्दिष्ट है। अतः वह क्रीडा-रति-क्रिया करता है यह नहीं कह रहे वरन् आत्मा से अन्य उसकी

---

१. 'यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्। तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति।।'३।।

२. 'प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति विजानन् विद्वान् भवते नातिवादी। आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावान् एष ब्रह्मविदां वरिष्ठः।।'४।।

बालवत् सर्वदा विद्वान् क्रीडत्यात्मनि निर्द्वये। युववद् रतिमागच्छेत्तस्मिन्नेव निरञ्जने। ।२०६
क्रिया चात्मनि सर्वा स्यादस्य याज्ञिकवत् सदा। अतिवादी ब्रह्मविदां वरिष्ठः परिकीर्तितः। ।२०७

साधनसंग्रहः

सत्यं तपो ब्रह्मचर्यमात्मज्ञानस्य कारणम्। आत्मज्ञानेन लभ्योऽयं सर्वैरेव शरीरिभिः।
यं पश्यन्तीह यतयः क्षीणदोषाः स्वचेतसि। ।२०८
सत्यवाक्यं यतो हेतुर्ब्रह्मज्ञानस्य जायते। ततः सत्यं सुखस्य स्यादैहिकस्येह कारणम्।
स्वर्गस्याऽपि तथा ब्रह्मलोकस्याऽपि न संशयः। ।२०९

दुर्ज्ञेय आत्मा

सत्यं यद् ब्रह्म विज्ञानाज्जायते बाधवर्जितम्। बृहतोऽपि बृहत्तद्धि सूक्ष्मात् सूक्ष्मतमं तथा। ।२१०

तस्य अद्वयत्वपर्यवसाय्यतिवादित्वं मन्त्रोत्तरार्द्धानुसारि प्रकटयति—बालवदिति। तस्य बालवद् या क्रीडा सा आत्मनि एव; युवा यथा युवत्यां रतिं गच्छेत् तथाऽस्य रतिरपि आत्मन्येव; तथा याज्ञिको यज्ञकर्ता तस्येव नानाविधाः क्रिया अपि अस्य विदुष आत्मनि एव। एवं सर्वदाऽऽत्मतत्त्वाऽनुसन्धाताऽयम् अतिवादी ब्रह्मविदां मध्ये वरिष्ठः कथितः। इति द्वयोरर्थः। ।२०६-७। ।

'सत्येन' इत्यादेः[1] विद्यासाधनसंग्राहकस्यार्थमाह—सत्यमिति। सत्यम् अनृतत्यागः। तपः समनस्केन्द्रियाणामैकाग्र्यम्। ब्रह्मचर्यम् उपस्थसंयमः। एतैस्त्रिभिः परिष्कृतेन आत्मज्ञानेन पदार्थशोधनरूपेण अयं महावाक्यार्थभूत आत्मा लभ्यः यस्य आपरोक्ष्ये क्रोधादिदोषपरिहारेण संन्यासोऽपि प्रयोजक इत्यर्थः। ।२०८। । तेष्वपि सत्यस्य प्राधान्यं वदतः[2] षष्ठस्याऽर्थमाह—सत्येति। यतः सत्यवाक्यरूपस्य सत्यस्य ब्रह्मज्ञानहेतुतया सर्वोत्कर्षः सिद्धः ततः सत्याद् ऐहिकादिसुखलाभो न चित्रमित्यर्थः। ।२०९। ।

'बृहच्च' इत्यादिमन्त्रत्रयेण[3] आत्मनो दुर्ज्ञेयता प्रतिपाद्यत इति दर्शयंस्तदर्थमाह—सत्यं यदिति षड्भिः। यत् सत्यरूपं ब्रह्म विज्ञानाद् महावाक्यार्थगोचरात् जायते प्रादुर्भवति तद् ब्रह्म बृहत आकाशादेः अपि बृहत् तदाधारत्वात्, सूक्ष्माद् अण्वादेरपि सूक्ष्मं तदान्तरत्वात्। ।२१०। । स्वप्रकाशमिति।[4] तथा स्वप्रकाशत्वेन लोकविलक्षणत्वाद्

क्रीडादि नहीं होती यह कह रहे हैं। यह भी याद रखना चाहिये कि भाष्य में 'अतिवादी नहीं होता' ऐसा अर्थ किया है जबकि पुराण में 'अतिवादी होता है' अर्थ किया है किंतु अभिप्रायतः दोनों व्याख्यायें एक ही हैं।)। ।२०५-७। ।

आत्मानुभव के प्रमुख साधन हैं सत्य, तप और ब्रह्मचर्य। सत्य अर्थात् मन-वाणी-इशारा-प्रेरणा आदि से झूठ का व्यवहार न करना। तप अर्थात् मन व इंद्रियों को परमात्मा पर एकाग्र करना। ब्रह्मचर्य अर्थात् सब इंद्रियों को विषयभोग से निरुद्ध करना। इन तीन सहकारियों के रहते ही पदार्थ-शोधनरूप आत्मज्ञान हो पाता है जिससे वाक्यार्थ का सही-सही अर्थ पता चलता है। यद्यपि अखण्डतत्त्व का ज्ञानमात्र सभी शरीरधारी पा सकते हैं तथापि उसमें निष्ठा वे ही पाते हैं जो अपने चित्त से क्रोधादि दोष हटाकर कर्तृत्वादि सारे अनात्मा का परित्याग कर देते हैं। अखण्ड वस्तु का ज्ञान और निष्ठा तभी तक पायी जा सकती है जब तक स्थूल शरीर में अपना चित्त मौजूद है। मिलने के बाद तो देह-मन आदि की कोई अपेक्षा नहीं बचती पर मिलने के लिये ये चाहिये। ।२०८। । क्योंकि सच बोलना ब्रह्मज्ञान का हेतु होता

१. 'सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्। अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः।।'५

२. 'सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः। येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत् सत्यस्य परमं निधानम्।।'६।।
३. 'बृहच्च तद् दिव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तत् सूक्ष्मतरं विभाति। दूरात् सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम्।।'७।।
४. 'न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा। ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः।।'८।।

स्वप्रकाशं च मनसा शक्यं चिन्तयितुं न च। दूराद् दूरतरं यस्मादन्तिकादपि चान्तिकम्।।२११
भातं च न विभात्येतदात्मरूपेण कर्हिचित्। एकादशेन्द्रियगणो न प्रकाशयतीह यत्।।२१२
सर्वबुद्धिस्थितं सर्ववस्तुजातप्रकाशकम्। उपायैर्विविधैश्चाऽपि न यद् भाति कदाचन।।
एकं विहाय विज्ञानं ब्रह्मणः स्वात्मरूपतः।।२१३
यत्र प्राणः स्थितो नित्यं सर्वेन्द्रियविधारकः। चेतसा सहितो नैष सुगतो देहधारिणाम्।।२१४
शास्त्रसंस्कारसहितचेतसा दोषशून्यतः। मननध्यानसम्पन्नः कथञ्चिदवलोकयेत्।।२१५

दिव्यं मनसा चिन्तयितुं विषयी कर्तुम् अशक्यं च। पराङ्मुखानां दूराद् दूरं समाहितानामतिसन्निहितम्।।२११।। भातं चेति। चिद्रूपेण सदा भातं भासमानमपि प्रत्यग्रूपेण लोके न भाति चक्षुरादीन्द्रियाणाम् अगोचरत्वाद् इत्यर्थः।।२१२।। सर्वेति। सर्वेषां बुद्धिगुहासु सन्निहितं सर्वभासकं च तद्विदुषः प्रतीति शेषः। यत् तत्त्वं ब्रह्मणः तत्पदार्थस्य स्वात्मतादात्म्येन यज्ज्ञानं श्रुतिगत'ज्ञानप्रसाद'-शब्दवाच्यम् एतद् विहाय एतैः उपायैः न भाति नाऽविर्भवति इत्यर्थः।।२१३।। यत्रेति।[1] सर्वेन्द्रियाणामध्यक्षः प्राणः सह चेतसा यत्र सन्निधिमात्रेण प्रेरकेऽधीनो वर्तते स आत्मा देहिनां सुगमो न भवतीत्यर्थः।।२१४।। एक एव तद्दर्शनोपाय इत्याह—शास्त्रेति। दोषशून्यतः रागादिदोषशून्येन शास्त्रं महावाक्यं तदर्थविज्ञानजसंस्कारवता च चेतसा मननादिसम्पन्नः पुमानेतद् अवलोकयेत्, तदीयचेतसि तत्प्रादुर्भवतीति यावत्।।२१५।।

है इसलिये इसमें संशय नहीं कि ऐहिक सुख, स्वर्गलाभ और ब्रह्मलोक की प्राप्ति के लिये भी यह पर्याप्त कारण है। (अर्थात् हमेशा सच बोले तो ऐहिक-आमुष्मिक सुख अवश्य मिलते हैं। इतना अवश्य है कि सात्त्विक सुख ही सत्यवदन का फल होता है अतः अधिक विषयादि मिलेंगे यह आशा नहीं करनी चाहिये।)।।२०९।।

महावाक्यार्थ-विषयक विज्ञान से जो सत्यरूप ब्रह्म निरावृत होता है वह आकाशादि बृहत् पदार्थों से भी अधिक बृहत् है क्योंकि उनका भी आधार है और अणु आदि सूक्ष्म पदार्थों से भी ज़्यादा सूक्ष्म है क्योंकि उनके भी भीतर है। (यों लोकविलक्षण होने से वह अत्यंत मुश्किल से ही समझ आ पाता है। वस्तुतस्तु आत्मा का बृहत्त्व-सूक्ष्मत्वादि वैसा है ही नहीं जैसा आकाश-अणु आदि का इसीलिये वह दुर्बोध है। उदाहरणार्थ आकाश का बृहत्त्व देश-काल की अपेक्षा से है जबकि आत्मा को बृहत् इसीलिये कहते हैं कि वह देशादि से परे है! जैसे गिनती में आधिक्य और गुणवत्ता में आधिक्य सर्वथा विलक्षण हैं भले ही शब्द एक 'आधिक्य' ही है वैसे ही 'बृहत्' आदि शब्द समान होने पर भी आत्म-संदर्भ में उनका अर्थ विलक्षण होता है। इसलिये 'बृहतोऽन्यथा बृहत् सूक्ष्मादन्यथा सूक्ष्मतमम्' इत्यादि योजना समझनी चाहिये।)।।२१०।। स्वप्रभ वस्तु का मन से चिंतन कर पाना सहज नहीं। उससे जो पराङ्मुख रहे उसके लिये आत्मा अति दूर है जबकि उसमें समाहित हो जाये तो वह अत्यंत निकट है। क्योंकि वह एक-साथ ही दूर-पास रह लेता है इसलिये वह लोक-प्रसिद्ध सभी चीजों से विलक्षण है अत एव उसे समझना दुर्लभ है।।२११।। चेतनरूप से हमेशा भासमान होने पर भी ग्यारहों इंद्रियों का अविषय होने से यह अपरोक्ष है ऐसा प्रतीत नहीं होता। व्यापक आत्मा का प्रत्यक्स्वरूप आवृत बना रहता है अतः 'मैं ही ब्रह्म हूँ' यह हमें भान नहीं हो पाता।।२१२।। उसके जानकार के लिये तो स्पष्ट है कि वही सब बुद्धियों का साक्षी है, सब वस्तुओं का भान संभव कर रहा है लेकिन 'स्वात्मा ब्रह्म है' इस अनुभवरूप उपाय को बिना अपनाये जो विविध उपाय करता रहता है उसे कभी परमार्थ अक्षर नहीं भासता।।२१३।। सब इंद्रियों का अध्यक्ष प्राण तथा मन जिसकी केवल संनिधि से अपने कार्यों में संलग्न बने रहते हैं वह आत्मा उनके लिये कभी सुगम नहीं जो शरीरत्रय से स्वयं को विविक्त नहीं समझते।।२१४।।

---

१. 'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश। प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा।।'९

अर्चनीयो विद्वान्

शुद्धचेताः पुमानेष आत्मानमवलोकयेत्। ईशवत् सकलं विश्वं कर्तुं हन्तुं प्रभुर्भवेत्।।२१६
कर्मणां फलदाता च किमुताऽयमिहाशिषाम्। वर्तन्त आज्ञयाऽस्यैते भोगाः प्राणादयोऽपि च।।२१७
शापानुग्रहयोरेवं समर्थो ब्रह्मवित् सदा। अस्यावनात् सुखं यान्ति मानवाः पुण्यकारिणः।।
अवज्ञया तथा दुःखं प्राप्नुवन्त्यपि पापिनः।।२१८
भूतिकामस्ततस्त्वेनमर्चयेत् सर्वदा पुमान्। नावज्ञां मनसाऽप्यस्य कुर्यात् स्वप्नेऽपि बुद्धिमान्।।२१६
य एतं ब्रह्मविद्वांसं गतकामा उपासते। ते गच्छन्ति परं ब्रह्म सर्वदुःखविवर्जितम्।।२२०

'यं यम्' इत्यादेः तृतीयखण्डान्त्यमन्त्रस्य[1] अर्थमाह—शुद्धचेता इति चतुर्भिः। यः शुद्धचेताः पुमान् आत्मानमवलोकयेत् स ईशभावाविर्भावेण ईशवत् सर्वविश्वसृष्ट्यादौ शक्तो भवेद् इत्यर्थः।।२१६।। कर्मणामिति। यदाऽयं विद्वान् सकलकर्मणां फलप्रदत्वं प्राप्तः तदा आशिषां कामितपदार्थानां दाता भवतीति किमु वाच्यम्! यतः अस्य विदुष आज्ञया एव एते सकलजनसम्बन्धिनो भोगा वर्तन्ते तथा प्राणेन्द्रियादयः सर्वेऽप्यस्याऽऽज्ञया वर्तन्त इत्यर्थः।।२१७।। शापेति। एष ब्रह्मवित् शापादौ क्षमो भवति। अस्य विदुषः अवनात् सेवनाद् मानवाः पुण्यशालिनः सन्तः सुखं यान्ति, अवज्ञया च पापिनः सन्तो दुःखम् इत्यर्थः।।२१८।। फलितमाह—भूतिकाम इति। भूतिमैश्वर्यमिच्छन्। एनं ब्रह्मविदम्।।२१६।।

तृतीयमुण्डकद्वितीयखण्डाद्यस्य 'स वेदे' त्यादेर्मन्त्रस्य[2] निष्कामविद्वदाराधकानां प्रशंसापरस्यार्थमाह—य एतमिति द्वाभ्याम्। ये विवेकिन एवं ब्रह्मविदं निष्कामाः सन्तो भजन्ते ते ब्रह्म एव भवन्ति।।२२०।। तत्रोप-

जिसके चित्त में रागादि दोष नहीं हैं और श्रवणपूर्वक महावाक्यार्थ के संस्कार हैं वह अधिकारी जब पर्याप्त मनन-निदिध्यासन कर लेता है तब किसी तरह अखण्ड वस्तु का अवलोकन कर पाता है। ('किसी तरह' इसलिये कि तब भी अवलोकन होना है आचर्श्य ही !)।।२१५।।

जो विशुद्धमनस्क पुरुषार्थी आत्मा का अवलोकन कर लेता है उसमें ईशभाव का आविर्भाव हो जाने से वह ईश्वर की तरह सारे विश्व को बनाने-बिगाड़ने में सक्षम होता है।।२१६।। वह सब कर्मों का फलदाता और सभी इष्ट पदार्थ प्रदान करने वाला बन जाता है। ये भोग और प्राण आदि सब उसकी आज्ञा से ही वर्तमान रहते हैं।।२१७।। ब्रह्मवेत्ता हमेशा शाप देने और अनुग्रह करने में समर्थ होता है। पुण्यपरायण मानव ब्रह्मज्ञ की सेवा से सनातन सुख प्राप्त करते हैं और पापी उसकी अवज्ञा कर हमेशा के लिये दुःखी बने रहते हैं।।२१८।। अतः ऐश्वर्य चाहने वाला पुरुष हमेशा ब्रह्मवेत्ता की अर्चना करे यही उचित है। समझदार सज्जन को मन से भी, सपने में भी ब्रह्मज्ञानी की अवज्ञा नहीं करनी चाहिये।।२१६।।

(अब तृतीय मुंडक के द्वितीय खंड का व्याख्यान होगा—)

निष्काम होकर जो ब्रह्मज्ञ की उपासना करते हैं वे सब दुःखों से रहित ब्रह्म को प्राप्त कर लेते हैं।।२२०।। क्योंकि यह सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मण सशरीर रहते हुए भी परब्रह्म का साक्षात्कार करला रहता और उसी में प्रतिष्ठित रहता है मानो किसी विधि से प्रेरित होकर उस सुखस्वरूप की उपासना कर रहा हो, इसलिये उसके भक्त उसकी उपासनाकर विद्वान् बन जाते हैं और स्पष्ट ही उसके समान हो जाते हैं। जैसे वह जन्म-संसारबंधन से अतीत है वैसे ही उसके निष्ठावान् सेवक जन्मप्रबंध से छूट जाते हैं। (बृहदारण्यकभाष्य १.४.७ में स्पष्ट किया है कि जैसे जिसे संगीत का चस्का

---

१. 'यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान्। तं तं लोकं जयते तांश्च कामांस्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः।।'१०।। अत्रोपनिषद्भाष्यटीकाकार आह 'सगुणविद्याफलमपि निर्गुणविद्यास्तुतये प्ररोचनार्थमुच्यते'। बादरि-जैमिनि-बादरायणादिमहतामाचार्याणामत्र विषये विविधो विचार इति प्रणम्यैव ब्रह्मज्ञान् स्वहितमाचरणीयम्।।

२. 'स वेदैतत्परमं ब्रह्म धाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम्। उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः।।'३.२.१

यस्मादयं परं ब्रह्म वेद ब्राह्मणसत्तमः। उपास्ते चाऽत्र विधिवत् सर्वदा सुखरूपकम्।
तज्ज्ञानात्तेऽपि विद्वांसः स्फुटं तेन समाः सदा।।२२१

निष्कामो मुच्यते

कामान् यः कामयेताऽसौ कामैस्तैस्तत्र सर्वशः। शरीरं परिगृह्णाति भूरिदुःखप्रदं सदा।।
कामस्ततोऽतिदुःखानां कारणं परिकीर्तितः।।२२२

निष्कामानां कृतार्थानां भवेद् दुःखं न किञ्चन। ब्रह्मज्ञानवतां पुंसामिहैवाऽत्र परत्र वा।।२२३

आत्मलाभोपायाः

अध्यापनादध्ययनाद् मेधातोऽपि न कर्हिचित्। आत्माऽयं लभ्यते किञ्चिद् गुरुवाक्याद्धि लभ्यते।।२२४

गुरुणाऽनुगृहीतश्चेच्छिष्योऽयं ब्रह्मरूपिणा। ब्रह्माऽप्यनुग्रहं तस्य कुरुते स्वात्मदर्शनात्।।२२५

पत्तिमाह—यस्मादिति। यस्माद् अयं ब्रह्मविद् अत्र देहेऽपि स्थितः परं ब्रह्म सुखरूपं वेद साक्षाद् अवगच्छति उपास्ते च तन्निष्ठतयाऽवतिष्ठते च ततो हेतोः ब्रह्मविद्भक्ताः तज्ज्ञानात् तस्य ब्रह्मी भूतस्य विज्ञानाद् आराधनाद् विद्वांसः सन्तः तेन आराधितेन ब्रह्मविदा समा भवन्ति इति स्फुटं प्रकृतश्रुताविति शेषः। तत्र नृबीजपदोक्तस्य गर्भप्रवेशस्य अभावरूपाऽतिक्रमोक्तेरिति भावः।।२२१।।

कामनिन्दापूर्वकं निष्कामस्य मुक्त्यवश्यंभावप्रतिपादकस्य[1] द्वितीयस्यार्थमाह—कामानिति द्वाभ्याम्। यः कामान् विषयान् कामयते रमणीयतया मन्यते स नानादेहग्रहणेन दुःखसन्ततिं याति अतः कामो दुःखनिदानमित्यर्थः।।२२२।। निष्कामानामिति। निर्गताः कामा येभ्यस्ते तथा तेषां, तत्र हेतुः स्वात्मरूपेण लब्धकामत्वरूपं कृतार्थत्वं, तत्र च ब्रह्मज्ञानमिति। एतेषां लोकद्वयवर्तिदुःखं न भवति, ब्रह्मभावाऽऽप्तेरिति भावः।।२२३।।

आत्मलाभस्य प्रकृष्टं साधनमवधारयतो 'नाऽयम्'[2] इत्यादेरर्थमाह—अध्यापनादिति। अध्यापनं प्रवचनपदोक्तं पाठनम्, अध्ययनं श्रुतपदोक्तं पठनं, मेधा धारणावती धीः, एतैरुपायैः सद्गुरुनिरपेक्षैः न लभ्योऽयमात्मा।।२२४।। गुरुणेति। एष विद्यया ब्रह्मभूतो गुरुः एवं यं शिष्यम् अनुगृह्णाति तं शिष्यं प्रति स्वस्वरूपप्रादुर्भावेण ब्रह्म परमेश्वरोऽपि अनुगृह्णाति इत्यर्थः।।२२५।।

लग जाये उसे गाने या सुनने के लिये विधि की प्रेरणा नहीं चाहिये वरन् खुद ही वह गाता या सुनता रहता है तथापि किन्हीं कारणों से विक्षेप हो जाने पर यदि गाना-सुनना छोड़ता है तो मित्रादि उसे प्रेरित कर देते हैं जिससे वह पुनरपि उस सुख में तल्लीन हो जाता है, इसी प्रकार ब्रह्मज्ञान से निरतिशय आनंद पा लेने पर ब्रह्मवेत्ता स्वभावतः ही उस आनंद से अन्य कोई वृत्ति नहीं बनाता लेकिन यदि प्रारब्धवेगवश वह अन्यतोमुख हो जाये तो श्रुति याद दिलाती है कि उसके लिये वह अयोग्य है। यही बात पुराण में 'सर्वदा उपास्ते' द्वारा कही है।)।।२२१।।

जो अज्ञ विषयों को रमणीय मानता है, उनकी कामना करता है, वह हमेशा अतिदुःखद ऐसे शरीर ग्रहण करता है जिनमें वह उन कामनाओं से बँधकर विषयों में ही पूरी तरह डूबा रहता है। इसलिये अतिदुःखों का कारण कामना ही बतायी गयी है। (अर्थात् कर्ममात्र से मिलने वाले स्वल्प-दुःख होते हैं, बड़े दुःख कामनावश ही मिलते हैं।)।।२२२।। जिन पुरुषार्थियों ने ब्रह्मज्ञान पा लिया, कामना को भी स्वात्मा जान लेने के कारण कृतार्थ हो चुके, अर्थात् सारी कामनाओं से रहित हैं उन्हें न यहाँ न लोकांतर-अवस्थांतरादि में किसी तरह का कोई दुःख हो सकता है।।२२३।।

---

१. 'कामान्यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र। पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्त्विहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः।।'२।।
२. 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्।।'३।।

बलहीनेन पुंसाऽयमात्मा लभ्यो न कर्हिचित्। मनःकर्मेन्द्रियाणां तद् बलं धैर्याभिधं सदा।।
येन पश्येत् पुमान् यस्य नाशान्नाशं व्रजेदयम्।।२२६

प्रमादादाश्रमैस्तद्वद् वर्जितात् तपसोऽपि च। आत्माऽयं लभ्यते नैव लभ्यो यो गुरुवक्त्रतः।।
कदाचिद्धैर्यविभ्रंशः प्रमाद इति गीयते।।२२७

अप्रमादयुताद्धैर्यात् तपसः स्वाश्रमात्ततः। जायते ब्रह्मविज्ञानं तस्मादात्माऽत्र लभ्यते।।२२८

फलावस्था

आनन्दात्मानमात्मस्थमेनं सम्प्राप्य निर्वृताः। मुनयो ब्रह्म तज्जग्मुर्यतो नावर्तते गतः।।२२९

तत्र धैर्यादीन्यपि सहकारीणि इति प्रतिपादयतो 'धामा'ऽन्तमन्त्रस्य[1] अर्थमाह—बलेति त्रिभिः। बलं कामादिशत्रुभिः अनभिभाव्यतालक्षणं, तद्रहितेन आत्मा लब्धुं न शक्यः। बलस्वरूपमेव स्फुटयति—मन इति। विवेकप्रवणानां मनःप्रभृतीनां यद् धैर्यम् अप्रकम्प्यत्वं तद् बलम् इत्युच्यते येन धैर्येण युक्तः पुमान् पश्येद् आत्मदर्शनक्षमो भवति। यस्य धैर्यस्य नाशात् पुमान् लोकेऽपि नष्ट इत्याख्यायते।।२२६।। प्रमादादिति। तथा प्रमाद आश्रमरहितं पाखण्डरूपं तपश्च एतयोः ब्रह्मबोधं प्रति प्रतिबन्धकत्वं बोध्यम्। तत्र प्रमादो नाम विषयसन्निधाने धैर्यहानमित्यर्थः।।२२७।। फलितमाह—अप्रमादेति। भ्रंशरहितं धैर्यम् आश्रमधर्मसहकृतं तपश्च एतद् द्वयं ब्रह्मविद्योपकारकम् इत्यर्थः।।२२८।।

'सम्प्राप्य' इत्यादिमन्त्रचतुष्टयेन[2] जीवन्मुक्त्यादिविद्याफलव्यवस्था निरूप्यत इति दर्शयंस्तदर्थमाह—आनन्दात्मानम् इति अष्टभिः। ये ये पूर्वे मुनयः प्रत्यग्रूपम् आनन्दलक्षणम् आत्मानं प्राप्य निर्वृता आनन्दमग्ना अभवंस्ते ते ज्ञानसमकालं ब्रह्म प्राप्ताः यद् ब्रह्म प्राप्य संसारे न पुनः पतन्ति इत्यर्थः।।२२९।। अत्रेति। येषां यतीनां ब्रह्मलोकेच्छादिरूपप्रतिबन्धाद् इह जन्मनि ब्रह्मसाक्षात्कारो न भवति तेषामपि ब्रह्मलोकं गत्वा तद् ब्रह्मविज्ञानं

यदि सद्गुरु से उपदेश न मिले तो चाहे अन्यों को पढ़ाते रहें, खुद पढ़ते रहें, ग्रन्थ सार्थ याद रखें पर इस सब से यह आत्मा उपलब्ध नहीं होगा। इसकी प्राप्ति गुरुवाक्य से हो सकती है।।२२४।। विद्याप्रभाव से स्वयं ब्रह्म बना सद्गुरु यदि शिष्य पर अनुग्रह कर देता है तो स्वयं ब्रह्म भी उस पर अनुग्रह कर उसे अपने परमार्थ रूप का दर्शन दे देता है।।२२५।। कामना आदि शत्रुओं से दब न जाने का बल जिसमें नहीं वह कभी इस आत्मा को पा नहीं सकता। विवेकशील मन, कर्मेन्द्रियाँ आदि विचारपूर्वक निर्धारित चेष्टाओं में तत्पर रहें, प्रतिरोध से प्रयास छोड़ न दें, उस धैर्य को बल कहते हैं। उस धैर्यात्मक बल के सहारे तो पुरुष परमात्मदर्शन पा सकता है पर वह बल नष्ट हो जाये तब उस दर्शन की संभावना नहीं। लोक में भी कहते हैं कि जिसका धैर्य टूट गया वह मनुष्य ही टूट गया।।२२६।। प्रमाद एवं आश्रमोचित मर्यादाओं से रहित तपस्या—ये दोनों भी आत्मलाभ में रुकावट डालते हैं अर्थात् गुरूपदेश मिलने पर भी उक्त दोनों के रहते आत्मदर्शन नहीं होता। प्रमाद का मतलब है विषयसंनिधि होने पर धैर्य बना न रहना।।२२७।। प्रमादहीन धैर्य एवं आश्रमानुकूल तप—ये दोनों ब्रह्मानुभव के उपकारक उपाय हैं। इनसे सहकृत आत्मज्ञान ही जीवनदशा में आत्मलाभ कराता है।।२२८।।

जो प्राचीन मुनि स्वयं-रूप से स्थित इस व्यापक आत्मा को पाकर आनंदमग्न हो गये उन्होंने ज्ञानकाल में ही वह ब्रह्म पा लिया जिसे पाकर संसार में पुनः पतन नहीं होता।।२२९।। जो परमहंस यति किसी रुकावट के कारण मनुष्य शरीर में अप्रतिबद्ध ब्रह्मानुभव से वंचित रह जाते हैं वे वास्तविक साधक हों तो उन्हें मृत्यु के अनंतर ब्रह्मलोक मिलता है जहाँ उन्हें मोक्षप्रद बोध उपलब्ध हो जाता है।।२३०।। ब्रह्मा की मृत्यु होने पर जैसे ब्रह्मा को विदेहकैवल्य

१. 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसो वाऽप्यलिङ्गात्। एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वांस्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम।।'४।।
२. 'सम्प्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः। ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा युक्तात्मानः सर्वमेवाऽऽविशन्ति।।'५।।

अत्र चेद् ब्रह्मविज्ञानं प्रतिबन्धान्न जायते। यतीनां परहंसानां ब्रह्मलोके तु तद्भवेत्।।२३०
वेदान्तज्ञानसम्पन्ना यतयः शुद्धमानसाः। ब्रह्मवद् ब्रह्ममरणे यान्ति ब्रह्म सनातनम्।।२३१
ब्रह्मलोकेऽथ वाऽप्यत्र यदा विद्वान् प्रमुच्यते। प्राणाद्या नामरहिताः कलाः पञ्चदशास्य याः।।२३२
स्वकारणं प्रयान्त्येता देवा वह्न्यादयोऽपि च। आत्मा विज्ञानरूपोऽयं बुद्ध्युपाधिः परात्मनि।।२३३
एवं सर्वमिदं गच्छेदेकतां विदुषः सदा। कार्यं सकारणं सोऽयमेक एवाऽवशिष्यते।।२३४
यथा नद्योऽत्र सर्वासु दिक्षु सन्ति सहस्रशः। समुद्रं प्राप्य जहति नामरूपे निजे सदा।
नामरूपे विहायैवं विद्वान् ब्रह्मणि चाव्रजेत्।।२३५
वामदेवादिवद् नाम सर्वलोकवचःस्थितम्। विलीनमपि मुक्तस्य लयशून्यमिवाऽस्ति तत्।।२३६

भवेद् एवेत्यर्थः।।२३०।। तत्राऽपि यादृशानां विद्यया ब्रह्मभावो यत्र च समये, तदुभयं दर्शयति—वेदान्तेति।[1] वेदान्ता महावाक्यानि तदर्थनिर्णयशालिनः शुद्धान्तःकरणाश्च यतयो ब्रह्मलोकं प्राप्य ब्रह्मणो हिरण्यगर्भस्य मरणकाले 'परान्त'पदोक्ते हिरण्यगर्भवद् ब्रह्मभावं यान्ति इत्यर्थः।।२३१।।

मोक्षप्रकारमाह—ब्रह्मेत्यादिना।[2] विदुषो नामरहिताः प्राणाद्याः पञ्चदश कलाः; 'प्राणाः श्रद्धा खादिभूतपञ्चकं चेन्द्रियं मनः। अन्नं वीर्यं तपो मन्त्राः कर्म लोकाश्च ताः कलाः।।' (अनुभूतिप्र. ७.९२) इति विद्यारण्यैः संगृहीतनामिकाः; ता यथायथं कारणानि प्रति गच्छन्ति। तथाऽध्यात्मवागादीनां देवा वह्न्यादयः स्वं स्वम् अधिदैवरूपं गच्छन्ति। यश्च बुद्ध्युपाधिः विज्ञानमयाख्यो जीवः स परमात्मनि लीयते। एवं कार्यकारणोपाधिविलये स विद्वान् अद्वैतरूपेण तिष्ठति। इति त्रयाणामर्थः।।२३२-४।।

तत्र विज्ञानमयस्य लये दृष्टान्त उच्यते[3]—यथेति। जहति त्यजन्ति स्फुटमन्यत्।।२३५।। षोडश्यां नामाख्यकलायां विशेषमाह—वामेति। यथा वामदेवस्य मुक्तत्वेऽपि तदीयं नाम लोकानां वचसि वाग्व्यवहारे स्थितत्वाद् अविनष्टमिव दृश्यतेऽतो लोकबुद्ध्यनुसारात् श्रुत्या पञ्चदशकलानामेव लय उक्त[4] इत्यर्थः।।२३६।।

प्राप्त होता है वैसे ब्रह्मलोक में सनातन ब्रह्म की प्राप्ति उन्हीं यतियों को होती है जो मानवदशा में यतिजीवन में अपना मन परिशुद्ध रखते हैं और महावाक्य के अर्थ को निर्णयरूप से धारण किये रहते हैं। (अर्थात् चाहे जिस संन्यासी को यह फल उपलब्ध नहीं वरन् जो यतियोग्य प्रयत्न, वैराग्य, चेतोविशुद्धि सहित अखण्डार्थविषयक निश्चयात्मक वृत्ति बनाने का सफल प्रयास करते रहते हैं, श्रवणमननपूर्वक निदिध्यासनपरायण रहते हैं उन्हीं के लिये यह क्रममोक्ष की व्यावस्था है।)।।२३१।। ब्रह्मलोक में हो चाहे अन्यत्र, जब विद्वान् का प्रमोक्ष होता है तब नाम को छोड़कर बाकी प्राणादि पंद्रह कलायें अपने-अपने कारणों में लीन हो जाती हैं, अध्यात्म वाक् आदि देवता अपने आधिदैविक वह्नि आदि रूपों को चले जाते हैं और बुद्धि जिसकी विशेष उपाधि है वह विज्ञानमयरूप जीव परमात्मा में विलीन हो जाता है। इस प्रकार विद्वान् की कार्य-कारण उपाधियाँ जब सदा के लिये एकता को प्राप्त हो जाती हैं, विलीन हो जाती हैं, तब वह विद्वान् अद्वैत शिव रूप से ही बना रहता है। (पंद्रह कलाएँ हैं—प्राण, श्रद्धा, पाँच महाभूत, इंद्रियाँ, मन, अन्न, वीर्य, तप, मंत्र, कर्म और लोक। सोलहवी कला है नाम। मुक्त का भी नाम लोग याद रखते हैं अतः कहा है कि नाम बचा रहता है, बाकी कलाएँ विलीन होती हैं। यह लयव्यवस्था अज्ञानियों की दृष्टि से है क्योंकि ज्ञानी की दृष्टि से तो बाध ही होता है। 'तानि परे तथा ह्याह' ४.२.१५ सूत्र में यह रहस्य स्पष्ट किया गया है।)।।२३२-५।।

---

१. 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद् यतयः शुद्धसत्त्वाः। ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे।।'६।।
२. 'गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु। कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकी भवन्ति।।'७।।
३. 'यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय। तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्।।'८।।
४. केचित्तु घ्राणमनसोरेकपृथ्व्युपादानकत्वेनैक्यमादाय सर्वकलालोपमुपपादयन्ति। कलानां भूतलयो व्यवहाराऽपेक्षया, पुरुषे लयो विद्वदपेक्षयेति सूत्रभाष्ये (४.२.१५) स्फुटम्। स च लयो निरवशेष इत्यपि तत्रैवोत्तरसूत्रे निरणायि।

ब्रह्म विद्वान् यथा ब्रह्मज्ञानाद् ब्रह्म भवेदिह। एवमन्योऽपि तज्ज्ञानाद् ब्रह्मैवेह प्रजायते।।२३७

ब्रह्म यो वेद पुरुषस्तस्य शिष्यो न कर्हिचित्।अब्रह्मविद् भवेत् कश्चित् सुताद्योऽप्यपरोऽपि वा।२३८

पापं तरेदयं सर्वं साज्ञानं ब्रह्मबोधतः। सर्वशोकविनिर्मुक्तः कामादिपरिवर्जितः। आनन्दात्मानममृतं तादात्म्यादाप्नुयादयम्।।२३९

अधिकारी

नैतद् ब्रह्मात्मविज्ञानं वक्तव्यं यस्य कस्यचित्। किन्तु शान्त्यादियुक्ताय तस्मै वाच्यं महात्मने। मन्त्रार्थोऽप्यत्र मुनिभिः लभ्यते ह्येवमेव हि।।२४०

परब्रह्मविद्यानन्तरं तु मोक्षे प्रतिबन्धः कोऽपि नास्तीत्यादिदर्शयतः 'स यो ह'[1] इत्यादेरर्थमाह—ब्रह्म विद्वान् इत्यादिना। यथा प्रोक्तविधया विदुषो ब्रह्मभाव उक्तस्तथा तद्विज्ञानमनुसरताम् अन्येषामपि स एव भवतीत्यर्थः।।२३७।। ब्रह्म य इति। तथा विदुषो वंशे विद्यामये जन्ममये वा वर्तमाना ज्ञाननिष्ठा भवन्तीत्यर्थः।।२३८।। पापमिति। अयं ब्रह्मविद् बोधप्रभावात् सकारणं पापं तीर्त्वा कामादिदोषहीनः सन्नैक्येन ब्रह्म लभत इत्यर्थः।।२३९।।

उक्तविद्योपदेशाधिकारिणमवधारयति[2]—नैतदिति। यस्य कस्यचिद् अपरीक्षितस्य पुरत एतद् विज्ञानं न वक्तव्यं किन्तु शान्त्यादिगुणशालिने एव वक्तव्यम्। यत इमं नियमं मन्त्रोऽपि 'क्रियावन्त' इत्यादिर्वदतीत्यर्थः।।२४०।।

मुक्त का नाम यद्यपि उसकी दृष्टि से बाधित हो चुकता है तथापि क्योंकि सब लोगों के मुँह पर रह जाता है, जैसे वामदेव आदि के नाम, इसलिये मानो उसका विलय नहीं होता।।२३६।।

ब्रह्म का जानकार ब्रह्म के ज्ञान से ब्रह्म होता है यह बात जैसी यहाँ निर्णीत की गयी है वैसी ही सर्वत्र स्थित रहती है। जो कोई भी अधिकारी ब्रह्मज्ञान पाता है वह तत्काल ब्रह्म हो ही जाता है। (अद्वैतबोध और अद्वैतलाभ में अंतर नहीं कि ज्ञान हो जाये और ब्रह्म न मिले !)।।२३७।। जो पुरुष ब्रह्म को जान लेता है उसका कोई शिष्य, पुत्र आदि भी ब्रह्म का ग़ैरजानकार नहीं रहता है।।२३८।। परमात्मसाक्षात्कार के प्रभाव से ब्रह्मवेत्ता पापों से तो परे होता ही है पापों के कारणभूत अज्ञान से भी परे हो जाता है जिसका सुस्पष्ट चिह्न है कि सभी शोकों से और कामना आदि दोषों से छूटा रहकर अमृत आनंदस्वरूप ब्रह्म से अभिन्न हो जाता है। (ब्रह्मलाभ प्रत्यग्रूप से होता है तथा फिर शोक-मोह असंभव हो जाते हैं।)।।२३९।।

यह ब्रह्म की आत्मरूपता का विज्ञान जिस किसी अपरीक्षित व्यक्ति के सामने नहीं सुनाना चाहिये। जो शम आदि सद्गुणों से युक्त हो उसे ही इसका उपदेश देना चाहिये। आत्मविद्या के अधिकारी के बारे में मुनियों ने मंत्र का अर्थ भी ऐसा ही समझा है (कि अनधिकारी को विद्या देना ग़लत है, विवेकादिसंपन्न ही परा विद्या को प्राप्त करे यही ठीक है)।।२४०।। जिन्होंने यथाविधि संप्रदाय से वेद पढ़कर समझा है, अपने लिये विहित कर्मों का अनुष्ठान कर चित्त शुद्ध कर लिया है, एकर्षि-नामक अग्नि की सेवा का व्रत लिया है, ब्रह्मचर्याश्रम में शिरोव्रत का पालन किया है (सिर पर अग्नि धारण करने का अथर्वशाखा वालों के लिये विधान है जिसे शिरोव्रत कहते हैं), शम-दम आदि को अपना स्वभाव बना लिया है, ऐसे महात्माओं के संमुख ही इस ब्रह्मविद्या का कथन करना चाहिये। अत्यंत दुर्लभ इस विद्या का सज्जन ही हमेशा सेवन करते हैं। (शिरोव्रतानुष्ठान स्वाध्यायांग है यह ३.३.३ ब्रह्मसूत्र में निर्णीत है।)।।२४१-२।।

---

१. 'स यो ह वै तत् परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति, नास्याब्रह्मवित् कुले भवति। तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति।।'९।।

२. 'क्रियावन्तः श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः स्वयं जुह्वत एकर्षिं श्रद्धयन्तः। तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद् यैस्तु चीर्णम्।।'१०।।

श्रोत्रिया ये क्रियावन्तो वह्निशुश्रूषणे रताः। चीर्णव्रता महात्मानो ब्रह्मचर्याश्रमे हि ये।।२४१

शान्तिदान्त्यादिसम्पन्नास्तेभ्य एव वदेदिमाम्। ब्रह्मविद्यां सदा सद्भिः सेव्यमानां सुदुर्लभाम्।।२४२

एतां पुरा मुनिः प्राह शौनकाय महात्मने। अङ्गिरा ब्रह्मणः प्राप्तां यां त्वं मां परिपृष्टवान्।।२४३

पिप्पलाद इमां विद्यां षट्प्रश्नामुक्तवान् मुनिः। मुनिभ्यः षड्भ्य आर्तेभ्यः सुकेशादिभ्य ईश्वरः।।२४४

इति ते सर्वमाख्यातं यत् षृष्टोऽहमिह त्वया। ब्रह्मज्ञानमथर्वोक्तं किमन्यच्छ्रोतुमिच्छसि।।२४५

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यानन्दात्मपूज्यपादशिष्येण शङ्करानन्दभगवता विरचित उपनिषद्रत्न आत्मपुराणे मुण्डकसारार्थप्रकाशेऽङ्गिरःशौनकसंवादो नाम षोडशोऽध्यायः समाप्तः।।१६।।

मन्त्रार्थमेव दर्शयति—श्रोत्रिया इति द्वाभ्याम्। श्रोत्रिया वेदविदः क्रियावन्तो यथोक्तकर्मानुष्ठानशुद्धचित्ताः, वह्नेः एकर्षिनामकस्य आराधकाः, ब्रह्मचर्याश्रमे चीर्णव्रताः चीर्णं कृतं शिरस्यग्निधारणारूपं व्रतं यैस्ते तथा; य एतादृशाः शान्त्यादिसम्पन्ना महात्मान एतेभ्य एव प्रकृतशाखोक्तां विद्यां वदेद्। इति द्वयोरर्थः।।२४१-२।।

प्रकृतकथां निगमयति[1]—एतामिति। ब्रह्मणः प्रजापतेः प्राप्तां परम्परया लब्धाम्।।२४३

उत्तराकांक्षां जनयति—पिप्पलाद इति। पिप्पलादनामा मुनिः षड्भिः प्रश्नैः विशदीकृताम् इमाम् अथर्वणोक्तां विद्यामार्तेभ्यः संसाराद् उद्विग्नेभ्यः सुकेशादिनामकेभ्यः षड्भ्यः शिष्येभ्य उक्तवान्।।२४४।। उपसंहरति—इति त इति।।२४५।।

उपचारैः षोडशभिः पूजनयाऽपीह यः समुपचरितः।

विगतोपचारमाविष्कुरुते स्वं तं शरण्यमवलम्बे।।

इति श्रीदत्तकुलतिलककृष्णचन्द्रात्मजदिलारामसूरितनूज-रामकृष्णस्य श्रीविश्वेश्वराश्रमपूज्यपादानुगृहीतस्य कृतावात्मपुराणटीकायां सत्प्रसवाख्यायां षोडशोऽध्यायः समाप्तः।।१६।।

(पुराण सुनाने वाले आचार्य बताते हैं—) हे शिष्य ! जिस कथा के बारे में तूने प्रश्न उठाया उसमें यही अक्षर-विद्या आयी है जो प्रजापति ब्रह्मा से क्रमशः प्राप्त हुई और मुनि अंगिरा ने महात्मा शौनक को समझाई।।२४३।।

सामर्थ्यशाली पिप्पलाद मुनि ने छह प्रश्नों द्वारा विस्तारित यही आथर्वण विद्या संसार से उद्विग्न सुकेशादि छह शिष्यों को सुनाई थी।।२४४।। इस प्रकार अथर्वोक्त वह सारा ब्रह्मज्ञान मैंने सुना दिया जिसे तूने पूछा था। अन्य क्या सुनना चाहता है ?।।२४५।।

।। सोलहवाँ अध्याय सम्पूर्ण।।

---

१. 'तदेतत् सत्यमृषिरङ्गिराः पुरोवाच नैतदचीर्णव्रतोऽधीते। नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः।।' ११।।

ॐ

प्रश्नसारार्थप्रकाशे-पिप्पलादसुकेशसंवादः

सप्तदशोऽध्यायः

श्रुत्वाऽथर्वोक्तविज्ञानं शिष्यो गुरुमभाषत। पिप्पलादेन सम्प्रोक्तं श्रोतुकामो गुरोर्मुखात्।।१

भिन्दन् सप्तदशोतीस्तनुते तारेऽनुषङ्गवान् वर्णे।

देवः स साप्तदश्यं धृत्वा नः सप्तदशमलंकुर्यात्।।

गीतेरस्याः श्रीरामचन्द्रपक्षेऽयमर्थः—यो देवः सप्त तालान्, तथा दश रावणशिरांसि, च भिन्दन् सन्, ऊतीर्लीलास्तनुते विस्तारयति। कीदृशः? तारे शुद्धे वर्णे ब्राह्मणजाताविति यावत्, अनुषङ्गवान् स्नेहवान्, स देवः ससाप्तदश्यं साप्तदश्येन 'ओ श्रावय' इत्यादिमन्त्राक्षरसंख्यारूपेण सहितं यज्ञं धृत्वा पोषयित्वा वर्तमानो नोऽस्माकमाराधकानां सप्तदशं सूक्ष्मं शरीरावयवानाम् इन्द्रियदशकप्राणपंचक-मनो-बुद्धिरूपाणां सप्तदशसंख्यापूरकं बुद्धितत्त्वं प्रादुर्भावेण भूषयेद्—इति। तत्र यज्ञस्य सप्तदशावयवमन्त्रसाध्यत्वं 'चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च द्वाभ्यां पञ्चभिरेव च। हूयते च पुनर्द्वाभ्यां स मे विष्णुः प्रसीदतु।।' इति भारते प्रोक्तम् अस्य व्याख्या च भागवतव्याख्यायां चतुर्थस्कन्धे सप्तमाध्याये द्रष्टव्येति।। श्रीकृष्णविग्रहपक्षे—सप्त स्वरान् वंशीनादगतान् भिन्दन् व्यंजयन्, दशायाः कौमाराद्यवस्थायाः सम्बन्धिनीर्लीलास्तनुते। कीदृशः? तारेऽत्युच्चे वर्णे गोपिकाकृतस्तुतिरूपगीतौ अनुषङ्गवान् स्निग्धः,'तदेव ध्रुवमुन्निन्ये तस्यै मानं च बह्वदाद्' इति रासपञ्चाध्याय्युक्तेः; 'वर्णो द्विजादौ शुक्लादौ स्तुतौ' इति विश्वः। स देवः कृष्णः, शशेन आप्तम् अङ्कितं, दश्यं चकोरैः आस्वादनीयं च यत्सुधाकरीयममृतं तत् ससाप्तदश्यम्; 'यमकश्लेषचित्रेषु शसयोर्बवयोर्नभिद्' इत्यभियुक्तवचनात्; तद्वंशीरवे धृत्वा नो धियमलंकुर्याद् इति पूर्ववत्। अत्र दश्यम् इति 'दंश दशने' इति निर्देशेन क्वचिदक् ङ्क्त्यपि नलोपसूचनात् साधु; तथा हि दर्शितम् अमरटीकायां भानुजीदीक्षितेन।। शम्भुपक्षे—नृत्तकालिकविग्रहेण सप्त लोकान् भिन्दन् क्षोभयन्, दश संख्या ऊतीर्लीलारूपकाख्यनाटकभेदात्मिकाः तनुते, 'जगद्रक्षायै त्वं नटसि ननु वामैव विभुते' त्यभियुक्तोक्तेः(महिम्न. १६)। 'नाटकं सप्रकरणं भाणः प्रहसनं डिमः। व्यायोगसमवकारौ वीथ्यङ्केहामृगा इति।।' एतन्नामकानां नाटकभेदानामभिनेता नीलकण्ठ इत्युक्तं दशरूपके। तारे शुद्धे वर्णे शुक्लरूपे स्निग्धः स देवो महादेवः साप्तदश्येन अवयवसप्तदशकेन सहितं प्रजापतिं नृत्तक्षोभेन उद्विग्नमपि धृत्वा धृतिमन्तं कृत्वा नो मतिम् अलंकुर्यादिति पूर्ववत्।। प्रमेयपक्षे—सप्तदशात्मकं प्रजापतिं भिन्दन् संवत्सरादिरूपेण अग्नीषोमलक्षणेन विभजन् सन्नूतीः सृष्ट्यादिलीलास्तनुते, ताराख्ये प्रणवेऽनुषङ्गवान् तादात्म्यवान्, स नो जिज्ञासूनां देवः परमात्मा साप्तदश्यं वक्ष्यमाणषोडशकलायोजनया सप्तदशसंख्यां धृत्वा सप्तदशमध्यायं प्रादुर्भावेण भूषयेदिति।।

अथ मुण्डकाख्यमन्त्रोपनिषदो विवरणभूतब्राह्मणरूपा यतः प्रश्नोपनिषत् ततः क्रमप्राप्तं प्रश्नार्थं दिदर्शयिषुः तत्र मेधाविनः शिष्यस्य जिज्ञासां सानुवादां दर्शयति—श्रुत्वेति षोडशभिः। स्पष्टम्।।१।।

ॐ

प्रश्नोपनिषत् के सारार्थ के प्रकाशन में पिप्पलाद से सुकेश का संवाद

सत्रहवाँ अध्याय

अथर्ववेद के मन्त्रभाग की उपनिषत् में बताये आत्मविज्ञान के बारे में ऊहा-पोहपूर्वक उसकी अक्षरपरता का निर्णय कर चुकने के बाद गुरुमुख से वह उपदेश सुनने की इच्छा से जो महर्षि पिप्पलाद ने ऋषियों को सुनाया था, पुराणश्रोता शिष्य ने अपने कारुणिक गुरु से कहा :।।१।।

शिष्यप्रश्नः

भगवन्नैतरेयेण यदुक्तं ब्रह्मवेदिना। प्रजासंवादसहितं वैराग्यज्ञानकारणम्।।
वामदेवानुभूतेश्च वर्तनेन समन्वितम्।।२
तथा कौषीतकिप्रोक्तं यत्र शक्रप्रतर्दनौ। अजातशत्रुबालाकी गुरुशिष्यौ महाधियौ।।३
आदित्यस्याऽपि विज्ञानं यत्र वंशस्त्वयेरितः। अश्विनोर्यत्र संवादो मन्त्रद्रष्ट्रा महात्मना।।
दध्यङ्ङाथर्वणो यत्र क्लेशमेतत्कृते ह्यगात्।।४
याज्ञवल्क्याऽभिधो भानुर्मुनिदैत्याननेकशः। तिरस्कुर्वन् विदग्धाख्यं तमो यत्र व्यपाकरोत्।।५
जनकस्य च मैत्रेय्याः स्वगोभिर्ब्रह्म सन्ततम्। व्यदर्शयन् महातेजाः स्वस्याऽस्तमयतः पुरा।।६
श्वेताश्वतरनामाऽपि यतीन्द्रानभ्यभाषत। कठश्च द्विजशार्दूलस्तित्तिरिश्च महामनाः।।७
यमो यत्र गुरुः शिष्यो नचिकेताश्च धीधनः। वरुणश्च भृगुस्तद्वद् वेनानुभवकीर्तनम्।।
सर्वसाधनसङ्घाते भूयान् संन्यास इत्यपि।।८
जाबालादेश्च विज्ञानं संन्यासादिसमाश्रयम्। संवर्ताद्यैश्च करणं संन्यासस्य महात्मभिः।।६
वैराग्यं तस्य कालश्च योगादिस्तस्य कारणम्। विरक्तोऽत्राधिकारी च वेषो दण्डादिधारणम्।।
आचारो ब्रह्मचर्यादिर्ब्रह्मज्ञानां महांस्तथा।।१०

भगवन्निति। यदैतरेयेणोक्तम् 'एतद् मह्यम् आख्यातम्' इति पञ्चदशेन सम्बन्धः। वर्तनेन प्रकाशनेन।।२।। द्वितीयतृतीययोर्वृत्तमाह—तथेति। सम्बन्धः पूर्ववदग्रेऽपि बोध्यः। यत्र कौषीतक्युक्ते।।३।। चतुर्थवृत्तमाह—आदित्यस्येति। यत्र आदित्यविज्ञाने। एतत्कृतेऽश्विनोरर्थे।।४।। पञ्चमादित्रयवृत्तमाह—याज्ञवल्क्येति द्वाभ्याम्। यत्र आदित्यविज्ञान एव यथा उदयं गच्छन् भानुः मन्देहाख्यान् दैत्यांस्तिरस्करोति तथेर्ष्यादिदोषेण दैत्यायमानान् मुनीन् याज्ञवल्क्यो भानुः तिरस्कृत्य जित्वा विदग्धाख्यशाकल्यरूपं तमो व्यनाशयत्। यथा च भानुः स्वकीयैर्गोभिः किरणैः स्वस्य स्वरूपानुगतं ब्रह्म दर्शयति स्मारयति—'यदादित्यगतं तेज' इत्यादिगीतास्मृतेः(गी.१५.१२)—तथा याज्ञवल्क्योऽपि स्वस्य अस्तमयात् संन्यासरूपात् पुरा स्वगोभिर्वाग्भिर्जनकस्य मैत्रेय्याः च हिताय स्वरूपभूतं ब्रह्म सन्ततम् अदर्शयत्। इति द्वयोरर्थः।।५-६।। अष्टमादित्रयवृत्तमाह—श्वेताश्वेति द्वाभ्याम्। अभ्यभाषत 'यद्' इति शेषः।। कठतित्तिरी च यद् अभ्यभाषेताम् एतदुक्तमिति सम्बन्धः पूर्ववत्।।७।। यम इति। यत्र कठोक्ते यमनचिकेतसौ गुरुशिष्यौ। यत्र च तित्तिरिप्रोक्ते वरुणभृगू तथा वेनाख्यगन्धर्वानुभवः, संन्यासस्याधिक्यं चोक्तमित्यर्थः।।८।। एकादशवृत्तमाह—जाबालादेरिति द्वाभ्याम्। समाश्रयपदं गोचरार्थकम्। करणम् अनुष्ठानम्।।६।। वैराग्यमिति। तस्य संन्यासस्य। अत्र संन्यासे। तथा ब्रह्मज्ञानां महान् प्रशस्तो ब्रह्मचर्यादिरूप आचारश्चोक्त इत्यर्थः।।१०।। सामेति। यैरेतैः द्वादशादिभिस्त्रिभिरध्यायैः साम्नश्छान्दोग्यस्य यत् षष्ठाद्यध्यायत्रयं तस्याऽर्थ उक्त इति शेषः। यत्रैते

'हे भगवन्! संक्षेप में कहूँ तो मुझ पर कृपाकर आपने अब तक नौ प्रधान उपनिषदों का व्याख्यान किया और अन्यान्य संदर्भों समेत बारह क्षुद्र-उपनिषदों का अभिप्राय विस्तार से सुनाया। इस प्रकार वैराग्य, विवेक, योग, संन्यास आदि साधनों समेत विज्ञेय तत्त्व पर प्रभूत प्रकाश आप डाल चुके हैं। ऋगादि क्रम से प्रसंग उठाते हुए आपने चारों वेदों के रहस्य भागों का प्रकाशन किया। पूर्वाध्याय के अंत में आपने बताया कि छह मुनियों के छहों प्रश्नों के उत्तरों द्वारा पिप्पलाद महर्षि ने आथर्वणविद्या के उपदेश से उनकी आर्ति का हरण किया था। मुझे वही शुभ प्रसंग सुनाकर कृतार्थ करें'।।२-१६।।

सामाऽध्यायत्रयस्याऽर्थो यैरेतैर्मुनिसत्तमाः। गुरवोऽपि च शिष्याश्च ह्यारुणिः श्वेतकेतुकः।।११

सनत्कुमारो भगवान् नारदो देवदर्शनः। ब्रह्मा लोकगुरुस्तद्वद् उभाविन्द्रविरोचनौ।।१२

इन्द्रस्य ब्रह्मविद्यायाः प्रसादादात्मबोधनम्। विचित्रं स्वात्मविज्ञानं यच्च केनेषितेरितम्।।१३

अथर्वणे च यद् ब्रह्मा प्रोक्तवान् स्वसुताय हि। शौनकान्ता हि यस्योक्ता वेदे शिष्यपरम्परा।।१४

मह्यमेतत्समाख्यातं सर्वं विस्तरशो गुरो! त्वया पुनः पुनः श्रोतुमिदमिच्छाम्यहं विभो।।१५

पिप्पलादो मुनीनाह षट्प्रश्न्या उत्तरं हि यत्। अन्ते प्रोक्तं त्वया मह्यं पूर्वाध्यायस्य शोभनम्।।१६

उत्तरम्

इत्युक्तो गुरुरप्याह कथां प्रश्नसमीरिताम्। ब्रह्मज्ञानकरीं सम्यङ्मनःश्रोत्रसुखावहाम्।।१७

आख्यायिकारम्भः

कदाचित्कुत्रचिद् देशे मुनयो मिलिता इमे। आसन् परस्परं स्निग्धाः कृतपौर्वाह्णिकक्रियाः।।१८

मुनिसत्तमाः क्रमेण गुरवः शिष्याश्च। तानेवाह—आरुणिरित्यादिना। द्वादश आरुणिश्वेतकेतू गुरुशिष्यौ, त्रयोदशे सनत्कुमारनारदौ, चतुर्दशे ब्रह्मा गुरुः इन्द्रविरोचनौ च शिष्यौ।।११-२।। पञ्चदशवृत्तमाह—इन्द्रस्येति।।१३।। अनन्तरवृत्तमाह—अथर्वण इति। यस्य अथर्वणः शौनकपर्यन्ता शिष्यपरम्परा वेद उक्ता साक्षान्निरूपिता तदुत्तरभाविनी तु सोपलक्षितेत्यर्थः।।१४।।

मह्यमिति। हे गुरो! पुनः पुनः पृष्टेन भगवता एतद् वर्णितं मह्यम् उक्तम्। इदानीं तु इदं श्रोतुमिच्छामि यत् पूर्वाध्यायान्ते एतत् प्रोक्तम्।'एतत्' किम्? पिप्पलादः षण्मुनीन् प्रति षट्प्रश्न्याः प्रश्नषट्कस्य उत्तरजातं प्राहेति द्वयोरर्थः।।१५-६।।

अत्र गुरोरुत्तरम् अवतारयति— इत्युक्त इति। प्रश्नसमीरितां शौनकीयशाखागता प्रचुरप्रश्नत्वात् प्रश्नाख्योपनिषत् तस्यां वर्णिताम्। स्फुटमन्यत्।।१७।।

तत्र विद्यास्तुत्यर्थाख्यायिकाप्रदर्शकस्य 'वक्ष्याम' इत्यन्तग्रन्थस्य[1] अर्थमाह—कदाचिदिति पञ्चदशभिः। इमे वक्ष्यमाणरूपाः षण्मुनयः कुत्रचिद् देशे मिलिता आसन्। कृताः पौर्वाह्णिकीः प्रातःसन्ध्यादिरूपाः[2] क्रिया यैस्ते तथा।।१८।। तान् षड् गणयति— भारद्वाज इति द्वाभ्याम्। गोत्रेण भारद्वाजः नाम्ना सुकेशा प्रथमः। इदं नाम

इस प्रार्थना से गुरु प्रसन्न हो गये। अथर्ववेद की शौनक शाखा के ब्राह्मण भाग में सुकेशा आदि मुनियों की महर्षि पिप्पलाद से हुई वार्ता संग्रथित है। क्योंकि उसमें इकट्ठे ही छह प्रश्न आ गये हैं—और एक-एक प्रश्न भी अनेक प्रश्नों से घटित है—इसलिये प्रश्नों की अधिकता से उस संदर्भ का नाम ही 'प्रश्नोपनिषत्' पड़ गया है। वह वार्ता सुनने में तो अच्छी लगती ही है, मन को भी प्रसन्न करती हुई परब्रह्म का ज्ञान कराने में सक्षम है। उसी कथा का गुरुदेव ने वर्णन आरंभ किया :।।१७।।

प्रिय जिज्ञासु शिष्य! किसी समय की बात है, कहीं पवित्र देश में ये आपस में प्रेम रखने वाले मुनि दिन के पूर्व भाग में कर्तव्य क्रियाएँ संपन्न करने के बाद एकत्र हुए।।१८।।

---

१. 'ॐ सुकेशा च भारद्वाजः, शैब्यश्च सत्यकामः, सौर्यायणी च गार्ग्यः, कौसल्यश्चाऽऽश्वलायनो, भार्गवो वैदर्भिः, कबन्धी कात्यायनः; ते हैते ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठाः परं ब्रह्मान्वेषमाणा 'एष ह वै तत्सर्वं वक्ष्यति' इति ते ह समित्पाणयो भगवन्तं पिप्पलादमुपसन्नाः।।१।। तान् ह स ऋषिरुवाच 'भूय एव तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संवत्सरं संवत्स्यथ। यथाकामं प्रश्नान् पृच्छत। यदि विज्ञास्यामः सर्वं ह वो वक्ष्यामः।' इति।।' प्रश्न.१.२।।

२. एतेन कृतकर्मसंभवचेतोविशोधनाः संजातपरब्रह्मबोधाधिकारा इति सूचितम्।

भारद्वाजः सुकेशा च सत्यकामोऽपि शैब्यकः। गार्ग्यः सौर्यायणिस्तद्वत् कौशल्यश्चाश्वलायनः।।१९
वैदर्भिर्भार्गवस्तद्वत् स तु कात्यायनोऽपि च। कबन्धी षष्ठ एतेषां सर्ववेदार्थवेदिनाम्।।२०
षडङ्गसहितान् वेदान् अधीत्यविविधाः क्रियाः। कुर्वाणाः परमं ब्रह्म समिच्छन्तो यशोन्विताः।।२१
इदं विचारयामासुरस्मभ्यं कोऽत्र वक्ष्यति। ब्रह्मिष्ठः श्रोत्रियोऽस्मत्तो गुणैरप्यधिकश्च यः।।२२
इति चिन्तयतां तेषां पिप्पलादो मुनीश्वरः। भगवान् स्वेच्छयैवायात् तं देशं ब्रह्मवित्तमः।।२३
तमायान्तं विलोक्याथ दूरतस्ते मुनीश्वराः। इदमूचुर्हृष्टचित्ता एष सर्वं हि वक्ष्यति।।२४

नकारान्तमिति वृत्तिकृत्। नाम्ना सत्यकामः शिबेरनन्तरापत्यभूतः शैब्यो द्वितीयः। 'वृद्धेत्कोशलाजादञ्ञ्यङ्' (४.१.१७१)। तथा सूर्यस्यापत्यत्वात् तिकादित्वात् फिनि[1] सौर्यायणिसंज्ञो गोत्रेण गार्ग्यश्च तृतीयः। श्रुतौ दीर्घस्तु च्छान्दस इति भावः। कोशलस्याऽनन्तरापत्यत्वात्[2] कौशल्यसंज्ञः, अश्वलगोत्रत्वाद् नडादिफकि (४.१.९९) आश्वलायन इत्युक्तश्चतुर्थः।।१९।।वैदर्भिरिति। विदर्भस्याऽनन्तराऽपत्यत्वाद्[3] वैदर्भिः नामतः, भृगुगोत्रत्वाद् भार्गवः पञ्चमः। कतस्य युवापत्यत्वात्[4] कात्यायन इत्युक्तः कबन्धिसंज्ञ एषाम् ऋषीणां षष्ठ इति।।२०।। तेषां विद्याधिकारद्योतनाय विशेषणान्याह—षडङ्गेति। षडङ्गवेदरूपं ब्रह्म अध्ययनेन लब्ध्वा तत्पराः सन्तस्तदुक्ताः सगुणब्रह्मोपासनरूपाः कर्मसमुच्चिताः क्रियाः कुर्वाणाः परमं निर्विशेषं ब्रह्म जिज्ञासमानाश्च अत एव यशोऽन्विताः।।२१।। इदमिति। ते सर्व इदं विचारितवन्तः। 'इदं' किम्? यो ब्रह्मिष्ठाऽदिलक्षणोऽस्मत्तो गुणाधिकश्च परं ब्रह्म वदेत् स क इत्यर्थः।।२२।।

इत्थं चिन्ताकुलानां तेषामनुग्रहाय पिप्पलादाख्यो मुनिस्तत्रागत इत्याह— इतीति।।२३।। तमायान्तमिति। सर्वम् अस्मत्प्रश्नजातं वक्ष्यति समाधास्यति इति।।२४।। तस्मिन्निति। तस्मिन् पिप्पलादे समीपमागते सति तम्

छहाँ के नाम हैं—१) भारद्वाज गोत्र वाले ऋषि सुकेशा। २) शिबिपुत्र सत्यकाम। ३) गार्ग्य-गोत्रीय सौर्यायणि। ४) अश्वल के गोत्र में उत्पन्न कौशल्य।('कौसल्य' ऐसा दन्त्यसकारयुक्त पाठ अधिक प्रचलित है।) ५) भृगुगोत्रीय वैदर्भि। और ६) कत-ऋषि के जीवित काल में उत्पन्न उनका प्रपौत्र कबन्धि। (जिस क्रम से प्रश्न उठाने का मौका मिला है उस क्रम से पुराणकार ने नाम एकत्र किये हैं।) ये सभी सारे वेद का अर्थ जानते थे क्योंकि शिक्षादि छहों अंगों सहित इन्होंने वेदों का संप्रदाय से ग्रहण किया था। इन यशस्वी महापुरुषों ने उपासना सहित श्रौतादि कर्मों का अनुष्ठान किया था और परब्रह्म के साक्षात्कार के लिये समुत्कण्ठित थे।।१९-२१।। इन्होंने परस्पर विचार किया 'हमसे श्रेष्ठ वेदज्ञ, ब्रह्मवेत्ता एवं अन्य गुणों में भी हमसे बढा हुआ इस समय संसार में कौन है जो कृपापूर्वक हमें परब्रह्म के बारे में उपदेश देगा?'।।२२।। वे यह विचार कर ही रहे थे कि ब्रह्मवेत्ताओं में वरिष्ठ, ऐश्वर्यादि गुणों में सर्वाधिक एवं मुनियों के सम्राट् पिप्पलाद ऋषि स्वयं ही उस स्थान पर आ गये। (साम्प्रदायिकों की निष्ठा है कि गुरु ढूँढना नहीं पड़ता वरन् वही योग्य शिष्य की खोज कर लेता है। क्योंकि ईश्वर ही गुरुरूप धारण करता है इसलिये यह सहज भी है। 'यमेवैष वृणुते', 'तेषामहं समुद्धर्ता' आदि श्रुति-स्मृति इसमें अनुकूल हैं। इसलिये पिप्पलाद ने उन ऋषियों की जिज्ञासुता जानकर उन पर अनुग्रह किया—ऐसा पुराणकार ने माना है। उपनिषत् के शब्दों में तो प्रतीत होता है कि छहों ऋषि परब्रह्म की खोज में थे और 'पिप्पलाद ही हमें बतायेंगे' यह निर्णय कर उनके पास गये थे। किंतु शिष्य यों गुरु का परीक्षण

१. फिञि इति सुवचम्। 'तिकादिभ्यः फिञ्' ४.१.१५४।
२. वृद्धेदित्याद्युक्तसूत्रादेव।
३. विदर्भदेशवासीति भाष्यानुसार्यर्थः।
४. पूर्वं 'गर्गादिभ्यो यञ्' (४.१.१०५) ततः 'यञिञोश्च' (४.१.१०१) इति फक्। 'गोत्राद् यूनि' (४.१.९४) इत्यादिना गोत्रप्रत्ययानंतरमेव युवप्रत्ययविधेः।

तस्मिन् समागते सर्वे स्वासनेभ्यः समुत्थिताः। बद्धाञ्जलिपुटा ऊचुर्नमस्कृत्य च तं विभुम्।
समिदादिकरा भूत्वा यथाशास्त्रं महाधियः।।२५

भगवन्! सर्व एवैते वयं संसारतापतः। भीतास्त्वां शरणं प्राप्ताः शाध्यस्मान् शरणागतान्।।२६।।

एवमुक्तोऽथ तैर्विप्रः पिप्पलादो मुनीश्वरः। इदं वचनमाहैतान् मुनीन् सर्वान् महामतिः।।२७

श्रद्धावतेऽपि न ब्रूयादसंवत्सरवासिने। गुरुः शिष्याय विप्रास्तद् भवद्भिरपि गम्यते।।२८

ततो भवन्तो मुनयो यद्यपि स्युः स्वभावतः। तापसा ब्रह्मचर्यादिनिरताः सर्वदैव हि।।२९

तथाऽपि भूय एवाऽपि समीपे मेऽत्र वत्सरम्। ब्रह्मचर्यादिनिरता वासं कुर्वन्तु तापसाः।।३०

ततोऽहं भवतां प्रश्नान् सर्वान् वक्ष्यामि सर्वथा। यावज्ज्ञानं भवद्भ्यश्चेद् रोचते तद् विधीयताम्।।३१

एवमुक्ते तथा चक्रुस्ते सर्वे श्रद्धयान्विताः। प्रणिपत्य महात्मानं वत्सरे विगते सति।।३२

अभ्युत्थानादिना पूजयित्वा शास्त्रानुसारेण समित्प्रभृत्युपायनहस्ता इदमूचुः। 'इदं' किम्? हे भगवन्! संसारभयेन शरणागतान्नः शाधि उपदिश। इति द्वयोरर्थः।।२५-६।।

स च मुनिस्तान् प्रतीदमुक्तवान् इत्याह—एवमुक्त इति।।२७।। पिप्पलादस्य मुनेर्वचनमभिनयति—श्रद्धावतेऽपीति चतुर्भिः। श्रद्धावानपि शिष्यो यदि संवत्सरवासेन अपरीक्षितो भवेत्तदा तस्मै न ब्रूयाद् नोपदिशेत्, तद् एतन्मर्यादारहस्यं भवद्भिरपि गम्यते ज्ञायत इत्यर्थः।।२८।। तत इति। तत उक्तमर्यादावशाद् भवतां स्वभावतः तापसत्वादिशालित्वेऽपि पुनः संवत्सरपर्यन्तं तपःश्रद्धाब्रह्मचर्याऽन्वितैः मत्समीपे वासः कर्तव्यः। इति द्वयोरर्थः।।२९-३०।। ततोऽहमिति। ततः संवत्सरानन्तरं वक्ष्यामि समाधास्यामि यथामति। तद् एतद् मद्वचो यदि भवद्भ्यो रोचते भवतः प्रीणयति तदाऽनुष्ठेयमित्यर्थः।।३१।। एवं तेनोक्ते सति सर्वे तदुक्तं चक्रुरित्याह—एवमिति। चतुर्थपाद उत्तरान्वयी।।३२।।

कर सके यह नामुमकिन मानकर संभवतः पुराणकार ने उक्त व्याख्या की है।)।।२३।। महर्षि पिप्पलाद के वहाँ पहुँचते ही छहों महामनीषी मुनि अपने आसनों से उठ खड़े हुए, अंजलि बाँध उन्हें प्रणाम किया और समित् आदि भेंट हाथ में लेकर शास्त्रोक्त ढंग से उनके पास जाकर व्यापक वस्तु से स्वयं को अभिन्न जानने वाले उन ऋषि से पूछने लगे—।।२४-५।। 'हे भगवन्! आपके संमुख उपस्थित हम सभी संसार-ताप से डरे हुए हैं और आपकी शरण लेते हैं। हम शरणागत शिष्यों को आप उपदेश देकर कृतार्थ करने की कृपा करें।'।।२६।।

सर्वज्ञ पिप्पलाद मननशीलों में श्रेष्ठ थे। उन वेदज्ञों की उस प्रार्थना पर उन्होंने उन सभी मुनियों से कहा—।।२७।। 'हे वेदादिशास्त्रों के जानकारो! आप भी इस मार्यादा से परिचित ही होने चाहिये कि न्यूनतम एक साल अपने पास रखकर जब तक परीक्षा न कर ली जाये तब तक श्रद्धालु शिष्य को भी रहस्यविद्या का उपदेश नहीं देना चाहिये।।२८।। यद्यपि आप सब मुनि हैं, स्वभाव से ही तपस्या, ब्रह्मचर्य आदि में हमेशा सावधानी से तत्पर रहते हैं तथापि उक्त मर्यादा का आदर करते हुए आप सब तपस्वी पुनः एक साल तक ब्रह्मचर्यादि नियमों के अनुसार मेरे निकट रहिये। उसके बाद ही मैं अपनी समझ के अनुसार आपके सारे प्रश्नों का हर तरह से उत्तर दूँगा। यह व्यवस्था आपको रुचिकर हो तो यथाविधि वास आरंभ कीजिये।'२९-३१।।

पिप्पलाद की शास्त्रसंमत आज्ञा का अनुमोदन कर उन श्रद्धाधन मुनियों ने वैसा ही किया। जब एक वर्ष बीता तब महात्मा पिप्पलाद को प्रणाम कर उन सबने क्रमशः प्रश्न पूछने आरंभ किये।।३२।। (मुंडकोपनिषत् में परविद्या के साधन रूप से अपरविद्या भी आयी थी। अपरविद्या के दो क़दम हैं कर्म व उपासना किंतु यदि मोक्षैकप्रयोजन से

प्रथमः सृष्टिगोचरः प्रश्नः

कात्यायनः कबन्धी च समागम्येदमब्रवीत्। भगवन्! कुत एवेमाः प्रजाः कारणतो जनिम्।
प्राप्नुवन्तीह तन्मह्यं वद त्वं मुनिसत्तम।।३३
एवमुक्ते विराजः स सृष्टिमाह मुनीश्वरः। परित्यज्य महासृष्टिं विज्ञातं तेन शास्त्रतः।।३४
प्रजापतिः पुरा सृष्टिं सिसृक्षुर्जगदीश्वरः। पर्यालोच्य ससर्जादावग्नीषोमौ महामतिः।।३५

मुण्डके परापरभेदेन द्वे विद्ये प्रदर्शिते। तत्र अपरविद्यायाः कर्मोपासनभेदेन द्विविधायाः फलं सृष्टिमुखेन निर्णेतुं प्रथमप्रश्नं कबन्ध्याख्यः कात्यायनश्चकारेत्याह—कात्यायन इति। वत्सरे व्यतीते सति कात्यायनः पिप्पलादम् इति अपृच्छत्।' इति' किम्?[1] हे भगवन्! प्रजाः कुतः कारणतो जनिं प्राप्नुवन्ति इति।।३३।।

एवमुक्त इति। एवं पृष्टे सति स पिप्पलादमुनिः तस्मै कात्यायनाय विराजः प्रजापत्याख्याद् या जगतः सृष्टिः तामेवोक्तवान्[2]। ईश्वरावधिका महासृष्टिः पञ्चमहाभूतहिरण्यगर्भादिसम्बन्धिनी सृष्टिः साऽनेन कात्यायनेन शास्त्रतो विज्ञातैवेति ताम् उपेक्ष्य इत्यर्थः।।३४।। प्राजापत्यां सृष्टिमभिनयति—प्रजापतिरिति एकादशभिः। प्रजापतिः विराट् सिसृक्षुः सृष्टिवृद्धिमिच्छन्[3], अग्नीषोमौ भोक्तृभोग्यलक्षणौ ससर्ज। किं कृत्वा? 'एतौ मिथुनरूपेण विविधां सृष्टिं कर्तुं क्षमौ' इति विचार्य इत्यर्थः।।३५।। तत्र भोक्तृरूपस्याऽग्नेः सर्वात्मताम् 'अथाऽऽदित्य' इत्यादिब्राह्मणं 'विश्वे'त्यादिमन्त्रश्च[4] वदति। तयोरर्थमाह—अग्निरिति। तयोर्मध्ये योऽग्निः सोऽध्यात्मं प्राणरूपः, न की जाये तो अपरविद्या सृष्टिचक्र से निकलने का उपाय नहीं बनती। इस बारे में निर्णय पर पहुँचने के लिये प्रश्न में पहला सवाल उठाया गया है।)

सर्वप्रथम कबन्धी कात्यायन ने आगे बढ़कर प्रश्न किया—'हे पूज्य मुनिराज आचार्य! इन प्रजाओं को किस कारण से जन्म प्राप्त होता है वह आप मुझे बतायें।' ।३३।।

इस प्रश्न के उत्तर में पिप्पलाद ने कात्यायन को वह सृष्टि बतायी जो प्रजापति नामक विराट् से होती है। ईश्वर से होने वाली महाभूतादिपूर्वक महासृष्टि का उन्होंने प्रसंग नहीं उठाया क्योंकि उन्होंने माना कि उसे कात्यायन शास्त्र द्वारा समझ ही चुका है। (अत एव प्रजाओं की ही उत्पत्ति पूछी है, अन्यथा सारे जगत् की उत्पत्ति पूछता।)।।३४।।

उन्होंने कहा सृष्टिविकास के आरंभिक समय में व्यक्त जगत् के सर्वाधिकारी प्रजापति ने सृष्टि के वर्धन की इच्छा की और भोक्ता-भोग्य रूप अग्नि-सोम यह विचार कर बनाये कि ये दोनों परस्पर मिलकर नाना प्रकार की सृष्टि बना सकेंगे।।३५।। इनमें जो अग्नि है वही अध्यात्म में (शरीर में) प्राण है। शरीरसंघात को वश में रखकर भोक्ता होना प्राण में स्पष्ट ही है, जिसके वश में अन्य रहें वह उनका भोक्ता होता ही है। अग्नि का अधिदैवरूप आदित्य है। अपने उदय-अस्त आदि से सूर्य ही सारी दिशाएँ बनाता है अतः अपने प्रकाश को सर्वत्र फैलाने वाला होने से सबका भोक्ता है। भोक्ता होने के कारण आदित्य 'पुरुष' कहलाता ही है, वह सर्वात्मक अर्थात् पूर्ण होने से भी पुरुष कहा जाता है। उसकी आभा सुनहरी है और सारा ज्ञानात्मक धन उसीसे उत्पन्न है। सर्वज्ञ होने से वह समस्त ज्ञेयों को व्याप्त कर उनका भोक्ता है। सभी की वह परम गति, शरण है जो भोक्तृत्व की अनिवार्यता है क्योंकि भोक्ता अपने भोग्य का रक्षक

---

१. 'अथ कबन्धी कात्यायन उपेत्य पप्रच्छ—भगवन्! कुतो ह वा इमाः प्रजाः प्रजायन्त इति'।।३।।
२. 'तस्मै स होवाच—प्रजाकामो वै प्रजापतिः स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा स मिथुनमुत्पादयते रयिं च प्राणं चेत्येतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यत इति।।'४।।
३. 'आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमा रयिर्वा एतत्सर्वं यन्मूर्तं चामूर्तं च तस्माद् मूर्तिरेव रयिः।।'५।।
४. 'अथादित्य उदयन् यत् प्राचीं दिशं प्रविशति तेन प्राच्यान् प्राणान् रश्मिषु सन्निधत्ते। यद् दक्षिणां, यत्प्रतीचीं, यदुदीचीं, यदधो, यदूर्ध्वं, यदन्तरा दिशो, यत्सर्वं प्रकाशयति, तेन सर्वान् प्राणान् रश्मिषु सन्निधत्ते।।६।। स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते। तदेतद् ऋचाऽभ्युक्तम् -।।७।। विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं परायणं ज्योतिरेकं तपन्तम्। सहस्ररश्मिः शतधा वर्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः।।'८।।

अग्निः प्राणस्तथाऽऽदित्यः सर्वदिक्करणः पुमान्। विश्वरूपः सुवर्णाभो जातवेदाः परायणम्।।
ज्योतिरात्मा सहस्रार्चिर्बाह्यः प्राणः शतात्मकः।।३६
संवत्सरार्धसंज्ञं यत् कथितं चोत्तरायणम्। आस्तिका येन गच्छन्ति ह्युपास्यात्मानमञ्जसा।।३७
एतं भित्वा महात्मानमादित्यममितौजसम्। तापसा ब्रह्मचर्यादिसम्पन्ना यत्प्रयान्त्यदः।।३८
प्राणायतनमेतद्धि कथितं वेदवादिभिः। अमृतं चाऽभयं चैतत् स्थानकं परमं तथा।।
ब्रह्मलोकाऽभिधं सूर्यात् परतो यद्धि वर्तते।।३९

प्राणस्य सङ्घातवशीकारलक्षणभोक्तृत्वस्य स्फुटत्वात्; तथाऽधिदैवम् आदित्यरूपः। तत्र आदित्यस्य भोक्तृत्वस्फुटीकाराय विशेषणानि सर्वदिक्करणेत्यादीनि। सर्वासां दिशां करणं विभजनम् उदयादिना यस्य स तथा; एतेन प्रकाशद्वारा सर्वत्र व्याप्तिर्भोक्तृत्वोपयोगिनी सूचिता। अत एव पुमान् सर्वस्य प्रकाश्यस्य भोक्तेत्यर्थः। सर्वात्मत्वाद् विश्वरूपः। श्रुतौ 'हरिण'-पदेन मरीचिमद्वाचकेन तप्तकाञ्चनाभत्वं सूचितमित्याह—सुवर्णाभ इति। जातं वेदो ज्ञानरूपं धनं यस्मात् स तथा; एतेन सर्वज्ञेयव्याप्तिर्दर्शिता। सहस्रकिरणरूपेण ज्योतिरात्मा प्रकटज्योतीरूपः। तथा सर्वप्रजानां बाह्यः प्राणः। पुनः कीदृशः? शतात्मकः अनेकधा व्यष्टिप्राणिरूपैः वर्तमान इत्यर्थः।।३६।।

प्राणरूपस्याग्नेः संवत्सराख्यकालरूपेण स्रष्टृत्वबोधनाय तावद् उत्तरायणादितदवयवात्मकत्वमाह[1]—संवत्सरार्धेति। संवत्सरार्द्धनामकं यद् उत्तरायणं प्रसिद्धं तदपि कथितं वर्णिताग्निरूपतयेति शेषः। तत्र हेतुतया उत्तरायणस्य सूर्यद्वारप्रापकत्वमाह—आस्तिका इति। येन उत्तरायणरूपमार्गेण आदित्यं भित्वा ब्रह्मचर्यादिसम्पन्नास्तापसा गच्छन्ति इत्यर्थः। यद् इत्याद्युत्तरान्वयि। इति द्वयोरर्थः।।३७-८।। प्रसङ्गेनोपासनाफलं दर्शयति—प्राणायतनमिति। यत् च सूर्यमण्डलभेदनेन अदः परोक्षं स्थानं प्रयान्ति एतत् स्थानं वैदिकैः प्राणायतनं प्राणसमष्टिरूपस्य हिरण्यगर्भस्य वासस्थानं यथा मृत्युभयाभ्यां वर्जितं ब्रह्मलोकसंज्ञं चोक्तं यद् इदं स्थानं सूर्यमण्डलात् परस्ताद् वर्तत

होता ही है। अनंत किरणों वाला आदित्य ज्ञानात्मक ही नहीं भौतिक तेजोरूप (अत एव चक्षु रूप) ज्योति भी है। वही (सूत्रात्मरूप से) सभी प्रजाओं का बाहरी प्राण है और नाना प्रकार के व्यष्टि प्राणियों का रूप धारण कर भी उपस्थित है।।३६।।

प्राणरूप अग्नि संवत्सररूप काल भी है। काल होने से भी वह अग्नि-सृष्टि का हेतु है। संवत्सर का उत्तरायण नामक आधा भाग अग्नि है। जो आस्तिक उपासक ब्रह्मचर्य-तपस्या आदि पूर्वक आत्मा की समुचित उपासना संपन्न कर लेते हैं वे उत्तरायणरूप मार्ग से प्रयाण कर इस अमित तेजस्वी महात्मा आदित्य का भेदन कर लेते हैं।।३७-८।। सूर्यमण्डल फोड़कर जिस परोक्ष स्थल पर उत्तम उपासक पहुँचते हैं वह वैदिकों द्वारा 'प्राणायतन' कहा गया है अर्थात् प्राणों की समष्टि जो हिरण्यगर्भ उनका वासस्थान है। सूर्य से परे जो यह ब्रह्मलोक-नामक श्रेष्ठ स्थान है वह मृत्यु और भय से रहित है।।३९।। ईश्वर की मैं-रूप से उपासना द्वारा यह ब्रह्मलोक मिलता है जो योग्य अधिकारियों को क्रममुक्ति दिलाता है। जिन ब्रह्मचर्यसंपन्न ब्राह्मणों ने सगुण ब्रह्म को अपने से अभिन्न समझकर उसकी उपासना सिद्ध की है वे इस चरम स्थान पर पहुँचकर कभी नहीं लौटते। (ब्रह्मोपदेश से ज्ञान पाकर मुक्त हो जाते हैं।।) ऐसे ब्रह्मलोक का द्वारभूत जो सूर्यमंडल उसकी प्राप्ति का मार्ग जो उत्तरायण वह अग्नि है जिसका लक्षण है प्राण। महीने का अवयव शुक्ल पक्ष और उसका अवयव दिन भी प्राणात्मक अग्नि ही है। शुक्ल पक्ष और दिन भी उत्तरायण (देवयान) के घटक हैं यह प्रसिद्ध ही है।।४०।।

---

१. 'संवत्सरो वै प्रजापतिः। तस्याऽयने—दक्षिणं चोत्तरं च। तद्ये ह वै तदिष्टापूर्ते कृतमित्युपासते ते चान्द्रमसमेव लोकमभिजयन्ते। त एव पुनरावर्तन्ते। तस्माद् एत ऋषयः प्रजाकामा दक्षिणं प्रतिपद्यन्ते। एष ह वै रयिर्यः पितृयाणः।।९।। अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययाऽऽत्मानम् अन्विष्याऽऽदित्यमभिजयन्ते। एतद्वै प्राणानामायतनम् एतदमृतमभयम् एतत् परायणम्। एतस्माद् न पुनरावर्तन्त इत्येष निरोधः। तदेष श्लोकः।।१०।। पञ्चपादं...'। तत्र पञ्चपादमादेः श्लोक.४३ तो व्याख्या।

अस्मिन् गताः पुनर्नैते आवर्तन्ते कदाचन। ब्रह्मविज्ञानसम्पन्ना ब्राह्मणा ह्यूर्ध्वरेतसः।।
शुक्लपक्षोऽपि दिवसः प्रोक्तोऽग्निः प्राणरूपधृक्।।४०
सोमात्मकोऽयं भगवांश्चन्द्रमादक्षिणायनम्। येन यान्ति महात्मानो धार्मिकाः श्रद्धयान्विताः।।४१
कृष्णपक्षस्तथा रात्रिर्यस्यां रतिमुपेयुषाम्। ब्रह्मचर्यं भवेन्नित्यं गृहस्थानां स्वयोषिति।।४२
अग्नीषोमात्मकं यत्तु मिथुनं वत्सरो हि सः। पञ्चर्तुरूपी भगवान् मासद्वादशरूपभृत्।।४३
ऋतुषट्कार आसीनः सूर्यश्चक्रे सदैव यः। द्युलोकस्थोऽत्र पर्जन्यहेतुरुक्तः पिता हि यः।।४४

इत्यर्थः।।३९।। अस्य स्थानस्य क्रममुक्तिप्रयोजकत्वम् अहंग्रहोपासनलभ्यत्वं चाह—अस्मिन्निति। ब्रह्मणः सगुणस्य विज्ञानम् अभेदेनोपासनं तद्वन्त ऊर्ध्वरेतसा ब्राह्मणा अस्मिन्नुक्ते सूर्यमण्डलात्परस्मिन् स्थाने गत्वा पुनः अत्र संसारमण्डले न आगच्छन्तीत्यर्थः।। यथा च[1] सूर्यमण्डलप्रापकत्वाद् उत्तरायणं प्राणलक्षणाग्निरूपतया उक्तं तथा मासघटकः शुक्लपक्षः, पक्षघटको दिवसश्च अग्निरूपो बोध्यः, देवयानमार्गघटकत्वस्य अनयोरपि समत्वाद् इति भावः।।४०।।

यथाऽग्नेः सूर्यादिरूपाणि दर्शितानि तथा भोग्यलक्षणस्य सोमस्याप्याह—सोमात्मक इति। अयं चन्द्रमा भोग्यामृतादिरूपत्वात् सोमात्मको बोध्यः। तथा दक्षिणायनम् अपि सोमात्मकं बोध्यम्। तत्र हेतुं चन्द्रप्रापकत्वं दर्शयन् कर्मिणां गतिमपि सूचयति—येनेति। येन दक्षिणायनेन धार्मिका इष्टादिकारिणः चन्द्रलोकं गच्छन्तीत्यर्थः।।४१।। कृष्णेति। यथा च दक्षिणायनं सोमात्मकमुक्तं तथा कृष्णपक्षो रात्रिश्च सोमात्मतया बोध्या। तत्र रात्रेः सोमात्मकत्वे हेतुं रतिकालत्वमाह— यस्यामिति। यस्यां रात्रौ स्वयोषिति रतिं भजतां गृहस्थानां ब्रह्मचर्याऽविप्लव उक्त इत्यर्थः। एतेन दिवसस्य प्राणरूपाऽऽग्न्यात्मकत्वात् तत्र रतिसेविनां न केवलं ब्रह्मचर्यहानिः किन्तु प्राणहानिरपीति सूचितम्।।४२।। उत्तरायणदक्षिणायनरूपयोः शुक्लकृष्णपक्षरूपयोरहोरात्ररूपयोश्च अग्नीषोमयोः यदेतद् मिथुनत्रयमुक्तं तत्समुदायः संवत्सरः प्रजापत्यात्मा बोध्य इत्याह—अग्नीषोमात्मकमिति। मिथुनं युगलम्।

अयमर्थः 'पञ्चपादम्' इत्यादिना[2] मन्त्रेणापि उक्त इति सूचयंस्तदर्थमाह—पञ्चर्तुरूपीति दलत्रयेण। भगवान् प्रजापतिः संवत्सरात्मको—हेमन्तशिशिरावेकी कृत्य—पञ्चभिर्ऋतुभिः पादभूतैः रूपी रूपवान्। ऋत्ववयवैः द्वादशमासैश्च रूपभृत् घटितावयवः। पुनः कीदृशः? यश्चक्रे शिशुमाराख्ये। कीदृशे? ऋतुषट्कमेवारस्थानीयं यस्य तथाभूते सूर्यरूपेण सदैव स्थितः। पुनः कीदृशः? द्युलोकस्य स्वर्गलोकस्योपरि स्थितः। पर्जन्यस्य मेघस्य हेतुत्वेन

जैसे अग्नि के सूर्यादि रूप हैं वैसे सोमादि रूप हैं अन्न के, भोग्य के। भोग्य अमृत आदि रूप धारण करने वाला यह पूज्य चंद्रमा सोम-स्वरूप है। श्रद्धालु धार्मिक महात्मा इष्ट आदि कर्मों के फलस्वरूप जिस मार्ग से जाते हैं वह दक्षिणायन और उसके घटक कृष्ण पक्ष एवं रात्रि भी सोमात्मक हैं। गृहस्थ भी यदि इस नियम का पालन करे कि अपनी पत्नी से अन्यत्र और रात्रिकाल से अन्यदा रति नहीं करेगा तो उसे ब्रह्मचर्यपालन का फल मिल जाता है क्योंकि रात्रि भोग्यरूप होने से रति के लिये उचित काल है। इससे विपरीत यदि दिन में रति की जाये तो ब्रह्मचर्य ही नहीं प्राण भी नष्ट होते हैं अतः दिन में कभी रति नहीं करनी चाहिये।।४१-२।।

---

१. 'मासो वै प्रजापतिः। तस्य कृष्णपक्ष एव रयिः, शुक्लः प्राणः। तस्मादेत ऋषयः शुक्ल इष्टं कुर्वन्ति, इतर इतरस्मिन्।।१२।। अहोरात्रो वै प्रजापतिः। तस्याऽहरेव प्राणो, रात्रिरेव रयिः। प्राणं वा एते प्रस्कन्दन्ति ये दिवा रत्या संयुज्यन्ते। ब्रह्मचर्यमेव तद् यद् रात्रौ रत्या संयुज्यन्ते।।'१३।।
२. 'पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम्। अथेमे अन्य उ परे विचक्षणं सप्तचक्रे षडर आहुरर्पितम् इति।।'११।।

अग्नीषोमात्मकस्याऽस्य नवान्नं स्यान्महात्मनः। अन्नात् सन्धुक्षिताद् रेतो रेतसश्च प्रजा इमाः।।
जायन्ते विविधा एवमग्नीषोमौ हि कारणम्।।४५

द्वितीयप्रश्नोऽध्यात्मं प्राणप्रभावनिर्णायकः

अथोपरत एतस्मिन् विदर्भिर्भार्गवोऽब्रवीत्। देवाः कत्येव भगवन्! जगतोऽस्य विधारकाः।।४६

कतरे वाऽत्र कर्त्तारः प्रकाशस्य च कः पुमान्। एतेषु श्रेष्ठ एतद् मे सर्वं वद महामुने।।४७

जगतः पिता चेत्यर्थः। इति द्वयोरर्थः।।४३-४।। तत्र जगत्पितृत्वं स्फुटयति[1]— अग्नीषोमात्मकस्येति। अस्य इत्यनन्तरं 'कार्यम्' इति शेषः। तथा च सूर्यचन्द्रदक्षिणायनोत्तरायणादिरूपैः अग्नीषोमात्मकस्य अस्य महात्मनः प्रजापतेः कार्यं वृष्टिद्वारा नवान्नं स्यात्। ततो-ऽन्नात्सन्धुक्षितात् जाठराग्निपाचिताद् रेतोद्वारा विविधाः प्रजा जायन्ते। एवम् अग्नीषोमद्वारा प्रजापतेः कारणत्वम् इत्यर्थः।।४५।।

अथ उपास्यस्य प्राणस्य प्रथमप्रश्ने सूर्यादिरूपैः अधिदैवं वर्णितप्रभावस्य अपि अध्यात्मं तत्प्रभावनिर्णयाय द्वितीयप्रश्नमुत्थापयति—अथोपरत इति। तस्मिन् कात्यायन उपरते तूष्णीं भूते सति भार्गवो वैदर्भिः पिप्पलादमपृच्छत्[2]— हे भगवन्! अस्य अध्यात्मसंघातरूपस्य जगतो विधारका धारणकर्त्तारः कति कियन्तो देवाः सन्ति ? तेष्वपि प्रकाशस्य कर्तारः कति सन्ति? तथा एतेषु सर्वेषु पुमान् कीर्त्यतिशयवान्, अत एव श्रेष्ठः कः? एतद् मज्जिज्ञासितमर्थत्रयं वद प्रतिपादय। इति द्वयोरर्थः।।४६-७।।

इस प्रकार अग्नि के रूप हुए उत्तरायण, शुक्ल पक्ष और दिन तथा सोम के रूप हैं दक्षिणायन, कृष्ण पक्ष और रात। इन दोनों का, अग्नि-सोम का समुदाय ही संवत्सर है जो प्रजापति का स्वरूप है। वे संवत्सररूप पूज्य प्रजापति पाँच ऋतुओं से सरूप हैं।(हिमंत और शिशिर को एक ही गिन लेने से ऋतुएँ पाँच हैं जो संवत्सर के रूप का निष्पादन करते हैं।) ऐसे ही बारहों महीने संवत्सररूप प्रजापति के ही अवयव हैं। वे प्रजापति सूर्यरूप से हमेशा उस (कालरूप) चक्र पर रहते हैं जिसके अरे हैं छह ऋतुएँ। स्वर्ग से भी ऊँचे द्युलोक में स्थित वे प्रजापति मेघों के हेतु होने से संसार में प्राणियों के पिता कहे जाते हैं।।४३-४।।

अग्नि-सोमरूप इस महान् प्रजापति का कार्य ही बरसात द्वारा नवीन अन्न के रूप में विकसित होता है। वह अन्न जब जठराग्नि में भली-भाँति पच जाता है तब रेतस् के रूप में परिपक्व होकर नाना प्रकार की प्रजाओं का रूप धारण करता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि सभी प्रजाओं का कारण यह अग्नि-सोम रूप प्रजापति ही है।।४५।। (यहाँ तक प्रथम प्रश्न का निर्णय हुआ।)

उपास्य प्राण के सूर्य आदि रूप बताकर उसका आधिदैविक प्रभाव प्रथम प्रश्न में बताया। अब उसीके आध्यात्मिक (शरीरान्तर्गत) प्रभाव के निर्णयार्थ दूसरा प्रश्न उठ रहा है।

कात्यायन जब अपनी जिज्ञासा मिट जाने से संतोषपूर्वक शांत हो गये तब भार्गव वैदर्भि ने प्रश्न उठाया—'हे भगवन् महामुने! मैं इन तीन बातों को समझना चाहता हूँ—क) अध्यात्म-संघातरूप (अर्थात् व्याष्ट शरीररूप) इस जगत् को धारण करने वाले कितने देवता हैं? ख) उन देवों में भी कितने हैं जो प्रकाश करते हैं? ग) इन सबमें श्रेष्ठ, अतिशय कीर्ति वाला कौन है? इन तीनों विषयों पर आप निर्णय सुनायें।।'४६-७।।

---

१. 'अन्नं वै प्रजापतिस्ततो ह वै तद् रेतस्तस्माद् इमाः प्रजाः प्रजायन्त इति।।१४।। तद्ये ह वै तत्प्रजापतिव्रतं चरंति ते मिथुनमुत्पादयन्ते। तेषामेवैष ब्रह्मलोको येषां तपो ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठितम्।।१५।। तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृतं न माया चेति।।'१६।।

२. 'अथ हैनं भार्गवो वैदर्भिः पप्रच्छ—भगवन्! कत्येव देवाः प्रजां विधारयन्ते? कतर एतत् प्रकाशयन्ते? कः पुनरेषां वरिष्ठः? इति।।'२.१।। पुराणश्लोके विदर्भिरित्यत्र वैदर्भिरित्येव टीकापाठो भाति।

एवमुक्तोऽथ तं प्राह पिप्पलादो मुनीश्वरः। पञ्च भूतानि वागाद्या उक्ता एकादशैव ते।।
प्राणश्च सर्वदेहानां धारकाः परिकीर्तिताः।।४८
ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्चाऽपि तत्प्रकाशस्य हेतवः। विशेषतो मनस्तत्र प्रकाशे कारणं स्मृतम्।।४९
श्रेष्ठो विधारकश्चैष पञ्चवृत्तिर्वपुःस्थितः। प्राणस्तेन विनिर्मुक्ते शरीरे नास्ति धारणम्।।५०
प्राणे सति शरीरेऽस्मिन् वागादिरवतिष्ठते। निर्गच्छन्ति च निर्याते मधुनीवेह मक्षिकाः।।५१
प्रधानमक्षिका तत्र यदि तिष्ठति संस्थितिम्। तदा व्रजेद् व्रजन्त्यां तु संव्रजेद् मक्षिकागणः।।५२
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां वागाद्यैरपि निश्चितम्। विधारकत्वं प्राणस्य ततस्ते कुर्वते स्तुतिम्।।५३

एवमुक्त इति। एवम् उक्तः पृष्टः पिप्पलाद आह[1]—आकाशादीनि पञ्च भूतानि, वागादीनीन्द्रियाणि मनःसहितानि एकादश, सङ्कलने षोडश; सप्तदशः प्राणः; इत्येते सप्तदशदेवाः सर्वशरीराणां धारका इत्यर्थः।।४८।। ज्ञानेन्द्रियाणीति। तेष्वपि ज्ञानेन्द्रियपञ्चकं तदध्यक्षं मनश्च एतानि षट् प्रकाशकानीत्यर्थः।।४९।। श्रेष्ठ इति। एतेषां विधारकाणां मध्य एष श्रेष्ठो यः पञ्चभिर्वृत्तिभिः प्राणापानव्यानोदानसमानाख्यैः रूपैर्वपुषि स्थितः प्राणनामा[2] यतः तेन प्राणेन विमुक्ते देहे धारणं स्थितिर्न दृश्यत इति।।५०।। तत्र[3] हेतुतया इतरेषां स्थितेः प्राणस्थित्यन्वयव्यतिरेकावाह—प्राणे सतीति। अत्र देहे प्राणे सति स्थितिमति वागादिः करणगणस्तिष्ठति, तत्र प्राणे निर्यति सति तु वागादिगणो निर्गच्छति यथा मधुमक्षिका मधुकरराजाख्यस्य श्रेष्ठस्य स्थितिगत्यधीनस्थितिगतिका इत्यर्थः।।५१।। दृष्टान्तमेव स्फुटयति—प्रधानेति। तत्र मधुदेशे यदि प्रधानमक्षिका मधुकरराजाख्या तिष्ठति तदा मक्षिकागणः संस्थितिं व्रजेत्, तस्यां प्रधानमक्षिकायां व्रजन्त्यां सत्यां तु मक्षिकागणो व्रजेदिति।।५२।। अन्वयेति। प्राणस्थितौ चक्षुरादीनां संवत्सरप्रवासेऽपि सञ्जातजीवनमन्वयः प्राणोत्क्रमणप्रक्रमे सर्वेषामाकुलत्वं व्यतिरेकः ताभ्यां श्रुत्युक्ताभ्यां प्राणस्य श्रेष्ठत्वं विधारकत्वरूपं यतो निश्चितं ततस्ते सर्वे देवा चक्षुराद्यभिमानिनः प्राणस्य स्तुतिं वक्ष्यमाणरूपां कुर्वते स्मेत्यर्थः।।५३।।

मुनीश्वर पिप्पलाद ने उत्तर दिया—सारे शरीरों को धारण करने वाले ये सत्रह देवता हैं : १-५) महाभूत, ६-१६) मन-समेत इंद्रियाँ और १७) प्राण।।४८।। इनमें जो ज्ञानेंद्रियाँ और विशेषतः मन हैं—वे छह प्रकाश करने वाले हैं। (मन साधारण और इंद्रियाँ असाधारण कारण बनकर प्रकाश करते हैं। मन को 'विशेषतः' इसलिये कहा कि यदि इंद्रिय प्रकाश न भी करे और मन सचेष्ट हो तो अन्य इंद्रियों का उपयोग कर प्रकाश प्राप्त कर लेता है। अत एव सामान्यतः इंद्रियविषय न बनने वाली चीज़ों को भी योगादि के अभ्यासी अपनी दृष्टि का विषय बना लेते हैं। ऐसे ही आजकल यंत्रों के उपयोग से एक इंद्रिय के योग्य विषय को अन्य इंद्रिय द्वारा जानने का प्रयास किया जाता है। यह सब तभी संभव है जब मन सचेष्ट हो अतः वह ज्ञानात्मक प्रकाश का विशेषतः कारण है।)।।४९।। इन धारण करने वाले देवताओं में श्रेष्ठ है पाँच व्यापारों वाला देहस्थ प्राण क्योंकि वह शरीर छोड़ दे तो अन्य कोई शरीर को धारण नहीं कर सकता। (पाँच व्यापार प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान कहे जाते हैं। अलग-अलग कार्य संपन्न करते समय प्रोण के ही ये पाँचों नाम पड़ जाते है।)।।५०।। (इस प्रकार तीनों विषयों का निर्णय हो गया।)

१. 'तस्मै स होवाच—आकाशो ह वा एष देवो वायुरग्निरापः पृथिवी वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रं च। ते प्रकाश्याभिवदन्ति—वयमेतद् बाणमवष्टभ्य विधारयामः।।'२।।

२. 'तान् वरिष्ठः प्राण उवाच—मा मोहमापद्यथाऽहमेवैतत् पञ्चधाऽऽत्मानं प्रविभज्यैतद् बाणमवष्टभ्य विधारयामीति। तेऽश्रद्दधाना बभूवुः।।३।।'

३. 'सोऽभिमानाद् ऊर्ध्वमुत्क्रमत इव, तस्मिन्नुत्क्रामति, अथेतरे सर्व एव उत्क्रामन्ते, तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्व एव प्रातिष्ठन्ते। तद्यथा मक्षिका मधुकरराजानम् उत्क्रामन्तं सर्वा एवोत्क्रामन्ते तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्वा एव प्रतिष्ठन्त एवं वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रं च ते प्रीताः प्राणं स्तुन्वन्ति।।'४।।

अग्निः सूर्यश्च पर्जन्यो विद्युदादिसमन्वितः। मघवा पञ्चभूतानि सोमोऽपि सदसच्च यत्।।५४
विश्वं त्वमसि तत् सर्वं नाम-रूप-क्रियात्मकम्। त्वय्येव रथचक्रस्य नाभौ यद्वदराः स्थिताः।।५५
चतुर्विधानां भूतानां रूपतस्त्वं प्रजायसे। विराट् हिरण्यगर्भश्च भवानेव न चाऽपरः।।५६
विभूतिमन्ति सत्त्वानि जगत्यस्मिन् हि यानि भोः। स्वधास्वाहान्वितान्यत्र प्राणरूपाणि तानि वै।।५७

'एषोऽग्नि' रित्यादिमन्त्रग्रन्थेन निरूपितां स्तुतिमभिनयति[1]—अग्निरिति षड्भिः। हे प्राण! अग्न्यादिरूपं यद्विश्वं तत्त्वम् एव असि इति सम्बन्धः। तत्र पर्जन्यो वर्षुकोऽब्दः। विद्युदादीत्यादिपदेन अनुकूलवातादिग्रहः। मघवा इन्द्रः। भूतानि पृथिव्यादीनि। सोमो भोग्यलक्षणः। सद् मूर्तम्। असद् अमूर्तम्। चकाराद् अमृतस्य देवभोग्यस्य वेदस्य च ग्रहः। सर्वात्मत्वे हेतुतया सर्वाधारत्वमाह—तत् सर्वमित्यादिना। यतः तत् सर्वं विश्वं त्वय्येव स्थितं यथा रथचक्रावयवे नाभौ अराः स्थिताः तद्वत्। इति द्वयोरर्थः।।५४-५।।

[2]चतुर्विधानामिति। जरायुजादिभेदेन चतुर्विधानां भूतानां प्राणिनां रूपतः स्वरूपैः त्वम् एव जन्म भजसे। तथा श्रुतौ प्रजापतिपदोक्तो विराट् हिरण्यगर्भश्च भवानेव भवतीत्यर्थः।।५६।। [3]विभूतीति। हे प्राण! यानि अत्र लोके विभूतिमन्ति ऐश्वर्यशालीनि सत्त्वानि प्राणिजातानि सन्ति—यथा देवेषु वह्निः, पितृषु नान्दीमुखा, ऋषिषु सत्यपरा, अङ्गिरसामथर्वा इत्यादयः—तानि स्वधा पितृमोदिका, स्वाहा देवमोदिका, एताभ्यां सहितानि तवैव रूपाणि इत्यर्थः।।५७।। [4]सर्वेन्द्रियेति। हे प्राण! या ते तनुः मूर्तिः चक्षुरादिषु बलमादधाना तिष्ठति तां शिवाम्

अन्य देवों की स्थिति प्राण के अधीन है। इस शरीर में प्राण रहते ही वाक् आदि भी रह पाते हैं; प्राण निकलते ही वे भी शरीर छोड़कर चले जाते हैं। जैसे रानी-मक्खी छत्ता छोड़ दे तो सभी मक्खियाँ वहाँ से उड़ जाती हैं ऐसे प्राण द्वारा शरीर त्याग देने पर सब देवता उसका त्याग कर देते हैं। रानी-मक्खी रहते हुए ही बाकी मक्खियाँ छत्ते में रहती हैं, ऐसे ही प्राण शरीर में रहे तभी अन्य देवता (इंद्रियाँ) शरीर में बने रहते हैं।।५१-२।। वाक् आदि ने स्वयं भी अन्वय-व्यतिरेक द्वारा निर्णय किया था कि वास्तव में विधारक (शरीर को धारण करने वाला) तो प्राण ही है अत एव वे उसकी स्तुति करते हैं। (उपनिषत्कथा है : प्रत्येक देवता अपनी महत्ता दिखाकर आपसी स्पर्धा से कहने लगा कि 'मैं ही इस शरीर का विशेषतः धारण करता हूँ।' उनसे मुख्य प्राण ने कहा 'तुम इस भ्रम में मत रहो! विशेषतः धारण तो इसे मैं करता हूँ।' जब देवता नहीं माने तव प्राण उन्हें अनुभव कराने के लिये शरीर से ऊपर उठने लगा। अभी वह निकलने को उद्यत हुआ ही था कि अन्य सभी देव शरीर में रह सकने में असमर्थ हो गये! प्राण ने जैसे ही निकलने की कोशिश छोड़ी वैसे ही अन्य सब देव भी पूर्ववत् स्थित हो गये। यों 'प्राण रहते ही हम रह़ सकते हैं' इस अन्वय एवं 'प्राण के बिना हम नहीं रह सकते' इस व्यतिरेक से देवताओं ने प्राण का महत्त्व निर्धारित कर उसकी स्तुति की।)।।५३।।

स्तुति यों की—'हे प्राण! तुम ही सारा विश्व हो। अग्नि, सूर्य, बिजली आदि समेत सजल मेघ, इंद्र, पृथ्वी आदि पाँच भूत, सारे भोग्यों का रूप लेने वाला सोम, मूर्त, अमूर्त, अमृत, वेद आदि जो कुछ नाम, रूप या क्रिया है वह सब तुम में वैसे ही रहता है जैसे रथ के चक्के की ताड़ियाँ चक्के की नाभि में प्रतिष्ठित होती हैं।।५४-५।। चारों तरह के प्राणियों का रूप लेकर तुम ही पैदा होते हो। विराट् और हिरण्यगर्भ भी तुमसे अन्य नहीं हैं।।५६।।

---

१. 'एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य एष पर्जन्यो मघवानेष वायुरेष पृथिवी रयिर्देवः सदसच्चाऽमृतं च यत्।।५।। अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्। ऋचो यजूंषि सामानि यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च।।'६।।
२. 'प्रजापतिश्चरसि गर्भे त्वमेव प्रतिजायसे। तुभ्यं प्राण! प्रजास्त्विमा बलिं हरन्तिं यः प्राणैः प्रतितिष्ठसि।।'७।।
३. 'देवानामसि वह्नितमः पितॄणां प्रथमा स्वधा। ऋषीणां चरितं सत्यम् अथर्वाङ्गिरसामसि।।८।। इन्द्रस्त्वं प्राण तेजसा रुद्रोऽसि परिरक्षिता। त्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्यस्त्वं ज्योतिषां पतिः।।९।। यदा त्वमभिवर्षस्यथेमाः प्राण ते प्रजाः। आनन्दरूपास्तिष्ठन्ति कामायान्नं भविष्यतीति।।१०।। व्रात्यस्त्वं प्राणैकर्षिरत्ता विश्वस्य सत्पतिः। वयमाद्यस्य दातारः पिता त्वं मातरिश्व नः।।'११।।
४. 'या ते तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे या च चक्षुषि। या च मनसि सन्तता शिवां तां कुरु मोत्क्रमीः।।'१२।।

सर्वेन्द्रियगता या ते तनुः प्राणाऽवतिष्ठते। शिवां तां कुरु ते स्माऽतो मोत्क्रमीः कर्हिचिद् विभो! ।।५८

प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम्। मातेव पुत्रान् रक्ष त्वं श्रियं प्रज्ञां विधेहि नः।।५६

तृतीयप्रश्नः प्राणोत्पत्त्यादिनिर्णायकः

प्राणं श्रेष्ठं विनिश्चित्य तस्मिन्नुपरते सति। आश्वलायननामा स कौशल्यः पृष्टवान् मुनिम्।।६०

भगवन्! पिप्पलादाऽयं कुतः प्राणो विजायते। शरीरे वा कथं गच्छेदात्मानं च कथं हि सः।।
विभज्य सर्वदेहेषु प्राणस्तिष्ठति तद्वद।।६१

केनाऽयमुत्क्रमं गच्छेत् कथं चैष विधारयेत्। बाह्यमाध्यात्मिकं सर्वं जगदेतच्चराचरम्।।६२

अनुकूलपरिणामवतीं कुरु। वयं सर्वे ते त्वदीयाः स्म भवाम अतः अस्मदपराधं क्षमित्वा कदाचिदपि मा उत्क्रमीः उत्क्रमणं मा कुर्वित्यर्थः।।५८।। [1]प्राणस्येदमिति। त्रिदिवे स्वर्गोपलक्षिते लोकत्रये वर्तमानं सर्वं प्राणस्य तव वशे भवति। एवं जानतोऽस्मान् पुत्रान् मातृवद् रक्ष, तथा श्रियं वेदत्रयीरूपां ब्राह्मीं क्षात्रियां हिरण्यादिरूपां विधेहि कुरु, तथा प्रज्ञां सन्मतिमस्माकं कुर्वित्यर्थः।।५६।।

एवं श्रेष्ठत्वेन अवधारितस्य प्राणस्य उपासनां विधातुं तदीयोत्पत्तिस्थित्यादिनिर्णयहेतुं तृतीयं प्रश्नम् अवतारयति—प्राणमिति। तस्मिन् भार्गवे प्राणश्रेष्ठताविनिर्णयेन तूष्णींभूते सति कौशल्य आश्वलायनः तं मुनिम् अपृच्छदिति।।६०।। अमुं[2] प्रश्नं षड्विधम् अभिनयति—भगवन्निति द्वाभ्याम्। प्राणस्य कुत उत्पत्तिः? इति प्रथमः प्रश्नः। स प्राणः शरीरे कथं गच्छेद्, अस्य शरीरेण सम्बन्धे किं निमित्तम्? इति द्वितीयः। स प्राण आत्मानं विभज्य सर्वदेहेषु कथं तिष्ठति? इति तृतीयः इत्यर्थः।।६१।। केनाऽयमिति। तथा अयं प्राणः केन द्वारेण वृत्तिविशेषेण वा निमित्तेन वा उत्क्रमम् अस्माच्छरीराद् निष्क्रमणं गच्छेद्? इति त्रिधा चतुर्थः। एष प्राणो बाह्यम् अधिभूताऽधिदैवरूपं कथं धारयति सम्बद्धय पोषयति? इति पञ्चमः। कथं वाऽध्यात्मं धारयति? इति षष्ठ इत्यर्थः।।६२।।

हे पूज्य प्राण! इस जगत् में जो भी ऐश्वर्यशाली प्राणी हैं तथा स्वाहा और स्वधा सब तुम्हारे ही रूप हैं। (ऐश्वर्यशाली प्राणी जैसे देवताओं में वह्नि, पितरों में नान्दीमुख, ऋषियों में सत्यपर, अंगिरसों में अथर्वा इत्यादि। सत्यपर अर्थात् जिनका विशेष व्रत सत्यनिष्ठा का है। स्वाहा देवताओं को और स्वधा पितरों को तृप्त करने वाली देवियाँ हैं।)।।५७।। हे विभु प्राण! तुम्हारी जो मूर्ति सब इंद्रियों में बल का आधान करते हुए उपस्थित है उसे ऐसा ही बनाये रखो कि हमारे (देवताओं के) अनुकूल रहे। हम सब तुम्हारे ही हैं अतः हमारी ग़लतियाँ माफ करो। कभी उत्क्रमण मत करना (शरीर छोड़कर मत जाना क्योंकि तुम्हारे बिना हम शरीर में रह नहीं सकते और शरीर में रहे बिना हम भोगों से वंचित रह जायेंगे।।५८।। स्वर्गादि त्रिलोकी में वर्तमान जो कुछ है वह सब प्राण के ही वश में है। पुत्रों की जैसे माता रक्षा करती है ऐसे हमारी रक्षा तुम (प्राण) करो। हमें सन्मति दो, वेदरूप ब्राह्मी श्री और स्वर्णादिरूप क्षात्र श्री प्रदान करो।'—यों उन सब देवताओं ने प्राण की स्तुति की। (यहाँ तक द्वितीय प्रश्न का समाधान हुआ।)।।५६।।

यह निर्णय हो जाने पर कि प्राण ही श्रेष्ठ है अब उसकी उपासना का विधान करने के लिये उसकी उत्पत्ति-स्थिति आदि के निर्णयार्थ तीसरा प्रश्न उठता है।

प्राण ही श्रेष्ठ है ऐसा निश्चय कर भार्गव की जिज्ञासा मिट जाने पर कौशल्य आश्वलायन ने मुनि से पूछाः।।६०।। 'भगवन्! पिप्पलाद! मेरी जिज्ञासा के ये छह अंग हैं : १) यह प्राण पैदा किससे होता है? २) इस शरीर से प्राण का

१. 'प्राणस्येदम्' आदिर्यथामन्त्रं श्लोकः, मंत्रे चतुर्थपादः—'..रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञां च विधेहि न इति।।'१३।।
२. 'अथ हैनं कौसल्यश्चाश्वलायनः पप्रच्छ—भगवन्! कुत एष प्राणो जायते? कथमायात्यस्मिञ्शरीरे? आत्मानं वा प्रविभज्य कथं प्रातिष्ठते? केनोत्क्रमते? कथं बाह्यमभिधत्ते? कथमध्यात्मम्? इति।।'३.१।।

एवं पृष्टस्तदा प्राह पिप्पलादोऽथ तं प्रति। अतिप्रश्नान् इमान् यस्मात् पृच्छसि त्वं मुनेऽत्र भोः!
ब्रह्मिष्ठोऽसि ततस्तुभ्यं वक्ष्याम्येतत्त्वयेरितम्।।६३

आत्मनो जायते प्राणः सदा च्छायेव देहतः। मनःकृतैः कर्मभिश्च सर्वदेहमयं व्रजेत्।।६४

मनोऽत्र कुरुते कर्म शुभं वाऽशुभमेव वा। भुंक्ते तदेव निखिलं फलमात्मप्रसादतः।।६५

तस्यैव कर्मणा प्राणः शरीरपरिरक्षकः। शरीरं चाप्नुयान्नित्यमात्मनो यो जनिं गतः।।६६

एवं पृष्ट इति।[1] तम् आश्वलायनम्। अतिप्रश्नान् अन्यदीयप्रश्नमतिक्रान्तान्, अतिसूक्ष्मान् इति यावत्। एतादृशान् इमान् प्राणोत्पत्त्यादिरूपान् अर्थान् भो मुने यतः त्वं पृच्छसि ततो हेतोः अत्र मुनिसमाजे ब्रह्मिष्ठो लक्ष्यसे, अतिशयेन ब्रह्मवान्[2] ब्रह्मपरो ब्रह्मिष्ठः। तुभ्यम् उत्तमाधिकारिणे तत् त्वत्पृष्टमर्थजातं वक्ष्यामि इत्यर्थः।।६३।।

तत्र प्रथमप्रश्नोत्तरमाह[3]—आत्मन इति। यथा देहाच्छाया प्रतिबिम्बादिरूपा दर्पणसान्निध्यादिरूपनिमित्ताज्जायते। तथैव जीवरूपः प्राणः अपि आत्मनः परमार्थसत्याद् बिम्बात् प्रतिबिम्बभूतो जायते। एतेन प्रतिबिम्बस्य बिम्बाद् यथा पृथक्सत्ताहीनत्वेन तन्मात्राश्रितत्वं तथाऽस्य प्राणस्य आत्ममात्राश्रितत्वमिति सूचितम्।

द्वितीयप्रश्नोत्तरं[4] प्रपञ्चयति—मनःकृतैः इत्यादिना पालकइत्यंतग्रंथेन(श्लोक.७४)। अयं जीवरूपः प्राणः तत्तद्देहं यद् व्रजति तेन तेन देहेन यत् सम्बद्ध्यते, तत्र निमित्तभूतानि मनसा विज्ञानात्मकेन कृतानि कर्माण्येवेत्यर्थः।। इयं पूर्वदलटीका।।६४।। तत्र हेतुतया मनस एव कर्तृत्वभोक्तृत्वयोः आधारत्वमाह—मनोऽत्रेति। आत्मनः प्रसादेन प्रतिबिम्बरूपेण चेतनायमानं मन एव अत्र संसारे शुभादिकर्मणां कर्तृ, तत्फलभोक्तृ चेत्यर्थः।।६५।। तस्यैवेति। तस्य मनस एव कार्यभूतेन मानसाख्येन कर्मणा निमित्तेन प्राणः तत्तच्छरीरं व्याप्नोति। कीदृशः? शरीररक्षकत्वेन प्रसिद्धः, यस्य चोत्पत्तिः आत्मन उक्ता।।६६।। ननु शारीरवाचिकयोः अपि कर्मणोः

सम्बंध होने में निमित्त क्या है? ३) वह प्राण स्वयं को बाँट कर सब शरीरों में किस तरह रहता है? ४) यह प्राण इस शरीर से निकलता है तो उसमें द्वार, व्यापार और निमित्त क्या बनते हैं? ५) आधिदैविक और अधिभौतिक रूपों से सम्बद्ध हो उनका पोषण प्राण कैसे करता है? ६) इस सारे आध्यात्मिक चराचर जगत् को यह कैसे धारण करता है?—इस षट्प्रश्नी का उत्तर देने की कृपा करें।'।।६१-२।।

सही मौके पर सही ढंग से पूछे जाने पर पिप्पलाद ने आश्वलायन को प्रोत्साहित करते हुए उसे समझाना आरंभ किया : हे मुनि! अन्य दोनों प्रश्नों की अपेक्षा तुम्हारे प्रश्न अतिसूक्ष्म हैं जिससे व्यक्त होता है कि इन मुनियों में तुम अधिक ब्रह्मवान् हो (अर्थात् श्रेष्ठ ब्रह्मोपासक हो) अतः योग्याधिकारी होने से तुम्हें इस बारे में बताता हूँ।।६३।।

जैसे दर्पणसान्निध्य आदि निमित्तवश देह का प्रतिबिम्ब उत्पन्न हो जाता है वैसे ही परमार्थ सत्य आत्मरूप बिम्ब से प्रतिबिम्बस्थानीय जीवरूप प्राण पैदा हो जाता है। (अतः जैसे बिम्ब से स्वतंत्र प्रतिबिंब की सत्ता नहीं होती वैसे आत्मसत्ता से स्वतंत्र प्राण की कोई सत्ता नहीं। प्राण केवल आत्मा पर आश्रित होने से सत्तावान् है। प्राण का मिथ्यात्व अभिप्रेत है।) यह तो प्रथम प्रश्न का उत्तर हुआ। द्वितीय का उत्तर सुनो : यह जीवरूप प्राण विभिन्न शरीरों तक पहुँचकर उनसे संबद्ध होता है इसमें निमित्त हैं विज्ञानरूप मन से किये कर्म।।६४।। आत्मा का प्रतिबिम्बरूप प्रसाद पाकर चेतन-सा होता मन ही संसार में शुभाशुभ कर्म करता और उनका सारा फल भोगता है।।६५।। मन द्वारा किये कर्मरूप निमित्त से ही परमात्मा से उत्पन्न प्राण उन-उन शरीरों में पहुँचकर उनकी रक्षा करता है।।६६।।

---

१. 'तस्मै स होवाच—अतिप्रश्नान् पृच्छसि। ब्रह्मिष्ठोऽसीति तस्मात्तेऽहं ब्रवीमि।।'२।।

२. 'ब्रह्मवान् + इष्ठन् ('अतिशायने तमबिष्ठनौ') = ब्रह्म+इष्ठन्('विन्मतोर्लुक्') =ब्रह्मिष्ठ ('यस्येति च')।

३. 'आत्मन एष प्राणो जायते। यथैषा पुरुषे छायैतस्मिन्नेतदाततम्।'

४. 'मनोकृतेनाऽऽयात्यस्मिञ्शरीरे।।'३।।

कर्माणि त्रिविधान्यत्र पुण्यपापात्मकान्यपि। देहेन्द्रियमनोहेतुत्रैविध्यात् सर्वदेहिनाम्।।६७
इन्द्रियाणि च देहोऽपि न स्वतन्त्रः कदाचन। कर्म कर्तुं प्रभुः किन्तु मनसा समधिष्ठितः।।६८
अमनस्कस्य यत् कर्म देहेन्द्रियगणस्य च। न तत् पुण्यं च पापं वा शास्त्रेषु परिपठ्यते।।६९
यद्यप्यबुद्धिपूर्वाणां प्रायश्चित्तिर्हि कर्मणाम्। उक्ता तथापि मनसा योगे सत्येव सा भवेत्।।७०
अबुद्धिपूर्वं हि कृतं मयेत्येवं विचार्य सः। मनसा कुरुते पश्चात् प्रायश्चित्तं न चान्यथा।।७१
मनोयोगात्ततस्तस्य पुण्यं पापं च तद् भवेत्। अनुष्ठितमबुद्ध्या यद् नान्यथा कर्हिचित् क्वचित्।७२

संसारनिमित्ततयाऽन्यत्रोक्तेः कथमत्र मानसस्यैव संसारनिमित्ततोच्यते? इति शङ्कते—कर्माणीति। अत्र शास्त्रे देहवाङ्मनोरूपाणां हेतूनां त्रैविध्यात् पुण्यादीनि कर्माणि शारीरादिभेदेन त्रिविधानि एव सर्वेषां प्रसिद्धानीत्यर्थः।।६७।। तथापि कारणप्राधान्यमादाय मानसकर्मणः प्राधान्यमित्याह—इन्द्रियाणीति। इन्द्रियसहितो देहः कर्म कर्तुं स्वतन्त्रो न भवति किन्तु मनसाऽधिष्ठित एव कर्तुं प्रभुः समर्थो भवतीत्यर्थः।।६८।। किं च मनोव्यापारमन्तरा कृते कर्मणि फलारम्भकताऽवच्छेदकस्य पुण्यत्वादेरेव अभावात् कथं संसारहेतुता? इत्याह—अमनस्कस्येति। मनसाऽननुगृहीतस्य देहादेः यत् कर्म तत् पुण्यत्वेन पापत्वेन वा क्वचिदपि नोक्तमित्यर्थः।।६९।। कथं तर्हि मनोव्यापारं विज्ञानमन्तरा कृतानामेव ब्रह्महत्यादीनां प्रायश्चित्तविधिः, विज्ञानकृतानां च प्रायश्चित्तत्रैगुण्यमिति धर्मशास्त्रमर्यादा? इत्याशङ्काम् अनूद्य परिहरति—यद्यपीति। यद्यपि अबुद्धिपूर्वाणाम् आलोचनं विनैव कृतानां पापकर्मणां प्रायश्चित्तिः विहिता तथाऽपि सा प्रायश्चित्तिः मानसव्यापारयोगादेव अनुष्ठीयते, नान्यथेत्यर्थः।।७०।।एतदेव स्फुटयति—अबुद्धीति। सः अबुद्धिपूर्वकारी यदा 'अबुद्धिपूर्वं मया कृतम्' इत्येवं मनसा विचारयति तदैव प्रायश्चित्ताधिकारी भवति नान्यथा तथाऽननुसन्धानेऽपीत्यर्थः।।७१।। मनोयोगादिति। ततो मनोव्यापारं विना प्रायश्चित्ताऽदर्शनाद् यत् कर्म बुद्ध्या[1] ऽनुष्ठितं तद् मनोयोगाद् एव पुण्यतां पापतां वा प्रतिपद्यत इत्यर्थः।।७२।। किञ्च शुद्धात्मनो निर्विकारत्वेन

यद्यपि शास्त्र में बताया गया है कि पुण्य हो या पाप, सब कर्म तीन तरह के होते हैं क्योंकि सब देहधारी जो कर्म करते हैं उनके हेतु तीन हैं--देह, इंद्रियाँ और मन; तथापि इंद्रियाँ और शरीर कर्म करने में स्वतंत्र कभी नहीं होते वरन् मन से भली-भाँति अधिष्ठित हुए ही कर्म कर पाते हैं अतः प्रधान होने से कर्महेतुओं में मन का ही यहाँ उल्लेख किया। (जैसे बिजली के संपर्क के बिना लट्टू, पंखा आदि कुछ नहीं कर पाते ऐसे मनःसंपर्क के बिना इंद्रियाँ-देह; अतः सब कर्म मनःकृत मानना संगत है।)।।६७-८।।

मन के संकल्पादि व्यापार के बिना देह-इंद्रिय द्वारा किया कर्म पुण्य-पापात्मक न होने से कालांतर में फलदायी नहीं होता अतः संसारहेतु नहीं कहा जा सकता।।६९।। यद्यपि बिना समझे किये पापों के प्रायश्चित्त का अलग से विधान है जिससे लगता है कि समझ अर्थात् मन के बिना देहादि से हुए कर्म भी पापोत्पादक होते हैं क्योंकि तभी उस पाप से बचने के लिये प्रायश्चित्त उचित है, तथापि प्रायश्चित्त इसीलिये कर्तव्य है कि उस कर्म से मनःसंबंध हो जाता है।।७०।। तात्पर्य है कि जब कर्ता के मन में वृत्ति बनती है कि 'बिना समझे मैंने यह पाप कर लिया' तब उस पापकर्तृत्व से मन का संबंध हो जाता है और तभी वह प्रायश्चित्त का अधिकारी बनता है। यदि वैसी वृत्ति ही न बने, 'बिना समझे किया' यह भी पता न चले, तब प्रायश्चित्त की भी संभावना नहीं रहती।।७१।। इस प्रकार मन के व्यापार के बिना प्रायश्चित्त का भी प्रसंग न होने से जो कर्म बिना समझे हो गया वह भी मनःसंबंध होने पर ही पुण्य या पाप बन सकता है यह निश्चित है।।७२।। शुद्ध आत्मा निर्विकार है, कर्तृत्व और भोक्तृत्व से असंबद्ध है एवं देहादि परतंत्र बताये ही जा चुके हैं अतः संभव और योग्य होने से पुण्यादि मन में ही स्थित हैं।।७३।। इसलिये पुण्य-पाप

---

१. अबुद्ध्येति लेखनीयम्।

आत्मनो नैव कर्तृत्वं भोक्तृत्वं वाऽपि विद्यते। अविक्रियत्वतस्तस्मात् सर्वं तन्मनसि स्थितम्।।७३
मन एव ततः पापं पुण्यं वा कुरुते सदा। ताभ्यां च सर्वमेवेदं भवेद् देहेन्द्रियादिकम्।।
प्राणोऽपि च ततस्ताभ्यां देहमायाति पालकः।।७४
आत्मानं प्रविभज्यैष पञ्चधा देहसंश्रितः। नियुंक्ते मंत्रिणो यद्वद् राजेन्द्रियगणं तथा।।
तत्र तत्र नियुंक्तेऽसौ प्राणो व्यापारकारकः।।७५
पायूपस्थगतोऽपानः प्राणः सप्तसुषिस्थितः। मूर्द्धन्याधारयोर्मध्ये समानः सर्वदेहगः।।७६
कोट्यो द्वासप्ततिस्तद्वत् सहस्राणि दशैव च। शतमेकाधिकं नाड्यो हृदयस्था हि देहिनाम्।।७७

कर्तृत्वाद्ययोगाद् देहादीनां पारतन्त्र्यस्य उक्तत्वाच्च कर्तृत्वादिभागिनि मनस्येव पुण्यादिकं स्थितमित्याह—आत्मन इति।।७३।। फलितमाह—मन एवेति। ताभ्यां मनःकृतपुण्यपापाभ्यां भवेत् जायेत ततः कर्मवशादेव प्राणः तत्तद्देहेन सम्बद्ध्यत इत्यर्थः।।७४।।

तृतीयप्रश्नोत्तरं[1] प्रपञ्चयति—आत्मानमिति सप्तभिः। एष प्राणो देहसंस्थितः सन्नात्मानं पञ्चधा वक्ष्यमाणैः पञ्चभिः प्रकारैः विभज्य इन्द्रियगणं तत्र तत्र व्यापारे नियुंक्ते प्रेरयति यथा राजा मन्त्रिणः प्रेरयति तद्वत्। कीदृशः प्राणः? क्रियाशक्तिमयत्वेन व्यापारकारक इत्यर्थः।।७५।। प्राणादिभेदांस्तत्स्थानानि[2] चाह—पायूपस्थेति। अपानाख्यः प्राणभेदः पायूपस्थयोः स्थित्वा पुरीषादिविभागं कुर्वन् वर्तते। प्राणः प्रधानभूतस्तु सप्तसु नासिकाश्रवणनयनयुगलमुख-रूपेषु मूर्द्धन्यच्छिद्रेषु तिष्ठति। समानाख्यो भेदस्तु भुक्तपीतसमी कर्तृत्वेन सर्वदेहव्यापकोऽपि मूर्द्धन्यच्छिद्राणाम् आधारचक्रस्य च मध्ये विशेषतस्तिष्ठति इत्यर्थः।।७६।। अथ व्यानाश्रयदेशं वक्तुं तद्भावयोग्यानां नाडीनां परमसंख्यामाह[3]—कोट्य इति। द्वासप्ततिकोटयो दश सहस्राणि एकोत्तरं शतं चेत्येतावत्यो हृदये स्थिता नाड्य इत्यर्थः।।७७।। उक्तसंख्यां वृक्षरूपकेण उपपादयति—एकेति। तत्र तासां नाडीनां मध्ये एका सुषुम्नाख्या नाडी मुख्या

का कर्ता हमेशा मन ही बनता है और उन्हीं पुण्य-पापों से ये सभी देह-इंद्रिय आदि उत्पन्न होते हैं तथा शरीरसंघात का पालनकर्ता प्राण भी उन्हीं के कारण शरीरादि से संबद्ध होता है। अतः मनःकृत कर्मों के कारण ही प्राण का शरीर-सम्बंध है यह संगत है।।७४।। इस प्रकार द्वितीय प्रश्न का निर्णय हुआ।

अब तीसरे प्रश्न का समाधान सुनो : शरीर में निवास करते हुए यह प्राण खुद को पाँच तरह बाँट कर प्रतिष्ठित रहता है। जैसे राजा मंत्रियों को विभिन्न योग्य कार्यों पर नियुक्त कर प्रेरित करता है वैसे क्रियाशक्तिप्रधान होने से समस्त व्यापार कराने वाला प्राण इंद्रियों को उनकी समुचित चेष्टाओं में प्रेरित करता है।।७५।।

जिन पाँच तरह प्राण स्वयं को बाँटता है वह ये हैं—क) अपान नाम धारण कर वह पायु और उपस्थ में रहते हुए मल आदि का विभाजन, निःसारण आदि करता है। ख) प्राण नाम धारण कर वह सिर में होने वाले सात छेदों में रहता है। (नाक के दो, कानों के दो, आँखों के दो और मुख का एक यों सिर में सात छेद हैं। यद्यपि संपूर्ण वृत्तिमान् का भी नाम प्राण है तथापि इन छिद्रों में रहकर सीमित कार्य करने वाले प्रकार का नाम भी प्राण ही है।) ग) समान नाम धारणकर वह खाये-पिये को सर्वत्र समुचित मात्रा में फैला देता है अतः सारे शरीर में व्यापक है, खासकर वह सिर के छेदों और आधार चक्र (मूलाधार) के मध्य में रहता है।।७६।। घ) व्यान नाम धारण कर वह नाडियों में संचार करता है। देहधारियों के हृदय में बहत्तर करोड़ दस हज़ार एक सौ एक नाडियाँ हैं।।७७।। नाडियों में एक (सुषुम्ना)

१. 'यथा सम्राडेवाऽधिकृतान् विनियुङ्क्ते—एतान् ग्रामान्, एतान् ग्रामान् अधितिष्ठस्व—इति; एवमेवैष प्राण इतरान् प्राणान् पृथक् पृथगेव सन्निधत्ते।।'४।।

२. 'पायूपस्थेऽपानं, चक्षुःश्रोत्रे मुखनासिकाभ्यां प्राणः स्वयं प्रातिष्ठते, मध्ये तु समानः। एष ह्येतद्धुतमन्नं समं नयति। तस्मादेताः सप्तार्चिषो भवन्ति।।'५।।

३. 'हृदि ह्येष आत्मा। अत्रैतदेकशतं नाडीनाम्। तासां शतं शतमेकैकस्या द्वासप्ततिर्द्वा सप्ततिः प्रतिशाखानाडीसहस्राणि भवन्त्यासु व्यानश्चरति।।'६।।

एका तत्र तु मुख्या स्यात्तथा स्कन्धा दशापराः । दशानामपि शाखाः स्युः प्रत्येकं नव संख्यया । ।७८
स्कन्धशाखासमेतानां नाडीनां तु शतस्य हि । प्रधाननाडीं हित्वा च प्रत्येकं स्यात् शतं शतम् । ।७६

मूलस्थानीया । तस्या दश नाड्यः स्कन्धभूताः । तासां स्कन्धभूतानां दशानां प्रत्येकस्य नव नव शाखाः स्थूलशाखा या लोके स्कन्धशाखेत्युच्यते तत्स्थानीयाः स्युः इत्यर्थः । ।७८ । । स्कन्धेति । एवं सति प्रधाननाडीं सुषुम्नां विना स्कन्धशाखाभूताभिः नवतिसंख्याभिः सहितानां स्कन्धभूतदशनाडीनां संकलने शतसंख्या भवति । तस्य नाडीशतस्य प्रत्येकं शाखाभूताः शतं शतं नाड्यः स्युरित्यर्थः । तथा च एका मुख्या, शतं स्कन्धशाखारूपा नाड्यो, दशसहस्रं तासां शाखा इति भावः । ।७६ । । प्रत्येकेति । प्रत्येकं शतत्वेन कथितानां तासां शाखाभूतनाडीनां प्रत्येकस्य उपशाखाभूता द्वासप्ततिसहस्रसंख्या नाड्यः स्युरित्यर्थः । तथा च द्वासप्ततिसहस्रसंख्याया दशसहस्रसंख्यया

तो मुख्य है जिसमें से दस स्कंध-सी अन्य नाडियाँ निकलती हैं। उन दसों में से हर-एक की नौ-नौ प्रधान शाखाएँ हैं। इस प्रकार दस स्कंधतुल्य और नब्बे प्रधान शाखाओं को मिलाने से सौ नाडियाँ होती हैं जिनमें हर-एक की सौ-सौ शाखा नाडियाँ होने से कुल शाखा नाडियाँ दस हज़ार हैं। ।७८ । । उक्त सौ-सौ नाडियों में हर-एक की बहत्तर हज़ार उपशाखा नाडियाँ हैं। इस तरह कुल उपशाखा-नाडियाँ बहत्तर करोड़ हैं। अब सभी नाडियों को जोड़ें तो पूर्वोक्त संख्या आ जाती हैं। इसे यों समझें :
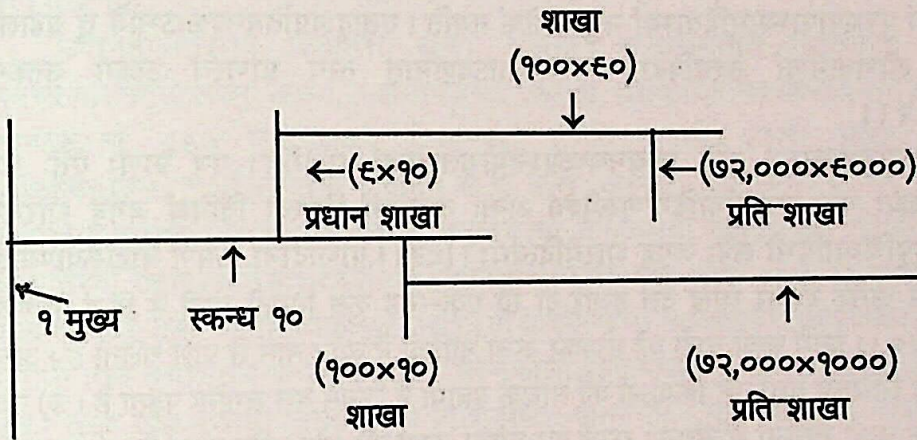
एवं च	मुख्य शाखा	१		
	स्कन्ध शाखाएँ	१०		
	प्रधान शाखाएँ	६०		
	शाखाएँ	१०,०००	(स्कंधशाखाओं की शाखाएँ	१०००
			प्रधान शाखाओं की शाखाएँ	+६०००
				१०,०००
	प्रतिशाखाएँ	७२,००,००,०००	(स्कंधों से निकली शाखाओं की प्रतिशाखाएँ)	७,२०,००,०००
			प्रधान शाखाओं की शाखाओं से निकली प्रतिशाखाएँ)	६४,८०,००,०००
				७२,००,००,०००

कुल ७२,००,१०,१०१

प्रत्येकशतकानान्तु तासां प्रत्येकमेव च। द्वासप्ततिसहस्राणि नाड्यः प्रोक्ता मनीषिभिः।।८०
तासु व्यानश्चरत्येष मुख्यां नाडीं विहाय ताम्। एकयाऽयमुदानोऽयं व्रजत्यूर्ध्वं सदैव सः।।८१
सुखदं पुण्यतो लोकं नयेत् पापाच्च दुःखदम्। सुखदुःखप्रदं तद्वुभाभ्याममपि देहिनः।।
कर्मणैव ततस्तस्य ह्युत्क्रमो देहतः स्मृतः।।८२
एतैः प्राणादिभिर्भेदैश्चक्षुराद्यैश्च सर्वदा। अन्तर्विधारयेदेष आदित्याद्यैश्च बाह्यतः।।८३

गुणने द्वासप्ततिकोटयो भवन्ति इति भावः। एतेन भाष्यटीकायां[1] समस्तनाडीसंख्यायां द्वासप्ततिलक्षाणामेकस्य शतस्य च अधिकत्वेन निर्देशो न युक्तः, मूलभूताया एकस्याः शाखोपशाखासम्बन्धस्य लोकविरोधाद्—इति सूचितम्।।८०।। तास्विति। तासु वर्णितसंख्यासु नाडीषु मुख्याभिन्नासु एष प्राणापानसन्धिरूपत्वेन बलवत्कर्मसाधकत्वेन च श्रुत्यन्तरोक्तो व्यानः चरति वर्तते।

तया[2] सुषुम्नया तु उदान एव चरति यः सदा ऊर्ध्वगमनशील इत्यर्थः। एतेन 'केन द्वारेण, केन वृत्तिविशेषेण वा' इति द्विधा चतुर्थः प्रश्नः समाहितः—सुषुम्ना द्वारेण, उदानवृत्त्या चोत्क्रमणाभिधानात्।।८१।। 'केन निमित्तेन' इति जिज्ञासां शमयन्; सर्वेषां सुषुम्नामार्गेण ब्रह्मलोकगतिर्यतो न भवति तद् दर्शयति—सुखदमिति। अयमुदानो मरणकाले पुण्यतः परिच्छिन्नफलकस्य इष्टापूर्तादिपुण्यस्योदये सुखदं स्वर्गादि लोकं नयति, पापतस्तु दुःखदं नरकं नयति, उभाभ्यां पुण्यपापाभ्यामुदिताभ्यां मनुष्यलोकं नयति। एतादृशप्रतिबन्धकाऽभावे तु ब्रह्मलोकं नयतीति भावः। ततः क्षीणकर्मणां तत्त्वविदाम् उत्क्रमणाऽदर्शनात् तस्य प्राणस्य उत्क्रम उत्क्रमणं कर्मनिमित्तकमेवेत्यर्थः।।८२।।

'कथं बाह्यान्तरविधारकत्वम्?' इति पञ्चमषष्ठप्रश्नयोरुत्तरमाह[3]—एतैरिति। एष प्राणः एतैः उक्तैः प्राणापानसमानव्यानोदानाख्यैः भेदैः चक्षुर्वागादिगौणरूपैश्च अन्तः अध्यात्मं स्थित्वा विविधं जगद् धारयेत्। तथा बाह्यतः बाह्यैः आदित्यपृथिव्यादिमी रूपैः जगद् धारयेदित्यर्थः।।८३।। प्राणादीनां क्रमेण बाह्यरूपाण्याह—

भाष्य के टीकाकार ने बहत्तर करोड़ बहत्तर लाख दस हज़ार दो सौ एक—यह कुल गिनती मानी है किंतु पुराणकार को वह संमत नहीं।)।।७९-८०।। इनमें मुख्य नाडी को छोड़कर अन्य नाडियों में व्यान नाम से प्राण चलता है। अन्यत्र इस व्यान को प्राण-अपान की संधिरूप तथा उन क्रियाओं का साधक बताया है जिनमें बल लगाना पड़ता है। ङ) उदान नाम धारणकर यह मुख्य एक नाडी सुषुम्ना में संचरण करते हुए हमेशा ऊर्ध्व की ओर गति रखता है। (आश्वलायन ने चौथी जिज्ञास में द्वार, व्यापार और निमित्त—तीन जानने की इच्छा व्यक्त की थी। उत्तर में सुषुम्ना को द्वार तथा उदान को व्यापार बता दिया।

अब चौथी जिज्ञासा मिटाने के लिये निमित्त बतायेंगे।)।।८१।। इष्ट-पूर्त आदि से जन्य पुण्य फलोन्मुख हो तो मृत्यु आने पर यह उदान पुर्यष्टक को स्वर्गादि यथाफल लोक में ले जाता है और पाप फलोन्मुख हो तो दुःखद नरक में पहुँचा देता है। यदि फलोन्मुख पुण्य-पाप प्रायः बराबर हों तो मनुष्य लोक में ही रखता है जहाँ सुख-दुःख प्रायः बराबर रहते हैं। यदि ऐसे लोकों की प्राप्ति के लायक कर्म न हों, अत्युत्तम कर्मों सहित उपासना परिपक्व हो चुकी हो तो यह उदान ही जीव को ब्रह्मलोक पहुँचा देता है। जिन तत्त्वज्ञानियों के सारे कर्म बाधाग्नि में जल चुकते हैं उनका तो उत्क्रमण ही नहीं होता। इस प्रकार प्राणप्रधान पुर्यष्टक का एक शरीर से अन्य शरीर में जाने के लिए निमित्त कर्म ही है। (यों चौथी जिज्ञासा का उपशम हो गया।)।।८२।।

---

१. 'तथा च मूल-शाखा-प्रतिशाखानाड्यो मिलित्वा द्वासप्ततिकोटयो द्वासप्ततिलक्षाणि दशसहस्रं शतद्वयम् एका च भवन्ति' इति तद्वाक्यम्।

२. 'अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति पापेन पापम् उभाभ्यामेव मनुष्यलोकम्।।'७।।

३. 'आदित्यो ह वै बाह्यः प्राण उदयत्येष ह्येनं चाक्षुषं प्राणमनुगृह्णानः। पृथिव्यां या देवता सैषा पुरुषस्यापानमवष्टभ्यान्तरा यदाकाशः स समानः, वायुर्व्यानः।।८।।

चक्षुरादित्ययोर्भेदो नैव प्राणस्वरूपयोः। पृथिव्यपानयोस्तद्वद् इहाकाशसमानयोः।
व्यानवाय्वोस्तथैव स्यात्तथा तेजउदानयोः।।८४
तेजस्युपरते यस्माज्ज्ञानोष्मादिस्वरूपिणि। प्राणं प्रयाति जीवोऽयं प्राणो लोकान्तरं नयेत्।।
तेजसोदानरूपेण संयुतोऽत्राम्मयोऽपि च।।८५
अन्ते यश्चेतसाऽनेन संस्कृतः कर्मरूपतः। मानसेनात्मना चैक इन्द्रियैः सङ्गतेन च।।८६

चक्षुरिति। चक्षुष आदित्यस्य च भेदो नास्ति उभयोः प्राणस्वरूपत्वात्, 'तदभिन्नाऽभिन्नस्य तदभिन्नत्वम्' इति न्यायानुगुण्यात्। तथा च प्राणाख्यभेदस्य बाह्यं रूपम् आदित्य इति भावः। तथाऽपानाख्यभेदस्य बाह्यं रूपं पृथिवी, पृथिव्याऽपानाकर्षणदर्शनात्। तथा समानस्य देहमध्यस्थस्य स्वर्गपृथिव्योर्मध्यवर्ती आकाशो बाह्यं रूपं, मध्यवर्तित्वसाम्यात्। तथा व्यानस्य सकलनाडीव्यापकस्य वायुर्बाह्यं रूपं, व्यापकत्वसाम्यात्। तथा उदानस्य तेजो बाह्यं रूपम्, उद्गमनस्वभावसाम्याद् इत्यर्थः। अत्रेदं बोध्यम्— षष्ठोपदर्शितहृदयपञ्चच्छिद्रोपासनायाम् (श्लोक. ११ ४०-१) अपानादेः अग्न्यादिदेवताकत्वम् उक्तं तथापि रूपभेदोपोद्वलितशाखाभेदेन[1] प्रकृतविद्यायाः ततो भेदान्न दोषः।।८४।।

उदानतेजसोरभेद उपपत्तिः श्रुत्या दर्शिता[2] तामभिनयति—तेजसीति। यस्माज्ज्ञानोष्मादिस्वरूपिणि ज्ञानमन्तःकरणवृत्तिरूपम्, ऊष्मा स्पर्शेनोपलभ्या उष्णता, आदिपदेन नेत्रनिमीलनोपलभ्यानां मयूरपिच्छाकाराणां केशोण्ड्रकानां ग्रहः; एवंविधरूपे देहसम्बद्धे तेजसि उपरते शान्ते सति अयं जीवः प्राणं प्रयाति ऊर्ध्वोच्छ्वासरूपप्राणवृत्तिप्रधानो भवति। स च प्राणः अम्मयः 'आपोमयः प्राणः' (छां.६.५.४) इत्यादिश्रुतिषु जलमयत्वेन प्रसिद्धोऽपि अत्र मरणकाले उदानवृत्त्या तेजोरूपया संयुतः सन् लोकान्तरं नयेद् इत्यर्थः। तथा च तेजोव्यतिरेके उदानस्थितेरुच्छेददर्शनाद् उदानतेजसोरभेद इति भावः।।८५।। स प्राणः कं लोकान्तरं नयति? इत्याकांक्षायाम्; तमेव जीवमित्याह—अन्तइति। यो जीवोऽन्ते मरणकालेऽनेन तत्तदर्थाकारेण कर्मरूपतः कर्मानुसारिरूपं परिणामो यस्य तथाभूतेन च चेतसा संस्कृतो मरणकालोद्भूतकर्मवशाद् भाविशरीराकारविज्ञानजन्यसंस्कारवान् इति यावत्। तस्य उत्क्रमणयोग्यताबोधनाय विशिनष्टि—मानसेनेति। पुनः कीदृशो जीवः? इन्द्रियैः सहितेन मानसेन मनसा आत्मना प्राणेन च एकः तादात्म्यापन्नः तं लोकान्तरं प्राणो नयतीति पूर्वेण सम्बन्धः।।८६।।

पाँचवी-छठी जिज्ञासाओं का यह समाधान है : यह प्राण प्राणादि उक्त पाँचों भेदों से एवं चक्षुरादि अपने गौण रूपों से शरीर में रहकर विविध अध्यात्म जगत् को धारण करता है। ऐसे ही प्राण के जो अधिदैव आदित्य, पृथ्वी आदि रूप हैं उनसे यह बाह्य जगत् को धारण करता है।।८३।। क्योंकि दोनों प्राण के ही स्वरूप हैं इसलिये चक्षु और आदित्य में भेद नहीं है। प्राण का ही अध्यात्मरूप चक्षु और अधिदैवरूप आदित्य है। ऐसे ही अपान और पृथ्वी में, समान और आकाश में, व्यान और बाहरी वायु में तथा उदान और तेज में भेद नहीं है।(पृथ्वी-अपान के अभेद का निश्चय इससे संभव है कि पृथ्वी अपान को आकर्षित करती है अत एव प्राणी पृथ्वी से चिपका रहता है। समान और आकाश में तुल्यता है—समान सारे शरीर में फैला है और आकाश भी स्वर्ग-पृथ्वी के बीच फैला है। जैसे वायु सर्वत्र व्यापक है ऐसे व्यान सब नाडियों में व्यापक है। ऊपर उठने का स्वभाव तेज और उदान में एक-सा है।)।।८४।।

और भी हेतु है कि उदान व तेज को एक ही समझना चाहिये : शरीर में ज्ञान, गर्मी आदि जिसका स्वरूप है वह तेज जब शांत हो जाता है, शरीर ठंडा पड़ने लगता है, तब यह जीव प्राण में सिमट जाता है, अन्य अंगों से हटकर ऊपर-ऊपर चलते प्राण में ही जीव (पुर्यष्टक) एकत्र हो जाता है। जलमय रूप से प्रसिद्ध वह प्राण मृत्युकाल आने पर

१. 'नाना शब्दादिभेदात्' (ब्र.सू. ३.३.५८) सूत्रमत्र मानम्।
२. 'तेजो ह वा उदानः। तस्माद् उपशान्ततेजाः पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि सम्पद्यमानैः।।९।। यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति प्राणस्तेजसा युक्तः सहात्मना यथासङ्कल्पितं लोकं नयति।।'१०।।

प्राणमेवं मयोक्तं यो जानीयात् पुरुषः सदा। तस्य विद्यादिरूपेयं सन्ततिर्न प्रहीयते।।८७

अमृतश्चात्मविज्ञानात् प्राणविद्यासमुत्थितात्। भवेद् दुःखं यतो भूयो न व्रजेत् कर्हिचित् क्वचित्।।८८

चतुर्थप्रश्नः परविद्याविषयः

अथ तस्मिन्नुपरते गार्ग्यः सौर्यायणिर्वचः। इदमाह विनीतात्मा पिप्पलादं मुनीश्वरम्।।८९

[1]उक्तविज्ञानफलमाह–प्राणमिति। परमात्मन उत्पन्नः, कर्माधीनशरीरसम्बद्धः, तत्तत्स्थानेषु स्थितः, सकलाध्यक्षः, अधिदैवमध्यात्मं च सर्वसम्बद्धः प्राणोऽस्मि–इति एवं यः प्राणम् उपास्ते तस्य विद्यारूपः शिष्यपरम्परात्मकः, जन्मरूपः पुत्रपौत्राद्यात्मकश्च वंशो न विनश्यतीत्यर्थः।।८७।। अमृतश्चेति। तथा प्राणोपासनया चित्तशुद्धिद्वारा जनिताद् आत्मविज्ञानाद् अमृतश्च भवति यतः पुनः संसारदुःखं न व्रजतीत्यर्थः।।८८।। एवं सगुणविद्याविषयः प्रश्नत्रयेणोक्तः।

अथ निर्गुणविद्यागोचरमवधारयितुं चतुर्थं प्रश्नं[2] पञ्चविधम् अवतारयति–अथ तस्मिन्निति। तस्मिन् आश्वलायन उपरते तूष्णीं भूते सति सौर्यायणिर्गार्ग्यः पिप्पलादं प्रति इदं वक्ष्यमाणजातीयं प्रश्नपञ्चकरूपं वच आह इत्यर्थः।।८९।।

तेजोरूप उदानवृत्ति से मिलकर (अर्थात् उसे प्रधानकर) जीव को शरीर से निकाल कर अन्य लोक में (या अन्य शरीर में) ले जाता है। अतः क्योंकि शरीर में ऊष्मा समाप्त होने पर उदान रह नहीं पाता इसलिये दोनों का अभेद मानना संगत है।।८५।। प्राण शरीर से निकालकर अन्य भोगायतन में ले जाता है जीव को। मरणकाल में चित्त वैसा आकार ग्रहण करता है जैसा अगले जन्म में भोगने के लिये उपयोगी है और उसके इस आकारग्रहण में निमित्त बनते हैं फलोन्मुख कर्म। मरते समय जीव में वह संस्कार रहता है जो भावी शरीर के आकार के विज्ञान से पड़ा है; वह विज्ञान उन कर्मों के कारण होता है जो मृत्यु के समय आगे ले जाने के लिये फलोन्मुख हुए हैं। इंद्रियों समेत मन और प्राण से जीव एक-मेक हुआ रहता है अतः उसे लोकांतर ले जाते समय इंद्रियादि भी साथ जाते हैं। (इंद्रियाँ, मन, प्राण, महाभूत, अविद्या, काम, कर्म–ये सब जीव के साथ जाते हैं। महाभूत तो इंद्रियादि के उपादान होने से जाते हैं। कामना मन में रहने से जाती है। अविद्या का जाना यही है कि जहाँ भी मन जायेगा वहाँ अविद्या रहेगी ही; जैसे घटाकाश *जाता* है ऐसे अविद्या जाती है। मनोवच्छिन्न अविद्या में ही कर्म रहते हैं–क्योंकि सिद्धांत में कर्म ईश्वरोपाधि में पड़े संस्कार हैं और कर्तृभोक्तृत्व-सामानाधिकरण्य की व्यवस्थार्थ वे संस्कार मनोवच्छिन्न ईश्वरोपाधि में रहते हैं–अतः मन जाने से कर्म भी *जाते* हैं। एवं च मुख्य गति इंद्रिय-मन-प्राण में ही है।)।।८६।।

जो प्राण की यों उपासना करता है कि 'मैं वह प्राण हूँ जो परमात्मा से उत्पन्न है, कर्माधीन हुआ शरीर से संबद्ध है, शरीर में विशिष्ट स्थानों पर कार्यरत है, सबका अध्यक्ष है, अध्यात्म और अधिदैव सर्वत्र संबंध वाला है', उस उपासक का विद्यावंश और पुत्रादि वंश नष्ट नहीं होता।।८७।। प्राणोपासना से उसका चित्त शुद्ध हो जाने पर उसे आत्मसाक्षात्कार भी मिल जाता है जिससे वह अमृत हो जाता है, फिर कभी कहीं संसारदुःख नहीं महसूस करता।।८८।। (इस प्रकार उपनिषत् के तीन प्रश्नों का व्याख्यान हुआ जिनमें सगुण विद्या का प्रसंग है। अब निर्गुणविद्या का प्रसंग उठेगा।)

आश्वलायन के चुप हो जाने पर विनयशील सौर्यायणि गार्ग्य ने मुनीश्वर पिप्पलाद से पूछा–।।८९।।

---

१. 'य एवं विद्वान् प्राणं वेद न हास्य प्रजा हीयतेऽमृतो भवति तदेष श्लोकः।।११।। उत्पत्तिमायतिं स्थानं विभुत्वं चैव पञ्चधा अध्यात्मं चैव प्राणस्य विज्ञायामृतमश्नुते विज्ञायामृतमश्नुत इति।।'१२।।

२. 'अथ हैनं सौर्यायणी गार्ग्यः पप्रच्छ–भगवन्नेतस्मिन् पुरुषे कानि स्वपन्ति? कान्यस्मिञ्जाग्रति? कतर एष देवः स्वप्नान्पश्यति? कस्यैतत् सुखं भवति? कस्मिन्नु सर्वे सम्प्रतिष्ठिता भवन्ति? इति।।'५.१

स्वपन्ति कानि वपुषि कानि जाग्रति सर्वदा। स्वप्नान् पश्येच्च कतरो देवः कश्च सुखं व्रजेत्।।
प्राणादिकाश्च सर्वेऽमी आधारे कुत्र तर्हि वै।।९०

एवं पृष्टस्तदा तेन पिप्पलादस्तमब्रवीत्। चक्षुरादीनि सर्वाणि स्वपन्ति स्वप्नदर्शने।।
गत्वैकतां मनस्यत्र सुषुप्तौ समनांस्यपि।।९१

प्राणापानादयः पञ्च जाग्रत्यग्निसमन्विताः। पच्यते शयने यस्मादन्नं जठरसंस्थितम्।।९२

पञ्चविधं प्रश्नमेवाऽभिनयति—स्वपन्तीति। कानि स्वपन्ति व्यापारोपरमरूपशयनस्याश्रयाः के? इति प्रथमप्रश्नः। अस्य प्रयोजनं जाग्रदाश्रयनिर्णयः, यद्व्यापारोपरमे जाग्रन्निवृत्तिरूपं शयनं तस्यैव जाग्रदाश्रयताया अर्थसिद्धत्वात्। एवं कानि जाग्रति सदा स्वव्यापारारूढानि? इति द्वितीयप्रश्नः। अस्य प्रयोजनं शरीररक्षकनिर्णयः, सदा सावधानस्यैव रक्षकत्वयोगात्। स्वप्नान् कः पश्येद् इति तृतीयः प्रश्नः स्वप्नावस्थाश्रयनिर्णयफलकः, स्वप्नावस्थायां सावधानस्यैव तदाश्रयत्वयोगात्। तथा सुखं सुषुप्तिकालिकं को व्रजति भुंक्ते इति चतुर्थः प्रश्नः सुषुप्त्यवस्थाश्रयनिर्णयाय। तथा तर्हि सुषुप्तिकाले सर्वेऽमी प्राणादयः कुत्र कस्मिन् आधारे तिष्ठन्ति इति पञ्चमः प्रश्नः तुरीयस्याक्षरस्य निर्णयार्थः। इति विभागः।।९०।।

एषां क्रमेण उत्तराणि पिप्पलाद उक्तवान्[1] इत्याह—एवं पृष्ट इति। तं गार्ग्यं। स्वप्नदर्शने स्वप्नावस्थायां चक्षुरादीनि दशेन्द्रियाणि मनसा सह एकतां तादात्म्यं गत्वा स्वपन्ति निवृत्तव्यापाराणि भवन्ति। सुषुप्तौ तु समनांसि तानि स्वपन्ति; तथा चेन्द्रियविशिष्टं मनो जाग्रदवस्थाया आश्रय इति भावः।।९१।।

कानि जाग्रति? इति द्वितीयं समाधत्ते[2]—प्राणेति। प्राणापानव्यानोदानसमानाख्याः पञ्च प्राणभेदाः अग्निना जाठरेण सहिता अत एवाऽग्निभावापन्ना इति यावत्, ते सुषुप्तौ जाग्रति। यतस्तदानीं भुक्तम् अन्नं पच्यत इत्यर्थः। तथा च त एव शरीररक्षका इति भावः।।९२।। अत्र विदुषः सुप्तस्याऽपि श्रौताग्निहोत्रसम्पत्तिः श्रुत्या

हे भगवन्! मेरे प्रश्न में पाँच जिज्ञासाएँ हैं: १) देहद्वयसंघात में सोने वाले कौन हैं? (व्यापार से उपरत होना शयन हैं, उस शयन के आश्रय कौन बनते हैं? इस जिज्ञासा का प्रयोजन है यह निर्णय करना कि जाग्रत् का आश्रय कौन है क्योंकि जिसके व्यापार रुकने से जाग्रत् समाप्त होता है वही जाग्रत् का आश्रय होगा। अर्थात् जाग्रदादि अवस्थाएँ आत्मा की हैं या उपाधि की, यह निर्धारण अभिप्रेत है।) २) (उक्त संघात में) हमेशा कौन जगते हैं? (कौन अपना व्यापार कभी नहीं छोड़ते? इससे शरीररक्षक का निर्णय हो जायेगा। आत्मा को देहरक्षा करनी पड़ती है या इसके लिये भी संघात में कोई अन्तर्निहित व्यवस्था है? इससे संघात के बारे में ही सोचते रहना रूप मोह छोड़ा जा सकेगा।) ३) (शरीर, प्राण, मन आदि में से) कौन-सा देव स्वप्न देखता है? (इससे पता चलेगा कि स्वप्नावस्था भी आत्मा की नहीं है।) ४) (सुषुप्ति में होने वाला) सुख कौन भोगता है? (इससे आत्मा उस अवस्था से निर्मुक्त निर्धारित हो जायेगा।) ५) सुषुप्ति के समय ये सभी प्राणादि किस आधार में रहते हैं? (इससे अवस्थात्रय की अपेक्षा चौथे अक्षर-तत्त्व का निर्धारण होगा।) —इन पाँच जिज्ञासाओं को शांत करने की कृपा करें।।९०।।

---

१. 'तस्मै स होवाच—यथा गार्ग्य! मरीचयोऽर्कस्याऽस्तं गच्छतः सर्वा एतस्मिँस्तेजोमण्डल एकी भवन्ति, ताः पुनः पुनरुदयतः प्रचरन्ति; एवं ह वै तत्सर्वं परे देवे मनस्येकी भवति। तेन तर्ह्येष पुरुषो न शृणोति न पश्यति न जिघ्रति न रसयते न स्पृशते नाभिवदते नाऽऽदत्ते नाऽऽनन्दयते न विसृजते नेयायते, स्वपितीत्याचक्षते।।'२।।

२. 'प्राणाग्नय एवैतस्मिन्पुरे जाग्रति। गार्हपत्यो ह वा एषोऽपानो व्यानोऽन्वाहार्यपचनो यद्गार्हपत्यात्प्रणीयते प्रणयनादाहवनीयः प्राणः।।३।। यदुच्छ्वासनिःश्वासावेतावाहुती समं नयतीति स समानः। मनो ह वाव यजमानः। इष्टफलमेवोदानः स एनं यजमानमहरहर्ब्रह्म गमयति।।'४।।

प्राण आहवनीयाख्यो गार्हपत्योऽप्यपानकः। व्यानोऽन्वाहार्यपचनः समानोऽपि समोऽग्निषु।।९३

उच्छ्वासमपि निःश्वासमाहुती यन्नयेदयम्। समे अस्याऽग्निहोत्रस्य ह्युदानः फलमीरितः।।९४

दर्शिता तामभिनयति—प्राण इति। अग्निहोत्रिणां गार्हपत्याख्योऽग्निः ध्रुवः। आहवनीयस्तु होमार्थं गार्हपत्यात् प्रणीयते, उद्धृत्य प्रज्वाल्यत इति प्रसिद्धम्। तथा प्रकृतेऽपानाद् अन्तःप्रविशद्वायुरूपात् प्राणो बहिर्गच्छद्वायुरूपः प्रणीयते, उद्ध्रियत इति यावत्। अनेन साधर्म्येण प्राणाख्यो भेदः आहवनीयाग्निरूपः। अपानः तु गार्हपत्याग्निरूपः। तथा व्यानाख्यो भेदः अन्वाहार्यपचनः, अन्वाहार्यम् ओदनविशेषः स पच्यतेऽस्मिन्निति व्युत्पत्त्या दक्षिणाग्निः, तद्रूपो व्यानाख्यभेदः, दक्षिणतः स्थितत्वसाम्यात्, यथा दक्षिणाग्निर्हि दक्षिणतः कुण्डे स्थितस्तथा व्यानोऽपि हृदयपञ्चच्छिद्राणां मध्ये दक्षिणच्छिद्रे स्थित इति भावः। समानाख्यो भेदस्तु अग्निषु गार्हपत्यादिषु समः पक्षपातरहितो होता बोध्यः। यजमाने कार्यान्तरव्यग्रे यजमानप्रतिनिधित्वेन शिष्यादिर्होता प्रसिद्धः तत्स्थानीयोऽत्र समान इत्यर्थः।।९३।। तत्र हेतुमाह—उच्छ्वासमिति। यद् यस्माद् अयं समान उच्छ्वासनिःश्वासरूपे द्वे आहुती समे उत्कर्षापकर्षहीने नयेत् प्रापयेद् इत्यर्थः। पञ्चमो भेद उदानः तु अस्य विद्वत्सम्बन्धिनोऽग्निहोत्रस्य फलरूपः। प्रसिद्धाग्निहोत्रेऽपि फललाभस्य उदानसाध्येन उत्क्रमणे लभ्यत्वाद् इति भावः।।९४।। प्रकृताग्निहोत्रस्य

आचार्य पिप्पलाद ने इन विवेकफलक प्रश्नों का उत्तर देना आरंभ किया: १) स्वप्नावस्था आने पर दसों इंद्रियाँ मन से अभेद पाकर अपने व्यापारों से निवृत्त हो जाती हैं अतः उस समय इंद्रियाँ सोती हैं। सुषुप्ति में तो मन-समेत वे सब सोती हैं अर्थात् तब मन भी सो जाता है। (एवं च जाग्रदवस्था का आश्रय इंद्रियों से विशिष्ट मन ही है, आत्मा का उस अवस्था से साक्षात् संबंध नहीं यह पता चल गया।)।।९१।। २) जाठर-अग्नि समेत प्राण-अपान आदि पाँचों प्राणवृत्तियाँ हमेशा जगती हैं, स्वप्न-सुषुप्ति में भी जगी रहती हैं। अत एव पेट में पड़ा अन्न सोते समय भी पचता रहता है। (शरीर जीवित रहे इसके लिये आवश्यक सभी क्रिया-प्रक्रियायें तीनों अवस्थाओं में सदा चलाते रहने वाला पंचवृत्ति प्राण ही है, वही शरीरसंघात का रक्षक, प्रहरी है। हम व्यर्थ अभिमान ही रखते हैं कि हम शरीर के रक्षक हैं! सुषुप्ति आदि में हमें कुछ भान न रहने पर भी जो शरीर सुरक्षित रखता है वह प्राण ही जाग्रदादि में भी उसका रक्षक है न कि हम।)।।९२।।

(उपनिषत् में पिप्पलाद ने प्रसंगवश बताया है कि विद्वान् जब सो जाता है तब भी उसका श्रौत अग्निहोत्र चलता रहता है। विद्वान् अर्थात् उपासक तथा मुख्य आत्मज्ञानी भी, क्योंकि आत्मवेत्ता की प्रशंसार्थ यह प्रसंग यहाँ रखा है ऐसा भाष्यादि का अभिप्राय है। श्रौत अग्निहोत्र में तीन अग्नियों की ज़रूरत रहती है। एक है गार्हपत्य जो वृत्ताकार कुण्ड में हमेशा सुलगती रहती है। होमकाल में उक्त गार्हपत्य से थोड़ी-सी आग लेकर पूर्व दिशा में बने वर्गाकार कुण्ड में जो अग्नि संपन्न की जाती है जिसमें आहुतियाँ दी जाती हैं वह आहवनीय अग्नि हैं। गार्हपत्य से ही अग्नि लेकर दक्षिण की ओर अर्धवृत्त के आकार के कुण्ड में अग्नि जलाकर उसमें दक्षिणार्थ चावल गर्म करते हैं, वह अग्नि दक्षिणाग्नि या अन्वाहार्यपचन कही जाती है। गार्हपत्य से अग्नि ले जाने का नाम प्रणयन है। जब यजमान किसी अन्य कार्य में फँस जाये तब यथाकाल अग्निसेवा में उसका प्रतिनिधि बनकर उसके शिष्यादि उपस्थित होते हैं जिन्हें 'होता' कहते हैं। ये सभी अंगादि प्राणों से संपन्न हो जाने के कारण विद्वान् का अग्निहोत्र कभी लुप्त नहीं होता। यह पुराणकार बताते हैं—) प्राण आहवनीय नामक अग्नि है, अपान गार्हपत्य अग्नि है, व्यान अन्वाहार्यपचन अग्नि है तथा समान सब अग्नियों के प्रति समभाव रखने वाला 'होता' है। (अंदर घुसती हवा अपान है, बाहर जाती प्राण है, इस दृष्टि से कहा जाता है कि अपान से प्राण का 'प्रणयन' हुआ जैसे गार्हपत्य से आहवनीय का प्रणयन होता है। व्यान को दक्षिणाग्नि-स्थानापन्न इसलिये कहा कि हृदय के पाँच छिद्रों में व्यान के लिये दक्षिण छिद्र नियत है, जैसा अध्याय ६. श्लोक.११४० के व्याख्यान में देख चुके हैं। 'होता' ऋत्विक् जैसे समान रूप से सभी अग्नियों का ख्याल रखता है वैसे ही समान वायु शरीर भर में समान भाव से अन्नरस पहुँचाती है। किं च—) क्योंकि यह समान वायु श्वास-प्रश्वासरूप

यजमानो मनस्तत्र सुषुप्तौ तमहर्निशम्। प्राणाग्नयो ब्रह्मलोके गमयन्ति हृदम्बुजे।।६५
मन एव ततः स्वात्मचैतन्यपरिदीपितम्। पश्येत् स्वप्नं सुखं गच्छेत् सुप्तौ संसारवत्स्थितम्।।६६
मनःस्थितोऽयमात्माऽयं चैतन्यवपुरीरितः। प्राणादिकं जगत्सर्वं तस्मिन्नेवावतिष्ठते।।६७

यजमानमाह—यजमान इति। तत्र प्राणाग्निसाध्येऽग्निहोत्रे मन एव यजमानस्थानीयं यतः तं मनोरूपयजमानं प्राणरूपा अग्नयो दिवा रात्रौ वा जातायां सुषुप्तौ हृदम्बुजमध्यस्थं ब्रह्मलोकरूपं स्वर्गं नयन्ति, प्रसिद्धाग्निहोत्रफलमपि अग्निभिर्दीयत इति प्रसिद्धं मुण्डके (१.२.५)।।६५।।

फलितं तृतीयचतुर्थप्रश्नयोरुत्तरमाह[1]—मन एवेति। यतः स्वप्नावस्थायां मनो जाग्रद् उक्तं, सुषुप्तौ च यजमानस्थानीयं, ततो मन एव चित्प्रतिबिम्बवशाद् देदीप्यमानं सत् स्वप्नान् पश्येत् स्वप्नावस्थाश्रयः[2], तथा सुषुप्तिकालिकं सुखं पश्येत् सूक्ष्मरूपेण सुषुप्तेरप्याश्रयः यतस्तदानीं संसारवत् स्पष्टसंसाराऽनुपलम्भेऽपि तद्बीजरूपेण स्थितम् इत्यर्थः।।६६।।

पञ्चमं प्रश्नं समाधत्ते[3]—मनःस्थित इत्यादिना। मनसि स्थितः प्रतिबिम्बरूपेण अनुगतः चैतन्यलक्षणश्च य आत्मा स एव प्राणादिकस्य सर्वस्य जगत आधार इत्यर्थः।।६७।। एतदेव स्फुटयति—वासेति द्वाभ्याम्। यथा दो आहुतियाँ बिना कमो-बेश के चलाता रहता है (इसलिये यह 'होता' है। 'होता' को भी अग्निहोत्र में दो ही आहुतियाँ अर्पित करनी पड़ती हैं)। विद्वान् के इस सहज अग्निहोत्र में फलस्थानीय उदान है (क्योंकि प्रसिद्ध अग्निहोत्र के फल की प्राप्ति भी उदान से किये जाने वाले उत्क्रमण के बाद ही होती है)।।६३-४।।

प्राणरूप अग्नियों से सम्पाद्य अग्निहोत्र का यमजान मन है। जैसे बाह्य अग्नियाँ ही यजमान को स्वर्ग ले जाती हैं वैसे प्राणरूप अग्नियाँ ही सुषुप्तिकाल में यजमान को हृदयपद्मस्थ ब्रह्मलोक पहुँचा देती हैं।।६५।। (यहाँ तक प्रासंगिक प्राणसाध्य अग्निहोत्र बताया।)

इस प्रकार ३) तीसरे प्रश्न का उत्तर हुआ कि स्वात्मा के चैतन्य से अन्वित हुआ मन ही सपने देखता है। मन ही स्वप्नावस्था का आश्रय है। वह स्वप्न के समय जगा रहता है केवल इंद्रियाँ तब सोती हैं। मन क्योंकि आत्मतादात्म्य पाये रहता है अतः स्वप्न के पदार्थ देखने में सक्षम है। मन से तादात्म्य पाया आत्मा ही जीव है अतः जीव की स्वप्नावस्था प्रसिद्ध है किंतु क्योंकि मन रूप उपाधि के बिना इस अवस्था की संभावना नहीं इसलिये यह आत्मा से संबद्ध नहीं वरन् औपाधिक ही है।

तथा ४) चौथे प्रश्न का उत्तर हुआ कि सुषुप्ति में सुख भी मन ही भोगता है। सूक्ष्म रूप से स्थित मन ही सुषुप्ति का आश्रय है। यद्यपि उस अवस्था में संसार की स्पष्ट उपलब्धि नहीं होती तथापि संसार के सारे बीज बने ही रहते हैं अतः मन भी बीजरूप से बना ही रहता है। वह बीजावस्थ मन—जिसे आनंदमयकोश भी कहते हैं—ही सुषुप्ति भोगता है न कि शुद्ध आत्मा। (विवरणादि में मोक्षपर्यंत जीव की स्थिति स्पष्ट की है। मन-शब्द जीवोपाधिपरक है। जो कोई भी जीव के लिये अनिवार्य उपाधि है वह मोक्षपर्यंत रहती है और उससे उपहित होने पर ही अवस्थाएँ संभव हैं, आत्ममात्र की कोई अवस्था संभव नहीं।)।।६६।।

---

१. 'अत्रैष देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति। यद् दृष्टं दृष्टमनुपश्यति श्रुतं श्रुतमेवार्थमनुशृणोति देशदिगन्तरैश्च प्रत्यनुभूतं पुनःपुनः प्रत्यनुभवति दृष्टं चाऽदृष्टं च श्रुतं चाऽश्रुतं चानुभूतं चाननुभूतं च सच्चासच्च सर्वं पश्यति सर्वः पश्यति।।'५।।
२. 'स यदा तेजसाऽभिभूतो भवति अत्रैष देवः स्वप्नान्न पश्यति अथ तदैतस्मिञ्शरीर एतत्सुखं भवति।।'६।।
३. 'स यथा सोम्य! वयांसि वासोवृक्षं सम्प्रतिष्ठन्ते, एवं ह वै तत् सर्वं पर आत्मनि सम्प्रतिष्ठते।।७।। पृथिवी च पृथिवीमात्रा चापश्चापोमात्रा च तेजश्च तेजोमात्रा च वायुश्च वायुमात्रा चाऽऽकाशश्चाकाशमात्रा च चक्षुश्च द्रष्टव्यं च श्रोत्रं च श्रोतव्यं च घ्राणं च घ्रातव्यं च रसश्च रसयितव्यं च त्वक्च स्पर्शयितव्यं च वाक्च वक्तव्यं च हस्तौ चाऽऽदातव्यं चोपस्थश्चानन्दयितव्यं च पायुश्च विसर्जयितव्यं च पादौ च गन्तव्यं च मनश्च मन्तव्यं च बुद्धिश्च बोद्धव्यं चाऽहङ्कारश्चाऽहङ्कर्तव्यं च चित्तं च चेतयितव्यं च तेजश्च विद्योतयितव्यं च प्राणश्च विधारयितव्यं च।।'८।।

वासवृक्षे यथा लोके पक्षिणोऽनेकदिग्गताः। पृथिव्यादीनि भूतानि गुणैः सर्वैर्निजैः सह।।९८
चक्षुरादीन्यपि तदा ज्ञानकर्मेन्द्रियाणि हि। चतुर्विधान्तःकरणं प्राणाः पञ्चविधा अपि।।९९
स जीव इन्द्रियादीनां व्यापारैरपि संयुतः। आत्मन्यत्र स्थितः सोऽयमिन्द्रियैर्विविधैरपि।।१००
व्यापाराणां हि सर्वेषां कर्त्ता भेदविवर्जितः। द्रष्टृत्वादिगुणो जीवसंज्ञोऽपि परमेश्वरः।।१०१
यस्त्वेवं पुरुषं सन्तं मानसं सर्वसंश्रयम्। स्थूलसूक्ष्मशरीराभ्यां रहितं माययाऽपि च।।१०२
अक्षरं स्वप्रकाशाख्यमानन्दात्मानमीश्वरम्। जानीते स तु सर्वं हि सामान्याच्च विशेषतः।।
जानीते संसृतेस्तापाद्विमुक्तश्च भवेत् सदा।।१०३
यत्र जीवस्तथा प्राणा भूतेन्द्रियसमन्विताः। स्थिता यो वेद तं गच्छेत् सर्ववित् स परं पदम्।।१०४

लोके सायंकालेऽनेकदिग्गताः पक्षिणो वासयोग्ये महति वृक्षे तिष्ठन्ति तथा पञ्चभूतानि तद्गुणा गन्धादयश्च चक्षुरादीनि दशेन्द्रियाणि, चतुर्विधमन्तःकरणं, पञ्च प्राणाः च एते पदार्थाः सपरिकरा उक्तात्मन्यवतिष्ठन्ते। इति द्वयोरर्थः।।९८-९।। न केवलं जडप्रपञ्च एवाऽत्र स्थितः किन्तु विशिष्टरूपेण जीवोऽपीत्याह[1]—स जीव इति। इन्द्रियान्तःकरणप्राणानां व्यापारैः विशिष्टरूपेण जीवोऽप्यत्राऽऽत्मनि स्थित इत्यर्थः। वस्तुतस्तु तस्य परेणैक्यमेवेत्याह—सोऽयमित्यादिना। सोऽयम् आत्मा विविधैरिन्द्रियैः सह मिलित्वा व्यापाराणां दर्शनादीनां कर्तृत्वाद् द्रष्टृत्व-स्प्रष्टृत्वश्रोतृत्वादिगुणकः सन् जीवसंज्ञोऽपि वस्तुतः परमेश्वरः यतो विज्ञानरूपेण भेदवर्जितः। इति द्वयोरर्थः।।१००-१।। उक्तविज्ञानफलमाह[2]—यस्त्वेवमिति। य उक्तविधं सर्वोपाधिषु परिपूर्णं, मानसं विशेषतो मनसि अभिव्यक्तं, सर्वाधिष्ठानं, शरीरत्रयेण रहितं, स्वप्रकाशानन्दरूपं, सन्तम् अक्षरं च जानीते आचार्योपदेशेन साक्षात्कुरुते स सर्वं सामान्यरूपेण विशेषरूपेण च जानीते संसृतितापाद् मुक्तश्च भवेद्। इति द्वयोरर्थः।।१०२-३।। एतदेव संक्षिप्याह—यत्रेति। यत्र अक्षरे जीवः तदुपाधयः प्राणादयश्च स्थिताः तं परमात्मानं यो वेद स सर्ववित् सन् परं पदं ब्रह्मभावं गच्छेद् इति।।१०४।।

पाँचवे प्रश्न का उत्तर है : ५) जो ज्ञानस्वरूप आत्मा मन में प्रतिबिम्बित होता है उसी आत्मा में प्राणादि सारा जगत् रहता है।।९७।। लोक में जैसे अनेक दिशाओं में फैले पक्षी साँझ होने पर अपने निवास-वृक्ष पर ही आश्रित हो जाते हैं वैसे पृथ्वी आदि पाँचों भूत, उनके सब गंधादि गुण, चक्षु-पैर आदि ज्ञान की व कर्म की इंद्रियाँ, चारों प्रकार का अंतःकरण और पाँचों प्रकार के प्राण—ये सभी पदार्थ अपनी विशेषताओं समेत उक्त आत्मा में ही अवस्थित रहते हैं।।९८-९।। इन्द्रिय आदि के व्यापारों समेत वह जीव भी इस आत्मा में ही स्थित है। नाना इन्द्रियों से मिलकर दर्शनादि सब व्यापार करने पर द्रष्टृत्व आदि गुणों वाला होकर 'जीव' कहा-समझा जाने पर भी वास्तव में है यह परमेश्वर ही क्योंकि वही विज्ञान इस (जीव) का स्वरूप है जो ईश्वर का पारमार्थिक स्वरूप है।।१००-१।।

आचार्य के सदुपदेश से जो आत्मवस्तु का साक्षात्कार कर लेता है उसे सामान्य और विशेष दोनों तरह से सब कुछ समझ आ जाता है। ज्ञेय आत्मा ऐसा है : पुरुष—सब उपाधियों में प्रतीत होते हुए भी है परिपूर्ण। मानस—उसकी खास अभिव्यक्ति मन में होती है। सर्वसंश्रय—जो कुछ 'सब' समझा जा सकता है अर्थात् भेदभिन्न जगत् उसका वह

---

१. 'एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः स परेऽक्षर आत्मनि सम्प्रतिष्ठते।।'९।।
२. 'परमेवाऽक्षरं प्रतिपद्यते स यो ह वैतद् अच्छायम् अशरीरम् अलोहितं शुभ्रम् अक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य स सर्वज्ञः सर्वो भवति। तदेष श्लोकः।।१०।। विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वैः प्राणा भूतानि सम्प्रतिष्ठन्ति यत्र। तदक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य स सर्वज्ञः सर्वमेवाविवेशेति।।'११।।

पञ्चमप्रश्नः प्रणवोपासनाविषयः

सत्यकामोऽथ शैब्योऽमुं पप्रच्छाऽनन्तरं मुनिम्। भगवन् मरणान्तं य ओङ्कारध्यानसंयुतः।।
कतमं तेन लोकं स जयेदेतद्वदाऽधुना।।१०५

इत्युक्तः पिप्पलादस्तमिदं वचनमब्रवीत्। ब्रह्मणः परमस्याऽयमपरस्य च सर्वदा।
अभिधानमभिन्नः सन्नोङ्कार इति गीयते।।१०६

अमुना ब्रह्म परमम् अपरं वा पुमान् व्रजेत्। ध्यातेन सत्यकामैतद् यथाकामं फलं व्रजेत्।।१०७

वर्णितमक्षरं सकृदुपदेशेन अवधारयितुं यो न शक्नोति तं प्रति प्रणवालम्बनं तदुपासनं विधातुं पञ्चमं प्रश्नमुत्थापयति[1] सत्येति। अथाऽमुं पिप्पलादम् इदमपृच्छत्। 'इदं' किम्? हे भगवन्! यः पुमान् मरणपर्यन्तम् ओङ्कारं ध्यायति स लोकानां मध्ये कं लोकं जयति? इति।।१०५।। इत्युक्त इति। इत्थं पृष्टः पिप्पलाद उक्तवान्[2]। यो वर्ण ओङ्कार इति गीयते सोऽयं परमस्य अक्षराख्यस्य अपरस्य प्राणाख्यस्य वा ब्रह्मणोऽभिधानं नाम भवति। कीदृशः? अभिन्नः वाच्यवाचकयोरभेदस्य लोकेऽपि सिद्धत्वाद् इति भावः। अथ वा देवतायाः प्रतिमावत् प्रतीकत्वाद् अभेदेन द्रष्टव्य इत्यर्थः। अन्यत्र अन्यदृष्ट्याऽऽलम्बनं हि प्रतीक इत्युच्यते।।१०६। अमुनेति। अमुना प्रणवेन ध्यातेन परब्रह्मदृष्ट्या, अपरब्रह्मदृष्ट्या वा चिन्तितेन परम् अपरं वा ब्रह्म प्राप्नुयात् ध्याता, हे सत्यकाम! तथा एतद् वक्ष्यमाणं फलं यथाकामं भवेद् इत्यर्थः।।१०७।।

अधिष्ठान है, स्वयं में 'सब' की प्रतीति का विरोधी न होने पर भी स्वयं में 'सब' से कैसा भी संबंध कभी नहीं रखता। स्थूल-सूक्ष्म शरीरों से और शरीरों की कारणभूत माया नामक कारण-शरीर से भी सदा रहित है। अक्षर—अविनश्वर व्यापक है। 'स्वप्रकाश है' ऐसा उसे कहा जाता है (अर्थात् यह 'कहना' भी उसे प्रकाशित नहीं करता)। आनंदस्वरूप और शासन करने के शील वाला है (सत्तादि प्रदान कर सबको नियंत्रण में रखना उसके लिये सहज है)। ऐसे आत्मा को जो यथाप्रमाण अपरोक्ष समझ लेता है वह सर्वज्ञ तो हो ही जाता है, संसार के क्लेशों से हमेशा के लिये छूट भी जाता है।।१०२-३।। ज़ीव और उसकी उपाधि अर्थात् भूतों व इंद्रियों सहित प्राण जिस अक्षर पर कल्पित हैं उस परमात्मा का जानकार सब कुछ जानता है और जिससे परे कुछ प्राप्तव्य नहीं वह ब्रह्मभाव पा जाता है।।१०४।। (यहाँ तक चतुर्थ प्रश्न का व्याख्यान हुआ। अब पाँचवें प्रश्न को समझायेंगे जिसमें ॐ की उपासना उसके लिये बतायी है जो केवल श्रवणादि से आत्मनिश्चय पर नहीं पहुँच पाता।)

गार्ग्य के बाद शैब्य सत्यकाम ने पिप्पलाद मुनि से पूछा, 'हे भगवन्! अब यह बताइये कि जो साधक मरते दम तक ओंकार के ध्यान में लगा रहता है वह किस लोक पर विजय पाता है?'।।१०५।।

इस प्रकार पूछे गये पिप्पलाद ने ये वचन कहे : जो यह ओंकार कहा जाने वाला वर्ण है वह अक्षर-ब्रह्म का और प्राण कहलाने वाले अपर ब्रह्म का नाम है। वह नाम हमेशा अपने नामी से अभिन्न है क्योंकि लोक में भी वाच्य और वाचक में वास्तविक भेद नहीं माना जाता। देवताओं की प्रतिमा की तरह ओंकार ब्रह्म का प्रतीक है अतः उसे ब्रह्म से अभिन्न समझना ही उचित है जैसे मूर्ति को देवता से अभिन्न समझकर ही उपसना की जाती है। ('समझने' का मतलब ही है कि पता है कि दोनों एक नहीं हैं; मूर्ति देवता नहीं है यह जानते हुए ही उसमें देवदृष्टि की जाती है, ऐसे ही प्रणव में ब्रह्मदृष्टि करनी चाहिये, है तो प्रणव एक शब्द ही अतः ब्रह्म नहीं वरन् उस पर सुतरां कल्पित है।)।।१०६।।

१. 'अथ हैनं शैब्यः सत्यकामः पप्रच्छ—स यो ह वै तद् भगवन्! मनुष्येषु प्रायणान्तम् ओङ्कारमभिध्यायीत कतमं वाव स तेन लोकं जयतीति।।' ५.१।।

४. 'तस्मै स होवाच—एतद्वै सत्यकाम परं चाऽपरं च ब्रह्म यदोङ्कारः। तस्माद् विद्वान् एतेनैवाऽऽयतनेनैकतरम् अन्वेति।।'२।।

मात्राभेदात् फले भेदः कथितो वेदवादिभिः। एकद्वित्रिक्रमाद् भूस्वर्ब्रह्मलोकाः फलानि हि।।
ऋग्यजुःसामभिर्नीतः क्रमात् प्राप्नोत्युपासकः।।१०८

ब्रह्मलोकं त्रिमात्रेण यतोऽनावृत्तिसंज्ञितम्। व्रजेत् तेन त्रिमात्रोऽयं मुमुक्षोः शस्त ईरितः।।१०९

त्रिमात्रः कथितः सोऽयमोङ्कारो ब्रह्मलोकदः। मात्राद्वयं तु संसारसुखदं परिकीर्तितम्।।११०

अत्र च फले न केवलं कामनाभेदः प्रयोजकः किन्तु मात्राभेदोऽपीत्याह[1]—मात्रेति। मात्रा अकाराद्यास्तिस्रस्तासाम् एकस्याः, द्वयोः, तिसृणां वा वेदादितादात्म्यानुसन्धानस्य विशेषाद् अयं फलभेदो बोध्यः। 'अयं' कः? एकस्याः प्रथमाया मात्रायाः 'त्रयीं तिस्रो वृत्तीः'(महिम्न.२७) इत्यादिवाक्यदर्शितवेदादितादात्म्यानुसन्धानाद् उपासको भूलोकम् ऋग्वेदाभिमानिभिर्देवैः नीयते। एवं द्वयोः तथाऽनुसन्धानाद् यजुरभिमानिदेवैः स्वर्लोकम्; तिसृणां तथाऽनुसन्धानाच्च सामाभिमानिदेवैर्ब्रह्मलोकम् इत्यर्थः।।१०८।। अत्रैकादिमात्रोपासनविधाने न तात्पर्यं किन्तु त्रिमात्रोपासन एवेत्याह[2]—ब्रह्मलोकमिति। अनावृत्तिः संज्ञिता चेतिता यतो भवति स तथा, 'संज्ञा स्याच्चेतना' इत्यमरः। एतादृशं ब्रह्मलोकं यतः त्रिमात्रप्रणवेन व्रजेत् ततः त्रिमात्र एव मुमुक्षुणा जप्य इत्यर्थः।।१०९।। एतदेव स्फुटयति—त्रिमात्र इति। मात्राद्वयं प्रथमादिकं संसारः पुनरावृत्तिः तत्सहितं भूस्वर्लोकभवं सुखं ददातीत्यर्थः।।११०।।

हे सत्यकाम! जो पुरुष परब्रह्म-दृष्टि से इसका परिपक्वता-पर्यंत ध्यान करता है वह परब्रह्म पा लेता है तथा जो अपरब्रह्मदृष्टि से इसका ध्यान करता है वह उसे प्राप्त कर लेता है। यही मुख्य फल है। आनुषंगिक रूप से कामनानुसार फललाभ भी हो जाता है।।१०७।। वेद-चिंतकों ने मात्रा सम्बन्धी अंतर से भी फल में अंतर बताया है। एक मात्रा के ध्यान से उपासक ऋक् द्वारा ले जाया जाकर भूलोक-प्राप्तिरूप फल पाता है। दो मात्राओं के ध्यान से यजुः द्वारा ले जाया जाकर स्वर्लोक प्राप्तिरूप फल पाता है। तीन मात्राओं के ध्यान से साम द्वारा ले जाया जाकर ब्रह्मलोक प्राप्ति-रूप फल पाता है। (एक मात्रा अर्थात् एक मात्रा के काल पर्यन्त रहने वाला प्रणव अथवा केवल अकार। दीपिका में 'एकमात्राकालम्, अकारमात्रं वा' कहा है। 'त्रयीं तिस्रः' आदि शिवमहिम्नःस्तोत्र में प्रत्येक मात्रा का वेदादि सम्बन्ध बताकर उपासना दिखायी है; तदनुसार भी समझ सकते हैं कि पहली मात्रा को वहाँ कहे पदार्थों से अभिन्न जानने का यह फल है। ऐसे ही दूसरी आदि मात्राओं का ध्यान समझना चाहिये। विराड् आदि क्रम से अकारादि में तादात्म्य मानने पर प्रथम फल विराट् की उपासना का, द्वितीय हिरण्यगर्भ की उपासना का और तृतीय ईश्वरोपासना का है। वस्तुतस्तु समस्त की उपासना ही कर्तव्य है, मात्राओं का फल तो अर्थवाद ही है। अंग की स्तुति से अंगी का विधान पुष्ट किया जाता है यह लोक की तरह शास्त्र में (पू.मी.४.३.१) भी स्वीकार है।)।।१०८।। क्योंकि त्रिमात्र प्रणव की उपासना से 'अनावृत्ति'-नामक ब्रह्मलोक प्राप्त होता है इसलिये मोक्ष चाहने वाले के लिये त्रिमात्र की उपासना ही उचित है। (अर्थात् तीनों मात्राओं से सूचित वस्तुओं सहित क्रमशः ध्यान कर पूर्व-पूर्व को पर-पर में विलीन करते हुए आत्मध्यान करना चाहिये जैसा पंचीकरण-प्रकरण में विहित है। ध्यानफलस्वरूप ब्रह्मलोक मिलता है जहाँ वह ज्ञान हो जाता है जिससे कैवल्यलाभ होता है अतः पुनरावृत्ति का प्रसंग नहीं यह ब्रह्मसूत्रों में उपसंहार करते हुए कहा ही है।)।।१०९।। जब इसकी तीनों मात्राओं की उपासना की जाती है तब यह ओंकार ब्रह्मलोक प्रदान करता है, पहली-दूसरी

---

१. 'स यद्येकमात्रमभिध्यायीत स तेनैव संवेदितस्तूर्णमेव जगत्यामभिसम्पद्यते। तमृचो मनुष्यलोकमुपनयन्ते। स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया सम्पन्नो महिमानमनुभवति।।३।। अथ यदि द्विमात्रेण मनसि सम्पद्यते सोऽन्तरिक्षं यजुर्भिरुन्नीयते सोमलोकम्। स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्तते।।'४।।

२. 'यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोम् इत्येतेनैवाऽक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः। यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकम्। स एतस्माज्जीवघनात् परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते। तदेतौ श्लोकौ भवतः।।५।। तिस्रो मात्रा मृत्युमत्यः प्रयुक्ता अन्योन्यसक्ता अनविप्रयुक्ताः। क्रियासु बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु सम्यक्प्रयुक्तासु न कम्पते ज्ञः।।६।। ऋग्भिरेतं यजुर्भिरन्तरिक्षं स सामभिर्यत्तत्कवयो वेदयन्ते। तमोङ्कारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान् यत्तच्छान्तम् अजरममृतमभयं परं चेति।।'७।। अत्रिमात्रोपासनस्यात्र अविहितत्वे 'ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्सः'(१.३.१३) सूत्रे परिमलोक्तिः प्रमाणम्।

भूमिमृग्भिः यजुर्भिः स्वः ब्रह्मलोकं च सामभिः। ओङ्कारात् सर्वमेवैति यतस्तस्मादयं महान्।।१११

षष्ठप्रश्नोऽक्षरस्य प्रत्यक्त्वविषयः

भारद्वाजः सुकेशाख्यः पप्रच्छैनमथागते। स्वस्याऽवसर आत्मानं पिप्पलादं मुनीश्वरम्।।११२

भगवन्! षोडशकल आत्मा यः परिकीर्तितः। तदर्थमहमत्यर्थं मननानि समाप्तवान्।।११३

हिरण्यनाभो नृपतिः कोसलानां कदाचन। मामगात् प्रष्टुमात्मानम् एनं विनयसंयुतः।।११४

तेन पृष्टोऽहमप्येनम् इदं वचनमुक्तवान्। पुरुषं षोडशकलं नाऽहं जानामि भूपते!।।११५

स्वप्नेऽपि भूपते! नाऽहमनृतं वच्मि कर्हिचित्। पश्यन्ननृतवाक्यस्य फलं दुःखं सुदारुणम्।।११६

एष मात्रागुणप्राधान्येन उपासितः प्रणव उक्तं फलं ददाति, अर्द्धमात्राप्राधान्येन समालम्बितस्तु ब्रह्मसाक्षात्कारम् इति सूचयन् फलितमाह—भूमिमिति। प्रथममात्राप्राधान्येन उपासनायाम् ऋग्भिः ऋगभिमानिदेवैः भूमिलोकमेति। एवमग्रेऽपि। अत्र प्रकरणे स्वःपदेन अन्तरिक्षलोकः प्रसिद्धस्वर्गविशिष्ट उच्यते। ओङ्काराद् उपसर्जनीभूतमात्रात्रितयकात् तु सर्वं सर्वात्मकं ब्रह्म एवैति। यत एवं प्रभावः ततोऽयं प्रणवः महान् सर्वमन्त्रेभ्य उत्कृष्ट इत्यर्थः।।१११।।

अथ षष्ठं प्रश्नं चतुर्थप्रश्ने वर्णिताऽक्षरस्य प्रत्यक्त्वावधारणफलकम् उपक्रमते[1]—भारद्वाज इत्यादिना। अथ सुकेशनामको भारद्वाजः स्वस्याऽवसर[2] आगते सति एनं पिप्पलादं मुनिवरं प्रति आत्मानं प्रत्यग्वस्तु पप्रच्छ इति सम्बन्धः।।११२।। अस्य प्रश्नमभिनयति—भगवन्निति षड्भिः। हे भगवन्! षोडशकलपुरुषनिर्णयार्थं बहुवारं विचारं कृतवानस्मि इति।।११३।। हिरण्येति। अत्रान्तरे कोसलदेशाधिपतिः हिरण्यनाभनामा एतमेव षोडशकलं पुरुषं प्रष्टुं मत्समीपमागतवान्।।११४।। तेनेति। तेन हिरण्यनाभेन पृष्टः सन्नहमेनं राजानं प्रति इदमुक्तवान्। 'इदं' किम्? हे भूपते! अहम् एतं पुरुषं न जानामि इति।।११५।। तत्प्रत्ययार्थं यदुक्तवांस्तदपि श्रावयति—स्वप्नेऽपीति। हे भूपते! अहम् अनृतभाषणस्य दारुणदुःखरूपं फलं पश्यन् विजानन्, हेतौ शता, स्वप्नेऽपि अनृतं न वच्मि इति।।११६।।

मात्राओं की उपासना तो संसार के अंतर्गत ही सुख दिला सकती है।।११०।। ओंकार-उपासना से यह सब मिलता है—ऋक् द्वारा भूमि, यजु द्वारा स्वर्ग और साम द्वारा ब्रह्मलोक—अतः ओंकार अत्यंत महान् है, सब मंत्रों से उत्कृष्ट है, परमेश्वर का सबसें नज़दीकी नाम है।।१११।। (यों पाँचवे प्रश्न का उत्तर हुआ। अब अंतिम प्रश्न में अक्षर वस्तु की प्रत्यग्रूपता प्रकाशित की जायेगी।)

सत्यकाम की भी जिज्ञासा जब शांत हो गयी तब स्वयं को अवसर मिलने पर सुकेश भारद्वाज ने मुनीश्वर पिप्पलाद से प्रत्यगात्मा के बारे में प्रश्न किया :।।११२।।

हे भगवन्! जो आत्मा सोलह कलाओं वाला कहा जाता है उसे समझने के लिये मैंने बहुत चिंतन किया (पर अभी तक समझ नहीं पाया)।।११३ किसी समय कोसलनरेश हिरण्यनाभ विनयपूर्वक मेरे पास उसी पुरुष के बारे में पूछने आये थे पर उन्हें भी मुझे यही कहना पड़ा कि मैं उस सोलह कलाओं वाले पुरुष से अनभिज्ञ हूँ।।११४-५।। उन्हें आश्वस्त करते हुए मैंने बताया कि झूठ बोलने का अतिकष्टमय फल होता है यह जानने के कारण मैं सपने में भी झूठ नहीं बोलता। जो हर तरह मूढ हुआ पुरुष कभी कहीं झूठ बोलता है उसे इहलोक-परलोक के सत्फल तो नहीं

---

१. 'अथ हैनं सुकेशा भारद्वाजः पप्रच्छ—भगवन्! हिरण्यनाभः कौसल्यो राजपुत्रो मामुपेत्यैतं प्रश्नमपृच्छत। षोडशकलं भारद्वाज पुरुषं वेत्थ? तमहं कुमारमब्रुवं—नाहमिमं वेद यद्यहमिममवेदिषं कथं ते नावक्ष्यम्! इति। समूलो वा एष परिशुष्यति योऽनृतमभिवदति। तस्मान्नार्हाम्यनृतं वक्तुम्। स तूष्णीं रथमारुह्य प्रवव्राज। तं त्वां पृच्छामि—क्वासौ पुरुष इति।।'१।।

२. आद्यप्रश्नाभ्यां स्थूल-सूक्ष्मेतर आत्मनि निर्धारिते देहान्तर-संचरणव्यवस्था तृतीये दर्शिता; तावदभ्युदयक्षेत्रम्। अथ निःश्रेयसक्षेत्रम्—तत्र चतुर्थे पदार्थशोधनं, पंचमे समाधानलाभः, षष्ठे व्यापकस्य प्रत्यक्त्वानुभव इति अवसरस्वारस्यमालोच्येत्यर्थः। अभ्युदयार्थत्वेऽपि देहादात्मविवेकार्थमुपयोगाय पूर्वप्रश्ना उपनिषद्युचिताः।

समूल एव शुष्येत् स लोकद्वयफलं विना। अनृतं यो वदेत् क्वाऽपि पुरुषः परिमोहितः।।११७
इत्युक्तो राजपुत्रः स तूष्णीं भूतो गतस्ततः। मह्यं तं पुरुषं ब्रह्मन् व्याख्यातुमधुनाऽर्हसि।।११८
एवं पृष्टस्तदा प्राह पिप्पलादो मुनीश्वरः। भारद्वाजं पुमानेष न दूरे कस्यचित् क्वचित्।।११९
इहैवान्तः शरीरेऽस्मिन् पुमानास्ते महेश्वरः। यस्मिन् सन्ति कला नित्यं षोडशाऽपि महात्मनि।।१२०
सोऽयमन्तःशरीरस्थः पुरुषो जगदीश्वरः। जगदुत्पत्तितः पूर्वम् ईक्षाञ्चक्रे सिसृक्षया।
एवं जरायुनिर्माणं कर्तुकामो महेश्वरः।।१२१
अहं सर्वगतो देहे स्थितः केनाऽत्र संसृतिम्। उत्क्रान्त्यादिगुणां गन्ता विक्रियापरिवर्जितः।।१२२
एवं विचिन्त्य भगवान् स्वस्योत्क्रान्त्यादिहेतुकम्। प्राणं पञ्चात्मकं ध्याता सृष्टवान् प्रथमं प्रभुः।।१२३

तत्फलं दर्शयति—समूल इति। स पुरुषरूपो वृक्षो लोकद्वयात्मकं फलमप्राप्य समूलो मूलस्थानीयैर्भाग्यैः सह शुष्यति क्षीयते योऽनृतं वदतीत्यर्थः।।११७।। इत्युक्त इति। इति मया उक्तः स राजपुत्रो गतः। तत आरभ्य हृदयशल्यभूत-जिज्ञासागोचरं तं पुरुषं हे ब्रह्मन्! वक्तुम् अर्हसि। ब्रह्म इति पाठे, ब्रह्मरूपमित्यर्थः।।११८।।

एवं पृष्टो मुनिस्तस्य प्रत्यग्भावमुक्तवानित्याह[1]—एवं पृष्ट इति द्वाभ्याम्। एष त्वत्पृष्टः पुरुषः दूरे पराग्भावे न तिष्ठति किन्तु इह अस्मिन् शरीराख्ये सङ्घातेऽन्तः प्रत्यक्त्वेन तिष्ठति। कीदृशो? महेश्वरः विश्वनियन्ता सकलप्रपञ्चात्मकानां षोडशकलानाम् अधिष्ठानत्वात्। इति द्वयोरर्थः।।११९-२०।। तस्याऽद्वयत्वस्फुटीकाराय षोडशकलास्रष्टृत्वमाह[2]—सोऽयमित्यादिना। सोऽयं महेश्वरो जगदुत्पत्तितः पूर्वम् एवम् ईक्षाञ्चक्रे आलोचनं कृतवान्। कीदृशः? सिसृक्षामिषेण जरायोर्गर्भस्य जरायुवद् बन्धकस्य उपाधेर्निर्माणं चिकीर्षुरित्यर्थः।।१२१।। 'एवं' कथम्? इत्यतआह—अहमिति। अहम् अत्र देहे स्थितः अपि सर्वगतः विक्रियावर्जितश्च उत्क्रान्तिर्देहान्निष्क्रमणम् आदिर्येषां गत्यादीनां ते गुणाः प्रकारा यस्यास्तथाभूतां संसृतिं केन उपाधिना गन्ता गमिष्यामीत्यर्थः।।१२२।।

एवमिति। इत्थमालोच्य[3] स प्रभुः ईश्वरो भगवान् ज्ञानादिसम्पन्नः अत एव ध्याता आलोचयिता प्रथमं प्राणं प्रथमकलारूपं सृष्टवान्। कीदृशम्? उत्क्रान्त्यादयो हेतवः प्रयोजनानि यस्य स तथा तं पञ्चात्मकं पञ्चरूपकमिति।।१२३।। प्राणोपाधिरिति। प्राणविशिष्टः सन्नयं देवो मृत्युरूपः चतुर्थाध्यायेऽशनायाशालितया ही मिलते, उसका मूल भी सूख जाता है अर्थात् सौभाग्य प्रतिबद्ध होकर दुर्भाग्य ही उसे भोगते रहना पड़ता है।।११६-७।। जब मैंने यों समझाया तब वह राजा तो चुपचाप लौट गया पर तब से मेरे हृदय में शूल-सी यह जिज्ञासा बनी है कि वह पुरुष कौन है! आप स्वयं परमात्मस्वरूप हैं, आपसे कुछ छिपा नहीं है अतः अब आप मुझे उसके बारे में समझाने की कृपा करें।।११८।।

मुनीश पिप्पलाद ने उत्तर दिया : हे भारद्वाज! यह पुरुष किसीके लिये कभी भी दूर नहीं है, यहीं इस शरीर में वह पुरुष है! शरीरसंघात का प्रत्यग्भूत आत्मा वही पुरुष है जो विश्व का नियन्ता भी है! उसी महान् आत्मा में सोलहों कलाएँ अधिष्ठित हैं।।११९-२०।। शरीर के अंदर साक्षिरूप से स्थित उस जगन्नाथ पूर्ण चैतन्य ने जगद्-उत्पत्ति से पूर्व जगत्-उत्पादन की इच्छा से विचार किया। उस समय वे महेश्वर आत्मा की उपाधि का निर्माण करने को उत्सुक थे जो उपाधि वैसे ही बंधकरी है जैसे जरायु गर्भ को बाँधे रखता है।।१२१।।

---

१. 'तस्मै स होवाच— इहैवान्तः शरीरे सोम्य स पुरुषो यस्मिन्नेताः षोडशकलाः प्रभवन्तीति।।'२
२. 'स ईक्षाञ्चक्रे—कस्मिन्न्वहम् उत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि, कस्मिन् वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामि? इति।।'३।।
३. 'स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनः। अन्नमन्नाद् वीर्यं तपो मन्त्राः कर्म लोका लोकेषु च नाम च।।'४।। तत्र कस्य = ब्रह्मणः तिरस्काररूपलयहेतुत्वं कलात्वम् इति दीपिकाया अभिप्रायः।

प्राणोपाधिरयं देवो मृत्युरूपो महेश्वरः। धियमास्तिक्यरूपां तां श्रद्धां पूर्वं ससर्ज सः।।१२४

पञ्च भूतानि तदनु ज्ञानकर्मेन्द्रियाणि च। मनसा सहितान्यन्नमन्नाद् वीर्यं शरीरिणाम्।।१२५

ततस्तपश्च कर्माणि लोकवेदाश्रितानि च। वेदाध्ययनमप्येतत् पूर्वं यत् कर्मणां भवेत्।।१२६

वेदा मन्त्रादिरूपाश्च प्राणादेव विनिर्गताः। अन्नादिना ततास्तेऽपि स्युरन्नादेर्विनिर्गताः।।१२७

मृत्युरिति वर्णितः श्रद्धाख्यां द्वितीयां कलां ससर्ज। कीदृशीम्? शुभकर्मप्रवर्तकाऽऽस्तिक्यशालिबुद्धिरूपामिति।।१२४।। पञ्चेति। ततः कर्मकृतिफलभोगयोः आधारभूतानि यानि आकाशादीनि पञ्च भूतानि तद्रूपं कलापञ्चकमसृजत्। ततो ज्ञानकर्मसाधनं दशविधं च यद् इन्द्रियं तद्रूपाम् अष्टमीं कलामसृजत्। तन्नियन्तृमनोरूपां नवमीं, 'तत्स्थितिप्रयोजकान्नरूपां दशमीं, तज्जन्यं यद् वीर्यं सामर्थ्यं तद्रूपामेकादशीं च कलामसृजद् इत्यर्थः।।१२५।। ततस्तपश्चेति। ततो वीर्यात् तपः शोधकम्, तथा कर्माणि लौकिकानि वैदिकानि जातानि। तथा श्रुतौ 'मन्त्र'-पदोक्तं वेदाध्ययनं च जातं यद् वेदाध्ययनं कर्मणां मध्ये पूर्वं प्रथमम्; कर्मण इति पाठे—यत् श्रुतौ कर्मणः पूर्वं पठितं तद् भवेद् इत्यर्थः।। तथा च तपो द्वादशी, वेदाध्ययनं त्रयोदशी, कर्म चतुर्दशी कलेति भावः।।१२६।। मन्त्रपदस्य वेदाध्ययने लक्षणायां बीजमाह—वेदा इति। मन्त्रब्राह्मणरूपा ये वेदाः ते साक्षात् प्राणादेव प्रादुर्भूता 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्' (बृ.२.४.१०) इत्यादिश्रुत्यन्तरात्, न तु वीर्यात् परन्तु अन्नादिना अन्नमादिः कारणं यस्य तथाभूतेन वीर्येण तपसा च तता अध्ययनाद्यारोहरूपं विस्तारं गता इत्यतोऽध्ययनद्वारैव ते वेदा अन्नादेः वीर्यादितो विनिर्गताः स्युः, न साक्षाद्। अतो युक्ता लक्षणेत्यर्थः।।१२७।। कर्मभ्य इति। तेभ्यः कर्मभ्यः लोकाः कर्मफलानि

उनका विचारणीय विषय था—'मैं सर्वव्यापक और अपरिवर्तनीय रहते हुए ही किस उपाधि के सहारे इस व्यष्टि-शरीर में रहूँ और उत्क्रमण आदि प्रकारों वाला संसरण भोगूँ?'।।१२२।। यों ध्यान से सोचने वाले उस प्रभु भगवान् ने अपने उत्क्रमण आदि के संपादन के लिये सर्वप्रथम पाँच रूपों वाले प्राण नामक प्रथम कला को पैदा किया।।१२३।। प्राण की उपाधि धारण कर मृत्युरूप उस महेश्वर देव ने उस श्रद्धा-नामक कला को उत्पन्न किया जो शुभ कर्मों में प्रेरित करने वाली निश्चयात्मिका वृत्ति है कि 'देहभिन्न होने से मैं कालांतरवर्ती फल भोग सकता हूँ जिनके उपाय शास्त्र द्वारा प्रमित होते हैं'।।१२४।। तदनंतर उन्होंने वे आकाशादि पाँच भूतरूप पाँच कलाएँ बनायीं जो कर्म करने और फल भोगने के लिये आधार बनती हैं। फिर आठवीं कला बनायी इंद्रियाँ, जो ज्ञान और क्रिया के साधन हैं। उसके बाद उन पर नियंत्रण रखने वाली मन-रूप नवीं कला बनायी और उसका बना रहना संभव करने वाला अन्न बनाया जो दसवीं कला है। ग्यारहवीं कला बनायी शरीरधारियों का वीर्य, सामर्थ्य।।१२५।। फिर सामर्थ्य-साध्य तप-रूप कला का निर्माण किया जो शोधन में समर्थ है। उसके बाद सही ज्ञानप्राप्ति के लिये वेद का अध्ययन रूप तेरहवीं कला बनाकर लौकिक-वैदिक कर्म रूप चौदहवीं कला का निर्माण किया। वैदिक कर्मों का प्रारंभ वेदाध्ययन से ही होता है, पहले वेद पढ़ लिया जाये तभी श्रौतादि कर्म किये जा सकते हैं अतः उपनिषत् में 'मन्त्राः कर्म' यह क्रम रखा।।१२६।। शंका होगी कि उपनिषत् ने मन्त्रों को कला कहा तो वेदाध्ययन को कला क्यों बताया जा रहा है? समाधान है कि मन्त्र-ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषद् रूप वेदराशि तो सीधे ही प्राण से (ईश्वर से) उत्पन्न हुई, न कि वीर्य या तप से, अतः वीर्य-तप के बाद कहने से मंत्रशब्द का अभिप्राय वेदाध्ययन से ही होना उचित है क्योंकि अन्न जिसका कारण है ऐसे वीर्य से एवं तप से वेद जीव की बुद्धि में फैल जाते हैं अर्थात् जीव द्वारा पढ़कर याद कर लिये जाते हैं। क्योंकि जीव के लिये उपयोगी बनने के लिये मंत्रों को अध्ययन द्वारा उसकी बुद्धि में व्याप्त होना ज़रूरी है इसलिये मंत्रशब्द से वेदाध्ययन समझना संगत है और वीर्य-तप एवं कर्म के मध्य उसीका कथन संगत है।।१२७।।

१. तत् = मनः, 'अन्नमयं मन' इति श्रुतेः।

कर्मभ्यो निखिला लोकाः सुखदुःखात्मका हि ये। लोकेषु नाम यन्नाशं मुक्तस्याऽपि न गच्छति।
आ सर्वभूतविलयम् अनन्तमिति गीयते।।१२८

मुक्तस्यैताः कलाः सर्वाः पुरुषं प्राप्य निर्गुणम्। स्वकारणे विनश्यन्ति समुद्रमिव सिन्धवः।।१२९

नद्यो यथा स्वकीयानि रूपाणि सह नामभिः। त्यक्त्वा यान्ति समुद्रस्य नामरूपे समुद्रगाः।।१३०

मुक्तस्यैताः कलाः स्वस्य नामरूपविवर्जिताः। पुंस एव प्रयान्त्येता नामरूपे महात्मनः।।
नामरूपविहीनस्य निष्कलस्य परात्मनः।।१३१

आनन्दात्मा पुमानेष स्वप्रभो निष्कलोऽमृतः। रथनाभावरा यद्वत्कलास्तस्मिंस्तथा स्थिताः।।१३२

एवं विजानतां पुंसां न पुनर्मृत्युजं भयम्। भवेदेतच्छरीरस्य पाततः परतः क्वचित्।।१३३

सुखादिलक्षणानि पञ्चदश कलारूपाणि जातानि। तेषु तत्तच्छरीरावच्छिन्नसम्बन्धि देवदत्तादिरूपं नाम षोडशकलात्मकं जातं यद् नाम प्रलयपर्यन्तम् अविनाशित्वाद् अनन्तम् इति गीयते श्रुतिषु इत्यर्थः।।१२८।।

यथा चैताः कलाः परमात्मन एवोत्पत्तेर्न द्वैतावहाः तथा तत्र विलयाच्च न द्वैतावहा इति सूचयन् विदुषो मुक्तावस्थां वर्णयति[1]—मुक्तस्यैता इति। मुक्तस्तत्त्ववित् तद्दृष्ट्या एताः प्राणादिकाः षोडश कलाः स्वकारणं स्वकल्पनाऽधिष्ठानं निर्गुणं पुरुषं प्राप्य विनश्यन्ति अदर्शनं यान्ति नदीसमुद्रन्यायेनेत्यर्थः।।१२९।। नद्य इति। यथा नद्यः स्वकीये नामरूपे विहाय समुद्रस्य एव नामरूपे धारयन्ति तथा मुक्तस्य एताः कलाः स्वकीयाभ्यां नामरूपाभ्यां वर्जिताः सत्यो निर्विशेषस्य पुरुषस्यैव नामरूपे यान्ति। इति द्वयोः अर्थः।।१३०-१।। तं पुरुषं लक्षयति[2]—आनन्दात्मेति। रथावयवनाभौ यद्वद् अराः स्थिताः तद्वद् यस्मिन्नेताः कलाः स्थिताः एष पुमान् स्वयम्प्रकाशानन्दरूपो निर्विकारश्च इत्यर्थः।।१३२।। अस्य पुरुषस्य आत्मत्वेन विज्ञानाच्च प्रमादरूपाद् मृत्योर्भयं न भवतीत्यत एतद् विज्ञानं भवतामप्यस्तु इत्याह— एवमिति। एतच्छरीरस्य पाततः परतः प्रारब्धसमाप्त्यनन्तरमित्यर्थः।।१३३।।

कर्मों के बाद कर्मफलरूप लोक पैदा किये जो सुख-दुःखरूप हैं। लोक ही पंद्रहवी कला है। सोलहवीं कला लोकों में होने वाला नाम है जो व्यष्टि-शरीरों से अवच्छिन्न को विषय करता है। नाम ऐसी कला है जो मुक्त का भी नष्ट नहीं होता! सब भूतों के विलय तक बना रहने से नाम अनंत कहा जाता है।।१२८।।

जैसे मिट्टी से उत्पन्न बर्तन मिट्टी को सद्वितीय नहीं बनाते, मिट्टी में विलीन हुए बर्तन मिट्टी को सद्वितीय नहीं बनाते, वैसे ही परमात्मा से उत्पन्न और उसीमें विलीन होने वाली कलाएँ उसे सद्वितीय नहीं बनातीं। यह स्पष्ट करने के लिये कलाओं की परमात्मा से उत्पत्ति बतायी, अब उसीमें लय बताते हुए विद्वान् की मुक्तावस्था का वर्णन करते हैं—तत्त्ववेत्ता की दृष्टि से प्राणादि ये सोलह कलाएँ अपनी कल्पना के अधिष्ठान निर्गुण पूर्ण चैतन्य में विलीन होकर वैसे ही पार्थक्येन उपलब्ध होना बंद हो जाती हैं जैसे समुद्र में विलीन होकर नदियाँ।।१२९।। समुद्र में पहुँची नदियाँ जैसे अपने प्रातिस्विक गंगा-कावेरी आदि नाम-रूप छोड़कर समुद्र ही कहलाती और प्रतीत होती हैं वैसे मुक्त की ये कलाएँ अपने-अपने नाम-रूप छोड़ देती हैं और महान् आत्मा पूर्ण चैतन्य ही कहलाती और प्रतीत होती हैं। नाम-रूप से रहित परमात्मा वास्तव में कलाओं से वर्जित है, वह वास्तविकता ही विद्वान् की आत्मदृष्टि से निरावृत हो जाती हैं। (जैसे नदियाँ समुद्र में मिलने पर कोई नवीन नाम-रूप ग्रहण नहीं करतीं ऐसे कलाबाध होने पर भी कोई नामांतरण

१. 'स यथेमा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्याऽस्तं गच्छन्ति, भिद्येते तासां नामरूपे, समुद्र इत्येवं प्रोच्यते; एवमेवाऽस्य परिद्रष्टुरिमाः षोडशकलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति, भिद्येते चासां नामरूपे, पुरुष इत्येवं प्रोच्यते। स एषोऽकलोऽमृतो भवति। तदेष श्लोकः।।'५।।

२. 'अरा इव रथनाभौ कला यस्मिन् प्रतिष्ठिताः। तं वेद्यं पुरुषं वेद यथा मा वो मृत्युः परिव्यथा इति।।'६।।

उपदेशोपसंहारः

भारद्वाजमिदं प्रोच्य पुनः सर्वानभाषत। पिपासादोषमिलितान् षडपि द्विजसत्तमान्।।१३४
एतावदेव जानामि द्विजा! ब्रह्माऽहमव्ययम्। नातः परं किमप्यस्ति न जानाम्यत एव तत्।।१३५
इत्युक्ता अर्चयामासुस्तं मुनिं ते द्विजोत्तमाः। देववद्यशसा देवमभाषन्त च तं प्रति।।१३६
छिन्नास्ते संशया ब्रह्मन्! कृतार्थाश्च वयं कृताः। दर्शितं च परं ब्रह्म मायातः परतो हि यत्।।१३७
अद्य ब्रह्मन्! वयं जातास्त्वत्तोऽमी ब्राह्मणोत्तमाः। ततो माता पिता च त्वमस्माकं नाऽपरः क्वचित्।।१३८

भारद्वाजमिति।[1] एतावद् भारद्वाजाय सुकेशाय उक्त्वा पुनः सर्वान् प्रतीदमुक्तवान् पिप्पलादः। कीदृशान्? पिपासा तद्वागमृतपाने तृष्णा तद्वतः।।१३४।। एतावदेवेति। हे द्विजाः! अहमेतावदेव ब्रह्मरूपं तत्त्वं जानामि। अस्य मज्ज्ञानस्य एतावत्त्वं न परिच्छेदात् किन्तु अधिकविषयाऽभावाद् इत्याह— नात इति। अतो मद्विज्ञाततत्त्वात् परं पृथगवशिष्टं किमपि नास्ति इत्यतः परं न जानामि इत्यर्थः।।१३५।।

इत्युक्ता इति[2]। ते सर्वे इति एवम् उक्ताः कथिताः सन्तः तं पिप्पलादं मुनिं देववद् अर्चयामासुः। कीदृशं तम्? यशोरूपसाधर्म्येण देवं देवसममिति यावत्। तं च प्रति इदं वाक्यमुक्तवन्तः।।१३६।। आचार्यप्रार्थनावाक्यमभिनयति—छिन्नाइति चतुर्भिः। स्पष्टम्।।१३७।। अद्येति। हे ब्रह्मन्! अद्य वयं त्वत्तो जाता ब्रह्मरूपेणेति शेषः। यतो ब्राह्मणोत्तमाः स्मः। 'स ब्राह्मणः केन स्याद्'(बृ.३.५.१) इत्यादिबृहदारण्यकश्रुतौ ब्रह्मविद्ययैव मुख्यब्राह्मणस्य दर्शितत्वाद् इति भावः। ततस्त्वम् एव अस्माकं माता पिता च नाऽपरः, मिथ्यात्मनः शरीरस्य उत्पादकत्वात्, तदुक्तं मनुना 'उत्पादकब्रह्मदात्रोः गरीयान् ब्रह्मदः पिता। ब्रह्मजन्म हि विप्रस्य प्रेत्य चेह च शाश्वतम्।।' (२.१४६) इति। अन्यत्रापि 'शरीरमेतौ कुरुतः पिता माता च भारत! आचार्यदत्ता या जातिः सा नित्या साऽजराऽमरा।।' इति।।१३८।। त्वादृशेभ्य इति। भवता कर्णधारेण कर्णोपदेशकेन कामादिग्राहाकुलम्

या रूपांतरण नहीं हो जाता। 'पुरुष के नाम-रूप पा जाती हैं' से भ्रम हो सकता था कि कलाएँ किसी-न-किसी तरह बचती होंगी अतः पुरुष की नाम-रूप-कलाहीनता बतायी। नदियाँ जल रूप से रहती हैं; प्रकृत में सच्चिदानंद ही जल है। 'तत्त्ववेत्ता की दृष्टि से' इसलिये कहा कि अज्ञदृष्ट्या कला-विलय पूर्व में (१६.२३२ आदि) कह चुके हैं।)।।१३०-१।। जिसमें ये कलाएँ बाधरूप विलय पाती हैं वह आनंदरूप प्रत्यक् पुरुष स्वप्रकाश, कलाहीन और अमृत है। रथचक्र की नाभि में जैसे अरे प्रतिष्ठित होते हैं ऐसे कलाएँ उस पुरुष में प्रतिष्ठित हैं।।१३२।। जो पुरुषार्थी इस तरह समझ लेते हैं कि वास्तविकता एकमात्र निष्कल व्यापक पुरुष ही है, उन्हें फिर प्रमादरूप (अज्ञानरूप) मृत्यु से कोई भय नहीं रह जाता। जिस शरीर में उन्हें वह ज्ञाननिष्ठा प्राप्त होती है उसके निमित्त संकल्पित प्रारब्ध की समाप्ति के बाद कभी उन्हें परिच्छेद-दर्शनरूप मृत्यु भी डरा नहीं पाती। (प्रारब्ध रहते देहपरिच्छेद का दर्शन हो जाता है भले ही बाधित दर्शन हो, विदेहावस्था पा लेने पर वह भी असंभव है। पिप्पलाद का आशय इस आशीर्वाद में है कि 'आप सभी ऋषि उस आत्मविज्ञान को पायें'।)।।१३३।

भारद्वाज से इतना कहकर पिप्पलाद ने छहों श्रेष्ठ द्विजों से, और उनके बहाने उन सभी अधिकारियों से जिन्हें सदुपदेशामृत पीने की प्यास है यह कहा :।।१३४।। हे द्विजो! इतना ही मैं उस अव्यय ब्रह्म को जानता हूँ। इससे परे कुछ है ही नहीं अतः इससे परे मैं कुछ जानता भी नहीं।।१३५।।

---

१. 'तान् होवाच—एतावदेवाहमेतत् परं ब्रह्म वेद। नातः परमस्तीति।।'७।।
२. 'ते तमर्चयन्तस्त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसीति, नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः।।'८।।

त्वादृशेभ्यो नमस्कारो ह्यस्माकं भवतात् सदा। भवता कर्णधारेण तारिता दुस्तरं वयम्।
अविद्यावारिधिं यत्र ग्राहाः कामादयः श्रिताः।।१३९

एवमुक्तेऽथ तान् सर्वान् पिप्पलादो व्यसर्जयत्। यथासुखं यथान्यायं स्वयं च गतवान् मुनिः।।१४०

आत्मज्ञानमिदं शुद्धचेतोभिः सात्त्विकैः सदा। प्राप्यते ब्रह्मनिष्ठेन महता गुरुणेरितम्।।१४१

अविद्यावारिधिं तारिताः पारं नीताः। अस्य उपकारस्य अस्माकं प्रत्युपकारमपश्यताम् उपायनभूतो भवादृशान् गुरून् प्रीणयितुं नमस्कार एव अस्तु इत्यर्थः।।१३९।। एवमुक्तइति। एवं तैः उक्ते सति तान् यथान्यायम् आशीःप्रयोगपूर्वकं पिप्पलादो व्यसर्जयत्। स्वयं यथासुखं गतवान्।।१४०।।

उत्तराकांक्षां जनयन् ब्रह्मविद्याया योगक्षेमप्रयोजिका चित्तशुद्धिरेव उपासनाजन्येत्याह—आत्मेति द्वाभ्याम्।

यों अपनी जिज्ञासाएँ मिट जाने पर एवं पिप्पलाद द्वारा अंतिम सत्य का घोषणापूर्वक निर्धारण कर देने पर उन उत्तम द्विजों ने उन मुनिराज की वैसे ही अर्चना की जैसे देवता की करते हैं। यश की दृष्टि से जो देवतुल्य पिप्पलाद थे उनसे छहों शिष्यों ने कहा।।१३६।। 'हे ब्रह्मरूप आचार्य! हम जो संशय लेकर आये थे वे मिट गये। आपने हमें कृतार्थ कर दिया और माया से परे जो परब्रह्म है उसका दर्शन करा दिया।।१३७।। आज हम आपसे ब्राह्मणोत्तमरूप से पैदा हुए हैं अतः आप ही हमारे माता-पिता हैं, अन्य कोई नहीं। (ब्राह्मण तो हमारे देहोत्पादक माता-पिता से ही हम पैदा हुए थे किंतु मुख्य ब्राह्मण आपसे पैदा हुए हैं अतः हमारे उस दिव्य स्वरूप के जनक आप ही हैं।)।।१३८।। आप सरीखों के लिये हमारा हमेशा ही नमस्कार है। जिस अज्ञान-समुद्र में कामना आदि घड़ियाल हैं, जिसे पार करना अत्यंत कठिन है, आपने कर्णधार बनकर हमें वह समुद्र पार करा दिया! इस असीम उपकार के बदले हम आपकी कोई भी सेवा कर सकें यह संभव नहीं क्योंकि आपका उपकार ही ऐसा है जिसकी बराबरी में कुछ किया ही नहीं जा सके। अतः आपकी प्रसन्नता के लिये हम नमस्कार ही कर सकते हैं। (कर्णधार नौका को सही मार्ग पर ले जाता है। यहाँ साधनोपदेश-पदार्थबोधनपूर्वक महावाक्यार्थ समझाना ही कर्णधार बनना है जिससे अनादि काल से अविद्या-महोदधि में भटकती जीव-नौका पार लग जाती है। प्राचीन आचार्यों ने भी सावचेत किया है—

'महता पुण्यपण्येन क्रीतेयं कायनौस्त्वया।
तावदुद्धरदुःखाब्धिं यावदेषा न शीर्यते।।'

अर्थात् अधिकारिशरीररूप यह नौका बहुतेरे पुण्यों की बाजी लगाकर खरीदी गयी है, यह नष्ट हो इससे पहले ही दुःखसागर तर जाने की कोशिश कर लेनी चाहिये। सांसारिक, ऐहिक-आमुष्मिक भोगों के प्रति आसक्ति ही मोक्ष-पथ पर चलने नहीं देती। श्रद्धा से जब निश्चय कर लें कि नित्य ही प्राप्तव्य है, अनित्य के लिये स्वयं को कष्ट देना निरर्थक है, तभी तुच्छ हेतु-फलों के व्यूह से निकलकर भूमा में सम्प्रतिष्ठा पाने के लिये साधक सचेष्ट हो सकता है। शास्त्र और गुरु दोनों पर अत्यन्त विश्वास के बिना यह मानसिकता बनती नहीं। विश्वास तभी हो जब उनके वचनों का विचार कर उनकी सत्यता परखें। अतः शास्त्र व गुरुवचनों का विश्लेषण करते रहना, उन्हें अनुभवारूढ करना ही श्रद्धाप्राप्तिका सशक्त उपाय है।)।।१३९।।

छहों ने जब कृतार्थता प्रकट कर दी तब पिप्पलाद को भी संतोष हुआ और आशीर्वाद आदि देकर शिष्टाचार के अनुसार सभीको उन्होंने अपने-अपने आश्रमादि को लौट जाने की अनुमति दे दी और स्वयं भी आनंदपूर्वक विचरने लगे।।१४०।।

यह आत्मज्ञान महान् ब्रह्मनिष्ठ गुरु द्वारा उपदिष्ट होकर भी उन्हीं द्वारा ग्रहण किया जा सकता है जो हमेशा

नृसिंहोपासका यद्वद् देवाः संशुद्धमानसाः। प्राप्तवन्तः पुरा ब्रह्म गुरुणा ब्रह्मणेरितम्।।१४२

इति ते कथितं सर्वं पिप्पलादेन कीर्तितम्। ज्ञानं यद् भवता पृष्टं किमन्यच्छ्रोतुमिच्छसि।।१४३

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यानन्दात्मपूज्यपादशिष्येण शङ्करानन्दभगवता विरचित उपनिषद्रत्न आत्मपुराणे प्रश्नसारार्थप्रकाशे पिप्पलादसुकेशसंवादो नाम सप्तदशोऽध्यायः समाप्तः।।१७।।

एतज्ज्ञानं महता गुरुणेरितम् अपि सात्त्विकैः एवावाप्यते यथा नृसिंहोपासका देवाः तत् प्रजापतिरूपगुरुणेरितं प्राप्ताः। इति द्वयोः सम्बन्धः।।१४१-२।।

उपसंहरति—इति त इति।।१४३।।

नमः सप्तदशायास्तु षोडशापेक्ष्य कल्पिता। कला न विद्यते यत्र विभाते परमात्मना।।

अत्र कलापदम् आवर्तते। तत्रैकं वर्णितार्थं पूर्वान्वयि। द्वितीयं परिच्छेदार्थकम् उत्तरान्वयि। परमत्वं केवलत्वम्। स्फुटमन्यत्।

इति श्रीदत्तकुलतिलककृष्णचन्द्रात्मज-दिलारामसूरितनूज-रामकृष्णस्य श्रीविश्वेश्वराश्रमपूज्यपादानुगृहीतस्य कृतावात्मपुराणटीकायां सप्रसवाख्यायां सप्तदशोऽध्यायः समाप्तः।।१६।।

सात्त्विक और शुद्धमना हैं।।१४१।। प्राचीन काल में गुरूभाव से ब्रह्माजी ने जब इस परमार्थ वस्तु का उपदेश दिया तब देवता भी इस ब्रह्म को इसीलिये समझ पाये कि उन्होंने भगवान् श्रीनृसिंह की उपासना से अपना मानस भली-भाँति शोधित कर रखा था।।१४२।।

हे शिष्य! तुमने जिस पिप्पलाद-प्रोक्त ज्ञान की जिज्ञासा की थी उसके बारे में सब कुछ मैंने बता दिया। और क्या सुनना चाहते हो?।।१४३।।

।। सत्रहवाँ अध्याय सम्पूर्ण।।

ॐ

नृसिंहतापनीयेशावास्यसारार्थप्रकाशे

ब्रह्म-देवसंवादः

अष्टादशोऽध्यायः

सानुवादं प्रश्नः

श्रुत्वा नानाविधं ज्ञानं शिष्यस्तृप्तिमुपागतः। श्रुत्वा चाऽऽश्चर्यमतुलं पुनः प्रष्टुं मनो दधे।।१

उवाच च वचस्त्वेतत् स्वगुरुं हृष्टमानसः। उत्फुल्लवदनाम्भोजः कृतकृत्येन चेतसा।।२

भगवन् ! भवतानेकमुनीनां भावितात्मनाम्। सुराणामपि विज्ञानं बहुशो मह्यमीरितम्।।३

भक्तत्राणे परापेक्षा मा ममाऽस्त्विति चिन्तया।
नूनं सर्वात्मभूताय श्रीनृकेसरिणे नमः।।
श्रीमानासुरवारवारणपटुर्घोषो यदीयोऽद्भुतः
क्षोणीध्रानपि चालयन् शकलयन् द्वीपांस्तथाऽष्टादश।
प्रह्लादोदयहेतुरेव भगवानेष स्वरूपाद् बहिः
कञ्चित्कर्तुमशक्नुवन् मुनिवरैरष्टादशे वर्ण्यते।।

अथ मेधावी शिष्यो गुरोरुपदेशायाससाफल्यं दर्शयन् सविस्तरमुक्तमनूद्य पृच्छति—श्रुत्वेति त्रिंशता श्लोकैः। चोऽप्यर्थे भिन्नक्रमः। तथा च तृप्तिमुपागतोऽपि शिष्य आश्चर्यं नृसिंहोपासकदेववृत्तरूपं श्रुत्वा पुनः प्रश्नाय मनः कृतवान्।।१।। उवाच चेति। एतद् वक्ष्यमाणम्। चेतसः प्रमोदेन विकासितवदन इति यावत्।।२।। भगवन्निति। मुनीनाम् ऐतरेयादीनां भावितस्तपसोद्योतित आत्मा मनो येषां ते तथा। सुराणाम् इन्द्रादित्यादीनाम्।।३।।

ॐ

श्रीनृसिंहपूर्वोत्तरतापनीय एवं ईशावास्य उपनिषदों का सारार्थप्रकाशक

अठारहवाँ अध्याय

श्रीसद्गुरु ने असीम कृपा व धैर्य से वेदों का गूढ ज्ञान अनुपम स्पष्ट सरल संश्लिष्ट अपेक्षितसर्वसंग्राहक रुचिकर शैली में सुनाया तो स्वाभाविक था कि विवेक-वैराग्यादि से सम्पन्न शिष्य की जिज्ञासा-पिपासा मिटने के साथ-साथ बुद्धि में ज्ञान का विकास और मन में सन्तोष का गाम्भीर्य प्राप्त हुआ। पूर्वाध्याय में जो यह सुनने को मिला कि श्रीनृसिंह भगवान् की उपासना से देवताओं को तत्त्वनिष्ठा सुलभ हुई, उससे शिष्य को आश्चर्य हुआ कि अतिशुद्धहृदय देवताओं को भी जिस उपासना की ज़रूरत पड़ी वह न जाने कैसी होगी ! उसके फलरूप शोधन से तत्त्वबोध भी कैसा हुआ होगा ! यद्यपि उसका मन विद्यालाभ से प्रसन्न था और चित्त में निश्चय था कि विद्याप्राप्ति के बाद अब कोई कर्तव्य अधूरा रह नहीं गया तथापि उक्त आश्चर्यवश खिले मुख से उसने निजगुरु से निवेदन किया :।।१-२।।

गतं तमस्ततः सर्वं घोरसंसारकारणम्। आनन्दात्मा च भात्येष स्वप्रभश्च निरन्तरम्।।
हृदये कामिनां यद्वत् कामिनी दुष्टचेतसाम्।।४
अद्याऽहं कृतकृत्योऽस्मि भवतो वाक्यगे मया। प्रष्टव्यं नाऽऽत्मविज्ञाने किञ्चिदप्यवशिष्यते।।५
परं कौतूहलं किञ्चिद् वर्तते बालभावतः। लालितो भवता यस्मादहं नानाविधोक्तिभिः।।६
मह्यं यस्मात्त्वया प्रोक्तमैतरेयसमीरितम्। ज्ञानमाख्यानसहितं दुर्लभं यद् द्विजन्मनाम्।।७
श्रोतारश्चाऽपि वक्तारो भाग्यवन्तोऽत्र केचन। एतच्छ्रुत्वाऽपि जीवन्ति मादृशास्त्वादृशा अपि।।८
कौषीतकेस्तु यज्ज्ञानमुच्छिन्नमिव वर्तते। विरलेष्वेव विप्रेषु क्वचिद् देशेषु[1] नास्ति यत्।।९
इन्द्रप्रतर्दनाख्यानं श्रुतं तद् रोमहर्षणम्। अजातशत्रोर्बालाकेः संवाद उभयोरपि।
आश्चर्यकारणं यत्र बुद्धिवृद्धिश्च जायते।।१०

गतमिति। ततो विज्ञानात् तम आवरणम् गतम् अत एव आत्मा यथावद्भाति। तस्य निरतिशयप्रेमगोचरतायां दृष्टान्तः—कामिनीति।।४।। अद्येति। वाक्यगे वाक्यलब्धे आत्मनिर्णये प्रष्टव्यं सन्दिग्धं किञ्चिन्न अस्तीत्यर्थः।।५।। परमिति। 'तथापि' इत्यादिः। तथापि एकं कौतूहलं कुत्राऽप्यर्थे जिज्ञासारूपं मम वर्तते बालभावमादाय। बालभावाऽऽदाने हेतुः पुनः पुनः प्रश्नेऽपि विनोद्वेगमुत्तरोक्तिरूपं लालनमित्यर्थः।।६।।

लालनरूपतयाऽतीतकथाप्रबन्धं वर्णयति—मह्यमित्यादिना। आदावैतरेयविज्ञानमुक्तम् यद् द्विजानां दुर्लभम्।।७।। दुर्लभत्वमेव स्फुटयति—श्रोतारश्चेति। अत्र द्विजानां मध्ये य एतद् विज्ञानं श्रुत्वा जीवन्ति प्राणधारणमिव मन्यन्ते ते मादृशा भाग्यवन्तः श्रोतारः केचन विरला एव। तथा त्वादृशा वक्तारः अपि केचन एवेति सम्बन्धः।।८।।

कौषीतकेस्त्विति। कौषीतकिमुनिसम्बन्धिज्ञानमप्युक्तं यदिदानीमुच्छिन्नं लुप्तसम्प्रदायम् इव केषुचिद् विरक्तेष्वेव दृश्यते, देश्येषु देशसम्बन्धेन प्रसिद्धेषु जनेषु नास्ति—अमुकदेश एतच्छाखाध्यायिन इति प्रसिद्धिर्नास्तीति यावत्।।९।। इन्द्रेति। यत् कौषीतकिविज्ञाने इन्द्रप्रतर्दनयोर्वृत्तं श्रुतं तथाऽऽश्चर्यकारणभूतो बुद्धिवर्द्धकश्च अजातशत्रुबालाक्योः संवादः श्रुत इत्यर्थः।।१०।।

हे भगवन्! तपस्या से उद्योतित अनेक मुनियों को और देवों को हुए ज्ञान का आपने मुझे बहुतेरा उपदेश दिया। उसे समझने से मेरा सारा अज्ञान-आवरण निवृत्त हो गया जो अज्ञान घोर संसार का कारण है। आनन्दरूप साक्षात् स्वप्रभ परमार्थ वस्तु से मुझमें किञ्चिद् भी अंतर नहीं—यह मुझे वैसे ही स्मरण बना रहता है जैसे कामनादोष से ग्रस्त कामुकों के हृदय में कामिनी का स्मरण स्थायी रहता है।।३-४।। अब मुझे अपने लिये कोई कर्त्तव्य बचा नहीं लग रहा, आपके वाक्यों से लब्ध आत्मनिर्णय के बारे में भी ऐसा कोई संदेह नहीं बचा जिसे मिटाने के लिये कुछ पूछना ज़रूरी लगे।।५।। फिर भी क्योंकि नाना प्रकार की कथाएँ सुनाकर आप मुझसे मानो लाड कर रहे हैं इसलिये बालोचित प्रतिक्रिया के रूप में मुझे भी कुछ कुतूहल हो रहा है।।६।।

द्विजों के लिये दुर्लभ वह ज्ञान आपने आख्यानों से उपबृंहित कर सर्वप्रथम सुनाया जो महर्षि ऐतरेय द्वारा प्रकाशित किया गया था।।७।। ऐसे परमार्थबोध के आप-सरीखे दुर्लभ वक्ता और मुझ जैसे श्रोता अवश्य सौभाग्यशाली हैं। उस ज्ञान के बाद जीवन बना रहना भी एक आश्चर्य है क्योंकि जीवन जिस अविद्या की तरंगों का नाम है उस अविद्या के निरवशेष नाश को अनुभूयमान जीवन के साथ संगत कर पाना युक्तिकुशलों के लिये भी संभव नहीं है। तथापि वामदेव आदि के उदाहरण से आपने जीवन्मुक्ति स्पष्ट की।।८।।

---

१. देश्येषु—इति टीकापाठः।

ज्ञेयं चारण्यकमहं यदादित्यादधीतवान्। याज्ञवल्क्य इति[1] स्वस्य स्मृतौ संन्यासिनोऽवदत्।।११
त्रिकाण्डं तच्च विविधमुपासनविवर्जितम्। त्रिभिर्वंशैश्च सहितं मधुब्राह्मणसंस्थितम्।।१२
मन्त्रा येऽत्र तदर्थानामाविष्करणतो महान्। मधुकाण्डस्य सर्वस्य मन्त्रार्थः प्रकटी कृतः।।१३
खिलकाण्डस्य चाऽप्यर्थः तत्रान्तर्भावमागतः। दध्यङ्ङाथर्वणो यत्र गुरुः शिष्यौ तथाऽश्विनौ।।१४
शक्रोऽप्यनर्थहेतुश्च जीवनं च पुनर्मुनेः। अश्विनोरग्रतस्तत्र मन्त्रद्रष्टुर्यतोऽद्भुतम्।।१५
याज्ञवल्क्यीयकाण्डेऽपि जल्पवादकथा द्विधा। प्रवृत्ताऽध्यायभेदेन ब्रह्मज्ञानकरी सदा।।१६

चतुर्थादीनां चतुर्णाम् अध्यायानामर्थमनुवदति—ज्ञेयमिति नवभिः। अयं याज्ञवल्क्यः स्वस्य स्मृतौ स्वकर्तृके स्मृत्याख्यग्रन्थे संन्यासिनः प्रति इति अवदत् उपदिदेश। 'इति' किम्? 'ज्ञेयं चारण्यकमहं यदादित्यादधीतवान्' इति; यद् मयाऽऽदित्याद् अधीतं तद् बृहदारण्यकमपि मुमुक्षुणा ज्ञेयम् अर्थतोऽवधार्यमिति तदर्थः।।११।। त्रिकाण्डमिति। तद् अवश्यज्ञेयतयोक्त आरण्यके प्रोक्तं विज्ञानं कीदृशम्? त्रिकाण्डं मधुकाण्ड-याज्ञवल्क्यकाण्ड-खिलकाण्डैः प्रकाशितं नानारूपं वंशत्रयसहितं मधुब्राह्मणे संस्थितं प्राधान्येन पर्यवसन्नं च तद् उपासनवर्जितमुक्तमित्यर्थः।।१२।। मन्त्रा इति। यत्र आरण्यकीयविज्ञाने मधुकाण्डस्य सर्वस्य महानर्थः प्रकटी कृतः। कथम्? अत्र मधुकाण्डे ये मन्त्राः तेषामर्थाविष्करणमुखेन इत्यर्थः।।१३।। खिलेति। तत्र मधुकाण्डीयमन्त्रार्थे खिलकाण्डीयोऽर्थोऽपि अन्तर्भावेणोक्तो यत्र मधुकाण्डार्थे दध्यङ् गुरुः उक्तः अश्विनौ च शिष्यतयोक्तावित्यर्थः।।१४।। शक्र इति। तथा यत्र मन्त्रद्रष्टुर्मुनेः शक्रोऽनर्थहेतुः उक्तः। तथाऽश्विनोरग्रतः त्वस्य मुनेः पुनर्जीवनम् उक्तम् इत्यर्थः।।१५।। याज्ञवल्क्यीयेति। याज्ञवल्क्यीये काण्डे पञ्चमषष्ठाऽध्यायरूपे क्रमेण जल्परूपा वादरूपा च या कथा प्रवृत्ता साऽध्यायभेदेन उक्तेत्यर्थः।।१६।।

तदनन्तर आपने कौषीतकि मुनि से सम्बद्ध आत्मविज्ञान प्रकाशित कर अतुलनीय उपकार किया क्योंकि वह सम्प्रदाय—कौषीतकि शाखा—अब लगभग लोप ही हो गया है। कोई ऐसा देश नहीं रहा जहाँ के लोग कौषीतकि शाखा के अध्येता के रूप में जाने जाते हों। थोड़े-से विरक्त महात्मा उस शाखा के उपनिषद्भाग की ज़रूर रक्षा कर पाये हैं, वे ही उसका अर्थविस्तार समझाते हैं। उस विज्ञान के अंतर्गत आपने ज्ञानवर्धक दो प्रसंग सुनाये—एक थी इन्द्र-प्रतर्दन की कथा जिसमें प्रतर्दन की वीरता सुनकर रोंगटे खड़े हो गये! दूसरा था अजातशत्रु-बालाकि का संवाद जिसमें जीवतत्त्व के शोधन का विस्मयकारी ढंग स्पष्ट हुआ।।९-१०।।

महर्षि याज्ञवल्क्य ने स्वरचित स्मृतिग्रन्थ में संन्यासियों के लिये विधान किया है 'आदित्य से जिसका मैंने अध्ययन किया था वह आरण्यक यतियों को समझने का प्रयास करना चाहिये'। उसी आरण्यक को ग्रन्थ-अर्थ की दृष्टियों से बड़ा होने से बृहदारण्यक कहते हैं। उसमें तीन काण्ड (विभाजन) हैं—मधुकाण्ड, मुनिकाण्ड, खिलकाण्ड। तीनों में प्रधान तो मधु-ब्राह्मण ही है क्योंकि उसी के स्पष्टीकरण में बाकी ग्रंथ गतार्थ है। तीन विद्यावंशों का भी उक्त आरण्यक में उल्लेख है जिस सन्दर्भ में आपने अपने अनुपम अनुसन्धान से अत्यंत स्पष्टता उपस्थित की। बृहदारण्यक में आये उपासनाप्रसंगों को निर्गुणविद्याप्रसंगों से विविक्त कर मुझ जैसे मंदप्रज्ञों पर असीम अनुग्रह किया क्योंकि उपनिषत्क्रम से पढ़ने पर बीच-बीच में उपासनादि का विषय आने से प्रवाह अवरुद्ध हो जाता है, सारी बात समझ नहीं आ पाती और आप जैसे श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ से अतिरिक्त किसी में ऐसी सामर्थ्य हो नहीं सकती कि वैदिक क्रम में से प्रसंग छाँट ले, कुछ प्रसंग छोड़ दे, फिर भी परम प्रामाणिक तथा सर्वांग-संपूर्ण वर्णन कर दे!।।११-२।। सारे मधुकाण्ड के महान् अर्थ को आपने उन मन्त्रों की व्याख्या द्वारा प्रकट कर दिया जो उस काण्ड के उपसंहार में स्थित हैं।।१३।। दधीचि गुरु और अश्विनीकुमार जहाँ शिष्य रूप में वर्णित हैं उसी मधुकाण्ड के अर्थ में अपने खिलकाण्ड का भी मुख्य अर्थ निहित कर दिया।।१४।। मन्त्रद्रष्टा दधीचि के अनर्थ का हेतु इन्द्र बना और अश्विनीकुमारों के प्रयास से उन्हें पुनः जीवन प्राप्त हुआ यह अद्भुत कथा आपसे सुनी।।१५।।

---
१. 'ज्ञेयमारण्यकमहं यदादित्यादवाप्तवान्। योगशास्त्रं च मत्प्रोक्तं ज्ञेयं योगमभीप्सता।।' इति प्रायश्चित्ताध्याये यतिधर्मप्रकरणे श्लो. १००।

आश्वलादिमुनीन्द्राणां संशया हृदयस्थिताः। विभिन्ना अपि गार्ग्याश्च बलादापतिता हि ये।।१७
याज्ञवल्क्येन मुनिना शाकल्यस्य पुनस्त्विमे। अनेन वपुषा भूयो न भवन्ति यथा तथा।।१८
जनको मिथिलानाथो भीतः संसारकाननात्। बहिर्नीतोऽमुनैवाऽपि भार्या स्वस्य च तादृशी।।१९
श्वेताश्वतरनामाऽपि यद् यतिभ्योऽवदत् पुरा। द्विजेभ्योऽपि यदब्रूताम् उभौ तौ कठतित्तिरी।।२०
यमो यत्र गुरुः शिष्यो नचिकेता विवेकवान्। वरुणश्च भृगुस्तद्वद् वेनानुभवभाषणम्।।
संन्यासः परमं यत्र सत्यादीनां च साधनम्।।२१
जाबालादिश्रुतिप्रोक्तं ज्ञानं नानाविधं महत्। पूर्वे संन्यासिनो यत्र संवर्ताद्या मुनीश्वराः।।२२
हेतुस्त्यागस्य वैराग्यं तस्य योगादिकं तथा। अधिकारो विरक्तानां तस्य वेषश्च यत्र सः।।२३
शिखायज्ञोपवीतादिरहितोऽप्येकदण्डवान्। आचारो ब्रह्मचर्यादिरात्मज्ञानं परं तथा।।२४

तत्र पञ्चमे जल्पकथोक्तेत्याह—आश्वलादीति द्वाभ्याम्। आश्वलादीनां गार्ग्याश्च हृदये स्थिता ये संशया बलात् तर्कादिरूपा आपतिताः प्रकाशिता इति यावत्, ते याज्ञवल्क्येन विभिन्ना जल्पकथया निरस्ताः। शाकल्यस्य तु वर्तमानशरीरेण सह ते संशयाः पुनः यथा न भवन्ति तथा विभिन्नाः ! इति द्वयोरर्थः।।१७-८।। वादकथया तु षष्ठे जनकः संसाराद् बहिष्कृतः, सप्तमे मैत्रेयी च संसाराद् बहिष्कृतेत्याह—जनक इति। अमुना याज्ञवल्क्येन संसाराद् भीतो जनकः ततो बहिर्नीतो मोचितः, तादृशी संसारभीता स्वस्य भार्या च मोचितेत्यर्थः।।१९।।

अष्टमादित्रयार्थमाह—श्वेताश्वतरेति द्वाभ्याम्। तदप्युक्तमिति शेषः।।२०।। यम इति। यत्र कठोक्ते यमनचिकेतसौ गुरुशिष्यौ, तित्तिर्युक्ते च वरुणभृगू, तथा वेनानुभवः सत्यादीनां मध्ये संन्यासः परमं साधनम् इति चोक्तमित्यर्थः।।२१।। एकादशार्थमाह—जाबालादीति त्रिभिः। यत्र जाबालाद्युक्तविज्ञाने संवर्ताद्याः पूर्वे प्राचीनाः परमहंसा उक्ताः।।२२।। हेतुरिति। तस्य पारमहंस्यरूपस्य त्यागस्य हेतुर्वैराग्यं योगादिकं चोक्तं, तथा विरक्तानां तस्य त्यागस्य अधिकार इत्युक्तम्। तथा त्यागिनां वेषश्च शिखादिरहितत्वे सत्येकदण्डत्वलक्षण उक्तः। तेषामेव ब्रह्मचर्यादिरूप आचारः, परं ज्ञानं चोक्तम्। इति द्वयोरर्थः।।२३-४।।

बृहदारण्यक की पौराणिक व्याख्या में फिर आपने मुनिकाण्ड समझाया। उसमें जल्पकथा और वादकथा दोनों आयी हैं। विभिन्न अध्यायों में आपने दोनों कथाएँ समझाईं जिन्हें सही-सही समझने पर ब्रह्मज्ञान अवश्य हो जाता है।।१६।।

आश्वल आदि मुनिश्रेष्ठों के तथा ब्रह्मवादिनी गार्गी के हृदय में स्थित संशय तर्क आदि के रूप में प्रकट होने पर याज्ञवल्क्य मुनि द्वारा जल्पकथा से निरस्त कर दिये गये। शाकल्य के तो संशय याज्ञवल्क्य ने ऐसे मिटाये कि उसके उस शरीर में फिर संशय हो ही न सकें !।।१७-८।। संसाररूप जंगल से डरे मिथिलानरेश जनक को और वैसी ही डरी हुई अपनी भार्या मैत्रेयी को याज्ञवल्क्य ने वादकथा द्वारा उस जंगल से बाहर निकाला।।१९।।

श्वेताश्वतर ने ब्रह्मवादी संन्यासियों और द्विजों को संसारकारण के बारे में जो रहस्य समझाया उसे बहुत विस्तार से आपने स्पष्ट किया। कठ और तित्तिरि द्वारा प्रोक्त विद्याएँ भी आपने सुनाईं। यम गुरु और विवेकी नचिकेता शिष्य रूप में कठविद्या में वर्णित थे। तित्तिरि की कथा में गुरु वरुण और शिष्य भृगु थे एवं वेन-नामा गंधर्व के अनुभव का उसमें अनुवाद वर्णित था। वहीं यह भी स्पष्ट हुआ कि सत्यादि विद्यासाधनों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है संन्यास।।२०-२१।।

जाबाल आदि उपनिषदों में प्रकट अनेक प्रकार का अध्यात्मज्ञान भी आपने सुनाया जिसमें संवर्त आदि प्राचीन परमहंस मुनीश्वरों का उल्लेख आया और पता चला कि पारमहंस्यरूप त्याग का उचित हेतु वैराग्य ही है एवं वैराग्य की दृढता का प्रबल उपाय योगादि है। आपने निर्धारित किया कि वैराग्यवान् का ही परमहंस-संन्यास में अधिकार है

सामाध्यायत्रयस्यार्थो यत्र ज्ञानं सुशोभनम्। आरुणिः श्वेतकेतुश्च गुरुशिष्यौ महामुनी।।२५
सनत्कुमारो भगवान्नारदश्च तथैव तौ। यत्र ब्रह्मा गुरुः शिष्यौ तद्वदिन्द्रविरोचनौ।।२६
केनेषोत्थं च विज्ञानमिन्द्रो यत्र व्यलोकयत्। ब्रह्मविद्याप्रसादेन यक्षं ब्रह्म सनातनम्।।२७
अथर्वणे च या विद्या ब्रह्मणोक्ताऽतिशोभना। षट् प्रश्ना उत्तरं तेषां पिप्पलादेन कीर्तितम्।।
सर्वमेतत् त्वया प्रोक्तं यद्यत् पृष्टं मया गुरो।।२८
ततोऽहमधुना किञ्चित् प्रष्टुमिच्छामि बालकः। अवधार्य गुरो ! तन्मे सर्वं त्वदनुकीर्तितम्।।२९
भवता कथितं देवा ब्रह्मणो ब्रह्मबोधनम्। प्राप्तास्तदहमिच्छामि श्रोतुं ब्रह्मावबोधनम्।।३०

द्वादशादित्रयवृत्तमाह—सामेति द्वाभ्याम्। साम्नश्छान्दोग्यस्य यत् षष्ठाद्यध्यायत्रयं तस्य अर्थः शोभनज्ञानमयः अध्यायत्रयेणोक्तः यत्र आरुण्यादयो गुरवः, श्वेतकेत्वादयः शिष्याश्चोक्ताः।।२५-६।। पञ्चदशादिवृत्तमाह—केनेषोत्थमिति। केनेषः केनोपनिषत् तदुत्थं तत्प्रतिपादितं ज्ञानमुक्तं यत्रेन्द्रो ब्रह्मविद्यानुग्रहेण यक्षरूपं ब्रह्म व्यलोकयद् इत्युक्तम् इत्यर्थः।।२७।। अथर्वण इति। अथर्वाणं प्रति या विद्या ब्रह्मणोक्ता ये च षट् प्रश्ना यच्च तेषां प्रश्नानाम् उत्तरं पिप्पलादेन उक्तम् एतत्सर्वं त्वया मह्यमुक्तम् इत्यर्थः।।२८।। ततोऽहमिति। तत उक्तप्रश्नोत्तरैर्लालनात् किञ्चिद् अपरमपि प्रष्टुमिच्छामि। एतच्च मम प्रश्ने प्रवर्तनं न 'अन्धरज्जुन्यायेन' इत्याह—अवधार्येति। हे गुरो ! तत् प्रश्ने प्रवर्तनं मे मम सर्वं त्वदनुकीर्तितमवधार्य एव, न तु पूर्वं विस्मृत्य इत्यर्थः।।२९।। फलितं प्रश्नं दर्शयति—भवतेति। स्पष्टम्।।३०।।

और परमहंसों का शास्त्रसंमत वेष बताया कि उसे शिखा-यज्ञोपवीत आदि से रहित रहकर एक दण्ड रखना चाहिये। ब्रह्मचर्यादिरूप बाह्य एवं ज्ञानरूप (ज्ञानाभ्यासरूप) आंतरिक आचार भी संन्यासी के लिये उचित है यह सुव्यक्त हुआ।।२२-४।।

सामवेदीय छान्दोग्योपनिषत् के अंतिम तीन अध्यायों का सुशोभन ज्ञान भी सुनने को मिला जिनमें गुरु थे महामुनि आरुणि, भगवान् सनत्कुमार और प्रजापति ब्रह्मा एवं शिष्य थे मुनिपुत्र श्वेतकेतु, देवर्षि नारद और इन्द्र-विरोचन।।२५-६।। केन-नामक भी सामवेद की ही उपनिषत् है, उसका व्याख्यान भी आपसे सुना जहाँ बताया कि ब्रह्मविद्या की कृपा से इंद्र ने सनातन ब्रह्म का यक्षरूप में दर्शन पाया।।२७।।

अथर्ववेदीय उपनिषदें भी आपने सविस्तर समझायीं : अथर्वा को ब्रह्मा ने जिस अत्यंत शुभ विद्या का उपदेश दिया और जिन छह प्रश्नों के उत्तर पिप्पलाद ने दिये वे आपने क्रमशः मुण्डक और प्रश्न उपनिषदों के अनुसार सुनाने की कृपा की। हे गुरुदेव ! ये तो स्थूल शीर्षक ही मैंने उद्धृत किये हैं, आपने तो वह सब कुछ सुस्पष्ट किया जो मैं पूछता रहा।।२८-२९।। आपने जो सुनाया उसका मैंने अवधारण किया है और बालसुलभ कुतूहल-वश अब और कुछ पूछना चाहता हूँ : आपने कहा कि देवताओं ने ब्रह्मा से ब्रह्मज्ञान पाया; मैं सुनना चाहता हूँ कि ब्रह्मा ने देवों को ब्रह्म कैसे समझाया।।३०।।

इस प्रकार आत्मपुराणोक्त उपनिषदों का यह संक्षेप समझना चाहिये :

वेद	अध्याय	उपनिषत्	प्रवक्ता	गुरु	शिष्य
	१	ऐतरेय	ऐतरेय	ऋषि, वामदेव	प्रजाएँ
ऋक्	२	कौषीतकि	कौषीतकि	इन्द्र	प्रतर्दन
	३	कौषीतकि	कौषीतकि	अजातशत्रु	बालाकि

शुक्लयजुः	४	बृहदारण्यक	आदित्य	दध्यङ्ङाथर्वण	अश्विनीकुमार
	५	बृहदारण्यक	आदित्य	याज्ञवल्क्य	विभिन्न ऋषि
	६	बृहदारण्यक	आदित्य	याज्ञवल्क्य	जनक
	७	बृहदारण्यक	आदित्य	याज्ञवल्क्य	मैत्रेयी
कृष्णयजुः	८	श्वेताश्वतर	श्वेताश्वतर	श्वेताश्वतर	ब्रह्मवादी यति-द्विज
	९	कठ	कठ	यम	नचिकेता
	१०	तैत्तिरीय	तित्तिरि	वरुण	भृगु
				वेन	अधिकारिगण
अथर्व	११ (केवल संवाद) क	आरुणिक		प्रजापति	आरुणि
कृष्णयजुः	(आरंभ-श्लो. ३६७) ख	गर्भ			
कृष्णयजुः	(४३९-९०) ग	अमृतनाद			
शुक्लयजुः	(४९१-५२६) घ	हंस		सनत्सुजात	गौतम
कृष्णयजुः	(५२७-५१) ङ	क्षुरिका			
शुक्लयजुः	(५५२-८१; ७६८ आदि) च	जाबाल		याज्ञवल्क्य	जनक, अत्रि
शुक्लयजुः	(८०४ आदि; ८३२ आदि) छ	परमहंस		प्रजापति	नारद
कृष्णयजुः	(८२२-३२; ८४२-७०) ज	ब्रह्म		पिप्पलाद आंगिरस	शौनक
कृष्णयजुः	(८७१-१०१४) झ	ब्रह्मबिंदु (अमृतबिंदु)			
कृष्णयजुः	(१०१८-४०) ञ	नारायण			
साम	(१०४१-७०) ट	महोप.			
ऋक्	(१०७१ आदि) ठ	आत्मप्रबोध			
कृष्णयजुः	(१११९ से अंत तक) ड	कैवल्य		ब्रह्मा	आश्वलायन
साम	१२	छान्दोग्य		आरुणि	श्वेतकेतु
	१३	छान्दोग्य		सनत्कुमार	नारद
	१४	छान्दोग्य		प्रजापति	इंद्र (-विरोचन)
	१५	केन		इन्द्र, उमा	देवता, इंद्र
अर्थव	१६	मुण्डक		अंगिरस्	शौनक
	१७	प्रश्न		पिप्पलाद	सुकेशा आदि छह
	(३३-६७) १८क	अथर्वशिर		रुद्र	देवता
	(६९-७३) ख	नृसिंहपूर्वतापनीय		प्रजापति	देवता
	(७४-५५०) ग	नृसिंहोत्तरतापनीय		प्रजापति	देवता
शुक्लयजुः	(५५१-५९१) घ	ईशावास्य			

इत्युक्तो गुरुरप्याह कथामेतां सुशोभनाम्। उपासका नृसिंहस्य देवा ये कीर्तिता मया।
त इमे सर्वभूतानां चक्षुरादिषु संस्थिताः।।३१

नृसिंहो भगवान् क्रुद्धः सर्वसंहारकारकः। ब्रह्मा च सर्वजनको विष्णुरप्येष पालकः।।३२

उपोद्घातेऽथर्वशिरोऽर्थवर्णनम्

अथर्वशिरसि प्रोक्तो रुद्रो यो देवतागुरुः। सर्वव्यापिनमात्मानमुक्त्वा चान्तर्दधे पुमान्।।
अन्तरादन्तरं गत्वा पश्यतां त्रिदिवौकसाम्।।३३

ब्रह्मादयस्तु यस्यैताः सत्यान्ताश्च विभूतयः। विश्वरूपस्य देवस्य ह्युमाभर्तुर्महात्मनः।।३४

एवं पृष्टो गुरुः आथर्वणीमिमां नारसिंहीं कथामुक्तवानित्याह—इत्युक्त इति। तत्र उपासकत्वेन ये निर्दिष्टास्ते चक्षुरादीनामधिष्ठातार आदित्यादयो बोध्या इत्याह—उपासका इति।।३१।। उपास्यतत्त्वं वर्णयति—नृसिंह इति। ना चासौ सिंहश्च स तथा भगवान् परमेश्वर उपास्य इति शेषः। तस्य सिंहभावानुकूलं तस्य रुद्रत्वमाह—क्रुद्धः सर्वसंहारकारक इति। क्रोधेन सर्वसंहारकारकत्वाद् अयमेव रुद्र इति भावः। नृभावानुकूलां ब्रह्मविष्णुरूपाभ्यां सृष्टिस्थितिहेतुतामाह—ब्रह्मा चेति। तथा च पूर्वतापनीयश्रुतिः—'स ब्रह्मा स शिवः स हरिः' (१.४) इति।।३२।। तथा पूर्वतापनीये 'उमापतिः पशुपतिः' इत्यादिना (१.६) रुद्राऽभेद उक्तः। तं स्फुटयन्, समानायाम् आङ्गिरसाख्यशाखायां गता या अथर्वशिरोनामकोपनिषत् तस्यां 'रुद्रचरितम्' (खंड ४) इत्यन्तग्रन्थेन वर्णितं महिमानं पूर्वतापनीयार्थाऽन्तर्भावेण प्रतिपादयति—अथर्वशिरसीत्येकचत्वारिंशता श्लोकैः। यो नृसिंहोऽथर्वशिरसि वर्णितरुद्ररूपः। यो रुद्रः पुमान् 'पातेर्डुम्सुन्' (उणा ४८२३), शरणागतानां पालकः। देवानां कैलासरूपं सत्त्ववृत्तिरूपं वा स्वर्गं प्राप्तानां 'त्वं कोऽसि'[1] इत्यात्मानं पृच्छतां च गुरुः सन्नात्मानं सर्वव्यापिनं प्रतिपाद्य तथाऽन्तरादन्तरं नितरां प्रत्यग्भावं गत्वा[2] बोधयित्वा तान् पश्यतो देवान् अनादृत्य अन्तर्दधे लीलाविग्रहं तिरोहितं चक्र इत्यर्थः।।३३।। ब्रह्मादय इति। तथा यस्य देवस्य ब्रह्मा हिरण्यगर्भ आदिर्यासां विष्णुस्कन्दादीनां, सत्यमन्ते यासां तास्तथा विभूतयो 'यो वै' इत्यादिकैर्मन्त्रैरथर्वशिरसि[3] प्रोक्ता इत्यर्थः।।३४।।

यों अठारह अध्यायों में प्रधान उपनिषदों के मुख्यतः निर्विशेष प्रसंगों का श्रीशंकरानन्द जी की विलक्षण दृष्टि से खुलासा हो गया है।

श्रद्धा-भक्ति से मेधाविता-प्रदर्शनपूर्वक विनय से सद्विद्या की जिज्ञासा सुनकर शिष्य के कल्याण के ही लिये सतत उद्यत गुरु ने यह अत्यन्त सुशोभन कथा सुनायी :

जिन देवताओं को मैंने भगवान् श्रीनृसिंह की उपासना से शुद्धचेता होकर तत्त्वनिष्ठा पाने वाला कहा वे ये ही हैं जो सब प्राणियों के नेत्रादि में सम्यक् स्थित हैं। (चक्षु आदि के अधिष्ठाता आदित्यादि देवों ने वह साधना की थी यह भाव है। समस्त इंद्रियों के उपशम से ही मन्त्रसाधना-पूर्वक तत्त्वविद्या का उन्मेष संभव होने से सभी जीव यह प्रक्रिया अपनायें यह तात्पर्य है।)।।३१।।

मुमुक्षु को भगवान् श्रीनृसिंह की उपासना करनी चाहिये। वे ही सर्वोत्पादक ब्रह्मा, पालनकर्ता विष्णु और क्रोध से सबका संहार करने वाले रुद्र हैं।।३२।।

---

१. 'ॐ देवा ह वै स्वर्गं लोकमायंस्ते रुद्रमपृच्छन् को भवानिति'—अथर्वशिरः १।
२. 'सोऽन्तरादन्तरं प्राविशत्'—अथर्वशिरः १।
३. 'यो वै रुद्रः स भगवान् यश्च ब्रह्मा तस्मै वै नमो नमः' इति द्वात्रिंशद्भिर्मन्त्रैः।

दृष्ट्वा सोमं यमात्मानं हृष्टचित्ताः समुत्सुकाः। एवमाहुः सदैवान्यानानुग्रहकरा नृणाम्।।३५
अपाम सोमममृतं नेत्राभ्यां पुण्यकारिणः। अमृता वयमेतस्माद् अभूमेश्वरयाजकाः।।३६
अयाम परमं ज्योतिरानन्दात्मानमद्वयम्। नित्यमात्मतया सोमं सर्वदुःखविवर्जिताः।।
देवानिन्द्रादिकान् सर्वान्न विद्मः स्वात्मरूपतः।।३७
नारीकुणपपण्येन जगतो योऽत्र वञ्चकः। धूर्तः कामस्तथाऽरातिः क्रोधादिर्विविधोऽपि यः।।३८
किं करिष्यति भक्तानामस्माकं सोम आत्मनि। नित्यमात्मतया प्राप्तो ह्यस्माभिर्यैरयं पुमान्।।३९
हृदि तिष्ठन्ति निखिला देवता नः सदैव ताः। सोमो हृदयगो यस्मात् सर्वदेवात्मको हि नः।।४०

'अपामे'[1] त्यादिमन्त्रस्याऽर्थमाह—दृष्ट्वेति पञ्चभिः। यं रुद्ररूपम् आत्मानं सोमम् उमासहितं दृष्ट्वा ते देवा अन्यान् स्वमुपगतान् प्रति एवमाहुः वदन्ति लोकानुग्रहायेत्यर्थः।।३५।। 'एवं' कथम् ? इत्याकांक्षायां तद्वाक्यान्याह—अपामेत्यादिना। वयं देवाः पुण्यकारिणो महाभागाः स्म यत उमासहितं शम्भुरूपम् अमृतं नेत्राभ्यां नेत्ररूपपात्रैः अपाम पीतवन्तः अत एव अमृता अमरणधर्माणोऽभूम जाता इत्यर्थः। ईश्वरेत्याद्युत्तरान्वयि।।३६।। अयामेति। वयं यत ईश्वरस्य याजका आराधका अत एव आनन्दरूपं परं ज्योतिः सोमात्मकम् आत्मतया अयाम प्राप्ताः। इदानीम् इन्द्राद्यभिमानं न कुर्म इत्याहुः—देवानिति। इन्द्रादिदेवानात्मत्वेन न विद्मः, सोमस्यैव आत्मतया दर्शनाद् इति भावः। एतेन श्रुतौ 'अविदाम' इत्यकारो निषेधार्थक इति सूचितम्।।३७।। नारीति। यैरस्माभिः सोम आत्मतया प्राप्तो दृष्टः तेषाम् अस्माकमरातिः शत्रुभूतः कामः क्रोधादिः च किम् अपि करिष्यति ? न किमपीति। कीदृशः कामः ? धूर्तः शठः, तुच्छेन नारीसंज्ञशवेन पण्यतयोपन्यस्तेन जगतो धर्मादिरूपसर्वस्वाऽपहारकत्वात्। इति द्वयोरर्थः।।३८-९।।

'हृदि स्था'[2] इत्यादेरर्थं दर्शयति—हृदीति। ताः प्रसिद्धाः सर्वा देवता अस्माकं हृदि तिष्ठन्ति यतः सर्वदेवात्मकः

(अब 'अथर्वशिर उपनिषत्' के 'रुद्रचरित'-प्रसंग का यहाँ निवेश करते हैं क्योंकि कह चुके कि रुद्र भी नृसिंह ही हैं।) नृसिंह ही वह रुद्र हैं जिन्हें अथर्वशिर में देवताओं का गुरु बताया है। शरणागतरक्षक उन रुद्र ने देवों के सम्मुख सर्वव्यापी आत्मा का वर्णन कर उस स्वाऽभिन्न तत्त्व को देवताओं के भीतर से भीतर पहुँचा दिया और उनके देखते-देखते अपना लीलाविग्रह तिरोहित कर दिया।।३३।। उमापति विश्वरूप महात्मा देव की ही ब्रह्मा से सत्य पर्यन्त सब विभूतियाँ हैं। (सत्य अर्थात् द्वैताधिष्ठान।)।।३४।। उत्सुकता से सोमरूप आत्मा का दर्शन कर अन्य नरों पर अनुग्रह करने वाले देवता हमेशा यों कहते हैं :।।३५।। 'हम देवगण अवश्य पुण्यकारी हैं, अत्यन्त भाग्यशाली हैं क्योंकि नेत्र-पात्रों से हमने उस दिव्य अमृत का पान कर लिया जिसे वेद उमासहित शंभु बताते हैं ! उस दर्शन के प्रभाव से हम भी अमर हो गये हैं।।३६।। परमेश्वर की आराधना के प्रभाव से ही नित्य आनंदरूप सोमात्मक परम ज्योति को हम प्रत्यग्रूप से पा सके हैं। सभी दुःखों से छूटे हुए हम स्वयं को इन्द्रादि नहीं समझते, केवल सच्चिदानंद जानते हैं।।३७।।

शवतुल्य नारी को दाव पर रखकर जो व्यवहारभूमि में सारे संसार को ठग लेता है और क्रोध आदि अनेक रूप धारण करने में कुशल बहुरूपिया है वह धूर्त काम ही जीवों का दुश्मन है किन्तु सोमरूप आत्मा के हम भक्तों ने परम पुरुष को सदा के लिये प्रत्यग्रूप जान लिया अतः हमारा वह काम अब कोई नुकसान नहीं कर सकता।।।३८-९।। शास्त्रप्रसिद्ध समस्त देवता हमारे हृदय में हैं क्योंकि सभी देवताओं का आत्मा सोम हमारे हृदय में प्रतिष्ठा पा चुका है।।४०।। प्राण अपान आदि के वह भीतर है (क्योंकि तैत्तिरीय आदि में प्राणमय का आत्मा वही बताया गया है जो

१. अथर्वशिरसि तृतीया 'अपाम सोमममृता अभूमागन्म ज्योतिरविदाम देवान्। किमस्मान् कृणवदराति किमु धूर्तिरमृतं मर्त्यं च।।'इति।

२. 'हृदिस्था देवताः सर्वा हृदि प्राणे प्रतिष्ठिताः। हृदि त्वमसि यो नित्यं तिस्रो मात्राः परस्तु सः।' अथर्वशिरः २।

प्राणापानद्वयान्तस्थस्तयोर्योऽत्र नियामकः। ओङ्काराच्च त्रिमात्राद् यः परतोऽस्ति पुमान् सदा।।४१
मनसो लिङ्गदेहस्य सर्वदैवावभासकः। जगच्चित्रपटस्याऽस्य वासनावासितस्य हि।।४२
वासना यत्र सन्त्येताः शतकोटिसहस्रशः। क्षुत्तृष्णाकाममुख्यानां यतो विश्वं प्रवर्तते।।४३
यस्य नामानि चैतानि सर्वदा प्रणवात्मनः। ओङ्कारः प्रणवः सर्वव्याप्यनन्तश्च तारकः।।४४
सूक्ष्मः शुक्लो वैद्युतश्च परब्रह्मैक एव च। एको रुद्रस्तथेशानो भगवांश्च महेश्वरः।
महादेवस्तथा विष्णुर्ब्रह्मा चैव प्रजापतिः।।४५

सोमः शम्भुरस्माकं हृदि स्थित इत्यर्थः।।४०।। तस्य हृदि स्थितावुपपत्तिमाह—प्राणेति। प्राणापानरूपं यद् द्वयं तस्य मध्यस्थः तयोः प्राणापानयोः नियमनाय, तथा त्रिमात्रात् प्रणवात् स्थूलसूक्ष्मकारणरूपवाच्यतादात्म्यापन्नात् परतः परो यो वर्तते तुरीयरूपेण इत्यर्थः।।४१।।

'रुद्रचरितम्' इत्यत उत्तरग्रन्थस्य तात्पर्यगोचरं तस्य प्रत्यग्भावं विशदयति—मनस इति द्वाभ्याम्। मनसो मनःप्रधानस्य लिङ्गाख्यस्य सूक्ष्मदेहस्य यो देवो भासकः साक्षी। कीदृशस्य लिङ्गदेहस्य ? जगत् स्थूलप्रपंचः तद्रूपं चित्रं प्रति आधारपटभूतस्य, अत एव तल्लेखाभूतवासनाभिर्वासितस्य अङ्कितस्येत्यर्थः।।४२।। वासनाश्रयत्वमेव स्फुटयति—वासना इति। यत्र लिङ्गदेहे एताः तत्तदर्थविषयिकाः क्षुधातृषाकामक्रोधादीनां वासनाः सूक्ष्मावस्थारूपाः सन्ति वर्तन्ते यतो याभिः वासनाभिः विश्वं संसारः प्रवर्तत इत्यर्थः।।४३।।

यस्येति। यस्य देवस्य प्रणवात्मनः प्रणवेन सार्धत्रिमात्रेण तादात्म्यमापन्नस्य एतानि ओङ्कारादीनि[1] प्रजापत्यन्तानि अष्टादश नामानि वैदिकैः उक्तानि। तत्र 'एको रुद्र' इत्येकं[2] नाम, ततः परं नामान्तरम्। इति द्वयोरर्थः[3]।।४४-५।।

सभी कोशों का आत्मा है), प्राणादि का प्रेरक, नियंता है तथा तीन मात्राओं वाले ओंकार से परे है।' (ओंकार की मात्राएँ स्थूल-सूक्ष्म-कारण की वाचक हैं। स्थूलादि तीनों से एकमेक हुआ लगने पर भी परमार्थवस्तु इनसे विलक्षण ही है।)।।४१।।

वे नृसिंहदेव ही हमेशा उस मनःप्रधान सूक्ष्म शरीर के साक्षी हैं जो इस जगद्रूप चित्र का आधारभूत पट है और जगत्संस्कारों से रंजित है। (इस रूपक का सर्वांगपूर्ण विकास चित्रदीपप्रकरण में (पंचद. ६) शंकरानन्दशिष्य विद्यारण्य मुनीश्वर ने किया ही है।)।।४२।। उस सूक्ष्म देह में अनंत वासनाएँ, संस्कार हैं। भूख-प्यास आदि अन्न-प्राणमय-संबद्ध और काम क्रोधादि मनोमयादि से संबद्ध वासनाओं द्वारा ही विश्व का संचालन होता है। (वासना, संस्कार कहते हैं सूक्ष्मावस्था को। विश्व में जो कोई भी परिवर्तन होता है वह तभी जब परिवर्तन के बाद व्यक्त वस्तु पहले सूक्ष्मावस्था में थी। अतः समस्त व्यवहार संस्कारनिमित्तक है। किं च विश्वप्रवर्तन करते चेतन जीव हैं और जीवव्यवहार कामादि के संस्कारों से ही प्रेरित है। ईश्वर भी जड-चेतन में निहित वासनाओं को ही प्रकट करने के द्वारा संचालन करते हैं, इससे भी वासनाओं को विश्वप्रवर्तक माना जाता है।)।।४३।। 'चौथा' रहने पर भी साढ़े तीन मात्राओं से एकमेक हुए उन नृसिंह के ही ये नाम हमेशा प्रसिद्ध हैं : १) ओंकार, २) प्रणव, ३) सर्वव्यापी, ४) अनन्त, ५) तारक, ६) सूक्ष्म, ७) शुक्ल, ८) वैद्युत, ९) परब्रह्म, १०) एक, ११) एक रुद्र, १२) ईशान, १३) भगवान्, १४) महेश्वर, १५) महादेव, १६) विष्णु, १७) ब्रह्मा, १८) प्रजापति।।४४-५।।

---

१. 'अथ कस्मादुच्यत' इत्यादिनाऽथर्वशिरश्चतुर्थखण्डे कथितानि।
२. शंकरानंदीय उपनिषत्पाठ एवम्। नारायणपाठे तु रुद्र इत्येव नाम।
३. विष्णुर्ब्रह्मा प्रजापतिरिति नामत्रयमथर्वशिरसि न श्रूयते।

उच्चार्यमाणो भूतानाम् ऊर्ध्वं नयति तद्वपुः। ओङ्कारस्तत एवाऽयं लोकोन्नतिकरत्वतः।।४६
शब्दब्रह्ममयं वाऽपि सुखं नानाविधं तथा। प्रापयत्यात्मनोऽन्यत्र प्रणवस्तेन गीयते।।४७
प्रणवः प्रलयो वाऽपि नामान्तरत उच्यते। पाप्मनो दुःखयुक्तस्य सर्वस्याऽपि लयो यतः।।
भक्तानां प्रलयस्तस्मात् प्रणवः परिकीर्तितः।।४८

एषां महेश्वरान्तनाम्नां व्युत्पत्तयोऽथर्वशिरस्येव वर्णिताः। ताः प्रदर्शयति—उच्चार्यमाण इत्यादिना।[1] यस्माद् अयं प्रणव उच्चार्यमाणः सन् भूतानां प्राणिनां वपुः तत् प्राणरूपम् ऊर्ध्वं शिरोदेशम् उत्कृष्टलोकरूपं वा नयति प्रापयति ततः प्रवृत्तिनिमित्ताद् लोकानाम् उन्नतिकरत्वरूपाद् अयम् ओङ्कार इत्युच्यत इत्यर्थः। ऊर्ध्वं करोतीति विगृह्य ऊर्ध्वशब्दस्य ओभावो निपातनाद् इति भावः।।४६।।

द्वितीयं प्रणवेति नाम व्युत्पादयति[2]—शब्देति द्वाभ्याम्। श्रुतौ ब्रह्मपदोक्तं सुखं कीदृशम् ? शब्दब्रह्म ऋगादिवेदचतुष्टयरूपम्। अथ वा नानाविधं मानुषानन्दमारभ्य हिरण्यगर्भानन्दान्तम्। तद् आत्मन आराध्याद् अन्यत्र भिन्नेषु आराधकेषु प्रापयति, तदधीनी करोति इति यावत् तेन निमित्तेन प्रणव इत्युच्यते। प्रकर्षेण नमयति इति व्युत्पत्तिकस्य प्रणवशब्दस्य मकारस्थाने वकारनिपातनाद् इति भावः।।४७।। अथवा विकाराणां पापरूपाणां नमनं कारणे आत्यन्तिको लयस्तद्धेतुत्वादस्य प्रणवत्वम् इत्याह—प्रणव इति। अथ वा प्रणवपदेन प्रलयत्वमुच्यते यतो भक्तानां दुःखयुक्तस्य पाप्मनो यो लयः स आत्यन्तिकत्वात् प्रलयरूपो भवति तस्माद् भक्तानां सनिदानदुःखप्रलयरूपत्वाद् अयं प्रणवः उक्तव्युत्पत्त्या कथित इत्यर्थः।।४८।।

इन नामों के अर्थ समझने चाहिये :

१) उच्चारण किया जाने पर प्राणियों के प्राणात्मक शरीर को ऊँचा ले जाता है अतः लोगों की उन्नति करने वाला होने से ही इसे ओंकार कहते हैं। ('ऊँचा' से साधनावस्था में सहस्रारपर्यन्त समझना चाहिये व फलावस्था में ब्रह्मलोक पर्यन्त ऊँचे लोक समझने चाहिये। ॐ के सहारे उपासना करने पर प्राण मूलाधार से उठता चला जाता है तथा मरणोत्तर फल उत्तमलोक-प्राप्ति होता है। इस प्रसंग में शब्दरचना श्रौत निपातन से संगत है जैसे जहाँ 'ऊर्ध्व' और 'उत्क्राम' शब्दों को 'ओंकार' इस रूप में निपातित किया। यहाँ व्याकरणविरोध की शंका निरर्थक है। सिद्धरूप के साधन का उपाय जैसे प्रकृति-प्रत्यय प्रक्रिया वाला व्याकरण है वैसे ही निपातन भी है; अनेक शब्द उक्त प्रक्रिया से नहीं वरन् केवल निपातन से निष्पन्न होते ही हैं। उपेय एक ही हो तो उपायों का भेद परस्पर विरोध नहीं स्थापित करता : उपाय एक से अधिक हैं तो ऐसा नहीं कि उनका आपसी विरोध हो, बल्कि एक उपेय के लिये विनियुक्त होने से वे अविरुद्ध ही हैं। अतः शब्दसिद्धि निपातन से हो तो उससे व्याकरण का विरोध नहीं हो सकता। व्याकरणानुसार न कर अन्यथा निपातन अर्थविशेष के आविष्करण के लिये है। यह रहस्य अथर्व-शिर की दीपिका में नारायण आचार्य ने खोला है 'उपायस्य उपायान्तराऽविरोधाद् न व्याकरणविरोधः शङ्क्यः, एवमुत्तरेष्वपि' ।)।।४६।।

२) आराध्य आत्मस्वरूप से अन्य जो आराधक हैं उन्हें शब्दब्रह्मघटित (वेदघटित) ज्ञानात्मक सुख तथा मानुषानंद से हिरण्यगर्भानंद पर्यन्त अनेक प्रकार के सुख दिलाता है इसलिये प्रणव कहा जाता है। (ईश्वर ही कर्मफलदाता है और आराधक को प्रशस्ततर सुख एवं ज्ञान देता है अतः प्रणव है। शब्द का व्युत्पादन संस्कृत टीका में सूचित है।)।।४७।। और भी हेतु है उसे प्रणव कहने का:प्रकृष्ट अर्थात् आत्यंतिक लय का ही दूसरा नाम प्रणव है। भक्तों के दुःखों समेत सारे पापों का लय आत्यंतिक ही होता है और आत्यंतिक लय अधिष्ठानरूप ही होता है—इसलिये 'प्रलय' के अभिप्राय से उसे प्रणव कहते हैं।।४८।।

१. 'अथ कस्मादुच्यत ओंकारः ? यस्माद् उच्चार्यमाण एव सर्वं शरीरम् ऊर्ध्वम् उन्नामयति तस्मादुच्यत ओङ्कारः।'
२. 'अथ कस्मादुच्यते प्रणवः ? यस्माद् उच्चार्यमाण एव ऋचोयजूंषि सामाथर्वाङ्गिरसश्च यज्ञे ब्रह्म ब्राह्मणेभ्यः प्रणामयति तस्मादुच्यते प्रणवः।'

घृततैलादिकः स्नेहस्तिलपिष्टादिकं यथा। व्याप्नोति निखिलं द्रव्यं स्वात्मनाऽन्तर्बहिस्तथा।।४९
एवं विश्वमिदं देवः सर्वं व्याप्नोति चात्मना। सर्वव्यापी ततः सद्भिः कथ्यते प्रणवाभिधः।।५०
देशतः कालतस्तद्वद् वस्तुतश्छेदवर्जितः। प्रतीयते सदैवैष नृणामात्मन्युपासनात्।।५१
अनन्तस्तत एवाऽयं कथ्यते वेदवादिभिः। संसारवारिधेरेष तारकस्तार ईरितः।।५२
सूक्ष्मः सर्वेषु देहेषु संस्थितो ह्यल्परूपतः। वालाग्रशतभागस्य भागो यद्वत्तथा पुमान्।।
सूक्ष्मस्ततोऽयमुदितो महीयान् महतो हि यः।।५३
परकायप्रवेशादिहेतुर्वा योगिनोऽपि यः। ततोऽपि सूक्ष्मरूपोऽयमुच्यते वेदवादिभिः।।५४

तृतीयं सर्वव्यापीति नाम[1] व्युत्पादयति—घृतेति द्वाभ्याम्। पिष्टं तिलपिण्डः श्रुतौ पललपिण्डपदेनोक्तम्, आदिपदेन दधिघनपिण्डादिग्रहः, तद्रूपं द्रव्यं यथा तैलरूपो घृतरूपो वा स्नेहः स्वरूपेण अन्तर्बहिः च निखिलं व्याप्नोति तथा प्रपञ्चे सर्वथा व्यापनाद् देवोऽयं सर्वव्यापीत्युक्तः। इति द्वयोरर्थः।।४९-५०।।

त्रिविधपरिच्छेदराहित्यात्तस्य अनन्त इति[2] चतुर्थं नामेत्याह—देशत इति। संसारवारिधिं जन्मजरादिदुःखमयं यतस्तारयति भक्तांस्तत्पारं प्रापयति ततः तारेति पञ्चमं नाम[3]। इति द्वयोरर्थः।।५१-२।।

षष्ठं सूक्ष्मेति नाम[4] व्युत्पादयति—सूक्ष्म इति। सर्वेषु देहेषु अल्पेन दुर्लक्ष्येण जीवरूपेण यतः स्थितस्ततः सूक्ष्म इत्युच्यते। अत्र श्रुत्यन्तरमनुकूलयति (श्वे. ५.९)—वालाग्रेति। वालाग्रस्य यः शततमो भागः तस्यापि यः शततमो भागस्तद्वद् अयं जीवरूपेण सूक्ष्मः, वस्तुतस्तु महतोऽपि महान् इत्यर्थः।।५३।। अथ वा परकीयनाडीप्रभृत्यङ्गव्याप्तिसाध्यत्वेन सूक्ष्मस्य परकायप्रवेशादिरूपव्यापारस्य हेतोः प्राणादप्ययं सूक्ष्मस्ततोऽयं प्रणवरूप ईश्वरः सूक्ष्म इत्युच्यत इत्याह—परकायेति। यः प्राणो योगिनः परकायप्रवेशादिहेतुः ततः प्राणाद् अपि सूक्ष्मत्वाद् अयं सूक्ष्म उक्त इत्यर्थः।।५४।।

३) तिल का पिंड, मक्खन का लोंदा आदि वस्तु को भीतर-बाहर सब तरफ से उसमें स्थित तेल, घी आदि चिकनायी जैसे अपने द्वारा घेरे रखती है वैसे इस सारे प्रपंच को अपने द्वारा घेरे रखता है इसलिये वह प्रणव-नामक नृसिंहदेव सज्जनों द्वारा सर्वव्यापी कहा जाता है।।४९-५०।।

४) नर इसकी उपासना करें तो निज स्वरूप में उन्हें वह सनातन देव देश-काल-वस्तु की सीमाओं से रहित भासने लगता है जिससे यह अनन्त कहलाता है। ५) जन्म-बुढ़ापा आदि दुःखों से भरे संसार-समुद्र से भक्तों को तार देता है, इसके परले किनारे परमात्मस्वरूप में पहुँचा देता है, इसलिये वेदवादी इस देव को तार कहते हैं।।५१-२।। ६) सब देहधारियों का जीवरूप लखना मुश्किल है, उस सूक्ष्म रूप को धारण कर रहने वाला है यही देव अतः इसे सूक्ष्म कहते हैं। महान् पदार्थों से भी ज़्यादा महान् यह आत्मदेव जीवरूप में कितना छोटा है यह कल्पना से ही अंदाज़ हो सकता है : बाल की नोक के सौ हिस्से करें; उनमें से कोई एक हिस्सा लेकर उसके सौ हिस्से करें; उनमें से एक हिस्से के फिर सौ हिस्से करें; यों सौ बार करें तो जो अंतिम बार हिस्सा बनेगा वह उस सूक्ष्म वस्तु की कल्पना कराने वाला दृष्टांत होगा!।।५३।। किं च योगी लोग परकाय-प्रवेश आदि वैभवप्रयोग जिस प्राणरूप हेतु से करते हैं उससे भी इस आत्मदेव का रूप सूक्ष्म है जिससे यह वेदचिंतकों द्वारा सूक्ष्म कहा जाये यह संगत है।।५४।।

---

१. 'अथ कस्मादुच्यते सर्वव्यापी ? यस्मादुच्चार्यमाण एव सर्वाँल्लोकान् व्याप्नोति स्नेहो यथा पललपिण्डं शान्तमूलमोतप्रोतमनुप्राप्य व्यतिशिष्टस्तस्मादुच्यते सर्वव्यापी।'

२. 'अथ कस्माद् उच्यतेऽनन्तो ? यस्मादुच्चार्यमाण एव आद्यन्तं नोपलभ्यते तिर्यग् ऊर्ध्वम् अधस्तात् तस्मादुच्यतेऽनन्तः।'

३. 'अथ कस्माद् उच्यते तारम् यस्मादुच्चार्यमाण एव गर्भ-जन्म-जरा-मरण-संसार-महद्भयात् तारयति तस्मादुच्यते तारम्।'

४. 'अथ कस्मादुच्यते सूक्ष्मम् ? यस्मादुच्चार्यमाण एव सूक्ष्मो भूत्वा परशरीराण्येव अधितिष्ठति, तस्मादुच्यते सूक्ष्मम्।'

क्लमः क्लेशः समुद्दिष्टः पञ्चधा यो व्यवस्थितः। तस्य शुद्धिकरो देवः शुक्ल एष प्रकीर्तितः।।५५
अन्तर्बहिः प्रकाशाभ्यां निर्गुणः सगुणस्तथा। वर्तते सह देवोऽयं वैद्युतस्तेन कथ्यते।।५६
बृहत्वाद् बृंहणत्वाच्च सर्वोत्कर्षेण सन्ततः। प्रणवाख्यं परं ब्रह्म रुद्र एष प्रकीर्तितः।।५७
सृष्टिस्थित्यन्तकरणाद् विश्वरूपो व्यवस्थितः। भेदवानिव निर्भेद एकस्तेन प्रकीर्तितः।।५८
एको रुद्रश्च भगवांस्तत एव निगद्यते। पालयन्नखिलं विश्वं स्वशक्त्या मायया सदा।।
तुरीयं च पदं दत्वा योगिनां दुःखहा यतः।।५९

सप्तमं शुक्ल इति नाम[1] व्युत्पादयति—क्लम इति। क्लमपदम् अविद्यादीनां योगप्रसिद्धानां पञ्चक्लेशानां वाचकं, तेषां शुद्धेः आत्यन्तिकनिवृत्तेः कर्त्ता भगवान् शुक्ल इत्युच्यत इत्यर्थः। शुद्धो निवृत्तः क्लमो येन इति व्युत्पत्तिकस्य 'शुद्धक्लम'-शब्दस्य मध्यान्तवर्णयोर्लोपे 'शुक्ल'पदसिद्धिः इति। श्रुतिसमन्वयस्तु—क्लन्दते रोदयति यः क्लेशः तं क्लामयति ग्लानिमन्तं करोति इति योजनया बोध्यः; तथा च क्लदि आह्वाने रोदने च (भ्वा. प. से) इति स्मृतिरिति भावः।।५५।।

अष्टमं 'वैद्युते'ति नाम[2] व्युत्पादयति—अन्तरिति। अयं देवो निर्गुणः सन्, अन्तः सङ्घातस्य प्रकाशनव्यापारेण सह वर्तते, सगुणः तु बहिः आदित्यादौ स्थित्वा प्रकाशनव्यापारेण सह वर्तते; तेन निमित्तेन वैद्युत इत्युक्तः। विद्युता प्रकाशेन सहित इति व्युत्पत्तिसमन्वयाद् इति भावः।।५६।।

'परं ब्रह्मे'ति नवमं[3] नाम व्युत्पादयति—बृहत्वादिति। एष रुद्रः प्रणवाख्यः परं ब्रह्म इति प्रकीर्तितः यतः सर्वोत्कर्षहेतुकबृहत्वात् तथा बृंहणत्वात् सत्ताप्रदानेन वृद्धिहेतुत्वात् सन्ततः सर्वत्र व्याप्त इत्यर्थः। तथा च बृहत्वात् परत्वं बृंहणत्वाद् ब्रह्मत्वं चादाय परं ब्रह्म इति नाम सिद्धम् इति भावः।।५७।।

एकेति[4] दशमनाम्नोऽर्थमाह—सृष्टीति। यतोऽयं देव एव सृष्ट्यादिकारणत्वाद् विश्वरूपो व्यवस्थितः ततो भेदवान् इव कल्पितभेदशालितयोपलभ्यमानोऽपि वस्तुतो निर्भेदः तेन भेदराहित्येन एक इत्युक्त इत्यर्थः।।५८।।

एकादशम् 'एको रुद्र' इति नाम[5] व्युत्पादयति—एक इति। ततो निर्भेदत्वाद् अत्र भगवान् एको रुद्र इति व्यपदिश्यते श्रुतिषु। तथा च श्रुतिः 'एको रुद्रो न द्वितीयाय तस्थौ' (श्वे. ३.२) इति। तत्र एकत्वं वर्णितम्। रुद्रत्वं तु—रुत् दुःखं, द्राति क्षीणं करोति इति प्रसिद्धव्युत्पत्त्या; अथ वा ऋषिभिः शुद्धैः अस्य रूपं द्रुतं लभ्यत इति श्रुतिदर्शितव्युत्पत्त्या ऋषिशब्दस्य रुभावे द्रुतशब्दस्य द्रभावे च कृते बोध्यमिति दर्शयन्नाह—पालयन्नित्यादिना। स्वशक्तिभूतया मायया विश्वं पालयन् सन् लोकस्य दुःखहा, तुरीयपददानेन च योगिनां दुःखहा यतः तत 'एको रुद्र' इत्युक्त इत्यर्थः।।५९।।

७) योगशास्त्र में प्रसिद्ध अविद्या आदि पाँच क्लेश 'क्लम' हैं जिनकी आत्यन्तिक निवृत्ति करने वाला होने से नृसिंहदेव शुक्ल कहा गया है।।५५।। ८) यह देव निर्गुण स्वरूप से देहादिसंघात को भीतर से प्रकाशित करता है, चैतन्य से व्याप्त करता है, तथा सगुण स्वरूप से आदित्यादि रूप धर कर बाहर सर्वत्र प्रकाश करता है; यों विशेष द्युति वाला होने से वैद्युत कहा जाता है।।५६।।

---

१. 'अथ कस्मादुच्यते शुक्लम् ? यस्मादुच्चार्यमाण एव क्लन्दते क्लामयते च तस्माद् उच्यते शुक्लम्।'
२. 'अथ कस्मादुच्यते वैद्युतम् ? यस्माद् उच्चार्यमाणएव अतिमहति तमसि सर्वं शरीरं विद्योतयति तस्माद् उच्यते वैद्युतम्।'
३. 'अथ कस्मादुच्यते परं ब्रह्म ? यस्माद् उच्चार्यमाण एव बृहति बृंहयति तस्मादुच्यते परं ब्रह्म।'
४. 'अथ कस्मादुच्यत एकः ? यः सर्वाँल्लोकान् उद्गृह्णाति सृजति विसृजति वासयति तस्मादुच्यत एकः।'
५. 'अथ कस्मादुच्यत एको रुद्रः ? एको रुद्रो न द्वितीयाय तस्थे तुरीयमिमं लोकम् ईशत ईशनीयुर्जननीयुः प्रत्यङ्जनास्तिष्ठति संयुगस्यान्तकाले संहृत्य विश्वा भुवनानि गोप्ता तस्मादुच्यत एको रुद्रः।

स सङ्कोचविकासाभ्यां पटवत् संस्थितः पुमान्। स्रष्टा सर्वात्मबुद्धीनां बुद्धिधर्मविवर्जितः।।
ईशान एष कथितो रुद्रः सर्वैश्च हेतुभिः।।६०

स्तूयमानः सदा सद्भिरेवं विश्वनियामकः। रणरङ्गगुणः शूरो भगवान् स्वात्मदर्शनः।।
कामक्रोधादिशत्र्वोघघस्मरः स्मरदेहधक्।।६१

द्वादशम् 'ईशाने'ति नाम[1] व्युत्पादयति—स सङ्कोचेति चतुर्भिः। स ईश्वरः कदाचित् प्रलये सङ्कोचवान्, कदाचित् सृष्टिकाले तु विकासवान् सन् पटवत् स्थितः। तथा पुमान् पालकः। तथा सर्वेषाम् आत्मनां जीवानां या बुद्धयः तासां कारणोपहितरूपेण स्रष्टा। तथा बुद्धिधर्मै रागद्वेषादिभी रहितश्च यतो भवति तत ईशान इत्युक्तः। अभिन्ननिमित्तोपादानत्वाद् आन्तरत्वाद् वैषम्याद्यभावाच्च अस्येशानत्वं मुख्यम्, एतद्विपरीते जीवे तु गौणम्, 'अनीशया शोचति मुह्यमान' (श्वे. ४.७) इत्यादिषु जीवस्य परतन्त्रताया प्रसिद्धत्वाद् इति भावः।।६०।। अत्र संवादाय श्रुत्या 'अभि त्वा शूरे' त्यादिमन्त्र[2] उपन्यस्तः। तस्यार्थमाह—स्तूयमान इत्यादिना। यतो विश्वनियामकः अत एवैष भगवान् सद्भिः विद्वद्भिः एवं स्तूयमानो भवति। 'एवं' कथम् ? भगवान् शूरो भवति यतो रणरङ्गगुणः असुरैः सह यो रणः तत्र विकासमाना गुणा यस्य स तथा। तथा स्वात्मदर्शनरूपबलेन कामादीनाम् आन्तरशत्रूणां घस्मरो भक्षको यतः स्मरस्य मदनस्य देहं दहतीति स्मरदेहधक्; धृग् इति पाठे स्मरदेहे धृष्णोति प्रगल्भते इत्यर्थः।।६१।।

९) प्रणव नामक नृसिंहाभिन्न रुद्र सबसे उत्कृष्ट होने के कारण बृहत् है और सबको सत्ता प्रदान करने से सबकी वृद्धि का हेतु होने से सर्वत्र व्याप्त है; यों बृहत् होने से 'परम्' एवं वृद्धिहेतु होने से 'ब्रह्म' है जिससे इसका नाम है 'परं ब्रह्म'।।५७।। १०) सबके जन्म-स्थिति-भंग का अधिष्ठान कारण होने से क्योंकि यह सब रूप धारण किये है इसलिये सभेद प्रतीत होते हुए भी है यह सब भेदों से वर्जित अतः 'एक' कहा गया है।।५८।। ११) अभिन्न होने से एक और अपनी मायाशक्ति से निखिल विश्व का पालन करते हुए सबका दुःख मिटाने वाला होने से वह रुद्र है अतः 'एक रुद्र' कहा जाता है। किं च शुद्धचेता ऋषि इसका रूप द्रुतगति से, अतिशीघ्र देख लेते हैं जिससे इसके तुरीय स्वभाव की प्राप्ति हो जाने पर वे योगी दुःखों से छूट जाते हैं। यों योगियों को अपना तुरीय पद प्रदान कर उनके दुःख मिटाने वाला होने से भी यह रुद्र है। इस कार्य में यह अकेला ही सक्षम है अतः 'एक रुद्र' कहा जाता है।।५९।।

१२) सिमट जाने और फैल जाने वाले कपड़े की तरह वे नृसिंहदेव प्रलय में सिमट जाते और सृष्टि में फैल जाते हैं पर जैसे दोनों हालतों में कपड़ा जस-का-तस रहता है वैसे ये देव भी निर्विकार रहते हैं। जड-चेतन सारे जगत् के पालनकर्ता वे किसी भी विषमता वाले नहीं, किसी के प्रति ऐसा कोई भेद-भावपूर्ण बर्ताव नहीं करते जिसमें निमित्त उसका ही कोई कर्म न हो। सब जीवों की बुद्धियों के वे ही स्रष्टा हैं क्योंकि बुद्धि जिस अविद्या का विकास है वह उन्हीं से अधिष्ठित है। तथापि बुद्धि के राग-द्वेष आदि धर्मों से उनका कोई सम्बन्ध नहीं। एवं च अभिन्न-निमित्त-उपादान होने से, प्रत्यग्रूप होने से, विषमता वाले न होने से, और परतंत्र जीव से विलक्षण होने से उनका सार्थक नाम 'ईशान' है।। (अत एव बादरायणाचार्य ने इस शब्द को ही निर्णायक माना है परमात्म-प्रसंग निर्धारित करने के लिये और वहीं भाष्यकार ने कहा है कि निरंकुश ईशिता परमेश्वर से अन्य कोई नहीं हो सकता (ब्र. सू. १.३. सू. २४)। यद्यपि इस शब्द से ईश्वर ही अभिप्रेत है, पंचमुखादि मूर्ति नहीं, तथापि जो वैष्णवंमन्य चतुर्भुजादि मूर्ति से परमात्मता को प्रतिरुद्ध रखना चाहते हैं उनका मत श्रुति व सूत्र से विरुद्ध है यह इस प्रसंग में स्पष्ट है। आत्मपुराणकार ने ऐसे भ्रमों की संभावना मिटाते हुए ही नृसिंह व रुद्र का अभेद सिद्धवत् व्यक्त किया है।)।।६०।।

---

१. 'अथ कस्मादुच्यत ईशानः ? यः सर्वाँल्लोकानीशत ईशनीभिः जननीभिः परमशक्तिभिः। अभि त्वा शूर नोनुमोऽदुग्धा इव धेनवः। ईशानमस्य जगतः स्वर्दृशम् ईशानमिन्द्र तस्थुषस्तस्मादुच्यत ईशानः।'
२. अधस्तादुक्तः। 'स्वर्दृशम्' इति नारायणीये, सुवर्दृशमिति शंकरानंदीये।

त्वां सर्वजगतो नित्यं हृदयाब्जनिवासिनम्। स्वकीयाभिर्वयं वाग्भिः स्तुम आत्मस्तुतिप्रियम्।।६२
स्तुतयस्तव देवेश ! घटोध्न्य इव धेनवः। अदुग्धाः स्वात्मना भक्तवत्सान् भूमिपयोजुषः।।
आकारयन्ति हुङ्कारान् सृष्ट्वा दुःखापहारकाः।।६३
ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोस्तद्वद् भगस्याऽयं समाश्रयः।।
भगवांस्तत एवाऽयमुच्यते विश्वपालकः।।६४
महतामत्र भूतानां पञ्चानामपि सर्वदा। सृष्टिस्थित्यन्तकरणाद् ईश्वरोऽयं महेश्वरः।।६५

त्वामिति। हे भगवन् ! त्वां सर्वेषां हृदयपङ्कजेषु वसन्तं वाग्भिः स्तुतिरूपाभिः वयं शरणार्थिनः स्तुम आराधयामः। कीदृशम् ? स्वकीया स्तुतिः प्रिया प्रीतिहेतुः यस्य स तथा तम्।।६२।। तव स्तुतयः फलप्रदानाय स्वयमेव अस्मान् आह्वयन्तीत्यस्मिन्नर्थे 'अदुग्धा' इत्यादिमन्त्रभागस्य तात्पर्यमिति दर्शयन्नाह—स्तुतय इति। हे देवेश ! यथा घटोध्न्यः घटवदूधः क्षीरायतनं यासां तथाभूता धेनवः नवप्रसूता गावः अदुग्धा यासां दोहनं न कृतं तथाभूताश्च हुङ्कारान् स्नेहशब्दान् कृत्वा वत्सानाकारयन्ति आह्वयन्ति तथा तव स्तुतिरूपा गावो भक्तरूपवत्सान् भूमिपयोजुषः भूमयः तास्ताः फलावस्थाः तद्रूपं पयः कामयमानान् प्रेम्णा स्वात्मना स्वयमेव आकारयन्ति, न तु वत्सप्रयत्नमपेक्षन्ते यतो दुःखस्य वैक्लव्यरूपस्य अपहरणपरा इत्यर्थः।।६३।।

त्रयोदशस्य[1] 'भगवद्'-इति नाम्नोऽर्थमाह—ऐश्वर्यस्येति। पूर्णैश्वर्यादिगुणषट्कस्य भगपदवाच्यस्य आश्रयत्वादयं भगवान् इत्युक्तः। तत्र श्रीः कान्तिरूपा।।६४।।

चतुर्दशं 'महेश्वरे'ति नाम[2] निर्वक्ति—महतामिति। अन्य ईश्वरास्तत्तटस्था यत्किञ्चिद्देशीयप्राणिरूपाल्पभूतानां प्रसिद्धाः, अयं तु आकाशादीनां महाभूतानाम् ईश्वरः तेषां सृष्ट्यादिनिदानत्वेन अभिन्ननिमित्तोपादानभूतश्च। अतोऽस्य युक्तं महेश्वरत्वमित्यर्थः।।६५।।

संसारनियन्ता भगवान् की सज्जन हमेशा यों स्तुति करते हैं : 'भगवान् ! आप शूर-वीर हैं, असुरों से रण करते हुए आपकी वीरता के गुणों का विकास प्रकट होता है। आपके लिये स्वात्मा कभी किसी तरह आवृत नहीं है। काम-क्रोध आदि आंतरिक शत्रुसमूह को आप मानो खा जाते हैं क्योंकि उन सबका मूल जो काम उसका शरीर जो अविद्या उसी को हमेशा जलाये रखते हैं। (क्योंकि कभी आवरण नहीं इसलिये ईश्वर के लिये आवरणात्मिका अविद्या सदा जली हुई, नष्ट ही है, तो वह अविद्या जिसके शरीर का रूप धारण करती है उस कामना की सत्ता ईश्वर के लिये होना नितराम् असंभव है।)।।६१।। सभी के हृदयकमलों में आप परमेश्वर का सदा वास है और आपको अपना स्तवन प्रिय है। आपकी शरण लेने की इच्छा वाले हम जीव अपनी वाणी से आपकी आराधना करते हैं। (स्वरूपवर्णनात्मक होकर समस्त दुःखों के मूल आवरण को निवृत्त करने से जीवों के कल्याण का इकलौता उपाय होने से ईश्वर को अपनी स्तुति प्रिय है।)।।६२।। हाल में ही जिन्हें प्रसव हुआ है ऐसी सुपुष्ट गायों का ऊध घड़े-सा विस्तृत व पूर्ण होता है। (स्तनों से ऊपर जहाँ दूध एकत्र रहता है वह देहांग ऊध कहा जाता है।) उन्हें दुहा नहीं जाता तो स्नेहवश रँभा कर वे अपने बछड़ों को दूध पीने के लिये बुलाती हैं। हे देवेश ! आपकी स्तुतियाँ भी वैसी ही गायें हैं जिनका दूध विभिन्न फलभूत भूमिकाएँ हैं, उन फलों के इच्छुक आपके भक्त ही बछड़े हैं जिन्हें प्रेम से वे स्वयं ही पुकारती हैं क्योंकि स्वभाव से ही दुःख दूर करने को उत्सुक रहती हैं।' (—यों सज्जन स्तुति करते हैं। वे स्तुति *करते* हैं यह भी उन्हें अभिमान नहीं वरन् स्तुति स्वयं को उनसे *करवा* लेती है यह उन्हें निश्चय है।)।।६३।।

---

१. 'अथ कस्मादुच्यते भगवान् ? सर्वान् भावान् ईक्षति आत्मज्ञानं निरीक्षयति योगं गमयति तस्मादुच्यते भगवान्।'
२. 'अथ कस्माद् उच्यते महेश्वरो ? यः सर्वाँल्लोकान्संभक्षः संभक्षयत्यजस्रं सृजति विसृजति वासयति तस्माद् उच्यते महेश्वरः।'

आनन्दात्मा महान् प्रोक्तः स्वप्रकाशः सदाऽद्वयः। सत्यज्ञानादिरूपोऽयं सर्वभेदविवर्जितः।।६६

एनमात्मतया यस्मात् सर्वदैव प्रपश्यति। महादेवस्ततः प्रोक्त उमापतिरयं प्रभुः।।६७

विशत्येष सदा सर्वं सद्रूपस्फुरणप्रदः। एनमात्मतया योगी विशेत् तादात्म्यरूपतः।
विष्णुस्तेनाऽयमुदितः सर्वगः परमेश्वरः।।६८

अथ नृसिंहमन्त्रश्चक्रं च

ब्रह्म सर्वाधिकत्वेन प्रकाशस्य प्रभुत्वतः। विष्णुश्च तापनीये यः पूर्वस्मिन् परिकीर्तितः।।
एकादशपदे मन्त्रे नरसिंहो हि दैवतम्।।६९

पञ्चदशं 'महादेवे'ति नाम[1] पूर्वतापनीये (१.६) 'उमापतिः' इति नामनिर्देशेन सूचितनिरुक्तिकम् उमाया ब्रह्मविद्यारूपायाः पत्युरेव देवस्य मुख्यमहत्त्वयोगाद् इति सूचयंस्तदर्थमाह—आनन्दात्मेति द्वाभ्याम्। आनन्दादिलक्षणः शुद्ध आत्मा महान् असङ्कुचितमहत्त्वशाली प्रोक्तः। एनं वर्णितमात्मानं यत एष देवः स्वरूपतया सदा पश्यति, उमापतित्वात्, ततो महादेव इत्युक्तः। इति द्वयोरर्थः।।६६-७।।

षोडशं 'विष्णु'-नाम निर्वक्ति—विशत्येष इति। एष परमात्मा यतः सर्वं दृश्यजातं सद्आदिरूपेण प्रविशति; अथवा योगिना आराधकेन तादात्म्येन प्रविश्यते; इति विशधातुघटितव्युत्पत्त्या विष्णुः इत्युक्त इत्यर्थः।।६८।। पूर्वतापनीये तु विष्लृ व्याप्तौ (जु. उ. अ) इति धात्वर्थानुगमेन यद् ब्रह्मत्वं व्यापकत्वरूपं, तेन यत् सर्वाधिकत्वं, तेन निमित्तेन विष्णुत्वमुक्तम्। प्रकाशस्य यत् प्रभुत्वं नियामकत्वं तदादाय महःपदं निपातेनाऽकारान्तं कृत्वा विष्णुपदात् पूर्वं प्रयुक्तमित्याह—ब्रह्मेति। ब्रह्मपदं भावप्रधानम्; तथा च ब्रह्मत्वप्रयुक्तसर्वाधिकत्वेन सर्वत्र प्रकाशप्रयोजकत्वेन च योऽयं देवो विष्णुः चकाराद् महेति चोक्तो महाविष्णुः इति निर्दिष्ट इति यावत्। कुत्र ? पूर्वतापनीये (२.४)। हि यतः तत्र व्युत्पादिते मन्त्रे 'उग्रम्' इत्यादिके[2] एकादश अहमन्तानि पदानि यस्य तथाभूते नरसिंह उक्तरूप एव दैवतं प्रतिपाद्य इत्यर्थः।।६९।।

१३) नृसिंहदेव भगवान् कहे गये हैं। पूर्ण ऐश्वर्य, पूर्ण धर्म, पूर्ण यश, पूर्ण कांति, पूर्ण ज्ञान और पूर्ण वैराग्य—इन छह का समूह भग है जिसके वे आश्रय हैं, छहों उन्हीं के अधीन हैं।।६४।। १४) शासित से तटस्थ रहते हुए सीमित क्षेत्र पर शासन करने वाले से विलक्षण वे महेश्वर हैं क्योंकि पाँचों महाभूतों के भी जन्म-स्थिति-भंगकारक होने से उनके अभिन्न-निमित्तोपादान होकर उन पर भी सर्वथा नियंत्रण रखते हैं। (सारा जगत् भौतिक है। प्राणी भी भौतिक मनआदि उपाधि से ही व्यवहार्य हैं। भूतों पर ही जिसका प्रशासन सिद्ध हो गया उसका भौतिकों पर प्रशासन है इसमें क्या कहना!) ।।६५।।

१५) आनंदस्वरूप, अपरिच्छिन्न, स्वप्रकाश, सनातन, द्वन्द्वातीत, सत्य ज्ञान आदि समझा जाने वाला, सभी भेदों से रहित वस्तु महान् है। क्योंकि हमेशा इस महान् को निजस्वरूप जानते हैं इसलिये ये उमापति प्रभु 'महादेव' कहे जाते हैं।।६६-७।।

१६) सत्ता-स्फुरत्ता प्रदान करने वाला यह सर्वगत परमेश्वर क्योंकि सभी में घुसा हुआ है और आराधक इसमें अभेदसम्बंध से घुस जाता है इसलिये यह 'विष्णु' है।।६८।। (विष्णु-शब्द विश-धातु से बना है, विश का मतलब है घुसना। विष्-धातु का मतलब है व्याप्त करना; उससे भी विष्णु-शब्द बनता है जिसका अर्थ है व्यापक। महस् का

१. 'अथ कस्मादुच्यते महादेवः ? यः सर्वान् भावान् परित्यज्यात्मज्ञानयोगैश्वर्ये महति महीयते तस्मादुच्यते महादेवः।'—इदं नाम नारायणीये नास्ति। ब्रह्मा प्रजापतिरिति नामद्वयव्याख्या ७२-३ श्लोकयोः।

२. 'उग्रवीरं महाविष्णुं ज्वलन्तं सर्वतो मुखम्। नृसिंहं भीषणं भद्रं मृत्युमृत्युं नमाम्यहम्।।'

आनुष्टुभे च सामाख्ये प्रणवाद्यङ्गसंहिते। चतुष्पादि महाचक्रे नाभिर्विज्ञायते हि यः।।७०

आनुष्टुभे चेति। कीदृशे तत्र मन्त्रे ? आनुष्टुभे—अनुष्टुप् द्वात्रिंशदक्षरं छन्दः तद्वति। पुनः कीदृशे ? सामाख्ये साम्ना स्वरविशेषरूपेण आख्या समुच्चारणं यस्य स तथा तस्मिन्। पुनः कीदृशे ? प्रणवादिभिः अङ्गैर्युक्ते; आदिपदेन सावित्र्याद्यङ्गमन्त्रग्रहः। तथा च—प्रणवेन हृदयं, सावित्राष्टाक्षरेण[1] शिरो, यजुर्लक्षणा[2] शिखा, नृसिंहगायत्र्या[3] कवचं, महाचक्रमन्त्रैरस्त्रम्—इति पञ्चाङ्गन्यासः सूचितः। अथ वा—प्रणवेन हृदयं कृत्वा मन्त्रस्य[4] पादचतुष्टयेन शिखादिकमस्त्रान्तमङ्गचतुष्टयं कुर्याद् इति दर्शयन् मन्त्रं पुनर्विशिनष्टि—चतुष्पादीति। चत्वारः पादा यस्य स चतुष्पाद् तस्मिन्नित्यर्थः।

न केवलमयं देवो मन्त्रार्थत्वेन उपास्यः किन्तु महाचक्रे

'षट्कोणस्थसुदर्शनं वसुदलप्रोल्लासिताऽष्टाक्षरं
बाह्ये द्वादशवर्णपत्रकमलं तत् षोडशार्णच्छदम्।
द्वात्रिंशन्मनुवर्णपत्रकमलं वृत्तोल्लसन्मातृकं
मध्यस्थध्रुवमुर्विबीजवलयं चक्रं नृसिंहाह्वयम्।।'

इत्याचार्यैः संगृहीतस्वरूपे यो देवः प्रणवरूपो नाभित्वेन ज्ञायत उपास्यत इत्यर्थः।

अयमत्र संग्रहः—तारं विलिख्य ततो बहिः षट्कोणं सुदर्शनमन्त्राक्षरान्वितकोणं लिखेत्, ततोऽष्टदलं नारायणाष्टाक्षरभूषितं, ततो द्वादशदलं वासुदेवद्वादशाक्षराङ्कितं, ततः षोडशदलं मातृकादिषोडशस्वरभूषितं, ततो द्वात्रिंशद्दलमनुष्टुबक्षरभूषितं विलिख्य, मायाबीजेन भूवलयेन च मातृकावर्णैश्च बहिर्वेष्टयेत्, सबिन्दुकेकारेण च षट्कोणादीनां षोडशदलान्तानां प्रत्येकं वेष्टनमिति।

आनुष्टुभस्य एकादशपदस्य मन्त्रस्य उद्धारः तु इत्थम् आचार्यैः प्रपञ्चसारे लिखितः

'उग्रं वीरयुतं महान्तिकमथो विष्णुं ज्वलन्तान्वितं
सम्प्रोच्याथ च सर्वतो मुखनृसिंहार्णास्तथा भीषणम्।
भद्रं मृत्युयुतं च मृत्युमपि तत्रोक्त्वा नमाम्या युतं
भूयोऽहम्पदमुद्धरेद् मनुमिमं मन्त्री समस्तार्थदम्।।' इति।।७०।।

मतलब प्रकाश या ज्ञान; स्वप्रकाश होने से ज्ञान में स्वतन्त्र ईश्वर महान् हैं। महान् और विष्णु होने के कारण उन्हें महाविष्णु भी कहते हैं। यह नाम नृसिंहपूर्वतापनीय में आया है। इसे समझाते हुए अब अथर्वशिर-प्रसंग पूरा कर तापनीय-व्याख्या आरंभ करते हैं।) व्यापकता के कारण जो सर्वाधिकता है और जड-चेतन प्रकाशों की जो मिलकियत है, इन दोनों से उन्हें 'महाविष्णु' कहते हैं। पूर्वतापनीय उपनिषत् में ग्यारह शब्दों वाला मन्त्र उसी महाविष्णुरूप नृसिंह देव का प्रतिपादन करता है।।६९।।

उस दिव्य मंत्र का छंद है अनुष्टुब्। 'साम'-शब्द से भी उस मंत्र का व्यवहार है। उस मंत्र के अंगरूप में प्रणव आदि बताये गये हैं। श्लोकबद्ध उस मंत्र के चार चरण हैं। (मंत्र पूर्व श्लोक के टिप्पण में उद्धृत है तथा अंगादि और वक्ष्यमाण यंत्र के बारे में संस्कृत टीका में खुलासा है। पूर्वतापनीय भाष्य और उत्तरतापनीय विद्यारण्यदीपिका में मन्त्र-

---

१. 'घृणिः सूर्य आदित्यः' इति मन्त्रः, सूर्य इत्यक्षरत्रयं मन्यते।
२. 'ॐ भूर्लक्ष्मीर्भुवर्लक्ष्मीः स्वर्लक्ष्मीः कालकर्णी तन्नो महालक्ष्मीः प्रचोदयात्।'
३. 'ॐ नृसिंहाय विद्महे वज्रनखाय धीमहि तन्नः सिंहः प्रचोदयात्।'
४. 'उग्रवीरम्' इत्यादिदर्शितस्य।

यमुपास्य महात्मानं स्थितं क्षीरार्णवादिषु। घोरं भवार्णवं सन्तस्तरेयुर्गोष्पदं यथा।।७१

ब्रह्मा यः प्रथमः प्रोक्तो भगवांश्चतुराननः। देहिनां प्रथमो देही हैमे ब्रह्माण्डगोलके।।७२

भूपद्मे सर्वदैवाऽऽस्ते मेरुपर्वतकर्णिके। अनुग्रहकरो देवो देवानां सत्यलोकगः।।७३

उत्तरतापिनीव्याख्या

एकदा तं समासीनं पर्यङ्के ह्यमितौजसि। मानस्या प्रियया सार्द्धं परमब्रह्मशब्दितम्।।७४

यमुपास्येति। यम् एनं नरसिंहं क्षीरार्णवगतशेषभोगगतं हृदयादिगतं वा ध्यानादिना समाराध्य गोष्पदभवद्भवाब्धिं सन्तः तरन्ति इत्यर्थः।।७१।।

सप्तदशाऽष्टादशे 'ब्रह्मा प्रजापतिः' इत्याकारे नामनी वर्णितमन्त्रे ऋषिभूतस्य चतुराननरूपस्य भगवतो बोध्ये इत्याह—ब्रह्मेति। यः प्रथमः सृष्टिकर्ता भगवांश्चतुराननरूपः स ब्रह्मा प्रोक्तः। स एव देहिनां स्थूलव्यष्टिशालिनां प्रथमः समष्टिरूपेण यः सन् प्रजापतिरिति चोक्त इति शेषः। स च हैमे हेममये ब्रह्माण्डरूपे गोलके यद् भूमिरूपं पद्मं मेरुः कर्णिकाभूतो यस्य तथाभूतं तत्र सत्यलोके च देवोपकाराय स्थित इति द्वयोरर्थः।।७२-३।।

एवं नामनिरुक्तिप्रसङ्गेन पूर्वतापनीयदर्शितायाः प्रणवोपसर्जनानुष्टुप्प्रधानायाः सगुणविद्यायाः स्वरूपं सूचितम्। अथ आनुष्टुबुपसर्जनप्रणवप्रधानायाः केवलप्रणवप्रधानायाश्च सगुणविद्यायास्तुरीयप्रणवप्रधानाया निर्गुणविद्यायाश्च स्वरूपं प्रदर्शयन्त्या उत्तरतापिन्या अर्थं दर्शयितुं तत्र देवानां जिज्ञासां दर्शयति—एकदेति षड्भिः। कदाचित् तं प्रजापतिम् अमितौजःसंज्ञके षष्ठे वर्णिते (श्लो. ११२७) पर्यङ्के मानसीति संज्ञितया प्रियया सह समासीनं

साधना के अंग आदि सारे ढंग विस्तार से बताये हैं जो गुरुमुख से सीख-समझकर ही साधक के लिये उपयोगी हैं।) उस मंत्र के तो वे अर्थ हैं ही, महाचक्र की नाभि भी उन्हें ही समझना चाहिये। (नृसिंहचक्र, सुदर्शनचक्र आदि नामों से प्रसिद्ध यंत्रविशेष ही यहाँ महाचक्र है।)।।७०।।

क्षीरसमुद्र, हृदयकमल आदि में स्थित उन महात्मा नृसिंह की उपासना के प्रभाव से सन्त लोग भीषण भवसागर को यों पार कर जाते हैं मानो गाय के खुर से हुआ गड्ढा हो!।।७१।।

१७) ये श्रीनृसिंह ही वह ब्रह्मा बताये गये हैं जो चतुर्मुख भगवान् सृष्टिकर्ता के रूप में प्रसिद्ध हैं। १८) स्थूल-व्यष्टि में अभिमानी देहधारियों की अपेक्षा पहले देहवान् बनने वाले स्थूल-समष्टि में अभिमानी प्रजापति भी इन नृसिंह से अलग नहीं है। स्वर्णिम ब्रह्माण्डगोल में मेरुरूप कर्णिका वाला भूमिरूप पद्म है जिसमें वे भगवान् सब पर अनुग्रह करते हुए हमेशा रहते हैं। सत्यलोक में विशेषतः स्थित हुए वे देव ही देवताओं पर अनुग्रह करते हैं।।७२-३।।

(नृसिंहपूर्वतापनीय में प्रारंभ में बताया है कि सृष्टि के आदिकाल में ही नृसिंहमंत्र प्रकट हुआ, उसी के माध्यम से संसाररचना हुई। फिर उसी मंत्र के अर्थ और महत्त्व बताये गये है। दूसरी उपनिषत् में—पूर्वतापनीय में हर अध्याय को उपनिषत् कहते हैं—मंत्र की शरण लेने का फल बताकर अंग, न्यास आदि का विशद वर्णन किया है और मंत्र के प्रत्येक पद का अभिप्राय स्पष्ट किया है। तीसरी उपनिषत् में मंत्र के शक्ति व बीज बताकर चौथी में अंगमंत्र, प्रणवार्थ नृसिंह के पाद और स्तुतिमंत्र वर्णित हैं। पाँचवी उपनिषत् में चक्रवर्णनपूर्वक मन्त्रजप का फल व्यक्त किया है। यों मंत्र-अनुष्ठान में तात्पर्य वाली होने से निर्विशेषविद्याप्रधान प्रसंगों के संग्रहरूप इस पुराण में पूर्वतापनीय का इतना ही संकेत कर अब उत्तरतापनीय के अर्थ का वर्णन किया जायेगा। यद्यपि उत्तरतापनीय भी मंत्राश्रित होकर प्रवृत्त है तथापि इसमें प्रधान है प्रणव और उससे सम्बद्ध सगुण ही नहीं निर्गुण विद्या का स्वरूप व्यक्त किया गया है।)

एक समय की बात है, मानसी-नाम्नी प्रिया सहित परमब्रह्म प्रजापति अमितौजस्-नामक पलंग पर विराजमान थे। अग्नि आदि महात्मा देवता उन विराट् नामक प्रजापति के शरीर में ही स्थित हैं। उनके शिष्य होने से देवता पूर्वोक्त

अग्न्यादयो महात्मानो देवास्तस्य वपुःस्थिताः। मन्त्रराजस्य विद्यायां कुशलाः परमेष्ठिनः।।७५
शिष्यास्तथैव देवस्य प्रणवस्य बुभुत्सवः। विद्यां विशुद्धमनसो ब्रह्मात्मत्वप्रबोधिनीम्।
प्रणिपत्येदमूचुस्ते कृताञ्जलिपुटा अपि।।७६
भगवन् भवताऽस्मभ्यं मन्त्रराजः समीरितः। साङ्गः सबीजशक्तिश्च सामोपासनसंयुतः।।७७
महाचक्रेण सहितो मृत्युभीतिनिवारणः। चतुष्पात्तत्र सम्प्रोक्तः संक्षेपात् प्रणवस्त्वया।।७८
आत्माऽभिन्नस्तमात्मानमणीयांसमणोरपि। अस्मभ्यं ब्रूहि संसारतप्तेभ्यश्चतुरानन।।७९

प्रणवे नृसिंहमन्त्रः

इत्युक्तस्तानुवाचाऽयं ब्रह्मा लोकपितामहः। अनुष्ठितो भवद्भिर्यो मन्त्रराजः स एष हि।।८०
चतुष्पात् तं चतुर्द्धैव विभज्य प्रणवस्य हि। मात्राचतुष्टयेनैव तादात्म्यं गमयेत् पुमान्।।८१

परमम् उत्कृष्टशोमं ब्रह्मेति नामान्तरशालिनं च प्रति अग्न्यादयो देवाः प्रणिपत्य इदमूचुः। कीदृशा देवाः ? तस्य प्रजापतेः वपुषि विराडाख्ये स्थिताः, तथा मन्त्रराजस्य अनुष्टुभस्य विद्यायां तस्य प्रजापतेः शिष्यत्वेन कुशलाः, इदानीं प्राधान्येन प्रणवसम्बन्धिनीं विद्यां बुभुत्सवः प्राप्तुमिच्छन्तः पूर्वविद्यया शुद्धधियश्चेति त्रयाणामर्थः।।७४-६।।

'इदं' किम् ? इत्याकांक्षायाम्; श्रुतपूर्वानुवादसहितं तेषां प्रश्नम्[1] अभिनयति—भगवन्निति। हे भगवन्! भवताऽस्मभ्यं पूर्वतापनीये मन्त्रराज आनुष्टुभ उक्तः। कीदृशः ? साङ्गः अङ्गमन्त्रैः सहितः, बीजेन रेफौकार-बिन्दुविशिष्टक्षकाराक्षररूपेण शक्त्या इकाररूपया च सहितः, साम्नः पादादिभेदेन यदुपासनं ध्यानविशेषरूपं तत्सहितश्च इत्यर्थः।।७७।। महेति। पुनः कीदृशो मन्त्रराजः ? महाचक्रं नारसिंहं तत्सहितः मृत्युभीतिनिवृत्तिफलकश्च। तत्र मन्त्रराजप्रपञ्चे त्वया प्रणवः चतुष्पात् पादचतुष्टयवान् उक्तः। कीदृशः ? आत्माऽभिन्नः वाच्यभूतेन[2] चतुर्विधेन आत्मना तादात्म्यापन्नः। अधुना तं प्रणवं तत्प्रतिपाद्यम् आत्मानं च अतिदुर्लक्ष्यम् अस्मभ्यं संसारानलतप्तेभ्यः तत्प्रशमाय उपदिश। इति द्वयोरर्थः।।७८-९।।

एवं पृष्टस्य प्रजापतेः उत्तरतया उत्तरतापनीयाद्यखण्डपञ्चकस्य तात्पर्यार्थमार्थक्रमेण संक्षिप्याह—इत्युक्त इति षोडशभिः। इत्थं पृष्टः प्रजापतिः तान् देवान् प्रति इदमाह। 'इदं' किम् ? हे देवाः।[3] भवद्भिर्य उपासितो मन्त्रराज एष चतुष्पाद् भवति अतः तं मन्त्रराजं चतुर्धा विभज्य विभक्तं कृत्वा प्रणवस्य मात्राचतुष्टयेन वक्ष्यमाणरूपेण सह यथाक्रमं तादात्म्यं गमयेत् पञ्चमखण्डोक्तविधया[4] मेलयेत्। इति द्वयोरर्थः।।८०-१।।

मंत्रराज की विद्या में कुशल थे ही, उसके अनुष्ठान से शुद्धचेता होकर अब प्रमुख रूप से प्रत्यक् की व्यापकता में प्रबुद्ध बनाने वाली प्रणव-विद्या सीखने की इच्छा से उन्होंने ब्रह्मा जी को प्रणाम कर हाथ जोड़कर पूछा :।।७४-६।। 'हे भगवन्! आपने हमें मंत्रराज का सम्यग् उपदेश दिया और उसके अंग, बीज, शक्ति, अवयवोपासना, महाचक्र आदि सभी आवश्यक ज्ञेय अवगत करा दिये। उस मन्त्र का सविधि अभ्यास मौत का डर मिटा देता है यह हमें प्रत्यक्ष है। मंत्रराज के प्रसंग में आपने चार पादों वाले प्रणव का संक्षिप्त परिचय दिया था। आत्मवाचक होने से वह प्रणव उस आत्मा से भिन्न नहीं है जो सूक्ष्मातिसूक्ष्म है। संसाररूप आग से हम तप गये हैं, वह ताप मिटाने के लिये आप हमें प्रणवविद्या का उपदेश देने की कृपा करें।' (मंत्रराज से मृत्युभय तो मिट गया क्योंकि मृत्यु के अनंतर ब्रह्मलोक जाना निश्चित हो गया, लेकिन वर्तमान कष्ट बना ही है; अब इससे भी छूटने की इच्छा है।)।।७७-९।।

---

१. 'देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्नणोरणीयांसम् इममात्मानमोङ्कारं नो व्याचक्ष्वेति।' उत्तर ता. १। बहूनां वाक्यानामतिसंक्षेपेणैव पुराणे संग्रहात् सर्वाणि वाक्यानि टिप्पणे न दर्शितानि।

२. अभिधानाभिधेययोर्भेदाऽयोगात्।

३. 'तथेति। ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं' मित्याद्युत्तरं प्रजापतिरुवाचेति तत्रोक्तम्।

४. तत्र अकारोकारमकारा एव उग्रादिनृसिंहमंत्ररूपा इति दर्शितम्।

एकादशपदार्थो यो नरसिंहः प्रकीर्तितः। पदे पदे पदार्थं तं पदार्थातीतरूपिणम्।।
चिन्तयेदात्मनः पादैश्चतुर्भिः परिकल्पितैः।।८२

नाभौ च हृदये तद्वद् भ्रूमध्ये द्वादशान्तके। तत्तद्रूपं प्रकल्प्याऽयमथ वा यत्र कुत्र वा।।८३

प्रणवतदर्थयोः षोडशधात्वम्

प्रणवस्य चतस्रः स्युर्मात्रा एताः सुशोभनाः। अकारोऽपि तथोकारो मकारो नादनामकः।।८४
एकैकाऽपि चतुर्धा स्यात् स्थूलादिपरिभेदतः। वाचि स्थूला तथा सूक्ष्मा हृदये कुण्डलीगता।
बीजरूपा चतुर्थी स्याद् व्यापिनी सर्वसाक्षिणी।।८५

ततः किं कुर्याद् ? अतआह—एकादशेति। यो नरसिंहः पूर्वतापनीयमन्त्रस्य एकादशपदानां सविशेषरूपेण अर्थभूत उक्तः तम् इदानीं पदे पदे प्रतिपदं पदार्थातीतस्तुरीयस्तद्रूपिणं पदार्थं—लक्ष्यमिति यावत्—एवंविधं विज्ञाय आत्मनः चतुर्भिः कल्पितैः पादैः यथाक्रमं प्रणवमात्राचतुष्टयस्य मन्त्रपादचतुष्टयस्य च वाच्यभूतैः सह तादात्म्यापन्नं चिन्तयेद् इत्यर्थः। तत्र नरसिंहस्य पदार्थातीतरूपेण पदार्थत्वमित्थमुक्तम्-सर्वसंहारसमर्थत्वरूपम् उग्रत्वं परमार्थस्य तुरीयस्यैव सम्भवति नान्यस्य; एवं वीरादिपदार्थानां तुरीयपरत्वं द्वितीयखण्डे[1] तद्व्याख्यायां च द्रष्टव्यम्।।८२।।

नाभौ चेति। तथा तृतीयखण्डोक्तविधिना तं नरसिंहं ब्रह्मविष्णुरुद्रसर्वेश्वररूपं प्रकल्प्य यथाक्रमं नाभ्यादिस्थानचतुष्टयेषु अधिकारी तैर्मन्त्रैः पूजयेदिति शेषः। तत्र द्वादशान्तः दशमद्वारम्। पूजनविधेः अनन्तरं तदैक्यानुसन्धानविस्तरः चतुर्थखण्डे पद्धतौ च द्रष्टव्यः।।८३।।

प्रथमखण्डोक्तं प्रणवमात्राचतुष्टयमाह—प्रणवस्येति। स्पष्टम्।।८४।। एकैकाऽपीति। एतासां चतसृणां प्रणवमात्राणां मध्य एकैका स्थूलादिभिः वैखर्यादिसंज्ञैर्भेदैः चतुर्धा बोध्या इत्यर्थः। द्वितीयखण्डोक्तं स्थूलादिभेदमेव स्फुटयति—वाचीति। स्थूला वर्णावस्था वैखरीसंज्ञा वाचि तिष्ठति। ततः सूक्ष्मा मध्यमाख्या द्वितीयावस्था हृदि तिष्ठति। तृतीया पश्यन्तीसंज्ञाऽवस्था बीजरूपा कुण्डलीगता बोध्या। चतुर्थी तु अवस्था साक्षिरूपेण व्यापिकेत्यर्थः।।८५।। अकारादेरिति। एवम् अकारादीनां प्रत्येकं चतुर्विधत्वे तत्समुदायरूपस्य प्रणवस्य षोडशावयवत्वं

यों पूछे गये इन लोकपितामह ने उन देवताओं से कहना आरंभ किया : आप लोगों ने जिस मन्त्रराज का उपासनासहित अनुष्ठान किया वह चार चरणों वाला है। उसे चार हिस्सों में बाँटकर प्रणव की चार मात्राओं से मिला देना चाहिये; एक-एक पाद को एक-एक मात्रा से अभिन्न कर देने का तरीका अभी सूचित कर देंगे। (उपनिषत् के पाँचवे खण्ड में वह तरीका विस्तार से कहा है। अकार से आप्ततमता अर्थात् सर्वाधिक व्याप्ति कही जाती है जो केवल नृसिंह में संभव है तथा अतिशय व्याप्ति के कारण ही अकार उग्र, वीर, महान्, विष्णु, ज्वलन् (देदीप्यमान), सर्वतोमुख, नृसिंह, भीषण, भद्र, मृत्युमृत्यु, नमामि (निरज्ञान) और अहम् है। ऐसे ही उकार से उत्कृष्टतमता और मकार से महाविभूति अभिप्रेत है तथा इन्हीं हेतुओं से उकार-मकार भी उग्रादि सभी पदार्थ हैं। इस प्रकार उग्रादि मंत्र प्रणव में निहित हो गया।)।।८०-१।। 'उग्रं, वीरम्' आदि ग्यारहों पदों का अर्थ नृसिंह है जिसे प्रत्येक पद से बोध्य समझना चाहिये और उसी नृसिंह का निरपेक्ष स्वरूप पदों के वाच्यार्थ सविशेष से अतीत है, पदों का लक्ष्यार्थ है यह समझना चाहिये। आत्मा के चार पाद माने गये हैं जो प्रणव की चारों मात्राओं के अर्थ हैं और वे ही नृसिंहमंत्र के चारों पादों के भी अर्थ हैं। वाच्य नृसिंह को आत्मा के तीन पादों से और लक्ष्य नृसिंह को चौथे पाद से अभिन्न जानना चाहिये। इस प्रकार नृसिंहमंत्र और इसका अर्थ प्रणव और उसके अर्थ से अलग नहीं यह स्फुट हो जाता है। (वास्तव में प्रणव है ही ऐसा मंत्र जिसमें अन्य सारे मंत्रों का अंतर्भाव हो जाता है और प्रणवार्थ में सारे मंत्रार्थ समा जाते हैं।)।।८२।। नाभि, हृदय, भ्रूमध्य और द्वादशान्त (दसवाँ द्वार, सहस्रार) में ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र और सर्वेश्वर के रूप का ध्यान कर यथामन्त्र पूजन करना चाहिये। अन्य भी शास्त्रोक्त स्थलों पर धारणा की जा सकती है।।८३।।

१. तत्समाप्तौ 'सर्वसंहारसमर्थः परिभवासहः' इत्यादिवाक्ये; व्याख्यायां श्रीमद्विद्यारण्यदीपिकायाम् (पृ. ८९-९०)।

अकारादेरवस्थेयम् एवं षोडशधा स्मृता। प्लुतदीर्घह्रस्वसाक्षिभेदैर्वा परिकीर्तिता।।८६

आत्मनोऽपि च पादाः स्युश्चत्वारः परिकीर्तिताः। विश्वश्च तैजसस्तद्वत् प्राज्ञोऽपि च तुरीयकः।।८७

अध्यात्ममधिदैवं च नामान्येतानि तस्य हि। विराट् हिरण्यगर्भेशपरमात्मान आत्मनः।।८८

एकैकस्य चतुर्धात्वं भवेद् विश्वादिकस्य हि। तीव्रमध्यममन्दाख्यैर्भेदैरैक्येन चात्मनः।।८९

बोध्यम् इत्यर्थः। अथ वा अकारादीनां चतुर्विधत्वं प्लुतादिभेदैर्विज्ञेयम्। तत्र चतुर्थो भेदः अविषयत्वात् साक्षिसंज्ञः।।८६।।

यथा च वाचकस्य प्रणवस्य षोडश भेदाः तथा तद्वाच्यस्य आत्मनोऽपि तान् दर्शयति—आत्मनोऽपि चेति द्वाभ्याम्। स्थूलसूक्ष्मकारणोपहितरूपा विश्वादयस्त्रयः, तेषां साक्षी च तुरीयाख्यः, एते चत्वारः प्रणवमात्राचतुष्टयेन अभिधेया आत्मनः चत्वारः पादा अध्यात्मं बोध्याः। तथाऽधिदैवमपि अवस्थितस्य तस्य स्थूलाद्युपहितस्य साक्षिरूपस्य चात्मनो विराट् हिरण्यगर्भ ईशः परमात्मा च इत्येतानि नामानि यथाक्रमं बोध्यानि। इति द्वयोरर्थः।।८७-८।।

एकैकस्येति। एतेषां विश्वादीनाम् अधिदैवरूपाभिन्नानां मध्ये एकैकस्य तीव्रादिभेदैः चतुर्विधत्वं बोध्यम्। तत्रैक्यं निर्विशेषत्वरूपं तुरीयत्वम्। तथा हि जाग्रद्रूपो विश्वश्चतुर्विधः—तत्र इन्द्रियैर्विषयान् गृह्णंस्तीव्रः, मनोरथपरो मध्यो, मोहेन तूष्णीं भूतो मन्दः, समाहितस्तु निर्विशेषतामापन्नस्तुरीयः। एतद् विश्वभेदचतुष्टयं क्रमेण अकारस्य वैखर्यादिसंज्ञावस्थाचतुष्टयस्य वाच्यम्। एवं स्वप्नद्रष्टृरूपः तैजसोऽपि चतुर्विधः—तत्र स्वप्ने मन्त्रादिकमबाधितं गृह्णंस्तीव्रः, स्वप्नं स्वप्नत्वेन जानन् मध्यमः, स्वप्ने व्यामूढो मन्दः, समाहित इति। तथा प्राज्ञोऽपि चतुर्विधः—तत्र सात्त्विकवृत्तिप्रधानः तीव्रः, राजसवृत्तिप्रधानो मध्यमः, तामसवृत्तिर्मन्द इति। तुरीयभेदचतुष्टयं तु स्वयमेव अनन्तरम् उदाह्रियत इति।।८९।।

प्रणव की ये चार बहुत शुभ मात्राएँ हैं—अकार, उकार, मकार और नाद।।८४।। ये प्रत्येक मात्राएँ स्थूलादि भेदों से चार प्रकार की हैं। ये भेद हैं—स्थूल, सूक्ष्म, बीज और व्यापक। व्यक्त वाणी में आरूढ प्रकार स्थूल है जिसे वैखरी कहते हैं, उसका स्थान वाक् है। सूक्ष्म वह हृदयस्थित प्रकार है जिसे मध्यमा कहते हैं। बीज-नामक भेद कुण्डली में रहता है और पश्यन्ती कहलाता है। चौथा भेद साक्षिरूप होने से व्यापक है। (मूलाधार में परा-रूप से जो शब्दतत्त्व है वही नाभि और हृदय द्वारा वाक् में पहुँचकर व्यक्त होता है ऐसा अन्यत्र वर्णित है। प्रणव की हर-एक मात्रा भी इसी क्रम से व्यक्त होती है अतः तत्-तत् अवस्थाओं में उन मात्राओं के व्यापक, बीज आदि भेद संगत हो जाते हैं।)।।८५।।

अकार आदि हर-एक जब चार-चार तरह के हैं तो सबकी मिलाकर सोलह तरह की अवस्थाएँ हुईं। अकारादि के चार भेद यों भी बताये गये हैं—प्लुत, दीर्घ, ह्रस्व और साक्षी। (एक मात्रा काल में कहा जाये तो ह्रस्व, दो में दीर्घ और तीन में प्लुत होता है यह व्याकरण (१.२.२७) आदि से समझना चाहिये। चौथा भेद क्योंकि विषय होने वाला नहीं माना गया, परारूप में भी शब्द विषय नहीं होता है, इसलिये उसे साक्षी कहा।)।।८६।।

वाचक प्रणव की तरह वाच्य आत्मा के भी सोलह भेद समझने चाहिये : प्रथमतस्तु आत्मा के चार पाद प्रसिद्ध हैं—विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीय। (स्थूलोपाधि वाला विश्व, सूक्ष्मोपाधि वाला तैजस्, कारणोपाधिवाला प्राज्ञ और इनका साक्षी तुरीय है। प्रणव की चार मात्राओं द्वारा कहे जाने वाले) ये आत्मा के चार अध्यात्म, व्यष्टि पाद हैं। अधिदैवरूप से स्थित आत्मा के स्थूलादि उपाधियों के अनुसार विराट्, हिरण्यगर्भ, ईश्वर और इनके साक्षिरूप से परमात्मा—ये नाम हैं।।८७-८।।

ओतः सर्वगतः प्रोक्त आत्मा सर्वशरीरिणाम्। प्रपञ्चोऽपि च येनाऽयं ज्ञायते स्वात्मरूपतः।।
स्थूलभेदस्तुरीयस्य तीव्रोऽयं कल्पितो द्विजैः।।९०

अनुज्ञाता भवेदेष ध्यातृध्यानादिभेदवान्। मध्यमोऽत्र तुरीयस्य भेदः सर्वशरीरिणाम्।।९१

अनुज्ञा स्वात्मनो रूपं जानीते यत्र केवलम्। तुरीयस्य तृतीयोऽयं भेदो मन्द इतीरितः।।९२

प्रणवस्य चतुर्थी मात्रा नादरूपा वर्णिता। तस्याश्च बीजबिन्दुशक्तिशान्ताख्याश्चतस्रोऽवस्था उक्ताः। तासां क्रमेण वाच्यांस्तुरीयात्मनः चतुरो भेदान् ओतादिसंज्ञांस्तीव्रादिभावेन उदाहरति—ओतइत्यादिना। सर्वगतः अङ्गारेऽग्निवत् सर्वत्र विश्वशरीरघटकेषु स्थूलसूक्ष्मकारणेषु भासकतयाऽनुगतो यः सर्वेषाम् आत्मा, येन सकलः स्थूलपर्यन्तः प्रपञ्चः स्वस्वरूपेण ज्ञायते भास्यते स आन्तरव्याप्तत्वेन ओतसंज्ञो द्विजैः वेदविद्भिः तुरीयस्य स प्रथमः तीव्राख्यो भेद उच्यत इत्यर्थः।।९०।। प्रपञ्चस्य स्वप्नवद् अध्यस्ततया भानेऽध्यस्तस्य स्वतः सत्ताविरहात् तस्य सत्तादिकमनुजानन् 'मदीयमेव सत्तादिकमस्याऽस्तु' इति चिन्तयतीति यावत्। एवंविध आत्मा अनुज्ञातृसंज्ञः तुरीयस्य द्वितीयो भेद इत्याह—अनुज्ञातेति। एष आत्मा ध्यातृध्यानादिभेदवान् ध्यात्रादिभेदं स्वसत्ताऽदिदानेन अनुगृह्णन्निति यावत्। स अनुज्ञातृनामा तुरीयस्य मध्यमाख्यो द्वितीयभेद उच्यत इत्यर्थः।।९१।। अथ अध्यस्तं सत्ताकर्षणेन विलाप्य आत्मानम् अद्वितीयं जानन्नात्मा अनुज्ञेत्युच्यते, येन सर्वत्र सत्तादिकं दत्तं स इदानीम् अनुज्ञामात्ररूपेण अवशिष्टः, अनुज्ञाया विषयादिकम् इदानीं नास्ति इत्यत्राऽर्थे पर्यवसानात्। स आत्मा तुरीयस्य तृतीयो भेद उच्यते मन्दाख्य इत्याह—अनुज्ञेति। स्वात्मनो रूपं केवलं जानन्ननुज्ञासंज्ञ आत्मा तद्रूपस्तुरीयभेदेषु मन्दाख्यो भेद इत्यर्थः।।९२।। यत्र स्वरूपे बाधितद्वैतस्य स्मृतिरपि नास्ति तदात्मरूपं योगिना पुण्यसंचयात्

विराडादि से अभिन्न विश्वादि हर-एक पुनः चार तरह के हैं—तीव्र, मध्यम, मंद और तुरीय। (इन्द्रियों से विषय ग्रहण करते हुए विश्व तीव्र है, मनोरथों में खोया हुआ विश्व मध्यम है, मोहवश स्तब्ध हुआ मंद है और समाधि में निर्विशेष भाव पाया हुआ तुरीय है। अकार की जो वैखरी आदि नामक अवस्थाएँ बतायीं थीं श्लो. ८५ में उनके ये विश्वभेद क्रमशः वाच्य समझने चाहिये; वैखरी का वाच्य तीव्र, मध्यमा का मध्यम, पश्यन्ती का मंद और परा का तुरीय। तैजस भी चार तरह का है—सपने में जब मंत्रादि ग्रहण करता है जिनका बाध नहीं होता तब तीव्र, स्वप्न को स्वप्न समझते हुए देखे तब मध्यम, स्वप्न में व्यामुग्ध हुआ मंद और स्वप्न में समाहित हुआ तुरीय। ये उकार के उक्त चारों भेदों के वाच्य हैं। ऐसे ही प्राज्ञ के चार प्रकार हैं—सात्त्विक वृत्ति प्रधान रहते समय तीव्र, राजसवृत्ति प्रधान रहे तो मध्यम, तामस वृत्ति प्रधान होने पर मंद और प्राज्ञ का निर्विशेष स्वरूप ही उसका तुरीय भेद है। ये मकार के वैखरी आदि रूपों के वाच्य हैं। यों विश्वादि तीन के भेद संस्कृत टीकानुसार स्पष्ट हुए, तुरीय के भेद मूलकार बतायेंगे।)।।८९।।

प्रणव की चौथी मात्रा को नाद बताया था (श्लो. ८४)। बीज-बिंदु-शक्ति-शांत उसकी चार अवस्थाएँ प्रसिद्ध हैं जिनके क्रमशः वाच्य हैं तुरीय आत्मा के चार भेद—ओत, अनुज्ञाता, अनुज्ञा और अविकल्प। विश्व के शरीर के घटक जो स्थूल-सूक्ष्म-कारण उनके भासकरूप से उनमें अंगारे में आग की तरह व्याप्त जो सबका आत्मा, जो स्थूल-पर्यन्त सारे प्रपंच को अपना स्वरूप जानता है, वह वेदज्ञों द्वारा ओत कहलाता है, वही तुरीय का तीव्र नामक स्थूल भेद है।।९०।।

प्रपंच स्वप्न की तरह अध्यस्त है। अध्यस्त की स्वतः, अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती। 'मेरी ही सत्ता इस प्रपंच की होवे' ऐसा चिंतन करता हुआ आत्मा अनुज्ञाता कहा जाता है। ध्याता-ध्यान आदि भेद को अपनी सत्ता देते हुए उस पर मानो अनुग्रह करने से सब शरीरधारियों के तुरीय आत्मा का मध्यम भेद शास्त्र में अनुज्ञाता नाम से प्रसिद्ध है।।९१।।

सत्ता को आकृष्ट कर लेने से अध्यस्त को विलीन कर आत्मा को अद्वितीय जानते हुए आत्मा अनुज्ञा कहा जाता है। पहले सब विषयों को अनुज्ञा (सत्ता) दे रहा था, अब विषयादि से सत्ता खींच ली तो विषय रह नहीं गये अतः केवल अनुज्ञारूप से (सद्रूप से) वह बचा रहता है। तुरीय का यह मंदरूप तीसरा भेद है। यह वह अवस्था है जब स्वात्मरूप का ही ज्ञान रहता है।।९२।।

अविकल्पश्चतुर्थाख्यो यत्र शून्यमिवाऽखिलम्। भाति विश्वं तथाऽऽत्मा च योगिनः पुण्यसञ्चयात्।।६३

तुरीयं मोक्षः

तुरीयं सुखरूपं तत् सदावस्थाचतुष्टये। अनुस्यूतं विभात्येतद् रूपं यत् षोडशात्मकम्।।६४
यस्मिन्नध्यस्तमखिलमिदं जगदुदीरितम्। गगने निर्मले भाति गन्धर्वनगरोपमम्।।६५
एतत्सर्वभयैः शून्यं जन्मादिपरिवर्जितम्। अणोरणीय एतच्च महतोऽपि महत्तथा।।६६

अधिकारी

एतज्जिज्ञासवः सर्वे ब्राह्मणाद्याः शरीरिणः। कुर्वन्ति विहितं कर्म निषिद्धं वर्जयन्ति च।।६७
सत्यं तपो दया दानं ब्रह्मचर्यमहिंसनम्। इत्यादीन्यपि कर्माणि कुर्वन्ति च विवेकिनः।।६८

सकलप्रतिबन्धहीनेन लभ्यम् अविकल्पपदोक्तं तुरीयस्य चतुर्थभेदत्वेन ज्ञेयमित्याह—अविकल्प इति। चतुर्थाख्यो भेदः तुरीयस्य अविकल्पसंज्ञः यत्र अविकल्पेऽखिलं विश्वं द्वैतं शून्यमिव भवति, न तु शून्यं, यत आत्मा एव भाति योगिनं पुण्यसञ्चयशालिनं प्रति।।६३।।

अस्य तुरीयस्य परमपुरुषार्थरूपतामाह—तुरीयमिति। तद् अविकल्पाख्यं तुरीयम् आनन्दरूपम् अवस्थाचतुष्टयेऽनुस्यूतम् अधिष्ठानतयाऽनुगतं विभाति यद् यतः सत्तास्फुरणादिप्रदाद् हेतोः एतद् वर्णितं षोडशविधमात्मनो रूपं भाति। तत्र तुरीयस्य कल्पितत्वं विशेषणीभूततुरीयतायाः परसापेक्षत्वाद्, न तु विशेष्यांश इति भावः।।६४।। तत्र हेतुतया विश्वाधिष्ठानतामाह—यस्मिन्निति। इदं दृश्यजातरूपं जगद् यस्मिन्नविकल्पे भाति भासमानम् अध्यस्तम् उक्तं निर्मले गगने गन्धर्वनगरवदित्यर्थः।।६५।। एतदिति स्पष्टम्।।६६।।

उक्तात्मज्ञानाधिकारिणः षष्ठखण्डे वर्णितान् निरूपयति—एतज्जिज्ञासव इति चतुर्भिः। एतद् अविकल्पमात्मरूपं ज्ञातुमिच्छन्तो ब्राह्मणाद्या विहिताचरणं निषिद्धवर्जनं च कुर्वन्ति।।६७।। सत्यमिति। तथा सत्यादिचतुष्टयरूपान् धर्मपादान् अहिंसादिरूपान् यमांश्च कुर्वन्ति। तत्र ब्रह्मचर्यस्य पृथङ्निर्देशः श्रुतिषु, अत्यादरात्।।६८।। एवं मन्दा मध्यमाश्च अधिकारिण उक्ताः।

जिस स्वरूप में बाध किये जा चुके द्वैत की स्मृति भी नहीं है वह आत्मरूप अविकल्प है जो पुण्याधिक्यवश सब रुकावटें हटने पर ही योगियों को मिलता है। तुरीय का यह चौथा भेद है, इसमें अखिल विश्व अर्थात् द्वैत तो किसी तरह नहीं बचता, जैसे अलीक किसी तरह नहीं होता, पर आत्मभान बना रहता है।।६३।।

वस्तुतः तुरीय ही परम पुरुषार्थ है। अविकल्प कहलाने वाले तुरीय का स्वरूप आनंद ही है। चारों अवस्थाओं में अधिष्ठानरूप से वह हमेशा अनुगत प्रतीत होता है। सत्ता-स्फुरत्ता देने वाले उसी कारण से उक्त सोलहों आत्मरूप भासते हैं। आत्मा में 'चौथापन' भले ही कल्पित है क्योंकि अन्य तीनों की अपेक्षा से ही कहा-समझा जा सकता है, लेकिन इससे यह भ्रम नहीं कर लेना चाहिये कि चौथा कहलाने वाला आत्मा भी कल्पित है !।।६४।। निर्मल गगन में गंधर्वनगर-सा यह निखिल जगत् जिस पर अध्यस्त बताया गया है वह निरपेक्ष सूक्ष्म, निरपेक्ष महान् आत्मा सब भयों से रहित है, जन्मादि विकारों से असम्बद्ध है।।६५-६६।।

जो ब्राह्मणादि शरीरधारी इस निर्विकल्प आत्मतत्त्व को जानने के लिये उत्कंठित होते हैं वे पहला कदम यह लेते हैं कि निषिद्ध चेष्टाओं से बचें और विहित का आचरण करें। (अर्थात् मुमुक्षु के लिये सदाचारी रहना अनिवार्य है।)।।६७।। मुमुक्षु विवेकी अवश्य बने, सद्-असत् आदि के पार्थक्य के प्रति सदा जागरूक रहे। सत्य, तपस्या, दया, दान, ब्रह्मचर्य, अहिंसा आदि यम-नियमों का पालन करना मोक्षेच्छुक को अपना स्वभाव बना लेना चाहिये। वास्तविक मुमुक्षु ऐसा ही करते हैं।।६८।। यों करते रहने से 'मुझे अनित्य संसार से कोई सरोकार नहीं, नित्य परमात्मा ही चाहिये'

ब्राह्मणा एतमिच्छन्ति एषणात्रयवर्जिताः। भिक्षाचर्यं चरन्त्यत्र व्युत्थायाश्रमकर्मतः।।९९

एतं विज्ञाय विद्वांसो ह्यन्धवद् मूकवद् महीम्। विहरन्त्यपि सर्वज्ञा अविज्ञाता जनैरिह।।

संवर्तकादिवत् सर्वे लोकातीता महाधियः।।१००

प्रणवोपासना

अयमात्मा यदा नैवं ज्ञायते प्रतिबन्धतः। कुतश्चिदमरास्तर्हि विज्ञातव्य उपायतः।।१०१

उपायो मन्त्रराजाख्यश्चतुष्पाच्चतुरात्मना। प्रणवेनात्मना सार्द्धमेकी करणमीरितम्।।१०२

अथ उत्तमानाह—ब्राह्मणा इति। य एषणात्रयेण लोकवित्तपुत्रगोचरेण वर्जिताः सन्तो गृहस्थादिविहितकर्मतो व्युत्थाय तत् परित्यज्य इति यावत्, भिक्षाचर्योपलक्षितं पारमहंस्यं धारयन्ति त एतम् आत्मानम् इच्छन्ति इत्यर्थः।।९९।। तेषु अपि विदुषां लक्षणमाह—एतमिति। एतम् आत्मानं विज्ञाय च अन्धादिवद् लोके विचरन्ति अत एव लोकैः अलक्षिता यथा पूर्वे संवर्त्तारुण्यादयश्चरन्ति स्म तद्वद् इति।।१००।।

अथ षष्ठे सप्तमे च दर्शितं मन्त्रराजोपसर्जनप्रणवोपासनस्य केवलस्य चतुष्पात्प्रणवोपासनस्य च स्वरूपमभिनयति—अयमात्मेति सप्तभिः। एवम् अविकल्परूपेण यदि पापरूपप्रतिबन्धवशाद् विज्ञातुं न शक्यते तदा प्रतिबन्धापहाराय उपायः कर्तव्य इत्यर्थः।।१०१।। कोऽसावुपायः ? इत्यत आह—उपायो मन्त्रेति। यो मन्त्रराजः चतुष्पाद् उक्तः तस्य चतुरात्मना चतुष्पादेन प्रणवेन, कीदृशेन ? आत्मना विश्वादिचतुर्विधात्मवाचकेन सह यद् एकी करणम् उक्तं तद्रूप उपाय इत्यर्थः।।१०२।।

यह तीव्र निश्चयात्मक भावना बन जाती है। जब यों लोक-धन-पुत्र विषयक कामना छूट जाये तब ब्राह्मणों को चाहिये कि गृहस्थादि आश्रमों के लिये विहित कर्मों से मुँह मोड़ कर भिक्षा से लक्षित पारमहंस्य चर्या करें, परमहंस संन्यास धारण करें। संसार में विविदिषु अधिकारी ऐसा करते हुए ही मिलते हैं।।९९।। जब गुरुमुख से वेदान्तों का श्रवण कर, उस पर मनन कर, उसी पर समाहित रहने से आत्मवस्तु का निरर्गल साक्षात्कार हो जाता है तब विद्वान् अंधे-गूँगे की तरह लोक में विचरण करते हैं। सर्वज्ञ होने पर भी संवर्तक आदि प्राचीन विद्वानों की तरह वे यों रहते हैं कि जन-संसत् उनके बारे में बेखबर रहे। वे महान् आत्मा के निश्चय वाले सभी महात्मा लौकिक प्रतिबंधों से अतीत ही होते हैं।।१००।।

हे देवताओ ! किसी प्रतिबंधवश यह आत्मा अपने उक्त स्वरूप से यदि साक्षात् न किया जा पाये तो प्रतिबंधनिवृत्ति के लिये उपाय करना चाहिये।।१०१।। उपाय है चार पादों वाले नृसिंहमंत्र को उस चार पादों वाले प्रणव से अभिन्न समझना जो प्रणव विश्वादि चार प्रकार के आत्मा का वाचक है।।१०२।। अकारादि मात्राओं के ब्रह्मादि अनेक भेद हैं जिन्हें गुरुमुख से समझकर उनका विलापन करना चाहिये। उन मात्राओं को नृसिंहमंत्र से मिलाकर भी यह विलापन किया जा सकता है और केवल प्रणव मात्राओं का भी विलापन कर सकते हैं। हर हालत में विलापन का ढंग एक ही है। (अकार के रूप ब्रह्मादि हैं अर्थात् देवतादि के अनुसार चारों मात्राओं के ये रूप हैं :

मात्रा	देवता	लोक	मन्त्र-वेद	गण	छन्द	अग्नि
अकार	ब्रह्मा	पृथ्वी	ऋक्	वसु	गायत्री	गार्हपत्य
उकार	विष्णु	अन्तरिक्ष	यजु	रुद्र	त्रिष्टुप्	दक्षिण
मकार	रुद्र	द्यु	साम	आदित्य	जगती	आहवनीय
नाद	संवर्तकाग्नि	सोम	अथर्व	मरुत्	विराट्	एकर्षि

ब्रह्माद्यैर्बहुभिर्भेदैरकाराद्या अनेकधा। भिन्ना मात्रा यथाशास्त्रं विज्ञाय गुरुवक्त्रतः।।१०३
एकी कुर्यात् सदा विद्वान् मन्त्रराजं विहाय वा। सर्वत्रैव प्रकारोऽयं पादादिविलये भवेत्।।१०४
पूर्वं विनिःक्षिपेद् विद्वान् उत्तरत्र ततोऽपि तत्। उत्तरस्मिन्नातुरीयं तुरीयं मनसा जपन्।।१०५
कलाः षोडश पुंसो याः षोडशात्मनि ताः स्थिताः। प्रणवे नात्मनीशाने सर्वभेदविवर्जिते।।१०६

तत्र प्रणवस्य मात्राविभूतिः तृतीयखण्डोक्ता ध्येया इत्याह—ब्रह्माद्यैरिति। ब्रह्मा स्रष्टा, आदिपदेन ग्राह्या वसुगायत्रीगार्हपत्यपृथिवीऋग्मन्त्रऋग्वेदाः, एतेऽकाररूपाः। एवं विष्णुरुद्रत्रिष्टुब्दक्षिणाग्नियजुर्मन्त्रयजुर्वेदान्तरिक्षरूप उकारः। रुद्रादित्यजगत्याहवनीयस्वर्गसाममन्त्रसामवेदरूपो मकारः। विराट् मरुत एकर्षिरूपाग्निप्रणवाथर्वणमन्त्राथर्ववेदसंवर्तकाग्निसोमलोकरूपो नादः। इत्येवंविधाः प्रणवमात्रा गुरुमुखाद् विज्ञाय ता मन्त्रराजपादचतुष्टयेन मिलिताः केवला वा एकी कुर्याद् विलापयेत्।

तत्र सर्वत्र पादानां मन्त्रराजसम्बन्धिनां प्रणवसम्बन्धिनां वा तदर्थानां च विलये विलापनेऽयं प्रकारो बोध्यः। इति द्वयोरर्थः।।१०३-४।। 'अयं' कः ? इत्याकांक्षायामाह—पूर्वमिति। पूर्वपादं पादावयवं वा उत्तरत्र अनन्तरे विनिक्षिपेद् विलापयेत्, ततस्तद् उत्तरमपि तत उत्तरस्मिन् विलापयेत्। एवम् आ तुरीयं तुरीयपर्यन्तं धावेत्। ततः तुरीयं प्रणवं बीजबिन्दुशक्तिशान्ताख्याऽवस्थाशालिनं मनसा जपन्ननुसन्दधानो भवेद् इत्यर्थः।।१०५।।

एतासां कलानां विलापनयोग्यतादर्शनाय शुद्धात्मनि तदभावमाह—कला इति। या एताः पुंसः प्रणववाच्यस्य षोडश कलाः उक्ताः ताः षोडशात्मनि षोडशावयवे प्रणवे तादात्म्येन स्थिताः, सर्वभेदविवर्जित ईशाने परमात्माख्ये आत्मनि तु न सन्तीत्यर्थः।।१०६।।

इनके विलापन का प्रकार मूलकार बताने जा रहे हैं।)।।१०३-४।। अपने अवयवों समेत पूर्व-पूर्व पाद को अगले-अगले पाद में विलीन करना ही शास्त्रोक्त ढंग है। तुरीय तक यही क्रम होगा, तुरीय स्वयम् आत्मा है अतः उसका विलय होगा नहीं और इसीलिये उसकी मात्रा (नाद) का मन-ही-मन (न कि व्यक्त वैखरी से) जप चलता रहेगा। (भगवान् भाष्यकार ने पंचीकरण-प्रकरण में यही स्पष्ट किया है। जिसका अनुभव समाप्त होने पर जिस अन्य का अनुभव रहता है उसी अन्य में उस (पूर्वानुभूत) का विलय माना जाता है जैसे घड़ा दीखना बंद होकर मिट्टी का चूरा दीखता है तो घड़ा मिट्टी में विलीन हो गया ऐसा माना जाता है। 'अ' का अनुभव बंद होकर 'उ' का अनुभव रह जाता है अत एव 'अ' का 'उ' में विलय कहा जाता है। ऐसे ही आगे भी जानना चाहिये। केवल शब्द का नहीं उससे संकेतित सारे व्यष्टि-समष्टि अर्थों का भी विलय होता जायेगा तो अंत में निर्विशेष, निर्भेद आत्ममात्र का भान रहेगा, अन्य भानों को रोके रखने के लिये नाद का अनुसंधान कार्य करेगा।)।।१०५।।

यह विलय करना संभव इसलिये है कि शुद्ध आत्मवस्तु में वास्तव में ये सारे भेद हैं ही नहीं ! यदि आत्मा सभेद होता तब यह विलय केवल मनोरथ होता; आत्मा तो भेदरहित है अतः उसे भेदरहित जानना संभव और उचित है। प्रतीतिसिद्ध भेद से विक्षेप होता है अतः उसे विलीन कर केवल आत्मा में प्रतिष्ठित रहना पुरुषार्थ है। प्रणव के वाच्य पुरुष में जो सोलह कलाएँ (हिस्से) बतायीं वे सोलह हिस्सों वाले प्रणव से ही अभिन्न हुई मौजूद हैं न कि सारे भेदों से सदा वर्जित ईशाननामक आत्मा में। (तात्पर्य है कि प्रणवावयवार्थ आत्मा में बताये भेद उपाधिपक्षपाती ही हैं। 'अ'का वाच्य स्थूल उपाधि होने से उसका 'अ' से अभेद है क्योंकि वाच्य-वाचक में अभेद होता है तथा विकारात्मक होने से वह नामधेय ही है। यही उकारादि के अर्थों में स्थिति है। अतः यद्यपि पुरुष के सोलह रूप बताये तथापि उनका परस्पर भेद औपाधिक है, उन उपाधियों का परामर्श छोड़ दें तो ईशानं आत्मा सब भेदों के अभाव से उपलक्षित है।)।।१०६।।

मन्त्रराजस्य चैवं स्युः प्रकाराः षोडशैव हि। उभाभ्यामपि वर्णाभ्यां कृते भागे सदा धिया।।
भूमिकाः षोडशैवैता जेतव्याः स्युः शनैःशनैः।।१०७

जितां जितां विहायैताम् आश्रयेदुत्तरोत्तराम्। तुरीयस्य तुरीयेऽस्मिन् सम्प्राप्ते दैवयोगतः।।
ध्वंसस्ततः परं नैव किञ्चिदत्रावशिष्यते।।१०८

ब्रह्मणः स्वभावः

एतत्तुर्यशरीराख्यमवाङ्मनसगोचरम्। प्रष्टुं वक्तुं च केनाऽपि शक्यते नैव कर्हिचित्।।१०९

मौनेनैव वदन्त्येतं ब्राह्मणास्तत्त्वदर्शिनः। आत्मानं सच्चिदानन्दं पृष्टाः शिष्यैर्महाधियः।।११०

अत्र श्रुतावर्थात् सूचितं प्रकारान्तरं दर्शयति—मन्त्रेति। एवं प्रत्येकं चतुरवयवकपादचतुष्टयशालिना प्रणवेन पादशो मेलने सति मन्त्रराजस्य नारसिंहस्य षोडश भागाः फलिताः स्युः। अष्टाक्षराणां पादानां चतुरवयवकप्रणवमात्राभिः समानार्थत्वे प्रतिपादावयवं द्वयोर्द्वयोरक्षरस्य वाचकतायाः पर्यवसानात्। ता एता षोडश अवस्थाः शनैः शनैर्जेतव्याः चेतसा दृढमालम्बनीया इत्यर्थः।।१०७।। जितामिति। तासु या या भूमिर्जिता भाने प्रतिबन्धशून्या भवति तां विहाय उत्तरामुत्तराम् आश्रयेत्। यदा च तुरीयस्य तुरीयम् अविकल्पाख्यं भाग्योत्कर्षात् प्राप्तं भवति तदा ध्वंसः सविलासाज्ञानस्य भवति। ततः परं किञ्चित् कर्त्तव्यं ज्ञेयं च न अवशिष्यत इत्यर्थः।।१०८।।

अथ सप्तमखण्डे 'ब्रह्मैवेदम्' इत्यादिना 'परमानन्द' इत्यन्तग्रन्थेन[1] ब्रह्मस्वभावाऽभिव्यञ्जिका उपपत्तयः सूचिताः, ताः प्रतिपादयति—एतत् तुर्येति चतुरधिकनवतिश्लोकैः। पुंसः चत्वारि शरीराणि उक्तानि—स्थूलसूक्ष्मकारणतुरीयभेदात्। तत्र तुर्यशरीरेण आख्या निरूपणम् उपलक्षणरूपं यस्य तत्तथाविधम् एतद् अविकल्पं तत्त्वं वागादेरविषयत्वात् प्रष्टुं प्रश्नगोचरी कर्तुं वक्तुम् उत्तरस्य गोचरी कर्तुं च न शक्यम् इत्यर्थः।।१०९।। अत एव शिष्यैः पृष्टा अपि महात्मान एतम् अविकल्परूपम् आत्मानं सच्चिदानन्दलक्षणं मौनेनैव वदन्ति सूचयन्तीत्याह—मौनेनैवेति। स्पष्टम्।।११०।।

मंत्रमेलन का यह भी ढंग है : चार अवयवों वाले चार पादों से प्रणव के जैसे सोलह टुकड़े हैं वेसे ही दो-दो अक्षरों के सोलह टुकड़े नारसिंह मंत्र के हैं। (मंत्र में बत्तीस अक्षर हैं अतः सोलह टुकड़े दो-दो अक्षरों के हैं।) पूर्व में बता चुके हैं कि मंत्रराज के पाद प्रणव की मात्राओं के समानार्थक हैं अतः पादों के वर्णद्वयात्मक अवयव भी मात्राओं के अवयवों के समकक्ष हैं। मन्त्रराज के अवयवों को प्रणव के अवयवों से एक समझना चाहिये, उनके अभेद का ध्यान करना चाहिये। धीरे-धीरे एक-एक जोड़े का अभेद स्थिर करना चाहिये।।१०७।। जिन-जिन स्तरों पर अभेदभान अप्रतिबद्ध होता जाये उन-उन स्तरों को छोड़कर अगले स्तर के अभेदभान का प्रयास करना चाहिये और यह क्रम अविकल्पनामक तुरीय-स्तर की प्राप्तिपर्यन्त चलाना चाहिये। भगवान् कृपापूर्वक जब बुद्धियोग देते हैं तब तुरीयप्रतिष्ठ साधक का सविलास-अज्ञान सर्वथा समाप्त हो जाता है, कोई दृश्य आत्मा में रह नहीं जाता।।१०८।।

तुरीय-शरीर से जिसे समझा जा सकता है वह निर्विकल्प तत्त्व मन-वाणी का विषय नहीं अतः उसके बारे में सवाल-जवाब संभव नहीं ! ऐसा नहीं कि मैं (प्रजापति) उसे कह नहीं सकता वरन् वह वस्तु ही ऐसी है कि कही नहीं जा सकती, कोई उसे नहीं कह सकता। अत एव शिष्यों द्वारा प्रश्न उठाये जाने पर महान् बुद्धिमान् तत्त्वज्ञ ब्राह्मण मौन से ही जवाब देते हैं। (भगवान् श्री दक्षिणामूर्ति का प्रसिद्ध उपदेश मौन ही है।)।।१०९-१०।। वाणी आदि का व्यापार

१. 'ब्रह्मैवेदं सर्वं सच्चिदानन्दरूपं सच्चिदानन्दरूपमिदं सर्वं सद्धीदं सर्वं तत्सदिति चिद्धीदं सर्वं काशते काशते चेति। किं सदिति? इदमिदम्। नेति, अनुभूतिरिति। कैषेति ? इयमियं नेत्यवचनेनैवाऽनुभवन्नुवाच। एवमेव चिदानन्दावपिं अवचनेनैवाऽनुभवन्नुवाच। सर्वमन्यदपि। स परम आनन्दः।' सप्तमखंडे।

आत्मन्यस्मिन् सदैवैकरूपे ब्रह्मणि निर्द्वये। सर्वावस्थास्वनुगते नैव किञ्चित् प्रवर्तते।।१११
अधिष्ठितान्यनेनैव प्रवर्तन्ते शरीरिणाम्। करणानि सकार्याणि ह्यात्मना सर्वहेतुना।।११२
वाचः शब्देषु वर्तन्ते शब्दाश्चार्थेषु सर्वदा। अर्था अनात्मरूपास्ते इन्द्रियाणां हि गोचराः।
बाह्यान्तरस्वरूपाणां सर्वदैव व्यवस्थिताः।।११३
रूपादयः सुखं तद्वद् दुःखं च मनसा सदा। गृह्यते तैश्च रहितः कथमात्माऽत्र गृह्यते।।११४
आत्मनीशे सदानन्दे रूपाद्याश्च न केचन। सुखदुःखे च सततमध्यस्ते स्रजि सर्पवत्।।११५

तत्र हेतुतया वदनीयताव्यापकस्य बाह्यान्तरकरणगोचरत्वस्य अभावमाह—आत्मन्यस्मिन्निति। अस्मिन्नात्मनि किञ्चिद् अपि प्रवर्तितुम् एनं विषयी कर्तुं न शक्तमित्यर्थः।।१११।। तत्र कर्मकर्तृत्वविरोधमाह—अधिष्ठितानीति। अनेनैवात्मनाऽधिष्ठितानि प्रेरितानि करणानि मनःप्रभृतीनि कार्याणि शरीरादीनि अन्यत्र प्रवर्तन्ते। अत्रैव प्रवर्तके कथं प्रवर्तेरन् ? कर्तृभावेन अवस्थितस्य कर्मत्वाऽयोगाद् इति भावः।।११२।। विशेषतो वाग्विषयत्वाऽभावे हेतुं तद्व्यापकाऽभावमाह—वाच इति। वागिन्द्रियं शब्देषु एव वर्तते तानेव विषयी करोति। ते शब्दाश्च अनात्मरूपान् अर्थांस्तानेव गोचरयन्ति ये बाह्याभ्यन्तरं भेदेन द्विविधानाम् इन्द्रियाणां व्यवस्थिता नियता गोचराः, न तु सर्वानित्यर्थः। तथा चेन्द्रियविषयतायाः सामान्यतोऽवच्छेदकस्य अनात्मत्वस्य, विशेषतोऽवच्छेदकस्य रूपादेश्च अभावे इन्द्रियविषयत्वाऽभावः। ततश्च तद्व्याप्यस्य शब्दगोचरत्वस्याऽभाव इति भावः।।११३।। गोचराणां व्यवस्थितत्वमेव स्फुटयति—रूपादय इति। रूपादिषु सुखादिषु च बाह्यान्तरिन्द्रियाणां विषयत्वं नियतमित्यर्थः।।११४।। आत्मनि तु एते इन्द्रियविषयतानियामका गुणा न सन्तीत्याह—आत्मनीति। किञ्च प्रातिभासिकग्रहणस्य साक्षिमात्रसाध्यत्वात् सुखादीनां प्रातिभासिकानां ग्रहणाय मनसोऽनपेक्षितत्वात् सुखदुःखे न मनसो विषयावच्छेदके इत्याह—सुखदुःखे इति। सुखादिकमध्यस्तत्वाद् आत्ममात्रभास्यं नात्मनः परनिरूपितविषयतां साधयति इत्यर्थः।।११५।।

उसी के बारे में होता है जो व्यावृत्त हो जबकि तारतम्यहीन अद्वैत व्यापक साक्षात् आत्मा सभी अवस्थाओं में एकरूप रहता है, अनुवृत्त है, अतः इसे विषय बनाये ऐसा कोई व्यवहार असंभव है।।१११।।

सर्वकारण इस आत्मा से सत्ता-स्फूर्ति पाकर ही देहधारियों के करण प्रेरित हुए अपने व्यापार करते हैं तो वे करण आत्मा को विषय करें यह असंभव है। (जैसे सूर्य से रोशनी पाकर चमकता दर्पण सूर्य को प्रकाशित नहीं कर सकता वैसे आत्मविषय बने करण आत्मा को विषय नहीं कर सकते।)।।११२।। वाणी का बर्ताव शब्दों में ही होता है, शब्दों को व्यक्त करना ही वाणी के लिये संभव है; और शब्द उन्हीं अर्थों के बोधक बनते हैं जो अर्थ मन या इंद्रियों से विषय किये जा सकें अतः अनात्मा, आत्मभिन्न ही हों जैसे रूपादि जो बाह्येंद्रिय-ग्राह्य हैं या सुख-दुःखादि जो मनोग्राह्य हैं। आत्मा रूप-सुखादि से सर्वथा रहित है अतः न अन्तर्बाह्य-इंद्रियगोचर है, न शब्दबोध्य और इसलिये न वाणी का विषय।।११३-४।। सदा आनंदरूप ईश्वराभिन्न आत्मा में रूपादि व सुख-दुःखादि कोई विषयतोपपादक धर्म हैं ही नहीं। कुछ विचारक सुख-दुःख से आत्मसिद्धि करते हैं—पत्थर में आत्मा नहीं क्योंकि उसे सुखःदुख नहीं होता, प्राणियों में आत्मा है क्योंकि वे सुखी-दुःखी होते हैं—किन्तु वह स्थूलबुद्धि वालों के लिये ही उचित है। वास्तव में तो सुखादि आत्मा द्वारा भास्य ही हैं, वे आत्मा को विषय नहीं बना सकते। माला पर कल्पित साँप की तरह सुखादि कल्पित हैं; कल्पित का ग्रहण साक्षी कर लेता है, इसके लिये साक्षी मन पर निर्भर नहीं करता अतः सुखादि के सहारे मन आत्मा को विषय करें यह संभावना नहीं। (अन्यत्र अधिष्ठानप्रकाश के लिये मनोव्यापार चाहिये किन्तु आत्मा पर कल्पित सुखादि के ग्रहण में अधिष्ठान स्वप्रकाश है अतः वहाँ मन की कोई ज़रूरत नहीं। एवं च सुखादि ही जब मनोविषय नहीं तब उन्हें द्वार बनाकर मन आत्मा को कैसे विषय करे! रूप चक्षुर्विषय है तो उसे द्वार बनाकर आकाश चक्षुर्विषय हो भी जाये पर स्पर्श चक्षुर्विषय नहीं तो उसे द्वार बनाकर वायु चक्षुर्विषय बने यह कैसे संभव है ? तात्पर्य है कि आत्मा किसी भी तरह मनोविषय नहीं है।)।।११५।।

अधिष्ठानं भवेदेकं कल्पितानां सदा जनैः। सर्पधारादयो यस्माद् रज्जावेव प्रकल्पिताः।।११६
यद्यप्यन्यदधिष्ठानं रूप्यादेरिह दृश्यते। तथापि कल्पितं कुत्र विभातीति विचार्यताम्।।११७
सामानाधिकरण्येन यद्धि येन प्रतीयते। अधिष्ठानं भवेत्तस्य तदेवान्यन्न कर्हिचित्।।११८
शुक्ती रूप्यं रज्जुरहिरिति नैव प्रतीयते। इदं रूप्यमयं सर्पः किन्तु तद्धि प्रतीयते।।११९

अथ अधिष्ठानत्वस्य इन्द्रियविषयत्वाऽभावव्याप्यत्वात् तेन हेतुनाऽपि अविषयत्वं सूचयन्नात्मनः सर्वाधिष्ठानत्वं साधयति—अधिष्ठानमिति। भ्रमोपादानाऽज्ञानगोचरत्वम् अधिष्ठानत्वं,[1] तच्छालिवस्तु लोकेऽप्येकं प्रसिद्धम्; यथैकस्यां रज्जौ सर्पजलधारादण्डभूबिलानि आरोप्यमाणानि दृष्टानीत्यर्थः।।११६।। ननु लोके रूप्यादीनां यान्यधिष्ठानानि तेषां सर्पाद्यधिष्ठानाद् रज्जुरूपाद् भेद एव प्रसिद्ध इति कथमधिष्ठानैक्यम् इति चेत्? स्यादेवमापाततः; विचारकाले तु जडस्य अज्ञानगोचरत्वाऽनर्हत्वात् सर्वत्र अनुगतस्य चित्सामान्यस्यैव अधिष्ठानत्वमिति दर्शयितुं स्थूलारुन्धतीन्यायेन इदन्तासामान्यस्य अधिष्ठानत्वं तावच्छङ्कासमाधानाभ्यां साधयति—यद्यपीति पञ्चभिः। यद्यपि सर्वाधिष्ठानाद् रूप्यरङ्गादेः अधिष्ठानं शुक्त्यादिकं भिन्नमिति प्रसिद्धं तथापि इदं विचार्यम्; 'इदं' किम्? कल्पितम् आरोपितं कुत्र कस्मिंस्तादात्म्यसम्बन्धेन आश्रिते विभाति भानं लभत इत्यर्थः।।११७।।

तत्र आधारपर्यायस्य अधिष्ठानपदस्य प्रकृते तादात्म्यसम्बन्धेन विशेष्यताभाग्वस्तुरूपोऽर्थः पर्यवस्यतीत्याह—सामानाधिकरण्येनेति। यद् वस्तु येन आगन्तुकेन सह सामानाधिकरण्येन तादात्म्यलक्षणेन सम्बन्धेन प्रतीयते भ्रमकालेऽपि सम्बद्धं भासते, तदेव तस्य आगन्तोः अधिष्ठानभावार्हमित्यर्थः।।११८।। इदं लक्षणं शुक्तिकादौ न सम्भवति किन्तु इदन्तायामेव सम्भवति इत्याह—शुक्तीरूप्यमिति। रूप्येण सह शुक्तेस्तादात्म्यम्, अहिना सह रज्जोश्च तादात्म्यं भेदाभेदरूपं नानुभूयते, इदम्पदार्थेन तु तदनुभूयत इत्यर्थः।।११९।। ननु बाधाऽध्यास-

यह संगत भी नहीं कि अधिष्ठान वस्तु इंद्रियगोचर हो। कल्पितों का अधिष्ठान एक ही हो सकता है क्योंकि देखा जाता है कि लोगों द्वारा कल्पित सर्प, जलधारा आदि सब का अधिष्ठान एक रस्सी ही होती है। (भ्रम का उपादान बनने वाले अज्ञान के विषय को अधिष्ठान कहते हैं।)।।११६।।

(प्रश्न होगा कि सर्पादि का अधिष्ठान रज्जु, रजतादिका अधिष्ठान सींप, चोरादिका अधिष्ठान ठूँठ इत्यादि सभी अधिष्ठान परस्पर विभिन्न ही हैं और अनेक चीज़े हैं जो अधिष्ठान बनती रहती हैं तब यह कैसे कहा कि कल्पितों का अधिष्ठान एक ही हो सकता है? उत्तर है कि अधिष्ठान की पहचान न होने से ही अधिष्ठानभेद की संभावना उठ रही है : सारा जड प्रपंच अज्ञानपरिणाम होने से अज्ञानविषय नहीं हो सकता, सर्वत्र अनुगत एक चित्सामान्य ही अज्ञानविषय हो सकता है अतः 'सविलासमोहविषयता'-रूप अधिष्ठानता आत्मा में ही संभव है। रज्जु आदि को अधिष्ठान तो इतने से ही कह दिया जाता है कि अधिष्ठान बनते आत्मा को वे परिभाषित कर देते हैं। यह विषय मूलकार स्पष्ट करते हैं :) यद्यपि कल्पित चाँदी आदि का अधिष्ठान सींप आदि विभिन्न मिलते हैं तथापि सोचने की बात यह है कि आरोपित वस्तु तादात्म्य-संबंध से किस पर आश्रित होकर भासती है? किस से एक-मेक होकर उसकी प्रतीति होती है? जो अनुवृत्त भ्रमकाल में जिस व्यावृत्त से एक-मेक हुआ प्रतीत होता है वही उस व्यावृत्त का अधिष्ठान हो सकता है। यह तो कभी नहीं लगता 'सींप चाँदी है, रस्सी साँप है' वरन् यही दीखता है 'यह चाँदी है, यह साँप है'। बाधदशा में जो व्यवहार होता भी है कि 'सींप चाँदी है', 'रस्सी भीषण साँप है' आदि वह केवल विकल्प ही है क्योंकि उस दशा में चाँदी, साँप आदि कल्पित वस्तु है ही नहीं! (विकल्प अर्थात् शब्दवश होने वाली ऐसी *प्रतीति* जिसका कोई विषय हो नहीं। इस प्रकार स्पष्ट हुआ कि रज्जु आदि को सर्पादि का अधिष्ठान नहीं मान सकते।) 'जिससे एक-मेक

१. 'संसिद्धा सविलासमोहविषये वस्तुन्यधिष्ठानगीः' इति संक्षेपशारीरके (१.३१)। अत्यन्ताऽज्ञातस्याधिष्ठानताऽदर्शनाद् भ्रमोपादानेति सविलासेति वा वाच्यम्।

बाधायां नैव रूप्यादि तत्र किञ्चन विद्यते। ततो विकल्पमात्रेण प्रत्ययोऽत्र प्रजायते।।१२०
रज्जूरोषण इत्यादौ बाधायां शास्त्रवेदिनाम्। इदन्ता ततएवैषा सर्वाधिष्ठानमीरिता।।१२१

भेदनिरासः

इदन्तायां च शब्देन भेदो नः परिभात्ययम्। भेदो वस्तुनि कोऽप्यत्र यस्मान्नैव प्रतीयते।।१२२
अयं त्वमहमेषोऽस्मि सर्वो विश्वो भवानपि। शब्दभेदा इमे दृष्टा वस्तुभेदविवर्जिताः।।१२३
एक एव पुमान् यस्मात् प्रत्येकं सर्व एव हि। वक्तृभेदादिना शब्दभेदानेतान् समाप्नुयात्।।१२४

विशेषणैक्यभेदेन[1] चतुर्विधस्य सामानाधिकरण्यस्य विशेषे बाधासामानाधिकरण्ये 'चोरोऽयं स्थाणुः, सर्पोऽयं रज्जुः' इत्याकारे रज्जोरपि सामानाधिकरण्यं दृष्टम्? इत्याशङ्क्य; तत्र सर्वस्य[2] असत्त्वेन तज्ज्ञानस्य विकल्पमात्रत्वाद् न अधिष्ठानतासाधकत्वमित्याह—बाधायामिति। शास्त्रवेदिनां योऽयं बाधाकाले रोषणः क्रोधनः सर्पो रज्जुः इत्याकारः प्रत्ययो जायते स ततः 'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्प' (योगसू. १.९) इति लक्षणसमन्वयाद् विकल्पमात्ररूपो यतः तदानीं रूप्यादिकं नास्तीति। फलितमाह— इदन्तेति। इदन्ता पुरोवर्तिसामान्यं तदेव अधिष्ठानतायोग्यम्[3]। इति द्वयोरर्थः।।१२०-२१।।

अथ इमाम् इदन्तां ब्रह्मभावं नेतुम् अस्या भेदराहित्यमाह—इदन्तायामिति सप्तभिः। योऽयमिदन्ताख्ये सामान्ये नः अस्मान् प्रति भेदो भाति स शब्देन एव निमित्तेन भाति, न तु अर्थतः, यस्माद् वस्तुनि अर्थे सामान्यरूपे कोऽपि भेदो न लभ्यत इत्यर्थः।।१२२।।

अस्तु तर्हि शब्दभेदादेवाऽर्थभेद इति चेत्? न, शब्दभेदस्य अर्थैक्येऽपि दृष्टस्य व्यभिचारिणोऽर्थभेदसाधनेऽक्षमत्वादित्याह—अयमिति। अयम् इत्यादयो भवदन्ता अपिशब्दाद् अन्ये च पूर्वादयः शब्दा वस्तुतोऽर्थस्य भेदं विनाऽपि एकत्र प्रवर्तमाना दृष्टा यथा सर्वः सर्वजातीयः पुमान् प्रत्येकं वीक्षण एक एकसंख्याक एव सन्, एतान् अयं-त्वम्-अहमित्यादिरूपान् शब्दान् विषयतया भजते यतः कश्चित् तम् 'अयम्' इति वदति, कश्चित् 'त्वम्' इति, कश्चिद्, 'देवदत्तोऽहमेव' इति स्नेहेन वक्ति, कश्चित्तु 'देवदत्तो मम सर्वो बान्धव' इति वक्ति, इत्येवं वक्तृभेदमपेक्ष्य नानाशब्दभागित्वेऽपि पुंसः स्वभावत एकस्य न भेदो दृष्टः। इति द्वयोरर्थः।।१२३-४।।

हुआ प्रतीत हो वह अधिष्ठान' यह लक्षण मानने पर इदन्ता ही अधिष्ठान बन सकती है। यह रहस्य शास्त्रवेत्ताओं को ही स्पष्ट होता है। (इदन्ता अर्थात् जो कुछ भी विषय बनता है उस सब में जो अनुगत है; हर पुरतः स्थित वस्तु में एक-समान है। विचार करने पर यह सच्चिदानंद ही है।)।।११७-२१।।

इदन्ता में जो हमें यह भेद प्रतीत होता है वह केवल शब्दात्मक निमित्त का फल है, सामान्यात्मक वस्तु में कोई भी भेद संभव नहीं।।१२२।। शब्दभेद से अर्थ में वास्तविक भेद होता है यह माना नहीं जा सकता। सभी पुरुष स्वयं एक ही रहते हैं पर वक्ता-संदर्भ आदि के भेद से उन्हें अनेक शब्दों द्वारा कहा जाता है—देवदत्त खुद को 'मैं' शब्द से कहता है, अन्य उसे 'तू, तुम, आप, यह, वह' आदि कहते हैं, भीड़ में हो तो 'सब' कहने से देवदत्त भी समझा जाता है, विश्व भर के बारे में कोई बात कहें तो वह देवदत्त पर भी लागू हो जाती है। तात्पर्य है कि अलग-अलग शब्दों द्वारा कहा जाने पर भी देवदत्त अनेक नहीं हो जाता अतः शब्दभेद से अर्थभेद नहीं सिद्ध होता।।१२३-४।। किं

---

१. बाधायां 'चोरः स्थाणुः', अध्यासे 'रक्तः स्फटिकः', विशेषणे 'स्थूलो नरः', ऐक्ये 'सोऽयं देवदत्त' इति दृष्टान्ताः।

२. सर्पाद्यध्यस्तस्य द्वैतस्येत्यर्थः।

३. यत्त्वधिष्ठानज्ञानस्याऽध्यस्तबाधकत्वं तद् अधिष्ठानप्रमाऽभिप्रायेण।

प्रातिस्विकं यदैकं स्यात् तदा भेदः कथं भवेत्। शब्दभेदादर्थनिष्ठो गन्धर्वनगरोपमः।।१२५

अर्थभेदश्च केनाऽयं गृह्यते तद् विचार्यताम्। यतः शब्दभटो भग्नो भेदराजानुगो हि यः।।१२६

चक्षुरादीन्द्रियगणो वस्तुमात्रं प्रगृह्य सः। कृतकृत्यो यथा शुक्तिरजतग्रहणादिह।।१२७

इदन्ता चेद् इतो नैषा स्फुरेत्तस्याः कुतो भिदा। इदं सद् इति लोकेऽस्मिन् पर्यायो दृश्यते यतः।१२८

किं चैकत्वस्य सर्वत्र स्वाभाविकत्वे बहिरङ्गोपाधेः शब्दादिरूपाद् अर्थे प्रसक्तो भेदः कल्पित एव सिद्ध्यतीत्याह– प्रातिस्विकमिति। प्रतिस्वं प्रतिस्वरूपं भवनशीलं यदा एकत्वं सिद्धं तदा शब्दभेदमादाय अर्थनिष्ठो भेदः कथं स्याद्! न कथमपि। यदि स्यात् तदापि गन्धर्वनगरसम एव स्याद् इत्यर्थः।।१२५।।

किञ्च ग्राहकप्रमाणाभावादपि अर्थतत्त्वे भेदाऽसिद्धिरित्याह—अर्थभेदश्चेति। अयम् अर्थस्य इदन्तारूपस्य भेदः केन मानेन साध्यत इति विचार्यम्, यतोऽर्थाच्छब्दरूपो महाभटो भग्नः पराहतो, भेदरूपस्य राज्ञोऽनुचरत्वाद् इत्यर्थः। अत्र हि स्वाभाविकाऽभेदेन भेदस्य तिरस्कारे तदनुसारेण अर्थे प्रवेशमिच्छतः शब्दस्य कोऽवकाशः! एवं सति शब्दो विकल्पमात्रात्मकं भेदमादाय तुष्ट इति भावः।।१२६।। तथा पुरो देशे यथाकथञ्चिद् अर्थसत्तामात्रग्राहिण इन्द्रियगणस्य इतरव्यावृत्त्यात्मकभेदग्रहणे न सामर्थ्यमित्याह—चक्षुरादीन्द्रियेति। इन्द्रियगणो वस्तुनः स्वरूपमात्रं गृहीत्वा कृतकृत्यो भवति, यथा दुष्टं चक्षुः[1] शुक्तौ 'रजतमस्ति' इत्येतावता कृतकृत्यं, न तु तस्य भेदमपि ग्रहीतुं शक्नोति, तद्ग्रहणे पुरोवर्तिभेदावगाहनेन भ्रमो लुप्येतेति भावः।।१२७।।

वस्तुतस्तु कालत्रयाऽबाध्यत्वरूपसत्तारूपा इदन्ताऽपि इन्द्रियैर्यदा दुर्ग्रहा तदा तस्याः भेदः सुतरां दुर्ग्रह इत्याह—इदन्ता चेद् इति। इत इन्द्रियगणात् स्वाप्निकेन्द्रियवद् आभिमानिकव्यवहारसाधनाच्चेद् यदि इदन्ताऽपि न स्फुरेद् न सिद्ध्येत्तदा तस्या इदन्ताया इन्द्रियतो भेदः सिद्ध्येदिति कुतः स्याद्! इति पूर्वदलार्थः।। तत्र हेतुतया इदन्तायाः सत्तातो भेदाऽभावमाह— इदमिति। 'इदं'शब्दः'सत्'-शब्दश्च लोके पर्यायतया समानार्थतया प्रसिद्धौ।

च सब चीजों में एकता स्वभावसिद्ध है; भेद भी यदि स्वाभाविक होता तो एकता की काट कर सकता था पर चीज़ों के स्वभाव से बहिर्भूत शब्द पर निर्भर करने वाला भेद चीज़ों की स्वाभाविक एकता को कैसे काटेगा! अगर शब्दभेद से अर्थभेद होने लगे तो गंधर्वनगर भी हुआ करे! अर्थ में इसलिये भेद मानना कि उस अर्थ के बोधक शब्द विभिन्न हैं वैसा ही है जैसा गंधर्वनगर मानना।।१२५।।

यह भी विचारणीय है कि (इदन्तारूप) अर्थ के भेद का ग्रहण किससे होता है? भेदरूप राजा का अनुचर शब्दात्मक सैनिक तो पराहत हो गया, अब कौन प्रमाण है जो अर्थभेद सिद्ध करे? (भेद के सहारे ही शब्द का अर्थ में प्रवेश है पर जब स्वाभाविक अभेद से ही भेदनिरास हो गया तब भेदाश्रित शब्द तो अर्थ को विषय कर नहीं पयेगा कि अर्थगत भेद को ग्रहण कर सके। अतः शब्दसिद्ध भेद केवल 'विकल्प', निरर्थक प्रतीति ही है।)।।१२६।।

चक्षुरादि इन्द्रियों का समूह भी वस्तु के केवल स्वरूप को ग्रहण कर गतार्थ हो जाता है, भेदग्रहण नहीं कर सकता। अत एव सदोष आँख सींप को चाँदी देख कर रुक जाती है, सींप के चाँदी-भेद को ग्रहण नहीं करती अन्यथा भ्रम ही न हो! अतः भेदग्रह प्रत्यक्ष भी नहीं माना जा सकता।।१२७।।

तीनों कालों में जिसका बाध नहीं होता ऐसी सत्ता ही वह इदन्ता है जो सकल भ्रमों का अधिष्ठान है। उसे

१. चक्षुर्व्यापारसत्त्वे रूप्यादिदर्शनादसत्त्वेऽदर्शनाच्चक्षुरेव दोषोपकृतं रजतादिग्राहि, साक्षिग्राह्यतायाः प्रक्रियामात्रत्वात्। 'सत्सम्प्रयोग' इत्यादिरीत्या सम्बद्धवर्तमानमात्रग्राहकत्वस्य निर्दोषेन्द्रियपरत्वात्तत्र प्रत्यक्षप्रमाया एव विवक्षितत्वाद्; अनिर्वचनीयसामर्थ्यस्य क्वचित्स्वीकारे चक्षुरादावेव स्वीकारौचित्यात्; चाक्षुषत्वे च रजतादिबोधस्य मनोवृत्तित्वसम्भवेन स्मृतेरप्युपपत्तेरित्यादि विचारणीयम्।

अनुस्यूते परे तत्त्वे भेदः केन भविष्यति। इदन्तामात्ररूपेऽस्मिन् सर्वभेदविवर्जिते।।१२९

सतःस्वप्रकाशता

सत्ता च स्फुरणादन्या नैव काचित् प्रदृश्यते। स्फुरणं च यदैवैतत् स्वप्रकाशं समीरितम्।।१३०

अचैतन्यं हि चैतन्यबलतोऽत्र प्रतीयते। वादिनामविवादं तत् सर्वेषामपि सर्वदा।।१३१

चैतन्यमपि चेत्तेन प्रतीयेत कुतोऽपरम्। चैतन्यं कल्पितं ह्येतैरप्रमाणं च निष्फलम्।।

स्फुरणं चेत्तदात्मैव सर्वबुद्धिप्रकाशकः।।१३२

सच्चिदात्माऽऽनन्दः

आत्मा सर्वप्रियतमः सर्वेषामिह देहिनाम्। आनन्दरूपस्तेनाऽयं सच्चिद्वपुरुदीरितः।।१३३

इदं शब्दो हि सन्निकृष्टमभिधत्ते, सन्निकृष्टं सदेव भवतीति भावः।।१२८।। यदा च इदन्तायामेवं भेदो न सिद्धः तदेदन्ताऽपि यस्य विशेषस्तत्र परमात्मनि भेदः केन सिद्ध्येद्? इत्याह—अनुस्यूत इति। इदन्तामात्रं सर्वा इदन्ता रूपं विशेषो यस्य तथाभूते।।१२९।।

इदन्तारूपायाः सत्ताया भाने पराऽनपेक्षतां दर्शयितुं स्फुरणाभेदमाह—सत्ता चेति। दृष्टिसृष्टिसिद्धान्तेऽभासमानस्य सत्ताऽसम्भवात् सत्ता स्फुरणरूपैव। तच्च स्फुरणं स्वप्रकाशम् इति प्रपञ्चितमधस्तादित्यर्थः।।१३०।।

स्वप्रकाशत्वे काञ्चिदुपपत्तिमप्याह—अचैतन्यमिति। चैतन्यहीनं वस्तु चैतन्येन सिद्ध्यति इत्यत्र न कस्याऽपि विवाद इत्यर्थः।।१३१।। चैतन्यमपीति। यदि चैतन्यमपि तेन चैतन्येन प्रतीयेत इति मन्यते तदा इति वक्तव्यम्—भास्यतयाऽभिमतं चैतन्यं स्फुरण विलक्षणं वा? स्फुरणात्मकमेव वा? आद्ये; आह—कुतोऽपरम् इत्यादि निष्फलम् इत्यन्तम्। अपरं स्फुरणविलक्षणं यत् तत् चैतन्यं भवतीत्येव एतैः वादिभिः कुतः कल्पितम्? न हि भास्यस्य परसापेक्षस्य चैतन्यरूपताकल्पने किञ्चित् प्रमाणं पश्यामः। न वा फलम् तद्भासकेनैव सर्वनिर्वाहे भास्यस्य चैतन्यस्य वैयर्थ्याद् इत्यर्थः। अन्त्ये; तस्य सर्वान्तरत्वेन आत्मरूपस्य स्वप्रकाशत्वे कः संशय इत्याह—स्फुरणं चेद् इति। यदि तत् चैतन्यं स्फुरणरूपं तदा सर्वधीवृत्तिसाक्षिभूत आत्मैव तत्। न च तस्य परापेक्षा, अनात्मत्वप्रसङ्गाद् इत्यर्थः।।१३२।।

एवं सच्चिद्रूप आत्मा साधितः। अथ तस्य परप्रेमास्पदत्वाद् आनन्दत्वं दर्शयति—आत्मेति। सच्चिद्वपुरात्मा यतः सर्वस्मात् प्रियतमस्तत आनन्दरूप इति योजना।।१३३।। तस्य परमानन्दत्व उपपत्तिमाह-

इंद्रियों से ग्रहण नहीं किया जाता अतः इंद्रिय से यह भी नहीं पता चल सकता कि इदन्ता में भेद है। 'इदम्' और 'सत्' शब्द— 'यह' और 'है' शब्द—लोक में एकार्थक हैं क्योंकि जो 'यह' होता है वह सत् ही होता है और सत् सर्वत्र अनुगत वस्तु है जिसमें भेद होना संगत नहीं। सत् ही परतत्त्व है जो इदन्तारूप से व्यवहारसिद्ध है, उसमें न कोई भेद है, न किसी प्रमाण से भेदावगम होता है।।१२८-९।।

इदन्ता सद्रूप ही नहीं चिद्रूप भी है। स्फुरण से (ज्ञान से, चित्से) अन्य कोई सत्ता उपलब्ध नहीं होती। स्फुरण स्वप्रभ आत्मतत्त्व ही है यह कई बार बता चुके हैं।।१३०।। सांसारिक नियम है कि चैतन्यरहित वस्तु की सिद्धि चैतन्य से ही होती है। इस विषय में वादियों का ऐकमत्य है।।१३१।। चैतन्य को भी अगर चैतन्य से प्रतीत होने वाला माना जाये तो प्रतीत होने वाले को चैतन्य मानना ही प्रमाणहीन और फलहीन होगा। चैतन्य तो संविद्रूप आत्मा ही होता है जो सब बुद्धियों का प्रकाशक है, वह कभी प्रकाशित हो यह संभव नहीं। (तात्पर्य है कि चैतन्य से प्रतीत होना तो जड का लक्षण है, ऐसी वस्तु को चैतन्य कहना नहीं बनता। अतः चैतन्य में भी भेद संभव नहीं; अनेक चेतन कभी प्रमाणसिद्ध नहीं हो सकते। एवं च इदन्ता सामान्य होने से अभिन्न है, सद्रूप होने से अभिन्न है और चिद्रूप होने से अभिन्न है जिससे श्लोक.११६ में ठीक ही कहा कि अधिष्ठान एक ही वस्तु है।)।।१३२।।

आत्महानेऽत्र सम्प्राप्ते यतो हातुं समिच्छति। सुखं च तत एवाऽयं सुखादप्यधिकं सुखम्।।१३४
सुखं त्यजन्ति धीमन्तः स्वल्पमप्यधिके सति। नान्यथा तत एवाऽयं परमानन्दरूपभाक्।।१३५

उपदेशप्रकारः

सच्चिदानन्दमात्मानम् अवाङ्मनसगोचरम्। मौनेन चेन्न जानन्ति शिष्या अल्पधियस्तदा।।
एवं तानुन्मुखान् प्राहुर्धर्मान् आरोप्य कांश्चन।।१३६
वचसो मनसश्चाऽपि विषयः सदसत् स्मृतम्। सदसत्त्वविनिर्मुक्तं स्वरूपं चात्मनः सदा।।१३७
सदसत्त्वं समारोप्य सदसत्त्वविवर्जिते। सच्चिदानन्द आत्मा स त्वमसि क्लेशवर्जितः।।१३८
किं सद् इत्येव चेद् मां त्वं पृच्छस्यत्यन्तमन्दधीः। सर्वत्रेदमिदं यत्तु तत् सद् इत्यवधारय।।१३९

आत्महान इति। यदा लोके आत्मत्वाऽभिमतो 'देहो वा हातव्यः, अमुकं वैषयिकं सुखं वा हातव्यम्?' इति विचारः प्रसज्जते तदा धीमन्तः सुखम् एव त्यजन्तो दृश्यन्ते। तदा चाऽऽत्मापेक्षया सुखमल्पमेव मत्वा त्यजन्तीति न्यायसिद्धम्। तथा चात्मनः परमानन्दत्वं सिद्धम्। इति द्वयोरर्थः।।१३४-५।।

उक्ताऽभिप्रायेण मौनेन आत्मनः सदादिरूपत्वे दर्शितेऽपि यदि शिष्या बोद्धुं न शक्नुवन्ति तदा तान् शिष्यान् उन्मुखान् ज्ञातुमुत्कण्ठितान् इत्थं वक्ष्यमाणविधया बोधयेत् कारुणिको गुरुरित्याह—सच्चिदानन्दमिति।।१३६।।

'एवं' कथम्? इत्यत[1] आह—वचस इति। लोके वचसो विषयो वचसा स्पष्टम् अभिधेयं वस्तु सद् इत्युच्यते। मनसा एवानुसन्धेयं तु असद् इति। आत्मनः स्वरूपं तु उभाभ्यां स्वभावाभ्यां निर्मुक्तं रहितं भवति अतः सदसत्त्व-विनिर्मुक्त आत्मनि सदसत्त्वरूपं धर्मद्वयम् आरोप्य विकल्प्य, 'इति' उपदेशरूपं वाग्व्यवहारं कुर्यात्। 'इति' किम्? हे सोम्य! सः अनुभवसिद्धः सच्चिद्रूप आत्मा त्वमसि। इति द्वयोरर्थः।।१३७-८।। किं सद् इति। स शिष्यो[2] यदि 'किंरूपं सद्?' इति पृच्छेत्, तदैनं प्रति इति वदेत्। 'इति' किम्? यत् सर्वत्र इदमिदम् इत्याकारेण सन्निहितं भासते तद् एव सद्वस्तु इत्यर्थः।।१३९।। स्थूलारुन्धतीन्यायेन इदन्तायां निहिताम् आत्मतां मुख्ये नयति—अवाङ्मनसेति।

उक्त आत्मा ही परम प्रेम का आस्पद है। सब देहधारियों के लिये आत्मा सर्वाधिक प्रिय है जिससे निश्चित है कि सच्चिन्मय आत्मा का स्वरूप आनंद है।।१३३।। आत्महानि का मौका आये तो लोग सुख भी छोड़ने को तैयार हो जाते हैं अतः आत्मा सुख से अधिक सुख है। बुद्धिमान् स्वल्प सुख भी तभी छोड़ते हैं जब अधिक सुख उपलब्ध हो, बिना अधिक सुख मिले थोड़ा भी सुख बुद्धिमान् छोड़ते नहीं, अतः आत्मा के लिये बड़े से बड़ा सुख छोड़ना इसमें प्रमाण है कि आत्मा सब सुखों से उत्कृष्ट सुख है, परमानंद है। (शरीर को आत्मा मानते समय शरीररक्षार्थ ही जब सुखत्याग हो जाता है तब मुख्य आत्मा के लिये सुखत्याग होगा इसमें क्या कहना! अतः आत्मा परमानंद है। पंचदशी के प्रारंभ में ही यह स्पष्ट है।)।।१३४-५।।

मन-वाणी के अगोचर सच्चिदानंद प्रत्यक् को अल्पमति शिष्य मौनोपदेश से ग्रहण न कर सकें तो उन जिज्ञासुओं को आत्मा समझाने के लिये आत्मा पर कुछ धर्मों का आरोप कर उपदेश देना करुणापूर्ण सद्गुरु के लिये उचित है।।१३६।।

वह यों समझाये : लोक में 'सत्' उसे कहते हैं जो वाणी का, शब्दों का सीधे-सीधे विषय हो और जो सिर्फ मन से ही समझा जा सके उसे 'असत्' कहते हैं। आत्मा हमेशा ही इन दोनों स्वभावों से परे है, न वह मन का और न ही शब्द का विषय है। अतः जो सत्-असत् नहीं ऐसे आत्मा पर सत्त्व-असत्त्व धर्मों का आरोप करके ही 'तुम क्लेशहीन सच्चिदानंद आत्मा हो' इत्यादि उपदेश दिया जाता है।।१३७-८।। अगर अत्यंत मंदमति वाले तुम पूछो कि 'सत् क्या

१. श्रुत्यक्षराणि श्लोक१०९ टिप्पणे दर्शितानि।

२. शिष्योऽत्यन्तमन्दधीरुक्तो यतः सौगतं विना सत्यविप्रतिपन्नो लोकः।

अवाङ्मनसरूपेऽस्मिन् यत्रेदन्ताऽपि कल्पिता। तदेवैतत् सदुक्तं ते मया नैकस्वरूपकम्।।१४०
स्फुरणं यत् सदा सद्भिरनुभूतिरितीर्यते। कैषेति[1] चेद् इमां प्राह भवांस्तां ते वदाम्यहम्।।१४१
बुद्धौ सर्वत्रेयमियं भाति याऽनुगताऽत्र चित्। सोक्ता वाङ्मनसाऽतीता हीदन्ताऽप्यत्र वर्जिता।।१४२
एवमेव हि यच्छिष्याः पृच्छन्त्येतान् महाधियः। एतद् वदन्ति सकलमारोप्यैव सदात्मनि।।१४३
आनन्दस्फुरणात्माऽयं सच्चिद्रूपुरुदाहृतः। अवाङ्मनसगम्यः स उपदेष्टुं न शक्यते।।
ज्ञातुं वाऽत्र विनाऽध्यासम् अध्यासपरिवर्जितः।।१४४

आत्माऽवाच्यः

अपि सर्वे च ये भावाः सुखदुःखप्रदा भुवि। ससाधनाश्च चपलाः शक्यन्ते केन भाषितुम्।।१४५

वाङ्मनसाऽतीतरूपे यस्मिन् स्फुरणे इदन्ताऽपि कल्पिता तदेतत् स्फुरणम् एव अनुभूतिरिति प्रसिद्धं तुभ्यं सद् इति उक्तम् इति दलत्रयार्थः। यदि च एषा सदात्मकाऽनुभूतिः क्व तिष्ठतीति मां पृच्छसि तदा ताम् अनुभूतिम् उपलब्धिस्थानविशिष्टां तुभ्यं वदामि इत्यर्थः।।१४०-१।। बुद्धाविति। बुद्धौ प्रतिबिम्बिता सर्वत्र विषयेषु 'इयं चिद् इयं चिद्' इत्येवम् अनुगता या चित् प्रसिद्धा सा अनुभूतिरित्युक्ता, यस्याः स्वरूप इदन्ताऽपि वर्जिता बाधिता भवतीत्यर्थः।।१४२।।

अयमेव उपदेशप्रकारः साम्प्रदायिक इत्याह—एवमेवेति। एतान् गुरून् महामतीन् यदा शिष्याः पृच्छन्ति तदा एतद् वागादियोग्यं धर्मजातं सर्वम् आत्मनि समारोप्य एव वदन्ति इति यत् तद् एवमेव युक्तमित्यर्थः।।१४३।। वाङ्मनसप्रवृत्तेरध्यासमूलकत्वाद् अध्यासं विनाऽऽनन्दादीनाम् आत्मरूपाणां वाचा भाषणं मनसा ज्ञानं चाऽशक्यमित्याह—आनन्देति। भासमानानन्दरूपः सद्रूपश्चिद्रूपश्च य आत्मा उदाहृतः सः अध्यासं विना उपदेष्टुं ज्ञातुं च न शक्य इत्यर्थः।।१४४।।

आत्मस्वभावस्य अवक्तव्यत्वे कैमुत्यन्यायं दर्शयति—अपि सर्वे चेति षड्भिः। किं च लोके प्रसिद्धा ये भावाः सुखादिहेतवः ससाधनाः सहकारिभिः सहिताः चपलाः प्रतिक्षण-परिणामिनः सन्ति तेऽपि केन वर्णयितुं शक्याः?।।१४५।। उदाहरति—मुक्तेति। यथा मुक्ताफल-दुग्ध-चन्द्र-कुन्दपुष्पाणां रूपे श्वेतत्वसामान्ये सत्यपि

है?' तो यही समझ लो कि जो सब देश-काल-वस्तुओं में 'यह-यह' इस तरह सन्निहित हुआ भासता है वही सत् है।।१३९।। किंतु 'यह' लगने वाला ही अंतिम सत् नहीं है! यह इदंता भी, 'यह' लगने वाला सत् भी जिस मन-वाणी से अतीत तत्त्व पर कल्पित है उसी को हम वास्तविक सत् बता रहे हैं। 'यह' इस एकस्वरूप से उपलब्ध को तो इसलिये सत् कहा कि पहले इसे सत् समझोगे तो आगे इसके अधिष्ठान को सत् समझ पाओगे (जैसे बड़े तारे को अरुंधती समझकर उस पर आँख टिकाने पर वास्तविक अरुंधती भी देखी जा सकती है अन्यथा आँख सारे आकाश में भटकती रह जाती है, अरुंधती को देख नहीं पाती।)। वह सत् सज्जनों द्वारा अनुभूति, स्फुरण, ज्ञान, चित्, संवित् आदि कहा जाता है। आगे पूछो कि अनुभूति भी क्या है, कहाँ है? तो वह भी बताते हैं :।।१४०-१।। बुद्धि में प्रतिफलित होकर सभी विषयों के बारे में 'यह ज्ञान, यह ज्ञान' यों अनुगत ज्ञान प्रसिद्ध है वही अनुभूति है। वह अनुभूति मन-वाणी से परे है, उसके स्वरूप में इदन्ता भी बाधित ही है।।१४२।।

जब भी सच्छिष्यों ने महामति गुरुओं से आत्मवस्तु पूछी तब गुरुजनों ने सद्रूप आत्मा पर वाणी-आदि के योग्य धर्मों का आरोप कर ही उपदेश दिया है। यही संगत तथा सांप्रदायिक तरीका होने से इसका समाश्रयण करना चाहिये।।१४३।।

---

१. क्वैषेति टीकापाठः। परमुत्तरानुसारी कैषेति युक्त एव।

मुक्ताक्षीरेन्दुकुन्दानां रूपे श्वेते महानिह। भेदोऽत्र वर्तते नाऽसौ शक्यो धात्राऽपि भाषितुम्।।१४६
यदा भावा इमे सर्वे गृह्यमाणा इवेन्द्रियैः[1]। शक्यं ते नैव वदितुं साक्षात्त्वेनाऽपि कर्हिचित्।
अनिन्द्रियस्तदा केन शक्य आत्माऽत्र भाषितुम्।।१४७
सुखमैन्द्रियकं यत्तु तत्तु जानाति मानसम्। अतीन्द्रियं सुखं केनागच्छेत् तच्चाऽपि दुर्गमम्।।१४८
अपि मानसगम्यं यत् सुखं विषयसम्भवम्। स्वेनैव ज्ञायते तच्च न परेण कथञ्चन।।१४९
आनन्दात्मा कथं ह्येष सर्वदा गुरुभिः स्वयम्। ज्ञायमानोऽपि शिष्याणामग्रे वक्तुं हि शक्यते।।१५०
ततः परम आनन्दो भावाभावात्मकान्मुहुः। धर्मानध्यस्य तैर्धर्मैर्गुरुभिः सर्वदेर्यते।।१५१
शिष्यैः स्वानुभवेनैव स गन्तव्यो महात्मभिः। भावाभावविनिर्मुक्तो मननाद् ध्यानतोऽपि च।।१५२

योऽवान्तरो रूपे विशेषः स दुर्वचः।।१४६।। यदेति। यदा इमे भावाः साक्षात्त्वेन इन्द्रियैर्गृह्यमाणा अपि न वक्तुं शक्या तदाऽतीन्द्रियस्य आत्मनोऽवक्तव्यत्वं किमु वाच्यमिति।।१४७।। अयोग्यत्वाद् मनसैव यस्य न ग्रहणं तत्र वाचः कथं प्रवृत्तिरित्याह—सुखमिति। इन्द्रियसङ्गजमेव सुखं मनसो योग्यं, यच्च अतीन्द्रियं दुर्गमं तपःप्रभृतियत्नैरलभ्यं च तद् आत्मसुखं केन हेतुना आगच्छेद् मनोविषयम् इति शेषः।।१४८।।

किं च ऐन्द्रियकस्याऽपि सुखस्य वक्तुमशक्यताप्रसिद्धावात्मसुखस्य सा किमु वाच्येत्याह—अपि मानसेति। यद् विषयसुखं मानसगम्यं प्रसिद्धं तद् अपि स्वयं विज्ञायत एव, न परं प्रति वाचा बोधयितुं शक्यते। तदाऽविषयस्य आत्मनो वक्तुमशक्यता गुरुभिः किमु वाच्या! इति द्वयोरर्थः।।१४९-५०।।

फलितमाह—तत इति। ततः साक्षाद् अवक्तव्यत्वात् परमानन्दरूप आत्मा धर्मान् आरोप्यैव तैः आरोपितैः धर्मैः विशिष्टतया गुरुभिः उपदिश्यते। कीदृशान् धर्मान्? भावाभावात्मकान्; तत्र भावरूपा धर्माः सत्यत्वादयः, अभावरूपा अस्थूलत्वादयः।।१५१।। शिष्यैरिति। श्रवणोत्तरं शिष्यैः अप्यात्मा मननध्यानाभ्यां व्यक्तेन स्वानुभवेनैव गन्तव्यः प्राप्य इत्यर्थः।।१५२।।

निरध्यास सच्चिदानंद आत्मा को कहने-समझने के लिये किसी-न-किसी अध्यास का सहारा लेना ही पड़ता है। शास्त्रोक्त अध्यासों का ही सहारा लिया जाये यही समुचित है।।१४४।।

आत्मा जैसी अतिसूक्ष्म अलौकिक वस्तु का क्या कहा जाये, संसार में सर्वसाधारण को उपलब्ध सुख-दुःख देने वाले सब पदार्थों और उनके साधनों को शब्दों द्वारा कौन व्यक्त कर सकता है! दृश्यवर्ग हर क्षण बदलकर कहे जा सकने वाले अनंत धर्मों को उपलब्ध कराते रहते हैं फिर भी जब उन्हें शब्दों में बाँध कर सही-सही नहीं कहा जा सकता तब सदा एकरस निर्धर्मक आत्मा को शब्द से कहा जा सके इसकी क्या आशा!।।१४५।। मोती, दूध, चंद्रमा, कुन्द पुष्प—इन सबकी सफेदी में बहुत अंतर होता है पर वह अंतर ब्रह्मा जी भी शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं कर सकते।।१४६।। जिनका इन्द्रियों से साक्षात्कार होता है वे ही पदार्थ जब पूरी तरह कहे नहीं जा सकते तब अतीन्द्रिय आत्मा को शब्दों द्वारा कहे ऐसा संसार में कौन होगा!।।१४७।। इंद्रियजन्य सुख को ही मन भी जान सकता है; तप आदि से भी न मिल सकने वाला जो इंद्रियातीत आत्मरूप सुख है वह मन का विषय कैसे बने? और मनोविषय बने बिना शब्दविषय कैसे बने?।।१४८।। जो विषयलभ्य सुख मन से अनुभव होता है वह भी स्वयं को ही पूर्णतः महसूस होता है, शब्दों द्वारा किसी अन्य को उस सुख का सर्वांश ज्ञात नहीं कराया जा सकता, तब जो मन का भी विषय नहीं उस आनंदरूप आत्मा को गुरुजन हमेशा खुद जानते हुए भी शिष्यों के संमुख शब्दों द्वारा कह सकें यह कैसे संभव है!।।१४९-५०।।

१. इव = एवेत्यर्थः।

आत्मा ब्रह्म

निष्प्रपञ्चः सदात्माऽयं सर्वेषामिह देहिनाम्। प्रपञ्चं कुरुते नित्यं संहरत्यपि स प्रभुः।।१५३
यदा जागरणं गच्छेत् तदैतत् कुरुते विभुः। देहात् स्थूलाद् बहिः सार्द्धं तेन देहेन सर्वदा।।१५४
यदा स्वप्नं तदा सूक्ष्माद् देहाद् बहिरहर्निशम्। सूक्ष्मेण वपुषा सार्धं कुरुते सर्वकृत् पुमान्।।१५५
स्वप्नजागरणावस्थं प्रपञ्चं संहरत्ययम्। स्वप्ने जागरणेऽशेषद्वयं सुप्तौ महेश्वरः।।१५६
संहारज्ञानमात्मस्थं येन जानाति नैव सः। आनन्दात्मानमात्मस्थं येन जानाति नैव सः।
आनन्दात्मा तमो द्वैतं तत् तुरीये विनाशयेत्।।१५७

स्वानुभवैकवेद्यतां स्फुटयन् सर्वेषाम् आत्मनि निष्प्रपञ्चतारूपं ब्रह्मधर्ममाह—निष्प्रपञ्च इति। ननु दृश्यमाने जाग्रदादिप्रपञ्चे। कथं निष्प्रपञ्चतेति चेत्? तस्य दृष्टिसृष्टिन्यायेन[1] प्रातिभासिकस्य वास्तवनिष्प्रपञ्चतया विरोधाऽभावाद् इत्याशयेन आह—प्रपञ्चमिति। प्रतिदिनं सृष्टस्य संहृतस्य च प्रपञ्चस्य न द्वैतापादकत्वमिति भावः।।१५३।।

तत्र दृष्टिसृष्टिविधया सृष्टिमाह—यदेति द्वाभ्याम्। यदाऽयमात्मा जाग्रदवस्थामेति तदैतत् जागरणं तथा स्थूलदेहाद् बाह्यं पदार्थं स्थूलदेहसहितं कुरुते सृजति।।१५४।। यदा स्वप्नमिति। यदा च स्वप्नं गच्छति तदा सूक्ष्मदेहाद् बाह्यं पदार्थजातं सूक्ष्मदेहसहितं सृजति[2]।।१५५।। यदा च यन्न पश्यति तदा तत् संहरतीत्याह—स्वप्नेति। स्वप्नप्रपंचं जागरणे संहरति, जागरणप्रपञ्चं स्वप्ने संहरति, अशेषं च द्वयं स्वप्नं जागरणं च सुषुप्तौ संहरति इत्यर्थः।।१५६।। सुषुप्तौ शिष्टमज्ञानमपि समाधौ संहरतीत्याह—संहारेति। आनन्दरूप आत्मा कर्त्ता तत् तमोरूपं द्वैतं तुरीये स्वरूपे विनाशयति। 'तत्' किम्? येन तमोरूपेण द्वैतेन मोहितः संहारस्य ज्ञानं साक्षिरूपम् आत्मनि वर्तमानमपि न जानाति, येन च स्वरूपभूतमानन्दमपि न जानाति इत्यर्थः।।१५७।।

क्योंकि परमानन्दरूप आत्मा शब्द-शक्ति का विषय नहीं इसलिये गुरुजन सत्त्वादि भावरूप और अस्थूलत्वादि अभावरूप धर्म आत्मा पर आरोपित कर ही उसका उपदेश देते हैं।।१५१।। किन्तु सावधान शिष्यों को चाहिये कि शब्द के बंधन में ही न रहें, अपनी बुद्धि इस तरह विकसित करें कि भाव-अभाव से परे शब्दातीत जो आत्मा उसे स्वानुभव से ही समझने के लिये शब्दों का सीढी के रूप में प्रयोग कर सकें। इसके लिये युक्तिचिंतन और एकाग्रतापूर्वक ध्यान का बहुत उपयोग है।।१५२।।

सबको अपरोक्ष जो आत्मा वह उसी धर्म से युक्त है जिससे शास्त्रोक्त परमात्मा क्यों कि प्रपंचरहित सच्चिदानंद होना ही परमात्मा की खासियत है जो अपरोक्ष आत्मा में उपलब्ध है। जाग्रद् आदि प्रपंच तो दृष्टिसृष्टि-न्याय से प्रातिभासिक है अतः वास्तविक निष्प्रपञ्चता का विरोधी नहीं। (दृष्टिसृष्टिन्याय है कि प्रमाणनिरपेक्ष, अविचारित अनुभव से अतिरिक्त जिस सृष्टि का निरूपण असंभव होता है वह सृष्टि मिथ्या होती है।) प्रपंच का मिथ्यात्व इसी से स्फुट है कि आत्मरूप प्रभु नित्य ही इसे बनाता-बिगाड़ता रहता है।।१५३।। जब आत्मा जाग्रदवस्था में आता है तभी देह-समेत सारे बाह्य प्रपंच को उत्पन्न करता है। (और जाग्रत् से हटते ही सारे प्रपंच को समाप्त कर देता है।)।।१५४।। इसी प्रकार जब स्वप्नावस्था में जाता है तब सूक्ष्मदेह-समेत सारे स्वप्नदृश्य पदार्थों की रचना कर लेता है क्योंकि पुरुष ही सबका रचयिता है।।१५५।। क्योंकि अनुभवातिरिक्त सृष्टि नहीं इसलिये जब जिसका अनुभव नहीं तब उसका संहार ही है। स्वप्न में जाग्रत्के और जाग्रद् में स्वप्न के प्रपंच का संहार आत्मा करता है तथा सुषुप्ति में जाग्रत्-स्वप्न दोनों प्रपंचों का

१. सदोषदृष्टिनिरपेक्षाऽसत्त्वं दृष्टिसृष्टित्वं, तच्च सत्याऽविघातीति दृष्टिसृष्टिन्यायः।
२. एतच्च 'सन्ध्ये सृष्टिराह ही'त्यादौ(३.२.१) विचारितम्।

गुरुप्रसादतोऽज्ञानहरणे प्रभवेत् पुमान्। नान्यथा परमेशोऽपि सर्वशक्तियुतो हि यः।।१५८
ईश्वरस्याऽपि हि ज्ञानं वेदरूपाद् गुरोरभूत्। न स्वतन्त्रं ततस्तस्य कारणं गुरुरीरितः।।१५९
ईश्वरस्य यथा ज्ञानम् अन्यस्याऽपि तथा भवेत्। यदीश्वरसमः सोऽपि विशुद्धधिषणः पुमान्।।१६०
अज्ञानहरणं हित्वा स्वतन्त्रोऽयं सदा पुमान्। सृष्टावपि च संहारे जगतोऽस्य परेश्वरः।।१६१
स्वतन्त्र ईश्वरः सृष्टावपरो न कथञ्चन। इति यत्तन्मृषा नैव यत आत्मा स देहिनाम्।।१६२

एतत् कारणशरीरभूताऽज्ञानस्य तुरीये विलापनं गुरुप्रसादमन्तरा न भवति इत्याह—गुरुप्रसादत इति। अज्ञानस्य हरणे तुरीये विलापनरूपे गुरुप्रसादत एव प्रभवेत् शक्तो भवेत्, न तं विना ईश्वरोऽपि शक्त इत्यर्थः।।१५८।। ईश्वरस्याप्यत्र गुरुप्रसादापेक्षतां स्फुटयति— ईश्वरस्याऽपीति। ईश्वरस्य हिरण्यगर्भस्य अपि आत्मज्ञानं तु स्वतन्त्रं[1] न अभवत् किन्तु स्मृताद् वेदरूपाद् गुरोः एव अभवत्। ततस्तस्य ज्ञानस्य कारणं गुरुः एवेति सिद्धम् इत्यर्थः।।१५९।। इदानीमस्य पुंसः स्मृतवेदरूपाद् गुरोः ज्ञानाभावे प्रयोजकः चित्तशुद्ध्यभाव एव, न त्वीश्वरत्वाऽभावः, जाग्रदादौ सृष्ट्यादिकर्तृतारूपस्य ईश्वरलक्षणस्य अत्रापि वर्णितत्वादित्याशयेनाह—ईश्वरस्येति। सोऽपि इदानीन्तनोऽपि यदि हिरण्यगर्भवद् विशुद्धमतिः तदाऽस्याऽपि तथा ज्ञानं स्यादेवेत्यर्थः।।१६०।।

अस्य ईश्वरत्वमेव स्फुटयति—अज्ञानेति। अज्ञानहरणं गुरुपरतन्त्रं मुक्त्वाऽस्य जगतः सृष्टिसंहारयोः स्वतन्त्रत्वाद् अयं प्रसिद्धः पुमान् परमेश्वर एवेत्यर्थः।।१६१।। यच्च वेदान्तेषु ईश्वरस्यैव सृष्ट्यादिकं कर्मेति प्रसिद्धिः स (तत्?) ईश्वरादतिरिक्त आत्मैव नास्तीत्यभिप्रायेण। तथा चान्तर्यामिब्राह्मणश्रुतिः 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' (बृ.३.७.२३) इत्यादिः। इत्याह—स्वतन्त्र इति। ईश्वर एव सृष्ट्यादौ स्वतन्त्रः इति यद् उच्यते वेदान्तेषु तत् सत्यमेव यतः स ईश्वर एव सर्वेषां न आत्मा इत्यर्थः।।१६२।।

पूरा संहार कर देता है। यों सर्वविनाशक होने से आत्मा स्पष्ट ही महेश्वर है।।१५६।। स्वयं में जो संहार का साक्षिरूप ज्ञान है और जो स्वयं का आनंदस्वरूप है उसे जिस तम के कारण न जानकर आत्मा द्वैत से मुग्ध रहता है उस तम-रूप, अज्ञानरूप द्वैत को भी यह तुरीय स्वरूप में नष्ट कर देता है। जैसे जाग्रत्स्वप्न का विनाश सुषुप्ति में वैसे सुषुप्ति का, अज्ञान का नाश समाधि में हो जाता है।।१५७।। किन्तु जैसे जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति स्वभावसिद्ध हैं ऐसे समाधि नहीं, कारणशरीरात्मक अज्ञान का तुरीय स्वरूप में विलय सद्गुरु की अनुकंपा के बिना संभव नहीं। सारी शक्तियों से संपन्न परमेश्वर भी बिना गुरुकृपा के अज्ञान का तुरीय में विलापन नहीं कर सकते तो अन्य कोई वैसा कर सके इसकी क्या संभावना!।।१५८।। परमेश्वररूप हिरण्यगर्भ को भी तो आत्मज्ञान वेदरूप गुरु से ही हुआ, स्वतंत्र नहीं; अतः निश्चित है कि ज्ञान का कारण गुरु है। (यह प्रसंग बृहदारण्यक में आया था, आत्म-पु.४.श्लोक.४२५ आदि। गुरुवंश में भी अंतिम उल्लेख 'स्वयंभू ब्रह्म' अर्थात् वेद का है यह बृहद्भाष्यटीकादि में (२.६.३) स्पष्ट है। परमेश्वर का ज्ञान नित्य है, उन्हें ज्ञान *होता* नहीं अतः यहाँ ईश्वर-शब्द हिरण्यगर्भ के लिये ही उचित है जिन्हें ज्ञान होता है यह शतपथ, श्वेताश्वतर आदि में बताया है।)।।१५९।। हिरण्यगर्भ की तरह अन्य जीव को भी ज्ञान हो सकता है यदि उसकी बुद्धि उनकी तरह विशुद्ध हो। सृष्टि आदि तो जीव वैसे ही करता है जैसे हिरण्यगर्भ, क्योंकि जगने के साथ ही सारा स्थूल जगत् यह पैदा करता है यह कह चुके हैं; अतः अस्मदादि जीव को जो ज्ञान नहीं हो रहा उसमें ईश्वरता की कमी कारण नहीं वरन् चित्तशुद्धि की कमी ही कारण है।।१६०।। इस जगत् के सृष्टि-संहार में तो सर्वानुभवसिद्ध प्रत्यक्पुरुष स्वतंत्र होने से ईश्वर ही है, कमी यही है कि यह अज्ञान नहीं मिटा पाया जबकि हिरण्यगर्भ ने अतिशीघ्र मिटा लिया था।।१६१।। 'ईश्वर ही सृष्टि में स्वतंत्र है अन्य कोई किसी तरह स्वतन्त्र नहीं' यह बात सर्वथा सत्य है क्योंकि ईश्वर ही तो

१. भाष्यकारास्तु'...अनुपदिष्टमेव युक्तमेकत्वदर्शनं प्रजापतेः' (बृ.भा.१.४.२ पृ.५९ म.अ.सं.) इत्यादि वेदान्योपदेष्ट्रभिप्रायेण लिलिखुः।

उपाधेर्भेदः

एक एव पुमानीशः स जीवश्चाऽपि कीर्त्यते। उपाधेस्तु विशेषेण रामकृष्णौ यथा पृथक्।।१६३

ईशानीशविभागोऽयमेकस्मिन्नीश्वरे सदा। यथा दाशरथौ तद्वद् देवे च जलशायिनि।।१६४

अलौकिकानि कर्माणि सर्वेषामपि सन्ति हि। एकैकापेक्षया यस्माच्चित्रशक्तिरयं जनः।।१६५

वक्तारो मानवास्तद्वत् खगा आकाशगामिनः। पातालतलगाः सर्पा वृक्षा निश्चलजीविनः।।१६६

अन्तर्धानादिशक्तीनाम् आश्रया अमरादयः। एवमन्येऽपि सन्त्यत्र जीवा नानाविधा अपि।।१६७

जातिगोत्रकुलादीनां भेदैर्भिन्नाः सहस्रशः। नानाशक्तियुताश्चान्यैरशक्यालङ्क्रियाः सदा।।१६८

एकात्मतामेव स्फुटी करोति—एक एवेत्यादिना। पुमान् सङ्घातानां पालक एको देव उपाधेः समष्टिव्यष्टिरूपस्य विशेषेण भेदेन ईश इति जीव इति च व्यपदिश्यते, यथा रावणारितां कंसारितां चाऽपेक्ष्य रामावतारः कृष्णावतारश्च पृथग् व्यपदिश्यते तद्वदित्यर्थः।।१६३।। कर्मभेदेन भेदाशङ्कां परिहरति—ईशानीशेति। एकस्मिन्नीश्वर एव ईश इति अनीश इति व्यवहारः। यथा रावणं हन्तुं समर्थत्वाद् दाशरथिः श्रीरामचन्द्र ईश इत्युच्यते, जलशायी समुद्रे शेषभोगशायी भगवान् रावणहननेऽसमर्थः अनीश इत्युक्त इत्यर्थः।।१६४।। यथा दाशरथिकृत्यम् अकुर्वाणोऽपि जलशायी स्वकीयविचित्रकार्यपेक्षया ईश्वर एव तथा व्यष्टिष्वपि बोध्यम् इति सूचयन् सर्वेषां विचित्रकार्य-कारितामाह—अलौकिकानीति। अलौकिकानि आश्चर्यकराणि यतः परस्परापेक्षया चित्रा विलक्षणा शक्तिर्यस्य तथाभूतो लोकः।।१६५।।

चित्रशक्तितामभिनयति—वक्तार इति। वक्तृत्वशक्तिर्मनुष्येष्वेव। आकाशगमनशक्तिः पक्षिष्वेव। स्वल्पेऽपि भूविवरे प्रवेशशक्तिः सर्पेषु। निश्चलतया स्थितिशक्तिर्वृक्षेषु एव। एवमग्रेऽपि।।१६६।। अन्तर्धानादीति। स्पष्टम्।।१६७।। जातीति। जात्याद्यवच्छेदेन नानाशक्तियुता अपि जीवाः सन्तीति पूर्वेण सम्बन्धः। कीदृशास्ते जीवाः? अन्यैरशक्यालंक्रियाः कर्तुमशक्याऽलंक्रिया वारणम् 'अहमेव तत् कार्यं करिष्यामि किन्तैः' इत्याकारं येषां ते तथा।।१६८।। सन्निहितेषु मानवेष्वेव विचित्रशक्तितां दर्शयति—मानवेष्विति। उपविद्या गान्धर्वनाट्यादयः।

देहधारियों का आत्मा है। (अर्थात् जीव को सृष्टि आदि करने वाला कहने से ईश्वर ही सृष्टिकर्ता है इस सिद्धांत का विरोध नहीं क्योंकि जीव ईश्वर से अन्य कुछ नहीं हैं।)।।१६२।।

संघातों का पालनकर्ता पुरुष एक ईश्वर ही है जिसे जीव भी कहते हैं। जैसे रावणशत्रुता और कंसशत्रुता इन उपाधियों के भेद से एक ही विष्णु को राम और कृष्ण कहा-समझा जाता है वैसे समष्टि उपाधि से उसे ईश्वर और व्यष्टि उपाधि से जीव कहा-समझा जाता है। स्वरूप में कोई अंतर नहीं।।१६३।।

कोई कहे कि विभिन्न कर्मों में समर्थ होने-न होने से व्यक्ति वस्तुतः भिन्न माना जाये, तो वह कहना ठीक नहीं। समुद्र में शेष-शय्या पर सोये भगवान् विष्णु रावण को मारने में असमर्थ थे क्योंकि रावण केवल मनुष्य से ही मर सकता था, और दशरथ पुत्र श्रीराम रावणवध में पूर्ण समर्थ थे; यों समर्थ-असमर्थ होने पर श्रीराम और भगवान् विष्णु में वास्तविक अन्तर नहीं। अतः ईश्वर-अनीश्वर का यह विभाजन एक अखण्ड ईश्वर में उपाधिमात्र से भासमान है।।१६४।। समष्टि-उपाधि वाला हो या व्यष्टि-उपाधि वाला, सभी के कुछ-न-कुछ अलौकिक, आश्चर्यकारी कर्म होते ही हैं क्यों कि हर-एक में एक-दूसरे की अपेक्षा विलक्षण शक्ति हुआ करती है।।१६५।। वक्ता होने की सामर्थ्य मानवों में ही देखी जाती है, आकाशगमन की शक्ति पक्षिओं में ही होती है, धरती में छोटे-से छेद में भी घुसने की सामर्थ्य साँपों में ही उपलब्ध है, एक स्थान पर स्थिर रहकर जीवन बिता देना वृक्षों के लिये ही संभव है।।१६६।। अन्तर्धान आदि हो जाने

मानवेषु यथा केचित् शूराः केचिन्नराधिपाः। मन्त्रिणः केचिदपरे ब्राह्मणा वेदपारगाः।।१६९
शास्त्राणामपि कर्त्तारो वक्तारश्चापरेऽपि च। अनुष्ठानरताः केचिदुपविद्यारताः परे।।१७०
कामक्रोधादिमन्तश्च केचित् शान्त्यादिसंयुताः। केचिदेवं विचित्रेयं[1] सर्वशक्तिरलौकिकी।।१७१
वपुष्यपि ऋषीणां या वर्तते काचिदैश्वरी। स्त्रीपुंसादिशरीरेषु चेन्द्रियादिसमाश्रया।।१७२
घ्राणकर्णमुखोपस्थपायुच्छिद्रेषु को बहिः। भेदोऽत्र विद्यते येन विषमं कर्म तद्गतम्।।१७३
अचिन्त्यशक्तयः सर्वे भावास्तेनाऽत्र दुर्भणाः। एकेनैवात्मनाऽनेन सर्वदा समधिष्ठिताः।।१७४

स्फुटमन्यद् द्वयोः।।१६९-७०।। कामेति। उत्तरार्द्धे केचिद् इति पूर्वान्वयि सर्वस्य परमेश्वरस्य शक्तिः तत्तदुपाधिषु इत्थं विचित्रा इत्यर्थः।।१७१।। वपुष्यपीति। सैव ऐश्वरी शक्तिः ऋषीणां वरादिशक्तानां देहेष्वपि तिष्ठति। तथा स्त्रीप्रभृतिशरीरेषु शरीरघटकेन्द्रियच्छिद्रेषु चेत्यर्थः।।१७२।। इन्द्रियादिनिष्ठतां स्फुटयति—घ्राणेति। नासिकादिपायुपर्यन्तेषु छिद्रेषु बहिः बाह्यतः साम्येन उपलभ्यमानेषु अस्ति अन्तः विशेषाधायकं किञ्चिद् यद्वशात् तद्गतं नासिकादिस्थितं कर्म गन्धग्रहणादिरूपं परस्परविलक्षणं दृश्यत इत्यर्थः।।१७३।। फलितमाह—अचिन्त्येति। तेन वैचित्र्यदर्शनेन इदं सिद्धम्—सर्वे भावा अचिन्त्यशक्तित्वाद् दुर्भणा अनिर्वचनीयप्रभावा विचित्रशक्तिमता ईश्वरेण

की शक्तियाँ देवयोनियों में ही प्रकट होती हैं। इसी प्रकार विचित्र शक्तियों वाले नाना प्रकार के जीव संसार में विद्यमान हैं।।१६७।। जाति, गोत्र, कुल आदि भेदों द्वारा हजारों तरह बँटे वे जीव अलग-अलग शक्तियों वाले हैं और हर-एक की कोई-न-कोई ऐसी क्रिया है जिसमें दूसरा समर्थ नहीं; दूसरा यह नहीं कह सकता 'यह मैं ही कर लूँगा, इसकी क्या ज़रूरत!' क्योंकि प्रत्येक योनि का विशिष्ट कार्य है जो अन्य योनि वाला कर ही नहीं सकता।।१६८।। मानवों में भी अवान्तर भेदों के अनुसार विशेष सामर्थ्य देखी जाती है : कोई मानव शूर-वीर होते हैं, अन्य प्रशासनादि राजकार्य के विशेषज्ञ होते हैं, कुछ मन्त्रणा देने में कुशल होते हैं। (अर्थात् प्रजापालन आदि के लिये क्या करना चाहिये इसकी सूझ अच्छी दे सकते हैं पर स्वयं कर-करा नहीं सकते), अन्य ब्राह्मण वेदविद्या में पारंगत होते हैं, कुछ विद्वान् शास्त्र-रचयिता बन जाते हैं तो अन्य केवल समझाने में वैशिष्ट्य प्राप्त करते हैं, किसी की खासियत अनुष्ठानों में दीखती है जब कि कुछ लोग उपविद्याओं में ही चतुर हो पाते हैं। (संगीत, नाटक आदि को उपविद्या कहते हैं।)।।१६९-७०।। कुछ लोग बेहद कामनाएँ कर सकते हैं, किसी की महत्ता क्रोध से ही होती है जबकि कुछ लोग शांति आदि निवृत्तिगुणों वाले ही रहते हैं। परमेश्वर की अलौकिक शक्ति ही अलग-अलग उपाधियों में विचित्र तरहों से प्रकट होती है।।१७१।।

वरप्रदान आदि में समर्थ ऋषिओं के शरीरों में तथा स्त्री-पुरुषादि शरीरों की इंद्रियादि में विभिन्न कार्य करते हुए उपलब्ध शक्ति भी ईश्वर की वह अलौकिक शक्ति ही है।।१७२।। नाक, कान, मुख, उपस्थ व पायु के छेदों को बाहर से देखें तो इनमें कौन-सा ऐसा भेद दीखता है जिससे उनमें होने वाले गंधग्रहणादि विभिन्न कार्यों का उपपादन हो सके? अतः उनमें विशेषता का आधान करने वाली आंतरिक—चर्मचक्षु का अविषय—ही कोई सामर्थ्य माननी पड़ती है। (परीक्षणादि से तत्तद् देहावयवों की तत्तत् चेष्टाओं का पता चलता है जिससे प्रक्रिया भले ही समझ आये कि गंधग्रहण कैसे हुआ, शब्दश्रवण कैसे हुआ आदि किन्तु वे ही अवयव वही चेष्टा क्यों करते हैं, गंधग्राहक अवयव शब्द श्रवणोपयोगी और श्रोत्रावयव घ्राणनोपयोगी चेष्टा क्यों नहीं करते इत्यादि उपपादन लौकिक बुद्धि से संभव न होने के कारण अलौकिक पारमेश्वरी मायाशक्ति से ही उपपन्न है यह भाव है।)।।१७३।। यों विचित्रता दीखने से सिद्ध होता है कि लौकिक युक्तियों से उपपादन करने के अयोग्य शक्तियों वाले होने से सभी पदार्थों का प्रभाव अनिर्वचनीय है अतः विचित्र शक्ति वाले एक परमात्मा से ही सब सदा भली-भाँति अधिष्ठित रहते हैं। (प्रत्येक पदार्थ में विलक्षण

१. विचित्रेत्यमिति टीकापाठः स्यात्।

ईशो जीवः पुमान् विप्रः पण्डितो मूर्ख एव च। स्त्री गौस्तरुस्तथा पक्षी चतुष्पाच्च द्विपादपि।।१७५
पादहीनस्त्रिपात् तद्वद् बहुपादप्यनन्तपात्। इत्यादिनामवान् योऽयमानन्दात्मा महेश्वरः।।१७६
पुमान् स्त्री कुञ्जरो वाजी तरुः सर्पो वृषादयः। एतानि देहनामानि पुंसो नैवाऽत्र किञ्चन।।१७७
आनन्दात्मा स्वयंज्योतिः सर्वभेदविवर्जितः। सत्यज्ञानादिगुणको निर्गुणोऽपि निरञ्जनः।।१७८
अनादिमायया कृत्वा कार्यं नानाविधं त्विदम्। तत्र स्थितो विभात्येष ईशानीशादिभेदवान्।।१७९
महाकाशो गृहाकाशो घटाकाशः परोऽपि च। एक एव यथाकाशो भवेत् तत्तद्विभेदवान्।।१८०
गन्धर्वनगरं यद्वद् मायया परिकल्पितम्। नभसोऽस्याऽयथा भेदं कुर्यान्नानाविधं बहु।।१८१
आनन्दात्मनि तद् द्वैतमेवमत्र प्रकल्पितम्। भेदं नानाविधं तस्य कुरुते सर्वदैव हि।।१८२

एकेन अधिष्ठिताश्च इत्यर्थः।।१७४।। तस्माद् एकस्यैव उपाधिमात्रभेदेन ईशादीनि नामानि इत्याह—ईश इति। त्रयः पादा यस्य स त्रिपात्।।१७५-६।।

विचारकाले त्वेतानि नामानि उपाधीनामेव पर्यवस्यन्तीत्याह—पुमानिति। वृषादयः शब्दा इति शेषः। देहस्य उपाधेरेव, न साक्षिरूपस्य पुंसः।।१७७।। स्वतस्तु पुरुषस्य सर्वोपाधिषु निर्विशेषत्वमेवेत्याह—आनन्दात्मेति। कल्पितभेदेन सत्यज्ञानादयो गुणा यस्य, वस्तुतस्तु निरञ्जनो निरुपाधिश्च।।१७८।। वस्तुतो निरञ्जनत्वं स्फुटयितुं तस्यैव उपाधीनां स्रष्टृत्वमाह—अनादीति।।१७९।। औपाधिकभेदे दृष्टान्तमाह—महाकाश इति। यथा एक एव आकाशो महाकाश-गृहाकाश-घटाकाश-करकाकाशादिसंज्ञः तत्तदुपाधिभेदमादाय भवेत्, तथाऽऽत्मापीत्यर्थः।।१८०।। —उपाधीनां कल्पितत्वबोधनाय दृष्टान्तान्तरमाह—गन्धर्वेति। अयथा मिथ्याभूतं भेदम्।।१८१।। दार्ष्टान्तिके योजयति— आनन्दात्मनीति। तद् देहादिरूपं द्वैतं तस्य स्वोपहितस्यात्मनो नानाविधं भेदं कुर्याद् इति।।१८२।।

शक्तियाँ मानने की अपेक्षा इसी में लाघव है कि अनंत वैचित्र्य वाली मायाशक्ति से संपन्न ईश्वर को ही सब पदार्थों का अधिष्ठाता स्वीकारा जाये। ईश्वर व उसकी अनिर्वाच्य मायाशक्ति तो हर हालत में माननी ही पड़ेगी। उसी की तत्तद् उपाधियों में अलग-अलग अभिव्यक्तियाँ मानने से जब व्यवस्था संगत है तब सब चीज़ों में अलग-अलग शक्तियाँ क्यों माननी? यह वेदांत का शक्तिवाद बृहदारण्यकवार्तिक में सुव्यक्त है। इससे सब चीज़ों पर सब तरह सब समय ईश्वर का पूर्ण नियंत्रण, ईश्वर का सर्वकारित्व आदि भी सर्वथा बुद्धिसंगत हो जाता है और उपासक के लिये सदा सर्वत्र ईश्वर ही अपरोक्षवत् उपलब्ध हो जाता है, यह रहस्य है।)।।१७४।। ईश्वर, जीव, पुरुष, वेदपाठी, विद्वान्, मूर्ख, स्त्री, गाय, पेड़, पक्षी, चौपाया, दो-पाया, तीन-पाया, पैर-रहित, बहुत पैरों वाला, अनंत पैरों वाला इत्यादि नामों वाला वही बनता जाता है जो आनंदस्वरूप महेश्वर है। पुरुष, स्त्री, हाथी, घोड़ा, पेड़, साँप, साँड आदि शरीरों के ही नाम होते हैं, इनमें से कोई भी नाम आत्मा का नहीं है।।१७५-७।। स्वतः पूर्ण चैतन्य तो उपाधिभेद के बावजूद सब विशेषों से रहित ही है। आनंदस्वरूप स्वयं ज्ञान आत्मा अज्ञानांजन से और सभी गुणों से पूर्णतः विवर्जित रहते हुए ही कल्पित भेद की दृष्टि से सत्य-ज्ञानादि गुणों वाले के रूप में व्यवहृत होता रहता है।।१७८।। अपनी अनादि माया से नाना प्रकार के ये सर्वानुभवगोचर कार्य करके अर्थात् उपाधियाँ रचकर, उनमें स्थित हुआ यह आत्मा ही ईश-अनीश आदि भेदों वाला प्रतीत होता है।।१७९।। जैसे एक ही आकाश उपाधिभेद से महाकाश, गृहाकाश, घटाकाश तथा अन्य भी ऐसे भेदों वाला हो जाता है वैसे आत्मा भी औपाधिक भेदों वाला है।।१८०।।

माया से परिकल्पित गंधर्वनगर इस दृश्यमान आकाश में नानाविध बहुत से अयथार्थ भेद उत्पन्न कर देता है (जैसे गंधर्वनगर से ऊपर का आकाश, उसके दायें-बायें-नीचे का आकाश, उसके द्वारा सीमित आकाश, उसमे दृश्यमान गृहादि का आकाश इत्यादि); इसी प्रकार प्रत्यक्स्वरूप आनंदात्मा में प्रकल्पित द्वैत आत्मा में नानाविध भेदों की हमेशा प्रतीति कराता रहता है।।१८१-२।। जैसे गृहाकाश के उचित जो क्रिया है—वहाँ रह सकने जितनी जगह देना आदि— वह

घटाकाशो यथा नैव गृहाकाशक्रियां क्वचित्। कुरुतेऽत्र तथा जीव ईशकर्म करोति न।।१८३

अनयोर्हि यथा भेदो गृहेन च घटेन च। कारणेन च कार्येण तयोर्भेदस्तथैव हि।।१८४

नाममात्रं यथा भेदो नभसोस्तद्वदेव हि। जीवेशयोरयं भेदो नाममात्राद् न वस्तुतः।।१८५

ततः सर्वशरीरेषु परमात्मात्र संस्थितः। भेदगन्धविनिर्मुक्त ईश्वरोऽयं परः पुमान्।।१८६

ईश्वरत्वाच्च सर्वेऽपि धीमन्तोऽत्र शरीरिणः। सृष्टिं च संहृतिं तद्वत् कुर्वतेऽहर्निशं सदा।।१८७

जगतस्तं तमेवैतमुपाधिं समुपाश्रिताः। स्वस्य स्वस्य च दृश्यस्य दर्शनादप्यदर्शनात्।।१८८

अव्याहतैश्वर्यलाभः

जगद्व्यापारवर्जं यद् भगवान् मुनिरभ्यधात्। योगिनां बुद्धिपूर्वायां सृष्टौ तन्न परत्र हि।।१८९

एवं सत्युपाधिभेदेन कर्मव्यवस्थोपपन्नेत्याह—घटाकाश इति। गृहाकाशस्य क्रियां कुसूलादिधारणरूपां यथा घटाकाशो न करोति तथा ईश्वरस्य समष्ट्युपाधेः कर्म जीवो न करोति।।१८३।। यथा च अनयोर्घटाकाश-गृहाकाशयोर्भेद उपाधिभ्यामेव तथा कार्यकारणरूपोपाधिभ्यामेव जीवेशयोरित्याह—अनयोरिति।।१८४।। यथा चोपहित आकाशे भेदो नाममात्रं विकल्पमात्रं वस्तुतोऽभावात् तथा जीवेशानुगत आत्मनीत्याह—नाममात्रमिति। नभसोः घटाकाशगृहाकाशयोः।।१८५।। फलितमाह— तत इति। स्पष्टम्।।१८६।।

एवं सर्वेषाम् अपीश्वरत्वे सति ईश्वरत्वमादाय सर्वे शरीरिणः सदा जगतः स्वकीयस्वकीयदृश्यरूपस्य दर्शनादर्शनाभ्यां सृष्टिं संहृतिं च कुर्वते कुर्वन्ति तं तं मानुषादिशरीररूपमुपाधिमाश्रिता अपीत्याह—ईश्वरत्वाच्चेति द्वाभ्याम्। व्याख्यातं द्वयम्।।१८७-८।।

ननु शारीरकचतुर्थाध्याये चतुर्थपादेऽहंग्रहेण सगुणोपासकानां जगद्व्यापारं सृष्ट्यादिकं वर्जयित्वा परमेश्वरैश्वर्यलाभो भवतीति 'जगद्व्यापारवर्जम्' (४.४.१७)[१] इति सूत्रेणोक्तम्। तत् सर्वेषां सृष्ट्यादिहेतुताङ्गी कारे विरुद्ध्येत? इत्याशङ्क्य; तत् सूत्रम् उपासनात्मकयोगस्य फलपरिच्छेदपरं, न तु तत्तदुपाधिप्रविष्टेश्वरस्य स्वाभाविकसृष्ट्यादिशक्तिपरिच्छेदपरम् इत्याह—जगद्व्यापारेति। मुनिः बादरायणो यज्जगद्व्यापारवर्जम् इति अभ्य-धाद् उक्तवान्, तद् अभिधानं योगिनां योगजबुद्धिप्रयुक्तायां सृष्टौ एव नियमनपरं, परत्र ईश्वरत्वप्रयुक्तायां सृष्टौ तु न नियामकमित्यर्थः।।१८९।। एतदेव स्फुटयति—योगर्द्धिमिति। योगस्य ऋद्धिं फलसम्पत्तिं प्राप्ता यदा ते स्युः

क्रिया घटाकाश कभी संपन्न नहीं कर सकता वैसे ही समष्टि-उपाधि वाले ईश्वर का कार्य व्यष्टि-उपाधि वाले जीव कभी नहीं कर सकते।।१८३।। जैसे उक्त आकाशों में भेद घर और घट से ही है, स्वतः नहीं, वैसे कारणोपाधि और कार्योपाधि से ही ईश्वर-जीव का भेद है, स्वरूप से नहीं।।१८४।। जैसे उक्त आकाशों का भेद केवल कहने भर को है, वास्तविक नहीं वैसे जीव-ईश्वर का यह भेद कहने भर का ही है, सच्चा नहीं है।।१८५।। इस प्रकार स्पष्ट है कि यहाँ अनुभूयमान सभी शरीरों में परमात्मा ही मौजूद है अतः यह परम पुरुष ईश्वर भेद की गंध से भी रहित है (क्योंकि इसे सभेद बनाने वाला कोई है ही नहीं)।।१८६।। क्योंकि संसार में सभी बुद्धिमान् शरीरधारी ईश्वर ही हैं इसलिये ये दिन-रात हमेशा जगत्का सृष्टि-संहाररूप ईश्वरकर्म करते ही रहते हैं। अपनी-अपनी सीमित उपाधि से तादात्म्य रखते हुए ये शरीरधारी अपने-अपने दृश्य को जानने-न जानने से उस दृश्य का उत्पादन-विनाश करते रहते हैं। (श्लोक.१५३ से प्रारंभ कर दृष्टिसृष्टि का वर्णन हुआ।)।।१८७-८।।

---

१. जगदुत्पत्त्यादिव्यापारं वर्जयित्वाऽन्यदणिमाद्यैश्वर्यं सगुणब्रह्मोपासनात् प्राप्तेश्वरसायुज्यानां समनस्कानां मुक्तानां भवति, जगद्व्यापारस्तु नित्यसिद्धेश्वरस्यैव इति सूत्रार्थः।

योगर्द्धिं समनुप्राप्ता योगिनः स्युर्यदा तदा। इयत्ता कथिता तस्या योगर्द्धेर्योगिनामिह।।१९०
सर्वसाधारणो यद्वत् प्रपञ्चकरणे स्थितः। पुमान् करोति तद्वत्तु योगिनोऽपि प्रकुर्वते।।
ब्रह्मज्ञानप्रसादेन कार्योपाध्याश्रिता अपि।।१९१

तदा तेषां योगर्द्धेः इयत्ता परिच्छेदरूपा इह सूत्रे कथिता इत्यर्थः।।१९०।। वामदेववत् शास्त्रजन्यदृष्ट्या ब्रह्मात्मताऽवगाहिन्या सहितास्तु योगिनोऽपीश्वरवत् सर्वकर्त्तारो[1] भवन्ति इत्याह—सर्वेति। सर्वेषूपाधिषु साधारण एकरूपेणावस्थितः पुमान् ईश्वरः प्रपञ्चस्य करणे सृष्टौ स्थितः प्रवृत्तः यद्वत्करोति विशेषरूपेण सामान्यरूपेण च सृष्ट्यादिकं निर्मिमीते तद्वद् ईश्वरवद् ब्रह्मज्ञानप्रभावेण योगिनोऽपि प्रपञ्चं सामान्यविशेषरूपं प्रकुर्वते कुर्वन्त्येव। कीदृशा योगिनः? कार्योपाधौ जीवतानियामके स्थिता अपीत्यर्थः। अयं भावः—कर्मोपासनफलानामादौ परमेश्वरेण नियतत्वात् तत्र कर्तृत्वाद्यभिमानिनो यावत्तावद्व्यवस्थितमेव कार्यं योगिप्रभृतयः कुर्वन्ति। यदा तु ब्रह्मविद्यया परिच्छेदाऽभिमानं त्यजन्ति तदा भेदबाधाद् यावदीश्वरकर्म तद् विदुषां भवति। ईश्वरस्तु व्यष्टिशरीरे स्थित्वाऽपि समष्ट्युपाधेः कार्यं कर्तुं शक्तः, यथा विश्वामित्रशरीरेऽवस्थाय त्रिशंकुहिताय स्वर्गान्तरं निर्ममे! इति प्रसिद्धं रामायणादौ। तथा विचित्रा परैर्दुष्करा च जाग्रत्प्रपञ्चादिसृष्टिरपीश्वरस्यैव कर्मेति न केनचिद् वारयितुं शक्यम्—इति।।१९१।।

शंका संभव है कि संसार के जन्मादि करना तो ईश्वर का ही कार्य है, जो उपासक ईश्वर से सायुज्य पा लेता है उसकी भी अन्य सामर्थ्य चाहे जितनी हो जाये पर जगद्व्यवस्था में हस्तक्षेप की सामर्थ्य नहीं हो पाती यह ब्रह्मसूत्र में भी निर्णय किया है, तब यहाँ हर प्राणी को जगत् के जन्मादि करने वाला कैसे कह रहे हैं? समाधान है कि उपासक की कार्योपाधि क्योंकि समाप्त होती नहीं इसलिये वह परिच्छिन्न शक्ति वाला हो यह संगत ही निर्णय है, इससे उसकी शक्ति का परिसीमन उचित नहीं जिसकी कार्योपाधि समाप्त हो चुकी। किं च प्रकृत प्रसंग में यह कहा ही नहीं जा रहा कि जो अनंत जीव वे संसारहेतु बनते हैं! वरन् बताया तो यह जा रहा है कि एक अद्वितीय ईश्वर ही उपाधियों द्वारा भी कार्य कर रहा है, जो हमें सीमित कार्य लगते हैं वे भी हैं ईश्वर के ही कार्य, ईश्वर की ही मायाशक्ति सीमित उपाधियों में सीमित व्यक्त हो रही है। अविद्याकल्पित जीव को ईश्वर से अभिन्न बता रहे हैं न कि ईश्वर के प्रतियोगी रूप से जीव को जगत्कर्ता के रूप में उपस्थित कर रहे हैं। मुनिराज श्रीबादरायण ने जो यह कहा है 'मुक्त' जगद्व्यापार में अक्षम रहता है वह उन मुक्तों के बारे में है जो उपासना से ईश्वरसायुज्य पा चुके हैं, न कि कैवल्य मोक्ष प्राप्त करने वालों के बारे में। उपासना से मोक्ष पाये योगी जो सामर्थ्य-अभिव्यक्ति करते हैं वह बुद्धिरूप उपाधि के रहते ही करते हैं और उसी अभिव्यक्ति की सीमा सूत्रकार ने बाँधी है। जो सृष्टिआदिसामर्थ्य-अभिव्यंजन कहीं भी इसलिये है कि सारी सामर्थ्य परमेश्वर की है, उस अभिव्यंजन की सीमा कहने में सूत्रकार का तात्पर्य नहीं। (जैसे बिजली का उपकरण जो कार्य करता है वह तो उपकरणसामर्थ्य से सीमित ही रहेगा लेकिन यदि बिजली फैल जाने से उपकरण झटका मारते हैं तो वे सभी एक-समान झटका मारते हैं। एवं च बिजलीमात्र प्रयुक्त झटका तो उपकरण-भेद से प्रभावित नहीं हुआ, अन्य कार्य प्रभावित होते हैं। ऐसे ही ईश्वरता से प्रयुक्त कार्यों का परिसीमन असंभव है, हेत्वन्तर प्रयुक्त कार्यों को ही तारतम्य वाला कह सकते हैं।)।।१८९।। योगी जब योगज सामर्थ्य पाते हैं तब योगियों की उस योगज सामर्थ्य की सीमा सूत्रकार ने कही है अर्थात् उपासनाफल के प्रसंग में उक्त सूत्र है, ज्ञानफल के प्रसंग में नहीं।।१९०।।

वामदेवादि की तरह शास्त्रजन्य अखण्डदृष्टि से मोक्ष पाये सिद्ध तो सर्वकर्ता ही हो जाते हैं (क्योंकि समस्त कृतियों के आश्रय से वे अभिन्न ही होते हैं)। समस्त उपाधियों में समानरूप से स्थित ईश्वर प्रपंचरचना में प्रवृत्त हुआ सामान्य-विशेष सभी रूपों से सृष्टि आदि का निर्माण जैसे करता है वैसे ही ब्रह्मात्मतानुभव के प्रभाव से मुक्त पुरुष

१. जीवस्येश्वरसमानधर्मताऽविद्यादिव्यवधानात्तिरोहिता, पमेश्वरं ध्यायतो जन्तोर्लब्धेश्प्रसादस्य साऽऽविर्भवति—इति 'पराभिध्यानात्तु, तिरोहितं, ततो ह्यस्य बंधविपर्ययौ' (३.२.५) इति सूत्रभाष्ये व्यक्तम्।

तथापीशोऽधिकस्तेभ्यो यतस्ते निखिलं जगत्। न कुर्वन्ति करोतीश इति वैषम्यकारणम्।।
उक्तं भगवता तत्र न चैतद् विनिवारितम्।।१६२

सृष्टिसंहारकरणं स्वस्य स्वस्य शरीरिणाम्। सर्वसाधारणं यद्वद् व्यापारश्चक्रवर्तिनः।।१६३

सामन्तानां च तद्वत्स्याद् मण्डलं मण्डलं प्रति। तथैवाऽधिकृतानां स्यात् प्रत्येकं नगरादिषु।।१६४

अथवा 'जगद्व्यापारवर्जम्' इति सूत्रस्य समष्ट्युपाधिकस्य आधिक्यवर्णनपरत्वं, न तु व्यष्ट्युपाधीनाम् अनीश्वरताबोधकत्वं, वाक्यभेदप्रसङ्गाद् इत्याह—तथापीति। तथापि ब्रह्मविद्याबलेन योगिनां परमेश्वराऽभेदेऽपि तेभ्य ईश्वरोऽधिकः सदा सर्वकर्तृत्वात्। एते तु न तथा, विद्यातः पूर्वमेतेषु सर्वकर्तृताप्रादुर्भावाभावाद् इत्याशयेन वैषम्यस्य परमेश्वराधिक्यस्य कारणं तत्र 'जगद्व्यापारे'त्यादिसूत्रे भगवता व्यासेन उक्तम्। एतत् जीवानां योगिप्रभृतीनां प्रातिस्विकमीश्वरत्वं तु न वारितं, न निषिद्धं वाक्यभेदापत्तेः इति भावः।।१६२।।

तत्र सृष्ट्यादिकं स्वल्पं बहु वा दृश्यमानं स्वकर्तारम् ईश्वरमनुमापयति इत्याह—सृष्टीति। शरीरिणां यत् सृष्ट्यादिकरणं स्वस्य स्वस्य प्रत्येकं दृश्यमानं तत् सर्वेण परमेश्वरेण साधारणं समानं, न केवलं जीवानामेव किन्तु ईश्वरस्याऽपीति यावत्। यथा प्रजापालनरूपः चक्रवर्तिनो व्यापारो यादृशः तद्वत् तादृश एव सामन्तानां तदधीनभूपानां भवति तदनुसारी च ग्रामाध्यक्षादीनां स व्यापारो भवति तथेति द्वयोरर्थः। तथा च यथा सामन्तादीनां प्रभुत्वेषु चक्रवर्तिनः प्रभुत्वम् अनुगतं, तथा जीवकर्तृत्वेषु पारमेश्वरं कर्तृत्वम् इति भावः।।१६३-४।। अत्र स

भी करते हैं, भले ही अभी कार्योपाधि में आश्रित होते हों। (उपासक की तो कार्योपाधि मौजूद है अतः परिसीमन है, तत्त्वनिष्ठ की कार्योपाधि नष्ट हो चुकी है, केवल प्रतिभासमात्र बचा है अतः परिसीमन नहीं है। जो जेल से रिहा हो चुका है, केवल दरवाज़े की चाभी आने जितनी देर तक जेल की चारदीवारी में है, वह कैदियों की कवायद नहीं करता। कर्म-उपासना का फल ईश्वर द्वारा नियत है अतः कर्मादि में कर्तृत्वाभिमान रहते वह नियत ऐश्वर्य ही मिलता है। ब्रह्मविद्या से सारे अभिमान मिट जाने पर ईश्वर-जीव में कोई भेद न रह जाने से ईश्वर के भी सारे कार्य मुक्त के कार्य कहे जायें तो हानि नहीं। फिर ईश्वर सर्वसमर्थ होने से व्यष्टिशरीर द्वारा भी वैसे कार्य कर लेता है जो हैं समष्टि-उपाधि से प्रयुक्त जैसे विश्वामित्र के शरीर द्वारा नवीन स्वर्गादि ही बना दिया! अत एव 'अव्याहत ऐश्वर्य' मुक्त को उपलब्ध रहता है। इस प्रकार जाग्रत्प्रपंच आदि की सृष्टि ईश्वरकर्म रहते हुए ही क्योंकि जीव-शरीरों की अपेक्षा से होती है इसलिये जीव का कर्म भी कह दी जाये तो हानि नहीं।)।।१६१।।

ब्रह्मविद्या के बल से योगी परमेश्वर से अभिन्न होने पर भी उन योगियों से ईश्वर का आधिक्य अवश्य है क्योंकि वह हमेशा ही समस्त जगत् का जन्मादि-हेतु है जबकि योगी तो उससे अभिन्न होने से जन्मादिहेतु हैं। विद्या से पूर्व योगियों में सर्वकर्तृता प्रकट नहीं थी जबकि ईश्वर में ऐसा कभी आवरण रहा ही नहीं कि उसका ऐश्वर्य तिरोहित रहा हो। अतः योगी लोग सारे जगत् के रचयिता नहीं कहे जा सकते, जो जगत् पुरा काल में होकर मिट चुका उसके तथा इनके विदेहकैवल्य के बाद जो जगत् होगा उसके प्रति इन योगियों को कारण नहीं कह सकते। इस अभिप्राय से 'जगद्व्यापार छोड़कर' अन्यत्र ही सामर्थ्य योगियों की व्यास जी ने कही है ताकि ईश्वर का यह आधिक्य स्पष्ट हो। उनका अभिप्राय ज्ञानसिद्ध योगियों के सामर्थ्य-परिसीमन में है ही नहीं। (ध्यान रहे कि मुक्तदृष्ट्या जब ईश्वरभेद नहीं तब जगत्कारणतादि भी नहीं वरन् अजात है और जब कारणतादि ऐश्वर्य का प्रसंग है तब उपाधिकी अपेक्षा छोड़ी नहीं जा सकती। निरुपाधिक स्तर के अभेद से सोपाधिक स्तर के ऐश्वर्य के लाभ की चर्चा निरर्थक है। जो मुक्त को ऐश्वर्यलाभ कहा भी है उसका मतलब है कि मुक्तदेह में जो ऐश्वर्य प्रकट होता है वह ईश्वर का ही है। स्वयं मुक्त भी यही जानता है कि उसीके नहीं सभी शरीरों में जो कुछ ऐश्वर्य है वह ईश्वर का ही है।)।।१६२।।

एवमीशस्य कार्यं स्यादधिदैवं पुमानिह। हिरण्यगर्भो भगवानन्तर्बहिरवस्थितः।।
अस्य कार्यं विराडस्य कार्यं स्थावरजङ्गमम्।।१६५
अज्ञानाद् भेदमापन्ना य ईशादात्मनस्त्विमे। तेषां कार्यमिदं नित्यमवस्थात्रयमीरितम्।।१६६

दृष्टिसृष्टिः

यो यां पश्यति तां स्वस्य स करोति न चापरः। अपश्यंश्चात्मनस्त्वेतां संहरत्येव सर्वथा।।१६७
यद्यपि स्यात् ततः स्थूलो देहः शुक्रादिसम्भवः। सूक्ष्म ईशात् प्रसूतश्च स्वस्य वापि परस्य वा।।
तथाऽप्यसौ मृतो जातः समो दृष्टो न च स्वयम्।।१६८

चक्रवर्ती दृष्टान्तो यो योगबलेन स्वयमेव सामन्तादिभावमापन्न इति दर्शयन्नीश्वरस्य साक्षात् परम्पराभ्यां सर्वत्र कारणतामाह—एवमिति। यथाऽयं दृष्टान्तः एवमीशस्य चक्रवर्तिस्थानीयस्य साक्षात् कार्यमधिदैवं समष्टिभावे वर्तमानः पुमान् हिरण्यगर्भाख्यः सामन्तस्थानीयः। अस्य हिरण्यगर्भभावापन्नस्य ईशस्य कार्यं विराट् स्थूलसमष्टिरूपः। अस्य विराड्भावापन्नस्य च तस्य कार्यं स्थावरादयो व्यष्टिदेहा इत्यर्थः।।१६५।। अज्ञानादिति। ये च इमे कार्योपाधयः स्वरूपभूतादपि ईशाद् अज्ञानवशेन भेदं प्राप्ताः तेषाम् इदं जाग्रदाद्यवस्थात्रयं कार्यम् इत्यर्थः।।१६६।।

अत्र दृष्टिसृष्टिं स्फुटयति—यो यामिति। यः प्रमाता याम् अवस्थां पश्यति स एव ताम् अवस्थां स्वसम्बन्धिनीं सृजति दृष्टिरूपां सृष्टिं नयति, यां चावस्थां न पश्यति तां संहरति स्वस्मिन् विलापयति इत्यर्थः।।१६७।। एतद् दृष्टिसृष्टिप्रक्रियारूपं मोक्षद्वारं वेदान्तेषु रहस्यतया स्थापितम् इति दर्शयन् भूतादिकारणतादृष्टिर्मन्दधियामनुग्रहायेत्याह—यद्यपीति। ततो दृष्टिसृष्टेः श्रुत्याऽनुभवसिद्धत्वाद् यद्यपि स्थूलदेहः शुक्रादिसम्भवः सूक्ष्मदेहः ईशात् कारणोपाधेः प्रसूत इति प्रसिद्धं लोके शास्त्रे च, तथाऽपि असौ देहो दृष्ट्यभावभावाभ्यां मृतो जातश्च भवतीति मन्तव्यम्। कथं तथा न लक्ष्यते? इत्यत आह—सम इत्यादि। यतः पूर्वसृष्टेन समः समानाकारः ततः स्वयं कल्पकेन पुंसा न दृष्टो न लक्षित इत्यर्थः।।१६८।।

जैसे चक्रवर्ती राजा का प्रजापालनादि व्यापार है वैसे ही उसके सामन्तों का—अधीनस्थ राजाओं का है—और वैसे ही ग्रामाध्यक्ष (ठाकुर) आदि का है अर्थात् चक्रवर्ती का प्रभुत्व ही सामन्त आदि के प्रभुत्वों में अनुगत रहता है; इसी प्रकार शरीरधारियों द्वारा अपने-अपने दायरे में जो सृष्टि-संहार किया जाता है उस सब में ईश्वर का कर्तृत्व बना ही रहता है। (प्रतीत होता है कि सामन्त का बल है जबकि होता बल चक्रवर्ती का ही है वैसे प्रतीत जीव का ऐश्वर्य होने पर भी है वह ईश्वर का ही।)।।१६३-४।। लौकिक सम्राट् सामन्तादि से भिन्न होता है किन्तु ईश्वर तो स्वयं सर्वरूप है : समष्टिभाव में वर्तमान, भीतर-बाहर स्थित भगवान् हिरण्यगर्भ, ईश्वर का साक्षात् कार्य है। (ईश्वर सम्राट् है तो हिरण्यगर्भ सामन्त लेकिन सम्राट्-सामन्त के भेद की तरह ईश्वर-हिरण्यगर्भ विभिन्न नहीं हैं।) हिरण्यगर्भरूप ईश्वर का कार्य है स्थूलसमष्टिरूप विराट्। (यहाँ भी विराट् ईश्वर से भिन्न नहीं है यह याद रखना चाहिये।) विराट्-रूप ईश्वर का कार्य चराचर व्यष्टि शरीर हैं। (यहाँ भी भेद नहीं समझना चाहिये।)।।१६५।। ये जो कार्योपाधि वाले व्यष्टिशरीरी हैं ये अज्ञानवश अपने स्वरूपभूत ईश्वर से स्वयं को भिन्न समझते हैं और इस जाग्रदादि अवस्थात्रय को इन्हीं का प्रतिदिन होने वाला कार्य कहा जा रहा है।।१६६।।

जो प्रमाता जिस अवस्था का अनुभव करता है उसे अपने से सम्बद्ध रूप में उत्पन्न करता है, अन्य प्रमाता उस अवस्था को उस प्रकार उत्पन्न नहीं करता। ऐसे ही अपनी जो अवस्था प्रमाता अनुभव नहीं करता उसे स्वयं में ही विलीन कर लेता है, अन्य प्रमाता उसे वैसे विलीन नहीं करता।।१६७।। यह दृष्टिसृष्टि की प्रक्रिया मोक्ष का द्वार है। यद्यपि लोक व शास्त्र में प्रसिद्ध है कि अपना हो या दूसरे का, हर स्थूल देह शुक्रशोणित से बनता है और सूक्ष्म देह कारणोपाधि ईश्वर से बना है तथापि देह का मरना व पैदा होना अनुभव न होने और अनुभव होने से ही नियत

आत्मनो जन्ममरणे योगायोगौ प्रकीर्तितौ। देहस्य तौ च कथितौ दर्शनाऽदर्शने सदा।।१९९
ततो यदत्र यः पश्येत् तत्तदा कुरुते हि सः। न पश्येद् यद् यदा वस्तु स तदा संहरेद्धि तत्।।२००
एवं सर्व इमे जीवा अवस्थात्रयगामिनः। देहेन्द्रियात्मविषयान्[1] संहरन्ति सृजन्ति च।।२०१
यदाऽज्ञानमिदं नाशं व्रजेदात्मावबोधनात्। अवस्थात्रयनिर्मुक्तं तदा गच्छेत् परं पुमान्।।२०२

उपेयं ब्रह्म

एवं सामान्यतः श्रुत्वा ब्रह्मणो वक्त्रतः सदा। उपायसहितं भूय उपेयं प्रष्टुमुद्यताः।।
ऊचुर्ब्रह्माणमागत्य पूर्ववद् विनयान्विताः।।२०३

एतदेव विशदयति—आत्मन इति। आत्मनो वस्तुतोऽजस्याऽमरस्य च देहेन सह योगः तादात्म्याध्यासरूपोऽभिमानः स एव जन्म; अयोगः तस्य अभिमानस्य क्षयस्तु मरणम्। देहादीनां दृश्यानां तु दर्शनाऽदर्शने एव जन्ममरणे इत्यर्थः।।१९९।। फलितमाह—तत इति। यः प्रमाता अत्र संसारदशायां यद् विषयजातं पश्यति तदा दर्शनकाल एव तत् सृजति, अन्यथा तु संहरति इत्यर्थः।।२००।। एवमिति। एवं वर्णितदृष्टिसृष्टिविधया सर्वे जीवा अवस्थात्रये सृष्टिसंहारौ कुर्वन्तोऽपि आत्मानमीश्वरतया न जानन्ति अतो जीवा इत्युच्यन्त इति भावः।।२०१।। यदेति। यदा तु गुरुप्रसादलभ्येन आत्मबोधेन इदम् अवस्थात्रयप्रयोजकम् अज्ञानं नश्यति तदा तुरीयरूपं परं पदं गच्छतीत्यर्थः।।२०२।।

अथ तुरीयप्रणववेद्य आत्मा यथोपदेष्टव्य आचार्येण, यथा च प्रतिपत्तव्यः शिष्येण तं प्रकारं स्फुटी कर्तुं प्रवृत्तस्य अष्टमखण्डस्य अर्थं वर्णयति—एवं सामान्यत इत्यादिश्लोकशतत्रयेण। इत्थं ब्रह्मणो मुखात् सामान्यतः प्रणवाद् अविविक्ततयाऽऽत्मानम् उपायैः शमादिभिःसहितम्; अथ वा उपायशब्दो भावप्रधानः, तथा च निर्विशेषलाभस्य उपायभूतं वर्णितम् आत्मानं श्रुत्वाऽथ तं केवलोपेयरूपं प्रष्टुं पुनः ब्रह्माणं प्रति इदम्[2] ऊचुः इत्यर्थः।।२०३।। ओङ्कार इति। भवता प्रणवरूप आत्मा उपायत्वेन सहित उक्तः। अथ तमात्मानं केवलमुपेयरूपं

समझना चाहिये। यों अनुभव रुकने पर मरते हुए व अनुभव होने पर पैदा होते हुए शरीर बदलते रहते हैं लेकिन जब तक पिछले शरीर के समान आकाशादि वाला अगला शरीर पैदा होता रहता है तब तक यह रहस्य स्वयं उस पुरुष के लिये भी तिरोहित रहता है जो अपनी दृष्टि से ही बना-बिगाड़ रहा है कि शरीर वही नहीं वरन् पहले वाले जैसा ही है! (यद्यपि किसी को यहाँ विज्ञानवाद की गंध आ सकती है तथापि स्थिरात्मवाद के अवतरण का यह उपायमात्र होने से विज्ञानवाद से सर्वथा विलक्षण है। जीवसृष्टि-ईश्वरसृष्टि के भेद से विद्यारण्य जी ने बाह्यार्थों के स्थायित्व से दृष्टिसृष्टि का तालमेल बैठा दिया है : भौतिक बाह्य वस्तु भले ही स्थायी रहे पर उसका जो जीवसृष्ट अंश है वह प्रतिदृष्टि जन्म-विनाशशील है।)।।१९८।। वस्तुतः अज अमर आत्मा देह में अभेदाध्यासरूप अभिमान करता है यह उसका जन्म है और उस अभिमान का क्षय ही मरण है। यों जीव का 'जन्म-मरण' अध्यास होने-न होने का नाम है। शरीर आदि दृश्यों का जन्म-मरण तो अनुभव होने-न होने का ही नाम है। (अर्थात् उपाधि का स्वरूपाध्यास रूप जन्म है और उपहित का संसर्गाध्यासरूप जन्म है।)।।१९९।। इसलिये जो प्रमाता जब जिस वस्तु का अनुभव करता है तभी उसकी सृष्टि कर लेता है और जब अनुभव नहीं करता तब उसका संहार कर लेता है। यों ये सब जीव तीनों अवस्थाओं में आते-जाते हुए देह, इंद्रिय व अपने विषयों को पैदा करते व नष्ट करते रहते हैं पर स्वयं को ईश्वर जानते नहीं!।।२००-१।। जब आत्मा के अवबोध से यह अज्ञान मिटता है तब जीव तीनों अवस्थाओं के बंधन से छूटकर तुरीयात्मक परम पद पा लेता है।।२०२।।

---

१. देहेन्द्रियरूपान् विषयान्; देहान्, इंद्रियाणि, स्वकीयान् विषयांश्चेति वार्थः। देहेंद्रिययोः स्वकीयत्वं सिद्धमेवेति तत्र वक्तुमनावश्यकम्। विषयाः सर्वसाधारणा मता इति तत्र वक्तव्यमेव, एकप्रमात्रपेक्षया संहृतस्यापि प्रमात्रन्तरापेक्षया सृष्टत्वस्वीकारात्।
२. 'देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्निममेव नो भगवन्नोङ्कारमुपदिशेति।' (नृ.३.९)।

ओङ्कारो भवता योऽयमात्मोपायसमन्वितः। कथितस्तमुपेयं त्वमात्मानं सम्यगीरय।।२०४
एवमुक्तस्तदा प्राह ब्रह्मा लोकपितामहः। अवाङ्मनसगम्यं तं धर्मानारोप्य भूरिशः।।२०५
देवाः शृणुत चात्मानमवाङ्मनसगोचरम्। नानाविधैरहं धर्मैर्वक्ष्ये बोध्यो यतोऽधुना।।२०६

उपद्रष्टा

सच्चिदानन्दरूपो य आत्मा पूर्वं मयेरितः। नृसिंहस्तत्पदार्थोऽयं त्वम्पदार्थैक्यमागतः।।२०७
सामीप्येन च सर्वेषामानन्दात्मा स्वरूपतः। सर्वासामपि बुद्धीनां द्रष्टा बुद्धिविवर्जितः।।२०८

वर्णयेत्यर्थः।।२०४।। एवमुक्त इति। वागाद्यतीतमपि तम् आत्मानम् आरोपितधर्मैः वाक्प्रवृत्तियोग्यं कृत्वा तं प्राह इति शेषः।।२०५।।

प्रजापतिरुवाच—देवा इति। हे देवाः! शृणुत। अहमवाङ्मनसगोचरम् अपि आत्मानं नानाविधैः आरोपितैः धर्मैः वक्ष्ये वाग्व्यापारगोचरं करिष्यामि यत आत्माऽधुना भवतां चित्तशुद्ध्यनन्तरं बोध्यः अवश्यं ज्ञापनीयो भवति।।२०६।।

तत्रादौ शुद्धत्वाऽऽविष्करणाय तस्य उपद्रष्टृतां स्फुटयति[1]—सच्चिदानन्देति। यो नृसिंहाख्य आत्मा सच्चिदानन्दलक्षणो महावाक्यगततत्पदार्थतयोक्तः स त्वम्पदार्थेन ऐक्यं प्राप्तः सन् सर्वेषां प्रमातॄणां सामीप्येन निरतिशयसान्निध्येन सर्वप्रकाराणां बुद्धीनां द्रष्टा भवति यतो बुद्ध्या विषयभूतया वर्जितोऽसंस्पृष्ट इति। तस्य त्वम्पदार्थैक्ये हेतुः—आनन्दात्मा स्वरूपत इति। यतस्त्वम्पदार्थोऽपि स्वरूपेण आनन्दरूपो भवति ततः। इति द्वयोरर्थः।।२०७-८।। यतश्च उपद्रष्टैव, न कर्ता, ततोऽनुमन्तेत्याह—यदाऽत्रेति। अत्र संघाते पुंसो जनस्य मनो

(यहाँ तक ब्रह्मा जी द्वारा समझाया विषय बताया।)

ब्रह्मा जी के मुख से यों उपायों सहित सामान्यतः श्रवण कर देवताओं ने पुनरपि उपेय समझने के लिये विनयपूर्वक ब्रह्मा जी से फिर निवेदन किया :। (पूर्व में शमादि साधनों सहित उपदेश जिस आत्मा का दिया वह प्रणव से एकमेक किया हुआ था और निर्विशेष समझने के लिये अतीव उपयोगी था। उसके अनुसंधान से तेजस्वी हो जाने पर उपेय जो निर्विकल्प वस्तु उसके प्रति अब देवताओं की जिज्ञासा है।)।।२०३।। 'हे ब्रह्मन्! आपने उपाय सहित ओंकाररूप आत्मा का तो उपदेश दिया, अब उसे सही-सही समझाने की कृपा करें जो उपेयरूप आत्मा है, पूर्वोक्त आत्मा के अनुसंधान से जिसे निरावृत करना है वह आत्मा क्या है, कैसा है?'।।२०४।। इस प्रार्थना पर लोकों के पितामह ब्रह्मा ने अनेक धर्म आरोपित कर मन-वाणी से अतीत उस निरपेक्ष तत्त्व का वर्णन आरंभ किया।।२०५।।

हे देवो! सुनो! मन-वाणी के अगोचर आत्मतत्त्व को आरोपित नानाविध धर्मों के द्वारा मैं बताऊँगा। क्योंकि आप लोगों का चित्त शुद्ध हो चुका है इसलिये यह उचित है कि मैं आपको उस परमार्थ वस्तु का परिचय दूँ और यह संभव भी है कि आप उसे समझ सकें। धर्म आरोपित करना तो अनिवार्य उपाय है यह आपको पता चल ही चुका है।।२०६।।

महावाक्य में आये तत्-पद के अर्थरूप से सच्चिदानंदस्वरूप वाला नृसिंह-नामक जो आत्मा मैंने बताया था वही त्वम्-पद के अर्थ से (जीव से) एकता पाकर सब प्रमाताओं के निःसीम समीप है अतः सब तरह की बुद्धियों का दर्शक बना रहता है। वह आनंदस्वरूप प्रत्यक् क्योंकि बुद्धि का दर्शक है इसीलिये वह बुद्धि का विषय नहीं बनता।।२०७-८।।

१. 'तथेति। उपद्रष्टाऽनुमन्तैष आत्मा सिंहश्चिद्रूप एवाऽविकारो ह्युपलब्धा सर्वत्र। न ह्यस्ति द्वैतसिद्धिः, आत्मैव सिद्धोऽद्वितीयः।' (तत्रैव)।

यदाऽत्र कुरुते किञ्चिद् मनः पुंसः शुभाऽशुभम्। तदाऽनुमनुते सोऽपि मध्यस्थः शक्तिवर्जितः।।२०९

चैतन्यरूपः सततं विक्रियालेशवर्जितः। उपलब्धेव बुद्धीनां सुखदुःखविवर्जितः।।२१०

एकरूपो हि सर्वत्र सच्चिदानन्दरूपवान्। अस्मिन् न दृश्यते द्वैतं तस्य सिद्धिर्न कर्हिचित्।।
अस्माद् भेदेन सर्वं यद् मायया तत्र कल्पितम्।।२११

माया

प्रमाणैर्या न सिद्धा स्याद् याति चाक्षादिगोचरम्। यस्याः कार्यं च सा माया दुर्घटोक्ता मनीषिभिः।।२१२

स्वयं या न सती तस्याः कार्यं नाम कथं हि सत्। लतो द्वैतमिवैतत् स्याद् मायाकार्यमिहात्मनि।।२१३

यदा शुभमशुभं वा कुरुते तदा स आत्माऽनुमनुते वारणाऽभावरूपाम् अनुमतिं करोति यतः पङ्गुवत् शक्त्या सामर्थ्येन रहितत्वाद् मध्यस्थ उदासीनो भवतीत्यर्थः।।२०९।।

अनुमतिकर्तृत्वेन तस्य विकारप्रसक्त्यभावे हेतूंश्चिद्रूपत्वादीन् आह—चैतन्येति। उपलब्धा साक्षी।।२१०।। अस्याऽद्वयतामाह—एकेति। अयमात्मा सदादिलक्षण एकरूपो यतोऽस्मिन् द्वैतं न दृश्यते। एतत्कुतः? यतः तस्य द्वैतस्य सिद्धिः सत्ताऽस्माद् आत्मनो भेदेन नास्ति यतः सर्वं द्वैतं तत्र आत्मनि मायाकल्पितम् इत्यर्थः।।२११।।

अथ सर्वानर्थहेतोर्विवेकमीरोश्च मायायाः स्वरूपं[1] वर्णयति—प्रमाणैरित्यादिना। या स्वयं प्रमाणैर्न दृश्यते, यस्याः कार्यं तु अक्षादिगोचरतां गच्छति, सा दुर्घटा माया इत्युक्तेत्यर्थः।।२१२।। दुर्घटत्वे हेतुमाह—स्वयमिति। या माया सती सत्त्वेन प्रतीता न भवति तस्याः कार्यं सत् सद्रूपेण भासमानं कथं स्यात्, परन्तु तथा भासत एव तत उपपत्त्यसहत्वाद् आत्मनि दृश्यमानं द्वैतमिव मिथ्यैव, द्वैतं न वास्तवमित्यर्थः।।२१३।। द्वैतस्य मायामयत्वे

यों वह उपद्रष्टा बना है। (उप=समीप=प्रत्यक्; द्रष्टा=साक्षी।) अत एव वह कर्त्ता नहीं वरन् केवल अनुमतिदाता है। संघाताभिमानी जीव का मन जब शुभ-अशुभ कोई चेष्टा करता है तब वह मुख्य आत्मा उस पर कोई अंकुश नहीं लगाता वरन् सत्ता-स्फूर्ति देता रहकर उसे उन चेष्टाओं के लिये अनुमति ही प्रदान करता है। सीमित क्रियाओं के लिये आवश्यक जो सीमित शक्ति वह तो प्रमाता को उपलब्ध है, साक्षी के लिये यह योग्य नहीं कि उस प्रक्रिया में हस्तक्षेप करे, वह तो मध्यस्थ बनकर उदासीन भाव से उस सबको प्रकाशित करता रहता है जो मन आदि में हो रहा है और यों स्फूर्ति सहित सत्ता देकर सब चेष्टाओं के लिये अनुमति देता रहता है।।२०९।। अनुमति देना भी उस साक्षी का कोई विकारात्मक कार्य नहीं है। विकार के लेश से भी रहित नित्य चिद्रूप सुखदुःखशून्य आत्मा जो बुद्धियों का साक्षी बनता है वह भी बुद्धियों की अपेक्षा से ही है, स्वयं वह तो सदा एकरूप है, सच्चिदानंद से अतिरिक्त उसका कोई स्वरूप नहीं। आत्मा से स्वतंत्र द्वैत की सत्ता नहीं है, वह तो आत्मा पर माया से ही कल्पित है अतः वस्तुतः उसमें कभी उपलब्ध नहीं होता। (जैसे प्रकाश्य की अपेक्षा से सूर्य में प्रकाशकता होती है, स्वतः तो वह प्रकाशमात्र ही है, वैसे साक्षिता साक्ष्य की अपेक्षा से ही होती है, स्वतः आत्मा दृङ्मात्र ही है।)।।२१०-१।।

आत्मा द्वैतहीन रहते हुए भी जो अनर्थ भोग रहा है उसमें एकमात्र हेतु माया है जो विवेक से ही डरती है। मनीषियों ने माया उसे कहा है जो स्वयं प्रमाणों से सिद्ध न हो पर जिसका कार्य इंद्रियादि का विषय बने! जिसका घटित होना किसी तरह संगत नहीं उसे घटा हुआ दिखा देना माया की विशेष सामर्थ्य है।।२१२।। माया खुद जब सद्रूप नहीं सिद्ध होती तब उसका कार्य भी सद्रूप हो तो नहीं सकता, फिर भी प्रतीत हो रहा है, जिसका मतलब है कि आत्मा में उपलभ्यमान द्वैत मिथ्या है, सत् नहीं। यह दुर्घटकारिता ही है कि स्वयं सत् न प्रतीत होकर भी अपने

१. 'मायया ह्यन्यदिव स वा एष आत्मा पर एवैषैव सर्वं तथा हि प्राज्ञे सैषाऽविद्या।'

गन्धर्वनगरं यद्वद्ध्येतद् नैव विचारतः। गगनेऽस्ति तथा द्वैतमात्मन्यत्राविचारतः।।२१४
य एष सर्वजन्तूनाम् अवस्थात्रयगः पुमान्। स एवात्मा परः प्रोक्तः सच्चिदानन्दरूपवान्।।२१५
यथा प्राज्ञः सुषुप्तिस्थो दुःखं वेत्ति न किञ्चन। आत्मा तथा सदैवाऽयं वेत्ति दुःखं न किञ्चन।२१६
आनन्दात्मस्वरूपस्य निर्दुःखस्य महात्मनः। अविद्ययैव दुःखं तज्जायते न तु वस्तुतः।।२१७
अहं ब्रह्मेति विज्ञानं विद्या प्रोक्ता मनीषिभिः। विरुद्धा याऽनया सेयम् अविद्या दुःखकारिणी।।२१८
अनादिरहमत्राऽस्मीत्येवं भाति शरीरिणाम्। दुर्घटा सदसद्रूपा प्रपञ्चस्याऽस्य कारणम्।।२१९
आत्मनोऽपि च भिन्ना सा न भिन्ना गृह्यते तथा। अस्वतन्त्रा स्वतन्त्रा च स्वात्मनो दुःखदा यतः।।२२०

हेतुमविचारसिद्धत्वमाह—गन्धर्वेति। यथा विचारं विनैव गगने गन्धर्वनगरं तथाऽऽत्मनि द्वैतम्।।२१४।। तस्मादात्मनो ब्रह्मत्वे न काचिद् अनुपपत्तिरित्याह—य एषइति । य एष सन्निहितः सर्वेषाम् आत्मा स पर आत्मैव प्रोक्तः सदादिरूपत्वाद् इत्यर्थः।।२१५।।

आत्मनः सर्वदुःखराहित्यं सौषुप्तात्मवत् सर्वदा बोध्यमित्याह—यथा प्राज्ञ इति। यथा सुषुप्तौ आत्मा दुःखरहितः तथा सर्वदा दुःखरहित इत्यर्थः।।२१६।।

कथं तर्हि दुःखोपलब्धिरिति चेद्? अविद्ययैवेत्याह—आनन्दात्मेति। आनन्दात्मा तत्पदार्थः तेन सह वस्तुत ऐक्याद् निर्दुःखस्य आत्मनः दुःखभाने हेतुः अविद्यैवेत्यर्थः।।२१७।। तत्र अविद्यापदस्य निरुक्तिमाह—अहं ब्रह्मेति। अहं ब्रह्मेति विज्ञानरूपया विद्यया विरुद्धत्वम् अविद्यात्वम् इत्यर्थः।।२१८।। विरुद्धत्वमभिनयति—अनादिरिति। अहमत्र सङ्घात एव अस्मि, न सर्वत्र इत्याकारेण सर्वेषां देहिनाम् अनुभवसिद्धा, आदिशून्या, सदसद्भ्यां रूपाभ्यामनिर्वाच्यत्वाद् दुर्घटा, असंसारिण्यपि संसारकारणभूता चेत्यर्थः।।२१९।। अस्याः कारणशरीरभूताया आत्मना सह तादात्म्याऽध्यासं श्रुतौ 'आत्मैव द्रष्टा' 'इत्युक्तं हेतूकृत्य अस्वतन्त्रत्वमाह—आत्मन इति। साऽविद्या जडत्वादिना आत्मनो भिन्नाऽपि भिन्नत्वेन न गृह्यते तथा सति अस्वतन्त्रा पराधीनेत्यर्थः। शत्रुवद् दुःखदत्वाच्च स्वतन्त्रा इत्युक्तेत्याह—स्वतन्त्रेति।।२२०।।

कार्यों को सत् प्रतीत करा रही है।।२१३।। विचार करें तो जैसे गगन में गंधर्वनगर नहीं होता वैसे अपरोक्ष आत्मा में द्वैत भी है नहीं, विचार न करने तक ही 'है' लग रहा है।।२१४।। अतः इसमें कोई असंगति नहीं कि आत्मा ही अद्वैत परमात्मा है। सब जन्तुओं को 'मैं' लगता आत्मा जो जाग्रदादि अवस्थाओं में जाता-आता है उसीको शास्त्र ने परमात्मा कहा है क्योंकि उसका स्वरूप सच्चिदानंद ही है।।२१५।। सुषुप्ति में स्थित प्राज्ञ जैसे कोई दुःख अनुभव नहीं करता वैसे यह आत्मा कभी भी किसी दुःख का वस्तुतः अनुभव नहीं करता।।२१६।।

महान् आत्मा दुःखहीन है, इसका स्वरूप ही आनंदात्मक है। उसे न जानने से ही दुःख पैदा होता है, वास्तव में दुःख का कोई अस्तित्व नहीं।।२१७।।

'मैं ब्रह्म हूँ' यह विज्ञान मनीषियों द्वारा विद्या कहा गया है, उससे जो विरुद्ध है वह यह अविद्या दुःखदायी है।।२१८।। 'मैं इस देहादि-संघात में ही हूँ, सर्वत्र नहीं हूँ' यों सब देहधारियों को अनुभवसिद्ध, प्रारंभरहित, सद्रूप से या असद्रूप से निर्वचन के अयोग्य, अघटित घटना-पटीयसी और इस प्रपंच का कारण अविद्या है जो संसारातीत आत्मा में भी संसरण प्रतीत करा रही है।।२१९।। जड, परिच्छिन्न आदि होने से अविद्या आत्मा से भिन्न होने पर भी यों लगती नहीं कि आत्मा से भिन्न है। 'मैं अज्ञ' यों अपने पर आश्रित ही अज्ञान भासता है अतः आत्मा के वह है तो

१. 'नित्यनिवृत्ताऽपि मूढैरात्मेव दृष्टा' (नृ.उत्तर.९) इति श्रुतिरतोऽत्र 'आत्मेव दृष्टे' त्युदाहरणीयम्।

अनयात्मा विभात्येष भेदवानिव निर्दयः। आनन्दात्मा स्वयंज्योतिर्निर्गुणः परमेश्वरः।।२२१
आत्मानं सर्वदा जानन् मायया परिमोहितः। अजानन्निव देवेशश्चित्प्रकाशवपुः सदा।।२२२
स्वप्ने जागरणे नित्यं विपरीतावलोकनात्। न जानात्येनमात्मानं सुप्तावज्ञानतस्तथा।।२२३
सुषुप्तेऽप्यज्ञता येयं सा सत्येवात्मरूपिणि। चैतन्ये विषयाऽभावान्न तु चैतन्यनाशनात्।।२२४
अन्यथाऽयं न जानीयाद् मायां सुप्तौ तमोमयीम्। जानीतेऽज्ञासिषं चाऽहं नैव किञ्चिदितीव हि।।२२५

अज्ञानं तुच्छम्

सुप्तौ यद् दृश्यते तेन स्वात्मनोऽन्यज्जडं तमः। तदेतत्तुच्छमित्युक्तं निर्मानं च महात्मभिः।।२२६

अस्या दुःखदत्वं च भेदभानप्रयोजकत्वाद् इत्याह— अनयेति।।२२१।। **दुःखदत्वे स्वरूपाच्छादनमपि द्वारमस्या इत्याह**—आत्मानमिति। आत्मानम् आनन्दादिरूपं प्रेमाद्यन्यथानुपपत्त्या सर्वो लोको जानात्येवेति विज्ञायते तथाऽपि अयं देवेशः चिल्लक्षणप्रकाशरूपो यद् अजानन्निव दृश्यते तत्र हेतुर्माययैवेत्यर्थः।।२२२।। तत्र स्वप्नजागरणयोर्भ्रमाख्या कार्याऽविद्या व्यामोहिका, सुषुप्तौ तु कारणाऽविद्येत्याह—स्वप्न इति।।२२३।।

तत्र सुषुप्तिकाले यदज्ञत्वमात्मनः तत् स्वरूपभूते चैतन्ये सति वर्तमानेऽपि विषयाभावादेव, न तु चैतन्यनाशात् 'न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते' (बृ.४.३.२३) इति श्रुत्यन्तराद्[1] इत्याह—सुषुप्तेऽपीति। आत्मरूपिणि आत्मनः स्वरूपभूते चैतन्ये सति।।२२४।। चैतन्यनाशे बाधकं दर्शयति—अन्यथेति। अन्यथा चैतन्यनाशेऽयम् आत्माऽज्ञानमपि तमोरूपं न जानीयात्। तत्त्ववश्यं जानाति यतः सुप्तोत्थितो 'नैव किञ्चिदज्ञासिषम्'—ज्ञातवानस्मि—इति जानीते परामृशतीत्यर्थः।।२२५।।

अज्ञानस्य तुच्छत्वादिकं[2] प्रतिलोमक्रमेण विवृणोति—सुप्तावित्यादिना। यद् एतत् सुप्तौ अनुभूयमानत्वेन साधितमात्मभिन्नं जडं तमोरूपं चाऽज्ञानं तद् निर्मानत्वात् प्रमाणैरग्राह्यत्वात्[3] तुच्छमित्युक्तम् इत्यर्थः।।२२६।। तत्र

परतंत्र लेकिन शत्रु की तरह दुःखद होने के कारण वह स्वात्मा से स्वतंत्र ही समझा जाता है। (यदि आत्मपरतंत्र समझा जाता तो आत्मा उसे स्वयं को दुःख न देने देता।)।।२२०।। निर्दय आत्मा इस अविद्या के प्रभाव से ही लगता है मानो सदय हो। यों भेद का भान करा कर ही आनंदरूप स्वप्रकाश गुणहीन परमेश्वर को अज्ञान दुःख देता है।।२२१।। चिन्मय प्रकाश ही जिसका शरीर है वह देवेश्वर आत्मा यद्यपि स्वयं से निरुपाधि प्रेम के रूप में निज की आनंदता से वाकिफ़ है तथापि माया से पूर्णतः मुग्ध हुआ यों रहता है मानो अनजान हो।।२२२।। स्वप्न व जाग्रत् में हमेशा विपरीत दर्शन करते रहने से आत्मा स्वयं को नहीं जानता और सुषुप्ति में तो अज्ञान की ही स्थिति होने से—प्रमाण व्यापार का अवसर न होने से— यह निज से बेखबर रहता है।।२२३।। सुषुप्ति में भी जो यह अज्ञता है उसमें हेतु है विषयों का अभाव; चैतन्य आत्मा तो तब भी यथावत् रहता है, उसका नाश कभी नहीं होता।।२२४।।

यदि सुषुप्ति में चैतन्य नष्ट होता तो आत्मा तमोरूप अज्ञान को भी न जानता, जबकि जानता है क्योंकि सुषुप्ति से उठकर याद करता हैं 'तब मैं कुछ नहीं जान रहा था', याद तभी हो सकती है जब अनुभव हुआ हो अतः निश्चित है कि सुषुप्ति में कुछ न जानने का अनुभव आत्मा को होता ही है। इसलिये सुषुप्ति में संविद् आत्मा जस-का-तस रहता है।।२२५।।

---

१. 'स्वप्रकाशोऽप्यविषयज्ञानत्वाज्जानन्नेव ह्यत्र न विजानाति, अनुभूतेः।' (तत्रैव)।
२. 'माया च तमोरूपाऽनुभूतेः। तदेतज्जडं, मोहात्मकम्, अनन्तं तुच्छम्' (तत्रैव)।
३. न च विवरणादौ प्रत्यक्षानुमानाऽर्थापत्तिश्रुत्यादेरज्ञानसाधनं विरुध्यते, तत्रैव 'साक्षिवेद्यस्याऽज्ञानस्य प्रमाणैरभावव्यावृत्तिः प्रदर्श्यत इति न तस्य प्रमाणवेद्यत्वप्रसङ्ग' इति स्पष्टी करणात् (विव.पृ.१३७ म.अ.सं.)।

तुच्छं कालत्रये यत् स्यात् सत्ताहीनमरूपकम्। प्रतीयते नाममात्राद् वस्तुहीनं सदा नृणाम्।।२२७
नरशृङ्गं यथा वन्ध्यासुतो वा शब्दमात्रतः। प्रतीयते तथैवैतदज्ञानमपि शब्दतः।।२२८
एतादृशं च यद्धेतुः संसारस्य भवेत्ततः। दुर्घटं कथितं नित्यं वेदवादरतैर्द्विजैः।।२२९

अज्ञानं भावः

भावरूपस्य विश्वस्य कारणं यत् ततो द्विजाः! वदन्ति भावतां चाऽस्य तुच्छस्याऽपि महाधियः।।२३०
कालत्रयेऽप्यसत्त्वेन तुच्छं तत् परिकीर्त्यते। भावरूपस्य हेतुत्वाद् भावश्चैतन्निगद्यते।
अनिर्वाच्यमतः प्रोक्तं भावस्तुच्छं च तद्यतः।।२३१
प्रपञ्चस्याऽस्य हेतुर्यद् मोहकृत् स्वात्मनोऽपि च। जडता चाऽस्य सम्प्रोक्ता स्वात्मनो
व्यतिरेकतः।।२३२

लौकिकं तुच्छपदार्थमाह—तुच्छमिति। यत् कालत्रये सत्ताहीनं निःस्वरूपत्वाद् अत एव वस्तुना विषयेण हीनं यथा भवति तथा नाममात्रजन्यप्रतीतेर्विषयी भवति तत् तुच्छम् इत्युच्यते यथा नृशृङ्गादिकम्। तथाऽज्ञानम् अपि शब्दतः नाममात्रादेव प्रतीयते। इति द्वयोरर्थः।।२२७-८।। एतादृशमिति। एतादृशं तुच्छमपि सद् यतः संसारस्य हेतुः भवति इत्यतो दुर्घटम् अनिर्वचनीयम् इत्युक्तमित्यर्थः।।२२९।।

अज्ञानस्य भावत्वेन व्यवहारे हेतुमाह—भावरूपस्येति। भावत्वेन प्रतीयमानस्य विश्वस्य हेतुत्वाद् भावत्वेन अस्य व्यवहार इत्यर्थः।। २३०।। तुच्छत्वभावत्वयोः समुच्चयानुपपत्तिमवेक्ष्य चाऽनिर्वचनीयम् इत्युच्यत इत्याह—कालेति। सार्वदिकाऽसत्त्वेन तुच्छत्वं, भावहेतुत्वेन भावत्वं च अत्र यतः स्थितम् अतोऽनिर्वाच्यम् उच्यत इत्यर्थः।।२३१।। जडत्वे हेतुमाह—प्रपञ्चस्येति। यद् यतोऽस्य जडरूपस्य प्रपञ्चस्य हेतुः, आत्मनो मोहस्य आवरणस्य कारकं च भवति अतः स्वात्मनः चिद्रूपाद् व्यतिरेकं वैलक्षण्यमपेक्ष्य अज्ञानस्य जडता उक्तेत्यर्थः।।२३२।।

सुषुप्ति में अनुभूत होने से तमोरूप जड जिस अज्ञान को स्वीकारना पड़ता है वह प्रमाणों से अग्राह्य होने के कारण तुच्छ कहा जाता है।।२२६।। जो तीनों कालों में सत्तारहित हो, जिसका कोई स्वरूप न हो, शब्दमात्र से जन्य निर्विषय प्रतीति का बिना विषय बने ही विषय-सा लगता हो, वह नरशृंग, वंध्यासुत आदि तुच्छ माना जाता है। अज्ञान भी केवल शब्दवश मानो प्रतीत होता है अतः यह तुच्छ ही है।।२२७-८।। ऐसा तुच्छ होकर भी संसारहेतु बन जाता है अतः वेदविचारक द्विजों द्वारा अज्ञान दुर्घट, अनिर्वाच्य कहा गया है।।२२९।।

क्योंकि भावरूप विश्व का कारण बनता है इसलिये महाबुद्धिमान् लोग इस अज्ञान की भावरूपता समझाते हैं, भले ही है यह तुच्छ ही। (असत्, अभाव से सत्, भाव की उत्पत्ति मानना श्रुतिविरुद्ध है। अतः कार्य की तरह अभाव कारण हो सकता है यह तार्किकों की मान्यता अवैदिक है। इसी दृष्टि से वेदांताचार्यों ने अविद्या की भावरूपता ऊहापोह से सिद्ध की है। कुछ आधुनिक चिन्तक अभावात्मक अज्ञान से ही व्यवस्था बनाने का दंभ रखते हैं जो तर्कादि से विरुद्ध है इसमें संदेह न रखने के लिये विवरणादि आकर और वादग्रंथ देख लेने चाहिये तथा उनका मत श्रुतिविरुद्ध है यह स्मरण रखना चाहिये। भावरूप अज्ञान मानना वेदांतियों का कोई शौक नहीं वरन् श्रुति-युक्ति से समर्थित बात है। वस्तुतः तो अज्ञान को तुच्छ ही मानना है (पंचदशी ६.१३०) पर तुच्छ का मतलब भी अभाव नहीं है! अभाव सप्रतियोगी होता है, 'वंध्यापुत्र' किसी अभाव का नाम नहीं है। अभावभिन्नता को ही भाव-शब्द से व्यक्त किया जाता है।)।।२३०।। तीनों कालों में अज्ञान की असत्ता होने से वह तुच्छ कहा जाता है और भावरूप संसारका हेतु होने से यह अज्ञान भाव कहलाता है, एवं च क्योंकि वह भाव और तुच्छ दोनों है—जो कि किसी तरह संगत नहीं—इसलिये वह अनिर्वचनीय कहा जाता है।।२३१।। क्योंकि इस जडरूप प्रपंच का हेतु है, आत्मस्वरूप को आवृत करता है इसलिये चिद्रूप स्वात्मा से इसकी विलक्षणता को दृष्टि में रखकर अज्ञान जड कहा जाता है। (जैसे भावरूप का मतलब अभावविलक्षण है वैसे जड का मतलब चिद्विलक्षण है।)।।२३२।।

अज्ञानानन्त्यम्

अनन्तता च विद्वद्भिरादिशून्येन हेतुना। भवेदस्य यदैवादिस्तदा तस्याऽपि कारणम् ।।
भवेद् व्यर्थं तदा चैतत् कारणं परिकल्पितम् ।।२३३
अथ वाऽनन्तता चाऽस्य भवेदेवं जडस्य हि। अनन्तस्याऽस्य विश्वस्य कारणत्वेन हेतुना ।।२३४
अनन्तोऽयं परिच्छिन्नात् कारणात् केन सम्भवेत् ।प्रपञ्चः कारणं तस्य स्यादनन्तं ततो हि तत् ।।२३५
ब्रह्मज्ञानं विना चान्तं नैतद् याति कुतोऽपि हि। कारणानां शतात् तस्मादनन्तमिति गीयते ।।२३६

अज्ञानं मोहः

मोहात्मकत्वमेतस्य कथ्यते वेदवादिभिः। आवृणोति यतश्चैतदानन्दात्मानमद्वयम् ।।
स्वप्रकाशविनिर्भातं सर्वमोहविवर्जितम् ।।२३७

श्रुत्युक्तमनन्तत्वं स्फुटयति—अनन्ततेति। अन्तः प्रागभावप्रतियोगित्वरूपः कालिकपरिच्छेदः तदभावाद् अस्य अनन्तता। तदेतदुक्तम्—आदिशून्येन हेतुनेति। आदिशून्यपदं भावप्रधानम्। अत्रोपपत्तिमाह—भवेदित्यादिना। यदाऽस्य अज्ञानस्य आदिः कारणं भवेत् कल्पेत तदा तस्य अज्ञानकारणतयाक्लृप्तस्याऽपि कारणं कल्प्यं स्यात्तदा च 'तद्धेतोरेवास्तु हेतुत्वं किन्तेन' इति न्यायात् प्रथमाज्ञानस्य वैयर्थ्यं स्यात्। यदेतस्य प्रथमाज्ञानस्य कारणं कल्पितं तेनैव सर्वनिर्वाहाद् इत्यर्थः।।२३३।। अथ वेति। अथ वा अनन्तं प्रपञ्चं प्रति कारणत्वरूपाद् हेतोः अस्य अज्ञानस्य अनन्तत्वं बोध्यमित्यर्थः।।२३४।। एतदेव स्फुटयति—अनन्तोऽयमिति। अनन्तोऽगृह्यमाणान्तोऽयं प्रपञ्चः परिच्छिन्नात् कारणात् केन कथं भवेत् जायेत? अज्ञानं तु तस्य अनन्तप्रपञ्चस्य कारणं भवति ततस्तद् अज्ञानम् अनन्तम् इत्येवमुक्तमित्यर्थः।।२३५।। ब्रह्मेति। अथ वा ब्रह्मज्ञानं विना कारणत्वेनोपन्यस्तानां शताद् अपरिमितसमुदायादपि एतद् अज्ञानम् अन्तं नाशं न याति, एतस्मान्निमित्ताद् अनन्तमिति उच्यत इत्यर्थः।।२३६।।

अथ मोहरूपतां श्रुत्युक्तामभिनयति—मोहात्मकत्वमिति। यतश्च आनन्दादिलक्षणमात्मानम् आवृणोति आच्छादयति ततोऽस्य अज्ञानस्य मोहकत्वमुक्तमित्यर्थः।।२३७।। अस्य नित्यं निवृत्तत्वेऽपि अचिन्त्यप्रभावेण

विद्वान् अज्ञान को अनंत बताते हैं क्योंकि इसका कोई आदि नहीं है, प्रारंभ या कारण नहीं है। ऐसी कोई स्थिति नहीं मानी जा सकती जब अज्ञान नहीं था अतः अतीत की दृष्टि से इसे कालकृत सीमा वाला कहना ठीक नहीं। यदि अज्ञान का कोई कारण हो तो उस कारण का पुनः कारणान्तर मानना पड़ेगा जिससे अनवस्था होना अनिवार्य है। अज्ञान ही सबके कारणरूप से स्वीकार है और स्वयं अज्ञान है सर्वानुभवसिद्ध; इसका कोई कारण अनुभवसिद्ध तो है नहीं, यदि तर्कवश माना जाये तो वही सारी दुनिया का कारण भी हो जायेगा, अज्ञान को कारण मानना बेकार है! आगे वह कारण भी सकारण होगा तो उस द्वितीय कारण से ही काम चल जायेगा, पहला कारण मानने का कोई प्रयोजन नहीं! और यदि अज्ञान के कारण को निष्कारण मानना हो तो बेचारे अज्ञान को ही निष्कारण मानना क्या बुरा है!! अतः प्रारंभ-रूप छोर न होने से अनादि के अभिप्राय से अज्ञान को अनंत कहते हैं।।२३३।। इस अनंत जड विश्व का कारण होने से भी अज्ञान अनंत समझा जाता है।।२३४।। यह अनंत प्रपंच परिच्छिन्न कारण से कैसे पैदा हो सकता है! अतः इसका कारण अज्ञान अनंत ही हो सकता है। (कारण की अपेक्षा कार्य ही परिच्छिन्न होता है। जब कार्य अनंत है तब उसका कारण सुतराम् अनंत ही हो सकता है।)।।२३५।। किं च एक ब्रह्मज्ञान को छोड़कर अन्य सैकड़ों कारण इकट्ठे होकर भी अज्ञान को नष्ट कर नहीं सकते, इससे भी यह अनंत है।।२३६।।

वेदचिन्तक अज्ञान को मोहरूप बताते हैं। आनंदरूप, द्वैतहीन, स्वप्रभरूप से सदा भासमान, सभी मोहों से रहित इस आत्मा को क्योंकि अज्ञान ढाँके रखता है इसलिये इसकी मोहरूपता स्वीकारी जाती है।।२३७।। यह अविद्या अपने भासक आत्मा में न थी, न होगी, न है। अपने प्रकाशक के स्वरूप में प्रकाश्य का कभी निवेश नहीं हो सकता अतः

आत्मन्येषा सदाऽविद्या नासीन्नैव भविष्यति। न वर्तते निवृत्तैव सर्वदाऽस्मादियं स्थिता।।
एवंभूताऽपि चात्मानं मोहयत्यात्मनो बलात्।।२३८

अहंममेति द्विमयीं बुद्धिमेषोऽधिगच्छति। भूतजांशे द्विधाभूते स्थूले सूक्ष्मे च सर्वदा।।२३६

परिच्छेदे च तस्याऽपि सुखदुःखकरे पुमान्। आनन्दात्मा सदाद्वैतशून्योऽसौ निर्गुणः परः।।
अनया मोहितो मूढो भवत्येषोऽति मोहितः।।२४०

सिद्धाऽसिद्धत्वे

अस्य मायात्मनो मोहकारणस्य सदात्मनः। तुच्छस्य जडरूपस्य हेतोर्विश्वस्य सर्वदा।।२४१

अनादेरप्यनन्तस्य सत्त्वाऽसत्त्वे उदीरिते। पण्डितैर्यददः सिद्धमसिद्धं चैव दृश्यते।।२४२

मोहकरत्वं लोकानुभवसिद्धमित्याह[1]—आत्मन्येषेति त्रिभिः। एषाऽविद्याऽऽत्मनि स्वभासके कालत्रये न वर्तते यतः प्रकाश्यस्य प्रकाशकनिष्ठत्वं क्वापि न दृष्टम् इत्युपपत्त्या अस्माद् आत्मनः सकाशात् सर्वदा निवृत्तैव इयम् अविद्या स्थिता साधिता। एतादृश्यपि च स्वकीयबलादचिन्त्यशक्तिरूपाद्[2] आत्मानं मोहितं करोतीत्यर्थः।।२३८।। मोहस्वरूपं वर्णयति—अहमिति। भूतजांशे पञ्चभूतानां कार्यभागे स्थूले सूक्ष्मे वा द्विधाभूते प्रत्यक्पराग्भावेन स्थिते यथाक्रमम् अहम् इत्याकारां ममेत्याकारां च द्विमयीं द्विविधां बुद्धिं भावनाम् एष आनन्दादिलक्षणोऽपि आत्माऽधिगच्छति प्राप्नोति। तत्र यं भौतिकांशं प्रत्यक्त्वेन मन्यते तत्र अहमिति बुद्धिं करोति, यं च पराक्त्वेन मन्यते तत्र ममेति, इति विभागः।।२३६।। परिच्छेद इति। तथा तस्य भौतिकांशस्यैव धर्मभूतेऽपि परिच्छेदे परिच्छिन्नत्व एष आनन्दादिलक्षण आत्मा अतिमोहितः परिच्छेदस्य आत्मनिष्ठत्वदर्शनरूपम् अतिशयितं मोहं प्राप्तो भवति यतोऽनया मायया मूढ आवृतस्वरूपोऽपि मोहितः अधिकं मोहाय प्रेरित इत्यर्थः।।२४०।।

अज्ञानस्य सिद्धत्वाऽसिद्धत्वहेतुके सत्त्वाऽसत्त्वे दर्शयति[3]—अस्येति। अस्य वर्णितमायारूपस्य विश्वप्रपञ्चहेतोः; कीदृशस्य? आत्मनः सदा मोहकस्य, तुच्छस्य, जडस्य, अनादेः, अनन्तस्य चेति। एतस्य सत्त्वाऽसत्त्वे पण्डितैः उक्ते यद् यतः अदोऽज्ञानं सिद्धत्वाऽसिद्धत्वाभ्यां वक्ष्यमाणरूपाभ्यां विशिष्टं दृश्यत इत्यर्थः।।२४१-२।। सिद्धत्वाऽसिद्धत्वे

इस आत्मा से अविद्या सदा हटी हुई है। ऐसी होकर भी यह अपनी अचिंत्य शक्ति से आत्मा को मानो बलपूर्वक मोह में डाले हुए है।।२३८।।

पाँचों महाभूतों से जन्य परिच्छिन्न पदार्थ स्थूल और सूक्ष्म दो तरह से स्थित हैं जिन्हें आत्मा 'मैं' या 'मेरा' समझता है। यह समझना ही मोह है। (अपने स्थूल-सूक्ष्म शरीरों को प्रधानतः 'मैं' समझता है और उनसे सम्बद्ध अन्य जड-चेतनों को 'मेरा' समझता है। आत्मा स्थूल-सूक्ष्म उपाधिरूप नहीं है फिर भी उसे मैं-मेरा समझता है, इसी ग़लत-फ़हमी का नाम मोह है।)।।२३६।। परिच्छिन्नता उन भौतिक उपाधियों की ही विशेषता है। सुख-दुःख देने वाली उस परिच्छिन्नता को आत्मा स्वयं में मान लेता है यह अत्यंत मोह है। निर्गुण परम पुरुष हमेशा ही द्वैतरहित आनंद है। अविद्या से मूढ हुआ पहले तो वह अपने व्यापक स्वरूप से बेखबर रहता है और फिर अधिक मोहग्रस्त होकर अनात्मधर्म स्वयं पर ओढ लेता है व दुःखी बना रहता है।।२४०।।

---

१. 'नित्यनिवृत्ता...दृष्टा'—श्लोक.२५० टिप्पणे श्रुतिरुक्ता।
२. यद्वा—यन्मोहयति तद् आत्मन एव बलात्; आत्मनः सत्तां स्फूर्तिं लब्ध्वैवाऽविद्या मोहयति, यावच्चाज्ञाननाशानुकूलो नात्मा भवति तावदेवाज्ञानमात्मानं मोहयति, तत आत्मन एव तद्बलं यदविद्या तं मोहयति।
३. 'अस्य सत्त्वमसत्त्वं च दर्शयति सिद्धत्वाऽसिद्धत्वाभ्याम्।' (तत्रैव)।

सिद्धं कार्यस्वरूपेण ह्यसिद्धं स्वस्वरूपतः। सिद्धं चाऽनुभवेनैतदसिद्धं च विचारतः।।२४३

असिद्धमस्वतन्त्रं स्यात् स्वतन्त्रं सिद्धमीरितम्। इति वा तद्भवेत् सिद्धमसिद्धं चाऽत्र कारणम्।।२४४

स्वतन्त्राऽस्वतन्त्रत्वे

स्वातन्त्र्यमिदमेतस्य कथितं वेदवादिभिः। अनाद्यनन्तं च जडं तुच्छं च स्वात्मरूपतः।।

आनन्दात्मानमद्वैतम् अमोहं मोहयत्यपि।।२४५

भानौ यथा प्रभाकीर्णे स्थिते स्याद् दुर्घटं तमः। आनन्दात्मनि तद्वत्स्याद् मायेयं दुःखकारिणी।।२४६

इतः स्वातन्त्र्यमेतस्य इदमत्राऽभिधीयते। चिदानन्दात्मरूपेऽस्मिन् वर्तनं यन्निजाद् बलात्।।२४७

अहो! अस्याः किमप्येतत् स्वातन्त्र्यमपि दुर्घटम्। यदधीना स्वयं तच्च कुरुते स्वात्मनो वशे।।२४८

उपपादयति—सिद्धमिति। सिद्धत्वम् अक्षादिगोचरत्वम्। तद् अज्ञानेऽपि कार्यरूपेण अस्ति। अतः तत् सिद्धम् इत्युच्यते। स्वरूपेण तु अज्ञानस्य अज्ञानादिगोचरत्वाऽभावात्[1] तद् असिद्धम् इति। अथ वा एतद् अज्ञानम् अनुभूयमानत्वात् सिद्धम् इत्युक्तम्। विचारेण बाधितत्वाच्च असिद्धम् इति, इत्यर्थः।।२४३।। असिद्धमिति। अथ वा इति इमां लोकप्रसिद्धिम् अनुसृत्य तद् अज्ञानं जगतः कारणं सिद्धमसिद्धम् इति चोच्यते। 'इमां' काम्? परतन्त्रम् असिद्धं, स्वतन्त्रं तु सिद्धम् इति उक्तां लौकिकैः इत्यर्थः।।२४४।।

तत्र स्वातन्त्र्यमज्ञानस्य[2] स्फुटयति—स्वातन्त्र्यमिति चतुर्भिः। एतस्य अज्ञानस्य इदं स्वातन्त्र्यं स्वतन्त्रस्य कर्म पश्यत। 'इदं' किम्? यत् स्वात्मरूपतः स्वरूपेण जडं तुच्छम् अपि च सद् अनाद्यनन्तम् इति प्रसिद्धं, तथाऽऽनन्दात्मानं द्वैतमोहाभ्यां हीनं मोहयति इत्यर्थः।।२४५।। प्रकारान्तरेण स्वातन्त्र्यं दर्शयति—भानाविति। यथा मध्याह्नार्के तमो दुर्घटम् असम्भवत्स्थितिकं तथाऽऽनन्दरूप आत्मनि दुःखकारिणी माया दुर्घटा। इत एतद्वृत्तमालोच्य एतस्या मायायाः स्वातन्त्र्यम् एतदेव अभिधीयते। 'एतत्' किम्? यद् आनन्दरूपात्मनि वर्तनम्। इति द्वयोरर्थः।।२४६-७।। तथा स्वयं यस्य अधीना तस्यात्मन एव वशी करणं तृतीयं स्वातन्त्र्यमित्याह—अहो! इति। किमपि अद्भुतम्। यत्-तद्भ्याम् आत्मोच्यते।।२४८।।

आत्मा को हमेशा मोहित करने वाले इस अज्ञान का स्वरूप है माया। तुच्छ व जड होकर भी यह हमेशा विश्व का हेतु बना रहता है। इस अनादि-अनंत अज्ञान का सत्त्व और असत्त्व पंडितों ने कहा है क्योंकि यह सिद्ध और असिद्ध दीखता है।।२४१-२।। इन्द्रियादि का विषय सिद्ध कहलाता है, अज्ञान भी अपने कार्यों के रूप में सिद्ध है; अज्ञान ने जो कार्याकार ग्रहण किये हैं वे भूत-भौतिक पदार्थ इंद्रियादि से दीखते ही हैं। अपने निज रूप से अज्ञान असिद्ध है क्योंकि इंद्रियादि का विषय नहीं। अनुभूयमान होने से अज्ञान सिद्ध है जबकि विचार से बाधित होने के कारण असिद्ध है।।२४३।। परतंत्र को असिद्ध और स्वतंत्र को सिद्ध कहा जाता है इससे भी जगत्कारण अज्ञान सिद्ध-असिद्ध है।।२४४।।

वेदवादियों ने अज्ञान का यह स्वातंत्र्य बताया है : निजरूप से जड व तुच्छ होकर भी यह अनादि-अनंत है और द्वैत-मोह से रहित आनंदात्मा को मोह में डाले रहता है।।२४५।। दोपहर में तेज से पूर्ण सूर्य स्थित हो तो उसमें जैसे अंधेरा असंभव है वैसे आनंदरूप आत्मा में दुःखोत्पादक माया का होना किसी तरह संभव नहीं। इस वास्तविकता को समझकर माया का स्वातंत्र्य इसे कहते हैं कि यह अपने बल-बूते पर इस चिदानंदात्मा के ऊपर वर्तमान है! (अज्ञान को नष्ट करने में समर्थ आत्मा ही अज्ञानग्रस्त है यह अज्ञान की स्वतंत्रता का ही परिचायक है। किन्तु इससे अज्ञान प्रकृतितुल्य नहीं क्योंकि यह अस्वतंत्र भी है, यह अनुपद स्पष्ट होगा।)।।२४६-७।। यह भी एक अद्भुत आश्चर्यजनक स्वतंत्रता है कि माया जिसके अधीन है उसी आत्मा को अपने वश में रखे है।।२४८।।

---

१. अज्ञानाऽविषयत्वेनैव प्रमाऽविषयत्वोपपत्तेरसिद्धतोक्तिः।

२. 'स्वतन्त्राऽस्वतन्त्रत्वेन' (तत्रैव)।

परतन्त्रा सदाऽविद्या यतः सिद्ध्यति कुत्रचित्। विषये वाऽऽश्रये नित्यं न तु तौ परिहाय हि।।२४९
अविद्यायाश्च विषयो नाऽविद्यैव कदाचन। तमसो हि तमो नैव विषयः कर्हिचित् क्वचित्।।२५०
यस्य योतिशयं कुर्यात् स तस्य विषयो मतः। स्वस्मिन् स्वेन च को नाम करोत्यतिशयं त्विह।।२५१
चिदानन्दात्मनि सदा क्रियतेऽतिशयस्त्वयम्। अज्ञो दुःखीति तस्मात् स विषयोऽस्याः प्रकीर्तितः।।२५२
आश्रयश्च सदैव स्यात् स्वस्मादन्योऽत्र वस्तुनः। अधिकश्च तथाऽऽत्माऽयं मायायाः परमेश्वरः।।२५३
चिद्रूपस्तद्विहीनश्च ततः सा तत्र वर्तते। शुक्त्यज्ञानं यथा पुंसि वर्तते रूप्यदर्शिनि।।२५४

अथ अस्याः पारतन्त्र्यं विशदयति—परेति पञ्चदशभिः। इयम् अविद्या परतन्त्राऽपि भवति यत आश्रयं विषयं च अपेक्ष्यैव सिद्ध्यति, तौ विषयाश्रयौ विहायोपेक्ष्य न सिद्ध्यतीत्यर्थः।।२४९।। नन्वविद्यायाः स्वरूपमेव आश्रयतां विषयतां च भजिष्यतीति कथं परापेक्षा? इति शङ्कां परिहरति—अविद्याया इत्यादिना। अविद्याया विषयोऽविद्यैव न संभवति यथा तमसा तम एव न विषयी क्रियत इत्यर्थः।।२५०।। तत्र हेतुतया विषयलक्षणाऽसम्भवमाह—यस्येति। यः पदार्थो यस्य पदार्थस्य सम्बन्धिनं, यन्निष्ठमिति यावत्, एतादृशम् अतिशयं फलं कुर्यात् स फलाश्रयः तस्य फलकर्तुः विषय इत्युच्यते। स्वस्वरूपे च स्वेन एव अतिशयः केनापि कर्तुं न शक्य इत्यर्थः।।२५१।। अविद्यया चावरणविक्षेपरूपम् 'अज्ञोऽस्मि दुःखी च' इत्यनुभूयमानं फलं भासमानानन्दरूप आत्मन्येव क्रियते, अत आत्मैव तस्या विषय इत्याह—चिदानन्दात्मनीति।।२५२।। अविद्याश्रयत्वेनाऽपि अयमात्माऽपेक्ष्यत इत्याह—आश्रयश्चेति। यः पदार्थः स्वस्माद् भिन्नः अधिकश्च भवति स एव वस्तुनः पदार्थजातस्य आश्रयः प्रसिद्धः तथा अविद्यातो भिन्नोऽधिकश्च आत्मा एव सम्भवति यतः परमेश्वरः चिद्रूपत्वेन भासकत्वात् तयाऽविद्यया विहीनोऽस्पृष्टः। अतः सा अविद्या तत्र आत्मन्येव वर्तते यथा रूप्यं रजतं तद्भ्रमवति पुरुषे शुक्तिगोचरमज्ञानं वर्तत इति प्रसिद्धं तद्वत्। इति द्वयोरर्थः।।२५३-४।।

किन्तु यह अविद्या हमेशा है परतन्त्र! अविद्या आश्रय-विषय की अपेक्षा से ही सिद्ध होती है, उनके बिना नहीं अतः उनके अधीन ही माननी पड़ेगी। (अविद्या जिसको होती है वह आश्रय और जिसके बारे में होती है वह विषय। इन दोनों के बिना अविद्या होती नहीं; ऐसा नहीं होता कि अविद्या तो है पर न किसीको है व न किसी के बारे में है। अतः अविद्या इनके अधीन ही है।)।।२४९।। अविद्या स्वयं का आश्रय-विषय भी बन जाये यह संभव नहीं। जैसे कभी कहीं ऐसा नहीं होता कि अँधेरा ही अँधेरे का विषय बन जाये ऐसे यह भी कभी संभव नहीं कि अविद्या का विषय अविद्या ही हो।।२५०।। एक पदार्थ जब पदार्थान्तर में कोई अतिशय लाये, उसमें कोई अंतर लाये, तब जिसमें अतिशय आता है वह अतिशय लाने वाले का विषय कहा जाता है (जैसे अँधेरे से घट में यह अतिशय आता है कि दीखने योग्य रहते हुए भी 'नहीं दीख रहा' इस व्यवहार के योग्य हो जाता है अतः घट अँधेरे का विषय कहा जाता है)। संसार में ऐसा कौन हो सकता है जो खुद ही खुद में कोई अतिशय ला सके! (एक ही क्रिया का कर्त्ता और कर्म एक ही वस्तु हो यह संभव नहीं ऐसा प्रायः सब तार्किक मानते हैं। काल आदि किस-न-किस पदार्थान्तर की अपेक्षा से ही वहाँ भी अतिशय होता है जहाँ लगता है कि स्वयं ने ही स्वयं में अतिशय किया है।)।।२५१।। अविद्या का फल है आवरण-विक्षेप। 'मैं अज्ञानी, दुःखी हूँ' यह अविद्याफल चिद्रूप आनंदरूप आत्मा में ही अनुभव होता है अतः आत्मा ही अविद्याविषय माना जा सकता है।।२५२।।

इसी प्रकार स्वयं से भिन्न और अधिक वस्तु ही स्वयं का आश्रय प्रसिद्ध है (जैसे घटादि का आश्रय भूतल)।

यद्यप्यत्र भवेदन्यो विषयः स्वाश्रयात् सदा। शुक्त्यज्ञाने तथाऽप्यत्र परिशेषप्रमाणतः।।
आत्मैव विषयस्तस्मादन्यद् येन न विद्यते।।२५५

शुक्तावपि न शुक्तिः स्याद् विषयोऽत्र विचारिते। इदन्तार्थो यतो यत्तु स्फुरणं शुक्तिकागतम्।।२५६

सामान्ये स्फुरणे ह्यस्मिन् विशेषं शुक्तिकाऽभिधम्। आवृणोति यतस्तेन शुक्त्यज्ञानं प्रचक्षते।।२५७

अत्र पूर्वविरोधमाशङ्क्य परिहरति— यद्यपीति। यद्यपि अत्र शुक्त्यज्ञानोदाहरणे, आश्रयः पुमान् विषयः शुक्तिः इति विषयाश्रययोर्भेदः प्रसिद्धः तथापि तत्र शुक्त्युदाहरणेऽपि आत्मैव विषयत्वेन मन्तव्यः। कुतः? परिशेषात्; प्रसक्तप्रतिषेधेऽन्यत्राऽप्रसङ्गात् परिशिष्यमाणे सम्प्रत्यय इत्युक्तलक्षणाद् अनुमानात्। परिशेषमेव दर्शयति—तस्मादिति। यतः चिद्रूप आत्मैव आवरणयोग्यः तस्माद् आत्मनोऽन्यत् शुक्त्यादिकं जडत्वादावरणयोग्यं नास्तीत्यर्थः। तथा च लोकभ्रान्त्यनुसारेण प्रसक्तस्य सन्निहितस्य शुक्त्यादेः प्रतिषेधे सति अन्यत्र व्यवहिते प्रसङ्ग एव न भवतीति शुक्त्याद्यन्तर्गत आत्मैव विषयो भवतीति भावः।।२५५।। एतदेव स्फुटी करोति—शुक्ताविति। अत्र वर्णिते शुक्तिरूप्योदाहरणेऽपि विचारिते सति शुक्तिः जडा विषयो न स्यात्, यतो यत् स्फुरणं चैतन्यं शुक्तिकायां गतम् अनुप्रविष्टं यद् इदन्तापदार्थतया निरूपितं तदेव विषयत्वाऽर्हम् इत्यर्थः।।२५६।।

इदन्तार्थस्य चैतन्यस्य सामान्यभूतस्य शुक्तिकावच्छिन्नात्मना विशेषरूपेण अज्ञानविषयत्वाद् विषयावच्छेदकत्वेन शुक्तेरज्ञानविषयत्वव्यवहार इत्याह—सामान्य इति। हि यतोऽस्मिन् इदन्तार्थतया वर्णिते स्फुरणे सामान्यभूते शुक्तिकयाऽभिधा निरूपणं यस्य तत्तथाविधं शुक्त्यवच्छिन्नचैतन्यं विशेषरूपं तादात्म्येन तिष्ठति तं विशेषं यत आवृणोति इदमज्ञानं ततोऽवच्छेदकतया शुक्तेरवगाहनाद् एतत् शुक्त्यज्ञानम् इति प्रचक्षते व्यवहरन्ति इत्यर्थः।।२५७।। शुक्त्यवच्छिन्नस्य चैतन्यस्य आत्मत्वाच्च सर्वत्र अज्ञानस्य आत्मविषयत्वमेवेत्याह—स्फुरणमिति।

अतः अविद्या से भिन्न और अधिक आत्मा ही है जो उसका आश्रय है। चिद्रूप परमेश्वर माया का भासक होने से माया से अस्पृष्ट है अतः अविद्या उस परमेश्वर पर ही आश्रित है। जिसे भ्रम से चाँदी दीख रही हो उसी पुरुष में जैसे सींप का अज्ञान होता है वैसे जो भ्रम से संसार देख रहा है उस चेतन में ही आत्मा के बारे में अज्ञान है।(चिन्मात्र वस्तु ही अखण्डाज्ञान का आश्रय और विषय है। यद्यपि अटपटा लगता है कि परब्रह्म परमात्मा अज्ञानी है तथापि जीव-ब्रह्म की एकता को ध्यान में रखें तो अनुचित नहीं लगेगा। कुछ विचारक आपाततः उचित लगे इसलिये जीव को अविद्या का आश्रय कह देते हैं पर परीक्षा करने पर उनका अभिप्राय भी चेतन की अविद्याश्रयता में ही निकलता है।)।।२५३-४।।
'रजतभ्रम वाले को शुक्ति का अज्ञान है' इस उदाहरण में लगता है कि अज्ञान का आश्रय भ्रान्त पुरुष और अज्ञानविषय शुक्ति है अर्थात् अज्ञान के आश्रय-विषय परस्पर पृथक् होते हैं, किन्तु विचार करने पर बात ऐसी नहीं है, आत्मा ही विषय भी है। अज्ञान का विषय वही होगा जो अज्ञान से आवृत हो और आत्मा से अन्य शुक्ति आदि जड होने से आवृत होने लायक ही नहीं है अतः चिद्रूप आत्मा ही आवृत होने लायक है, वही विषय बन सकता है। इस तर्क को ही 'परिशेष' नामक प्रमाण कहा जाता है। परिशेष अर्थात् बचना; दृक् व दृश्य दो ही पदार्थ हैं, जब दृश्य अज्ञानविषय होना संभव नहीं तब बचा हुआ दृक् ही विषय सिद्ध होता है। शंका होगी कि 'शुक्ति को नहीं जानता' आदि सर्वानुभवसिद्ध यही है कि अज्ञानविषय शुक्ति है, उसकी क्या गति है? समाधान है : 'शुक्ति को नहीं जानता' यह अज्ञान व्यापक (आत्मा) को तो विषय करता नहीं वरन् इसका विषय सीमित ही है; वह सीमित वस्तु शुक्ति हो नहीं सकती क्योंकि जड है इसलिये आत्मा ही होगा; लेकिन आत्मा भी न अपने व्यापक रूप में इस अज्ञान का विषय है और न घट-पटादि अन्य सीमाओं में बँधकर ही इसका विषय है, शुक्तिका से सीमित हुआ आत्मा ही इस अज्ञान का विषय है। अतः अज्ञानविषय की सीमा बाँधने वाली होने से सींप को अज्ञात समझा जाता है। जिसे पूर्व में (श्लोक १२१ आदि) इदन्ता कहा था वह सींप में अनुगत चैतन्य ही अविद्या-विषय होने के योग्य है।।२५५-६।।

स्फुरणं यद् बहिस्तत्तु कथितं वेदवादिभिः। अन्तरात्मेति तत्राऽपि विषयः स्यात् स एव हि।।२५८
अज्ञानानां च सर्वेषामाश्रयत्वे निजात्मनः। विवादो वादिनां नास्ति विषयत्वे तु वारितः।।२५९
तस्मादात्मैव विषय आश्रयश्च सदा भवेत्। अविद्यायाश्चिदानन्दस्तयाऽपि परिवर्जितः।।२६०
विषयाश्रयसम्बन्धाद् अस्वातन्त्र्यं व्यवस्थितम्। अविद्याया जडा चेयं स्वतन्त्रा स्यात् कथं त्विह।।२६१
रथाद्या न जडाः क्वाऽपि स्वतन्त्राश्चेतनं विना। प्रवर्तन्ते क्रिया चाऽत्र गवाश्वादेरपेक्षणात्।।२६२
अचेतनं ततः सर्वमस्वतन्त्रमुदीरितम्। अचेतना तथा माया स्वतन्त्रा स्यात् कथं त्वियम्।।२६३
अस्वतन्त्रा यतस्तेन साऽसिद्धेति प्रकीर्तिता। असिद्धिरसतस्तस्मादसत्ताऽस्या व्यवस्थिता।।२६४

यत् च बहिः बाह्यार्थेषु अपि स्फुरणं तद् अपि अन्तरात्मा एव वेदवादिभिः औपनिषदैः कथितम् 'अस्ति भाति प्रियम्' इत्यादिवाक्येन (वाक्यसुधा)। तथा च तत्र शुक्त्याद्युदाहरणेऽपि सः अन्तरात्मैव विषय इत्यर्थः।।२५८।। एवमज्ञानविषयत्वस्य अनात्मगतत्वभ्रमो वारितः। आत्माऽऽश्रयत्वं त्वज्ञानस्य सर्वैः सम्मतमेवेत्याह— अज्ञानानामिति।।२५९।। फलितमाह—तस्मादिति। तयाऽविद्यया परिवर्जितोऽपि चिदानन्दरूप आत्मैव अविद्याया आश्रयो विषयश्च इति सिद्धमित्यर्थः।।२६०।। ततश्च विषयत्वेन आश्रयत्वेन च आत्मना सम्बद्धाया अविद्यायाः पारतन्त्र्यं सिद्धमित्याह—विषयेति।

किं च जडत्वमप्यस्याः पारतन्त्र्यं प्रकटयति इत्याह—जडा चेयमित्यादिना।।२६१।। तत्र जडत्वस्य पारतन्त्र्येण व्याप्तिं दर्शयति—रथाद्या इति। अत्र रथादौ या क्रिया सा गवादिचेतनसम्बन्धादेव, न स्वत इत्यर्थः।।२६२।। अचेतनमिति। ततः परापेक्षक्रियकत्वात् सर्वं जडम् अस्वतन्त्रं प्रसिद्धमिति। तथा रथादिवद् अचेतना मायाऽपि परतन्त्रैव विज्ञायत इत्यर्थः।।२६३।।

एवमस्वतन्त्रत्वस्य सिद्धौ तद्बलेन असिद्धत्वादिकमप्यवधार्यमित्याह—अस्वतन्त्रेति। सा माया यतोऽस्वतन्त्रा ततोऽसिद्धेति बोध्या। असिद्धिः असत्त्वम् असतः शशशृङ्गादेः दृष्टमित्यतोऽस्या मायाया असत्ताऽपि व्यवस्थिता सिद्धेत्यर्थः।।२६४।।

इदन्ता शब्द का अर्थभूत चैतन्य तो सामान्य है, वही शुक्तिकामात्र के परिप्रेक्ष्य में समझा जाये तो विशेष हो जाता है अर्थात् उस इदन्ता का निरूपण शुक्तिका से ही होता है, शुक्तिका व इदन्ता परस्पर तादात्म्य को प्राप्त हो जाते हैं। वह विशेष हुआ चैतन्य ही 'सींप को नहीं जानता' इस अज्ञान का विषय है और इदन्ता को वह विशेष बनाने वाली होने से सींप को अज्ञान का विषय कहा-समझा जाता है।।२५७।। उक्त न्याय से सर्वत्र ही आत्मा अज्ञान-विषय सिद्ध होता है। बाहरी विषयों से परिचीयमान चिदात्मा वही है जो सबका प्रत्यगात्मा है यह उपनिषदनुयायियों का सिद्धांत है, अतः प्रत्यग्रूप से आश्रय और पराग्रूप से विषय बनता हुआ है आत्मा एक ही।।२५८।। सभी अज्ञानों का आश्रय निजात्मा है इस बारे में वादियों में कोई विवाद है नहीं, विषय के बारे में विवाद पूर्वोक्त विचार द्वारा मिट गया, इसलिये यह सिद्धांत स्थिर है कि निरज्ञान चिदानंदरूप आत्मा ही अविद्या का आश्रय और विषय है।।२५९-६०।। इस प्रकार आत्मा अविद्या को दो तरह परतंत्र रखता है—उसका विषय बनकर और उसका आश्रय बनकर।

किं च जड होने से भी अविद्या स्वतंत्र हो नहीं सकती।।२६१।। चेतन से अधिष्ठित हुए बिना रथादि जड पदार्थ स्वतंत्रता से कभी प्रवृत्त नहीं होते, उनकी क्रिया गाय, घोड़े आदि किसी चेतन के संबंध से ही होती है। 'अन्य की अपेक्षा से क्रिया वाला होना' इस विशेषता से सभी जड परतंत्र ही होता है। अविद्या भी जड है तो स्वतंत्र कैसे हो सकती है!।।२६२-३।।

अस्वतन्त्रा तथाऽसिद्धा सत्तालेशविवर्जिता। मोहयत्येनमात्मानमसङ्गं निर्गुणं परम्।।२६५

पुराणं पुरुषं सेयं सा सतीवाऽभवत् सदा। चिदानन्दात्मसम्मोहात् स्वतन्त्रा सिद्धतां गता।।२६६

अज्ञानस्यात्ममोहकता

अज्ञो दुःखीति बोधोऽयं यस्मादस्मिन् हि दृश्यते। स हि कार्यं विना केन कारणेन भविष्यति।।२६७

कारणं चाऽस्य नैवान्यद् अविद्यायाश्च लभ्यते। वस्तुतः स्वप्रकाशोऽयम् आनन्दात्मा कथं भवेत्।।

अज्ञो दुःखीति च ततो मायेयं परिकल्प्यते।।२६८

कल्प्यमाना तु सा तत्र नीचवद् बलसंश्रया। तिरस्कृत्याश्रयं स्वस्य स्वयमेवावतिष्ठते।।२६९

चिदानन्दात्मरूपो य आत्मा पुंसोऽप्यसत्समः। मायाया वैभवात् नित्यं पश्यतो जगदीशितुः।।२७०।।

कथं तर्हि तस्याः सिद्धत्वादिकमप्युक्तमित्याकांक्षायां, व्यापकाभावेन असत्त्वादेरभावमाह—अस्वतन्त्रेति। कार्यानारम्भकत्वम् असत्त्वव्यापकं तस्य अस्यां पुरुषव्यामोहं कुर्वत्याम् अभावाद् इयं सती जाता। एवम् असत्त्वाऽभावे तद्व्याप्यस्य असिद्धत्वस्य अभावः, ततश्च अस्वतन्त्रत्वस्य अभावाद् इयं सिद्धा स्वतन्त्रा च विज्ञाता। इति द्वयोरर्थः।।२६५-६।।

अनया कृतमात्मनो व्यामोहमभिनयति—अज्ञ इति त्रयोदशभिः। यः अयम् 'अहम् अज्ञो दुःखी' इति-आकारो बोधो दृश्यते स आगन्तुकत्वात् कार्यभूतः[1] कारणेन विना कथं स्याद्? इत्यर्थः।।२६७।। कारणं चेति। अस्य बोधस्य कार्यस्य असम्भवतः कारणम् अविद्याम् अघटितघटनापटीयसीं विनाऽन्यन्न सम्भवति यतो वस्तुतः स्वप्रकाशानन्दरूपेऽयं बोधो न सम्भवति ततः परिशेषाद् इयम् अविद्यारूपा माया एव कल्प्यत इत्यर्थः।।२६८।। सा च कल्पिता सती 'आदृतो नीचः शिरस्यधिरोहति' इति न्यायेन सा स्वाश्रयं तिरस्कृत्य स्वयमेव अवतिष्ठते विलसति इत्याह—कल्प्यमानेति।।२६९।। आश्रयतिरस्कारमेव अभिनयति—चिदानन्देति। जगदीशितुः सर्वाधिष्ठातुः अस्य पुंसः पश्यतोऽपि भासमानानन्दरूपः सर्वान्तिररूपश्च आत्मा मायायाः प्रभावाद् असत्समः जात इत्यर्थः।।२७०।।

अस्वतंत्र होने से ही उसे असिद्ध भी कहते हैं। शशशृंग आदि असत् कहलाने वालों की असिद्धि अर्थात् असत्ता ही देखी गयी है अतः माया की भी असत्ता ही निश्चित होती है।।२६४।।

अस्वतंत्र, असिद्ध, सत्ता के लेश से भी रहित होते हुए भी इस असंग, निर्गुण, परम, पुरातन, पुरुष को यह मोह में डाले हुए है जिससे यह मानो सत् हो गयी है, चिदानंदरूप आत्मा को सम्मुग्ध करने से ही यह स्वतंत्र और सिद्ध भी हो गयी है। (असत् कहलाने वाले शशशृगं आदि कुछ करते नहीं जबकि अविद्या पुरुष को व्यामुग्ध कर रही है अतः इसे केवल असत् कहना नहीं बनता तथा जो असत् नहीं होता वह सिद्ध और स्वतंत्र भी होता है अतः अज्ञान को केवल असिद्ध-परतंत्र भी नहीं कह सकते। इसलिये इसे इन सब परिधियों से विलक्षण मिथ्या कहा जाता है।)।।२६५-६।।

आत्मा पर व्यामोहरूप अविद्याफल अवश्य है। 'मैं अज्ञानी, दुःखी हूँ' यह अनुभव आत्मा में अपरोक्ष है। यह अनुभव कार्य है, आगंतुक है, तो कारण के बिना क्योंकर होगा! अविद्या से अन्य इस अनुभव का कोई कारण उपलब्ध नहीं होता। स्वप्रकाश आनंदरूप अपरोक्ष आत्मा वास्तव में अज्ञानी और दुःखी कैसे हो सकता है! अतः उक्त

---

१. 'यावद्विकारं तु' (२.३.७) इत्यादिन्यायादज्ञानदुःखयोस्स्वात्मनः परस्परं च विभागदर्शनाद्विकारता। न चाज्ञानानादिताविरोधः, अज्ञोहमित्याकारकबोधस्यैव कार्यत्वोक्तेः। अज्ञानस्यापि कल्पितत्वेन अधिष्ठानकार्यत्वौचित्याच्च, अनादित्वस्य अधिष्ठानेतर-कारणाभावपरत्वाङ्गी कारात्।

विलासिन्या विलासोऽयं प्रथमः परिकीर्तितः। अहो! पश्यन्तमात्माऽयमात्मानं विस्मृतः परः।।२७१
एनं पश्यंस्ततः पश्येद् विलासान् अपरानपि। जातो बालो युवा वृद्धो मृतो दुःखी सुखी तथा।।२७२
स्वर्गी च नरकी चास्मि तथा स्त्रीपुंनपुंसकः। पापी धर्मी चैवमादि बहु दुःखमनेकधा।।२७३
तस्य सम्बन्धतश्चाऽभूद् ममताऽऽसक्तचेतनः। पितृमात्रादिरूपांस्तान् संसारपरिरक्षिणः।।२७४
देहकारागृहं प्राप्तः कामक्रोधादिशृङ्खलः। प्रार्थनारक्ष्यमाणाङ्गो मूढो जन्मनि जन्मनि।।२७५
आनन्दात्मानमात्मानं स्वयंज्योतिषमद्वयम्। अपश्यन् दुःखमनिशं बहुकर्मसमुत्थितम्।।
प्राप्नुवन् याति संसारं विद्यमानोऽप्यसत्समः।।२७६
अतो माया विचित्रेयं दुर्घटा दुःखकारिणी। संसारविषवृक्षस्य जननी दुर्जया नृभिः।।२७७
अहमज्ञस्तथा दुःखी ब्राह्मणोऽहं महाकुलः। इत्यादि बहुमन्वानो निमज्जाति भवार्णवे।।२७८

विलासिन्या इति। इत्येषः असत्त्वापादनरूपः अत्यद्भुतश्च प्रथमो विलासः अस्या विलासिन्याः कथितो यत् पर आत्मा पश्यन्तं भासमानमपि आत्मानं विस्मृतो विस्मरन् जात इत्यर्थः।।२७१।। एनमिति। एनम् असत्त्वापादनरूपम् अस्या विलासं पश्यन्नन्यानपि विक्षेपरूपान् विलासान् पश्यति। तानभिनयति—जात इत्यादिना। धर्मीत्याद्यभिमानरूपं बहु दुःखं पश्येत्। तथा तस्य जातत्वाभिमानस्य सम्बन्धाद् योगाद् ममत्वाकुलो भवति। ततः पित्रादिरूपांस्तान् मायाविलासान् संसारस्थितिहेतून् पश्येत्। इति त्रयाणामर्थः।।२७२-४।। देहेति। ततश्च देहरूपं बन्धनागारं प्राप्तः कामादिरूपशृङ्खलाभिः बद्धश्च सन् प्रार्थनया 'मा न भूवम्' इत्याद्याकारया रक्ष्यमाणं तत्तदङ्गं शरीरं येन स तथाविधो मूढो नानाजन्मसु स्वरूपम् अपश्यन्, बहु दुःखं पश्यंश्च संसारे भ्रमति। इति द्वयोरर्थः।।२७५-६।। फलितमाह—अत इति। अतो विचित्रेयं माया संसारविषवृक्षजनकत्वाद् भृशं व्यामोहिका यत्प्रभावाद् अयं नानाविपर्ययैः आकुलः संसारे निमज्जति । इति द्वयोरर्थः।।२७७-८।।

अनुभव के उपपादनार्थ इस माया की ही कल्पना उचित है।।२६७-८।। जैसे नीच व्यक्ति अपने आश्रय का ही तिरस्कार करने लगता है वैसे आत्मा पर कल्पित होती हुई उसीके बल पर टिकी हुई यह माया अपने उस आश्रय को तिरोहित कर देती है और यों विलास करती है मानो यह खुद ही वर्तमान हो। सबका अधिष्ठाता अपरोक्ष पुरुष स्वप्रकाश आनंद और सर्वांतर है पर माया के प्रभाव से इसका स्वरूप असत्-तुल्य हो गया है।।२६९-७०।।

विलासिनी माया का अत्यंत अद्भुत और पहला विलास (प्रभाव, कार्य) यह असत्त्वापादन है कि पारमार्थिक आत्मा अपने भासमान स्वरूप को ही मानो भूला बैठा है।।२७१।। असत्त्वापादनरूप इस विलास को देखते हुए ही फिर अन्य विक्षेपरूप विलासों को आत्मा देखता है—मैं पैदा हुआ, बालक-युवा-वृद्ध हुआ, मरा, दुःखी-सुखी हुआ, स्वर्ग गया, नरक गया, स्त्री-पुरुष-नपुंसक हुआ, पापी हुआ, पुण्यात्मा बना इत्यादि। अनेक प्रकार के सभी अभिमान अत्यंत दुःखात्मक ही हैं। 'पैदा हुआ' इत्यादि अभिमान हो जाने पर आत्मा ममता से आकुल हो जाता है, उसका चित्त अनात्मवर्ग में आसक्त हो जाता है। तब यह पिता-माता आदि उन मायाविलासों को ही देखता रहता है जो इस संसार को बनाये रखने में ही आग्रही हैं।।२७२-४।। अज्ञानवश ही आत्मा शरीररूप जेल में कैद होता है जहाँ काम-क्रोध आदि ही इसकी बेड़ियाँ है। 'मैं अशरीर न हो जाऊँ, हमेशा सशरीर बना रहूँ' इस प्रार्थना से इच्छा या अभिनिवेश से यह मूढ हर जन्म में अपने शरीर की रक्षा में ही संलग्न रहता है। स्वप्रभ अद्वैत आनंदरूप आत्मा के ज्ञान से वंचित रहकर यह लगातार उन दुःखों को भोगता रहता है जो इसके किये बहुतेरे कर्मों के फलस्वरूप उपलब्ध होते ही रहते हैं। यों विद्यमान होते हुए भी असत् जैसा हुआ आत्मा संसार में भटकता रहता है।।२७५-६।।

अविद्या बीजोपमा

बीजाभूता हि सा प्रोक्ता वासनाकोटिगर्भिणी। पटवद्याति सङ्कोचं विकासं च दिने दिने।।२७९
सुषुप्तौ चाऽपि मूर्च्छायां मरणेऽपि महालये। सङ्कोचमुपयात्येषा विकासं वा परत्र हि।।२८०
विकासैर्दुःखमायाति तस्या एष पुमानिह। स्वप्ने जागरणे नित्यं देहे देहेऽवशः पुमान्।।२८१
क्षीणे कर्मणि सङ्कोचं श्रान्तः पक्षीव नीडगः। श्रमं सर्वं परित्यज्य शेतेऽज्ञानविमोहितः।।
मायाबीज इतो भूयो याति दुःखं स दारुणम्।।२८२
एवमेषाऽत्र संसारहेतुरुक्ता मनीषिभिः। अविद्या दुर्घटा नित्यं दृश्यते या शरीरिभिः।।२८३

अथ अस्या वटबीजादिवद् व्यवस्थां श्रुत्युक्तां[1] वर्णयितुमस्याः संसारवृक्षस्य बीजतां परिणामशीलतां चाह—बीजभूता हीति। सा अविद्या संसारवृक्षस्य बीजस्थानीया, वासनानां ज्ञानकर्मसंस्काराणां कोटिभिर्गर्भिणी गर्भवती तथा पटादिवत्[2] सङ्कोचविकासशीलेत्यर्थः।।२७९।।

अस्याः सङ्कोचादिकालानाह—सुषुप्ताविति। सुषुप्तिमूर्च्छामरणप्रलयेषु अस्याः सङ्कोचः, परत्र उक्तेतरकालेषु तु विकास इत्यर्थः।।२८०।। तत्र विलासोऽस्याः पुंसो नितान्तं दुःखद इत्याह—विकासैरिति। देहे देहे नाना देहेषु नित्यं प्रतिदिनम् अयं पुमान् अवशः परतन्त्रः सन् विलासैरस्या दुःखितो भवतीति।।२८१।। सङ्कोचकाले च नीडलीनपक्षिवत् पूर्वश्रमपरित्यागेऽपि भाविदुःखबीजसंपर्कात् दुःखीति व्यवह्रियत इत्याह—क्षीण इति। कर्मणि जाग्रदादिभोगप्रदे क्षीणे सति सा सङ्कोचं याति। तदा च श्रान्तो जीवः श्रमं परित्यज्य यद्यपि शेते तथापि यतोऽज्ञानमोहितो मायारूपे बीजे इतः प्राप्तस्ततो दुःखं याति इत्यर्थः।।२८२।। एवमिति। एवम् उक्तरूपसङ्कोचविकासाभ्याम् एषाऽविद्या संसारस्य हेतुः या शरीरिणामनुभवसिद्धा दुर्घटा चेति।।२८३।।

इसलिये दुःखकारिणी यह माया विचित्र है, जो कुछ न हो सके वही कर दिखाने वाली है। संसाररूप जहर के पेड़ की यह माया ही जननी है। जीव इस पर विजय पा सके यह अतीव कठिन है। 'मैं अज्ञानी, दुःखी, ब्राह्मण, महान् कुल वाला' इत्यादि बहुतेरे अभिमानों के बोझ से जीव जो भवसागर में डूबता रहता है वह इस मोहिनी का ही प्रभाव है।।२७७-८।। करोड़ों संस्कार अपने में छिपाये यह माया ही संसारविषवृक्ष का बीज है। जैसे कपड़ा बिछा दिया जाता है और सिमेट दिया जाता है ऐसे यह माया भी प्रतिदिन फैलती और संकुचित होती है। (कपड़े में चित्र बना हो तो फैलाने पर वह चित्र स्पष्ट दीखता है, सिमेट देने पर पता ही नहीं चलता कि वहाँ चित्र है, पुनः फैला दें तो नये व्यक्ति को लगता है कि अभी ही यह चित्र बना, और सिमटा पड़ा हो तो नया आदमी सोचता है कि वह चित्र नष्ट हो गया। यह सब होते हुए भी चित्र उस कपड़े में एक-सा हमेशा है और उस कपड़े से सर्वथा अलग चित्र का कोई अस्तित्व नहीं है। यही अविद्या की स्थिति है; सारे कार्य इसमें हैं, कभी स्पष्ट उपलब्ध होते हैं तो कभी विलीन प्रतीत होते हैं अतः अविद्या मानो कपड़ा है, कार्योपलब्धि इसका फैलना और कार्यों की अनुपलब्धि इसका सिमट जाना है।)।।२७९।।

गहरी नींद, बेहोशी, मृत्यु और प्रलय—इन अवस्थाओं में अविद्या सिमट जाती है व अन्य अवस्थाओं में फैल जाती है।।२८०।। उसके विलासों (कार्यों) से यह पुरुष संसार में दुःख ही पाता है। हर शरीर में मानो कैद हुआ पुरुष बेबस होकर रोज स्वप्न-जाग्रत् अवस्थाओं में आता ही है और उनमें आते ही अविद्या अपना फैलाव दिखाकर उसे पीडित करती ही है।।२८१।। घोंसले में सोये पक्षी की तरह जीव जब अविद्या की सिमटी अवस्था का दर्शक बनता है तब पहले के श्रम से आराम भले ही मिल जाये पर भविष्य के दुःखों के बीज वहाँ पड़े ही रहते हैं अतः तब भी जीव को दुःख-संबद्ध ही समझना चाहिये। जाग्रत्-स्वप्न में फल देने वाले प्रारब्ध कर्म जब कुछ देर के लिये समाप्त

---

१. 'सैषा वटबीजसामान्यवदनेकवटशक्तिरेकैव तद्यथा वटबीजसामान्यमेकमनेकान् स्वाऽव्यतिरिक्तान् वटान् सबीजान् उत्पाद्य तत्र तत्र पूर्णं सत्तिष्ठति एवमेवैषा माया स्वाऽव्यतिरिक्तानि परिपूर्णानि क्षेत्राणि दर्शयित्वा जीवेशावाभासेन करोति।' (तत्रैव)।
२. आरंभणाधिकरणे 'पटवच्च' इति सूत्रम् (२.१.१९) ततश्चाऽविद्यातत्कार्ययोरन्यताऽभावसिद्धिः।

आनन्दात्मा तथाऽविद्या हेतू संसारमोक्षयोः। अतत्त्वतत्त्वरूपाभ्यां विज्ञातौ सर्वदेहिनाम्।।२८४
अप्रतीतिश्च संसारे विप्रतीतिश्च वा भवेत्। आत्मनोऽपि च मायाया मोक्ष एवं हि सा भवेत्।।२८५
एकैवेयमविद्याख्या मायेत्यपि च कीर्तिता। विभिन्नाऽपि विभात्यत्र वटधाना यथा नृणाम्।।२८६
वटधानासु सर्वासु हेतुः सामान्यमीरितम्। वटानां न तु ता धानास्तासां नाशस्य दर्शनात्।।२८७
हेतुर्यथाऽत्र सामान्यं वटधानासु कीर्तितम्। तथा कार्यौघसामान्ये हेतुर्मायेति कीर्तिता।।२८८

यथा चेयं विलसन्ती संसारहेतुस्तथाऽऽत्मा स्वरूपेण विलसन्[1] मोक्षहेतुरित्याह—आनन्दात्मेति। तत्त्वं परमार्थः तद्रूपतया विज्ञातः प्रसिद्ध आनन्दात्मा मोक्षस्य हेतुः। असत्यमनृतं तन्मय्यविद्या च संसारस्य हेतुः। तत्र संसार आत्मनः स्वरूपस्य अप्रतीतिः विपरीता प्रतीतिर्वा सर्वेषां भवति। एवं मोक्षे मायायाः सा अप्रतीतिः भवेद् इति द्वयोरर्थः।।२८४-५।।

नन्वेकस्या मायायाः कथं नानाप्रमातृव्यवहारनिर्वाहकत्वम् ? इत्याशङ्क्य; तस्या एकत्वं नानात्वं च वटबीजदृष्टान्तेन आह—एकैवेयमिति। इयं मायाऽविद्यासंज्ञा विविधं भिन्नाऽपि भाति वटधानावत्।।२८६।। दृष्टान्तं स्फुटयति—वटेति। यथा वटस्य धानासु बीजेषु अनुगतं यत् सामान्यं जातिरूपं तदेव वटानां हेतुः कारणं, ता धाना व्यक्तयस्तु न सर्वत्र हेतुतायोग्या, नाशादिशालित्वेन अननुगमाद् इत्यर्थः।।२८७।। दार्ष्टान्तिके योजयति—हेतुरिति। यथा वटधानागता जातिः सर्ववटानां हेतुः तथा सर्वेषां कार्याणां कारणेषु अनुगतं सामान्यं मायेति उच्यत इत्यर्थः।।२८८।।

हो जाते हैं तब उतनी देर तक माया सिमटी रहती है और जीव सो जाता है। (जाग्रत्-स्वप्न में फलद न होकर भी यदि दुःखफलक कर्म कार्यकारी होते हैं तो मूर्छा आ जाती है। एक शरीर में भोग्य और फल देने वाले कर्म न बचें तब मृत्यु हो जाती है और समष्टि स्तर पर मृत्यु हो तो प्रलय होती है। इन सभी में जीव के संमुख मायाविलास न होने पर भी दुःखबीज संस्कार रहते ही हैं।) अखण्डसाक्षात्कार के बिना जीव सदा अज्ञान से विमोहित ही रहता है चाहे जाग्रत्-स्वप्न में रहे या सुषुप्ति आदि में अतः अज्ञदशा में वह सोते समय भी दुःखों के बीज-सी माया में ही रहकर जब मायाविलास का दर्शक बनता है तब पुनः दारुण दुःख भोगता है।।२८२।। मनीषिओं ने पूर्वोक्त संकोच-विकास द्वारा अविद्या संसार का हेतु है ऐसा समझाया है। अकल्पनीय प्रभाव वाली यह अविद्या सबको हमेशा स्वानुभवसिद्ध है।।२८३।।

आनंदात्मा की तात्त्विकता न समझी जाये तो वह संसारहेतु होता है और उसकी वास्तविकता समझें तो वही मोक्षहेतु होता है। अविद्या भी जैसी नहीं है वैसी सत्य समझी जाये तभी तक वह संसारहेतु रहती है। वह जैसी मिथ्या है वैसा उसे समझ लें तो वही मोक्षहेतु हो जाती है। यों आत्मा व अविद्या दोनों ही संसार व मोक्ष दोनों के हेतु हैं। संसारदशा में सभी को आत्मा का व्यापक स्वरूप अप्रतीत रहता है और जैसा आत्मा नहीं है वैसा प्रतीत होता रहता है। माया का भी मिथ्यात्व संसारदशा में प्रतीत नहीं होता वरन् वह सत्य लगती है और मोक्ष होने पर उसका सत्यत्व प्रतीत नहीं होता। विदेहदशा में तो स्वयं माया भी प्रतीत नहीं हो पाती।।२८४-५।।

अविद्या एक ही रहकर अनंत प्रमाताओं के व्यवहारों का निर्वाह कर लेती है। माया, अज्ञान, प्रकृति, अव्यक्त आदि बहुत से नामों द्वारा शास्त्रों में यह अविद्या व्यवहृत है। संसार में जैसे लोगों को वटबीज विभिन्न लगते हैं ऐसे अविद्या भी विभिन्न प्रतीत होती है।।२८६।। वटवृक्षों का कारण तो वह 'सामान्य' है जो सब वटबीजों में अनुस्यूत है, प्रत्येक बीज-व्यक्ति को कारण नहीं मान सकते क्योंकि उनका नाश प्रत्यक्ष है। (जहाँ भी कार्य हो वहाँ नियमतः पूर्ववृत्ति वस्तु कारण मानी जाती है। प्रत्येक बीज तो सर्वत्र वट के कारणरूप से मौजूद हो नहीं सकता अतः जहाँ भी वट पैदा हो वहाँ रहने वाला कोई निश्चित बीजव्यक्ति नहीं होने से किसी बीज-व्यक्ति को वटकारण

---

1. अखण्डवृत्त्याऽनावृतः। तथा च नाऽविद्यामोक्षहेतुः साङ्ख्यप्रसिद्धप्रकृतिवदित्यनुसन्धेयम्।

वटधानासु नष्टासु सामान्यं न विनश्यति। यथा तथैव मायेयं कार्यनाशे न नश्यति।।२८९
वटधानागता जातिर्वटधानाविभेदतः। विभिन्ना मीयते यद्वत्तद्वन्माया प्रकीर्तिता।।
नाना संस्कारभेदेन भिन्ना विश्वस्य कारणम्।।२९०
वटधाना यथा नाशं वटोत्पत्तौ व्रजन्ति हि। संस्कारा अपि मायायाः कार्योत्पत्तौ तथैव ते।।२९१
वटधाना यथैवैका वटोत्पादादनेकधा। कोटिकोटिगुणा भूत्वा पुनरेका विजायते।।२९२

दृष्टान्तेन साधर्म्यान्तराणि वर्णयति—वटधानास्विति। यथा वटधानाव्यक्तिषु नष्टासु अपि तद्गता जातिरविनाशिनी, तथा कार्याणां सुप्त्यादौ नाशेऽपि तत्कारणसामान्यरूपा माया न विनश्यतीत्यर्थः।।२८९।। वटधानागतेति। यथा च सा वटधानागता जातिः तत्तद्वटविशेषप्रयोजिकानां तत्तद्धानानां विभेदं विशेषं स्वावच्छेदकम् आश्रित्य विभिन्ना भिन्नभिन्नकार्यकरी भवति तथा मायाऽपि तत्तत्कार्याणां ये ये संस्काराः सूक्ष्मावस्थारूपाः तान् अवच्छेदकतयाऽऽश्रित्य नाना विश्वस्य कारणं भवतीत्यर्थः।।२९०।।

यथा च वटधानासामान्यस्य अविनाशेऽपि वटधानाव्यक्तीनां तत्तद्वटोत्पत्तौ नाशः तथा मायाया अविनाशेऽपि तत्तत्संस्काराणां तत्तत्कार्योत्पत्तौ विनाश इत्याह—वटधाना यथेति।।२९१।। वटधाना यथैवैकेति। यथा च एकाऽपि वटधाना वटरूपेण परिणम्य फलितात् ततो वटाद् अनेकधा वारं वारं प्रतिवसन्तमृतुं कोटिकोटिगुणाऽपरिमेयव्यक्तिका सती विजायते उत्पद्यते। ताश्च बीजव्यक्तयः प्रत्येकं वटजननक्षमा इत्याह—पुनरेकेति।'तासु वटोत्पन्नधानाव्यक्तिषु एकाऽपि पुनः एवं वटोत्पादनद्वारा कोटिगुणत्वेन जायत इत्यर्थः।।२९२।। दार्ष्टान्तिके योजयति—कार्योत्पत्ताविति। तथा सामान्यरूपा मायाऽपि स्वव्यक्तिभूतैः संस्काराख्यैः

नहीं कह सकते। बीजसामान्य अर्थात् सब वटबीजों में अनुगत समानता उस हर स्थल पर मिल जाती है जहाँ वट पैदा होता है क्योंकि वट पैदा हो इसके लिये वहाँ बीज होगा ही और बीज में बीजसामान्य अवश्य होगा। सब वटबीजों में वटबीजसामान्य एक ही है अतः वह समस्त वटों के प्रति अनुगत कारण माना जा सकता है।) यों वटकारण है तो वटबीजसामान्य जो एक ही है किंतु लोगों को तत्तद् बीजव्यक्ति कारण प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार समस्त कार्यों के प्रति हेतु एक माया ही है। (अर्थात् सर्वत्र कार्यपूर्व उपस्थिति अन्य किसी की नहीं मिलती, माया की ही मिलती है अतः कार्यमात्र के प्रति माया ही कारण है परंतु जैसे किसी-न-किसी विशेष पर आरूढ ही सामान्य मिलने से विशेष में कारणबुद्धि हो जाती है वैसे जिस कार्याकार में माया उपलब्ध हो उस कार्याकार को ही लोग कारण मान बैठते हैं। अतः जैसे एक बीजसामान्य अनंत वृक्षों का हेतु हो जाता है वैसे एक ही अविद्या अनंत प्रमाताओं के व्यवहार निभा देती है।)।।२८७-८।। प्रत्येक वटबीज नष्ट होने पर भी जैसे बीजसामान्य नष्ट नहीं होता वैसे सुषुप्ति आदि में कार्यों का नाश (अदर्शन) होने पर भी उनकी कारणभूत सामान्यरूप माया नष्ट नहीं होती।।२८९।। वटबीजों में अनुगत सामान्य वटबीजों के भेदानुसार भिन्न-भिन्न वृक्षरूप कार्यों का उत्पादक जैसे समझा जाता है वेसे ही विभिन्न कार्यों के संस्कारों के भेद के अनुसार माया भी विभिन्न संसार का कारण बन जाती है। (सामान्य को कार्योत्पादनार्थ जैसे विशेष का सहारा चाहिये वैसे माया को संस्कारों का। कार्य की ही सूक्ष्म अवस्था को संस्कार कहते हैं। जो सूक्ष्म रूप से है उसीको माया स्थूल बनाती है।)।।२९०।। वटवृक्ष पैदा होने पर जैसे उसका हेतुभूत संस्कार नष्ट हो जाता है वैसे ही माया से कार्य उत्पन्न होने पर उसके हेतुभूत संस्कार नष्ट हो जाते हैं। (अतः जैसे वही वृक्ष पुनः नहीं उत्पन्न होता वैसे वही कार्य पुनः नहीं उत्पन्न होता और जैसे सामान्यरूप कारण अविनष्ट रहता है वैसे माया बनी ही रहती है।)।।२९१।। एक ही वटबीज वटवृक्ष के रूप में विकसित होकर उस वृक्ष के फलने पर अनंत वटबीजों के रूप में उत्पन्न हो जाता है। (वट हर वसंत में फलेगा तो असंख्य फल लगेंगे और हरेक फल में असंख्य बीज होंगे तथा उनमें प्रत्येक बीज यदि वृक्षाकार में विकसित किया जाये तो असंख्य वृक्ष होकर हरेक वृक्ष से पुनः असंख्य बीज बन जायेंगे; यह सारा विस्तार है तो उस एक बीज का ही !)।।२९२।।

कार्योत्पत्तौ तथा माया विश्वोत्पादादनेकधा। विजायते पुनश्चैका ततोऽनन्तो भवार्णवः।।२६३

त्रिविधकार्यनिरूपितसंस्काराः

संस्कारा विविधा एते मायाया ये प्रकीर्तिताः। चातुर्विध्यं च संक्षेपात् तेषु प्रोक्तं मनीषिभिः।।
देहेन्द्रियक्रियाभोगहेतवोऽत्र चतुर्विधाः।।२६४

अनादाविह संसारे बीजांकुरसमा स्थितिः। कारणत्वे सदा तेषां नैव किञ्चिद्व्यवस्थितम्।।२६५

वर्तते त्रिविधाः प्रोक्ता उत्तमाधममध्यमाः। चतुर्विधेषु भूतेषु नानाभेदेषु सर्वदा।।२६६

तत्तज्जातीयजन्तूनां मध्ये सर्वत्र संस्थितम्। त्रैविध्यं नैव केनाऽपि शक्यं वक्तुं कदाचन।।
आनन्त्याद् ब्राह्मणेष्वेतदुदाहृत्य प्रदर्श्यते।।२६७

भूदेवः पुण्यपापाभ्यां समाभ्यां प्रायशो भुवि। जायते सर्व एवाऽयं सुखदुःखोपभोगवान्।।२६८

रूपैः अनेकधा विजायते। कुतः ? कार्योत्पत्तौ विश्वोत्पादात्; एकस्य कार्यस्य उत्पत्तौ ततो विश्वस्य नाना-विधकार्यजातस्य उत्पादात् संतानात् तासु च नवोत्पन्नव्यक्तिषु एका व्यक्तिः पुनः एवं जायते, ततः संसारस्य आनन्त्यं फलितम् इत्यर्थः।।२६३।।

सामान्यस्थानीयाया मायाया व्यक्तिस्थानीयान् संस्कारान् अनन्तानपि राशिचतुष्टयेऽवस्थापयति—संस्कारा इति। मायायाः सामान्यरूपाया विशेषभूता ये संस्काराः ते चतुर्विधाः तत्कार्याणां देहत्वेन्द्रियत्वक्रियात्वभोगत्वरूपैश्चतु-र्विधत्वाद् इत्यर्थः।।२६४।। एतेषां संस्काराणां तत्कार्याणां च व्यक्त्यानन्त्यं प्रवाहरूपेण दर्शयति—अनादाविति। एतेषां संस्काराणां तत्कार्यभूतदेहादीनां च परस्परस्य कारणत्वे स्थितिः अवस्थानं बीजांकुरवज्ज्ञेयं यत एतेषां संस्काराणां तत्कार्याणां च मध्ये किञ्चिद् अपि व्यवस्थितं स्थिरं न वर्तत इत्यर्थः।।२६५।।

तत्र कार्याणां भेदान् उपलक्षयितुं श्रुत्युक्तं[1] त्रैविध्यमाह—वर्तत इति। प्रथमपदं पूर्वान्वयि दर्शितम्। जरायुजत्वादिना चतुर्विधेषु प्राणिभेदेषु अवान्तरभेदैः नानाविधेष्वपि एते देहेन्द्रियक्रियाभोगाः प्रत्येकम् उत्तमत्वादिना त्रिविधा इत्यर्थः।।२६६।। तत्र सर्वजन्तुषु उदाहृत्य दर्शयितुमशक्यत्वाद् ब्राह्मणजातौ उदाहृत्य प्रतिपाद्यत इत्याह—तत्तज्जातीयेति।।२६७।। त्रैविध्ययोग्यतां तावद् ब्राह्मणस्याह—भूदेव इति। भूलोके जातत्वात् सुखदुःखोभयोपभोगशालित्वाच्च भूदेवाऽऽख्या ब्राह्मणजातिः अपि पुण्यपापोभयारब्धेत्यर्थः।।२६८।।

इसी प्रकार प्रत्येक कार्य द्वारा अनंत कार्य पैदा हो जाने से एक माया ही अनंत तरह की होती रहती है जिससे भवसागर अथाह बना रहता है। (सामान्य की जगह माया है, बीज की जगह संस्कार हैं। एक बीज से एक वृक्ष की तरह एक संस्कार से एक कार्य पैदा होता है। लेकिन जैसे एक वृक्ष अनंत बीज बना देता है वैसे हर-एक कार्य अनंत संस्कार बना देता है जिनसे पुनः अनंत कार्य हो जाते हैं। यों संसार-प्रवाह कभी समाप्त नहीं हो पाता।)।।२६३।।

माया में जो ये विविध संस्कार हैं उन्हें संक्षेप में समझने के लिये मनीषियों ने उन्हें चार प्रकारों में बाँटा है : देहहेतु, इन्द्रियहेतु, क्रियाहेतु और भोगहेतु।।२६४।। इन संस्कारों व इनके कार्य देहादि में परस्पर कार्यकारणता बीजांकुर की तरह है। (एक बीज से एक अंकुर पैदा होता है, आगे उस अंकुर से अनंत बीज पैदा होते हैं जिनमें प्रत्येक से पुनः अंकुर पैदा हो जाते हैं। वही बीज या अंकुर दोबारा नहीं पैदा होता पर कोई-न-कोई अंकुर-बीज पैदा होते ही रहते हैं। इसी तरह संस्कार व कार्यों में समझना चाहिये।) अतः यह संसारप्रवाह अनादि है जबकि इसमें कोई व्यक्ति सर्वकालस्थायी नहीं है ।।।२६५।।

---

१. '....स्वयं गुणभिन्नांऽकुरेष्वपि गुणभिन्ना' (तत्रैव)। स्वयं कार्यतश्च सत्त्वरजस्तमआत्मिकेत्यर्थः।

देहस्य तत्र विज्ञेयमुत्तमत्वमनेकधा। पितृतो मातृतस्तद्वद् आचार्याच्च महात्मनः।।२९९
वीर्ययोः परिपाकाच्च कालनिर्गमनादपि। रूपलावण्यशीलाद्यैर्गुणैर्योगाच्च सर्वदा।।३००
उपलब्धेश्च वैशद्यात् संस्थानाच्चापि मानतः। उत्तमत्वं सदैवैतद् इन्द्रियाणां प्रकीर्तितम्।।३०१
कर्मणामुत्तमत्वं स्याद् मेलनात् प्रज्ञयाऽपि च। विहितानामनुष्ठानाद् निषिद्धानां च वर्जनात्।।३०२
भोगानामुत्तमत्वं स्यात् पित्रादेश्च सुशीलतः। विद्यायोगात् ततस्त्वेषाम् आधिव्याधिविवर्जनात्।।
पुण्यस्य संचयाच्चाऽपि तथा स्वस्याऽपि बुद्धितः।।३०३

देहस्येति। तत्र ब्राह्मणजातावपि उत्तमत्वम् अनेकनिमित्तप्रयुक्तम्। तथा हि—पित्रादेः कुलविद्यातपःप्रभृतिभिः उत्कर्षात् पुत्रादेरुत्तमत्वम्। तथा वीर्ययोः मातापित्रंशयोः अवस्थाविशेषेण परिपाकात्, गर्भात् कालपरिपूर्त्या निर्गमनात्। रूपं गौरत्वं, लावण्यं चाकचक्यं, शीलं सदाचारः, आदिपदेन सल्लक्षणग्रहः। एतैर्गुणैश्च देहस्योत्तमत्वम्। इति द्वयोरर्थः।।२९९-३००।।

इन्द्रियाणामुत्तमत्वमाह—उपलब्धेश्चेति। उपलब्धिः विषयग्रहणं तत्र वैशद्यात् स्फुटत्वात्। संस्थानं रचनाविशेषः तस्मात्। मानं विस्तारादिरूपं यथा नेत्रयोः कर्णान्तत्वं[1], ततश्च इन्द्रियोत्तमत्वमित्यर्थः।।३०१।। क्रियाया उत्तमत्वमाह—कर्मणामिति। प्रज्ञा देवताध्यानादिरूपा तया मेलनात्[2]। तथा विहितस्य करणाद्, निषिद्धपरिहाराच्च कर्मण उत्तमत्वमित्यर्थः।।३०२।।

भोगस्य तदाह—भोगानामिति। भोगानाम् उत्तमत्वं पितृमात्रादेर्विद्यमानत्वाद्, बान्धवानां स्वस्य च सुशीलत्वात्, तदुपयुक्तविद्यानां योगाद्, एषां बान्धवानां ततो विद्याबलेन मानसशरीरपीडयोरभावात्, स्वस्य च तथात्वं कैमुत्येन दर्शितम्, पुण्यसञ्चयाऽविरोधात्, स्वकीयबुद्धिकौशलाच्च बोध्यमित्यर्थः।।३०३।।

जरायुज आदि भेद से प्राणी चार प्रकार के हैं और हर प्रकार में अवांतर भेदों की दृष्टि से अनंत प्रकार के हैं। उनमें प्रत्येक प्राणी के देह-इन्द्रिय-क्रिया-भोग तीन तरह के होते हैं—उत्तम, मध्यम और अधम।।२९६।। यों वे भेद अनंत होने से कोई कभी उन्हें पूर्णतः बता नहीं सकता। समझाने के लिये ब्राह्मणों में उपलब्ध भेदों का दिग्दर्शन करा देते हैं।।२९७।। सुख-दुःख का उपभोग करने वाले सभी ब्राह्मण पुण्य-पाप दोनों तरह के कर्मों के फलस्वरूप भूमि पर पैदा होते हैं। लगभग बराबर पुण्य व पाप फलीभूत हों तभी मनुष्य योनि मिलती है।।२९८।।

ब्राह्मण के भी शरीर की उत्तमता में अनेक निमित्त हो सकते हैं : पिता के कुल-विद्या-तप आदि के उत्कर्ष से पुत्र में उत्तमता होती है; माता व महान् आचार्य के भी कुलादि के उत्कर्ष से पुत्र या शिष्य में उत्तमता आती है। शुक्र-शोणित के परिपाक के तारतम्य से भी देह में उत्तमता होती है और गर्भविमोचन के काल पर भी जायमान देह की उत्तमता निर्भर करती है। सौंदर्य, लुनाई, आचार, सामुद्रिक लक्षण आदि गुणों के सम्बंध से भी देह की उत्तमता में अंतर आता है।।२९९-३००।। इंद्रियों की उत्तमता भी अनेक हेतुओं से संभव है : उपलब्धि की स्पष्टता से, गोलक की संरचना से, परिमाण से तथा ऐसे ही अन्य हेतुओं से इंद्रियाँ उत्तम होती हैं।।३०१।। कर्मों की उत्तमता में हेतु होते हैं उपासनासमुच्चय, विहित का अनुष्ठान, निषिद्धों का परिवर्जन आदि।।३०२।। भोगों की उत्तमता भी नानानिमित्तक समझनी चाहिये : माता-पिता आदि बुजुर्गों की छत्र-छाया में भोगे जायें तो भोग उत्तम हैं; जिनसे भोक्ता और उसके बांधवों का शील अच्छा रहे वे भोग उत्तम हैं; विद्यावृद्धि कराने वाले भोग उत्तम हैं; भोक्ता व उसके बांधवों को जिनसे दैहिक-मानसिक पीडा न हो वे भोग उत्तम हैं; पुण्य-संचय कराने वाले भोग उत्तम है; भोक्ता की बुद्धि में सूक्ष्मता लाने वाले भोग उत्तम हैं।।३०३।।

---

१. अस्य संस्थानेन गतार्थत्वाद् मानतो विषयक्षेत्रविस्तरानुसारमित्यर्थः। कश्चिद् दशदण्डदूरस्थितं पश्यति कश्चित्पंचदशदण्डदूरस्थमित्युत्तमतातारतम्यमित्यर्थः।

२. 'विद्यासंयुक्तं कर्माग्निहोत्रादिकं विद्याविहीनात् कर्मणोऽग्निहोत्राद् विशिष्टं, विद्वान् इव ब्राह्मणो विद्याविहीनाद् ब्राह्मणात्' इति सूत्रभाष्यम् ४.१.१८।

आचार्यपितृमात्रादेः केचिद् भोगस्य हेतुताम्। मन्यन्ते चोभयस्याऽपि केचिदिच्छन्ति सद्धियः।।३०४

देहादावुत्तमत्वे ये हेतवः परिकीर्तिताः। तेषामभावे केषाञ्चिद् मध्यमत्वं प्रकीर्तितम्।
सर्वेषां वैपरीत्ये स्याद् अधमत्वमसंशयम्।।३०५

देहेन्द्रियक्रियाभोगा एवं ते त्रिविधाः स्मृताः। एकाशीत्यादयस्तु स्युः भेदाः सूक्ष्मा अनेकधा।
एतेषामुत्तमत्वादावानन्त्यात्ते न चेरिताः।।३०६

आचार्येति। आचार्यादयः सर्वे सम्बन्धिनोऽस्य जन्तोर्भोगहेतव इति केचिद् आहुः। सद्धियः तु उभयस्य दम्पत्यादिरूपस्य युगलस्य परस्परं भोगहेतुतां वदन्ति श्रुत्यनुसारात्, तथा च श्रुतिः 'न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति, न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवति' (बृ. २.४.५) इति दम्पत्योरेव प्रसक्तं भोगहेतुत्वं निराकरोद्, न पित्रादाविति भावः। अथवा एकलस्य भोगो न सम्भवतीत्युभयमपेक्षितमित्यत्र तेषां तात्पर्यमिति। अथ वाऽऽचार्यादयः शिष्यादीनां भोगहेतवः तददृष्टारब्धा इति केचिद् वदन्ति। केचित्तु सद्धिय उभयस्य गुरुशिष्यरूपस्य पितृपुत्रादिरूपस्य वा परस्परम् उपकारकत्वदर्शनाद् उभयं परस्परं भोगहेतुरिति वदन्तीत्यर्थः। वस्तुतस्तु आचार्यप्रभृतयो भोगहेतव इतिकेषाञ्चिद् आपातदर्शिनां मतम्। सद्धियस्तु तेषामुभयं धर्मार्थरूपं प्रति हेतुतां वदन्तीत्यर्थः। आचार्यादयो हि सदुपदेशादिना धर्मं, विद्यारूपं दैववित्तं, तद्द्वारा लौकिकं वित्तं च प्रयोजयन्तीति भावः। अपिशब्देन उपसर्जनतया भोगं प्रति तेषां हेतुतेति सूचितम्।।३०४।।

मध्यमाऽधमत्वे निरूपयति—देहादाविति। देहादीनामुत्तमत्वे ये हेतव उक्ताः तेषां मध्ये केषाञ्चिद् एव अभावे सति मध्यमत्वम्। सर्वेषाम् अभावे तु अधमत्वम् इत्यर्थः।।३०५।। देहेन्द्रियेति। इत्थमुत्तमत्वादिना देहादयः त्रिविधाः स्युः इति।

एतेन एतेषामुत्तमत्वादित्रयस्य प्रत्येकमुत्तमत्वादित्रयेण योजने नव भेदाः, तेषामपि मृदु-मध्या-ऽधिमात्रत्वैर्योजने सप्तविंशतिभेदा भवन्तीति सूचितम्। अधिमात्रत्वम् उत्कटत्वम्। मृदुमध्याधिमात्राणामपि प्रत्येकं मृदुत्वादिभिः योजने सप्तविंश तित्रिकरूपा एकाशीतिभेदाः। तेषामपि कर्मद्वारा कृत-कारिता-ऽनुमोदितत्वैः सम्बन्धे त्रिचत्वारिंशदधिकशतद्वयसंख्यामेदाः स्युः। ते च सूक्ष्मा वर्णयितुमशक्या इत्याह—एकाशीत्यादय इति। एतेषां देहादीनाम् उत्तमत्वादौ य एकाशीतिप्रभृतयः सूक्ष्मा भेदाः ते आनन्त्यात् केनाऽपि न वर्णिता इत्यर्थः।।३०६।।

भोगहेतु के बारे में समझ लेना चाहिये कि कुछ लोग आचार्य, पिता, माता आदि सब संबंधियों को भोग का कारण मानते हैं जबकि सद्बुद्धि वाले अन्य लोगों का कहना है कि आचार्य-शिष्य, पिता-पुत्र आदि सभी परस्पर भोगहेतु बनते हैं।।३०४।।

देह-इंद्रिय-कर्म-भोगों की उत्तमता के जो कारण बताये उनमें से कुछ के न होने पर देहादि को मध्यम माना जाता है और वे सभी कारण विपरीत हों तो देहादि को अधम माना जाता है।।३०५।।

यों देहादि उत्तम-मध्यम-अधम तीन तरह के बताये। इनके अनेक प्रकार के सूक्ष्म भेदों का विभाजन किया जा सकता है। कुछ लोग इक्यासी भेद बताते हैं। वस्तुतस्तु भेद अनंत हैं अतः उनका उल्लेख संभव नहीं। (इक्यासी की संख्या ऐसे आती है : उत्तम-उत्तम, उत्तम-मध्यम, उत्तम-अधम—यों उत्तम के तीन भेद। ऐसे ही मध्यम व अधम के तीन-तीन भेद। इस प्रकार नौ भेद हुए। इनमें प्रत्येक के मृदु-मध्य-उत्कट भेद होते हैं जिससे कुल सत्ताईस भेद हुए। उनमें पुनः मृदु आदि तीन भेद समझें तो इक्यासी भेद हुए।)।।३०६।।

देहादेः कारणता

देहसंस्कारतो देहास्ततस्तेऽपि चतुर्विधाः। संस्कारा देहसम्बन्धाद् यतः सर्वं प्रजायते।।३०७

देही स्यादिन्द्रियैर्युक्तैः कर्मी भोगी च मानवः। ततस्तेऽपि च संस्कारास्तेभ्यो देहादिकं पुनः।।

जितेन्द्रियं च भोगश्च कारणान्येवमेव हि।।३०८

पुण्यपापरतो जन्तुरिन्द्रियैः संयुतो भवेत्। देहेन च ततो भोगं गच्छेत् सर्वत्र सर्वदा।।३०९

भोगी क्रियावान् सततं वश्यैरेतैरसंशयम्। इन्द्रियैः सहितो देही भोगी कर्मी न संशयः।।३१०

भोगानामत्र सर्वेषां सर्वदाऽनुभवे सति। वृद्धिः प्रत्यक्षतो दृष्टा कर्मणां करणे तथा।।३११

यो हि यं विषयं जन्तुः प्राप्नुयात् स तु तं पुनः। इच्छतीह भृशं कर्म कुरुते चास्य लब्धये।।३१२

अथ देहेन्द्रियक्रियाभोगानां तत्संस्काराणां च परस्परं बीजांकुरन्यायेन कारणतां निरूपयंस्तत्र देहस्य प्राधान्यमाह—देहेति। देहानां संस्कारेभ्यो देहा जायन्ते। ततो देहेभ्यः चतुर्विधा देहादीनां चतुर्णामपि जनकाः संस्काराः प्रभवन्ति यतो हेतोः ततो देहात् सर्वं देहेन्द्रियादिकं प्रजायते प्रादुर्भवतीत्यर्थः।।३०७।। देहात् सर्वसम्भवं दर्शयति—देहीति। यो देही भवति स इन्द्रियैः युक्तैः वशे स्थितैः सहितः कर्मी यागादिकर्ता तत्फलभोगी च भवति। ततो देहित्वादिभावानन्तरं ते पुनः देहित्वादिप्रयोजकाः संस्काराः प्रभवन्ति। तेभ्यः च पुनः देहादिकं भवति। यथा देहः सर्वस्य प्रयोजकः तथा इन्द्रियं भोगश्च कर्मादिद्वारा सर्वस्य सङ्घातस्य प्रयोजको बोध्यः। तत्र इन्द्रियस्य युक्तत्वं जितत्वं च विशेषणम् इन्द्रियलोलुपेषु कस्याऽपि कर्मणः परिपूर्त्यदर्शनादिति।।३०८।।

कर्मणः सर्वसम्भवमाह—पुण्येति। स्पष्टम्।।३०९।। भोगात् सर्वसम्भवमाह—भोगीति। क्रियावान् कर्मक्षमः। तथा वश्यैः एतैरिन्द्रियैः सहितः च भोगी एव भवति यतो देही भोगी एव कर्मी प्रसिद्ध इत्यर्थः।।३१०।। तत्रानुभवं प्रमाणयति—भोगानामिति। सर्वजातीयानां भोगानां भोग्यपदार्थानाम् अनुभवोत्तरं कर्मानुष्ठाननिष्ठा वृद्धिः अतिशयरूपा प्रत्यक्षेण दृष्टा इत्यर्थः।।३११।। तत्र हेतुतया भोगानुभवस्य इच्छाजनकतामाह—यो हीति। यो जन्तुः यज्जातीयं विषयं प्राप्नोति स तज्जातीयं विषयम् इच्छति एव। इच्छोत्पत्तौ च अस्य इच्छागोचरस्य लब्धये कर्म कुरुत इत्यर्थः।।३१२।। तत्र सजातीयेच्छानियमममभिनयति—देवाङ्गनास्विति। नृणां देवाङ्गनासु इच्छा न भवति,

देहादि और इनके संस्कार बीजांकुरन्याय से एक-दूसरे के कारण बनते रहते हैं। देहों के संस्कार से आगे देह पैदा होते हैं और देहों से देहादि चारों के उत्पादक संस्कार उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार देह से देहेन्द्रियादि सभी का प्रादुर्भाव होता है।।३०७।। जिस मानव देही की इंद्रियाँ वश में हों वही यागादि कर्मों का कर्त्ता और उनके फलों का भोक्ता बनता है। देही, इंद्रियवान्, कर्मी, भोगी बनने से वे संस्कार बनते हैं जो आगे फिर देही आदि बनाते हैं। उन संस्कारों से पुनः जीव देही आदि बनता है। देह की तरह ही इन्द्रियाँ और भोग कर्म आदि के द्वारा सारे संघात के हेतु बनते हैं। क्योंकि जिनकी इंद्रियाँ नियंत्रित नहीं होती वे कोई कर्म ढंग से परिपूर्ण नहीं कर पाते इसलिये शिक्षित और वशीकृत इंद्रियों को ही आगे संघात के प्रति कारण माना जाता है।।३०८।। ऐसे ही कर्म भी सर्वकारण है। पुण्य-पाप कर्मों में संलग्न जंतु ही इंद्रियों से व देह से युक्त होकर भोग पाता है यह सभी देश-काल के लिये समान है।।३०९।। भोग को भी इसी तरह सबका हेतु जानना चाहिये। भोग-संपन्न व्यक्ति ही कर्मों में सक्षम होता है। जिसकी इन्द्रियाँ हमेशा वश में रहती हैं वही सही मायने में भोग कर सकता है इसमें संशय नहीं। जो देही भोगी होता है वही कर्मी होता है यह प्रसिद्ध है।।३१०।। सदा यही अनुभव में आता है कि सब तरह के भोग्य पदार्थों का भोग करने पर कर्मों का अनुष्ठान करने की निष्ठा बढ़ती है।।३११।। जो जन्तु जिस विषय को भोगता है वह उसी जाति के विषय की इच्छा करता है और फिर उसे पाने के लिये कर्म करता है।।३१२।।

देवाङ्गनासु मनुजैरप्राप्तासु कथञ्चन। इच्छा न जायते नृणां नारीष्वेव प्रजायते।।३१३

शुनामेवं न नारीषु हीच्छा किन्तु शुनीष्विह। एवं स्वर्गान्नपानादौ विज्ञेयं सर्वदा नृभिः।।३१४

ततोऽनुभव एतेषां भोगानां कारणं मतः। वृद्धौ कुशल एव स्याद् विषयान् प्राप्नुवन् जनः।।३१५

यथा कामी धनी चैतान् बलवान् प्रप्नुवन् मुहुः। कामेऽत्र कुशलः काममिच्छन्नेव पुनः पुनः।
अन्नपानादिलाभेषु द्रष्टव्यं त्वेवमेव हि।।३१६

यथा भोगास्तथा कर्म देहेन्द्रियगणा अपि। पुंसोऽनुभवमापन्नाः कारणं यान् समीहते।।
इच्छासंस्कारसहितांस्ततस्तान् शतधा व्रजेत्।।३१७

तासां मनुजदेहैरलब्धत्वात्। एवं शुनां शुनीरेवानुभवतां तत्रैव इच्छा भवति। एवं स्वर्गीयान्नपानादौ स्वर्गिणामेवेच्छा ततस्त एव तदर्थं यतन्त इति भावः।।३१३-४।। तत इति। ततोऽन्वयव्यतिरेकदर्शनात् एतेषां भोगानाम् अनुभवः तदर्थकर्मणां वृद्धौ कारणम् एवेति सम्बन्धः। भोगानुभवेन तत्र वैराग्योदयाशा तु न कर्तव्येत्याह—कुशल एवेत्यादिना। जनो विषयान् प्राप्नुवन् संस्तद्भोगेषु कुशल एव भवति। तदुक्तं योगभाष्ये 'भोगाभ्यासमनुविवर्द्धन्ते कामाः[1] कौशलानि चेन्द्रियाणाम्' इति।।३१५।। अत्रोदाहरणं लोके कामिनो बलवन्तश्च धनिका इत्याह—यथेति। एतान् भोगान् प्राप्नुवन् धनी बली च कामुकः अत्र प्राप्ते कामे भोगे कुशलः सन् कामं तज्जातीयम् इच्छन्नेव दृश्यत इति। एवं क्षुद्रलाभेष्वपि द्रष्टव्यम् इत्यर्थः।।३१६।। यथा च भोगाः स्वानुभवेन इच्छोत्पादनद्वारा संसारहेतवस्तथा देहादयोऽपीत्याह—यथा भोगा इति। यथा भोगा अनुभवमापन्नाः कारणं कर्मादिहेतुभूता उक्ताः तथा कर्म देह इन्द्रियगणः चैतेपि अनुभवमापन्नाः कारणं यदीयान् देहादीन् इच्छासंस्काराभ्यां सहितान् समीहते रागपूर्वकं भजते तांस्तज्जातीयांस्तत इच्छादिवशाद् व्रजति शतधा अनेकवारान् इत्यर्थः।।३१७।।

मनुष्यों को किसी तरह न मिल सकने वाली देवांगनाओं को मनुष्य नहीं चाहते, मनुष्य मानवीय नारियों को ही चाहते हैं। कुत्ते मानवीय नारियों को नहीं वरन् कुतिया को ही चाहते हैं। ऐसे ही स्वर्गीय खाद्य-पेय आदि स्वर्गवासी ही चाहते हैं और उसके लिये वे ही यत्न करते हैं। (बहुतायत की दृष्टि से उक्त व्यवस्था है अर्थात् अधिकतम इच्छाएँ उन्हीं के प्रति होती हैं जो उस योनि के योग्य पदार्थ हों। योन्यन्तर के योग्य पदार्थ भी प्रायः उस रूप में अभिलषित होते हैं जिस रूप में हम अपने योग्य पदार्थों को भोगते हैं अतः 'देवता खाते-पीते नहीं; देखकर ही तृप्त हो जाते हैं' यह जानकर भी मनुष्य यह कामना नहीं करते कि 'स्वर्गीय खाद्य-पेय हमें *देखने* को मिलें' वरन् उन्हें खाना ही चाहते हैं ! यह प्रायः नियम होने पर भी कभी-कभी अपनी योनि के अयोग्य विषयों की भी कामना और उन्हें पाने के लिये यत्न होता है उसे यहाँ मना नहीं कर रहे।)।।३१३-४।। यों अन्वय-व्यतिरेक उपलब्ध होने से निश्चित है कि इन भोगों का अनुभव इनके लिये किये जाने वाले कर्मों के बढ़ने में ही कारण बनता है। भोगानुभव से भोग के प्रति वैराग्य उपजेगा इसकी आशा भी नहीं रखनी चाहिये। विषय पाकर जीव विषय-भोग में ही प्रवीण होता है उनसे विमुख नहीं होता। न केवल भोग से भोग्यों के प्रति राग बढ़ता है वरन् इन्द्रियाँ भी उन भोग्यों में ऐसी रम जाती हैं कि धीरे-धीरे उनके बिना जीना भी दूभर हो जाता है।।३१५।। लोक में देखा ही जाता है कि कामुक की कामना पूरी होती रहे तो उसका कामोपभोग में ही कौशल बढ़ता है और बारंबार वह कामनापूर्ति ही चाहता है। ऐसे ही धनी धन पाकर धनलाभ के ढंगों में ही कुशल बनता है तथा और धन चाहता ही रहता है। बलवान् चाहे शारीरिक बल से या जनबल, अस्त्रबल, राजनैतिक बल आदि से संपन्न हो, उसीमें कुशल होता जाता है और अधिकाधिक बल एकत्र करते रहना चाहता है। यही बात खाद्य-पेय आदि साधारण विषयों पर भी लागू होती है। अतः भोग का फल भोगलिप्सा है न कि

---

१. रागा इति तत्र पाठः (यो. सू. २.१५)।

देहेन्द्रियक्रियाभोगा एवं न नियताः सदा। वृद्धिं व्रजन्तः सततं जन्तूनां हि जनौ जनौ।।३१८

वटा एते समुद्दिष्टाः प्राणिदेहाश्चतुर्विधाः। सहेन्द्रियक्रियाभोगैर्बीजं संस्कार ईरितः।।३१९

संस्कारेषु च सर्वेषु सामान्यं परिकीर्तितम्। माया सर्वानुगा कार्यहेतुभूता सनातनी।।३२०

बीजांकुरेषु यद्वत् स्यात् सामान्यमविनश्वरम्। कारणं त्वद्वयं कार्यं कारणं च विनश्वरम्।।३२१

देहेन्द्रियेति। एवम् उक्तविधया देहादीनामनुभवेच्छासंस्कारैः प्रयुक्तत्वे सति देहादयो जनौ जनौ वृद्धिं व्रजन्तः सन्तो न नियताः, एतद्देहोत्तरमयमेवेत्याकारकनियमरहिताः, तद्धेतूनामनुभवादीनामनियमाद् इति भावः। एतेन योन्यन्तरलाभोऽपि जन्मान्तरीयाऽनुभवोत्थसंस्काराणां मरणकाले समुन्मेषाद् इति सूचितम्।।३१८।। अत्र संस्कारैर्देहादिजनने दृष्टान्तः पूर्वोक्त एवेत्याह—वटा इति। इन्द्रियादिभिः सहिता देहा वटस्थानीयाः, संस्कारास्तु बीजस्थानीया इत्यर्थः।।३१९।। सर्वेषु संस्कारेषु गतं यत् सामान्यं तद् मायेत्युच्यते इत्याह—संस्कारेष्विति। स्पष्टम्।।३२०।।

बीजांकुरेष्विति। यथा च बीजेषु अंकुरेषु च अनुगतं यत् सामान्यं तद् अविनश्वरम् अत एव कारणभूतं, स्थायित्वात्। तथाऽद्वयं तद्विशेषभूतयोर्बीजांकुरयोः ततो भेदाभावात्। यच्च परस्परं कार्यकारणभूतं बीजांकुरयोर्युगलं तद्विनश्वरमित्यर्थः। तथा संस्कारदेहयोः विनाशेऽपि मायाऽविनश्वरीति भावः।।३२१।। संस्काराणां देहादीनां

वैराग्य।।३१६।। भोगों की तरह ही कर्म, देह, इन्द्रियाँ भी पुरुष के अनुभव में आकर आगे देहादिलाभ के प्रति ही कारण बनते हैं न कि उस चक्र से निकलने के प्रति। इच्छा व संस्कारों सहित जैसे देहादि का रागपूर्वक चिन्तन जीव करता है, बारम्बार वैसे ही देहादि उन इच्छादि के फलस्वरूप पाता रहता है। (अतः कर्म करने से कर्म के प्रति वैराग्य नहीं होगा, देह-इंद्रियों की परवरिश में लगे रहें तो कभी इससे तृप्त हो इनसे भी वैराग्य नहीं होगा। वैराग्य तो विवेक से ही संभव है; विवेकपूर्वक करें तो कर्म, भोग आदि सभी वैराग्यप्रयोजक बन सकते हैं परन्तु स्वयं में तो ये सब बीजांकुरन्याय से संसार प्रवाह में ही रखने में समर्थ हैं।)।।३१७।।

इस तरह अनुभव-इच्छा-संस्कारों के कारण मिलते हुए देहादि प्रतिजन्म बढ़ते जाते हैं पर देहादि के बारे में ऐसा कोई नियम नहीं कि अमुक देहादि के ठीक बाद अमुक देहादि ही मिलेगा क्योंकि अनंतर प्राप्य देहादि के प्रति हेतुभूत अनुभवादि स्वयं नियतक्रम के नहीं होते। (एक घड़ी में जीव ऐसे कर्म कर लेता है जिनके फलस्वरूप उसे वैकुण्ठ, नरक, तथा भूमि पर कीट-पतंग-कुत्ते आदि सौ योनियाँ भोगकर नीच मनुष्य बनना है ! और जीवन भर में तो ऐसे अनंत कर्म एकत्र हो जाते हैं। अतः देहादि के क्रम का नियमन युक्ति से संभव नहीं। समस्त कर्मों में से कुछ का चयन ईश्वर अपने स्वातन्त्र्य से करता है जिन्हें एक जन्म में फलना है। मृत्यु के समय तदनुसारी संस्कार ही उदय हो जाता है और आगे की गति निर्धारित कर देता है।)।।३१८।। प्राणियों के चारों तरह के शरीर तथा इंद्रिय-क्रिया-भोग वटवृक्ष की जगह हैं और संस्कार बीज की जगह हैं। समस्त संस्कारों में जो समानरूप से अनुगत वस्तु है वही सनातन माया है, वही सब कार्यों के प्रति हेतु है।।३१९-२०।। बीज-अंकुर में अनुस्यूत सामान्य नश्वर नहीं स्थायी है अत एव कारण है और बीज-अंकुर क्योंकि उस सामान्य के ही विशेष हैं इसलिये उससे अलग न होने के कारण वह अद्वय बना रहता है। कार्य-कारण समझा जाने वाला जो बीज-अंकुर का जोड़ा है वह नश्वर है। ऐसे ही संस्कार व देह नाशवान् होने पर भी माया अनाशवान् है। (जैसे मिट्टी घटावस्था में भी रहती है अत एव वह घट का कारण है वैसे बीज-सामान्य बीजावस्था व अंकुरावस्था में एक-सा रहता है अत एव कारण है। जिनमें अनुगत को सामान्य कहते हैं उन्हें उस सामान्य का विशेष कहा जाता है जैसे घटत्व-सामान्य के विशेष सब घट हैं। विशेष अपने सामान्य से अत्यंत भिन्न नहीं होते बल्कि सामान्य में ही विशेष कल्पित होते हैं अतः विशेषों से सामान्य में सद्वयता नहीं आती जैसे गहनों से स्वर्ण में सद्वयता नहीं आ जाती।)।।३२१।। जैसे प्रवाहरूप से यह प्रक्रिया चलती रहती है कि बीज से वट और वट से बीज

बीजाद् वटो वटाद् बीजं प्रवाहेण यथा भवेत्। संस्कारदेहयोस्तद्वत् प्रवाहेण जनिर्भवेत्। ।३२२
पार्थिवावयवा यद्वद् वटबीजद्वयानुगाः। पृथिवी चाप्यनुस्यूता तेषु नैव विनश्यति। ।३२३
यथा तथैव मायेयं देहानुष्ठानगामिनी। न विनश्यति चैवात्मविज्ञानं परिहाय हि। ।३२४

मायाब्रह्मविवेकः

कार्यकारणरूपेषु परिणामोऽत्र यो भवेत्। स तु सामान्यरूपोऽयं मायेत्येव निगद्यते। ।३२५
एतयोस्तस्य वैतस्य स्मरणं यत् सदात्मकम्। तदात्मेति ततो माया स्वात्मनोऽन्येति कीर्त्यते। ।३२६
परिणामश्च सत्ता च दृश्यते कार्यमात्रके। ततो ब्रह्म च माया च द्वयं हेतुः प्रकीर्त्यते। ।३२७

च प्रवाहेण व्यक्त्यनुच्छेदलक्षणेन कार्यकारणभावेऽपि स एव दृष्टान्त इत्याह—बीजाद् वट इति। ।३२२। । मायायाः कार्यकारणयोरुभयोरनुगमे दृष्टान्तमाह—पार्थिवेति। यद्वद् वटबीजरूपे द्वये कार्यकारणभूते पार्थिवाः पृथिवीसम्बन्धिनोऽवयवा अनुगताः तेषु च पृथिवी अनुस्यूताऽनुगता, वटबीजयोर्नाशेऽपि न नश्यति प्रलयाग्निं विनेत्यर्थः। ।३२३। । यथेति। अनुष्ठानपदेन करणव्युत्पत्त्या सामग्री प्रोच्यते। तथा च देहेषु अनुष्ठानेषु तदारम्भकेषु च अनुगता माया देहादिनाशेऽपि ब्रह्मबोधरूपकालाग्निं विना न नश्यतीत्यर्थः। अत्र पार्थिवावयवस्थानीया मायाया अवयवा वक्ष्यमाणपरिणामविशेषरूपा बोध्याः। ।३२४। ।

मायाया ब्रह्मणोऽन्यथासिद्धिवारणाय उभयोः स्वरूपं विविच्य दर्शयति—कार्येति षड्भिः। सर्वेषु कार्येषु कारणेषु च अनुगतो यः परिणामभागः स मायेति उच्यत इत्यर्थः। ।३२५। । एतयोरिति। एतयोः कार्यकारणयोः, तस्य तयोरनुगतस्य, एतस्य परिणामस्य वा यत् स्मरणम् अनुसन्धानविधया भासकं स्फुरणं सद्रूपं तदात्मेति उच्यते। ततो दृग्दृश्यभावेन भेदस्य स्फुटत्वाद् माया सत आत्मनो भिन्नेति व्यवहार इत्यर्थः। ।३२६। । तथा च परिणामरूपेण मायायाः, सत्तारूपेण ब्रह्मणश्च सर्वत्र अनुगमदर्शनाद् उभयोर्जगदुपादानत्वमित्याह—परिणामश्चेति। परन्तु ब्रह्मणस्तत्र विवर्तोपादानत्वमिति ध्येयम्। ।३२७। । उभयोर्हेतुतामेव स्फुटयति—सत्तैवेति। एकरूपाऽन्यथाभावहीना

उत्पन्न होता है वैसे ही संस्कार और शरीर एक-दूसरे के उत्पादक होते रहते हैं। ।३२२। । वटवृक्ष और बीज दोनों में पृथ्वी के अवयव अनुगत रहते हैं और उन अवयवों में पृथ्वी एक-सी है, वटवृक्ष और बीज दोनों नष्ट हो जायें तो भी पृथ्वी नष्ट नहीं होती—भले ही प्रलय में नष्ट हो—इसी प्रकार गह माया देह और उसके आरंभकों में अनुगत रहती है, उनके नाश से भी नष्ट नहीं होती, केवल आत्मविज्ञान से माया का नाश होता है। (आरंभक अर्थात् उत्पादक। शुक्र-शोणितादि तथा संस्कारादि सभी उत्पादकों में माया एक समान रहती है।)। ।३२३-४। ।

मायाकारणता सुनकर यह भ्रम नहीं होना चाहिये कि ब्रह्म जगज्जन्मादि-हेतु नहीं है ! माया व ब्रह्म दोनों के स्वरूप में और दोनों जिस ढंग से जगत्कारण हैं उसमें अंतर है। व्यवहार में जिन्हें कार्य व कारण समझा जाता है—जैसे धागे को कारण, कपड़े को कार्य—उन सब रूपों में जो परिणत होने वाला हिस्सा है, सामान्य है उसे 'माया' यही कहा जाता है। (परिणत अर्थात् बदलने वाला : जैसे गेहूँ पहले आटे रूप में बदलता है फिर गुँथे पिण्डरूप में बदलता है, लोई रूप में बदलता है, बेला जाकर गोलाकार में बदलता है, सिक कर फुलके रूप में बदलता है; इन सब रूपों में बदलने *वाला* गेहूँ बिना बदले एक-सा रहता है अतः गेहूँ को परिणामी कहते हैं। क्योंकि जो बदलने वाला है वही बिना बदले रहता है, तभी अनुगत है, इसीलिये कार्य-कारणभाव को मायिक ही मान सकते हैं, बुद्धिसंगत नहीं।)। ।३२५। । कार्य-कारण और उनमें अनुगत परिणामी का जो अनुसंधान के ढंग से प्रकाशक है वह सद्रूप स्फुरण आत्मा है, ब्रह्म है। दृग्रूप ब्रह्म की दृश्यरूप होने से माया को ब्रह्म से अलग कहा-समझा जाता है। ।३२६। । परिणामीरूप से माया व सत्तारूपे ब्रह्म सर्वत्र अनुगत दीखते हैं अतः दोनों को जगत् का उपादान कहा जाता है। इतना अवश्य है कि माया और उसके कार्यों की एक ही सत्ता है जबकि माया समेत सब कार्यों की अपेक्षा ब्रह्म की सत्ता उत्कृष्ट है अतः ब्रह्म

सत्तैव चेदेकरूपा कार्येषु स्यात् ततो भवेत्। न माया कारणं नैवं परिणामोऽत्र केवलः।।३२८
यदि स्यात् कारणं तर्हि ब्रह्म नैवाऽत्र कारणम्। भवेद् द्वयं च दृष्टं तत् कारणं तेन तद्द्वयम्।।३२९
परिणामस्य सामान्यं माया प्रोक्ता मनीषिभिः। ततो ब्रह्म च माया च ह्यसङ्कीर्णे
व्यवस्थिते।।३३०
वटबीजस्य सामान्यमेवं शक्त्यात्मकं सदा। वटाननेकान् जनयेत् स्वतो भेदविवर्जितान्।।३३१
परिणामात्मिका शक्तिस्तथा सामान्यरूपिणी। अनेकं जनयेद् विश्वं नानादेहादिरूपकम्।।
स्वात्मनो भेदरहितं कार्यकारणरूपधृक्।।३३२

सत्तैव यदि कार्येषु स्याद् अनुगता दृश्येत, तदा माया कारणं न भवेद्। एवं केवलसत्तानुगमः तु न दृश्यते। तथा यदि केवलः परिणामः कारणं कारणत्वेन अनुगतः स्यात्तर्हि ब्रह्म कारणं नैव भवेत्। परन्तु द्वयम् एव सर्वत्र अनुगतं दृष्टम्। तेन उभयोः सममनुगमदर्शनेन द्वयोरेव हेतुत्वम्। इति द्वयोरर्थः।।३२८-९।। ततः परिणामसामान्यरूपाया मायायाः चिद्रूपब्रह्मणो विवेकः सुकर इत्याह—परिणामस्येति।।३३०।।

जडानां विकाराणां मायास्वरूपाद् व्यतिरेकाऽभावं[1] सदृष्टान्तमाह—वटेति द्वाभ्याम्। एवम् उभयोः कारणत्वे सति सर्ववटबीजेषु अनुगतं यत् सामान्यं तद् बीजेषु अनुगतस्य सत्तारूपब्रह्मणः शक्तिभूतं सत् स्वस्मात् सामान्याद् अव्यतिरिक्तान् नानाविधान् वटान् जनयति, तथा मायाऽपि परब्रह्मणः शक्तिभूता परिणामलक्षणाऽनेकं देहादिरूपं विश्वं जनयेत्। कीदृशं विश्वम् ? स्वात्मनः कारणाद् अव्यतिरिक्तं बीजांकुरन्यायेन कार्यकारणरूपं च। इति द्वयोरर्थः।।३३१-२।।

विवर्तोपादान है जबकि माया परिणामी है। ('समान सत्ता' अर्थात् अखण्डबोध से बाधित होने वाली सत्ता। 'उत्कृष्ट सत्ता' अर्थात् कभी बाधित न होने वाली सत्ता।)।३२७।। यदि कार्यों में अनुगत सिर्फ सत्ता ही मिलती तो माया को कारण न मानना पड़ता पर ऐसी स्थिति है नहीं; इसी प्रकार यदि केवल परिणामी ही अनुगत दीखता तो ब्रह्म को कारण न मानना पड़ता पर स्थिति ऐसी भी नहीं है। परिणामी और सत्ता दोनों ही संसार में अनुगत मिलते हैं अतः दोनों को ही कारण स्वीकारना उचित है। (इस प्रकार दृश्य प्रपंच का दृश्य ही कारण खोजने की प्रक्रिया, चाहे दार्शनिक अपनायें या वैज्ञानिक, एकांगी ही है; दृक् को नज़रन्दाज़ कर कारणवाद संपूर्ण नहीं हो सकता।)।३२८-९।। संसाराकार में परिणत होने वाले सामान्य को मनीषी माया कहते हैं। यों ब्रह्म और माया का परस्पर पृथक् स्वरूप समझ लेना चाहिये।।३३०।।

जड विकार माया के स्वरूप से सर्वथा भिन्न नहीं हैं। सब वटबीजों में अनुगत जो सामान्य वह बीजों में अनुगत सत्तारूप ब्रह्म की शक्ति ही है और वह सत्ता की शक्तिरूप सामान्य जिन वटों को उत्पन्न करता है वे वट उस समान्य से अत्यंत भिन्न नहीं होते। इसी प्रकार माया भी परब्रह्म की शक्ति ही है। वह परिणत होकर जिन विभिन्न देहादि को, अनेकात्मक संसार को उत्पन्न करती है वे उस माया से सर्वथा पृथक् नहीं होते। संसाररूप देहादि यद्यपि परस्पर कार्य-कारण प्रतीत होते हैं अतः लगता है मानो इनके स्वरूप विलक्षण हों तथापि हैं ये अपने हेतु से अभिन्न ही। (शक्ति कहने का मतलब उस माया को ब्रह्म से अपृथक्सत्ताक बताना है। यों माया सांख्यादिसंमत प्रकृति से सर्वथा विलक्षण हो जाती है।)।३३१-२।।

सामान्य तीन तरह से रहता है : हर-एक वट में हमेशा परिपूर्ण कार्यशक्ति नाम से एक सामान्य रहता है। हर-एक बीज में अनुगत सामान्य दूसरा है। वट और बीज दोनों से संबंधित दोनों में एक-सा रहने वाला सामान्य तीसरा

१. अत्र श्रुतिः श्लो. २७९ टिप्पण उक्ता।

एकैकस्मिन् वटे यद्वद् बीजे वास्ति सदैव हि। परिपूर्णं तु सामान्यं वटबीजस्य यत् स्मृतम्।।
एकं स्थितं च यत्तद्वद्धेतुः स्याद् वटबीजयोः।।३३३

वटानामपि सामान्यं बीजानामपि च द्विधा। स्थितमेकं च तद्वत्सा माया प्रोक्ता मनीषिभिः।।३३४

जीवपरभेदहेतुर्माया

कार्येऽकार्ये च सम्पूर्णा विभिन्नेव च संस्थिता। एकैव जीवपरयोर्भेदस्याऽपि च कारणम्।।३३५

एकैव च यथा भूमिः स्थिता घटगृहात्मना। गृहाकाशघटाकाशभेदे हेतुर्जने भवेत्।।३३६

एवमेकैव मायेयं स्वात्मनो रूपभेदतः। जीवेशयोर्विभेदस्य हेतुर्भवति सर्वदा।।३३७

व्याप्यव्यापकभावेन अवस्थितं मायाया रूपत्रयं दर्शयति—एकैकस्मिन्निति द्वाभ्याम्। यथा एकैकस्मिन् वटे सदा परिपूर्णं कार्यशक्त्याख्यं सामान्यम् अन्यत्, एकैकस्मिन् बीजेऽनुगतं च सामान्यम् अन्यत्; वटबीजस्य इति समाहारः, तथा च उभयोर्वटबीजयोः यत् सम्बन्धित्वेन स्मृतम् उभयत्र एकं समं सत् स्थितं च तत्तृतीयम्। न च तस्य वैयर्थ्यमित्याह—यत्तद्वदित्यादिना। यथा वटबीजे परस्परं हेतुभूते तद्वद् यत् तृतीयं सामान्यं पृथिवीरूपम् उभयोः वटबीजयोर्हेतुः प्रयोजकमित्यर्थः।।३३३।। वटानामिति। इत्थं यत् सामान्यं वटानां बीजानां च सम्बन्धेन द्विधा स्थितम् उभयानुगामित्वेन एकं सत् स्थितं च यथा दृष्टं तद्वत् सकलकार्यानुगामिनी, सकलकारणानुगामिनी,उभयानुगामिनी च सा शक्तिरूपा माया मनीषिभिः उक्तेत्यर्थः।।३३४।।

इयं माया कार्यावच्छिन्नशक्तिरूपा जीवभेदस्य हेतुः। कारणावच्छिन्नशक्तिरूपा च ईशभेदस्य। इत्याकारं 'जीवेशौ' इत्यादिग्रन्थार्थमाह—कार्येऽकार्य इति। अकार्य इतिच्छेदः। इयं व्यापकरूपेण एकाऽपि यतः कार्ये तथाऽकार्ये कारणे सम्पूर्णा व्याप्ता स्थिताऽतो विभिन्नेव सती जीवेशयोः भेदस्य प्रयोजिका भवतीत्यर्थः।।३३५।। एकस्याः स्वव्याप्यरूपाभ्यां भेदकत्वं दृष्टान्तेन स्फुटयति—एकैवेति। यथा एका भूमिः घटरूपा गृहरूपा च सती घटाकाशगृहाकाशयोः भेदिका जने लोके प्रसिद्धा तथा मायाऽपि स्वकीयाभ्यां कार्यकारणरूपाभ्यां जीवेशयोः

है। जैसे वट और बीज एक-दूसरे के कारण बनते हैं वैसे यह पृथ्वीरूप तीसरा सामान्य वट-बीज दोनों का ही कारण बनता है। इस प्रकार वटसम्बंधी, बीजसंबंधी और दोनों में अनुगत—यों तीन तरह से एक ही सामान्य रहता है। ऐसे ही सकल कार्यों में अनुगत, सकल कारणों में अनुगत और दोनों में अनुगत—यों तीन तरह से एक मायाशक्ति भी रहती है यह मनीषी बताते हैं।।३३३-४।।

जीवभेद और ईश्वरभेद में हेतु यह माया ही बनती है। यह व्यापक रूप से एक है अतः कार्य में व कारण में व्याप्त हुई रहती है जिससे लगता है मानो अलग हो और उस प्रतीयमान अलगाव से ही जीव-ईश्वर के भेद प्रतीत हो जाते हैं। (मायाशक्ति ही कार्यों से परिसीमित हुई जीवभेद का हेतु बनती है एवं वही कारण से परिसीमित हुई ईश्वरभेद का कारण बनती है। यह उस प्रसिद्ध श्रुति की व्याख्या है जो कहती है 'माया आभास से जीव व ईश्वर बनाती है'।)।।३३५।।

एक वस्तु अपने व्याप्यरूपों से भेदहेतु कैसे बनती है यह उदाहरण से स्पष्ट होता है : एक ही पृथ्वी घड़ेरूप से और घर रूप से अवस्थित होकर घटाकाश-घराकाश के भेद का हेतु बन जाती है यह सर्वलोक प्रसिद्ध है। ऐसे ही यह एक ही माया अपने कार्य और कारण इन विभिन्न रूपों से जीव-ईश्वर के भेद का हेतु बन जाती है।।३३६-७।। जैसे एक ही धरित्री—भूमि, इला, धात्री, कु, पृथ्वी, धरणी, क्षमा आदि अनेक नाम धारण कर लेती है वैसे यह अनिर्वाच्य परिणामरूप शक्ति है एक ही पर अनेक नाम धारण कर लेती है जैसे—माया, अविद्या, तम, मोह, अज्ञान, भ्रांति, विपर्यय आदि। (पंचपादिकाकार ने अज्ञाननामों की फहरिस्त प्रकाशित की है जिसकी व्याख्या तत्त्वदीपन में स्पष्ट है पृ. १७३-४

यथा भूमिरिला धात्री कुः पृथ्वी धरणी क्षमा। इत्यादिनामधेयानि व्रजेदेकैव सर्वदा।।३३८

परिणामात्मिका शक्तिरेवमेकैव दुर्भणा। मायाऽविद्या तमो मोहोऽज्ञानं भ्रान्तिर्विपर्ययः।।

इत्यादीनि च नामानि प्राप्नोत्येषा सनातनी।।३३९

माया विचित्रा

सैषा मायाऽतिचित्रांगी चित्रिता द्विपटी यथा। एतच्चित्रात्मकं विश्वं यस्याश्चित्रेण बीजितम्।।३४०

दृढा

दृढा विनाशशून्येयं मायामूलबलान्वितः। महानजोऽपि नैवैताम् उन्मूलयितुमर्हति।।३४१

महान्तः श्रुतशास्त्राश्च विद्वांसोऽत्र दृढव्रताः। अस्य विनाशने युक्ता भग्नदंष्ट्राः समासते।।३४२

भेदिकेति द्वयोरर्थः।।३३६-७।। मायायाः स्वयं नाना नामधारणं दृष्टान्तेन विशदयति—यथेति। निगदव्याख्यातं द्वयम्।।३३८-९।।

मायायाः श्रुत्युक्तानि[1] चित्रत्वादीनि विशेषणानि स्फुटी करोति—सैषेत्यादिना। सा परिणामसामान्यरूपा एषा जीवादिभेदिका च माया अत्यद्भुतशरीरा नानासंस्कारलक्षणैः चित्रैर्विचित्रा यथा रजकैः द्विपटी-संज्ञं वस्त्रं चित्र्यते तद्वद् एतद् दृश्यमानप्रपञ्चरूपं चित्रं यस्या मायाया धर्मभूतेन संस्कारात्मकेन चित्रेण बीजितं बीजं संजातं यस्य तत्तथाभूतं जातम्।।३४०।।

तत्र दृढत्वं व्युत्पादयति—दृढेति सप्तभिः। इयं माया दृढा। दृढत्वस्य विवरणं—विनाशशून्येति। यतो महान् सर्वोत्कृष्टः अज ईश्वरः अपि एताम् उन्मूलयितुम् उच्छिन्नां कर्तुं नार्हति न क्षमो भवति यतो मायामूलेन बलेन अन्वितः 'पराऽस्य शक्तिः' (श्वे. ६.८) इत्यादिश्रुतेरित्यर्थः। तथा च ईश्वरं नित्यसिद्धविज्ञानवन्तं प्रति मायाया अपकारकत्वाऽभावात् प्रत्युत ईशितव्यादिनिर्माणेन ईश्वरत्वसाधकत्वान्न तेनेयं हन्तव्येति भावः।।३४१।। जीवेषु शास्त्रविद एनामनर्थहेतुं विज्ञाय उच्छेत्तुं क्षमाः परन्तु तेऽनया कुण्ठितोपकरणाः कृता इत्याह—महान्त इति। भग्ना मायाहननव्यापारात् पराहता दंष्ट्रा दंष्ट्रावद् विदारिका मतिर्येषां ते तथा समासते तिष्ठन्ति विद्वांसः प्रायशोऽनया विषयप्रवणधियः कृता इति यावत्।।३४२।।

म. अ. सं। पुराणकार ने यहाँ नामबाहुल्य का उल्लेख इसलिये किया ताकि यहाँ जो माया के बारे में खुलासा है उसे उन सभी प्रसंगों में समझ लिया जाये जहाँ माया को किसी भी नाम से उपस्थापित किया है। अद्वैती माया के किसी नाम में आग्रही नहीं, इतना ही समझाता है कि परब्रह्म के स्वरूप की ग़ैरजानकारी संसरणहेतु है। उस ग़ैरजानकारी को चाहे जिस नाम से कह सकते हैं।)।।३३८-९।।

परिणामी सामान्य जिसका रूप है, जो जीव-ईश आदि भेद प्रतीत कराती है उस माया का शरीर अत्यंत अद्भुत है। जैसे रंगरेज दुपट्टा रंग देते हैं ऐसे माया अनंत संस्कारों से मानो रंगी हुई है। माया में पड़े संस्कार ही वह चित्र है जो इस विचित्र संसार के बीज हैं। (संसार-वैचित्र्य का हेतु संस्कारवैचित्र्य है और संसार-संस्कार परस्पर कार्य-कारण हैं जैसे बीज-अंकुर। अतः एकरूप माया अनेकरूप संसार का कारण कैसे ? इसका उत्तर है—संस्कारों से।)।।३४०।।

यह माया दृढ अर्थात् विनाशरहित है क्योंकि सर्वोत्कृष्ट ईश्वर भी इसका उच्छेद करने में सक्षम नहीं, कारण कि ईश्वर जिस बल से अन्वित है उसका मूल माया ही है ! नित्यसिद्ध विज्ञान वाले का माया कोई अपकार नहीं करती बल्कि उसे ईशिता आदि बनाती ही है जिससे ईश्वर*ता* की साधक होने से ईश्वर के लिये यह समापनीय नहीं है।।३४१।। जीवों में भी शास्त्रज्ञ ही इसे अनर्थ जानकर इसका उच्छेद कर सकते हैं लेकिन जीवों के उपकरणों को माया ने कुण्ठित

---

१. 'सैषा विचित्रा, सुदृढा, बह्वङ्कुरा, स्वयं गुणभिन्नाऽङ्कुरेष्वपि गुणभिन्ना सर्वत्र ब्रह्मविष्णुशिवरूपिणी चैतन्यदीप्ता' (तत्रैव)।

महाटवी

अविद्येयमरण्यानी नानाजीवसमाकुला। पञ्चभूतौघतरुभिः सर्वतः परिपूरिता।।३४३
स्नेहमूला दुःखफला पुत्रदारप्रसूनका। पित्रादिपल्लवैः पूर्णा बन्धुशाखासमाकुला।।
सुखाशाबीजसम्पूर्णा कालदावाग्न्युपद्रुता।।३४४
कामक्रोधादिभिः सिंहैः सर्वतः परिरक्षिता। भूरिदुर्जनसर्पौघकण्टकावृतमार्गका।।
नारीपिशाचसम्पूर्णा तथा जन्मादिवृश्चिका।।३४५
विद्वांसः कारणैश्चैनामुन्मूलयितुमीशते। प्रायः सर्वेऽपि ते नित्यमनयैव कदर्थिताः।।३४६
ब्रह्मविद् भद्रजात्युत्थः कश्चिदेव करी त्विह। उन्मूलयेदिमां तेन दृढेयमिति गीयते।।३४७

उक्तार्थस्फुटत्वाय महाटवीत्वेन मायां वर्णयति—अविद्येयमित्यादिना। महदरण्यमरण्यानी तद्रूपा इयमविद्या यतो नानाजातीयैर्जीवैश्चिदाभासलक्षणैर्व्याप्ता, पञ्चमहाभूतभेदरूपैः तरुभिः पूर्णा।।३४३।। स्नेहेति। स्नेहो विषयरागः तदात्मकानि मूलानि यस्यां सा तथा। दुःखानि फलानि यस्यां सा। पुत्रादयो रमणीयत्वाशा प्रयोजकत्वादिसाधर्म्येण प्रसूनभूता यस्यां सा तथा। पित्रादीति। प्रसवसूचकत्वसाधर्म्यात् पितृप्रभृतयः पल्लवा यत्र। विस्तारप्रयोजकत्वाद् बन्धवः शाखा यत्र। 'सुखं भविष्यति' इत्याकारा दीर्घाशैव बीजं यत्र। कालो मृत्युः स दावाग्निभूतो यत्रेति।।३४४।। कामेति। एतस्या अरण्यान्याश्छेदकानां विवेकराजसैन्यानां शमादीनां भक्षकैः कामादिरूपसिंहै रक्षिता। दुर्जनरूपैः सर्पैः कण्टकैश्च व्याप्तमार्गा। नारीरूपैः पिशाचैः संयुता। जन्मादय एव वृश्चिका यत्र सा।।३४५।। विद्वांस इति। यद्यपि विद्वांसो विद्यावन्तः कारणैः ध्यानयोगादिभिः एनाम् अरण्यानीं क्षपयितुं समर्थाः परन्तु प्रायशः ते विद्वांसोऽनया मायारण्यान्या कदर्थिता दीनतां नीता इत्यर्थः।।३४६।। ब्रह्मविदिति।

कर रखा है ! जो महान् हैं, शास्त्रश्रवण कर चुके हैं, जानकार हैं, संसार में अपने नियमों पर स्थिर रहते हैं, उनकी भी दाढ़ माया ने तोड़ रखी है; जैसे दाढ़ भक्ष्य का विदारण करती है ऐसे माया का विदारण करने वाली विवेकबुद्धि ही है जिसका टूटना यही है कि वह विषयों में ही उलझी रहती है। इस प्रकार माया दृढ है क्योंकि इसे नष्ट कर सकते थे ईश्वर या जीव, उनमें ईश्वर से तो इसने मैत्री कर रखी है इसलिये वह इसे नष्ट नहीं करता और जीव को इसने विषयों में फँसा रखा है जिससे वह हीनबल हो जाने से इसे नष्ट नहीं कर सकता।।३४२।।

यह अविद्या घनघोर महान् जंगल है। चिदाभासात्मक नाना जीव ही इसमें रहने वाले जानवर हैं और इसे सब तरफ से भरा-पूरा रखने वाले पेड़ हैं पाँचों महाभूत।।३४३।। उन पेड़ों के मूल हैं विषयराग, फल हैं दुःख, फूल हैं पुत्र व पत्नी (क्योंकि जैसे फूल से वृक्ष रमणीय होता है, उसे संजोने की इच्छा होती है वैसे पत्नी-पुत्र भी रमणीय लगते हैं, पाने लायक लगते हैं), पत्ते हैं पिता आदि (पेड़ फूले-फलेगा इसकी सूचना पत्तों से मिलती है, पिता भी इस बात का सूचक है कि आगे वंश चलेगा), शाखाएँ हैं बंधुजन (पेड़ का विस्तार शाखाओं से होता है ऐसे ही बंधुओं से कुल का विस्तार होता है), इस जंगल में सर्वत्र पड़े बीज हैं सुख की आशा, काल अर्थात् मृत्यु ही इसमें जंगली आग है।।३४४।। जैसे जंगल को सब तरफ से बचाकर रखने वाले होते हैं शेर वैसे इस जंगल को काटने वाले जो विवेकनामक राजा के शम दम आदि सैनिक हैं उन्हें खा जाने वाले काम क्रोधादि ही इस अविद्याटवी के परिरक्षक हैं। इसके रास्ते जिन साँपों और काँटों से ढँके हैं वे यही हैं जो अत्यधिक दुर्जन हैं। नारीरूप पिशाच से यह जंगल भरा है। जन्म-मृत्यु आदि ही यहाँ बिच्छू हैं।।३४५।। आत्मविद्या से संपन्न साधक ध्यान-योग आदि से इस जंगल का उन्मूलन कर सकते हैं परंतु प्रायः उन सभी को हमेशा यह कमज़ोर बनाये रखती है।।३४६।। उपनिषत् के तात्पर्य का जिसने अप्रतिबद्ध साक्षात्कार कर लिया ऐसा दुर्लभ साधक ही वह उत्तम श्रेणी का हाथी है जो इस महान् जंगल को निर्मूल कर सकता है। क्योंकि ऐसा प्रबल साधक विरल है इसलिये अविद्या दृढ कही जाती है।।३४७।।

बह्वंकुरा गुणभिन्ना

नानादेहांकुरैः पूर्णा स्वयं भिन्नेव संस्थिता। महावृक्षत्रयं तस्यां ब्रह्मविष्णुशिवात्मकम्।।
तिष्ठत्यनेकफलदं प्राणिनां सुखकारकम्।।३४८

अस्या निर्गमने शक्तो यदि विद्वान् महाकरी। उपद्रुतश्च कामादिसिंहैः कालाग्निनाऽपि च।।३४९

तत्र वृक्षत्रयस्यैकमाश्रयेदाश्रयं च यः। ततस्तापममुं जह्यात् सदा तद्वृक्षसंश्रयात्।।३५०

अत्र कामादयः सिंहास्तथा कालाग्निरेव च। शक्नुवन्ति प्रवेष्टुं न नराश्चात्यन्तभीरवः।।३५१

ब्रह्म वेद उपनिषद्रूपः तमर्थतो वेत्तीति ब्रह्मवित् तद्रूपो भद्रजातिः करी स इमां मूलहीनां कर्तुं क्षमः परन्तु तस्य विरलत्वाद् इयं दृढेति उक्तेत्यर्थः। गजास्त्रिविधाः—भद्र-मन्द्र-मृगभेदेन। तत्र भद्रलक्षणं यथा—'प्रतिमाने सुविपुलः चारुपृष्ठायताननः। मुखे सुरभि-निःश्वासः ताम्रजिह्वौष्ठतालुकः। तथाऽस्यतुल्यसंस्थानौ दन्तौ शुभ्रौ विशेषतः। मधुपिङ्गलनेत्रश्च महाकायो महाबलः।। पुरस्तादुच्छ्रितश्चाऽपि पश्चादवनतस्तथा। धनुर्विततवंशश्च समपादतलः शुभः।। विंशत्या च नखैर्युक्तोऽष्टादशभिरेव च। विद्युद्दावाग्निसिंहेभ्यो न बिभेत्यंकुशादपि।। अन्वर्थवेदी शूरश्च क्षमावान् न च कर्कशः। कल्याणमेधास्तेजस्वी स भद्रः परिकीर्तितः।।' इति। अत्र 'प्रतिमान'पदेन दन्तयोरन्तरालमुच्यते, 'प्रतिमानं प्रतिच्छाया गजदन्तान्तरालयोः' इति विश्वप्रकाशात्। 'वंशः' पृष्ठास्थि। निगदव्याख्यातमन्यत्। तत्र निर्भयत्वादिकं साधर्म्यं ब्रह्मविदि विवक्षितम् इति बोध्यम्।।३४७।।

मायाया बह्वङ्कुरत्वं गुणभिन्नत्वं सर्वत्र ब्रह्मादिव्याप्तत्वं च प्रकृतरूपकानुकूल्येनाह—नानेति षोडशभिः। नानादेहानाम् अङ्कुरा मरणकालिक्यो भाविशरीरभावनाः तद्रूपैः अङ्कुरैः युक्ता; तथा त्रिगुणात्मकपदार्थैः नानाविधा सती स्थिता।

तस्यां मायाऽरण्यान्यां महत् सर्वत्र व्यापकं वृक्षत्रयं ब्रह्मविष्णुशिवसंज्ञं तिष्ठति। अनेकफलदानेन सर्वेषां सुखदमित्यर्थः।।३४८।। एतेषां ब्रह्मविदा अवश्याश्रयणीयत्वे प्रयोजकमाह—अस्या इति। अस्या उक्ताऽरण्यान्याः सकाशात् निर्गन्तुं शक्तो विद्वान् ब्रह्मवित् तद्रूपो महान् भद्रजातिः करी यदि कामादिरूपैः सिंहैः, कालरूपेण अग्निना च उपद्रुतो भवेत् तदा प्रोक्तवृक्षत्रयमध्य एकमाश्रयेद् उपासीत, तत्प्रभावाद् अमुम् उपद्रवजन्यं तापं त्यजेत्। इति द्वयोरर्थः।।३४९-५०।।

एतदाश्रितस्य तापाऽभावे हेतुमाह—अत्रेति। अत्र वृक्षत्रयेऽद्वितीयरूपे कामादयः सिंहाः कालाग्निः नरा मनुष्या देहाभिमानिन इति यावत्, एते सर्वे न प्रवेष्टुं शक्ता यतोऽत्यन्तात्—अन्तं परिच्छेदम् अतिक्रान्ताद् एतेषां स्वरूपाद्—भीरवः; न हि परिपूर्णरूपे कामादीनां सम्भवो व्याघातादिति भावः।।३५१।। एतैः सम्पृक्तभावेन

वह जंगल नाना शरीरों के अंकुरों से भरा है। मरते समय भावी शरीर की जो भावना उद्बुद्ध होती है वही देह का अंकुर कहलाती है। त्रिगुणात्मक पदार्थों से नानाविध हुई-जैसी यह अविद्या प्रतीत होती है।

ब्रह्मा, विष्णु, शिव—ये तीन इसमें बहुत बड़े वृक्ष हैं जो प्राणियों को सुखकारी फल प्रदान करते हैं।।३४८।। ब्रह्मवेत्तारूप महान् हाथी, जो इस जंगल से बाहर निकलने में समर्थ है, अगर कामना आदि शेरों द्वारा और कालरूप अग्नि द्वारा घेर कर दौड़ाया जाने लगे तो उसे चाहिये कि उक्त तीनों में से किसी एक महान् वृक्ष का सहारा ले ले। उनका सहारा लेने से साधक का सारा ताप शांत हो जाता है।।३४९-५०।। उक्त तीनों वृक्षों के क्षेत्र में कामना आदि सिंह, कालरूप अग्नि और देहाभिमानी जीव प्रवेश नहीं कर सकते क्योंकि इनके स्वरूप से डरते हैं। उक्त ब्रह्मादि वृक्ष परिपूर्ण अद्वितीय वस्तु हैं अतः वहाँ कामादि का अस्तित्व ही मिट जाता है।।३५१।। ब्रह्मा आदि तीनों वृक्षों से तीन लताएँ लिपटी हैं जो तीनों देवियाँ हैं। ब्रह्मारूप वृक्ष पर सरस्वतीरूप लता है, विष्णु पर लक्ष्मी और शिव पर भवानी

सरस्वती तथा लक्ष्मीर्भवानी चेति कीर्तितम्। लतात्रयं क्रमात्तेषु त्रिषु वृक्षेषु सर्वदा। ।३५२

एकः कनकवर्णोऽयं तमालश्यामलोऽपरः। क्षीरवर्णस्तथाऽन्योऽपि मनोनयननन्दनः।
श्वेता पीता तथा श्यामा लतास्ता अपि वर्णतः। ।३५३

अवर्णाः सर्ववर्णाश्च लता वृक्षाश्च सर्वदा। अफलाः सफलास्तद्वन्निर्बीजाश्च सबीजकाः।।
अनाद्यनन्ता निखिलबीजभूताः सनातनाः। ।३५४

श्रमापहा आश्रितानां सर्वदा कामरूपिणः। महतां हि महीयांसोप्यणीयांसोऽप्यणीयसाम्। ।३५५

अविद्येयमरण्यानी घोरदुःखप्रदायिनी। यद्यप्येतत्तरुच्छाया प्राप्ताऽनेन तथाऽपि सा। ।३५६

चैतन्यदीप्ता

एते चैतन्यसन्दीप्ता भासयन्ति दिशो दश। एतत्प्राप्तः सदा जन्तुर्निस्तमस्कः प्रजायते। ।३५७

यथाक्रमं ध्येयं देवीत्रयं लतारूपेण वर्णयति—सरस्वतीति। स्पष्टम्। ।३५२।। वृक्षत्रयस्य वर्णानाह—एक इति। एकः प्रथमो ब्रह्मा कनकवर्णः। अपरो द्वितीयः। अन्यः तृतीयः। लतानां वर्णानाह—श्वेतेति। सरस्वती श्वेता, लक्ष्मी पीता, भवानी श्माया इत्यर्थः। ।३५३।।

एतेषां वृक्षान्तरेभ्यो विशेषमाह—अवर्णा इति। अवर्णा निर्विशेषरूपेण, सर्ववर्णा विश्वरूपत्वात्। अफला दाम्भिकान् प्रति, सफलाः शरणागतान् प्रति। निर्बीजा अनादित्वात् सबीजा मन्त्रमयबीजशालित्वात्। आद्यन्तहीनाः सर्वप्रपञ्चबीजभूताः नित्याश्च इत्यर्थः। ।३५४।। एतेषां परोपकारार्थमेव अवस्थानं सर्वसन्निहितत्वं दुर्लक्ष्यत्वं चाह—श्रमापहा इति। आश्रितानां संसारश्रमहराः। यथेप्सितरूपाणां धारकाः। महतां गणनायां महीयांसोऽतिशयेन महान्तः, सूक्ष्मगणने तु अतिसूक्ष्मा इत्यर्थः। ।३५५।।

अविद्येयमिति। यद्यपि इयमविद्यारूपाऽरण्यानी घोरदुःखप्रदा तथाऽपि अनेन ब्रह्मविद्रूपेण करिणा वर्णिततरूणां छाया कान्तिः सा प्रसिद्धा प्राप्ता आश्रिता इत्यतो न दुःखदेति शेषः। ।३५६।। तत्र हेतुतया एतत्कान्तेः अविद्याऽभिभावकत्वमाह—एत इति। एते तरवः लताश्च चैतन्यरूपप्रकाशेन देदीप्यमानाः सर्वं विश्वं भासयन्ति। अत एतान् आश्रितो जनः तमसा स्वरूपावरणेन हीनो भवतीत्यर्थः। ।३५७।। आनन्दात्मान इति। एते तरवः स्वतः

हैं। ये हमेशा उन पर आश्रित ही रहती हैं। ।३५२।। ब्रह्मारूप वृक्ष स्वर्ण के रंग का और सरस्वतीरूप लता श्वेत वर्ण की है। विष्णुरूप वृक्ष तमाल-पेड़ की तरह श्याम है व लक्ष्मी पीत वर्ण की हैं। शिव तो मन व नयनों को आनंद देने वाले गोदुग्ध के वर्ण के हैं और भगवती भवानी श्यामा प्रसिद्ध ही हैं। ।३५३।।

लौकिक वृक्षों से उक्त वृक्षत्रय और लतात्रय में यह भी विशेषता है कि ये युगपत् ही रंगहीन भी हैं, सब रंगों वाले भी हैं ! हमेशा फलों से लदे भी हैं और बिलकुल फलशून्य भी हैं । ये बीजरहित और बीजयुक्त दोनों हैं । ये सनातन वृक्ष आदि-अंत से रहित और स्वयं सारे प्रपंच के बीज हैं। (ब्रह्मादि अपने निर्विशेष स्वरूप से रंगहीन और विश्वरूप होने से सब रंगों वाले हैं। शरणागतों के लिये फलों से लदे रहते हुए ही दंभपूर्ण जीवों के लिये फलहीन हैं। अनादि होने से इनका कोई बीज नहीं पर उपासकों के उपकारार्थ इनके मंत्रमय बीज (बीज मंत्र) उपलब्ध हैं । यह विरोधाभास संस्कृत टीकाकार ने परिहृत किया है।)। ।३५४।। ये वृक्ष व लताएँ इस अविद्यावन में स्थित केवल इसलिये हैं कि सज्जनों का उपकार हो सके। इसी प्रयोजन से ये सबके अतिनिकट हैं यद्यपि इनका स्वरूप ऐसा है कि इन्हें महसूस करना साधारण लोगों के लिये कठिन है। यथेच्छ रूप धारण करने वाले ये वृक्षादि उनकी संसार-थकान मिटा देते हैं जो इनका सहारा लेता है। महान् लोगों की गणना में ये अतिशय महान् हैं और सूक्ष्म में सर्वाधिक सूक्ष्म भी हैं। ।३५५।। यह सत्य है कि यह अविद्यावन घोर दुःख देने वाला है लेकिन ब्रह्मवेत्ता उक्त महावृक्षों में से किसी की छाया का आश्रय ले लेता है जिससे यह जंगल दुःखप्रद नहीं रह जाता। ।३५६।। चैतन्यरूप प्रकाश से देदीप्यमान ये

आनन्दात्मान एवैते स्वप्रकाशवपुर्धराः। तरवो जङ्गमाश्चैते स्थावराश्च भवन्ति हि। ।३५८

धर्मार्थकाममोक्षाणां चतुर्णां च फलात्मनाम्। दातारश्चित्तसंस्थानां सर्वेषामपि देहिनाम्। ।३५६

एते कल्पद्रुमाः प्रोक्ता इमाः कल्पलता अपि। एतान् समाश्रितो जन्तुर्नैव सीदति कर्हिचित्। ।३६०

उन्मूलयेदरण्यानीं दृढमूलामिमां सदा। अविद्यां ब्रह्मविज्ञानकरकस्तु करी वने। ।३६१

यावद् दृढं करं नैनं प्राप्नुयात् तावदात्मवान्। वृक्षान् अमून् समाश्रित्य तिष्ठेद् विगतसाध्वसः ।३६२

आत्मत्रैविध्यम्

यस्मादेतत् त्रयं मायाऽरण्यान्यां चैव मण्डलम्। त्रिविधं सर्वमेवैतद् अधिदैवादिभेदवत्। ।३६३

स्वप्रकाशानन्दरूपा एव भावानुसारेण च जङ्गमरूपाः स्थावररूपाश्च भवन्तीत्यर्थः। ।३५८।। धर्मार्थेति। पुरुषार्थचतुष्टयरूपफलानाम् आराधकैश्चिन्तितानां दातार इति। ।३५६।। एत इति। यत एतान् आश्रितो जनः अवसादं वैक्लव्यं न प्राप्नोति तत एते कल्पतरव उक्ताः। ।३६०।।

फलितमाह—उन्मूलयेदिति। ब्रह्मविज्ञानरूपः करः शुण्डा यस्य स तथाभूतो ब्रह्मविद्रूपः करी अत्र वने जात इमामविद्यारूपाम् अरण्यानीं दृढं मूलं स्नेहरूपं यस्यास्तथाभूताम् अपि उन्मूलां कुर्यात्। यावद् ब्रह्मवित् स्वकीयं ब्रह्मविज्ञानरूपकरं बालत्वेन कामादिसिंहकृतोपद्रवेण वा दुर्बलं पश्येत् तावद् उक्तान् वृक्षान् आश्रित्य तिष्ठेत्। इति द्वयोरर्थः। ।३६१-२।।

'तस्माद्' इत्यादेः 'मायया' इत्यन्तस्य[1] ग्रन्थस्याऽर्थमाह—यस्मादिति विंशतिश्लोकैः। यस्माद् मायारूपायाम् अरण्यान्याम् एतत् ब्रह्मविष्णुशिवरूपं वृक्षत्रयं मण्डलं मण्डलवत् सर्वं व्याप्याऽवस्थितं भवति तस्मात् तदीयस्वभावस्य सर्वत्र अनुगमाद् एतत्सर्वं जगद् अधिदैवाऽध्यात्माऽधिभूतरूपं त्रिविधं जातम्। सर्वत्रैव हि स्रष्टृत्वं ब्रह्मस्वभावः, पालकत्वं विष्णुस्वभावः, संहर्तृत्वं रुद्रस्वभावश्च दृश्यत इति भावः। ।३६३।। आत्माऽपीति। यदा च

महावृक्ष-लताएँ दसों दिशाओं को प्रकाशित करती हैं। इनके निकट आते ही जीव का सारा तम मिट जाता है। ।३५७।। स्वतः स्वप्रभ आनंदरूप शरीर वाले ये वृक्ष स्थावर-जंगम सभी रूप धारण कर लेते हैं। ।३५८।। सब देहधारी चित्त में जिनकी आशा रखते हैं, धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष उन चारों फलों के प्रदाता उक्त महावृक्ष ही हैं। ।३५६।। क्योंकि इनका सहारा लेने वाला जन्तु कभी अवसाद, दुःख नहीं पाता इसलिये इन वृक्षों को कल्पतरु और उक्त तीनों लताओं को कल्पलता कहते हैं। ।३६०।।

ब्रह्मविज्ञानरूप सूँड वाले विद्वानूरूप हाथी को चाहिये कि इस वन में रहते हुए ही स्नेहरूप पक्के मूल वाले इस जंगल को हमेशा के लिये उखाड़ डाले ! किंतु इसके लिये ज्ञानमात्र पर्याप्त नहीं, ज्ञाननिष्ठा की ज़रूरत है। जब तक साधक की विज्ञानरूप सूँड मज़बूत न हो, कामना विक्षेप आदि से आत्मबोध विस्मृत होता रहे, तब तक उसे निडर होकर उक्त वृक्षों की शरण लिये रहना चाहिये। ।३६१-२।।

क्योंकि मायारूप महावन में ब्रह्म-विष्णु-शिव रूप तीनों वृक्ष मण्डल-सा बनाकर सब कुछ घेरे हुए हैं इसलिये उनके स्वभाव का सर्वत्र फैलाव होने से यह सारा जगत् अधिदैव, अध्यात्म और अधिभूत—यों तीन तरह का है। जहाँ भी उत्पादकता है वह ब्रह्मा का स्वभाव है। कहीं भी उपलब्ध हो, पालन-कर्तृत्व विष्णु का स्वभाव है। जहाँ भी संहारकता है वह रुद्र का स्वभाव है। यों तीनों देवों का स्वभाव संसार में अनुस्यूत है। ।३६३।। ब्रह्मा आदि के संबंध से त्रिगुणों

१. 'तस्मादात्मन एव त्रैविध्यं सर्वत्र योनित्वमपि, अभिमन्ता जीवो, नियन्तेश्वरः, सर्वाहंमानी हिरण्यगर्भः, त्रिरूप ईश्वरवद् व्यक्तचैतन्यः सर्वगो ह्येष ईश्वरः क्रियाज्ञानात्मा, सर्वं सर्वमयं, सर्वे जीवाः सर्वमयाः सर्वावस्थासु तथाप्यल्पाः, स वा एष भूतानि इन्द्रियाणि विराजं देवताः कोशांश्च सृष्ट्वा प्रविश्याऽमूढो मूढ इव व्यवहरन्नास्ते माययैव' इति (तत्रैव)।

आत्माऽपि त्रिविधः प्रोक्तो भवेऽवस्थात्रये स्थितः। अभिमन्ता तथा हन्ता कर्ताऽपि च नियामकः।।
विराट् हिरण्यगर्भाख्य ईश्वरश्चेति कीर्तितः।।३६४
विराट् जागरणाऽवस्थो जीव उक्तो मनीषिभिः। यस्य भेदस्त्रिधाऽध्यात्ममवस्थात्रयकारिणः।।
विश्वश्च तैजसस्तद्वत् प्राज्ञश्च परमेश्वरः।।३६५
स्थूले देहेऽभिमन्ताऽयं विश्वो जीवाभिधो विराट्। हिरण्यगर्भो भगवान् सूक्ष्मेऽहन्तां प्रपद्यते।
अज्ञाने प्राज्ञनामाऽयमीश्वरो विश्वकारणम्।।३६६
हिरण्यगर्भो भगवान् अधिदैवस्थितौ हि यः। अहन्तां स हि सर्वस्मिन् जगत्याप्नोति सर्वदा।।३६७

माया ब्रह्मादिसम्बन्धेन गुणत्रयेण त्रिविधा जाता ततस्तत्सम्बन्धेन आत्माऽपि त्रिविधो जातो यो जाग्रदाद्यवस्थात्रयरूपे भवेऽभिमन्ता। कथमस्य त्रित्वम् ? अत आह—हन्तेति। हन्ता संहारकः, कर्ता स्रष्टा, नियामकः पालकः—इति। अस्यात्मनोऽधिदैवं वर्तमानस्य स्थूलसूक्ष्मकारणोपाधिकस्य क्रमिकं नामत्रयमाह—विराडिति।।३६४।।

हिरण्यगर्भस्य जीवत्वम् ईश्वरत्वं चेति सिद्धान्तं[1] प्रकटयंस्तत्र विराडादिभावसामानाधिकरण्येन विश्वादिभावं दर्शयति—विराडिति चतुर्भिः। जागरणावस्थो विराट् बोध्यः यस्य जीवघनस्य अध्यात्मं वर्तमानं जाग्रदाद्यवस्थात्रयं कुर्वतो विश्वतैजसप्राज्ञनामकः त्रिविधो भेदः, परमेश्वर इति च प्राज्ञविशेषणमभेदमादाय इत्यर्थः।।३६५।। विश्वादिभेदमेव स्फुटयति—स्थूल इति। स्थूले समष्टिरूपेऽभिमानं कुर्वन्नात्मा तदा सर्वस्य शरीरत्रयस्य अभिमन्तृत्वाद् विश्व इत्युक्तो, विविधं राजमानत्वाच्च विराड् इत्युक्तः। एवं सूक्ष्मेऽभिमन्ता हिरण्यगर्भ इति शुद्धोपाधिकत्वात् तैजस इति चोक्तः। केवलाऽज्ञानेऽभिमन्ता च निर्विक्षेपसाक्षिरूपज्ञानशालित्वात् प्राज्ञ इति, विश्वकारणत्वाद् ईश्वर इति चोक्त इत्यर्थः।।३६६।। जीवघनस्य हिरण्यगर्भस्य सर्वत्र अहन्ताकरणशीलतामाह—हिरण्यगर्भ इति। अधिदैवस्य स्थितौ मर्यादायां यो भगवान् हिरण्यगर्भ इत्युक्तः स सर्वत्र जगति अहन्ताम् अहमित्यभिमानं कुरुत

द्वारा क्योंकि माया तीन तरह की है इसलिये उसके संबंध से आत्मा भी तीन तरह का है। संसार में आत्मा जाग्रदादि तीन अवस्थाओं में अभिमान किये हुए रहता है। संहारक, स्रष्टा और पालक—ये तीनों रूप आत्मा धारण किये है। अपने आधिदैविक रूप में स्थूल-सूक्ष्म-कारण उपाधियों की अपेक्षा से इसके क्रमशः विराट्, हिरण्यगर्भ, ईश्वर ये तीन नाम प्रसिद्ध हैं।।३६४।।

हिरण्यगर्भ अवस्था में आत्मा को जीव-ईश्वर दोनों माना जाता है ! यह तथ्य भाष्य आदि आकरों में स्पष्ट किया गया है। उसे सूचित करते हुए पुराणकार कहते हैं : मनीषियों ने बताया है कि जाग्रद् अवस्था वाला जीव विराट् से पृथक् नहीं है। व्यष्टि शरीरों से परिच्छिन्न हुआ विराट् ही वह परमेश्वर है जो तीनों अवस्थाएँ करता है जिससे उसका तीन तरह का भेद हो जाता है—विश्व, तैजस और प्राज्ञ।।३६५।।

समष्टि स्थूल शरीर में अभिमान रखते हुए आत्मा विश्व कहलाता है क्योंकि उस स्थिति में सभी स्थूल-सूक्ष्म-कारण शरीरों में वह अभिमान रखता है। नाना प्रकार से विराजने के कारण उसीको विराट् भी कहते हैं। समष्टि सूक्ष्मशरीर में अभिमान करते हुए वह हिरण्यगर्भ कहलाता है और शुद्ध उपाधि वाला होने के कारण उसीको तैजस भी कहते हैं। कारणशरीरभूत केवल अज्ञान में आत्मा का अभिमान रहता है अतः विक्षेपशून्य साक्षिरूप ज्ञान ही होने से वह प्राज्ञ नाम पाता है। वही सबका कारण है अतः प्राज्ञ ही ईश्वर भी कहा जाता है।।३६६।। आधिदैविक भूमिका पर जो भगवान् हिरण्यगर्भ हैं वे सारे जगत् में हमेशा अभिमान किये रहते हैं।।३६७।। आधिदैविक भूमिका पर जो ईश्वर हैं वे

---

१. बृहदारण्यकभाष्यादावुक्तम्। 'हिरण्यगर्भस्तूपाधिशुद्ध्यतिशयाऽपेक्षया प्रायशः परएवेति श्रुतिस्मृतिवादाः प्रवृत्ताः संसारित्वं तु क्वचिदेव दर्शयन्ति।' इति तत्र १.४.६ म. अ. सं. पृ ६४।

अधिदैवं हि यस्त्वीशो नियन्ता स प्रकीर्तितः। नियच्छति यतः सर्वमेक एव महेश्वरः।।३६८
अधिभूतमथाऽध्यात्ममधिदैवं च संस्थितः। त्रिरूपो जीव एकोऽयमीशवद् भाति सर्वतः।।३६९
आनन्दात्मा स्वयंज्योतिरयं स्फुरति सर्वदा। ईश्वरः सर्वगस्तद्वज्जीवोऽप्येष महेश्वरः।।
क्रियाज्ञानात्मकः प्राणबुद्धिरूपोऽप्यरूपभाक्।।३७०
अविद्योपाधिको योऽयमानन्दात्मा महेश्वरः। हिरण्यगर्भो भगवान् स एव परिकीर्तितः।
ज्ञानक्रियाशक्तिसंस्थो विक्षेपबहुलः पुमान्।।३७१
अविद्याऽऽवरणात्मोक्ता यस्या ज्ञानक्रियाजनिः। ज्ञानक्रियात्मकाः सर्वे प्राणबुद्ध्यादयोऽपि हि।।
पदार्थाः पञ्चभिर्भूतैः सहिता विश्वशब्दिताः।।३७२

इत्यर्थः।।३६७।। तस्यैव आत्मनः कारणोपाधेः नियन्तृत्वमन्तर्यामित्वरूपम् उक्तमित्याह—अधिदैवमिति। नियच्छति मर्यादायां स्थापयति।।३६८।।

हिरण्यगर्भाख्यजीवस्य अधिभूताऽध्यात्माधिदैवाख्यै रूपैस्त्रिरूपत्वम् ईशसाम्यं चाह—अधिभूतमिति। अयं हिरण्यगर्भाख्य एको जीवः कार्योपाधिः अधिभूतादिषु सर्वत्र स्थितत्वेन त्रिरूप ईशेन कारणोपाधिना सम इत्यर्थः।।३६९।। तत्र हेतुतया लक्षणसाम्यमाह—आनन्दात्मेति। स्वयम्प्रकाशानन्दरूपत्वं व्यापकत्वं च यथेश्वरे तथाऽस्मिन्नपीति। यद्यप्ययं क्रियाशक्तिज्ञानशक्तिरूपाभ्यां प्राणबुद्धिभ्यां रूपवान् उपहितः तथापि अरूपभाक् स्वतः सिद्धविज्ञानेन आत्मानमरूपं निर्विशेषं मन्यत इत्यत ईशसाम्यं युक्तमित्यर्थः।।३७०।। तच्च साम्यमात्यन्तिकत्वाद् ऐक्यरूपमिति सूचयन् परमेश्वरस्यैव हिरण्यगर्भरूपेण अवस्थानमाह—अविद्येति। योऽविद्याख्यमायोपाधिक ईश उक्तः स एव ज्ञानक्रियाशक्त्युपाधिः सन् हिरण्यगर्भ उक्तो यत्र मायाकृतो विक्षेपः प्रचुरो दृश्यत इत्यर्थः।।३७१।। उपाध्योरपि कार्यकारणविधयाऽभेद इति दर्शयन् ज्ञानक्रिययोः सकलप्रपञ्चात्मकयोः ईश्वरोपाधेरविद्यायाः सकाशाद् उत्पत्तिमाह—अविद्येति। मायैव आवरणं कुर्वती अविद्या इति उक्ता यस्याः सकाशात् ज्ञानक्रिययोः जनिरुत्पत्तिः। तयोरुत्पत्त्या च विश्वोत्पत्तिः यतः सर्वे प्राणादयो बुद्ध्यादयो वा पदार्था विश्वपदेन उक्ता ज्ञानक्रियाशक्तिरूपा एव। न हि ज्ञानं क्रियां वाऽजनयन्तः केऽपि भावा दृष्टा इति भावः।।३७२।।

महेश्वर ही नियंता कहे जाते हैं क्योंकि वे अकेले ही सबको मर्यादा में रखते हैं।।३६८।। हिरण्यगर्भ नामक एक, मुख्य जीव की उपाधि है कार्य जगत्। जैसे ईश्वर सर्वत्र भासता है वैसे यह मुख्य जीव अधिभूत-अध्यात्म-अधिदैव तीनों रूपों वाला होकर सर्वत्र भासता है।।३६९।। यह स्वप्रभ आनंदरूप ईश्वर सदा सर्वगत हुआ स्फुरता है। यह महेश्वर ही जीवरूप भी धारण किये है। जैसे ईश्वर स्वयम्प्रकाश आनंद है वैसे ही हिरण्यगर्भ भी। यद्यपि हिरण्यगर्भ क्रियाशक्ति-ज्ञानशक्ति वाला है, प्राण व बुद्धि से उपहित है, तथापि इसमें स्वतःसिद्ध विज्ञान है जिससे यह स्वयं को निर्विशेष, उपाधिहीन जानता है अतः इसका ईश्वरतुल्य होना उचित है।।३७०।। अविद्या-नामक मायारूप उपाधि वाला ईश्वर ही ज्ञान-क्रिया शक्तियाँ स्वीकार कर हिरण्यगर्भ बन जाता है जिस स्थिति में मायाकृत विक्षेप प्रभूत हो जाता है।।३७१।।

यों हिरण्यगर्भ-ईश्वर की आत्यंतिक समानता है ही, उनकी उपाधियों में भी अत्यंत भेद नहीं है क्योंकि ईश्वर की उपाधि कारण है व हिरण्यगर्भ की उपाधि कार्य है और कार्य अपने कारण से सर्वथा भिन्न होता नहीं। आवरण करने वाली होने से माया ही अविद्या कही जाती है और उसी से ज्ञान-क्रिया दोनों उत्पन्न होते हैं जिनकी उत्पत्ति से सारा संसार ही उत्पन्न हो जाता है क्योंकि संसार कहलाने वाले प्राण, बुद्धि, पंचमहाभूत आदि सारे पदार्थ ज्ञानक्रियाशक्तिरूप ही हैं, ज्ञान या क्रिया पैदा न करता हुआ कोई पदार्थ नहीं देखा जाता। (जो भी है वह ज्ञानोत्पादक है और क्रियोत्पादक है। परिस्पंद न सही, परिणामरूप क्रिया तो वह अवश्य उत्पन्न करता है क्योंकि जन्म के बाद बना रहना भी एक परिणाम ही है, नष्ट होना भी परिणाम ही है।)।।३७२।। अविद्या का स्वरूप तो बता ही चुके हैं—परिणामों में अनुगत

अविद्या परिणामस्थं सामान्यं परिकीर्तितम्। उपाधिरीश्वरस्येयमेकैवानेकरूपिणी।।३७३
ज्ञानक्रियात्मिका शक्तिर्मायाकार्यं यदीरितम्। पूर्वं हिरण्यगर्भस्य स उपाधिः प्रकीर्तितः।।३७४
हिरण्यगर्भोपाधेर्यत् सदृशं चित्ररूपधृक्। ततो जातमनेकं तज्जीवोपाधिरितीरितम्।।३७५
वटबीजे तु सामान्यं प्रत्येकं परिवर्तते। परिपूर्णतया तद्वद् माया सर्वत्र संस्थिता।।३७६
ज्ञानक्रियाशक्तिरूपे बाह्ये कार्ये परत्र वा। मृद्यस्मात्सर्वकार्येषु वर्तते सर्वरूपिणी।।३७७
सर्वं सर्वमयं तस्मात् सर्वे जीवाश्च तादृशाः। अविद्यायां न भेदोऽस्ति न चिदात्मनि कश्चन।।
ततो जीवेऽपि कार्ये वा वैषम्यं किंकृतं भवेत्।।३७८

अविद्यायाःस्वरूपं प्रागुक्तं स्मारयति—अविद्येति। परिणामेषु अनुगतं यत् सामान्यं तद्रूपा अविद्या ईश्वरोपाधिरित्यर्थः।।३७३।। तस्या मायायाः सामान्यरूपाया व्याप्यं यत् सामान्यं ज्ञानक्रियात्मककार्यनिष्ठं कार्यशक्तिसंज्ञं तद् हिरण्यगर्भस्य उपाधिरित्याह—ज्ञानेति। ज्ञानशक्तिक्रियाशक्तिसंज्ञं यद् मायायाः कार्यमुक्तं तत् प्रथमं हिरण्यगर्भस्य उपाधित्वेन उक्तमित्यर्थः।।३७४।।

अस्त्वेवं हिरण्यगर्भस्य परमात्मनैक्यं, व्यष्टिजीवानां तु तत् कथम् ? इत्याशङ्कां परिहरन्, व्यष्ट्युपाधीनामपि तथात्वमाह—हिरण्येति। हिरण्यगर्भोपाधिः समष्टिलिङ्गशरीरं तत्तुल्यरूपं नानासंस्कारसम्भृतत्वेन विचित्रं च यल्लिङ्गशरीरम् अनेकविधं ततो मायातो जातं तद् व्यष्टिजीवानामुपाधिभूतमित्यर्थः।।३७५।। तथा च मायाया स्तादात्म्यं यथा हिरण्यगर्भोपाधौ तथा व्यष्ट्युपाधावपि इत्याह—वटेति। यथा वटेषु तद्बीजेषु जनकतारूपं सामान्यं प्रत्येकं परिपूर्णतया वर्तत इत्युक्तं तद्वद् माया सर्वत्र कार्ये परिपूर्णतया स्थिता। कीदृशे कार्ये ? ज्ञानक्रियाशक्तिरूपे बाह्येऽधिदैवाधिभूतरूपे, परत्र अध्यात्मरूपे वा, स्वकीयकार्येषु मृद्वत्। इति द्वयोरर्थः।।३७६-७।।

फलितमाह—सर्वमिति। तस्मात् सर्वोपाधीनां सर्वशक्तिमायातादात्म्यात् सर्वम् उपाधिजातं सर्वात्मकम्। ततश्च सर्वेऽपि जीवास्तादृशाः तद्वत् परमात्मैक्यभाज इति यावत्। यतोऽविद्यारूपोपाधौ उपहिते चिदात्मनि वा भेदो नास्ति ततो जीवे व्यष्टिरूपे कार्ये तदुपाधौ च भेदः केन निमित्तेन स्याद् ? इत्यर्थः।।३७८।। कथं तर्हि व्यष्टिषु

सामान्य ही अविद्या है। यही ईश्वर की उपाधि है तथा एक होने पर भी अनंत रूप धारण करती है।।३७३।। महासामान्यरूप उस माया की अपेक्षा सीमित सामान्यरूप कार्यशक्ति हिरण्यगर्भ की उपाधि है। वह शक्ति माया का कार्य है व ज्ञान और क्रिया में समर्थ है।।३७४।।

व्यापक, मुख्य जीव हिरण्यगर्भ की तरह ही व्यष्टि जीव भी परमात्मा से पृथक् नहीं हैं। समष्टि लिंगशरीर हिरण्यगर्भ की उपाधि है तो उसीके समान नाना संस्कारों से चित्रित व्यष्टि अनंत लिंगशरीर व्यष्टि जीवों की उपाधियाँ हैं और वे भी माया से ही पैदा हुए हैं। अतः जैसे हिरण्यगर्भ की उपाधि का माया से तादात्म्य है वैसे व्यष्टि-उपाधियों का भी है अतः हिरण्यगर्भ-ईश्वर के अभेद की तरह ही व्यष्टि जीवों का भी ईश्वर से अभेद है। उत्पादकतारूप सामान्य जैसे प्रत्येक वट और उसके प्रत्येक बीज में पूरी तरह मौजूद रहता है वैसे चाहे अधिदैव-अधिभूतरूप हो या अध्यात्मरूप, ज्ञान-क्रियाशक्तिरूप समस्त कार्य में माया पूर्णतः स्थित है। जैसे मिट्टी अपने सब कार्यों में पूरी तरह रहती है वैसे माया अपने सब कार्यों में पूरी तरह रहती है। ('पूरी तरह' अर्थात् जैसे हर घट में घटत्व पूरी तरह है वैसे हर वट व बीज में जनकता पूरी तरह है। सभी सामान्य अपने सभी विशेषों में यों पूरी तरह ही स्थित होते हैं।)।।३७५-७।।

क्योंकि सारी उपाधियाँ सर्वसमर्थ माया से अभिन्न हैं इसलिये उपाधियाँ सर्वस्वरूप हैं, किसी का किसी से आत्यंतिक भेद नहीं कहा जा सकता जैसे किसी भी मृत्कार्य को अन्य मृत्कार्य से अत्यंत भिन्न नहीं मान सकते क्योंकि सभी मृत्कार्य मृत्से अभिन्न हैं ही और मृत् एक ही है। उपाधियाँ सर्वरूप हैं तो उनसे उपहित जीव भी सर्वरूप हैं, ईश्वर

अवस्थात्रयमायाता जीवाः सर्वे चतुर्विधाः। हिरण्यगर्भेशरूपा यद्यप्येते तथाऽपि हि। ।३७९
महतां हि महीयांसो ह्यल्पाः स्युर्बुद्धियोगतः। घटाकाशादयो यद्वत् सम्बन्धेन घटादिना। ।३८०

परस्य प्रविश्यावस्थानम्

सच्चिदात्मा य उक्तोऽयं मया पूर्वं सुरोत्तमाः। हिरण्यगर्भ ईशश्च स एव परमेश्वरः। ।३८१
विराजं चैव तं सृष्ट्वा वह्न्याद्यांश्च सहेन्द्रियैः। महाभूतानि कोशांश्च पञ्चाप्यन्नमयादिकान्। ।३८२
प्रविश्य सकलं ह्येतदहन्ताकञ्चुकः पुमान्। आनन्दात्मा स्वयंज्योतिरमूढो मूढवत्स्थितः। ।३८३
व्यवहारानिमान् सर्वान् कार्यकारणजान् सदा। पश्यन्नात्मनि मन्वानो भेदाभेदविवर्जितः। ।३८४
अस्य सर्वस्य हेतुः स्याद् माया वश्या सनातनी। जीवेश्वरादिभेदस्य निर्भिन्ना तुच्छरूपिणी। ।३८५

परिच्छेदानुभव इति चेद् ? बुद्ध्यादितादात्म्याऽभिमानाद् इत्याह—अवस्थात्रयमिति। जाग्रदाद्यवस्थात्रयं प्राप्ता य इमे जरायुजादयो जीवाः ते सर्वे हिरण्यगर्भसंज्ञो य ईशः तत्तुल्यरूपाः सन्तो यद्यपि महतां महीयांसो भवन्ति तथापि बुद्धेरणुरूपाया योगेन अल्पाः परिच्छिन्ना जाताः, घटादिसम्बन्धेन तदवच्छिन्नाकाशवत्। इति द्वयोरर्थः। ।३७९-८०।।

सर्वेषां वस्तुतो ब्रह्मत्वे हेतुं परमात्मन एव सर्वत्र प्रविश्य अवस्थानमाह—सच्चिदात्मेति चतुर्भिः। हे सुरोत्तमाः ! यः सच्चिदानन्दलक्षण आत्मा पूर्वं वर्णितः स एव अज्ञातः परमेश्वरो हिरण्यगर्भाख्यः परमेश्वरो भूत्वा विराजं, वह्न्यादीन् देवान्, इन्द्रियाणि, भूतानि, पञ्च कोशान्, एतद्रूपं सकलं जगत् सृष्ट्वा, तत्र प्रविश्य च अहन्ताऽहमित्यभिमानः स एव स्वरूपावरकत्वेन कञ्चुकीभूतो यस्य स तथाभूतः, वस्तुतः स्वयंप्रकाशानन्दरूपोऽपि अमूढोऽपि च मूढ इव स्थितः। इति त्रयाणां सम्बन्धः। ।३८१-३।। ततश्च व्यवहारान् शरीरत्रयवर्तिनः साक्षितया पश्यन् सन्नात्मनि मन्वानो भवति। वस्तुतो भेदाभेदकल्पनारहित इत्याह—व्यवहारानिति। ।३८४।।

एतादृशभाने निदानं तु मायैवेत्याह—अस्येति। अस्य प्रतीयमानस्य जीवादिभेदस्य हेतुः प्रयोजिका माया एव। कीदृशी ? वश्या चित्परतन्त्रा, सनातनी अनादिः, निर्भिन्ना भिन्नाद् भेदाद् निष्क्रान्ता, स्वतः पृथक् सत्ताहीनेति यावत्, यतो वस्तुतः तुच्छा। ।३८५।।

से अभिन्न हैं। चिदात्मा में तो कभी कहीं कोई भेद है नहीं। भेद उपाधि में ही हो सकता है, लेकिन जीवोपाधियाँ ईश्वरोपाधि का कार्य ही हैं अतः उनमें भी वास्तविक भेद न होने से जीव में भी कोई भेद होना संभव नहीं। ।३७८।। व्यष्टिजीवों को जो परिच्छेद अनुभव में आ रहा है वह बुद्धि आदि से अभेदाध्यास के कारण। जरायुज आदि चारों तरह के जो सब जीव जाग्रद् आदि तीन अवस्थाओं वाले हैं वे उसके तुल्य रूप वाले ही हैं जो हिरण्यगर्भ नामक ईश्वर है अतः महानों से भी महान् हैं लेकिन सीमित बुद्धि से एकमेक हो जाने के कारण स्वयं को परिच्छिन्न महसूस करते हैं। घटादि से संबद्ध हुआ आकाश जैसे सीमित हो जाता है वैसे ही बुद्धिसम्बंधवश आत्मा सीमित प्रतीत हो जाता है। ।३७९-८०।।

वास्तव में सब जीव ब्रह्म ही हैं क्योंकि वही उपाधियों में प्रवेश किये हुए है। पहले जिस सच्चिदानंद आत्मा का वर्णन किया था वह अज्ञात परमेश्वर ही सूक्ष्मोपाधिवश हिरण्यगर्भ बनकर समष्टि स्थूलात्मक विराट् को, इंद्रियों समेत अग्नि आदि देवताओं को, पाँचों भूतों को, अन्नमयादि पाँचों कोशों को, अर्थात् सकल जगत् को उत्पन्न करता है। उत्पन्न करने के बाद वही इनमें घुस जाता है और इन सबमें 'यह मैं हूँ' ऐसा अभिमान कर लेता है। जैसे कंचुकादि वस्त्र देह को ढाँक लेता है वैसे वह अभिमान आत्मस्वरूप को ढाँके हुए है अतः स्वप्रकाश आनंदरूप मोहहीन रहते हुए भी वह मूढ जैसा विद्यमान है। ।३८१-३।। कार्य-कारण तीनों शरीरों में होने वाले व्यवहारों को साक्षीरूप से देखते हुए भी उक्त अभिमानवश वह स्वयं में समझता रहता है जबकि वास्तविकता है कि वह भेद-अभेद की कल्पना से सदा परे है। ।३८४।।

आत्मलक्षणानि

यस्माद् भेदोऽत्र मायायाः कार्यं नैवास्ति किञ्चन। आनन्दात्मनि तेनाऽयम् अद्वयः परिकीर्तितः।।
अवधारणपूर्वं स विद्वद्भिर्ब्राह्मणोत्तमैः।।३८६

न हि स्वाप्नेन भेदेन नाना जीवेश्वरादिना। दृष्टेन भेदः कोऽपि स्यात् स्वप्नद्रष्टुर्महात्मनः।।३८७

सच्चिदानन्दरूपाणां भेदस्य परिवर्जने। सन्मात्र एव सिद्धोऽयमानन्दात्मा महेश्वरः।।३८८

सत्ताया न विनाशोऽस्ति मते कस्याऽपि वादिनः। ततो नित्यः पुमानेष नाशकारणवर्जनात्।।३८९

अशुद्धं नाशमायाति जडं यद्वद् घटादिकम्। तस्माद् विलक्षणः शुद्धः कुतो नाशं गमिष्यति।।३९०

प्रपञ्चस्य मिथ्याभूतमायामयत्ववर्णनेन फलितानि आत्मनोऽद्वयत्वादीनि एकरसत्वान्तानि लक्षणानि[1] प्रतिपादयति—यस्मादिति त्रयोदशभिः। यस्मादत्र आत्मनि कोऽपि भेदो नास्ति यतः स भेदो मायायास्तुच्छरूपाया एव कार्यं भवति तेन हेतुना अयम् आनन्दरूप आत्मा वेदविद्भिः ब्राह्मणैरवधारणेन एवकारप्रयोगेण सहितं यथा भवति तथाऽद्वय इत्युक्त इत्यर्थः।।३८६।। अत्रोपपत्तिमाह—न हीति। यतः स्वप्नावस्थाभवेन नानाविधेन भेदेन दृष्टेन अपि तद्द्रष्टुः कोऽपि भेदो न अस्ति इत्यर्थः। तथा च मायामयं भेदजातं न द्वैतावहमिति भावः।।३८७।। सन्मात्रत्वं व्याचष्टे—सच्चिदानन्देति। यदा चात्मनः स्वरूपलक्षणभूतानां सदादिपदार्थानामपि परस्परं भेदाभावः, भेदान्तरं च पूर्वमेव निरस्तं, ततोऽयम् आत्मा सन्मात्र एव इति वाच्य इत्यर्थः।।३८८।।

ततश्च नित्यत्वं सिद्धमित्याह—सत्ताया इति। सत्ताया विनाशः केनापि वादिना न सम्मतः। सतः क्षणिकत्वं वदन्तो बाह्या अपि धर्मिण एव क्षणिकत्वं वदन्ति, न तेषु अनुगतायाः सत्ताया इति भावः। ततः सत्तारूप आत्मा नाशकारणहीनो नित्य इत्युच्यते इत्यर्थः।।३८९।। ततश्च शुद्धत्वसिद्धिरित्याह—अशुद्धमिति। यतो जडत्वेन अशुद्धस्यैव नाशो दृष्टः, अयमात्मा तस्मात् जडाद् विलक्षणत्वेन नाशाऽयोग्यः, तस्माद् नाशाभावाय जडवैलक्षण्यस्य अवश्यमपेक्षणात् शुद्ध इत्युक्त इत्यर्थः।।३९०।।

जीवादि के प्रतीयमान भेद को प्रयुक्त करने वाली—अर्थात् भेदप्रतीति संभव करने वाली—है चेतनाधीन अनादि माया जो तुच्छ होने से स्वतः किसी पृथक् सत्ता वाली नहीं है।।३८५।।

प्रपंच मिथ्या मायारूप ही है अतः आत्मा अद्वय एकरस रहे इसका कोई विरोधी नहीं। जब माया ही तुच्छ है तब इसका कार्य भेद तुच्छ होना ही है और तुच्छ भेद वास्तविक आत्मा को सभेद नहीं बना सकता। इसी से विद्वान् उत्तम ब्राह्मण निश्चयपूर्वक कहते हैं कि आत्मा अद्वय है।।३८६।। जैसे स्वप्नावस्था में होने वाले नाना प्रकार के भेद को देखने से भी उससे उसके द्रष्टा में कोई भेद नहीं आता वैसे ही जीव-ईश्वर आदि मायिक भेद दीखने से महान् आत्मा में कोई भेद नहीं आता।।३८७।। यों अन्य कोई भेद संभव नहीं और सच्चिदानंद स्वरूप में कोई भेद है नहीं अतः आनंदात्मा महेश्वर एक अखण्ड सत् ही सिद्ध होता है। (संसारमिथ्यात्व का पर्यवसान ब्रह्मसत्यत्व में है यही वेदांत सिद्धांत है।)।।३८८।। सद्रूप का विनाश कोई वादी नहीं मानता। (यद्यपि सौगत सत् को स्वरस नश्वर मानता है तथापि असंगत प्रलापी होने से वह वादी नहीं यह भाव है। वैसे विचार करें तो वे जिसे क्षणिक कहते हैं वह तो वह धर्मी है जिसमें सत् की धर्मरूप से स्फुरणा होती है अतः समस्त धर्मियों में जो एक-समान स्फुरता है उस सत् को वे क्षणिक सिद्ध नहीं कर सकते जिससे उनका सर्वक्षणिकतावाद बाधित ही है।) जिसके नाश का कोई कारण संभव नहीं वह सत् ही तो आत्मा है अतः आत्मा की नित्यता निश्चित है।।३८९।। जड होने से जो अशुद्ध होता है उसी का नाश देखा गया है। यह आत्मा जड से विलक्षण अनश्वर है अत एव शुद्ध है।।३९०।।

---

१. 'तस्माद् अद्वय एवाऽयमात्मा सन्मात्रो नित्यः शुद्धो बुद्धः सत्यो मुक्तो निरञ्जनो विभुरद्वय आनन्दः परः प्रत्यगेकरसः।' (तत्रैव)।

आनन्दात्मा स्वयंज्योतिः सर्वदा स्वात्मविद् यतः। ततो विलक्षणो बुद्धो जडाऽशुद्धस्वरूपतः।।३६१

मिथ्या यद् दृश्यते शुक्तिरजतादिस्वरूपकम्। अनानन्दात्मकं तत् स्यात् स्वयंज्योतिरितीरितः।।
तस्माद् विलक्षणो यस्मात् तस्मात् सत्यः प्रकीर्तितः।।३६२

सत्यं न बध्यते मिथ्याभूतैः स्वात्मनि कल्पितैः। रज्जुर्यथैव सर्पौघैः सत्यो मुक्तस्ततः पुमान्।।३६३

जायमानस्य बन्धस्य ह्यञ्जनं कारणं भवेत्। यथा सर्पस्य रज्जुः स्याद् मुक्तौ हेतुविवर्जितः।।
यतस्ततः पुमानुक्तो नित्यमुक्तो निरञ्जनः।।३६४

कार्याणां हि परिच्छेदो भवेद्धेतुमतामिह। अहेतुः परमात्माऽतो विभुरुक्तो मनीषिभिः।।३६५

आनन्दात्माऽद्वयस्तस्मात् सर्वतोऽपि परः स्मृतः। अधिष्ठानं यतोऽध्यासात् परमुक्तं मनीषिभिः।।३६६

जडवैलक्षण्येनैव बुद्धत्वमपि सिद्धम् इत्याह—आनन्दात्मेति। स्वयंप्रकाशरूपेण सर्वदा स्वरूपं यतो वेत्ति अनुसन्दधाति ततो हेतोः जडाऽशुद्धरूपाज्जगतो विलक्षणः सन्नात्मा बुद्ध इत्युक्त इत्यर्थः।।३६१।। सत्यत्वं विवृणोति—मिथ्येति। यद् यद् मिथ्याभूतं तद् अनानन्दात्मकम् आनन्दभिन्नं दृष्टं यथा शुक्तिरजतम्, अयमात्मा तु स्वयंज्योतिरिति उक्तः, तत आनन्दभिन्नाद् मिथ्यावस्तुनो विलक्षण आनन्दरूपो भवति, ततोऽसद्वैलक्षण्यात् सत्य इत्युक्त इत्यर्थः।।३६२।। सत्यवस्तुनश्च मिथ्याभूतैर्बन्धनाऽदर्शनाद् यतः सत्यस्ततो मुक्त इति वक्तव्य इत्याह—सत्यं न बध्यत इति। सत्यं वस्तु स्वस्मिन् कल्पितैः न बध्यते न बन्धं नीयते यथा नानाद्रष्टृकल्पितसर्पवृन्देन रज्जुर्न बध्यत इति प्रसिद्धम्। ततः च सत्य इत्युक्त आत्मा मुक्त इति सिद्धमित्यर्थः।।३६३।।

ततो निरञ्जनत्वसिद्धिं विवृणोति—जायमानस्येति। बन्धस्य कारणमञ्जनम् इत्युच्यते। अयमात्मा तु यतः स्वाभाविक्यां मुक्तौ हेतुवर्जितः अनपेक्षितसाधनकः, बन्धस्यैवाऽभावेन तन्निवृत्तिसाधनानामनुपयोगाद् इति भावः। यत एवं ततो निरञ्जन इत्युक्तः। तत्फलं पूर्वं मुक्तत्वेन उक्तस्याऽपि नित्यमुक्तत्वेन व्यवहार इत्यर्थः।।३६४।। परिच्छेदस्य कार्यत्वव्याप्यत्वाद् अहेतुः अकार्यभूतो यत आत्मा ततः परिच्छेदाऽभावाद् विभुः इत्युक्त इत्याह—कार्याणामिति।।३६५।।

परत्वमुपपादयति—आनन्दात्मेति। यतोऽधिष्ठानमध्यासाद् आरोपितात् परम् उत्कृष्टं प्रसिद्धं तस्मात् सर्वाधिष्ठानत्वाद् हेतोः अयमद्वयत्वेन आनन्दरूप आत्मा पर उक्त इत्यर्थः।।३६६।। प्रत्यक्त्वं वर्णयति—प्रत्यगिति।

स्वप्रभ होने से हमेशा अपने स्वरूप का अनुसंधान कर पाता है अतः जड व अशुद्ध जगत् से विपरीत स्वरूप वाला आत्मा बुद्ध कहा जाता है।।३६१।। शुक्तिरजतादि सभी मिथ्या पदार्थ आनंदभिन्न ही देखे गये हैं जबकि प्रत्यगात्मा स्वयम्प्रकाश है जिससे पता चलता है कि यह मिथ्या व अनानंद न होकर सत्य व आनंद ही है।।३६२।। सत्य को मिथ्या चीज़ें बाँध नहीं सकती इसलिये अद्वितीय सत्य आत्मा नित्य ही मुक्त है। रज्जु पर कल्पित सर्पों से जैसे वह रज्जु कभी बँध नहीं सकती वैसे सत्य आत्मा पर कल्पित मिथ्या जगत् से आत्मा कभी नहीं बँधता।।३६३।। 'अंजन' कहते हैं जायमान बंधन के कारण को जैसे सर्प के कारणभूत रज्जु को सर्प के लिये अंजन कह सकते हैं। क्योंकि आत्मा के संदर्भ में कोई बंधन है ही नहीं इसलिये अपनी स्वाभाविक मुक्ति के लिये आत्मा किसी कारण की अपेक्षा नहीं रखता। यों अंजनशून्य होने से नित्यमुक्त पुरुष को निरंजन कहते हैं।।३६४।। सहेतुक कार्यों का ही परिच्छेद हुआ करता है। परमात्मा निर्हेतु है अतः मनीषी उसे विभु अर्थात् अपरिच्छिन्न कहते हैं।।३६५।। प्रसिद्ध है कि अधिष्ठान आरोपित से परे होता है। सारा संसार अध्यस्त है अतः इसका अधिष्ठानभूत अद्वय परमात्मा सारे प्रपंच से परे है।।३६६।। बुद्धि आदि से भी आंतरिक होने से यह आत्मा प्रत्यक् है। बुद्धि आदि इदम्बुद्धि-विषय होने से पराक् हैं, उनका भासक अतः उनसे विलक्षण आत्मा प्रत्यक् हो यह स्वाभाविक है क्योंकि यही देखा गया है कि भास्य से भासक प्रत्यक् होता है जैसे घट से उसका भासक नयन प्रत्यक् है।।३६७।।

प्रत्यगभ्यन्तरस्तद्वद् बुद्ध्यादेः परिकीर्तितः। ईदृक्त्वाद् नयनं यद्वद् घटादेरान्तरं स्मृतम्।।३६७
यतः सत्ताचिदानन्दाः सर्वभेदविवर्जिताः। तत एकरसो यद्वत् क्षीरं मधुरमेव हि।।३६८

प्रमाणावगत आत्मा

एतैः सर्वैः पदैर्वाऽयं बोधैः स्फुरणरूपतः। सदैवावगतः सर्वैः प्रमाणैर्देहधारिभिः।।३६९
प्रमाया यद्भवेद्धेतुः प्रमाणं तद्धि वादिनाम्। प्रमाणं स्फुरणं प्रोक्तं हेतुर्वा स्फुरणस्य हि।।४००

अयमात्मा तद्वत् तथा प्रत्यग् इत्युक्तः यतो बुद्ध्यादेः अभ्यन्तर आन्तरः। कुतः ? तेषां बुद्ध्यादीनाम् ईदृक्त्वाद् इदन्त्वेन पराग्भावेन प्रतीयमानत्वात्, अयं च तद्भासकत्वेन तद्विलक्षणो भवतीति भावः। यथा घटादेः भास्यात्तद्भासकं नयनमान्तरं सत् प्रत्यगुच्यत इति भावः।।३६७।।

एकरसत्वं विवृणोति—यत इति। यतः च स्वरूपभूताः सत्ताचिदानन्दपदार्थाः परस्परं भेदविवर्जिताः तत एकरस इत्युच्यते। यथा नानावर्णानामपि गवां क्षीरं मधुरत्वेन एकरसम् इत्युच्यत इत्यर्थः।।३६८।।

अथ 'प्रमाणैरेतैरवगत' इति[1] वाक्ये एतत्पदेन अद्वयादिपदानां प्रसिद्धबोधानां वा परामर्शे प्रमाणभूतैरेतैः अद्वयादिपदैः सकलबोधैर्वाऽवगतो बोधित इत्यर्थः। तत्र सकलबोधैरात्मनो बोधने हेतुः स्फुरणरूपत्वम् इति। यदा तु एतत्पदं प्रमाणपदार्थविशेषणी भूतं सत् प्रत्यक्षादिरूपतां प्रमाणानां बोधयति तदा सर्वैरेतैः प्रत्यक्षादिभिः प्रमाणैः स्फुरणरूपेण बोधित इत्यर्थः। एतत् सर्वं बोधयन्नाह—एतैरिति। अयम् आत्मा एतैः व्याख्यातैः सर्वैः अद्वयादिपदैः प्रमाणभूतैः अवगतः। अथ वा एतैः दृश्यमात्रगोचरैः सर्वैर्बोधैः स्फुरणरूपैः अवगतः। अथ वा सर्वैः प्रमाणैः सर्वलोकैः अवगत इत्यर्थः।।३६९।। तत्र सर्वप्रमाणैरवगतत्वे हेतुत्वेन आत्मनः स्फुरणरूपेण सर्वप्रमाणैः सम्बन्धमाह—प्रमाया इति। द्वितीयं प्रमाणपदं भावव्युत्पत्त्या प्रमापरम्। तथा च प्रमाहेतोरेव प्रमाणत्वं सर्वैर्वादिभिः परीक्षकैः अभ्युपगतम्। तत्र प्रमाणं प्रमारूपं तु स्फुरणम् एव प्रायशो वादिभिरुक्तम्। कैश्चित्तु स्फुरणस्य हेतुः अभिव्यञ्जिका या वृत्तिः सा प्रमेति उक्तमित्यर्थः। उभयथाऽपि प्रमाणानां स्फुरणेनैव सम्बन्ध इति भावः।।४००।।

सत्-चित्-आनंद पदार्थों में परस्पर कोई भी अंतर नहीं है अतः सदादिरूप आत्मा एकरस है। नाना रंगों की गायों का दूध समान रूप से मधुर होने के कारण एकरस कहलाता है, उस दूध में ऊपर, बीच में, नीचे कहीं भी स्वाद में अंतर नहीं होता; इसी प्रकार आत्मा में कोई तारतम्य या सच्चिदानंदरूप से विलक्षण कुछ भी नहीं है।।३६८।।

अद्वय आदि शब्दों से ही नहीं सभी बोधों से आत्मवस्तु का अवगम होता है। आत्मा है स्फुरण और सब बोध उसे ही निरावृत करते हैं। शास्त्र के अद्वय आदि सभी शब्द प्रमाणविधया आत्मस्वरूप के प्रतिपादक हैं। अन्य जो दृश्यविषयक ज्ञान हैं वे भी यद्यपि आवरण आत्मा पर से ही हटाते हैं तथापि आत्मा के किसी स्वल्प उपाधि वाले हिस्से से हटाने के कारण वे ज्ञान आत्मा के बारे में प्रमाण नहीं बन पाते। यों कुछ ज्ञान परमात्मा का सही अवगम कराते हैं, अन्य ज्ञान उसका ग़लत (या सीमित) अवगम कराते हैं लेकिन अवगम उसी का होता है। इसी से उसे 'सर्वप्रत्ययवेद्य' कहा गया है।।३६९।। ज्ञान के सम्बंध में विचार करने वाले सभी वादी मानते हैं कि प्रमा (सही ज्ञान, अबाधित ज्ञान) का जनक प्रमाण होता है। प्रमा का अभिप्राय स्फुरण से ही होना उचित है पर उस स्फुरण को अभिव्यक्त करने वाली मनोवृत्ति भी प्रमा कह दी जाती है। हर हालत में प्रमाणों का संबन्ध स्फुरण से ही होता है। (स्फुरण अर्थात् वह अज्ञाननिवर्तक जो अज्ञाननिवृत्ति के लिये निरपेक्ष हो।)।।४००।। यह पहले बता ही चुके हैं कि सदा वर्तमान सत्ता ही स्फुरण है। यह स्फुरण ही सब बोधों में एक समान है और स्वयं भासता ही रहता है। अज्ञान की आवरणशक्ति को अभिभूत करने में मदद देने वाली वृत्तियों का विषय यह स्फुरण ही समझा जाता है क्योंकि उस सत्तारूप स्फुरण से अन्य कुछ है नहीं जो विषय समझा जा सके। सत्ता से अन्य अर्थों का ज्ञान प्रमाण ही नहीं माना जा सकता क्योंकि उनके बारे में होने

---

१. नृ. उ. ९।

सत्तारूपः

स्फुरणं च सदा सत्ता पूर्वमेव निरूपिता। प्रमाणं वाऽप्रमाणं वा नियतं नैव किञ्चन।
यतोऽत्रागमयत् ज्ञानमेकमन्यं तु बोधयेत्।।४०१

यद्धि यद् बोधयेद् वस्तु मानं तत् तत्र कीर्तितम्। बोधा इत्येव जन्तूनां सर्वेषामपि सर्वदा।
मानामानाभिधाः सर्वे सत्तामात्रैकगोचराः।।४०२

स्फुरणस्य सत्तारूपेण सर्वत्र बोधेषु अनुगमं दर्शयितुं तस्य सत्तारूपतामाह[1]—स्फुरणं चेति। सदा सर्वकालेषु वर्तमानं स्फुरणं सत्तारूपमिति प्राङ्निरूपितम् 'सत्ता च स्फुरणादन्या नैव काचन विद्यते' (श्लो. १३०) इति ग्रन्थेनेत्यर्थः। एतेन सर्वबोधेषु अव्यभिचारेण स्वतो भासमानं स्फुरणमेव आवरणाऽभिभाविकानां वृत्तीनां विषय इत्युपचर्यते। अत्रार्थे तस्माच्च सत्तारूपाद् व्यतिरिक्तस्य कस्याऽप्यभाव इति हेतुः 'सत्तामात्रं सर्वम्' इति श्रुत्युक्तो युक्त इति सूचितम्। एतत् स्फुटयन् सत्ताव्यतिरिक्तार्थज्ञानानां प्रामाण्यादिव्यवस्थाऽनुपपत्तिमाह—प्रमाणमिति। अत्र सत्ताव्यतिरिक्ते घटपटादिरूपेऽर्थे किञ्चन अपि ज्ञानं प्रमाणम् इति अप्रमाणम् इति वा नियतं नियमेन विशिष्टं नैव वक्तुं शक्यम्। तत्र हेतुं मीमांसकमते व्यक्तीनामवाच्यत्व इव व्यभिचारमाह—यतोऽत्रेति। यत एतद् घटादिज्ञानं कर्तृ, एकं घटविशेषम् अगमयद् अबोधयद् एव सद् अन्यं घटविशेषं बोधयतीति प्रसिद्धम् इत्यर्थः। तथा च प्रामाण्याऽप्रामाण्यप्रयोजकाभ्यां बोधकत्वाऽबोधकत्वाभ्यां सर्वबोधेषु दृश्यमानाभ्यां परस्परविरोधेन प्रामाण्याऽप्रामाण्ययोरन्यतरद् न अवधारयितुं शक्यं, घटादिव्यक्तयश्च व्यभिचारेण न विषयी भवनार्हा इति भावः।।४०१।।

कुत्र तर्हि सर्वमानानां मानत्वमिति चेद् ? यथा व्रीह्यादिशब्दाः सामान्यमसन्दिग्धं बोधयन्तस्तस्यैव वाचकाः प्रज्ञायन्ते मीमांसकैः तथाऽस्माभिः सर्वबोधोत्तरं सत्तासामान्यस्यैव अवधारणदर्शनात् तत्रैव सर्वबोधानां मानत्वम् इत्याशयेन आह—यद्धीति। यद् अक्षादिकं यदर्थगोचरं बोधमवधारणज्ञानं जनयेत् तत्र एवार्थे तद् अक्षादिकं मानम् इति कीर्तितम् सर्ववादिभिरिति शेषः। तथा च सर्वे लोकानां बोधा मानाऽमानाऽभिधाः प्रमारूपेण अप्रमारूपेण वा प्रसिद्धाः सत्तामात्रगोचरा इति, तत्रैव मानत्वम् इत्यर्थः। घटोऽस्तीति विज्ञाने हि घटोपलक्षितसत्ताया एवाऽवधारणं, घटांशे तु धर्मधर्मिणोरभेदन्यायेन घटाऽभिन्नगुरुत्वादीनाम् अनवबोधेन सन्देहाऽनिवृत्तिरिति भावः। तदुक्तं वार्तिककृद्भिः 'ततोऽनुभव एवैको विषयोऽज्ञातलक्षणः। अक्षादीनां स्वविषये यत्र तेषां प्रमाणता।।' (बृ. सम्बं. १००२) इति। अनुभवः स्फुरणरूपा सत्तैव अज्ञानगोचरत्वाद् अक्षादीनां विषयो यतः तद्बोधेनैव तेषां प्रामाण्यलाभ इति तदर्थः।।४०२।।

वाले ज्ञान को निश्चित रूप से प्रमाण या अप्रमाण कहना संभव नहीं। किसी एक घटज्ञान का ही विचार करें तो पुरोवस्थित घट के बारे में यथार्थबोधक होते हुए ही दुनिया के अन्य घटों का वह अबोधक ही है अतः उसे घट के बारे में बोधक या अबोधक निश्चित नहीं कर सकते तो प्रमाण-अप्रमाण निश्चित नहीं कर सकते इसमें क्या कहना ! किं च घटप्रमा का विषय भी किसे कहें ? किसी एक घट को तो कह नहीं सकते क्योंकि घटांतर भी घटप्रमा का विषय होता ही है और जब किसी एक को नहीं कह सकते तब सबको भी कहना बनता नहीं। तद्घट को तद्घटप्रमा का विषय कह दें तो भी सब घटप्रमाओं का कोई विषय नहीं बन पायेगा क्योंकि तत्तद् व्यक्ति तो व्यभिचारी है। फलतः अनात्मा को प्रमाविषय मानना संगत नहीं।।४०१।।

जो प्रत्यक्षादि जिस अर्थ के बारे में निश्चित ज्ञान उत्पन्न करता है वह प्रत्यक्षादि उस अर्थ में प्रमाण कहा जाता है। प्रमारूप से प्रसिद्ध हों या अप्रमारूप से, लोकों के सभी बोध केवल सत्ता को विषय करते हैं अतः उसीमें प्रमाण

१. 'सत्तामात्रं हीदं सर्वम्' इति (तत्रैव)।

असत्तामपि यद्[1] बोधा निषेधेयुः प्रतिष्ठिताः। तेऽपि सत्येव गत्वाऽन्ते पर्यवस्यन्ति केवले।।४०३
वन्ध्यायास्तनयो नास्तीत्युक्ते सति विचार्यताम्। कुत्रेत्यस्याऽस्ति वाऽऽकांक्षाऽप्यथ वा नैव साऽस्ति हि।।४०४
नास्तीति च समुक्तेऽस्मिन् वचने साहसं भवेत्। आकांक्षा दृश्यते यस्मादस्माभिः स्पष्टरूपिणी।।४०५
आकांक्षिते पदे तस्मिन्नर्थ आश्चर्यरूपभाक्। प्रतीयते भवेत् सोऽयं सत्ता सर्वाश्रयप्रदा।।४०६

ननु 'पटोऽस्ति'[2] इति विज्ञाने घटस्य असत्ताव्यावृत्तिः अपि प्रतीयते, तथा च अभाव एव सर्वमानगोचरोऽस्तु? इति शङ्कां परिहरति—असत्तामपीति। ये बोधविशेषाः असत्तामपि निषेधेयुः वारयेयुः असत्तां व्यावर्तयन्तः प्रसिद्धा इति यावत्, तेऽपि अन्ते गत्वा सति वस्तुनि एव पर्यवस्यन्ति सम्बद्ध्यन्ते यतस्तत्र सति प्रतिष्ठिताः लब्धालम्बना इत्यर्थः। अयं भावः—निरधिष्ठानो न भ्रम इति, प्रसक्तं हि प्रतिषिद्ध्यत इति च सिद्धान्तमनुसृत्य कुत्रचित् प्रसक्ताऽसत्ता वारणीया। तथा च तद्वारणोत्तरं सतोऽधिष्ठानस्य स्फूर्तिं को वारयेद् ! इति भावः।।४०३।।

सति पर्यवसानं स्फुटी कर्तुं सर्वत्र आधाराकांक्षां दर्शयति—वन्ध्याया इति। असत्ताप्रतिपादकत्वेन प्रसिद्धे 'वन्ध्यापुत्रो नास्ती'ति वाक्य एव तावद् इति विचार्यम्। 'इति' किम् ? अत्र वाक्ये 'कुत्र ?' इति आकारकस्य आधारवाचकपदस्य आकांक्षाऽस्ति, न वेति।।४०४।। तत्रान्त्यपक्षोऽनुभवापलापप्रसङ्गेन अयुक्त इत्याह—नास्तीति चेति। आधाराकांक्षा नास्तीति वचनाभिधानं साहसम् अविमृश्य कृतिरूपं भवति यतः साऽऽकांक्षाऽनुभूयत इत्यर्थः।।४०५।।

आद्ये पक्षे परिशेषेण सत्तायाः सिद्धिरित्याह—आकांक्षित इति। तस्मिन् कुत्रेत्याकारके पदे समाकांक्षिते सति तस्य पदस्य यः अर्थो लोकाऽप्रसिद्धत्वाद् अद्भुतः स्फुरति सोऽयं परिशेषेण सत्ता एव भवति। कीदृशी सत्ता? सर्वस्य आलम्बनप्रदा। तथा च यत्र लौकिकपदार्थ आधारतया प्रतीयते तत्र तदाधारतया सत्तायाः स्फूर्तिः, यत्र तु लौकिकाधारबाधस्तत्र साक्षादेव सत्ताया आधारतया प्रतीतिरिति भावः।।४०६।। फलितमाह—सन्मात्र इति।

हैं। 'घड़ा है' इस विज्ञान में घड़े से उपलक्षित सत्ता का ही निश्चय होता है क्योंकि उपलक्षणभूत जो घटांश है उसके बारे में तो बहुत कुछ नहीं जाना गया रह जाता है, घड़े के धर्म घड़े से अभिन्न होते हैं पर उसके वज़न आदि अनेक धर्मों को 'घड़ा है' इस विज्ञान से जाना नहीं जाता अत एव उनके बारे में संदेह भी नहीं मिटते। इसलिये है-अंश में ही उक्त विज्ञान प्रमाण है, उसके बारे में पूरी जानकारी हो गयी।।४०२।।

'घड़ा है' इस विज्ञान से जैसे है के बारे में पता चलता है वैसे ही इसी विज्ञान से 'घड़े का अभाव नहीं है' भी तो पता चलता है अतः उक्त विज्ञान का विषय 'नहीं है' या अभाव ही क्यों न मान लिया जाये ? यों सभी प्रमाण अभाव को ही विषय करते हैं यही क्यों न माना जाये ?—यह अपोहवादी नास्तिक का प्रश्न है। उत्तर है कि जो बोध असत्ता का वारण करते हैं वे भी अंत में सद्वस्तु से ही सम्बन्ध स्थापित करते हैं क्योंकि ज्ञान सत् में ही प्रतिष्ठा पाते हैं। भ्रम का भी कोई अधिष्ठान अवश्य होता है, निषेध भी वहीं किया जाता है जहाँ निषेध्य की संभावना हो। अतः निषेध के बाद सद्रूप अधिष्ठान का स्फुरण अवश्य होगा। 'घड़े की असत्ता नहीं है' इतना मात्र अनुभव नहीं होता जब कि 'घड़ा है' इतनामात्र अनुभव होता है। जब 'घड़ा नहीं है' अनुभव होता है तब भी जहाँ भूतलादि पर वह नहीं है उस सद्वस्तु का तो ज्ञान होता ही है। अतः सब ज्ञान अभाव को नहीं विषय करते बल्कि सिर्फ़ अभाव को विषय कर रुक जाने वाला कोई प्रमाण होता ही नहीं।।४०३।। असत्ता के प्रतिपादक रूप से प्रसिद्ध वाक्य है 'वन्ध्या का पुत्र नहीं है'। इसी के बारे में सोचें कि यह सुनकर 'कहाँ नहीं है?' यह जिज्ञासा होती है या नहीं ?।।४०४।। उक्त जिज्ञासा नहीं होती यह तो कह नहीं सकते क्यों सर्वानुभव-सिद्ध है।।४०५।।

१. ये—इति टीकापाठो भवेत्। यद् इति क्रियाविशेषणम्।
२. 'घटोऽस्ति' इति पठितव्यम्। यथाश्रुते '...घटस्य सत्ताव्यावृत्तिः ...' इति पठितव्यम्।

सन्मात्रे तत एवैतज्ज्ञानमात्रं व्यवस्थितम्। प्रमाणमत एवैते बोधा मानमिहात्मनि।।४०७
इदं सर्वं यतोऽध्यस्तं सदेहं भूतभौतिकम्। सत्तामात्रमधिष्ठानरूपं स्यात् परमार्थतः।।४०८
अधिष्ठानं पुरा ब्रह्म सदेवेति च कीर्तितम्। सच्चिदानन्दरूपं यत् सर्वभेदविवर्जितम्।।४०९

अद्वैतसिद्धिः

सिद्धमेतदतोऽद्वैतं द्वैतानुभववर्जनात्। अद्वैतानुभवाऽभावे तत्र द्वैतं कथं भवेत्।।
अद्वैतानुभवेऽप्येतत्सममेव व्यवस्थितम्।।४१०

तत आधारतया सत्तायाः सर्वत्र अपेक्षणाद् एतत् तत्तदर्थविषयकत्वेन अनुभूयमानं ज्ञानमात्रं सर्वजातीयं ज्ञानं सन्मात्रे सद्वस्तुनि व्यवस्थितं प्रतिष्ठां गतं सद् एव प्रमाणं भवति। तच्च सद्वस्तु आत्मरूपम् इति प्राक् प्रतिपादितम् अतो हेतोः सर्वे बोधा आत्मनि मानम् इति सिद्धमित्यर्थः।।४०७।।

'अत' इति पदार्थं विवृण्वन् 'सद् एव पुरस्ताद्' इति[1] वाक्यार्थमाह—इदं सर्वमिति। यतः सर्वं देहादिकं द्वैतं यत्र अध्यस्तं समारोपितं तत् सत्तामात्रम् एव अधिष्ठानतया पारमार्थिकं भवति। तच्च सत्तामात्ररूपम् अधिष्ठानं ब्रह्म आत्मरूपं सर्वभेदराहित्याद् इति पूर्वमुक्तम्। इति द्वयोरर्थः।।४०८-९।।

'सिद्धम्' इत्यादिग्रन्थस्याऽर्थमाह[2]—सिद्धमित्यादिना। अत एतां सत्तासामान्यदृष्टिमादाय अवस्थितस्य द्वैतानुभवो यतो न भवति ततोऽद्वैतम् एतत्सर्वाधिष्ठानभूतं सिद्धम् अपह्नोतुमशक्यमित्यर्थः। ननु द्वैतविरोधात् कथमद्वैतसिद्धिरिति चेद् ? न, अद्वैतद्वैतमानयोर्भिन्नकालिकत्वेन विरोधस्यैव अभावाद् इत्याह—अद्वैतेति। येषाम् अज्ञानाम् अद्वैतस्य अनुभव एव नास्ति तैर्दृश्यमानं द्वैतं तत्र अद्वैतरूपाधिकरणे संसृज्यमानं कथं स्यात् ? येषां तु विदुषामद्वैतस्यानुभवः तेषां मतेऽपि एतद् द्वैतस्याऽद्वैतरूपाधिकरणेऽसत्त्वं सममेव व्यवस्थितं सिद्धं,

जो वह जिज्ञासा होती है उसका समाधान सद्-अर्थ से ही हो सकता है क्योंकि 'कहाँ' से कोई-न-कोई ससत्ताक आधार ही जिज्ञासित है और वंध्यापुत्र का कोई लोकप्रसिद्ध भूतल आदि आधार तो होता नहीं अतः सभी को आलंबन देने वाली सत्ता ही वह आधार होना उचित है। जहाँ लौकिक भूतलादि आधार प्रतीत हो वहाँ उस भूतलादि का आधार सत्ता है और जहाँ लौकिक आधार न प्रतीत हो वहाँ सीधे ही सत्ता को आधार समझना चाहिये।।४०६।।

आधाररूप से सत्ता की ज़रूरत सर्वत्र है अतः विभिन्न वस्तुओं को विषय करते लगने वाले जितने भी ज्ञान हैं वे सद्रूप वस्तु में ही प्रतिष्ठा पाकर प्रमाण बनते हैं न कि उससे अन्य लगने वाले नाम रूपादि विषयों में। यह सद्वस्तु आत्मा ही है यह पहले कह आये हैं अतः निश्चित है कि सभी बोध आत्मवस्तु में ही प्रमाण हैं। (प्रमाण से 'है' तो निश्चित हो जाता है, 'क्या है'—में मतभेद चलते रहते हैं। 'क्या है'—से नाम-रूप-कर्म ही समझे जाते हैं, उन्हीं के बारे में सबकी अलग-अलग धारणाएँ रहती हैं। वेदान्त की अविरोधनीति है कि मतभेद वाला अंश छोड़ कर सर्वसंमत अंश स्वीकार लिया जाये अतः प्रमाण-प्रमेय के परीक्षण में भी यही निष्कर्ष है कि सन्मात्र ही सर्वसंमत प्रमेय है और उसी के बोधक सर्वसंमत प्रमाण हैं। एवं च नामादि संसार किसी प्रमाण का विषय न होने से प्रमेय भी नहीं। इससे नामादि के बारे में उपेक्षाबुद्धि रखनी चाहिये, सद्वस्तु पर ही एकाग्र रहना चाहिये जैसे खरीदते समय सुनार सोने पर ही दृष्टि रखता है, गहना-अंश की उपेक्षा कर देता है। इससे विवेकपूर्वक वैराग्य और शमादिका अभ्यास सुकर हो जाता है। यह प्रमाणमीमांसा संसारिक व्यवस्थाओं के संदर्भ में नहीं है, अध्यात्मसन्दर्भ में ही है, मुमुक्षु के ही काम की है।)।।४०७।।

देहसमेत भूत-भौतिक जगत् समारोपित होने के कारण वास्तविक भूमिका पर इसका स्वरूप वह सन्मात्र ही है जो इसका अधिष्ठान है। यह पहले बता चुके हैं कि सद्वस्तु वह आत्मा ही है जो सब भेदों से रहित सच्चिदानंद है।।४०८-९।।

---

१. नृ. उ. ९।
२. 'सिद्धं हि ब्रह्म न ह्यत्र किञ्चनाऽनुभूयते नाऽविद्याऽनुभवात्मनि स्वप्रकाशे सर्वसाक्षिणि अविक्रियेऽद्वये पश्यतेहापि सन्मात्रम् असदन्यत् सत्यं हीत्थं पुरस्ताद् अयोनिः स्वात्मस्थम् आनन्दचिद्घनं सिद्धं ह्यसिद्धम्।' (तत्रैव)।

यस्माद् द्वैतं न वाऽद्वैतं विदुषोऽविदुषोऽपि च। कदाचित् कुत्रचिद्वाऽपि प्रतीतिमुपगच्छति।।४११

यदि केषाञ्चिदेवाऽयं द्वैतस्याऽनुभवो भवेत्। अस्तु नाम किमायातम् अद्वैते स्यान्न वस्तुतः।।४१२

द्वैतं निराश्रयं यस्मात् प्रतीतमविचारितम्। तस्माद् मायामयं तत् स्याद् अद्वैते परिकल्पितम्।।४१३

अभावोऽपि च भावात्मा दृष्टोऽतः खादिसंश्रयः। द्वैताभावोऽपि तेनैतदद्वैतं तावदेव हि।।४१४

विद्वद्भिर्द्वैतस्याऽदर्शनादेव इत्यर्थः।।४१०।। तत्र हेतुं स्फुटयति—यस्मादिति। यस्माद्विदुषः प्रतीतिं द्वैतं न गच्छति, अविदुषः प्रतीतिं तु अद्वैतं न गच्छति तत उक्तोऽद्वैते द्वैताऽभावउपपन्न इति पूर्वेण सम्बन्धः।।४११।।

एवं सति भ्रान्तप्रतीत्या सिद्धेन द्वैतेन नाऽद्वैतस्य अस्मदनुभवारूढस्य बाध इत्याह—यदीति। केषाञ्चिद् अविदुषां यदि द्वैतानुभवो भवति तर्हि भवतु, तावता अद्वैते किम् अनिष्टम् आयातं प्राप्तं स्याद् ! न किमपि। यतस्तद् द्वैतं वस्तुतो वस्तुनोऽधिष्ठानस्य संस्पर्शि न भवतीत्यर्थः।।४१२।। द्वैतस्य वास्तवत्वाऽभावे मायामयत्वं फलितमित्याह—द्वैतमिति। यतो द्वैतं निराश्रयम् अधिष्ठानाऽसंस्पर्शि विचाराऽसहिष्णु च ततो मायामयम् इत्यर्थः।।४१३।।

तथाऽपि द्वैताऽभावेनैव अद्वैतक्षतिः ? इत्याशङ्क्य; कल्पिताऽभावोऽधिष्ठानात्मक इति सिद्धान्तेन[1] परिहरति—अभावोऽपीति। खम् आकाशमादिर्यस्य प्रपञ्चस्य स खादिः, स संश्रयः प्रतियोगितासम्बन्धेन आश्रयो यस्य स तथाभूतोऽभावः प्रपञ्चाऽभावो भावात्मा अधिष्ठानभावरूपः अतः प्रतियोगिनः प्रपञ्चस्य मायामयत्वाद् दृष्टः संमतः। तेन सिद्धान्ते न द्वैताऽभावोऽपि अद्वैतस्य विघातक इत्यर्थः।।४१४।। यदा च द्वैतं कालत्रयेऽपि आत्मनि

सत्सामान्य पर जो अपनी दृष्टि एकाग्र कर लेता है उसे फिर द्वैत का अनुभव नहीं होता जिससे वह अद्वैत वस्तु का निषेध नहीं कर सकता। जब तक अद्वैतनिष्ठा नहीं तभी तक द्वैत का भास रह सकता है, न कि अद्वैतनिष्ठा होने पर अतः इनका आमना-सामना है ही नहीं कि द्वैत अपने अधिष्ठान का विरोधी बने। अद्वैतानुभव के बाद जो द्वैत का आभास होता है वह होते समय ही बाधितरूप से होता है अर्थात् 'जो नहीं है वह अनुभव में आ रहा है' यह स्पष्ट रहता है। अतः सद्रूप से द्वैतानुभव उन्हें भी नहीं होता कि द्वैत से अद्वैत का विरोध हो।।४१०।। क्योंकि विद्वान् की प्रतीति में द्वैत प्रवेश नहीं करता और अविद्वान् के अनुभूतिक्षेत्र में अद्वैत का प्रवेश नहीं है इसलिये यह सर्वथा युक्तियुक्त है कि अद्वैत में द्वैत का आत्यंतिक अभाव है।।४११।।

भ्रमग्रस्तों का द्वैतानुभव वास्तविक अद्वैत का कुछ नहीं बिगाड़ता।।४१२।। विचार न सह पाने वाला होने से प्रतीयमान द्वैत अधिष्ठान से समसत्ताक संबंध वाला नहीं है जिससे निश्चित है कि वह मायात्मक ही है, अद्वैत वस्तु में स्वरूपतः-सम्बंधतः दोनों तरह कल्पित है।।४१३।

यह शंका उचित नहीं कि 'द्वैत का न होना' भी तो अद्वैत का विरोधी है, उसे सद्वैत बना देगा ! अनुचित इस लिये है कि प्रथमतस्तु लोक में भाव से ही द्वैत प्रसिद्ध है न कि अभाव से; कमरे में अकेला आदमी वहाँ मौजूद अनंत अभावों से अकेला न रह जाये ऐसा नहीं होता। अतः द्वैताभाव द्वैतापादक हो यह लोकविरुद्ध है। और वस्तुतः यह सिद्धांत है कि कल्पित का अभाव अधिष्ठानमात्र होता है अतः कल्पित द्वैत का अभाव अधिष्ठान सत् से अन्य है ही नहीं कि द्वैतापादक बन सके। आकाशादि प्रपंच प्रतियोगिरूप से जिस प्रपंचाभाव का आश्रय है वह अधिष्ठान सद्रूप से अलग नहीं है। क्योंकि प्रतियोगिभूत प्रपंच मायामय है इसलिये इसका अभाव सिर्फ अधिष्ठान होता है जिससे वह अद्वैत का विरोध नहीं कर सकता।।४१४।। तीनों कालों में द्वैत आत्मा में असंभव रहते अद्वैत निःशंक है ही। आत्मा केवल है, अद्वैत है, उससे सम्बंध वाला द्वैत न था, न है, न हो सकता ही है। अत एव पण्डित आत्मा को अद्वैत

१. 'अधिष्ठानावशेषो हि नाशः कल्पितवस्तुन' इति सूतसंहितोक्तेः।

नासीन्नास्ति न भाव्येतद् द्वैतमात्मनि केवले। अद्वैतस्तत एवात्मा पण्डितैः परिकीर्तितः।।४१५
गन्धर्वनगरं यद्वद् गगने परिकल्पितम्। आनन्दात्मनि तद्वत् स्याद् द्वैतजालं प्रकल्पितम्।।४१६
चिदानन्दात्मरूपेऽस्मिन् स्वप्रकाशेऽद्वये तथा। अनेकविक्रियालेशरहिते सर्वसाक्षिणि।।४१७
कथं भवेदविद्येयं विशीर्णा च ततः स्वयम्। वस्तुतोऽतो माययैव तस्याः सत्त्वं न वस्तुतः।।४१८
तमसैव यथा सिद्ध्येत्तमस्तत्प्रत्यगात्मनि। माययैव तथा माया सिद्ध्यत्यात्मनि निर्द्वये।।४१९
मायाया अपि यद्रूपमात्मन्येव प्रकल्पितम्। इत्येव तत् सुरा ज्ञेयं निर्माये प्रत्यगात्मनि।।४२०
मायाकार्यं यथाऽध्यस्तमस्मिन्नात्मनि निर्द्वये। मायाऽपि च तथाऽध्यस्ता जडाऽऽनन्दात्मरूपिणी।।४२१

न सम्भवति ततोऽयम् आत्माऽद्वैत इत्युक्त इत्याह—नासीन्नास्तीति।।४१५।। आत्मनि द्वैतस्य कल्पितत्वमेव इति दृष्टान्तेन स्फुटयति—गन्धर्वेति।।४१६।।

अथ प्रपञ्चेन द्वैताऽभावेऽपि तत्प्रयोजिकया मायया तु द्वैतं स्याद् ? इत्याशङ्कां वारयति—चिदानन्देति। भासमानानन्दरूपेऽस्मिन् आत्मनि द्वैतहीने सर्वसाक्षित्वेन सर्वविकारहीने, आदित्यवत् प्रकाशमाने च तमोरूपाऽविद्या यतो न सम्भवति तत इयमविद्या वस्तुन आत्मरूपवस्तुनः प्रभावात् स्वयम् एव विशीर्णा प्रतिहता। अतो मायायाः सत्त्वं स्थितिर्मायादृष्ट्यैव, न वस्तुदृष्ट्या। इति द्वयोरर्थः।।४१७-८।।

मायामयत्वेन मायायाः सिद्धौ दृष्टान्तस्तु तम एव। तद्धि तेजसा न सिद्ध्यति, विरोधात् किन्तु तमसैव इत्याह—तमसैवेति। यथा घूकैः कल्पितं तमः अन्धकारः तत्प्रत्यगात्मनि तस्मात् तमसः प्रत्यग् विपरीत आत्मा स्वरूपं यस्य तथाभूत आदित्ये वर्तमानः तमसैव घूककल्पिततमोबलेनैव सिद्ध्येद्, नादित्यतेजसा, विरोधात्, तथा मायाऽपीत्यर्थः।।४१९।। तस्मात् हे सुराः ! वस्तुतोऽसम्भवाद् मायायाः स्वरूपं मायाकार्यवद् आत्मनि कल्पितमेवेति भवद्भिर्ज्ञेयमित्याह—मायाया इति द्वाभ्याम्।।४२०।। मायाकार्यमिति। तथा जडा मायाऽपि आनन्दात्मनि अध्यस्ता। कीदृशी ? आनन्दरूपेण आत्मनाऽधिष्ठानेन रूपिणी लब्धसत्ताकेत्यर्थः।।४२१।।

कहते हैं।।४१५।। गगन में दृश्यमान गंधर्वनगर जैसे सर्वथा अध्यस्त होता है वैसे नाम-रूप के ताने-बाने वाला यह जाल आनन्दरूप आत्मा पर पूर्णतः अध्यस्त है।४१६।।

प्रपंच व उसके अभाव से न सही, प्रपंच प्रतीत कराने वाली माया से तो आत्मा सद्वैत हो जाता होगा ? इसका उत्तर है कि वैसा भी नहीं होता : भासमान आनंद जिसका स्वरूप है वह द्वैतरहित आत्मा सबका साक्षी सब विकारों से रहित है, उसमें तमोरूप अविद्या क्योंकि संभव नहीं इसलिये आत्मवस्तु के प्रभाव से वह खुद ही प्रतिहत रहती है। अविद्या का आत्मा में अवस्थान केवल अविद्या की दृष्टि से है न कि वस्तुदृष्टि से, अतः उस माया की अपेक्षा से आत्मा में द्वैत संभव नहीं।।४१७-८।।

माया स्वयं मायिक है इसमें सरल दृष्टांत अँधेरा ही है : अँधेरा अँधेरे से ही सिद्ध हो सकता है न कि रोशनी से। उल्लूओं द्वारा कल्पित अँधेरा जो सूर्य में *रहता* है वह उल्लुओं द्वारा कल्पित अँधेरे के ही बल पर, न कि सूर्य के प्रकाश के बल पर; इसी तरह अद्वय प्रत्यगात्मा पर माया भी माया के ही बल पर स्थित है अर्थात् मायिक ही है, आत्मबल पर अर्थात् परमार्थतः उसका कोई सत्त्व नहीं।।४१९।। हे देवताओ ! वस्तुतः असंभव होने से माया का कार्य जैसे आत्मा पर कल्पित ही है वैसे ही स्वयं माया भी उस पर कल्पित ही है। प्रत्यगात्मा मायासंबंध से अस्पृष्ट है, कल्पना से ही उस पर माया का स्वरूप प्रतीयमान है। आनंदरूप परमात्मा से सत्ता पाकर अद्वैत आत्मा पर जड माया अध्याससिद्ध है।।४२०-१।।

क्योंकि सारा द्वैत अध्यस्त है इसलिये बाधा-सामानाधिकरण्य से सभी जगह परमेश्वर का दर्शन किया जा सकता है। बाधा-सामानाधिकरण्य का मतलब है कि ब्रह्म का जो सद्रूप है उससे एकमेक होकर जो नाम-रूप प्रतीत हो रहे

सर्वत्रात्मदृष्टिः

सदानन्दात्मरूपोऽयं चिद्वपुः स्वप्रभः पुमान्। मायया सहितं विश्वं ब्रह्मविष्ण्वादिकं च यत्।
स्थावरं जङ्गमं सर्वं तदिदं परमेश्वरः।।४२२

सिद्धोऽप्यसिद्धवद्भाति मायया सर्वदेहिनाम्। अधिष्ठानं सदा सत्यो बाधलेशविवर्जितः।
स्वप्रकाशसुखोऽप्येष दुःखे विपरिवर्तते।।४२३।।

मायया सहितो योऽयं प्रपञ्चः परिकल्पितः। नैषोऽप्यसन् कुतस्तस्य स्यादसत्ताश्रयो हि सः।।४२४

असतां च सदात्मत्वम् अनश्वादिवदीरितम्। ततः सदात्मकं सर्वम् उक्तमेव व्यवस्थितम्।।४२५

एवं सर्वस्य द्वैतस्य अध्यस्तत्वे सति बाधासामानाधिकरण्येन सर्वत्र परमेश्वरदृष्टिः कर्तव्येत्याह[1]—सदानन्दात्मेति। यः परमेश्वरः सदानन्दादिरूप उक्तः स एव सर्वं विश्वम् इति सम्बन्धः। विष्ण्वादिकम् इति आदिपदेन ईशानेन्द्रादिग्रहः।।४२२।। एतदात्मरूपं सर्वान् प्रति द्वैतानुसन्धानपूर्वक्षणे सिद्धमपि मायाबलेन असिद्धतामिव गतमित्याह—सिद्धोऽपीति। 'परमेश्वर'-पदस्य पूर्वादनुषङ्गः। अधिष्ठानभावेन सदा कालत्रयेऽपि सत्यो ध्रुवः तथाऽयं स्वप्रकाशसुखरूपो दुःखे दुःखरूपे देहादौ कल्पिते सति विपरिवर्तते अन्यथा प्रतीयत इत्यर्थः।।४२३।। अस्यात्मनो लाभोपायश्च सर्वत्र तद्दृष्टिरित्यतः प्रपञ्चस्यापि सत्त्वं साधयति—मायया सहित इति। मायासहितः प्रपञ्चो यः कल्पिततया वर्णित एषोऽपि असन् अलीकात्मको न भवति। तथात्वे हि तस्य प्रपञ्चस्य असत्तारूपो धर्मोऽपि कुतः स्यात्! हि यतः स असत्तारूपो धर्मोऽपि आश्रये कुत्रचिदालम्बन एव भवतीत्यर्थः।।४२४।। तथाऽपि सर्वत्र सा दृष्टिर्दुष्करा नृशृङ्गादौ बाधाद्? इत्याशङ्कां परिहरन् फलितमाह—असतामिति। असताम् असत्पदार्थतया प्रसिद्धानामपि सद्रूपत्वमुक्तं, नञः पर्युदासार्थमाश्रित्य, यथा 'अनश्व'-पदगतो नञ् अश्वभिन्नमश्वसदृशं च भावमेव अभिधत्ते तथा प्रसिद्धासद्भ्यः कार्यक्षमेभ्यः कार्याक्षमत्वेन विलक्षणं वस्तु सूक्ष्मरूपं बुद्धिस्थरूपं वाऽसदित्युच्यत इति। आत्मसत्तामादाय सत्त्वं तु सर्वस्य सममेव इति वर्णितं प्रथमाध्याये। ततः सर्वस्य सदात्मकत्वे न काचित् क्षतिरित्यर्थः।।४२५।। इत्थं सर्वस्य सद्रूपत्वेऽपि मायादिजडप्रपञ्च आत्मनः स्वरूपत्वेन न बोध्यः, याचितमण्डनन्यायेन हैं उनके बारे में यह निश्चय कर कि 'ये हैं ही नहीं', सद्ब्रह्म ही अकेला है इसे महसूस करना। धन की ज़रूरत होने पर व्यक्ति मकान, दूकान, सामान आदि सबको 'धन' दृष्टि से ही देखता है, यही पता लगाता है 'मेरे पास कितना धन है', जिस *रूप* में है उसकी उपेक्षा करता है, जब तक मकान-दृष्टि से देखता था तब तक सौंदर्य सुविधा आदि को महत्त्व देता था किंतु अब इतना ही देखता है कि 'आज बेचने पर इसका क्या मूल्य मिलेगा'; इसका नाम बाधा-सामानाधिकरण्य है क्योंकि विशेष का बाध कर धनसामान्य ही भास रहा है। ऐसे ही संसार के नाम-रूपों का बाध कर सद्ब्रह्म का दर्शन करना है। जैसे पहले भी मकान आदि का मूल्य तो था ही पर दृष्टि उस मूल्य के बजाय सुंदरता आदि पर थी, अब दृष्टि मूल्य पर टिक गयी, ऐसे ही सद्ब्रह्म है अभी भी यथावत् पर हमारी दृष्टि नाम-रूप में ही उलझी है, विवेक-पूर्वक उसे सद्ब्रह्म पर ही टिकाना है। स्थावर-जंगम सांसारिक पदार्थ और जन्तु, ब्रह्मा-विष्णु आदि ऐश्वररूप, इन सबके प्रतिभास का हेतु माया—ये सभी वह परमेश्वर ही है जो सद्रूप, आनंदरूप, साक्षात् ज्ञानरूप, स्वप्रकाश पूर्ण आत्मा है।।४२२।। स्वतः सिद्ध यह आत्मवस्तु माया के कारण सब देहधारियों को लगता है मानो हो ही नहीं! अधिष्ठानभूत यह सत्य कभी बाधित नहीं हो सकता (भले ही अज्ञात रह जाये)। स्वप्रभ सुखरूप होने पर भी भ्रमवश यह दुःख के रूप में भासता है।।४२३।।

आत्मलाभ का उपाय है सर्वत्र आत्मा देखना, अतः प्रपंच भी सत् ही समझना चाहिये। माया समेत जो प्रपंच कल्पितरूप से बताया यह भी असत्, अलीक, तुच्छ नहीं है, इस प्रपंच में असत्तारूप कोई धर्म हो ऐसा नहीं। आखिर असत्ता भी धर्म है तो किसी आलंबन पर ही रहेगा।।४२४।।

१. 'तद्विष्णुरीशानो ब्रह्माऽन्यदपि सर्वं सर्वगं सर्वमत एव' (तत्रैव)।

नहीदमात्मनो रूपं भवेद् वस्तुस्वरूपतः। जडं मायास्वरूपं यत्तत एव प्रकल्पितम्।।४२६

सत्तादौ परसापेक्षत्वात्, स्वरूपत्वस्य निरपेक्षतानियमाद् इत्याह—नहीदमिति। इदं जडं सविलासमायारूपं वस्तुत आत्मनो रूपं न भवति यद् यतः ततः तत्रैवात्मनि प्रकल्पितम् अध्यस्तं परसत्ताद्युपजीवि भवतीत्यर्थः।।४२६।।

किन्तर्हि आत्मनः स्वरूपमिति चेद् ? यत् सदानन्दादिलक्षणं पूर्वोक्तमित्याह[1]—सदानन्देति।।४२७।। तत्र

प्रश्न होगा कि असत् जो नृशृंग आदि वे सत् न होने से उनमें सद्ब्रह्म-दृष्टि कैसे होगी ? उत्तर है कि जो असत् पदार्थ माने जाते हैं उन्हें भी सद्रूप इस दृष्टि से कहते हैं कि 'न'-का एक अर्थ 'भेद' होता है; जैसे 'अनश्व' का मतलब अश्वभिन्न अश्वसदृश गधा आदि भाववस्तु होता है, न कि अश्व का सर्वथा अभावमात्र। ऐसे ही कार्यकारी चीज़ें सत् कही जाती हैं अतः जो केवल बुद्धिस्थ चीज़ें होती हैं, शब्दादिवश जिनकी कल्पना-सी हो जाने पर भी जो कोई वस्तु नहीं होती उन्हें किसी कार्यसंपादन में अक्षम होने से सद्भिन्न-अर्थ में असत् कहा जाता है। ऐसे ही स्थूल की अपेक्षा जो सूक्ष्मचीज़ें होती हैं उन्हें भी शास्त्र में जगह-जगह असत् कह दिया गया है जिसका यह मतलब कतई नहीं है कि वे अलीक हैं ! इसलिये सभी सद्रूप होने से सर्वत्र आत्मदृष्टि सुकर है। (ग्रंथकार यह समझा रहे हैं कि स्वतः सत् सिर्फ आत्मा है। उससे अलग अनात्मा स्वयं सत् नहीं, आत्मा की सत्ता के प्रभाव से ही सत् लगता है। क्योंकि अनात्मा सत् नहीं इसीलिये उसे असत् कह सकते हैं लेकिन क्योंकि वह सत् से एकमेक हुआ दीखता है इसलिये उसमें सद्बुद्धि की जा सकती है जैसे गहना ग़ैर-सोना कहा जा सकता है और उसमें स्वर्णदृष्टि भी की जा सकती है। जो कार्यकारी न हो या जिसका बाह्य, स्थूल रूप न हो वह लोक में असत् कहलाता है पर वादियों ने असत् की एक कल्पना की है कि जो किसी भी तरह हो ही नहीं उसे असत् मानना चाहिये और इसमें उदाहरण नरशृंग, वंध्यापुत्र, आकाशपुष्प आदि का दिया जाता है। कुछ दार्शनिक तो ऐसा असत् स्वीकारते ही नहीं क्योंकि 'न होने' के लिये, अभाव के लिये भी 'होना', प्रतियोगी ज़रूरी समझते हैं किंतु जो स्वीकारते हैं उनका कहना है कि शब्दादि से जिनका आभास होते समय भी 'यह है नहीं' इसी तरह भान रहे, 'है' ऐसा जिन्हें कभी न समझा जाये वे असत् चीज़ें हैं। ग्रंथकार उन चीजों में भी आत्मदृष्टि की गुंजाइश रखते हैं क्योंकि इनका कहना है कि आभासरूप से तो उनका भी सत्त्व ही है, 'नहीं है' पर भी कर्ता का प्रश्न तो उठता ही है कि 'कौन नहीं है ?' और उसका उत्तर मिले बिना 'नहीं है' भान भी नहीं हो सकता। अतः 'नहीं होना' यह असत्तारूप धर्म जिसमें है वह असत् चीज़ भी सद्रूप से प्रतीत होकर ही उसकी सत्ता का निषेध किया जाता है। यों असत् में भी सत्संपर्क होने से उसमें सद्दृष्टि संभव है। वस्तुतस्तु संसार में सर्वत्र सद्दृष्टि का विधान अभिप्रेत है, असत्की तो अभ्यधिका शंका होने पर वहाँ भी इस दृष्टि को उपपन्न किया। जो प्रतीत हो उसे सत् समझना है। असत् भी यदि प्रतीत होता है तो सत् समझा जा सकता है यह सिद्ध किया। अगर असत् प्रतीत ही नहीं होता तो प्रश्न ही नहीं उठता।)।।४२५।। यों सब कुछ सद्रूप समझना आत्मबोध का उपाय है पर इसका यह मतलब नहीं कि नाम-रूप आदि भेदभिन्न प्रंपच को आत्मा का स्वरूप ही मान बैठें ! (यह भूल वल्लभानुयायी शुद्धाद्वैतियों ने की है।) जैसे उधार लिये गहने से लोग सजते हैं वैसे प्रपंच आत्मसत्ता को स्वयं में दिखाकर सत् प्रतीत होता है, प्रपंचसत्ता निर्भर करती है आत्मसत्ता पर, प्रपंच की स्वाभाविक सत्ता नहीं है अर्थात् प्रपंच का स्वरूप सत् नहीं है अतः प्रपंच आत्मा का स्वरूप नहीं वरन् उस पर कल्पित ही है। कार्यों सहित माया वास्तविक दृष्टि से आत्मा का स्वरूप नहीं है वरन् जड अर्थात् सारा अनात्मा माया से कल्पित होने के कारण मायामय ही है। अत एव उसमें आत्मदृष्टि करनी पड़ती है।।४२६।।

---

१. 'शुद्धोऽबाध्यस्वरूपो बुद्धः सुखरूप आत्मा न ह्येतन्निरात्मकमपि नात्मा पुरतो हि सिद्धो न हीदं सर्वं कदाचिदात्मा हि स्वमहिमस्थो निरपेक्ष एक एव साक्षी स्वप्रकाशः किन्तन्नित्यमात्माऽत्र ह्येव न विचिकित्स्यम् एतद्धीदं सर्वं साधयति द्रष्टा द्रष्टुः साक्ष्यविक्रियः सिद्धो निरविद्यो बाह्यान्तरवीक्षणात् सुविस्पष्टस्तमसः परस्तात्' (तत्रैव)।

आत्मवर्णनम्

सदानन्दात्मरूपं यत् स्वप्रकाशचिदात्मकम्। सर्वसाक्षि तदेवात्मरूपमेतत् पुरोदितम्।।४२७

नित्यमन्यत् ततो यत् स्यात् तदनित्यमितीरितम्। किं तन्नित्यमिति प्रश्नो मन्दानां व्यर्थ एव हि।।
नित्य आत्मा यतः पूर्वमस्माभिः परिभाषितः।।४२८

सन्देहस्तत एवाऽत्र न कर्तव्यः सुरोत्तमाः। आत्मनैव यतः सर्वं जडजातं प्रसिद्ध्यति।।४२६

बुद्ध्या यदीक्ष्यते बुद्धेर्वीक्षकेणैव सर्वदा। विक्रियालेशशून्येन निर्मायेन महात्मना।।४३०

बाह्यान्तरमिदं सर्वं वीक्षतेऽसौ यतः पुमान्। अतिस्पष्टं समीपं च सर्वसङ्गविवर्जितः।।
सिद्धस्ततोऽयं नित्यश्च कथ्यते वेदवादिभिः।।४३१

स्थूणानिखननन्यायेन दृढी करणम्

अमराः सोऽयमात्मा किं भवद्भिरवधारितः। मयोक्त इति तेनोक्ते ब्रह्मणा देवसत्तमाः।।
ऊचुस्तं परमेशानं ब्रह्माणं दृष्ट ईदृशः।।४३२

हेतुभूतस्य निरपेक्षत्वस्य स्फुटीकाराय नित्यत्वं सिद्धत्वं च साक्षिरूपस्य वर्णयति—नित्यमिति चतुर्भिः। तद् आत्मनो रूपं नित्यं ध्रुवं निरपेक्षमिति यावत्, यतः तद्व्यतिरिक्तम् अनित्यम् इति प्रसिद्धं श्रुत्यादौ। तत्र नित्यपदार्थावधारणाय प्रश्नो न युक्तः, आत्मन इतरत्र परसापेक्षत्वेन विशरणशीले नित्यत्वप्रसक्तेरेव अभावाद् इत्याह—किं तन्नित्यमिति।।४२८।। सन्देह इति। तत इतरत्र नित्यत्वाऽसम्भवाद् एव सन्देहः कोटिद्वयालम्बनरूपो न कार्यो यतो जडजातम् आत्मबलेनैव सिद्ध्यति इति स्फुटाऽनित्यत्वकमित्यर्थः।।४२६।। कथमात्मनैव सिद्ध्यति ? इत्याकांक्षायामाह—बुद्ध्येति। यद् यस्माद् बुद्धेर्वीक्षकेण साक्षिणाऽऽत्मना बुद्ध्या च वृत्तिद्वारा सर्वं वीक्ष्यते प्रकाश्यत इत्यर्थः।।४३०।। एवं सर्वसाधकस्य सिद्धत्वं न केनाऽपि अपलपनीयमित्याह—बाह्यान्तरमिति। यतोऽयं पुमान् बाह्यान्तररूपं सर्वं स्पष्टं समीपं च यथा भवति तथा वीक्षते वीक्षणेन साधयति तथापि सर्वसङ्गविवर्जितः च भवति, ततो वैदिकैः सिद्धो नित्यश्च इति कथ्यत इत्यर्थः।।४३१।।

'ब्रूते' त्यादिग्रन्थार्थं[1] दर्शयितुमुपक्रमते—अमरा इति। भो अमराः ! यो मयोक्तः प्रतिपादितः सोऽयमात्मा भवद्भिरवधारितो न वा ? इति एवं तेन गुरुणा ब्रह्मणा उक्ते पृष्टे सति तं ब्रह्माणं प्रति इदम् ऊचुः इत्यर्थः। अन्त्यं पदद्वयम् उत्तरान्वयि।।४३२।।

आत्मा का स्वरूप नामादि प्रपंच नहीं वरन् जैसा पहले बताया वह सद् आनंद प्रत्यक् स्वप्रकाश सर्वसाक्षी चैतन्य ही है।।४२७।। वह ध्रुव अर्थात् निरपेक्ष है, उससे अन्य सब अनित्य है। नित्य किसे कहते हैं ? यह मंदमतियों का प्रश्न निरर्थक है क्योंकि आत्मभिन्न सभी कुछ आत्मसापेक्ष होने से स्वभाव से ही विशीर्ण होता रहने से आत्मभिन्न में नित्यता की संभावना ही न होने से नित्य आत्मा को ही कहते हैं यह हम पूर्व में सब तरह समझा चुके हैं।।४२८।। हे उत्तम देवो ! इस बारे में संदेह करना ही नहीं चाहिये क्योंकि सारा जड प्रपंच आत्मा से ही सत्ता-स्फूर्ति पाता है जिससे वह नित्य नहीं यह सुव्यक्त है।।४२६।। मायारहित निर्विकार महान् आत्मा बुद्धिसाक्षी बनकर बुद्धिवृत्ति द्वारा प्रकाश देकर ही जड को सिद्ध करता है अतः अन्य से सिद्ध होने वाला प्रपंच आत्मा पर निर्भर होने से सापेक्षतारूप अनित्यता वाला ही है।।४३०।।

---

१. प्रजापतिदेवसंवाद उपनिषदि—(प्र.) 'ब्रूतैष दृष्टोऽदृष्टो वेति? (दे.) दृष्टोऽव्यवहार्योऽप्यल्पः। (प्र.) नाल्पः साक्ष्यविशेषोऽनन्योऽसुखदुःखोऽद्वयः परमात्मा सर्वज्ञोऽनन्तोऽभिन्नोऽद्वयः सर्वदा संवित्तिर्मायया नासंवित्तिः स्वप्रकाशे यूयमेव।'

व्यवहारेण शून्योऽयमवाङ्मनसगोचरः। बुद्ध्युपाधिस्तथैवाल्पो ह्यस्मभ्यं भवतेरितः।।४३३
इत्युक्ते तानुवाचेदममरान् स प्रजापतिः। सुरा ! अल्पो मया नाऽयमात्मा युष्मभ्यमीरितः।।४३४
किन्तु साक्ष्यविशेषात्मा ह्यनन्यो भवदादिभिः। सुखदुःखादिरहितो निर्द्वयः परमः पुमान्।।४३५
सर्वज्ञश्च तथाऽनन्तः सर्वभेदविवर्जनात्। सर्वज्ञत्वं च तस्यैव स्वप्रकाशचिदात्मना।।४३६
कालत्रयेऽपि मायाया योगात् तद्विपरीतता। प्रतिभाति ततस्तादृग्रूपमस्य महात्मनः।।४३७
यूयमेव स आत्मा यो मया दृष्ट इतीरितः। भवतो न ततोऽन्यद्धि किञ्चिदत्र तु विद्यते।।४३८

'इदं' किम् ? इत्याकांक्षायाम्; पूर्वोपदेशेन चिदाभासमात्मानं मन्वानैः देवैरुक्तं वाक्यमभिनयति—व्यवहारेणेति। हे भगवन् ! अस्माभिः ईदृशोऽयम् आत्मा दृष्टः। 'ईदृशः' कीदृशः ? लौकिकानां व्यवहाराऽनारूढः, अत एव वागाद्यतीतः, बुद्ध्यवच्छिन्नत्वेन अल्पश्च भवता वर्णित इति।।४३३।।

इत्थं तैरुक्ते सति प्रजापतिस्तेषां भ्रमं वारयंश्चिदाभासेऽसम्भवद्भिर्विशेषणैः आत्मानं वर्णयामासेत्याह—इत्युक्त इति। हे सुराः! मयाऽऽत्माऽल्पतया न उक्तः किन्तु साक्षिरूप उक्तः। कीदृशः? अविशेषात्मा विषयप्रयुक्तैर्विशेषैर्हीन आत्मा स्वरूपं यस्य स तथा। भवत्प्रभृतिभिः प्रमातृभिः अनन्यः अधिष्ठानतया तादात्म्यशाली सुखादिधर्मैर्वर्जितः अद्वयः परः सर्वोत्कृष्टः पुमान् सर्वसङ्घातानां पालकश्च। इति द्वयोरर्थः।।४३४-५।। सर्वज्ञ इति। यथा सर्वज्ञः, सर्वभेदराहित्याद् अनन्तः च प्रसिद्धः, तत्र तस्य आत्मनः सर्वज्ञत्वं कादाचित्कज्ञानेन न बोध्यं किन्तु कालत्रयेऽपि वर्तमानेन स्वप्रकाश-चिद्रूपेणैवेति। या चोक्तरूपेभ्यो विपरीतताऽन्यथात्वं प्रतिभाति तत्र प्रयोजको मायाया योगः कल्पितसम्बन्ध एव। ततो विपरीततताया मायाप्रयुक्तत्वाद् अस्य त्वंपदलक्ष्यस्य महात्मनः तत्पदार्थपर्यवसन्नस्य वर्णितं रूपं सुस्थितमेव। इति द्वयोरर्थः।।४३६-७।। यूयमेवेति। स मया वर्णितो भवतो युष्मान् प्रति 'किं दृष्टो न वा?' इति पृष्टश्च य आत्मा स यूयमेव भवतां स्वरूपमेव यतस्तस्मादात्मनः अन्यत्किञ्चिद् अपि न अस्ति इत्यर्थः।।४३८।।

स्वयं आत्मा तो स्वतः सिद्ध है, वह किसी अन्य की कोई अपेक्षा नहीं रखता। क्यों कि यह पुरुष बाह्य-आंतर सारे संसार को अत्यंत समीप से अतिस्पष्ट देखकर स्फूर्ति देता है फिर भी सारी आसक्तियों से छूटा रहता है इसलिये वैदिकों ने इसे सिद्ध और नित्य कहा है।।४३१।।

इतना समझाकर ब्रह्माजी ने पूछा 'हे देवताओ! मैंने जिस आत्मवस्तु का प्रतिपादन किया उसे आप लोगों ने समझा या नही?' देवताओं ने परमेश ब्रह्मा को जवाब दिया 'हमने इस आत्मा को यों समझा है : आपने हमें जो आत्मा समझाया वह लौकिकों के व्यवहार के घेरे में नहीं है, मन-वाणी से परे है, बुद्धि से परिसीमित होने से अल्प है।' (अर्थात् उन्होंने चिदाभास को ही आत्मा समझा था।)।।४३२-३।। उनका भ्रम मिटाने के लिये प्रजापति ने आत्मा के ऐसे विशेषण बताये जो चिदाभास में असंभव हैं : 'हे देवो ! मैंने आप लोगों को जो आत्मा समझाया वह अल्प नहीं है, मैंने तो साक्षी को आत्मा कहा जिसका स्वरूप उन विशेषों से रहित है जिनमें कारण विषय पड़ते हैं।(चिदाभास के ज्ञान में विषय विशेषणतया रहते हैं जबकि साक्षी के ज्ञान में उपलक्षणतया अतः विषय जिनके प्रति कारण हैं वे विशेष प्रमातृज्ञान में ही होते हैं न कि साक्षिज्ञान में, यह भाव है।) मैंने जो आत्मा बताया वह आप सभी से अन्य नहीं है, आप सब का अधिष्ठान है। सुखादि धर्म उस पर कभी नहीं आते-जाते। सब संघातों का पालनकर्ता वह पूर्ण आत्मा सर्वोत्कृष्ट और द्वैतहीन है।।४३४-५।।

सर्वज्ञ आत्मा अनंत है क्योंकि वस्तु-परिच्छेद से शून्य है। उत्पत्तिशील ज्ञानों से वह सर्वज्ञ नहीं वरन् सनातन स्वतः प्रकाश से ही वह सर्वज्ञ है। आत्मा के वास्तव स्वरूप से अन्यथा जो प्रतिभान होता है उसमें हेतु है आत्मा से माया का कल्पित संबंध। यों आत्मस्वरूप से विपरीतता मायाहेतुक होने से त्वम्पद से लक्ष्य जो तत्पदार्थ का पर्यवसित स्वरूप उसके बारे में जो कुछ शास्त्र में कहा वह सर्वथा समुचित है।।४३६-७।। आपको जो समझाया और जिसके बारे में पूछा कि आपने उसे समझा या नहीं, वह आत्मा आप ही हैं, आपसे अन्य कुछ भी है नहीं'।।४३८।।

एवमुक्त्वा सुरान् ब्रह्मा तानपृच्छत् किमद्वयः। दृष्ट आत्मेति ते प्रोचुर्ब्रह्माणं परमेष्ठिनम्।।
स्वप्रकाशः कुतश्चात्मेत्येवमुक्तोऽब्रवीद्धि तान्।।४३९

स्वप्रकाशे यतो माया तमोरूपा न तिष्ठति। मायाऽभावाच्च न द्वैतं तस्मिन्नात्मनि तिष्ठति।।४४०

द्वित्वाभावात्परो नास्मिन् प्रकाशः कोऽपि विद्यते। स्वयंज्योतिस्ततः सोऽयं पुरुषो मायया विना।।४४१

अद्वैतता ततस्तस्य पुरुषस्य प्रकीर्तिता। अद्वैतत्वाच्च पुरुषो निर्मायश्च स्वयंप्रभः।।४४२

यत्र द्वैतं न किञ्चित्स्याद् यूयमेव व्यवस्थिताः। सर्वभेदविनिर्मुक्ताः स्वप्रभाः सुखरूपिणः।।४४३

अद्वयत्वेन मायायाः स्वप्रकाशेऽप्यवस्थितिम्। स्वीकृत्य चोदयामासुः पुनर्देवाः प्रजापतिम्।।४४४

असङ्गता स्वप्रकाशरूपता च कथं भवेत्। तादात्म्यसङ्गयुक्तस्य दृश्यस्याऽस्माभिरीशितुः।।४४५

एवमुक्त्वेति।[1] एवं सुरान् प्रति उक्त्वा उपदिश्य प्रजापतिः तान् सुरान् इदम् अपृच्छत्। 'इदं' किम्? अद्वयो द्वितीयाभावेन सूचितस्वप्रकाशताक आत्मा किं दृष्टो न वा? इति। ते च सुरा द्वैतानुभवेन आत्मनः स्वप्रकाशताम् असम्भावयन्तः ब्रह्माणं प्रति इदम् ऊचुः। 'इदं' किम्? आत्मनः स्वप्रकाशतैव कथम्? इति। एवं सुरैः उक्तः पृष्टो ब्रह्मा तान् सुरानिदम् अब्रवीद् इत्यर्थः।।४३९।। श्रुतौ प्रजापतिना 'यूयमेव' इत्युक्तं द्वितीयाऽभावेन स्वप्रकाशत्वमभिनयति—स्वप्रकाश इति चतुर्भिः। यतः अस्मिन्नात्मनि स्वस्य मायास्वरूपस्य प्रकाशके माया न तिष्ठति, यद्यात्मनि स्थिता स्यात् तर्हि आत्मना न प्रकाश्येत, चक्षुषा स्वस्थिताञ्जनवद् इति भावः। ततश्च मायाप्रयुक्तद्वैताऽभावेन परस्य प्रकाशकस्य असम्भवात् स्वयंज्योतिष्ट्वं फलितमिति द्वयोरर्थः।।४४०-१।।अद्वैततेति। तत उक्तविधया स्वप्रकाशतासूचनायैव श्रुतौ अद्वैतता कथिता। अद्वैतत्वोक्त्या च निर्मायत्वं स्वप्रभत्वं च पुरुषस्य सिद्धमित्यर्थः।।४४२।।

एवं द्वैताभावे च युष्माकमेव स्वरूपं स्वप्रकाशादिलक्षणं परिशिष्टमित्याह—यत्रेति। यत्र परमार्थनिरूपणायां समस्तद्वैताऽभावः तत्र यूयमेव परिशिष्टा इति।।४४३।।

अथ 'ब्रूह्येव भगवन्नि'ति देवप्रश्नस्य[2] अभिप्रायमाह—अद्वयत्वेन इति त्रिभिः। यदा च आत्मनोऽद्वयत्वमुच्यते तदा सङ्गादिदोषदुष्टायाः सविलासमायाया अपि आत्मनः स्वरूपे स्वप्रकाशतयोक्तेऽपि अवस्थितिः प्रवेशः स्यात्, तथा च ससङ्गस्य कथं स्वप्रकाशत्वमिति स्वीकृत्य अभिप्रेत्य देवाः पुनः पप्रच्छुः इत्यर्थः।।४४४।। प्रश्नमभिनयति—असङ्गतेति। जडप्रपञ्चेन सह तादात्म्यरूपो यः सङ्गः तेन युक्तस्य अत एव अस्माभिर्दृश्यस्य अस्माकं द्रष्टृणां दृश्यभावमापन्नस्य ईशितुः मायोपाधिकत्वेन ईश्वरसंज्ञस्य चात्मनः असङ्गत्वस्वप्रकाशत्वे कथं स्याताम्? इत्यर्थः।।४४५।।

इस तरह स्पष्ट कर ब्रह्मा जी ने देवताओं से फिर पूछा, 'अद्वय आत्मा को समझे या नहीं?' देवताओं ने परमेष्ठी ब्रह्मा को उत्तर दिया, 'द्वैतानुभव रहते आत्मा इकलौता और स्वप्रकाश कैसे समझें?' तब ब्रह्मा जी उन्हें समझाने लगे :।।४३९।। 'हे देवो! स्वप्रकाश आत्मा में तमोरूप माया नहीं रहती तो कोई भी द्वैत उसमें रहे इसकी क्या संभावना! जब कोई दूसरा है ही नहीं तब आत्मातिरिक्त कोई प्रकाश कैसे होगा? इसलिये स्पष्ट है कि निर्माय पूर्ण चैतन्य स्वयम्प्रकाश ही है। (जैसे आँख में लगा अंजन आँख को नहीं दीखता ऐसे आत्मा में माया होती तो आत्मा उसे न देख पाता; देखता

१. (प्र.) 'दृष्टः किमद्वयेन? (दे.) द्वितीयमेव!(प्र.) न, यूयमेव।'
२. (दे.) 'ब्रूह्येव भगवन्निति देवा ऊचुः।'

इत्यभिप्रायतश्चोद्ये कृते तान् पुनरेव हि। अब्रवीद् भगवान् धाता शिष्यस्नेहसमन्वितः।।४४६

युष्माकं यदि भेदः स्यादात्मनः कोऽपि कर्हिचित्। तदाऽनयोश्च तादात्म्ययोगात् सङ्गोऽपि सम्भवेत्।।४४७

यूयमेव यदा स्वात्मरूपाः स्वेनैव वीक्षिताः। तदा सङ्गः कुतो वा स्याद् आत्मनो निर्द्वयस्य हि।। असङ्गस्तत एवात्मा भवतां च स्वयंप्रभः।।४४८

इत्यभिप्रायत इति। एवं देवैः चोद्ये प्रश्ने कृते सति 'इति' वक्ष्यमाणरूपेण अभिप्रायेण ब्रह्मा कारुणिको 'यूयम्' इत्यारभ्य 'यूयमेव' इत्यन्तग्रन्थेन[1] उत्तरं ददावित्यर्थः।।४४६।। प्रजापतेरभिप्रायमेव अभिनयति—युष्माकमिति। माययैव भवताम् आत्मा सद्वयत्वेन प्रथते, न वस्तुतः। तस्य सद्वयत्वेन प्रदर्शनं तु मौढ्यलिङ्गम्। यदि च वस्तुतो युष्माकम् आत्मनः स्वरूपस्य कोऽपिभेदः सम्भवेत् तदाऽनयोः दृग्दृश्ययोः तादात्म्यरूपाद् योगात् सङ्गः परप्रकाश्यत्वं च भवेदेवेत्यर्थः।।४४७।। परन्तु वस्तुतः कोऽपि भेदो नास्तीत्याह—यूयमेवेति। यदा च हे देवाः! यूयमेव स्वात्मरूपाः—सुष्ठु शोधित आत्मा सर्वान्तरो भावः स्वरूपं येषां ते तथा—तत इतरस्य अभावाच्च स्वेनैव वीक्षिताः स्वप्रकाशा इति यावत्, एतादृशाः स्थ, तदा सङ्गदोष आत्मनः कथं स्यात्? तथा च पूर्वोक्तं स्वयम्प्रकाशत्वम् उपपन्नमित्यर्थः।।४४८।।

है अतः आत्मा में माया नहीं है! अन्यत्र तो माया हो नहीं सकती यह पहले कह आये हैं। अब जब माया न अन्यत्र है, न आत्मा में है तो माया या तत्कार्यों से कोई सद्वयता हो नहीं सकती तथा जब कोई दूसरा नहीं तो दूसरा प्रकाश नहीं ही है। प्रकाश सर्वानुभवसिद्ध है। दूसरा प्रकाश नहीं तो एक आत्मा ही प्रकाश हो सकता है। यों युक्ति से संभावित आत्मा की स्वयंप्रकाशता श्रुति से प्रमाणित होकर निर्णीत हो जाती है यह तात्पर्य है।)।।४४०-१।। स्वप्रकाशता स्पष्ट करने के लिये ही मायारहित पुरुष को वेद अद्वैत कहता है।।४४२।। जिस परमार्थ भूमिका पर समस्त द्वैत का अभाव है उसमें सब भेदों से रहित स्वप्रकाश सुखरूप आप ही रह जाते हैं।' ।४४३।।

आत्मा को अद्वय कहने से आसक्ति आदि दोषों वाली कार्यसमेत माया की स्वप्रभ आत्मा में मौजूदगी निश्चित हो जाती है जिससे आत्मा जब सम्बन्ध वाला हो गया तब अद्वयता न रहने से स्वप्रकाशता भी असिद्ध हो जाती है। यह विचार कर देवताओं ने पूछा :।।४४४।। 'हे ब्रह्मन्! जड प्रपंच से जो तादात्म्य सम्बन्ध वाला है, अपने तादात्म्यापन्न नामादिरूप से जो हम द्रष्टाओं के लिये दृश्य बना हुआ है उस मायोपाधिक ईश्वररूप आत्मा को असंग व स्वप्रकाश कैसे समझा जाये?' ।।४४५।।

शिष्यों पर स्नेह रखने वाले विधाता ने उक्त शंका का समाधान किया :।।४४६।। 'हे देवताओ! आत्मा आप को सद्वय प्रतीत हो रहा है सिर्फ़ मायावश, वास्तव में वह सद्वय नहीं है। मूर्खता का यही चिह्न है कि आत्मा सद्वय दीखे! यदि आपका आत्मस्वरूप से कोई सच्चा भेद होता तब भले ही दृग्-दृश्य के तादात्म्य सम्बंध से आत्मा सम्बंध वाला और शंकित-स्वप्रकाशता वाला होता, किन्तु वस्तुभूमि पर जब कोई भेद है ही नहीं तब संग आदि की क्या संभावना! प्रत्यगात्मा का सम्यक् शोधन हो जाने पर आप ही स्वात्मा हैं और इसे आप ही जानते हैं अर्थात् आप निर्द्वय और स्वप्रकाश हैं। इसलिये सम्बंध वाला होने की संभावना न रहने पर स्वप्रकाशता पर शंका नहीं उठायी जा सकती। इस प्रकार आत्मा की स्वप्रकाशता संगत है'।।४४७-८।।

ब्रह्मा जी के इस विवरण पर देवताओं ने फिर पूछा, 'हम स्वप्रकाश नहीं हैं क्यों कि जैसे घड़ा आदि जाना जाता है वैसे हम ज्ञान द्वारा आत्मा को जान रहे हैं! आखिर आपने ही बताया कि आत्मा प्रपंच बना है, प्रपंच आत्मा से अन्य

१. (प्र.) 'यूयमेव दृश्यते चेन्नात्मज्ञा असङ्गो ह्ययमात्माऽतो यूयमेव स्वप्रकाशा इदं हि सत्संविन्मयत्वाद् यूयमेव।'

इत्युक्ते तं सुरा ऊचुः स्वप्रकाशा वयं न हि। ज्ञानेन यत आत्मानं जानीमोऽत्र घटं यथा।।४४९
असङ्गास्तु यतो ब्रह्मन् भवामो निर्द्वया यतः। अस्मत्तो नैव भिन्नोऽस्ति यतोऽयं जगदीश्वरः।।।४५०
एवमुक्तेऽथ तान् प्राह ब्रह्मा लोकगुरुः सुरान्। यूयं यदाऽद्वयात्मानः तदा ज्ञानात् कथं सुराः।
पश्यन्त्यात्मानमत्रैतं भवन्तो द्वयवर्जिताः।।४५१
एवमुक्ते सुरा ऊचुर्ब्रह्माणं पुनरेव तम्। उपपत्तिं वयं ब्रह्मन् जानीमो नात्मबोधने।
आत्मानमपि जानीमः प्रमाणं भगवानिह।।४५२

'नेति होचुः' इत्यादेर्देवप्रश्नस्य[1] अर्थमाह—इत्युक्तइति द्वाभ्याम्। इति एवं ब्रह्मणा उक्ते सति तं ब्रह्माणं सुरा इति ऊचुः।'इति' किम्? अस्माकं स्वप्रकाशत्वं न सम्भवति यतो ज्ञानेन संविदाख्येन आत्मानम् एव प्रपञ्चभावापन्नं जानीमो विषयी कुर्मो घटादिवत्।।४४९।। तत्र हेतुतयाऽसङ्गत्वप्रयोजकतयोपन्यस्तम् अद्वयत्वमाहुः—असङ्ग इति। हे ब्रह्मन्! यतो निर्द्वया ततो यतोऽसङ्गा भवामः अत आत्मानमेव प्रपञ्चरूपं विषयी कुर्मः यतोऽद्वयत्वेनैव जगच्छरीराद् ईश्वराद् अपि अस्माकम् अभेद आपादित इत्यर्थः। तथा च अद्वयत्वेऽपि विषयविषयिभावाऽनिवृत्तिरिति भावः।।४५०।।

यावदद्वयत्वं न भासते तावदेव सविलासमायास्थित्या द्वैतोपलम्भः। अद्वयत्वबोधे मायोपमर्दके जाते तु विषयविषयिभाव एव भवतां स्वरूपे कथमवशिष्ट इत्यभिप्रायकस्य 'कथं पश्यन्ति?'[2]इति प्रजापतिवाक्यस्याऽर्थमाह—एवमुक्त इति। एवं देवैः उक्ते सति तान् प्रति ब्रह्मा सर्वलोकगुरुः इदमाह।'इदं' किम्? हे देवाः! यदा यूयम् अद्वयाः सम्पन्नाः तदा भवन्तो ज्ञानेन आत्मानम् एव कथं पश्यन्ति विषयी कुर्वन्ति? तदानीम् आत्मनो विषयी करणमसम्भवि, द्वयवर्जितत्वादेवेत्यर्थः।।४५१।।

ततो 'न विद्म' इति वाक्यस्य[3] अर्थमाह—एवमुक्ते सुरा इति। एवं ब्रह्मणा उक्ते सति तं ब्रह्माणं पुनः इदमाहुः—हे ब्रह्मन्! वयम् आत्मनोऽद्वयस्य बोधने ज्ञानेन विषयी करणे उपपत्तिं सम्भावकयुक्तिं न जानीमः परन्तु इदानीमपि प्रपञ्चभूतम् आत्मानं जानीमः, इह स्वानुभवशास्त्रोपदेशयोः विरोधेन व्याकुलत्वे सति नः अस्माकं भगवान् एव प्रमाणम्, यद् भगवान् वदिष्यति तदेव अवधारयिष्याम इत्यर्थः।।४५२।।

कुछ नहीं है, अतः प्रपंच बने आत्मा को हम जान ही रहे हैं। आपने हमें असंग और निर्द्वय कहा जिससे निश्चित है कि जगत् जिसका शरीर है उस जगदीश्वर से हमारा कोई भेद नहीं है अतः जिसे हम विषय कर रहे हैं वह प्रपंच आत्मा ही है। यों हम ही जब विषय भी हो रहे हैं तब हम स्वप्रकाश कैसे हो सकते हैं?'।।४४९-५०।।

इस पर लोकगुरु ब्रह्मा ने सुरों को उत्तर दिया, 'जब आप लोग अद्वय हो गये तब ज्ञान द्वारा आत्मा को विषय कर ही कैसे सकते हैं? जिस स्थिति में कोई द्वैत नहीं उसमें आत्मा विषय नहीं बनेगा क्योंकि भिन्न विषयी रहते ही विषयविषयिभाव द्वारा विषय बनता है।' (तात्पर्य है कि अद्वयता के अनुभव से पूर्व ही सकार्य अज्ञान रहते द्वैत उपलब्ध होता है। अद्वयता जानते ही माया का बाध हो जाता है जिससे विषयविषयिभाव का ही प्रसंग नहीं रह जाता।)।।४५१।।

देवताओं ने फिर कहा, 'हे ब्रह्मन्! अद्वय आत्मा ज्ञान द्वारा कैसे विषय किया जा सकता है इसे संभावित करने का तर्क हमें भले ही न सूझे पर अभी भी प्रपंचरूप आत्मा को जान तो रहे ही हैं! हमारा अनुभव शास्त्रसिद्ध तथ्य से विरुद्ध पड़ रहा है, इस स्थिति में आप जो समझा देंगे हम वही निश्चय कर लेंगे।' (प्रत्यक्ष व आगम का विरोध होने पर गुरुदर्शित रीति से ही सामंजस्य संभव है।)।।४५२।।

---

१. (दे.) 'नेति होचुर्हन्ताऽसङ्गा वयमिति होचुः।'
२. (प्र.) 'कथं पश्यन्तीति होवाच।'
३. (दे.) 'न वयं विद्म इति होचुः।'

एवमुक्ते पुनर्ब्रह्मा तान् सुरानब्रवीद् गुरुः। उपपत्तिं यतो नैव भवन्तः स्वात्मबोधने।।४५३
पश्यन्ति बुद्धिमन्तोऽपि सर्वशास्त्रविशारदाः। ततो यूयं स्वप्रकाशाः सर्वभेदविवर्जिताः।।४५४
आत्मनः संविदो वाऽपि यदा भेदो भवेत्तदा। उपपत्तिः कथं नाम न भायाद् भवतामिह।।४५५
आनन्दात्मा स्वयंज्योतिरद्वयो भगवान् परः। न च भेदोऽत्र कोऽप्यस्ति तस्मिन्नद्वयरूपिणि।।४५६
यदाऽयमहमस्मीति ज्ञायते द्वयवर्जितः। आत्मा तदा न कोऽप्येष भेदो भाति स्वयंप्रभे।।४५७
अवाङ्मनसगम्योऽयं सर्वभेदविवर्जितः। व्यवहार्यो न कस्याऽपि भवेदात्मा कथञ्चन।।४५८
अत एव तमात्मानं गुरवो मौनतः सदा। आदिशन्ति निजान् शिष्यान् व्यवहारविवर्जितम्।।४५९
वचसो मनसस्तद्वत् प्रवृत्तिः सत्यसत्यपि। सदसद्रूपनिर्मुक्ते कथमात्मनि सा भवेत्।।४६०

द्वैतानुभवो युष्माकं भ्रम इत्यावेदकस्य 'ततो यूयम्' इत्यादेः 'अद्वयम्' इत्यन्तस्य[1] प्रजापत्युत्तरवाक्यस्य अर्थमाह—एवमुक्ते पुनरिति चतुर्दशभिः। स्वस्कन्धारोहण इव स्वात्मन एव बोधने विषयी करणे काचिदप्युपपत्तिर्भवतां महामतीनामपि यदा न प्रतिभाति अत एव आत्मनः स्वप्रकाशत्वमद्वयत्वेन उक्तमवधारयत। विषयतयोपलम्भे तु अनात्मज्ञत्वप्रसक्तिरुक्तैव। इति द्वयोर्भावः।।४५३-४।। यदि संविद्रूपेण तद्विषयरूपेण च आत्मनः स्वरूपे भेदो वास्तवोऽभविष्यत् तदा विषयविषयिभावे काचिदुपपत्तिर्भवताम् अस्फुरिष्यदेव। इदानीं तु संविदेकरूपतयाऽवधारितस्य आत्मनो विषयत्व उपपत्तेरस्फुरणात् विषयताया अभाव एवेत्याह— आत्मन इति। यदि आत्मपदार्थस्य संवित्पदार्थस्य च वास्तवो भेदः स्यात् तदा तयोर्विषयविषयिभावे भवताम् उपपत्तिः भायात् स्फुरेदेवेत्यर्थः।।४५५।। अत्र तु संविदेकरूप आत्मनि न कोऽपि भेद इत्याह—आनन्दात्मेति। स्पष्टम्।।४५६।। अत्र भेदाऽभावेऽनुभवं प्रमाणयति--यदाऽयमिति। अयम् आत्मा यदाऽहमिति अस्मीति वा प्रत्यग्रूपेण भासतेऽद्वैतस्फुरणप्रथमक्षणे,समाधौ वा, तदाऽस्मिन् विषयविषयिभावः केन दृष्ट इत्यर्थः।।४५७।।

न च व्यवहारबलेन अत्र भेदापादनं युक्तम्, आत्मनि व्यवहारयोग्यताया एव अभावाद् इत्याह—अवाङ्मनसेति। व्यवहारकारणाभ्यां वाङ्मनसाभ्यां परत्वात् तद्विषयेण भेदेन च वर्जितत्वाद् अयमात्मा केनाऽपि न व्यवहार्य इत्यर्थः।।४५८।।। न चोपदेशानुपपत्तिः, मौनेनाऽपि तत्सम्भवाद् इत्याह— अत एवेति। अतोऽव्यवहार्यत्वाद् एव, आदिशन्ति उपदिशन्ति।।४५९।। अवाङ्मनसगम्यत्वे हेतुं स्थूलसूक्ष्मप्रपञ्चाभ्यां सदसत्पदवाच्याभ्यां विविक्तत्वमाह—वचस इति।।४६०।।

ब्रह्मा जी ने स्पष्टीकरण दिया : 'आप बुद्धिमान् हैं, सब शास्त्रों में माहिर हैं, फिर भी आप इसे युक्तिसंगत नहीं बना पा रहे कि स्वात्मा को ज्ञान द्वारा विषय किया जा सकता है तब अवश्य यह बात वैसे ही असंभव है जैसे किसी का अपने ही कंधे पर चढ़ जाना! अतः विषयविषयिभाव भ्रमदशा में ही है, वस्तुतः आप अद्वय स्वप्रभ हैं, आत्मा को ज्ञान द्वारा नहीं जानते।।४५३-४।। यदि आत्मस्वरूप में ज्ञानरूप व विषयरूप से कोई सच्चा भेद होता तो विषयविषयिभाव को संगत बनाने वाली कोई युक्ति भी सूझती ही। जब उपपत्ति किसी को सूझ नहीं रही और ज्ञानरूप आत्मा की अद्वयता शास्त्र-युक्ति से सिद्ध है तब यही निश्चय उचित है कि आत्मा वास्तव में विषय कभी नहीं बनता क्योंकि संविद्रूप आनंदात्मा में कोई भेद है ही नहीं।।४५५-६।। अद्वय आत्मा को जैसे ही प्रत्यग्रूप से अनावृत किया जाता है तभी उस स्वप्रकाश वस्तु में यह कोई भेद प्रतीत नहीं होता।।४५७।। व्यवहार के सहारे भी उसमें भेद संभव नहीं क्योंकि मन-वाणी का अविषय होने से वह निर्भेद तत्त्व किसी के लिये किसी भी तरह व्यवहारयोग्य है ही नहीं।।४५८।। अव्यवहार्य होने से ही तो गुरुजन निज शिष्यों को मौन द्वारा उस आत्मा का उपदेश देते हैं।।४५९।।

---

१. (प्र.) 'ततो यूयमेव स्वप्रकाशा इति होवाच। न च सत्संविन्मया एतौ हि पुरस्तात् सुविभातमव्यवहार्यमेवाऽद्वयम्।'

असत्यविद्या तुच्छेयं सतीव स्यात् स्वकार्यतः। आत्माश्रयत्वाच्च ततो व्यवहार्या हि सा भवेत् ।४६१
तत्र स्थितस्तु भगवान् ईश्वरः स्वात्मबुद्धितः। व्यवहार्यः कदाचित् स रूपवान् जीव ईरितः।।४६२
हिरण्यगर्भः प्रथमं कार्यमाधिक्यमागतः। यः स देवोऽत्र जीवः स्यादीश्वरश्चातिशक्तिमान्।।
विराडपि तथा प्रोक्तो भगवान् भूतभावनः।।४६३
तत्राऽयं सर्वदाऽध्यात्मरूप एवं प्रकीर्तितः। प्राज्ञश्च तैजसस्तद्वद् विश्वावस्था च या स्थिता[1]।।४६४
अवस्थात्रयगो देवो जीव इत्यभिधीयते। शब्दभेदात्ततस्त्वेते जीव ईशादिकाः स्मृताः।।।४६५
अवस्थात्रयनिर्मुक्तं परं रूपं तदेव हि। आनन्दात्मस्वयंज्योतिस्तुरीयमिति गीयते।
व्यवहारप्रसिद्ध्यर्थमवाङ्मनसगोचरः।।४६६

किं च अव्यवहार्यपदेन अवस्थात्रयविवेकः सूचित इति दर्शयितुं पूर्वोक्तं कारणाद्यवस्थात्रयमधिदैवादिभावेन व्यवहार्यं स्मारयति—असत्यविद्येति पञ्चभिः। इयं कारणशरीरभूताऽविद्या स्वतः तुच्छाऽपि कार्यमुत्पादयन्ती सतीव भवति, सा च स्वतः सत्ताहीनाऽपि आत्मानमाश्रित्य सत्तादिकं लभमाना ततः कार्यारम्भाच्च व्यवहारयोग्या भवतीत्यर्थः।।४६१।। तत्रेति। तत्र तस्यामविद्यायां स्थितः प्रतिबिम्बित आत्मा ईश्वर इति व्यवह्रियते। स एवेश्वरः स्वात्मबुद्धित ईक्षणेन कदाचिद् उत्पन्नेन रूपवान् प्राणाद्युपहितः सन् जीवपदेन व्यवहार्य ईरित इत्यर्थः।।४६२। हिरण्येति। स प्रथमं कार्यम् इति प्रसिद्धो हिरण्यगर्भाख्यो जीवः, स एव ईश्वरश्च इत्युच्यते यत आधिक्यं स्वतः सिद्धज्ञानादिरूपम् आगतः प्राप्तः, अतिशयितशक्तिशाली च भवति इति। तथा स एव स्थूलसमष्ट्युपाधिः विराड् इत्युक्त इत्यर्थः।।४६३।। तत्राऽयमिति। तत्र वर्णित उपाधित्रये यदध्यात्मं व्यष्टिरूपं तदुपहितरूपः सन्नयम् आत्मा प्राज्ञादिसंज्ञ उक्त इत्यर्थः।।४६४।। अवस्थेति। यतः स एवात्माऽवस्थात्रये सुषुप्त्यादौ गतः सन् जीव इति उक्तः तत एते ईश्वरहिरण्यगर्भादयः शब्दा एकस्मिन् जीवे जीवपदलक्ष्ये चैतन्य एव वर्तन्त इति सिद्धमित्यर्थः।।४६५।।

व्यवहारप्रयोजकोक्तावस्थात्रयविमुक्तमात्मस्वरूपं तुरीयमित्युक्तमित्याह—अवस्थात्रयेति। अस्य तुरीयत्वेन व्यवहारोऽपि अवस्थात्रयनिरूपितं भेदमपेक्ष्यैव, न स्वत इत्याह—व्यवहारेति।।४६६।। ननु अव्यवहार्यस्य उपदेश

मन-वचन सत्-असत् कहलाने वाले स्थूल-सूक्ष्म को विषय करते हैं, आत्मा न स्थूल है न सूक्ष्म अतः सद्रूप-असद्रूप न होने से उसे मन-वाणी नहीं विषय करते।।४६०।।

अव्यवहार्य-शब्द से सूचित है कि आत्मा जाग्रद् आदि तीनों अवस्थाओं से स्वतंत्र है। अवस्थाओं के आधिदैविक्र आदि विभाजन पूर्व में बता आये हैं, उन सभी स्थितियों से आत्मा विलक्षण है। कारणशरीररूप यह अविद्या तुच्छ रहती हुई भी कार्य उत्पन्न करती प्रतीत होने से मानो सत् हो जाती है। स्वयं निःसत्ताक होने पर भी आत्मा पर आश्रित हो उससे सत्ता आदि पाकर व्यवहारयोग्य बन जाती है।।४६१।। उसी अविद्या में प्रतिबिम्बित आत्मा ईश्वर कहलाता है। वही ईश्वर जब कभी अपनी बुद्धि से ईक्षण करता है तब प्राण आदि उपाधियाँ ओढ़कर जीव-शब्द से कहा जाता है।।४६२।। जिसे 'प्रथम कार्य' कहते हैं वह हिरण्यगर्भ नाम का मुख्य जीव है जिसे कहीं-कहीं ईश्वर भी कहते हैं। उसमें ज्ञानादि स्वतः सिद्ध होने से वह सबसे बढ़ा-चढ़ा है, अतिशय शक्तिशाली है। वही भूतभावन भगवान् समष्टि स्थूल को उपाधिरूप से ग्रहण कर विराट् नाम पाता है।।४६३।। अज्ञान, सूक्ष्म और स्थूल इन तीनों वर्णित उपाधियों में जो अध्यात्म अर्थात् व्यष्टि रूप हैं उनसे उपहित हुआ यही आत्मा प्राज्ञ, तैजस और विश्व कहा जाता है।।४६४।। व्यष्टि उपाधियों वाला तीन अवस्थाएँ भोगने वाला स्वप्रकाश तत्त्व जीव कहा जाता है। यों ईश्वर, हिरण्यगर्भ आदि शब्द जीवपद के लक्ष्यभूत एक चैतन्य को ही विषय करते हैं। ये शब्द ही पृथक् हैं, इनका परमार्थ एक ही है।।४६५।।

---

१. या विश्वावस्था स्थिता कथिता तस्यामयं विश्वः प्रकीर्तित इत्यर्थः।

मयाऽप्येवं समादिष्टो भवतां स महेश्वरः। अवाङ्मनसगम्योऽपि धर्मानारोप्य कांश्चन।।४६७
भवद्भिः स तु देवाः! किं ज्ञातो न ज्ञात एव वा? इत्युक्ते तमथ प्रोचुर्ब्रह्माणं सकलाः सुराः।।
किं ब्रूमो भगवन्नत्र तुभ्यं हि गुरवे वयम्।।४६८
विदिताविदितादन्यो यत आत्मा त्वयेरितः। ज्ञातोऽपि तत एवाऽयं न ज्ञात इव वर्तते।।४६९
एवमुक्ते पुनर्ब्रह्मा तानुवाच सुरान् विभुः। अद्वयं नित्यशुद्धादिगुणं पूर्वमुदीरितम्।।४७०
ब्रह्मविद्भिर्हि विज्ञानमुपदेष्टुं महेश्वरः। पुनः पुनर्यदात्मायं शिष्येभ्य उपदिश्यते।।४७१
तदा तु वासनात्यागाद् दृढं तैरवगम्यते। ततो ब्रह्मा तमात्मानमुक्तवांश्च पुनःपुनः।।४७२

एव भवता कथं कृतः? इत्याशङ्कां परिहरति—मयाऽपीति। एवं तुरीयत्ववत् कांश्चन धर्मानारोप्य एव भवताम् आदिष्ट इति।।४६७।।

'ज्ञातो वैष' इत्यादिग्रन्थोक्ते[1] प्रश्नोत्तरे वर्णयति— भवद्भिरिति द्वाभ्याम्। हे देवाः! स मदुक्त आत्मा किं भवद्भिर्ज्ञातो न वा? इति ब्रह्मणा उक्ते पृष्टे सति अथ तं ब्रह्माणं सुरा इति प्रोचुः। 'इति' किम्? हे भगवन्! तुभ्यं गुरवे पृच्छतेऽवश्यं वक्तव्यत्वेऽपि ज्ञातत्वाऽज्ञातत्वयोर्मध्येऽन्यतरत् किं ब्रूमः! उभयोर्बाधात्। यतो भवदुक्त आत्मा विदिताद् ज्ञानगोचराद्, अविदाद् अभासमानाच्च परो विलक्षणो भवति; तत उभयवैलक्षण्यादेवं वदामः—अयम् आत्मा ज्ञातोऽपि भासमानोऽपि न ज्ञात इव वर्तते, अविषयत्वाद्। इति द्वयोरर्थः।।४६८-९।।

एवं देवैस्त्वंपदार्थतया यथावद् आत्मनि विज्ञाते सति अथ ब्रह्मा 'तद्वा एतद्' इत्यादिग्रन्थेन[2] तत्पदार्थतया तमेव आत्मानं देवेभ्य उवाचेत्याह—एवमुक्त इति। एवं देवैः उक्ते उत्तरे दत्ते सति तान् सुरान् प्रति उदीरितं पूर्वं वर्णितमेवात्मानम् अद्वयादिलक्षणं पुनरुवाच इत्यर्थः।।४७०।। दुरवगमस्य आत्मनः पुनः पुनरभिधानेऽपि जामिताख्यस्य पुनरुक्तिरूपदोषस्य न प्रसक्तिः, अनेकविपर्ययवासनानां क्षयरूपफलेन सफलत्वाद् इत्याह—ब्रह्मविद्भिरिति। विज्ञानमुपदेष्टुं प्रवृत्तैः ब्रह्मविद्भिः यदाऽयमात्मा शिष्येभ्यः पुनः पुनरुपदिश्यते तदा तैः शिष्यैः अनादिविपर्ययदुर्वासनारूपप्रति-बन्धापायेन दृढं यथा तथाऽऽत्मज्ञानं लभ्यते ततः तदेतत्फलमभिसन्धाय ब्रह्मा पुनः पुनः आत्मानम् उक्तवान्। इति द्वयोरर्थः।।४७१-२।।

व्यवहार संभव बनाने वाली उक्त तीन अवस्थाओं से छूटा हुआ आत्मस्वरूप तुरीय है। वही आत्मा का पारमार्थिक रूप है। स्वप्रभ आनंद आत्मा ही तुरीय है। मन-वाणी का अविषय होते हुए भी अवस्थात्रय की अपेक्षा से उसे तुरीय या चौथा कहा जाता है।।४६६।।

यह पूछो कि यदि सर्वथा वागादिव्यवहार से परे है तो मैंने तुम्हें उसका उपदेश कैसे दिया; तो यह समझ लो कि उस महेश्वर पर कुछ धर्मों का समारोप करके ही मैंने भी उसे शब्दगम्य व बुद्धिगम्य बनाया है। (जैसे परछाई किसी दीवाल आदि पर पड़े तभी दीखती है अन्यथा नहीं ऐसे ही आरोपित धर्मों से ही आत्मा व्यवहार्य होता है। या जैसे हरड़ खा लेने पर पानी का मिठास स्पष्ट होता है वैसे कुछ धर्मों का अध्यारोप कर लेने पर आत्मा का स्वरूप स्फुट हो जाता है। स्पष्ट अवबोध के लिये आरोपित धर्म ज़रूरी होने पर भी वे धर्म स्वरूपगत नहीं समझे जाने चाहिये यह भाव है।)।।४६७।। हे देवो! अब आप आत्मतत्त्व को समझ पाये या नहीं?' विवरण सहित यों पूछे जाने पर सब देवताओं ने ब्रह्मा जी से कहा, 'हे भगवन्! आप गुरु हैं, पूछ रहे हैं तो हमें अवश्य उत्तर देना चाहिये लेकिन हम तय नहीं कर पा रहे कि हम क्या कहें, उसे ज्ञात कहें या अज्ञात कहें! आपने जो आत्मा बताया वह तो ज्ञात और अज्ञात दोनों से ही विलक्षण है, न वह ज्ञानगोचर ही है और न अभासमान ही है। इसलिये यही कह सकते हैं कि यह प्रत्यक्तत्त्व

१. (प्र.) 'ज्ञातो ह्येवैष (दे.) विज्ञातो विदिताऽविदितात्पर इति होचुः।'
२. (प्र.) 'स होवाच—तद्वा एतद् ब्रह्माऽद्वयं बृहत्वान्नित्यं शुद्धं बुद्धं मुक्तं सत्यं सूक्ष्मं परिपूर्णमद्वयं सदानन्दं चिन्मात्रम् आत्मैवाऽव्यवहार्यं केनचन।'

अभिध्याय पुनश्चैतमिदमाह सुरान् प्रति। ओङ्कारपरिपूर्णं तमात्मानं परिपश्यत।
तदा दुर्वासनाः काश्च न भविष्यन्ति वः सुराः।।४७३
भवतामात्मनो ज्ञानात् क्षीणा दुर्वासना यदा। तदा भवन्तस्तद् ब्रह्म भविष्यन्ति न संशयः।।४७४
आत्मनोऽत्र यदा ज्ञानमोङ्कारस्याऽस्य कुर्वते। भवन्तस्तर्हि मा खेदमवगच्छन्ति कर्हिचित्।।४७५
व्यवहार्योऽहमा योऽयं भवद्भिरमरोत्तमाः। आत्मा स एव सत्यं तद् ब्रह्म यत् कीर्तितं मया।।४७६

पुनः पुनरुपदेशवत् पुनः पुनश्चतुष्पादेन प्रणवेन आत्मनोऽनुसन्धानमपि दुर्वासनाक्षयहेतुः इत्यालोच्य देवेभ्यः प्रणवेन आत्मानुसन्धानमपि प्रजापतिरुपदिदेश[1] इत्याह—अभिध्यायेति। तमात्मानमभिध्याय स्वयं प्रणवेन अनुसन्धाय ब्रह्मा पुनः इदं वाक्यं सुरान् प्रति आह। 'इदं' किम्? हे देवाः! यूयं तमात्मानम् ओङ्कारे चतुष्पदि परिपूर्णं चतुष्पाद्रूपेण तादात्म्यापन्नं परि समन्तात् पश्यत अविषयत्वेन ध्यायत तदा एतद्ध्यानपरिपाककाले काश्च का अपि दुर्वासना वो युष्माकं न भविष्यन्ति क्षयं गमिष्यन्तीत्यर्थः।।४७३।। ततश्च प्रतिबन्धाऽपायेन ब्रह्मभावाविर्भावो वः सेत्स्यतीत्याह—भवतामिति।।४७४।। ब्रह्मभावाविर्भावे च सकलदुःखोच्छेदः स्यादित्याह—आत्मन इति। यदा भवन्त ओङ्कारस्य ओङ्कारतादात्म्यापन्नस्य आत्मनः सम्बन्धि ज्ञानं साक्षात्कारं कुर्वते सम्पादयन्तो भविष्यथ तदा खेदं दुःखजातं नाऽवगमिष्यथेत्यर्थः।।४७५।।

तथैक्यरूपमहावाक्यार्थपर्यवसायिव्यतिहारेण चिन्तनमपि बोधदृढिम्ने कर्तव्यमित्याह[2]—व्यवहार्य इति द्वाभ्याम्। अहमा अहंशब्देन भवद्भिर्यो व्यवहार्योऽयं त्वंपदार्थरूप आत्मा स एव सत्यपदेन प्रसिद्धतत्पदार्थभूतब्रह्मरूप इत्यर्थः।।४७६।। यद् ब्रह्मेति। यत् च तत्पदार्थभूतं ब्रह्म तद् अस्माद् अहंपदव्यवहार्याद् आत्मनोऽन्यत् कथञ्चिदपि

ज्ञात होकर भी अज्ञात जैसा है।'।।४६८-९।।

इस उत्तर से ब्रह्मा जी संतुष्ट हुए कि त्वम्पदार्थ का देवताओं को सही ज्ञान हो गया। अब उस अद्वय, नित्यशुद्ध आदि गुणों वाले आत्मा को तत्पदार्थ के रूप में समझाने के लिये प्रजापति फिर समझाने लगे।।४७०।। आत्मा को समझाना अत्यन्त कठिन है इसलिये उसका बारंबार वर्णन पुनरुक्तिरूप दोष नहीं वरन् 'अभ्यास'-रूप गुण है तथा अतीव आवश्यक है। आत्मविज्ञान का उपदेश करने में प्रवृत्त ब्रह्मवेत्ता जब यह आत्मा शिष्यों को पुनः पुनः समझाते हैं तब शिष्यों की जो विपर्ययरूप अनादि दुर्वासनाएँ हैं, जो सही समझ उत्पन्न नहीं होने देतीं, वे हटती जाती हैं और तब उन्हें आत्मज्ञान की सुदृढ प्राप्ति होती है। इस प्रयोजन से ही ब्रह्मा जी ने उस रहस्य आत्मा का बार-बार उपदेश दिया।।४७१-२।।

जैसे बार-बार आत्मतत्त्व का उपदेश श्रवण करना दुर्वासना क्षीण करने का उपाय है वैसे चार पादों वाले प्रणव के सहारे, आत्मा का अनुसंधान भी बार-बार किया जाये तभी आत्मबोध की रुकावटें हटती हैं। यह समझाने के लिये स्वयं ओंकार द्वारा आत्मवस्तु का चिंतन कर ब्रह्मा जी ने देवताओं से कहा, 'हे देवो! (अकारादि) चारों पादों वाले ओंकार में (विश्वादि) चार पादों के रूप से एक-मेक हुए उस आत्मा का अनवच्छिन्न रूप में यों ध्यान करना चाहिये कि वह आत्मा विषय नहीं है। इस ध्यान का परिपाक होने पर आपकी कोई दुर्वासनाएँ बच नहीं सकेंगी।।४७३।। आत्मानुसंधान से जब प्रतिबंधक, दुर्वासनाएँ क्षीण हो जायेंगी तब ब्रह्मनिष्ठा पा जायेंगे इसमें कोई संशय नहीं।।४७४।।ओंकार से अभिन्न आत्मा जब आपके लिये अनावृत हो जायेगा तब आपके सारे खेद, दुःख समाप्त हो जायेंगे।।४७५।।

आत्मावगम की दृढता के लिये व्यतिहार से भी चिंतन करना चाहिये क्योंकि व्यतिहार का निष्कर्ष वह अभेद ही निकलता है जो महावाक्य का अर्थ है। (पदार्थों को एक-दूसरे का विशेषण और विशेष्य दोनों बना कर कहना 'व्यतिहार'

१. (प्र.) 'तदेतदात्मानम् ओमित्यपश्यन्तः पश्यत!'
२. (प्र.) 'तदेतत् सत्यमात्मा ब्रह्मैव ब्रह्मात्मैव, अत्र ह्येव न विचिकित्स्यम् इत्यों सत्यम्।'

यद् ब्रह्म न तदन्यत् स्यादात्मनोऽस्मात् कथञ्चन। इति सर्वात्मनाऽऽत्मानमवगच्छत सर्वथा।
अत्र वः संशयो मा भूत् कदाचिदमरोत्तमाः।।४७७
ओङ्कारः सत्यरूपो य आत्मा ब्रह्म मयेरितः। अमुमात्मतयां नित्यं पण्डिता एव जानते।।४७८
एतदात्मस्वरूपं यत् शब्दाद्यैः परिवर्जितम्। ज्ञानकर्मेन्द्रियाणां ये विषयाः परिकीर्तिताः।।
व्यापारैरपि सर्वेषां मनःप्राणादिजैरपि।।४७६
इन्द्रियैश्च तथा बुद्धिमनःप्राणादिकैरपि। पञ्चभिश्च महाभूतैर्भौतिकैरपरैरपि।।
मायया च तथा शून्यः सर्वधर्मविवर्जितः।।४८०
सच्चिदानन्दरूपो यः पूर्वं वः परिकीर्तितः। एवंभूतोऽपि सततं वेदान्तेष्वेव गम्यते।।४८१
स्वप्रभो ब्रह्मविज्ञानात् सकृदेव विभाति सः। असकृत् ज्ञानरूपोऽयमानन्दात्मा महेश्वरः।।४८२

न स्याद् इत्यर्थः। इति अमुना प्रकारेण आत्मानं परिपूर्णरूपेण अवगच्छत जानीत। अस्मिन्नर्थे संशयः च न कर्तव्य इत्यर्थः।।४७७।।

एवं महावाक्येन अखण्डतया वर्णितस्य आत्मनो निर्विशेषतास्फोरकान् सुविभातत्वान्तान्[1] धर्मान् व्याचष्टे—ओङ्कारेति पञ्चभिः। य ओङ्काररूपः सत्यरूपः च आत्मा वर्णितः अमुम् आत्मत्वेन पण्डिताः सूक्ष्मधिय एव जानते न स्थूलदर्शिन इत्यर्थः।।४७८।।

एतदात्मेति। उक्तमात्मनो रूपं शब्दाद्यैः भूतगुणैः ज्ञानेन्द्रियाणां कर्मेन्द्रियाणां च ये विषया व्यापाराश्च तैश्च वर्जितं तथा मनसः प्राणबुद्ध्यादीनां च व्यापारैर्वर्जितम् इत्यर्थः।।४७६।। इन्द्रियैरिति। तथेन्द्रियादिभिर्मायान्तैः पदार्थैः शून्यः सर्वधर्मवर्जितश्च इत्यर्थः।।४८०।। औपनिषदत्वं विवृणोति—सच्चिदानन्देति। युष्मान् प्रति यः सदादिलक्षण आत्मा वर्णितः स एवंभूतः स्वप्रकाशः अपि वेदान्तेषु उपनिषत्सु एव प्रतिपाद्य इत्यर्थः।।४८१।

सुविभातादिपदत्रयाऽर्थमाह[2]—स्वप्रभ इति। अयम् आनन्दरूपो महेश्वरो यतः स्वप्रभः ततः सुविभात इत्युक्तः। यतश्च ब्रह्मविज्ञानात् सकृद् एकवारमेव विभाति निरावरणो भवति पुनरावरणस्य अनादेः अनुत्पादात् ततः सकृद्विभात इत्युक्तः। यतश्च वृत्तिज्ञानप्रतिबिम्बितरूपेण पुनः पुनर्भाति ततः सर्वतः पुरतो विभात इत्युक्त इत्यर्थः।।४८२।।

है जैसे 'तत् त्वम् है, त्वम् तत् है', 'मैं ही वह हूँ, वह ही मैं है' इत्यादि। ब्रह्मसूत्र ३.३.३७ में यह शब्द प्रसिद्ध है।) हे देवो ! 'मैं'-से आप जिस अपरोक्ष वस्तु का व्यवहार करते हैं वह आत्मा ही वह सत्य है जिसे मैंने ब्रह्म बताया।।४७६।। जो ब्रह्म है वह 'मैं' कहलाने वाले इस आत्मा से किसी तरह अलग नहीं है। यों सर्वरूप से हर तरह आप आत्मा को समझ लीजिये। आत्मा की असीम व्यापकता में आपको कोई संदेह न रहे।।४७७।।

जिस ओंकाररूप सत्यात्मक व्यापक चैतन्य को मैंने ब्रह्म कहा इसे सूक्ष्ममति पंडितजन ही प्रत्यग्रूप से अनावृत कर पाते हैं।।४७८।।

पारमार्थिक आत्मस्वरूप शब्दादि भूतगुणों से रहित है, ज्ञानेंद्रियों व कर्मेन्द्रियों के विषयों व व्यापारों से रहित है, सभी के मन-प्राण-बुद्धि आदि के व्यापारों से रहित है।।४७६।। इंद्रिय-बुद्धि-मन-प्राणादि-पंचभूत-भूतकार्यों से तथा

१. (प्र.) 'तदेतत्पण्डिता एव पश्यन्ति एतद् हि अशब्दम् अस्पर्शम् अरूपम् अरसम् अगन्धम् अव्यक्तम् अनादातव्यम् अगन्तव्यम् अविसर्जयितव्यम् अनानन्दयितव्यम् अमन्तव्यम् अबोद्धव्यम् अनहङ्कर्तव्यम् अचेतयितव्यम् अप्राणयितव्यम् अनपानयितव्यम् अव्यानयितव्यम् अनुदानयितव्यम् असमानयितव्यम् अनिन्द्रियम् अविषयम् अकरणम् अलक्षणम् असङ्गम् अगुणम् अविक्रियम् अव्यपदेश्यम् असत्त्वम् अरजस्कम् अतमस्कम् अमायम् अप्यौपनिषदमेव सुविभातम्।'

२. (प्र.) '(सुविभातम्) सकृद्विभातं पुरतोऽस्मात्सर्वस्मात् सुविभातम्।'

एवं सर्वगुणैर्युक्तमात्मानं निर्द्वयं सुराः। अहं स एव सोऽहं च सर्वभेदविवर्जिताः।।
पश्यतैव सदात्मानं यूयं सर्वात्मबोधतः।।४८३
एवमुक्त्वा पुनः प्राह तान् सुरान् भगवान् हि सः। एष आत्मा किं भवद्भिर्दृष्टोऽदृष्टोऽथ वा सुराः!।।४८४
पूर्ववत्तेऽपि तं प्राहुर्विदिताऽविदितात् परम्। तेषां बुद्धिं स विज्ञातुं ब्रह्मा तान् पृष्टवान् इदम्।।४८५
मयोपदिष्टा भवतां याऽनुभूतिः स्वयंप्रभा। आनन्दात्मस्वरूपेयं कुत्र तिष्ठति भो सुराः!।।४८६
एवमुक्तेऽथ ते प्राहुः स्वगुरुं देवसत्तमाः। निराश्रयं पुरोक्त्वा तमाधारमधुना कथम्।।
अस्मान् पृच्छसि हे ब्रह्मन्! अनुक्तं पूर्वमात्मना।।४८७

अद्वयमित्यादिग्रन्थस्य[1] क्रमेण अर्थमाह— एवमित्यादिना। एवं वर्णितविधम् आत्मानं द्वैतरहितं तत्त्वंपदार्थयोर्व्यतिहारेण यूयं पश्यतैव साक्षात्कुरुतैव। कथंभूता यूयम्? सर्वात्मनो बोधेन सर्वभेदविवर्जिता इति सम्बन्धः।।४८३।।

एवमुक्त्वेति।[2] स भगवान् ब्रह्मा तान् देवान् इदं पप्रच्छ। 'इदं' किम्? हे देवाः! एष मदुपदिष्ट आत्मा भवद्भिः किं दृष्टः साक्षात्कृतो न वेति।।४८४।। पूर्ववदिति[3] एवं पृष्टा देवाः पूर्ववद् एव आत्मनो विदिताविदिताभ्यां वैलक्षण्यम् उत्तरत्वेन आहुरिति प्रथमदलार्थः।

ततः पुनः प्रजापतिः देवानां बुद्धिं परीक्षितुम् इदं वक्ष्यमाणविधं पप्रच्छेति।।४८५।। मयोपदिष्टेति। या मयोपदिष्टा आत्मनः स्वरूपभूता अनुभूतिः सा कुत्र कस्मिन्नाधारे तिष्ठति इति?।।४८६।। एवमुक्तेऽथेति। एवं गुरुणा पृष्टे सति देवा उत्तरमाहुः— हे भगवन्! पूर्वं निराश्रयं निराधारमात्मानमुपदिश्य अधुना तस्य आधारं कथं पृच्छसि? कीदृशमाधारम्? स्वयं पूर्वमनुक्तम् इत्यर्थः।।४८७।।

तमआदि अन्य वस्तुओं से एवं समस्त दृश्यों की कारण माया से यह आत्मा रहित है। किं बहुना ! यह सभी धर्मों से सर्वथा अस्पृष्ट है।।४८०।। आपको जिसके बारे में अब तक समझाया वह स्वप्रभ सच्चिदानंदरूप होने पर भी उसकी सही समझ वेदान्तों से ही मिलती है।।४८१।। क्योंकि यह आनंदरूप महेश्वर स्वयम्प्रकाश है इसलिये इसे सुविभात कहते हैं। ब्रह्मविज्ञान द्वारा एक ही बार निरावृत होता है इसलिये सकृद्विभात है। (सकृत्=एक बार। दोबारा आवरण असंभव है, क्योंकि आवरण अनादि होता है; अतः अनावरण भी पुनः नहीं हो सकता।) वृत्तिज्ञानों में प्रतिबिम्बित होकर बार-बार भासता रहता है अतः सबसे पहले विभात होने वाला कहलाता है।।४८२।।

उक्त प्रकार के निर्गुणता आदि गुणों से युक्त निर्द्वय आत्मा को सर्वात्मज्ञान द्वारा सब भेदों से रहित होकर 'मैं वही हूँ, वही मैं हूँ, यों आप हमेशा अवश्य जानिये।।'४८३।।

इतना सुनाकर भगवान् ब्रह्मा ने उन सुरों से फिर पूछा, 'हे सुरो! यह आत्मा आप लोगों को समझ आया या नहीं आया?'।।४८४।। देवताओं ने पिछली बार की तरह कह दिया कि वे आत्मा को ज्ञात और अज्ञात से परे ही समझे हैं। उनके निश्चय के परीक्षण के लिये ब्रह्मा जी ने पुनः पूछा :।।४८५।।

'हे देवो! मैंने जिसका उपदेश दिया वह आपकी आनंदात्मस्वरूप स्वयम्प्रभा साक्षात् अनुभूति किस आधार में रहती है?'।।४८६।। उन उत्तम देवताओं ने अपने गुरु ब्रह्मदेव से कहा 'हे भगवन्! पहले से अब तक आपने आश्रयहीन आत्मा का उपदेश दिया है, अब अचानक आप उसका आश्रय कैसे पूछ रहे हैं? हे ब्रह्मन्! आपने ही अभी तक उसका

१. (प्र.) 'अद्वयं पश्यत—अहं सः सोऽहमिति।'
२. (प्र.) 'स होवाच किमेष दृष्टोऽदृष्टो वेति?'
३. (दे.) 'दृष्टो विदिताऽविदितात्पर इति होचुः। (प्र.) क्वैषा (दे.) कथमिति होचुः।'

एवमुक्त्वा पुनः प्राह परीक्षार्थं महामतिः। आनन्दात्मा स्वयंज्योतिर्मया वः परिकीर्तितः।
निर्दुःखो निर्द्वयस्तेन विज्ञातेन फलं हि किम्।।४८८

एवमुक्ते सुराः प्राहुर्ब्रह्माणं स्वगुरुं प्रति। फलात्मन्यात्मनि ज्ञाते नैव किञ्चित् फलान्तरम्।
अस्माकं विद्यते यस्मान्न फलेऽस्ति फलान्तरम्।।४८६

पुनश्चैतानुवाचाऽथ परीक्षार्थं महामतिः। यूयमाश्चर्यरूपा भो देवा! ब्रह्मात्मका यतः।।४६०

एवमुक्तास्तमूचुस्ते वयमेव न तादृशाः। आश्चर्यमखिलं यस्मादद्वयं द्वयवत् स्थितम्।।४६१

पुनरेतानुवाचाऽथ विधाता स सुरोत्तमान्। एवं चेदन्तया ज्ञातमत्याश्चर्यस्वरूपवत्।।
ओमित्येव ततः कस्माज्ज्ञात इत्येव नोच्यते।।४६२

[1]ततः पुनः प्रजापतिः तेन विज्ञातेन आत्मना किं फलम् इति पप्रच्छ इत्याह—एवमुक्त्वेति।।४८८।। 'न किञ्चन' इत्याकारमुत्तरं देवानां विवृणोति—एवमुक्ते सुरा इति। ज्ञात आत्मैव फलं, तस्य फलान्तरं न अस्ति, फलत्वादेव, यतो लोकेऽपि फलावस्थादाम्रादेः फलान्तरं जायमानं न दृष्टं किन्त्वङ्कुरवृक्षाद्यवस्थादेवेत्यर्थः।।४८६।।

[2]पुनश्चैतान् इति। एतान् देवांस्तद्विज्ञानपरिपूर्तिपरीक्षार्थं पुनः एवम् उवाच। 'एवं' कथम्? भो देवाः! यूयमाश्चर्यरूपाः स्थ अत्याश्चर्यरूपमायाया अपि ब्रह्मरूपेण सत्ताप्रदत्वाद् इत्यर्थः।।४६०।। एवमुक्ता इति। ततो देवैरिदमुक्तम्—सर्वस्याऽपि पदार्थजातस्य ब्रह्मरूपेण तथात्वाद् अस्मास्वेव तथाऽवधारणमयुक्तमिति इत्यर्थः।।४६१।।

पुनरेतानिति।[3] इत्थं वदतो देवान् प्रति पुनः इदं ब्रह्मा प्राह— हे देवाः! एवं सति दृश्यपदार्थानां घटादीनामपि ब्रह्मरूपेण आश्चर्यतया ज्ञातत्वे सति आश्चर्यरूपवद् ब्रह्म इदन्तयाऽपि भवद्भिर्ज्ञातम् इत्यायाति, ततश्च प्रणवानु-सन्धानपूर्वकमस्माभिर्ज्ञात आत्मा इति एवं कस्माद् न उच्यते? इत्यर्थः।।४६२।। इत्युक्ता इति।[4] इत्थं परीक्षायै

आश्रय हमें नहीं बताया तो हम कैसे बता सकते हैं!'।।४८७।। यों सटीक उत्तर सुनकर सन्तुष्ट महामति प्रजापति ने उनकी परीक्षा के लिये फिर पूछा, 'निर्दुःख अद्वैत आनंदरूप स्वप्रकाश आत्मा मैंने आपको बताया, उसे समझने से आपको फल क्या मिला?'।।४८८।। देवताओं ने उत्तर दिया 'ज्ञात आत्मा खुद ही फल है, उससे अन्य कोई फल नहीं क्योंकि लोक में भी फल का अन्य फल नहीं देखा जाता। अतः फलरूप आत्मा जानकर हमें भी कोई अन्य फल नहीं मिला है।'(क्रिया का फल होता है, आगे फल का कोई अन्य फल नहीं होता।)।।४८६।। महामति ब्रह्मा ने परीक्षा जारी रखते हुए पूछा 'हे देवताओ! आप लोग आश्चर्य रूप हैं क्योंकि ब्रह्मस्वरूप होकर आप आश्चर्यात्मक माया को भी सत्ता देने वाले हैं।' ।४६०।। देवता बोले, 'हे ब्रह्मन्! हम ही ऐसे नहीं हैं, अखिल पदार्थ ही आश्चर्यरूप हैं क्योंकि एक अद्वय वस्तु ही सद्वय की तरह स्थित है।'(जब सभी ब्रह्मरूप होने से आश्चर्यात्मक हैं तब हमें ही आश्चर्य कहना बेमानी है।)।।४६१।।

विधाता पुनः बोले 'हे देवो! जब आप लोगों ने घटादि दृश्य पदार्थों को ब्रह्मरूप होने से आश्चर्यात्मक समझ लिया तब आश्चर्यस्वरूप ब्रह्म को इदंरूप से भी आपने जान लिया अतः आप यह क्यों नहीं कहते कि प्रणव के अनुसन्धान से आपने आत्मा को ज्ञात बना लिया?'।।४६२।।

१. (प्र.) 'किन्तेन। (दि.) न किञ्चनेति होचुः।'
२. (प्र.) 'यूयमाश्चर्यरूपा इति। (दि.) न चेति। (प्र.) आह—ओमित्यनुजानीध्वम्।'
३. (प्र.) 'ब्रूतैनमिति।'
४. (दि.) 'ज्ञातोऽज्ञातश्चेति होचुर्न चैवमिति होचुः।'

इत्युक्ताः पुनरेवैनमूचुस्ते देवसत्तमाः। न ज्ञातो नाऽप्यविज्ञातो नोभयात्मा यतः पुमान्।
ततः कथममुं ब्रह्मन्! वदामो ज्ञात इत्यपि।।४६३

एवमुक्तः पुनः प्राह तर्ह्येवं वदताऽमराः। स्वात्माऽनुभवसिद्धोऽयमस्माकमिति चेरिते।।
ब्रह्माणं ते पुनः प्राहुरेतद् विज्ञाततत्त्वकाः।।४६४

जानीमो वयमात्मस्थम् आनन्दात्मानमद्वयम्। न जानीमश्च भेदेन ततो वक्तुं वयं कथम्।।४६५

प्रभवामो नमस्तेऽस्तु गुरो! लोकपितामह! परीक्षार्थं त्वमस्माकं पृच्छसीति सुनिश्चितम्।।
अस्मानज्ञसमो भूत्वा सर्वज्ञो जगदीश्वरः।।४६६

परीक्षां कुरु माऽतस्त्वं कृतार्था हि वयं कृताः। त्वया तुभ्यं नमस्तेऽस्तु चिदानन्दात्मदाय हि।।४६७

प्रसीदास्माकमनिशं शिष्याणां भगवन् गुरो! अस्माभिर्दुर्लभं लब्धं त्वत्प्रसादान्महेश्वर।।४६८

पुनः पृष्टा देवा एनं ब्रह्माणम् इदम् ऊचुः।'इदं' किम्? एकत्वात् सर्वत्र ईदृक्स्वभावोऽयमात्मा ज्ञातो न भवति, अविषयत्वात्; अविज्ञातो न, भासमानत्वात्; उभयात्मा ज्ञातत्वाऽज्ञाततत्वयोः समुच्चयवांश्च न, विरोधात्। ततो ज्ञातत्वादेरन्यतरावधारणसमुच्चययोरसम्भवाद् अमुम् आत्मानं ज्ञात इति आकारेण कथं वदामः वक्तुं प्रभवामः? इत्यर्थः। तथा च बाधासामानाधिकरण्येन सर्वत्र ब्रह्मत्वमुक्तमिति न प्रत्यक्त्वव्याघात इति भावः।।४६३।।

एवमुक्त इति।[1] तर्हि 'स्वानुभवसिद्धोऽयमस्माकम् आत्मा' इति एवं वदत—इति ब्रह्मणोदिते कथिते सति ते देवा अवधारिततत्त्वका एतद् वाक्यं प्राहुः इति सम्बन्धः।।४६४।। 'एतत्' किम्? अत आह—जानीम इति। अद्वयत्वेन आनन्दरूपमात्मानम् आत्मस्थं प्रत्यग्भावेन स्थितं जानीमो, भेदेन विषयविषयिभावलक्षणेन तु न जानीम इत्यतो विषयत्वप्रसञ्जकम् आत्मनो विशेषणं किमपि वक्तुं कथं प्रभवामः शक्नुम इत्यर्थः।।४६५।। प्रभवाम इति। प्रथमं पूर्वान्वयि। निगदव्याख्यातं त्रयम्।।४६६-८।।

देवताओं ने कहा, 'एक होने से आत्मा का सर्वत्र एक ही स्वभाव है। वह विषय होता ही नहीं तो ज्ञात कैसे बने! हमेशा भासमान रहते उसे अविज्ञात कहना बनता नहीं। परस्पर विरुद्ध होने से उसे इकट्ठे ही ज्ञात-अज्ञात नहीं कह सकते। हे ब्रह्मन्! इस विचार से ही हम इस निर्णय पर पहुँचे कि हम उसे ज्ञात नहीं कह सकते।'(सर्वत्र ब्रह्मदर्शन बाधसामानाधिकरण्य से होता है अतः प्रत्यक्ता ही बनी रहती है, कभी भी पराक्ता नहीं आने पाती। 'सर्वत्र' का जो पराक्-अंश है उसका बाध हो जाने पर अवशिष्ट सच्चिदानंदांश का दर्शन ही 'सर्वत्र ब्रह्मदर्शन' है यह रहस्य है।)।।४६३।

ब्रह्मा जी तो देवताओं की समझ ठोक-बजा कर देखना चाहते थे! उन्होंने फिर कहा 'हे अमरो ! तब आप यों क्यों नहीं कहते 'हमारा यह आत्मा स्वानुभव से सिद्ध है'? ब्रह्मानुभूति की तह तक पहुँचे ब्रह्मशिष्य देवों ने जवाब दिया, 'अद्वय होने से जो आनंदरूप, भूमरूप आत्मा है उसे हम प्रत्यग्रूप से स्थित जानते हैं पर विषय-विषयिरूप भेद के संदर्भ में नहीं जानते जिससे हम ऐसे किसी विशेषण का प्रयोग कर अपने ज्ञान का उल्लेख नहीं कर सकते जो आत्मा में विषयता का आपादक बने। हे गुरुदेव! सब लोकों के पितामह! आपको प्रणाम है। इसमें संदेह नहीं कि आपके ये प्रश्न हमारी परीक्षा के लिये ही हैं। सर्वज्ञ जगन्नाथ होकर भी अज्ञानी-से बनकर जो आप पूछ रहे हैं वह आपकी असीम कृपा है क्योंकि वह इसका द्योतक है कि आप हमें अविद्याटवी के बाहर निकाल कर ही सन्तुष्ट होंगे, जब तक हम

---

१. (प्र.)'ब्रूतैवैनमात्मसिद्धमिति होवाच। (दि.) पश्याम एव भगवन्न च वयं पश्यामो नैव वयं वक्तुं शक्नुमो नमस्तेऽस्तु भगवन् प्रसीदेति होचुः।'

एवमुक्तोऽपि देवैः स पुनरेव पितामहः। प्राहैतान् सुदृढज्ञानप्राप्त्यर्थं हि परीक्षयन्।।४९९

प्रार्थना च नमस्कारो भवद्भिस्तु कृतो हि यत्। मां प्रतीहामरास्तेन न भेतव्यं कदाचन।।५००

यूयं पृच्छत यश्चाऽस्ति संशयो हृदि संस्थितः। भवतां तमहं सर्वं छेत्स्याम्येव न संशयः।।५०१

एवमुक्ते सुराः प्राहुस्तं गुरुं स्वात्मनस्तदा। आत्मनो व्यतिरिक्तेयमनुज्ञा का त्वयेरिता।
अस्मान् प्रत्यनुजानीध्वम् इति नः संशयोऽस्ति हि।।५०२

इत्युक्तस्तानुवाचाऽयं ब्रह्मा लोकपितामहः। याऽनुज्ञा भवतां प्रोक्ता मया नैषात्मनः पृथक्।
अनुज्ञारूप आत्माऽयं भवद्भ्योऽत्र प्रकीर्तितः।।५०३

एवमुक्त इति। एवं कृतकृत्यताबोधकानि देववाक्यानि श्रुत्वाऽपि ब्रह्मा एतान् देवान् ज्ञानदार्ढ्याय परीक्षयन् सन्निदं प्राह।।४९९।। 'इदं' किम्? इत्यत आह[1]— प्रार्थना चेति। यद् यतो भवद्भिर्मां प्रति प्रार्थनानमस्कारौ कृतौ तेन हेतुना मम प्रसादातिशयात् पुनः प्रश्ने भवद्भिः न भेतव्यं त्रसितव्यमित्यर्थः।।५००।। तथा च हृद्गतशङ्काशूकोऽपि वारयितव्य इत्याह—यूयमिति।।५०१।। एवमुक्ते सुरा इति। एवं ब्रह्मणा उक्ते सति तं ब्रह्माणं स्वकीयं गुरुं देवा इदमाहुः—हे भगवन्! सिद्धरूपस्य आत्मनो वर्णनप्रसङ्गे साध्यरूपेण आत्मना व्यतिरिक्ता विलक्षणा एषा अनुज्ञा 'अनुजानीध्वम्' इत्याकारिकाऽपूर्वाऽप्रकृताऽसङ्गता समीरिता इति अतो नः अस्माकं पूर्वोक्तेऽर्थे संशयो भवतीत्यर्थः।।५०२।। इत्युक्तस्तानिति। एवं प्रार्थितो ब्रह्मा प्राह—मया साध्यरूपाऽनुज्ञा न उक्ता किन्तु अद्वैतात्मरूपैवोक्ता यतो द्वैतविस्मरणाय शक्त्याख्यप्रणवावस्थावाच्योऽनुज्ञारूप आत्माऽनुसन्धेय इति मयोक्तमित्यर्थः।।५०३।।

संसार व इसके कारण से परे न हो जायें तब तक आप प्रयास करेंगे।।४९४-६।। क्योंकि आपने कृपापूर्वक हमें कृतकृत्य कर दिया इसलिये अब आप और परीक्षा लेने का श्रम न करें। चिद्रूप आनंद प्रदान करने वाले आप सद्गुरु को सनातन प्रणाम है।।४९७।। हे भगवन्! हम शिष्यों पर आप सदा प्रसन्न रहें। हे महेश्वर! जिसे पाना किसी के लिये संभव नहीं वह वस्तु केवल आपकी कृपा से हमें उपलब्ध हुई है।'।।४९८।।

यों देवताओं द्वारा निष्ठा व्यक्त करने पर भी उनकी निष्ठा की दृढता की परीक्षा करते हुए पितामह ने पूछा ।।४९९।। 'आपने मुझे नमस्कार और मुझसे प्रार्थना की है कि मैं आप पर प्रसन्न रहूँ। अब आपको कोई भय नहीं होना चाहिये। यह मेरी कृपा का उद्रेक ही समझिये कि मैं आपसे फिर-फिर पूछ रहा हूँ। इससे आप कभी त्रास मत महसूस करें।।५००। आप लोगों के हृदय में कोई भी संशय हो तो पूछिये, मैं अवश्य आपके समस्त संदेह मिटा दूँगा।'।।५०१।।

देवता बोले, 'हे भगवन्! सिद्धरूप आत्मा का वर्णन करते हुए आपने निर्देश दिया 'ॐ यों अनुज्ञा करो'। करने के लिए कहा अतः अनुज्ञा कोई साध्य वस्तु ही हो सकती है और इसीलिये वह सिद्धरूप आत्मा से विलक्षण ही होनी चाहिये। आत्मप्रसंग में अनात्मा अनुज्ञा का कथन क्यों किया यह हमें संशय है, वह मिटाने की कृपा करें।।'।।५०२।। तब लोकों के पितामह ब्रह्मा ने उन्हें समझाया, 'मैंने आप को जिस अनुज्ञा के लिये कहा वह आत्मा से पृथक् नहीं है, आत्मरूप अनुज्ञा ही यहाँ मैंने आपको बतायी।' (द्वैत के विस्मरणार्थ उस आत्मवस्तु का अनुसन्धान अनिवार्य है जो शक्ति-नामक प्रणवावस्था से बोध्य है। उसी आत्मा को अनुज्ञा कहा। अतः 'करो' का मतलब अन्य कुछ न करना है। 'न करना' सिद्ध वस्तु है, उस से स्फुरने वाला आत्मा भी सिद्ध वस्तु है, स्फुरण तो नित्य होने से सिद्ध है ही अतः अनुज्ञाविधि किसी साध्य को विषय नहीं करती)।।५०३।।

१. (प्र.) 'न भेतव्यं पृच्छतेति होवाच।' (दि.) कैषाऽनुज्ञेति। (प्र.) एष एवात्मेति होवाच।'

इत्युक्ताः पूर्ववद् देवाः कृतवन्तो नमस्क्रियाम्। ब्रह्मणे गुरवे स्वेषां प्रसीदेति वचोऽन्विताः।।५०४
एवं पुरा सुरान् ब्रह्माऽऽदिष्टवान् परमेश्वरः। कौतूहलं हि यत्राऽभूद् भवतः स्वात्मवेदिनः।।५०५
संसारशूलमूलस्य नाशनं ज्ञानमीरितम्। इदं यत् पृष्टवानादौ भवान् मां श्रद्धयान्वितः।।५०६

तापनीयविद्यासंक्षेपः

यदुक्तं विस्तरग्रन्थात् संक्षेपात् तद्वदाम्यहम्। अहमज्ञ इति प्रोक्ता माया दृश्या तदुत्थितम्।।५०७
दृश्यं सूक्ष्मं तथा स्थूलं देहद्वयमुदीरितम्। भूतभौतिकरूपं तदधिदैवादिभेदवत्।।५०८।।
स्थूलं जागरणं प्रोक्तं सूक्ष्मं स्वप्न इतीरितम्। अविद्या सुप्तिरित्युक्ता त्रयं हेयमिदं सदा।।५०९

एतावच्छ्रुत्वा देवाः प्रकारान्तरेण गुरोः प्रतिकर्तुमशक्ता नमस्कारेण स्वात्मानमेवाऽर्पितवन्त[1] इत्याह—इत्युक्ताः पूर्ववदिति। स्वेषां सर्वदेवानां गुरवे ब्रह्मणे नतिं चक्रुः 'प्रसीद भगवन्!' इति चोचुरित्यर्थः।।५०४।। देवैर्महता यत्नेन ब्रह्मणो लब्धेयं विद्येति दुर्लभत्वं सूचयन्नुपसंहरति— एवं पुरेति।[2] आदिष्टवान् उपदिदेश। यत्र अर्थे भवतो मदन्तेवासिनः पूर्वग्रन्थेन विज्ञातात्मतत्त्वस्याऽपि कौतूहलम् उत्कटजिज्ञासारूपम् अभूद् इत्यर्थः।।५०५।।

एतदध्यायोक्तविज्ञानस्य मुमुक्षूणामवश्यसम्पादनीयत्वं दर्शयन्नाह—संसारेति। संसाररूपशूलस्य मूलभूतं यदज्ञानं तस्य नाशकमेतज्ज्ञानम् उक्तं यत् त्वया ग्रन्थादौ पृष्टमित्यर्थः।।५०६।।

'ओतम्' इत्यादेश्चरमश्लोकस्य[3] अर्थमुपबृंहयति—यदुक्तमिति त्रयोदशभिः। विस्तरशालिना ग्रन्थेन यदुक्तं तत् संक्षेपेण श्रूयताम्—अहमज्ञ इति दृश्याऽनुभूयमाना माया कारणशरीरम् इत्युक्ता, तस्याः समुत्थितं जातं दृश्यं तु स्थूलसूक्ष्मदेहभूतं द्विविधं यद् भूतभौतिकरूपम् अधिदैवादिभेदशालि च। इति द्वयोरर्थः।।५०७-८।।

तानि च स्थूलसूक्ष्मकारणानि यथाक्रमं जागरणादिरूपाणि हेयानीत्याह—स्थूलमिति।।५०९।। एतत्त्रयादिति।

इस स्पष्टीकरण से देवता संतुष्ट हो गये। ब्रह्मविद्या-प्राप्ति के प्रत्युपकाररूप से शिष्य कभी कुछ नहीं कर सकता क्योंकि 'करने' के क्षेत्र के मूल्य से सर्वथा अतुलनीय ही गुरु का वह उपकार है जो ज्ञान में प्रवेश कराया। अतः देवता अपनें गुरु के लिये कुछ न कर सकने की स्थिति समझकर उन्हें नमस्कार करने लगे, 'हम पर प्रसन्न होवें' यह उन सभी की गुरुराज ब्रह्मा जी के चरणों में प्रार्थना थी।।५०४।।

पुराण सुनाने वाले श्रीगुरुदेव कहते हैं : यह प्राचीन इतिवृत्त है जहाँ परमेश्वर ब्रह्मा ने देवताओं को साधनोपदेशपूर्वक परब्रह्म के स्वरूप का उपदेश दिया। यही वह प्रसंग है जिसके बारे में तुम्हें कौतूहल हुआ था और स्वात्मा को जान चुकने पर भी तुमने जिसे सुनने की इच्छा प्रकट की थी।।५०५।। तुम्हें यह ग्रन्थ सुनाना आरंभ इसलिये किया कि तुमने सब देहधारी संसाररूप शूल से क्लेश न पायें वह उपाय जानना चाहा था (अ.१ श्लोक.२-३) और संसारशूल के मूलभूत अज्ञान का नाश करने वाला एक ही वेदसिद्ध उपाय है—तत्त्वज्ञान। क्योंकि तुम्हारा प्रश्न श्रद्धाप्रेरित था इसलिये वह रहस्य हमने सर्वांगपूर्ण ढंग से प्रकट किया। अन्य अधिकारी भी इस अभिव्यक्ति से लाभ उठा सकता है।।५०६।।

विस्तार से समझाये ज्ञान को संक्षेप में दोहरा देता हूँ : 'मैं व्यापक प्रत्यक् को नहीं जानता' यों अनुभूयमान माया कारणशरीर है जिससे उत्पन्न सारा दृश्य दो कोटियों में मिलता है—सूक्ष्म व स्थूल। महाभूतों और उनके सभी कार्यों के आधिदैविक आदि भेद हैं जिनकी दृष्टि से समष्टि-व्यष्टि दोनों तरह के सूक्ष्म-स्थूल शरीर अनुभव में आते हैं।।५०७-८।।

---

१. (दे.) 'ते होचुः—नमस्तुभ्यं वयं त इति।'
२. 'इति ह प्रजापतिर्देवान् अनुशशासानुशशासेति।'
३. 'तदेष श्लोकः—ओतमोतेन जानीयाद् अनुज्ञातारमान्तरम्। अनुज्ञामद्वयं लब्ध्वा उपद्रष्टारमाव्रजेद्।। इत्युपद्रष्टार-माव्रजेदिति।।'—इत्युत्तरतापनीयोपनिषत्समाप्ता।

एतत्त्रयात्परं यत्तत्तुरीयमिति कीर्तितम्। चतुर्धा तदपि प्रोक्तम् अत्र वेदान्तवादिभिः।।५१०

देहाभिमाने गलिते बहिरन्तर्यदा पुमान्। विश्वं ब्रह्मेति जानीयाद् ओतं तत् प्रथमं विदुः।।५११

अहं ब्रह्मेति च यदा विश्वं भेदविवर्जितम्। ध्यातृध्यानादिभेदेन समाधिस्थः प्रपद्यते।।
अनुज्ञाता तदैवं तद् द्वितीयमिति गीयते।।५१२

यदा वै तत्त्वमात्मानं स्वप्रकाशः स्वयं पुमान्। ध्यातृध्यानादिभेदं तं तिरस्कृत्याऽधिगच्छति।।
तदाऽनुज्ञेति भेदोऽयं तृतीयः परिकीर्तितः।।५१३

ब्रह्मज्ञानाग्निना दुःखशूलमूलविनाशने। यदावाङ्मनसाऽतीतं पश्यन्नपि न पश्यति।।५१४

उक्तावस्थात्रयाद् विमुक्तं तत्त्वं तुरीयमिति उक्तम्। तदपि ओतादिभेदैश्चतुर्विधम् इत्यर्थः।।५१०।। तत्रौतं लक्षयति—देहाभिमान इति। अधिदैवसाक्षिणो ह्येता ओता अवस्थाः। तल्लाभे च शरीरत्रयाऽभिमानः प्रतिबन्धक इत्यतउक्तं देहाभिमाने गलित इति। तथा च यदा पुमान् विद्वान् देहत्रयाऽभिमाननिवृत्त्युत्तरं व्युत्थानदशायां वर्तमानो बाह्यान्तररूपं यथास्थितं विश्वं ब्रह्मेति अनुभवति तद् विश्वभासकं चैतन्यम् ओतम् इति विदुः। कीदृशमोतम्? तुरीयभेदानां मध्ये प्रथमम् इत्यर्थः।।५११।।

अखिलं मिथ्यात्वेन सविकल्पकसमाधौ भासयच्चैतन्यम् अनुज्ञाता इति पुल्लिँङ्गनाम्नोच्यते, स्वसत्तादानरूपाऽनुग्रहेण गौरवशालित्वात्। स तुरीयस्य द्वितीयो भेद इत्याह— अहं ब्रह्मेति चेति। भेदविवर्जितं बाधितभेदं विश्वं ब्रह्मरूपं प्रपद्यते भासयति। कीदृशः? ध्यातृध्यानादिभेदशालिसविकल्पसमाधिस्थः। एवं सर्वानुग्राहकत्वे सति तत् चैतन्यम् अनुज्ञाता इति वाच्यम्। तदेतत्तुरीयरूपेषु द्वितीयमिति गीयत इत्यर्थः।।५१२।।

यदा स्वसत्ताऽऽकर्षणेन असत्तामापन्नस्य द्वैतस्याऽभावं निर्विकल्पकसमाधिस्थः प्रपद्यते तदा तच्चैतन्यम् अनुज्ञा इति दर्शितव्युत्पत्तिकेन नाम्नाऽभिधीयते, स तृतीयस्तुरीयभेद इत्याह—यदा वा इति। तत्त्वं परमार्थभूतम् आकृष्टविश्वसत्ताकमिति यावत्, एतादृशम् आत्मानम् अधिगच्छति, किं कृत्वा ध्यात्रादिभेदं तिरस्कृत्य अपोह्य। सोऽयम् अनुज्ञाख्यः तृतीयो भेद इत्यर्थः।।५१३।।

तुरीयस्य तुरीयभेदमविकल्पाख्यं वर्णयति—ब्रह्मज्ञानाग्निनेति त्रिभिः। ब्रह्मज्ञानरूपेण अग्निना दुःखशूलमूलभूतस्य अज्ञानस्य दाहे सति यदा वागाद्यतीतं भासमानानन्दरूपम् आत्मानं पश्यन्नपि न पश्यति, अविषयत्वेन पश्यतीति

स्थूलप्रधान जाग्रदवस्था है, सूक्ष्मप्रधानं स्वप्न और अविद्याप्रधान सुषुप्ति है। इन तीनों को हमेशा छोड़ने लायक ही जानना चाहिये।।५०६।। इन तीनों से जो परे है वह तुरीय कहा गया है। वेदान्तविचारक उसे चार तरह का बताते हैं।।५१०।। पहले प्रकार का नाम है 'ओत'। ये प्रकार या स्थितियाँ समष्टि के साक्षी के स्तर की हैं जिनकी प्राप्ति में देहत्रय में अभिमान रुकावट डालता है। जब पुरुष विद्या पाकर तीनों शरीरों के अभिमान का बाध कर लेता है तब व्युत्थान की स्थिति में बाहरी-भीतरी विश्व जैसा है वैसा ही उसे ब्रह्म देखता है। विश्व-प्रकाशक उस चैतन्य को 'ओत' कहते हैं।।५११।।

दूसरा प्रकार 'अनुज्ञाता' है। सविकल्प समाधि में सबको मिथ्यारूप से भासित करता हुआ चैतन्य 'अनुज्ञाता' कहलाता है। ध्याता-ध्यान आदि भेद रहते, अर्थात् सविकल्प समाधि में जब 'मैं ब्रह्म हूँ' इस बोध के साथ बाधित भेद वाले संसार को ग्रहण करता है तब वह समाधि-स्थित आत्मा अनुज्ञाता है।।५१२। तीसरा प्रकार 'अनुज्ञा' है। अपने द्वारा दी गयी सत्ता को खींच लेने से सत्ताहीन हुए द्वैत के अभाव को निर्विकल्प समाधि में स्थित आत्मा ग्रहण करता है, वह अनुज्ञा-नामक प्रकार है। पूर्वानुभूत ध्याता-ध्यानादि भेद का अपोह करके जब स्वप्रकाश पुरुष खुद परमार्थ आत्मा को—उस आत्मा को जिसने विश्व से अपनी सत्ता का आकर्षण कर लिया है—देख रहा होता है तब उसे अनुज्ञा कहते हैं।।५१३।।

आनन्दात्मानमद्वैतं स्वप्रभं परमेश्वरम्। आत्मानं वा परं वाऽपि भेदं वाऽभेदमेव च।।५१५
जीवन् वाऽपि मृतो वाऽपि कदाचिन्नाधिगच्छति। अविकल्प इति प्रोक्तं तुर्यतुर्यमिदं तदा।।५१६
त्यजेज्जागरणादीनि यथा भेदात्मकानि हि। ओतादीन्यपि तद्वत् तु त्यजेत् त्रीण्यपि सर्वदा।।५१७
अविकल्पमिमं देवमवाङ्मनसगोचरम्। आनन्दात्मानमद्वैतं सदा द्वारवतीस्थितम्।।५१८
सर्वाश्रयविहीनं तं सर्वभेदविवर्जितम्। अमायं स्वप्रभं नित्यं भासमानं हृदम्बुजे।।
पश्येदपश्यन्नेवेदमिति ज्ञानमिदं स्मृतम्।।५१९

शास्त्रप्रयोजनम्

गन्धर्वनगरं यद्वद् गगने परिकल्पितम्। आनन्दात्मनि मायादि तथैवेहाऽपि कल्पितम्।।५२०
गगनस्य यथा भागे गन्धर्वनगरस्थितिः। अज्ञानादात्मनस्तद्वद् मायाद्युत्थितिरीरिता।।५२१

यावत्, स्वः पर इत्यादिरूपं भेदं वा, जीवन्नस्मि मृतोऽस्मि इत्यादिविशेषं वा नाधिगच्छति, इदं चैतन्यरूपम् अविकल्पाख्यं तुर्यस्य तुरीयस्य तुर्यं रूपम्। इति त्रयाणामर्थः।।५१४-६।।

यथा च भेदशालितारूपदोषेण जागरणादित्रयं हेयं तथा तुरीयभेदेषु ओतादित्रयमपि तेनैव दोषेण हेयमित्याह—त्यजेदिति।।५१७।। चरमरूपमेव चालम्बनीयमित्याह—अविकल्पमिममिति। द्वारवत्यां तनूरूपायां स्थितं सदा राजमानं पश्येत्। किं कुर्वन्? 'इदम्' इत्याकारेण पराग्भावेन अपश्यन् सन्।इदं परमफलभूतज्ञानस्वरूपं मतमिति। स्फुटमन्यद् द्वयोः।।५१८-९।।

इदमेव च ज्ञानमस्य शास्त्रस्य प्रयोजनमिति वक्तुमत्र विज्ञानेऽसम्भावनां दृष्टान्तैर्वारयति—गन्धर्वेत्येकादशभिः। कल्पितमारोपितम्। मायादि मायाप्रभृति द्वैतम्। इह वर्णित आनन्दात्मनि।।५२०।। यथा च गगनस्य कल्पित एकदेशे गन्धर्वनगरकल्पना गगनस्वरूपाऽज्ञानप्रयुक्ता तथाऽऽत्मनः कल्पितैकदेशे मायादिदृश्यस्येत्याह—गगनस्येति।।५२१।। यथा च गगनतत्त्वज्ञानाद् गन्धर्वनगरस्य लयो बाधः, तथेहाऽपि आत्मज्ञानाद् दृश्यजातस्य

तुरीय का चौथा प्रकार 'अविकल्प' है। ब्रह्मज्ञानरूप आग से दुःखरूप शूल के मूलभूत अज्ञान का दाह हो जाने पर जब मन-वाणी से अतीत भासमान आनंदरूप वाले स्वप्रभ परमेश्वर अद्वैत आत्मा को देखते हुए भी नहीं देखता अर्थात् यों देखता है कि वह विषय न हो पाये, मैं-अन्य आदि भेद या जीवित हूँ, मृत हूँ आदि विशेष नहीं देखता, तब वह चैतन्य अविकल्प नाम पाता है।।५१४-६।।

'भेदशाली होना' इस दोष से जाग्रत् आदि तीनों अवस्थाएँ जैसे त्यागने लायक हैं वैसे तुरीय के प्रकारों में ओत आदि तीनों भी उसी दोषवश त्यागने लायक ही हैं।।५१७।।तुरीय का चौथा भेद ही आलंबन के योग्य है। वह 'अविकल्प' देव मन-वाणी का विषय नहीं, अद्वैत आनंद है, शरीररूप द्वारवती में सदा विराजमान है, वह किसी पर आश्रित नहीं, सभी भेदों से रहित है, मायारहित, स्वप्रकाश और सदा भासमान है। हृदयकमल में उसे देखना चाहिये किन्तु यों नहीं कि वह पराक् (अप्रत्यक्, आत्मभिन्न) हो जाये! यह दर्शन ही ज्ञान कहा जाता है।।५१८-९।।

यही ज्ञान इस शास्त्र का प्रयोजन है। गगन में जैसे गंधर्वनगर आरोपित होता है वैसे इस आनंदरूप आत्मा पर भी माया आदि सारा द्वैत आरोपित है।।५२०।। अखण्ड गगन में एक हिस्से की कल्पना होने पर उसी दूरवर्ती आदि एक हिस्से में गंधर्वनगर की कल्पना इसीलिये होती है कि गगन-स्वरूप का अज्ञान होता है। इसी प्रकार आत्मस्वरूप के अज्ञान से आत्मा में हिस्सों की कल्पना होकर उन हिस्सों पर माया आदि दृश्य का अध्यारोप हो जाता है।(पहले जीव-ईश्वर भेद का आरोप होने पर जीव पर संसारिता का व ईश्वर पर कारणतादि का आरोप हो जाता है यह भाव है।)।।५२१।।

गगनेऽत्र यथा ज्ञाते गन्धर्वनगरं लयम्। व्रजेदात्मनि विज्ञाते तथा मायादिकं लयम्।।५२२
गगनज्ञानतो यद्वद् गगनाऽज्ञानसंक्षयः। आत्मज्ञानात्तथैवाऽऽत्माऽज्ञाननाशोऽपि निश्चितः।।५२३
परोक्षज्ञानतो यद्वद् दिङ्मोहोऽत्रानुवर्तते। परोक्षज्ञानतस्तद्वद् मायादिरनुवर्तते।।५२४
यथा शयानः पुरुष एक एव व्यवस्थितः। आत्माऽज्ञानादनेकः स्याद् एवमेव महेश्वरः।।५२५
मायैषा दुर्घटा तद्वद् दुस्तरा चातिदुःखदा। संसारशूलजननी स्वबलेनैव सिद्ध्यति।।४२६
आनन्दात्मनि देवेशे प्रतिभेदविवर्जिते। सर्वज्ञश्रुतिविज्ञानाद् विनश्यति न चान्यथा।।५२७

इत्याह—गगनेऽत्रेति। लयं व्रजेद् इति सम्बन्धः।।५२२।। तत्त्वज्ञानाद् न केवलं विकाराणामेव लयः किन्तु तन्मूलाऽज्ञानस्याऽपि इत्याह—गगनेति।।५२३।। अथाऽपरोक्षभ्रमबाधाय अपरोक्षज्ञानमेवाऽपेक्षितमित्यत्र दृष्टान्तमाह—परोक्षेति। दिङ्मोहो दिग्भ्रमः।।५२४।। एक एवात्मा मायाख्येन स्वरूपाऽज्ञानेन अनेकधा भाति इत्यत्र दृष्टान्तमाह—यथेति। शयानः स्वप्नावस्थः। आत्मनः स्वरूपस्य अज्ञानाद् महेश्वरः अपि अनेको जात इत्यर्थः।।५२५।। ननु भासमानात्मनि कथमज्ञानस्थितिरिति चेद्? अघटितघटनाक्षमात्तत्स्वभावादेवेत्याह—मायैषेति। एषाऽज्ञानरूपा। बलं सामर्थ्यम्[1]।।५२६।।

एवंविधाया अपि निवृत्त्युपायमाह—आनन्दात्मनीति। आनन्दरूपे देवानां चक्षुरादीनां सन्निधिमात्रेण ईशे नियन्तरि, प्रतिभेदविवर्जिते प्रत्यग्रूपेण भेदवर्जिते आत्मनि यद् वेदान्तवाक्यजन्यं ज्ञानमखण्डाकारवृत्तिरूपं तस्माद् गर्भभूताद् एषा माया वृश्चिकीव नश्यतीत्यर्थः।।५२७।। पूर्वं साक्षित्वेन अस्याः साधकोऽप्यात्मा वृत्त्यारूढरूपेण

जैसे गगन के स्वरूप के यथार्थ ज्ञान से गंधर्वनगर का बाध हो जाता है वैसे आत्मा के परमार्थ स्वरूप के प्रमाणोत्थ ज्ञान से माया आदि दृश्यमात्र का बाध हो जाता है।।५२२।। गगनज्ञान से साक्षात् तो गगन का अज्ञान मिटता है, उसके मिटने से वह सब भी मिट जाता है जो उससे प्रयुक्त है; ऐसे ही आत्मज्ञान से साक्षात् तो आत्मा का अज्ञान मिटता है और उसके मिटने से वह सब मिट जाता है जो उससे प्रयुक्त है।।५२३।। अपरोक्ष भ्रम के बाध के लिये अपरोक्ष ज्ञान ही ज़रूरी है। दिशाविषयक परोक्ष ज्ञान ही हो तो दिङ्मोह बना रहता है; ऐसे ही परोक्ष आत्मज्ञान से माया आदि बने रहते हैं।।५२४।। माया नामक स्वस्वरूपाज्ञान से अद्वैत आत्मा अनेक तरह का लग रहा है। जैसे अकेला ही पुरुष स्वप्नावस्था में आत्मा के अज्ञान से अनेक हो जाता है वैसे इकलौता महेश्वर अनेक हो रखा है।।५२५।। यह माया जैसी असंभव को संभव बनाने वाली है वैसी ही नाश करने में मुश्किल है और वैसी ही अतुल दुःख देने वाली है। संसाररूप शूल की उत्पादिका यह अज्ञानरूपिणी माया अपनी सामर्थ्य से ही प्रतीत हो रही है। (आत्मा तो सनातन है, मोक्षवर्ती भी है; यदि आत्मसामर्थ्य से अविद्यासिद्धि होती तो सदा होती, मोक्ष न होता, नित्य में सामर्थ्य भी नित्य होती है और सामर्थ्य रहते कार्य न होने में हेतु ढूँढना पड़ता है। इसलिये अविद्या अपनी सामर्थ्य से प्रतीत हो यह उचित है। सत्ता-स्फूर्ति आत्मा से इसे अनिवार्यतः मिल रहे हैं; अविद्या रहते आत्मा उसे सत्तादि देना रोक भी तो नहीं सकता! हाँ, अविद्या को नष्ट कर सकता है। यों अविद्या को सत्तादि देना आत्मा की मज़बूरी होने से अविद्या अपनी सामर्थ्य पर प्रतीत हो रही है यह ठीक है। 'आत्मा के बिना अविद्या सिद्ध नहीं हो सकती' यह कहना निरर्थक है क्योंकि 'आत्मा के बिना' यह परिस्थिति ही असंभव है! फिर भी वस्तुस्थिति है कि आत्मा पर आश्रित होकर ही यह रहती है इसलिये प्रायः इसे आत्मबल से सिद्ध होने वाला कहते हैं पर यहाँ मूलकार उक्त अभिप्राय से अविद्या को अपने बल पर सिद्ध होने वाला कह रहे हैं।)।।५२६।।

जो आनन्दस्वरूप, चक्षुरादि देवों का सन्निधिमात्र से नियन्ता, प्रत्यग्भूत किसी भी भेद से रहित आत्मा है उसके बारे में सर्वज्ञ वेद से जन्य अखण्डाकार-वृत्तिरूप ज्ञान से ही उक्त अज्ञान नष्ट होता है। जैसे बिच्छू माँ के गर्भ में पैदा

---

१. सिद्धिसमर्थतैवाऽत्र बलम्; भूतादिसिद्धिस्त्वज्ञानसिद्धिपूर्विकेति अज्ञानसिद्धिरपि अज्ञानान्तरसिद्धिपूर्विका स्यादित्यादिशङ्कानिरासाय एवकारः। इतरसिद्धिरज्ञानबलेन किन्त्वज्ञानसिद्धिर्नान्यबलेनेत्यर्थः। न ह्यत्राऽऽत्मतः सत्तास्फूर्तिलाभो वार्यते।

आत्मनोऽपि भयं नैषा कदाचिदधिगच्छति। आत्मजाच्छ्रुतिविज्ञानाद् भीतस्तिष्ठति सर्वदा।।५२८
अनाद्यनन्तरूपाया मायायाः पण्डितैः सदा। उपायस्त्वेक एवाऽयं दृष्टो नाशाय नाऽपरः।।५२९
माया पिशाची भूतानां भवभीतिकरी सदा। आत्मज्ञानाभिधं मन्त्रं दृष्ट्वा नाशं प्रयाति सा।।५३०
शान्त्यादिगुणसम्पन्नो मुमुक्षुः सर्वदा ततः। मायापिशाचीभीतः सन् भावनादिसमन्वितः।।
सम्पादयेदिदं ज्ञानमिति शास्त्रार्थ ईरितः।।५३१

एतावदेव कर्तव्यं पुरुषेण मुमुक्षुणा। नातः परं परं कुर्वन् पतत्येव न संशयः।।५३२

उपदेशपरिपूर्तिः

इति ते विद्यमानानां वेदान्तानां मयेरितम्। उपासनाविरहितमात्मज्ञानं सदा घनम्।।५३३

बाधको भवति यथा काष्ठस्य भासकोऽप्यग्निर्लोहारूढो भेदकत्वेन दृष्ट इत्यावेदयन्नाह—आत्मन इति। एषा माया आत्मनः साधकाद् न बिभेति। तज्जात्प्रतिबिम्बात् श्रौतविज्ञाननिष्ठात्तु बिभेतीत्यर्थः।।५२८।। एतदेव स्फुटयति—अनाद्यनन्तेति। अनादेरनन्ताया ब्रह्मबोधं विनाऽन्तहीनायाश्च मायायाः प्रक्षयाय श्रौतविज्ञानरूप एव उपायः पण्डितैर्दृष्ट इति।।५२९।।

अमुमर्थं रूपकेण द्रढयति—माया पिशाचीति। भूतानां प्राणिनां जनिमृतिप्रवाहरूपस्य भयस्य कर्त्री मायारूपा पिशाची वर्तते। सा च ब्रह्मज्ञानात्मकरहस्यमन्त्रेणैव नश्यतीत्यर्थः।।५३०।। फलितमाह—शान्त्यादीति। ततः शान्त्यादिगुणशाली मुमुक्षुः मायापिशाचीभीतो भावनया चित्रैकाग्र्येण आदिपदग्राह्यगुरूपसत्त्यादिना च युक्तः सन्, इदम् उक्तरूपं ज्ञानं सम्पादयेत्। एतद् अस्य वेदान्तशास्त्रस्य प्रयोजनमित्यर्थः।।५३१।। एतावदेवेति। मुमुक्षोः पुरुषस्य कर्तव्ययत्नोद्देश्यम् एतावद् उक्तज्ञानसिद्धिपर्यन्तम् एव। अतो ज्ञानाभ्यासात् परम् अन्यत्तु[1] न कर्तव्यं, यतोऽन्यकरणे पुनः संसारपात इत्यर्थः।।५३२।।

गुरुः शिष्यायोपदेशपरिपूर्तिमाह—इति त इति। विद्यमानानाम् उपलभ्यमानग्रन्थानां वेदान्तानाम् उपनिषदां प्रतिपाद्यभूतम् आत्मज्ञानम् इत्थं तुभ्यमुक्तम्। कथम्? उपासनाप्रतिपादकवेदान्तभागार्थप्रदर्शनरहितं यथा भवति

होकर माँ को मारते हुए बाहर आते हैं वैसे यह वृत्तिज्ञान मायाकार्य अंतःकरण में पैदा होकर माया को नष्ट कर देता है। माया के नाश का अन्य उपाय भी नहीं।।५२७।। अविद्या दशा में अविद्या का साक्षी बनकर आत्मा अविद्या की स्थिति के लिये उपकारी होने पर भी जब अखण्डवृत्ति पर आरूढ होता है तब अविद्या का बाधक बन जाता है जैसे लकड़ी को प्रकाशित करने वाली होने पर भी आग जब लोह-शलाका पर आरूढ हो जाती है तब लकड़ी को फाड़ डालती है। अतः इस अविद्या को आत्मा से कभी कोई डर नहीं लगता वरन् आत्म-प्रतिबिम्बयुक्त वेदान्तविज्ञान से हमेशा डरती रहती है। अनादि-अनंत रूपों वाली माया के नाश का ज्ञानरूप एक ही उपाय पण्डितों को समझ आया है, अन्य कोई नहीं।।५२८-९।।

सभी प्राणियों को जन्म-मृत्यु के भय से सदा डराने वाली यह माया मानो पिशाची है जो 'आत्मज्ञान'-नामक मन्त्र को देखते ही हमेशा के लिये समाप्त हो जाती है।।५३०।। अतः वेदान्तशास्त्र का प्रयोजन यही है कि जो जन्मादि बंधन से छूटने को उत्सुक हो वह शम, दम, उपरति आदि शास्त्रोक्त अधिकारिगुणों से सम्पन्न होकर, चित्त को एकाग्र कर, श्रीगुरु की शरण लेकर जीव-ब्रह्म के अभेद का साक्षात्कार प्राप्त करे।।५३१।। मोक्षेच्छुक पुरुषार्थी के लिये इतना ही कर्त्तव्य है। इससे अतिरिक्त कुछ भी करने से वह अपने लक्ष्य को पाने से चूकेगा ही इसमें शंका नहीं।।५३२।।

---

१. 'कारकस्य करणेने' त्यादिसर्वज्ञगुरोरप्ययमभिप्रायः। न केवलं विदुषा परं मुमुक्षुणाऽपि हेयमेव कर्मेति उपदेशसहस्रिकादावाचार्यैरभ्यधायि।

अतः परं न किञ्चिद्धि प्रष्टव्यमवशिष्यते। चिदानन्दात्मविज्ञाने वक्तव्यं वा कथञ्चन।।५३४
श्रुत्वैतत्सकलं शिष्यः सर्ववेदान्तसंस्थितम्। निर्गुणस्वात्मविज्ञानम् उपासादिविवर्जितम्।।५३५
कृतकृत्यो गुरुं स्वस्य नत्वा स्तुत्वा प्रहृष्टधीः। उक्तवान्निजशिष्येभ्यो यैरिदं बहुली कृतम्।।
लभ्यते कलिकालेऽस्मिन् बहुदुःखप्रदे नृणाम्।।५३६

ग्रन्थनाम

संसारशूलमूलानां मायादीनां विनाशनम्। इदम् *आत्मपुराणं* हि प्रवृत्तं वेदसम्मितम्।।५३७

तथा इति वचनरूपक्रियाविशेषणम्। कीदृशमात्मज्ञानम्? सदा घनं सर्वकालेषु घनो दार्ढ्यं यस्य तत्तथा; 'घनः सान्द्रे दृढे दार्ढ्ये' इति विश्वप्रकाशः; ज्ञानान्तरं हि सदोषविषयकत्वाद् विषयदोषव्यक्तौ शैथिल्यम् अप्रमात्वरूपम् अवश्यं याति। प्रकृतं ज्ञानं तु शुद्धात्मगोचरत्वात् सदा दृढमेवेति भावः।।५३३।। एवं ज्ञानपरिपूर्त्तौ सत्यां 'किमन्यच्छ्रोतुमिच्छसि' इति पूर्ववत् प्रश्नो न युक्त इत्याह—अतः परमिति। एतदुत्तरम् आत्मविज्ञानार्थं प्रष्टव्यं वक्तव्यं वा न अस्ति इति।।५३४।।

एवमुपदेशेन कृतकृत्यतां नीतः शिष्यः परानपि कृतकृत्यतां निनायेत्याह—श्रुत्वैतदिति। उपासनकर्मविचाररहितं निर्गुणात्मविज्ञानं सर्ववेदान्तप्रतिपादितं श्रुत्वा कृतकृत्यः सन् नतिस्तुतिभ्यां गुरुं प्रपूज्य निजशिष्येभ्य उक्तवान् यैः शिष्यैः बहुलीकृतमिदं ज्ञानम् अस्मिन् कलिकालेऽपि लभ्यते। इति द्वयोरर्थः।।५३५-६।।

तस्य बहुली कृतत्वे हेतुतया आत्मपुराणरूपेण तस्य परिणमनमाह—संसारेति। हि यत इदं पूर्वोक्तं विज्ञानम् आत्मपुराणं सत् प्रवृत्तं परिणतम्। कीदृशमात्मपुराणम्? वेदार्थघटितत्वाद् मीमांसान्यायेन वेदतुल्यम्। तदुक्तम् 'मीमांसासंज्ञकस्तर्कः सर्ववेदसमुद्भवः। स वेदोऽतो रुमां प्राप्तं काष्ठांबुलवणं यथा।।' इति। यथा रुमां लवणाकरं प्राप्तं काष्ठादि लवणमेव भवति तथा सर्ववेदोत्थिता मीमांसा वेद एव इति तदर्थः। एतेन स्त्रीशूद्रादेरत्राऽनधिकार[1] इति सूचितम्।।५३७।।

हे शिष्य ! हमें जो उपनिषद्ग्रन्थ उपलब्ध हुए उनमें प्रतिपादित विशुद्ध आत्मा का ज्ञान मैंने तुझे समझाया। यद्यपि वेदान्तों में बहुत-सी उपासनाएँ भी विहित हैं तथापि कुछ-एक ईश्वरोपासनाओं को छोड़कर अन्य किसी उपासना का विस्तार हमने अपने इस व्याख्यान में नहीं किया। सदा दृढ रहने वाले एकरस तत्त्वज्ञान का ही हमने स्पष्टीकरण दिया।।५३३।। यह व्याख्यान एकाग्रता व श्रद्धा सहित सुन-समझ लेने पर चिद्-आनंद-आत्मा के विज्ञान के लिये न कुछ पूछने लायक बचता है, न बताने लायक ही बचता है। (अतः 'अब और क्या सुनना चाहते हो?' यह हम तुमसे नहीं पूछेंगे।)।।५३४।।

सारे वेदान्तों में तात्पर्यतः प्रतिपादित निर्गुण स्वात्मा के इस सकल विज्ञान का श्रवण कर शिष्य कृतकृत्य हो गया। क्योंकि उपासना-प्रसंग इस उपदेश में आये नहीं इसलिये वे शिष्य को कर्त्तव्यरूप से प्रतीत भी नहीं हुए। जो प्रणवादि-उपासनाएँ बतायीं उनका तो श्रवणावस्था में ही प्रातः-सायं वह अभ्यास करके मनःसंशोधन करता चला जिससे उसे तत्त्वबोध प्राप्त हो गया। शिष्य की बुद्धि अत्यन्त हर्ष से प्रफुल्लित थी। उसने अपने सद्गुरु की स्तुति की, उन्हें प्रणाम किया और बाद में यह वेदान्तविज्ञान अपने सच्छिष्यों को सुनाया जिन्होंने इसका प्रभूत विस्तार किया जिससे बहुत दुःख देने वाले इस कलिकाल में भी अधिकारियों के लिये यह रहस्य विद्या उपलब्ध है।।५३५-६।।

---

१. स्वातन्त्र्येणाध्येतुमिति शेषः। 'श्रावयेच्चतुरो वर्णान्' इत्यादिनियमतः पुराणेषु तेषामधिकाराद् अस्य च पुराणत्वान्न तेषां सर्वथाऽनधिकारः। न च वेदानधिकारे वेदार्थानधिकारः, अपशूद्राधिकरणविरोधात्, तत्र 'इतिहासपुराणाधिगमे चातुर्वर्ण्यस्याधिकारस्मरणाद्' इति (१.३.३८) भाष्यात्; वेदपूर्वकानधिकारस्यैव तत्र निर्णयात्। अत एव भाषादिग्रन्थेभ्योऽप्यात्मबोधसम्भवं मन्यन्ते केचिद् अनुभवन्ति च। मेयस्य प्रत्यक्षत्वात्सापेक्षमपि मानमशङ्कास्पदं चेत्प्रमोत्पत्तिवारणस्याऽयोगाद्; ग्रन्थकृता चोत्तरत्र (श्लोक. ५४५-६) अधिकारप्रसंगे द्विजत्वादिहेत्वनुक्तेः, प्रत्युत सर्वैर्वेदार्थोऽधिगन्तुं यतो न शक्यते ततो हीदं पुराणं कीर्तितमिति ग्रन्थप्रणयने सर्वाधिकारिसुलभग्रन्थोपस्थापनस्य हेतुतयोपन्यासाद् इति द्रष्टव्यम्।

सृष्टिः स्थितिश्च संहारो विश्वस्याऽस्मिन् हि तिष्ठति। भूतानां भौतिकानां च वंशोऽपि च महानयम् ।।५३८

स्वायंभुवस्य च मनोः कीर्तनं चाऽत्र विद्यते। यस्मिन् मन्वन्तरं सर्वमन्तर्भवति सर्वदा।।५३९

व्यापारा अपि वंश्यानां भूतादीनां महात्मनाम्। राज्ञां यशांसि कीर्त्यन्ते पुराणेऽस्मिन्ननेकधा ।।५४०

अस्मिन्नल्पोऽपि नैवाऽर्थो वेदमूलविवर्जितः। विद्यते ब्रह्मसूत्रादौ कीर्तितो योऽत्र स स्मृतः।।५४१

अस्मिन् प्रसिद्धं पुराणलक्षणं समन्वितं करोति—सृष्टिरिति। सर्गपदोक्ता विश्वस्य सृष्टिः तदुपलक्षिता स्थितिश्च तथा प्रतिसर्गः संहारोऽस्मिन् ग्रन्थे तिष्ठति प्रतिपाद्यते। तथा भूतानाम् आकाशादीनां भौतिकानां विराडादीनां च वंशोऽत्र तिष्ठतीत्यर्थः।।५३८।। मन्वन्तरसत्त्वमप्यत्र दर्शयति—स्वायम्भुवस्येति। स्वायम्भुवमनोः कीर्तनम् उत्पत्त्यादिवर्णनम् अत्र चतुर्थाध्याये त्रयोदशाधिकत्रिशततमश्लोकमारभ्य विद्यते येन तद्विभूतिभूतानां सर्वेषां मनूनां कीर्तनं कृतप्रायं भवति। तदेतदुक्तं यस्मिन् मन्वन्तरमित्यादिना।।५३९।। वंश्यानुचरितं वंशभवानां व्यापारः, सोऽपि अत्र विद्यते। आकाशादीनां भूतानां तद्विकाराणाम् इन्द्रियादीनां तथा मनुवंशानां तथा मनुवंश्यानां प्रतर्दनादीनां राज्ञां च ये व्यापाराः तेषाम् अत्र कीर्तनाद् इत्याह—व्यापारा अपीति।।५४०।। तथा वेदार्थोपबृंहकत्वं पुराणधर्मोऽत्र स्फुट इत्याह—अस्मिन्निति। वेदो यत्र मूलत्वेन न सम्बद्धस्तादृशोऽर्थोऽत्र स्वल्पोऽपि न कीर्तितो यत उपनिषदर्थबाह्यः स एवार्थः स्मृतो यो ब्रह्मसूत्रतद्भाष्यस्मृत्यादिषु कीर्तित इत्यर्थः। ब्रह्मसूत्रादीनां वेदमूलकत्वं तु प्रसिद्धमेवेति भावः।।५४१।।

संसाररूप शूल के मूल जो माया और उसके कार्यभूत राग-द्वेषादि, उन्हें सर्वथा समाप्त करने वाला हमारा यह उपनिषद्-व्याख्यान है जिसका अन्वर्थ नाम है आत्मपुराण। वेदार्थ ही इसका घटक होने से इसे वैसे ही वेद के समान समझना चाहिये जैसे वेदार्थविचारात्मक मीमांसा को समझते हैं। (आत्मा का सत्य स्वरूप सिर्फ वेदान्तों से पता चलता है। वेदान्त मुख्यतः उपनिषदें हैं। उन्हें समझना अतिकठिन और सबके बूते का नहीं। अतः आचार्यों ने प्रकरण-साहित्य बनाया। किन्तु उसी के विचार में रह जाने से साधक मूल आकर से लगभग अपरिचित रह जायेगा यह सोचकर करुणावरुणालय सर्वमुमुक्षुहितेच्छु ब्रह्मविद्वरिष्ठ आचार्य श्रीशंकारानंद जी ने उपनिषदों की ही यह विलक्षण व्याख्या उपस्थित कर दी जिससे उपनिषदों का मुख्य अर्थ समझना सबके लिये सुलभ हो गया। इस ग्रंथ पर वही श्रद्धा रखनी चाहिये जो वेद पर रखते हैं तभी इससे आत्मसाक्षात्कार सुलभ है। योग्य अधिकारी भले ही इसे वेदव्याख्या मानकर इसके प्रकाश में मूल वेदवाक्यों पर चिन्तन करे लेकिन साधारण मुमुक्षु उस योग्य होता नहीं अतः वह इस प्रयास में मत उलझे, ग्रंथकार की महत्ता जानते हुए उनकी कृति में प्रामाण्यबुद्धि रखकर इसीके अनुसन्धान में संलग्न रहे तो अवश्य वही ज्ञान पायेगा जो उपनिषदों से होता है।)।।५३७।। इस ग्रन्थ में संसार के जन्म-स्थिति-भंग निरूपित हैं, आकाशादि भूतों और विराट् आदि भौतिकों की कार्यपरम्परा वर्णित है, स्वायम्भुव मनु की उत्पत्ति आदि का मुखतः वर्णन है जिसके अंतर्गत सभी मन्वन्तर आ जाने से उन्हें पृथक् कहना आवश्यक नहीं, भूतों के, भूत-कार्य इंद्रियों के, मनुवंशों के, मनुवंशीय प्रतर्दन आदि राजाओं के विशेष कृत्यों का इसमें विस्तृत उल्लेख है, विद्वानों की कीर्तिपताका इसमें अनके जगह फहरायी गयी है।(पुराण-ग्रंथ में सृष्टि, संहार, वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरित का कथन आवश्यक है अतः इस पुराण में इन सबका निवेश दिखाया कि इसका 'पुराण' नाम रखना सार्थक है।)।।४३८-४०।। जिसका मूल वेदवाक्य न हो ऐसा थोड़ा भी अर्थ इस पुराण में कथित नहीं है। जो विषय सीधे-सीधे वेदों में नहीं मिलता और यहाँ बताया है उसका आधार ब्रह्मसूत्र, श्रीशांकरभाष्य तथा स्मृति आदि ग्रंथ हैं। संमानित श्रद्धेय प्रमाणभूत ग्रंथों का आधार लिये बिना यहाँ कुछ नहीं कहा। (अर्थात् स्वतन्त्र ग्रंथ होने पर भी इसका प्रामाण्य आप्तकर्तृकता पर निर्भर नहीं करता वरन् स्मृतिप्रामाण्याधिकरणन्याय से मूल स्वतंत्र प्रमाण पर ही निर्भर करता है। वेदान्ताचार्यों की यह अव्यक्तिवादिता दुर्लभ है। छोटी-छोटी बात पर अपने नाम की मोहर लगाने वाले समाज में ऐसा वैराग्य आश्चर्य ही है। 'मैं कहता हूँ इसलिये ठीक है, मानो'—यह भाव सभी ग़ैरसनातनियों का प्राचीनकाल से रहा है जबकि सनातनी कहते हैं कि वेद कहे वही ठीक है वही मानो। वेद भी सम्प्रदायानुसार ही अवगम्य है अतः यहाँ ब्रह्मसूत्रों का पुराणकार ने कथन किया क्योंकि वेदान्तों के निर्णय का वही साम्प्रदायिक आधार है।)।।५४१।।

इदं गुरुः स्वशिष्याय कावेरीतीरवासिने। उक्तवान् श्रद्दधानाय स्नेहादेव च केवलात्।।५४२
राजादीनां कथाश्चित्रा अनात्मप्रतिपादिकाः। पुराणादौ पुराणादौ श्रुत्वा शिष्यो गुरुं निजम्।।५४३
संसारशूलसन्तप्त इदमेषोऽत्र पृष्टवान्। अतोऽनात्मकथाः काश्चित् पुराणे न प्रकीर्तिताः।।५४४

अस्य ग्रन्थस्य उत्पत्तिदेशमाह—इदं गुरुरिति। स्नेहोऽनुग्रहः।।५४२।।

एतद्ग्रन्थनाम्न आत्मपदघटितत्वे प्रयोजकमाह—राजादीनामिति। पुराणादौ पुराणेतिहासादौ राजादि-सम्बन्धिनीः आत्मव्यतिरिक्तार्थप्रतिपादिकाः कथाः श्रुत्वा ताभ्यो विरक्त एष शिष्यः संसारशूलेन सन्तप्तः पुराणादौ अस्य पुराणस्य प्रारम्भे यत इदं संसारशूलमूलोच्छेदम् आत्मज्ञानम् एव पृष्टवान् अतः श्रोतुरजिज्ञासितत्वाद् अनात्म-सम्बन्धिनी काचिदपि कथा न प्रकीर्तिता। ततोऽस्य 'आत्मपुराणे' ति नाम युक्तम्। इति द्वयोरर्थः।।५४३-४।।

कावेरी-नामक पुण्यतोया नदी के तट के वासी श्रद्धालु शिष्य को गुरु ने केवल अनुग्रह से प्रेरित हो इस पुराण का श्रवण कराया था। (संभवतः किसी सच्छिष्य को सामने कर ग्रंथकार ने यह व्याख्यानात्मक पुराण रचा हो।)।।५४२।।

उस शिष्य ने पुराण-इतिहास आदि में राजाओं आदि की विचित्र कथाएँ सुनी पर वे सब उसे अनात्मा का प्रतिपादन करती प्रतीत हुई अतः संसाररूप शूल के संताप से दुःखी हो उसने अपने गुरु से बंधनिवृत्ति-फलक ज्ञान की जिज्ञासा की, जैसा कि इस पुराण के प्रारंभ में वर्णित कर आये हैं। क्योंकि श्रोता निर्विशेष तत्त्व ही जानना चाहता था इसलिये उसके प्रश्न के उत्तर रूप इस ग्रंथ में अनात्मा का कहीं प्रतिपादन नहीं है। अत एव इस पुराण को आत्मविषयक पुराण कहा है।।५४३-४।। (यद्यपि पुराण वेदार्थ-उपबृंहक हैं तथापि प्रधानतः वे बहिर्मुख अधिकारी को अन्तर्मुख बनाने के लिये स्थूल-सूक्ष्म कर्मों के विधान में ही सीमित रहते हैं और क्योंकि उनके अधिकारी उसी प्रकार के लोग हैं इसलिये आत्मा परमात्मा का यथार्थ वर्णन अनेक जगह आने पर भी उसके खुलासे में पुराण प्रवृत्त नहीं होते, कारण कि अगर हों तो भी पुराणाधिकारी को कुछ समझ नहीं आयेगा। अतः आज भी यद्यपि पुराण की महिमा गाते हुए उसे 'निगमों का परिपक्व फल' आदि कहकर उसे ब्रह्मार्थक बताया जाता है तथापि पुराण सुनकर सभी को भक्ति आदि करने की ही प्रेरणा मिलती देखी जाती है जिससे निश्चित हो जाता है कि पुराणकार अपने उद्देश्य में सफल हैं क्योंकि उनका यही उद्देश्य था कि जो वेद-वेदार्थ में अनधिकारी हैं वे वेदानुसारी बनें और भक्ति आदि करने पर शनैःशनैः व्यक्ति वेद पर श्रद्धालु बनेगा ही। शंकरानंद जी ने प्रसिद्ध पुराणों की लीक से हटकर यह आत्मपुराण बनाया जिसमें अनात्मवर्णन न होने से इसे सुनकर कुछ करने की प्रेरणा नहीं मिलती।)

इस ग्रन्थ को सुन-समझ कर आत्मबोध रूप फल वही पा सकता है जिसे अनात्म-वार्ता के प्रति कोई आकर्षण न हो, जो संसार से वैसे ही परेशान हो जैसे सूली पर लटका व्यक्ति सूली से पीडित होता है, जो अनात्मरूप सभी फलों के प्रति वैराग्यवान् हो तथा उन गुणों से युक्त हो जिनका शास्त्र में अधिकारी के लिये विधान किया गया है। (अधिकारी का मतलब है जो फल पा सकता है। जैसे संग्रहणी का रोगी भी रबड़ी खा तो सकता है लेकिन वह रबड़ी का अधिकारी नहीं क्योंकि उसे उसका फल जो पुष्टि वह नहीं मिल सकती वरन् और रोग बढ़कर दुर्बलता ही मिलेगी, ऐसे ही वेदादि के अधिकारी निर्णीत हैं। अनधिकारी वेद बाँच तो सकता ही है, उसके शब्दार्थ वाक्यार्थ आदि भी उसकी बुद्धि में आ सकते हैं पर वह तब तक फल से वंचित ही रहेगा जब तक अधिकारी न बने और बिना अधिकार के जो ग्रहणादि करेगा उससे अपना नुकसान भी कर ही सकता है। वेदान्त-अध्ययन का फल मूलाविद्यानिरासी अखण्ड ज्ञान पाना है। वह उसी के लिये संभव है जिसमें विवेकादि साधनचतुष्टय हों। आत्मपुराण का भी वही फल होने से इसका भी अधिकारी उन्हीं विशेषताओं वाला साधक है। अतः यहाँ अधिकारिवर्णन करते हुए मूलकार ने वर्ण, लिंग वय आदि का कोई प्रतिबंध न रखकर वैराग्यादि को ही अधिकारहेतु कहा है।)।।५४५।। जिनके मन में असंभावना आदि मौजूद हैं उन मंदाधिकारियों के लिये वेद के तात्पर्यविषय तक पहुँचना असंभव है अतः साधारण लोग वेदमात्र से वेदार्थ नहीं समझ सकते। वेदार्थ समझने में आने वाली रुकावटें हटाने के लिये इस पुराण की रचना हुई। सामान्य

ग्रन्थाधिकारी

**अत्राधिकारी योऽनात्मकथारागविवर्जितः। संसारशूलसन्तप्तो विरक्तः परिकीर्तितः।।५४५
वेदार्थो गहनो यस्मात् सर्वैरेव न शक्यते। अधिगन्तुं ततस्तेन पुराणं परिकीर्तितम्।।५४६
आत्मावबोधकं नाऽस्माद् अधिकं विद्यते भुवि। पुराणं सर्ववेदान्तसारार्थपरिकीर्तनम्।।५४७
जातं यः शृणुयादेतदपि रागी बहिर्मुखः। विरक्तोऽन्तर्मुखो भूत्वा सोऽपि ज्ञानं समाप्नुयात्।।५४८**

अस्य मुख्याधिकारी अपि तादृशशिष्यसम एवेत्याह—अत्रेति। अनात्मकथाविषयकेण रागेण वर्जितः।।५४५।। ननु तादृशोऽधिकारी वेदान्तेभ्य एव आत्मज्ञानं सम्पादयेद् इत्यस्य वैयर्थ्यम्? इत्याशङ्कां परिहरति—वेदार्थ इति। यतो वेदार्थो गहनोऽसम्भावनादिशालिभिर्दुष्प्रवेश इत्यतोऽधिगन्तुम् अवधारयितुं न शक्यः ततः तदधिगमप्रतिबन्धकापाकरणार्थं तेन गुरुणा इदं पुराणं कृतमित्यर्थः।।५४६।। तच्च फलमस्मिन् दृश्यत इत्याह—आत्मावबोधकमिति। अस्मादधिकमात्मावबोधकं किञ्चिद् न अस्ति यत इदं पुराणं सर्ववेदान्तानां सारार्थस्य प्रतिपादकमित्यर्थः।।५४७।। एवं मुख्याधिकार्युद्देशेन जातं प्रवृत्तमेतदन्योऽपि शृण्वन् वैराग्यलाभादिद्वाराऽऽत्मज्ञानं लभेत इत्याह— जातमिति।।५४८।।

अस्य ग्रन्थस्य कर्ताऽपि गुरोः शङ्करमात्मत्वेन साक्षात्कुर्वतः शरीरे स्थितः शङ्कर एव[1] समर्थत्वाद् इत्याह—

शुद्ध बुद्धि वाले जिस ढंग से समझ सकें उस ढंग से इसमें आत्मतत्त्व का उपस्थापन है अतः असंभावना आदि हटाने के लिये अपेक्षित युक्तियाँ अत्यंत सुबोध बनाकर रखी हैं। वेद पढ़ना जिनके लिये संभव नहीं वे इसी ग्रंथ से वेदार्थ समझ कर मोक्ष पा सकते हैं।।५४६।। समस्त उपनिषदों के सारभूत अर्थ का सांगोपांग वर्णन इस पुराण में होने से संसार में इससे बेहतर कोई पुस्तक नहीं जो आत्मा का अवबोध करा सके।।५४७।। यद्यपि अधिकारी को आत्मज्ञान कराने के लिये ही यह ग्रंथ प्रवृत्त है तथापि बहिर्मुखी रागवान् व्यक्ति भी मुमुक्षा से प्रेरित होकर यदि इसका नियमतः श्रवण करे तो विरक्त और अन्तर्मुख होकर वह भी तत्त्वज्ञान प्राप्त कर लेगा। (अनधिकारी इसके श्रवण से अधिकारलाभ में प्रेरित होकर अधिकारी बनने पर ज्ञान पायेगा। इससे बताया कि मोक्ष चाहने वाला यदि विवेकी आदि नहीं है तब भी इस ग्रंथ का अवश्य श्रवण-मनन करे क्योंकि उसके फलस्वरूप उसे विवेकादिलाभ हो जायेगा। पूजा-जप-तप आदि साधनों की तरह ज्ञानयज्ञरूप यह विचारात्मक साधन भी चित्तशुद्धि के लिये पर्याप्त है तथा व्यंजक-प्रधान होने से कारक साधनों की अपेक्षा बेहतर है यह मुमुक्षु को याद रखना चाहिये। यद्यपि अनधिकारी को ज्ञान देने की मनाही सुनी जाती है तथापि वह उनके लिये है जो मुमुक्षु नहीं। जैसे स्वर्गकामना वाला ज्योतिष्टोमाधिकारी होता है; यदि धन आदि साधनों से रहित है तो धनार्जनादि में लगकर तब यज्ञ करता है; अधिकार के लिये धनादिसंपन्न होना यद्यपि ज़रूरी है तथापि निर्धन को ज्योतिष्टोम में प्रेरित करना शास्त्रविरुद्ध नहीं बल्कि प्रेरित होने पर ही वह होम के लिये धनादि एकत्र करेगा अतः शास्त्रानुसारी ही है। इसी प्रकार जो मोक्ष चाहता है उसे वेदांत समझाना उचित है क्योंकि उसीसे वह विवेकादि एकत्र करके अधिकारी बनेगा। जो मोक्ष ही नहीं चाहता वह तो आत्मा की अकर्तृभोक्तृता सुनकर अपना नुकसान कर ही सकता है अतः उसे सुनाने की ही मनाही हो सकती है। किंतु प्रकृत पुराण के लिये ग्रंथकार वह प्रतिबंध भी नहीं रख रहे। इनका मानना है कि इसका श्रवण करता रहे तो व्यक्ति में मुमुक्षा का भी उन्मेष हो जायेगा व वह आगे विवेकादियुक्त हो तत्त्वनिष्ठा पा लेगा।)।५४८।।

इस पुराण के वक्ता स्वयं त्रिलोचन महादेव हैं जिनकी जिह्वा पर हमेशा ये भगवती सरस्वती विराजती हैं। सभी देवताओं का रूप धारण करने वाले, ब्रह्मा-विष्णु कहलाने वाले उन्हीं श्रीशंकर ने गुरु शरीर में रहकर इस पुराण का प्रणयन किया। ('त्रिलोचन, सरस्वती' से द्योतित है कि **श्रीशंकरानंद सरस्वती** इसके लेखक हैं। किन्तु स्वयं ब्रह्मनिष्ठ

---

१. 'अस्य महतो भूतस्य...पुराणम्' इत्यादिना तत्सिद्धेः।'शिवः कर्ते' त्यादिवचनाच्च।

ग्रन्थकारः

अस्य वक्ता गुरुव्याजाद् देवः साक्षात् त्रिलोचनः। यस्य वाचि वसत्येषा नित्यमेव सरस्वती।।
सर्वदेवमयो यश्च ब्रह्मा विष्णुश्च गीयते।।५४९

ततः पुमानिदं शृण्वन् मेधावी च प्रजायते। प्राज्ञश्च संशयो नाऽत्र प्रत्यक्षं हि यतः फलम्।।५५०

ईशोपनिषद्व्याख्यामिषेण मङ्गलम्

प्रतिपाद्योऽत्र भगवान् ईशावास्यसमीरितः। यदात्मकमिदं विश्वं जगदेतज्जडाजडम्।।५५१

इदं दृष्ट्वाऽत्र विद्वांसः स्वशिष्यान् प्रवदन्ति हि। ईश्वरेण जगत् सर्वं वासितं सचराचरम्।।५५२

अस्येति। गुरोः कावेरीतीरवासिशिष्योपदेष्टुः व्याजेन तच्छरीरजवनिकास्थितत्वेन त्रिलोचनो देव एव अस्य वक्ता कर्ता। तत्र हेतुं तस्यैव क्षमत्वमाह—यस्येति। यस्य त्रिलोचनदेवस्य वाचि सरस्वती वसति। सरस्वती-सम्बन्धेऽनुपपत्तिं परिहर्तुं यश्च ब्रह्मेत्याद्युक्तं, तत्रापि हेतुः सर्वदेवमयत्वमिति।।५४९।।

तत इति। ततोऽस्य कर्त्रादिगौरवाद् इदं पुराणं शृण्वन् जनो मेधावी धारणाशालिमतिकः; प्राज्ञ आत्मविच्च जायतेऽत्र न संशयः कार्यः फलस्य दृष्टत्वात् सद्यो जायमानत्वात्।।५५०।।

अस्य विषयसम्बन्धयोर्निरूपणमिषेण समाप्तौ मङ्गलं कुर्वन्, ईशावास्योपनिषदर्थप्रदर्शनम् आरभते—प्रतिपाद्य इति। अत्र ग्रन्थे ईशावास्यवर्णितो भगवान् प्रतिपाद्यः यन्मयं सकलं जगद् इत्यर्थः।।५५१।।

तत्र प्रथममन्त्रस्य[1] अर्थमुपबृंहयति—इदं दृष्ट्वेति सप्तभिः। इदं विश्वस्य ईश्वरात्मत्वं स्वयं दृष्ट्वा विज्ञाय विद्वांस इत्थं शिष्यान् प्रति उपदिशन्ति। 'इत्थं' कथम्? सर्वं जगद् ईश्वरेण अभिन्ननिमित्तोपादानभूतेन वासितम् आच्छादितं व्याप्तम् इति यावत्।।५५२।। व्याप्तौ दृष्टान्तानाह—घटादिकमिति। यथा मृदा उपादानभूतया घटादयो

होने से उनमें कोई कर्तृत्व नहीं, सारे संसार का संचालक ही उनके देह-मन का संचालन कर रहा है अतः उनके कहलाने वाले देहादि से जो ग्रन्थरचनादि हुई उनका कर्ता वह परमशिव ही है। यह विनयोक्ति नहीं वरन् वस्तुस्थिति है क्योंकि प्रमातृभाव मिट चुकने पर ईश्वरातिरिक्त कोई कर्ता संभव ही नहीं है। आचार्य मधुसूदन ने अद्वैतसिद्धि-समाप्ति में भी यही कहा है 'मयि नास्त्येव कर्तृत्वम् अनन्यानुभवात्मनि'।)।।५४९।।

साक्षात् शंकरकृत होने से जो श्रद्धालु निर्देशपालनपूर्वक इस पुराण का नियमतः श्रवण करता है उसकी बुद्धि की धारणाशक्ति बढ़ जाती है और स्वात्मा उसे प्रत्यक्ष हो जाता है। क्योंकि यह फल सद्यः अनुभव में आ जाता है इसलिये इसमें किसी तरह का संशय नहीं करना चाहिये।।५५०।।

(आत्मपुराण का प्रतिपाद्य परम ब्रह्म है बताते हुए ईशावास्योपनिषत् के सारार्थ का भी प्रकाशन कर देते हैं। प्रधान दस उपनिषदों में अब तक इसीका व्याख्यान पुराण में नहीं हुआ है। माण्डूक्य को तो नृसिंहोपनिषत् की व्याख्या से ही गतार्थ समझना चाहिये और कारिकाओं के प्रधान अंशों की पूर्व में व्याख्या आ चुकी है। वेदक्रम से ईशोपनिषत् को बृहदारण्यक के साथ समझा सकते थे लेकिन इस उपनिषत् की अत्यन्त महत्ता द्योतित करने के लिये इसका उपसंहार में निवेश किया कि सारे ग्रंथ का सार इस एक उपनिषत् में निहित है यह पता चले। किं च ब्राह्मणोपनिषत् से प्रारंभ कर अब मंत्रोपनिषत् से समाप्त करने का यह भी अभिप्राय है कि सकल वेद का तात्पर्य इस ग्रंथ में कथित है यह स्पष्ट हो।)

---

१. 'ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्। तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद् धनम्।।'(ई.१)।

घटादिकं यथा सर्वं मृदा हेतुस्वरूपया। राज्ञा च वासितं यद्वत् स्वकीयं नगरादिकम्।।५५३
पटेन वासितं वाऽपि नृणां यद्वत् कलेवरम्। पुष्पैर्वा वासितं यद्वद् नीरमत्र सुशीतलम्।।
वासनाभिर्वा यथा स्याद् वासितं हि मनो नृणाम्।।५५४
ईशात्मकं ततः सर्वं योषित्पुत्रधनादिकम्। स्वकीयं परकीयं वा सर्वमीशस्य तत् स्मृतम्।।५५५
गन्धर्वनगरं यद्वद् दृश्यते गगनात्मकम्। गगनस्यैव तद्वत्स्याद् ईश्वरस्याऽखिलं जगत्।।५५६
ईशोऽयमिति तं ज्ञात्वा स्वयं स्वत्वविवर्जितः। ईश्वरस्येति वा धीमांस्त्यजेद् योषिद्धनादिकम्।।५५७

विकारा व्याप्ताः तथेश्वरेणाऽपि जगदित्यर्थः। निमित्ततया व्याप्तौ दृष्टान्तमाह—राज्ञेति। यथा लोचनद्वारा राजकीयं नगरं राज्ञा व्याप्तं तथेक्षित्रेश्वरेण जगदित्यर्थः।।५५३।। बहिर्व्याप्तौ दृष्टान्तमाह—पटेनेति। यथा पटो बहिः स्थितः शरीरमाच्छादनेन व्याप्नोति तथा विभुरीश्वरो जगदिति। अन्तर्व्याप्तौ दृष्टान्तमाह—पुष्पैरिति। यथा पुष्पाणि सौरभ्याधारस्वांशैः नीरं व्याप्नुवन्ति सन्ति तद् रमणीयतां नयन्ति तथेशोऽपि सत्ताभानादिरूपैर्जगद्व्याप्नुवन् जगद् रमणीयतां नयतीत्यर्थः। प्रवृत्तिहेतुरूपेण व्याप्तौ दृष्टान्तमाह—वासनाभिरिति। वाऽथ वा यथा नृणां मनो वासनाभिः प्रवृत्तिहेतुभिः व्याप्तं स्यात् तथा अन्तर्यामिणेश्वरेण सर्वं जगदित्यर्थः। 'यथा स्याद्' इत्यत्र 'सितास्याद्' इति पाठे—तन्मनोविशेषणम्, सितं मौनेन बद्धमास्यं मुखं यस्य स सितास्यो मौनी, तमपि अत्ति भक्षयतीति। प्रसिद्धा हि मौनिनां सङ्कल्पतत्याऽनर्थततिः इति भावः।।५५४।।

ईशात्मकमिति। स्वकीयत्वादिनाऽभिमतं सर्वं योषिदादिपदार्थजातं तत उक्तयुक्त्या यत ईशात्मकम् ईश्वरात्पृथक् सत्ताहीनं तत ईशस्य एव, न जीवस्येति विदुषां मतमित्यर्थः।।५५५।। यद्धि यदात्मकं तत्तदीयमेव व्यवह्रियते यथा गगनमयं गन्धर्वनगरं गगनस्यैवोच्यते तद्वदित्याह—गन्धर्वेति।।५५६।। तथा च यथा लोकस्वामिनि राजादौ तदीय-धनादौ वा यथेष्टविनियोगार्हत्वरूपस्वत्वदृष्टिः कुशलैर्न क्रियते तथा पदार्थजातं तम् ईश्वरम् ईशोऽयमित्याकारेण विज्ञाय, अथ वा ईश्वरस्य इत्याकारेण ईश्वरसम्बन्धित्वेन विज्ञाय, योषिदादिकामनां त्यजेद् इत्याह—ईशोऽयमिति। तत्र त्यागस्वरूपमुक्तं स्वत्वविवर्जित इति विशेषणेन।।५५७।।

इस पुराण में प्रतिपादित भगवान् वही हैं जो 'ईशावास्य' आदि शब्दों से प्रारंभ होने वाले शुक्लयजुःसंहिता के अंतिम अध्याय में सम्यक् प्रकार से वर्णित हैं। यह जड-चेतन जगत् उन भगवान् से ही सात्मक है अर्थात् वे ही इस संसार के आत्मा हैं, 'स्व' हैं।।५५१।। जो विद्वान् यह रहस्य जान लेते हैं वे अपने सच्छिष्यों को यों समझाते हैं : जगत् के निमित्त व उपादान कारण ईश्वर से यह सारा जगत् व्याप्त है।।५५२।। जैसे उपादान मिट्टी से उसके घटादि सभी कार्य व्याप्त रहते हैं और जैसे राजा द्वारा उसके नगरादि व्याप्त रहते हैं वैसे ईश्वर से संसार व्याप्त है क्योंकि वह एक-साथ ही संसार का उपादान और निमित्त दोनों कारण है।।५५३।। जैसे लोगों का शरीर कपड़े से ढका रहता है वैसे विभु ईश्वर जगत् को बाहर से घेरे है एवं जैसे अच्छे ठंडे पानी में अपनी सुगंध से फूल व्याप्त हो जाते हैं वैसे सत्ता-भान आदि रूप से परमात्मा जगत् को भीतर से भी व्याप्त किये है। लोगों के मन जिस प्रकार प्रवृत्तिहेतुभूत संस्कारों से व्याप्त होते हैं वैसे अंतर्यामी ईश्वर द्वारा सारा जगत् व्याप्त है, वही जगत् की हर प्रवृत्ति का अंतिम हेतु है।।५५४।।

जिसे अपना या पराया मानते हैं वह पत्नी पुत्र धनादि सब ईश्वर का ही है क्योंकि विद्वानों का निश्चय है कि ईश्वर से पृथक् संसार की सत्ता नहीं।।५५५। जो भ्रमवश दीखता है वह गंधर्वनगर जैसे गगनस्वरूप ही होता है अतः 'गगन का' ही कहा-समझा जाता है वैसे सारा जगत् ईश्वर का ही है।।५५६।। राजा, मालिक आदि के धन-संपत्ति आदि पर सज्जन व्यवस्थापक 'यह मेरा है' ऐसी दृष्टि नहीं करते; इसी तरह समस्त पदार्थों को ईशस्वरूप या ईश्वर

गन्धर्वनगरे यद्वद् आशा नैव सुखप्रदा। योषिद्धनादौ वा राज्ञः तद्वदस्याऽपि कीर्तिता।।५५८

द्वितीयमंत्रार्थः

यदि वो ब्रह्मविज्ञाने नाधिकारोऽत्र विद्यते। त्यजथाऽथाऽपि लोकांश्च सर्वं योषिद्धनादिकम्।।५५९
ईश्वरस्येति विज्ञाय मनसा कर्मणा गिरा। कुर्वन्तु स्वाश्रमप्राप्तं यावज्जीवं महाधियः।।५६०
कर्म तत् कुर्वतां पापं भवतां न भविष्यति। ततः शुद्धधियो ब्रह्मज्ञानाद् दुःखविवर्जिताः।।
भविष्यन्ति भवन्तोऽन्ते जन्मन्यत्र परत्र च।।५६१

तत्र आद्यदृष्टौ प्रपञ्चस्य बाधात् तत्र स्वत्वपरित्यागे परिशेषेण निर्गुणब्रह्मविज्ञानं फलितं भवतीति। द्वितीयदृष्ट्या तु सगुणब्रह्मविज्ञानमिति सूचयन् दृष्टान्तद्वयमाह—गन्धर्वेति। यथा गन्धर्वनगरे गगनदृष्ट्या बाध्यमाने स्वत्वाशा दुःखदा श्रमावहत्वात्; यथा वा राजकीये योषिदादौ स्वत्वाशा दुःखदा, अनर्थावहत्वात्; तथा स्वकीयत्वादिनाऽभिमतस्य योषिदादिपदार्थजातस्यापि आशा दुःखदा। तथा च सकलकामनाः परिहृत्य सर्वाधिष्ठानभूत ईश्वर आत्मतया वा द्रष्टव्यः, सर्वाध्यक्षतया वाऽऽराध्य इति भावः। अत्रार्थे श्रुतिसमन्वयस्तु—त्यक्तेन त्यागेन आत्मा रक्षितव्यः। त्यागस्वरूपं तु राजकीयधनादाविव कामनावर्जनमिति अर्थाद्। भाष्यकारैरुक्तः संन्यासविधिस्तु[1] मुख्यार्थोपयोगित्वेन अर्थाक्षिप्त इति बोध्यम्।।५५८।।

द्वितीयं मन्त्रार्थं[2] दर्शयति—यदि व इति पञ्चभिः। भो शिष्याः! यदि युष्माकं चित्तशुद्ध्यभावेन ब्रह्मविज्ञाने सगुणनिर्गुणविषयत्वेन द्विविधेऽधिकारो न अस्ति अथाऽपि तथापि योषिद्धनादिकमीश्वरस्य एव न मम इति विज्ञाय लोकान् कर्मफलभूतांस्त्यजथ, ततश्च मनःप्रभृतिसाध्यं कर्म यथाश्रमं भवन्तः कुर्वन्तु। इति द्वयोरर्थः।। श्रुतौ एवकारेण फलकामना व्यावर्त्यत इति भावः।।५५९-६०।। एवं निष्कामकर्माचरणेन यदा युष्माकमत्र परत्र वा जन्मनि चित्तशुद्धिः सेत्स्यति तदा भवन्तो ब्रह्मज्ञानद्वारा दुःखवर्जिता भविष्यन्तीत्याह—कर्म तदिति। तद् निष्कामं विहितं च कर्म कुर्वतां वः पापक्षय-चित्तशुद्धि-ब्रह्मज्ञान-दुःखाऽभावा अन्ते फलावस्थायां भविष्यन्ति इत्यर्थः।।५६१।।

का समझकर उनमें ममता छोड़ देनी चाहिये। (उनका ईशनिर्देशरूप शास्त्र के अनुसार ही विनियोग करे, अपनी कामना से नहीं।)।।५५७।। संसार को ईशस्वरूप समझने पर नाम-रूपात्मक प्रपंच का बाध हो जाता है अतः केवल ममता ही नहीं हटती जिस पर ममता की जा सकती थी वह दृश्य प्रपंच स्वरूपतः ही बाधित होकर निर्गुण ब्रह्म का विज्ञान ही बचता है। जब संसार ईश्वर का ही समझा जाता है तब सगुण ब्रह्म के विज्ञान की स्थिति रहती है। चाहे गंधर्वनगर हो या राजा के पत्नी-धनादि, उनके प्रति कामना कभी सुख नहीं दे सकती, दुःख अवश्य देगी, ऐसे ही सांसारिक पदार्थों की कामना अनर्थ ही देती है। अतः सारी विषयकामनाएँ छोड़कर सबके अधिष्ठान ईश्वर को ही आत्मा समझना चाहिये। जब तक वह संभव न हो तब तक 'ईश्वर ही सबका अध्यक्ष है' इस दृष्टि से ईश्वराराधना करनी चाहिये।।५५८।।

महाबुद्धिमान् शिष्यो ! चित्तशुद्धि में कमी रह जाने से यदि तुम्हारा अभी निर्गुण-ज्ञान या सगुण-ध्यान में अधिकार न हो तब भी 'स्त्री धनादि ईश्वर का ही है, मेरा नहीं' यह समझकर (परोक्षज्ञान-पूर्वक उक्त भावना करके) कर्मफलों का त्याग करो और अपने अधिकारानुरूप मन-कर्म-वाणी से जीवन भर कर्म करो।।५५९-६०।। फलकामना छोड़कर अपने लिये विहित कर्म करते रहने से तुम्हारा पाप क्षीण होता जायेगा, चित्त शुद्ध होगा जिससे ब्रह्मज्ञानपूर्वक तुम्हारे सब दुःख मिट जायेंगे। उक्त ढंग से कर्म का यह क्रमशः फल निश्चित है भले ही फललाभ एक जन्म में न होकर अनेक जन्म लग जायें।(अर्थात् मुमुक्षा से प्रेरित होकर निष्काम कर्म में तत्पर हो जाने से मोक्षप्रक्रिया प्रारंभ हो जाती है जो प्रतिजीव प्रतिबंधकादि के तारतम्य के अनुसार एक या अनेक जन्मों में पूरी होती है।)।।५६१।। वैषयिक और निर्विषय

१. 'एवमीश्वरात्मभावनया युक्तस्य पुत्राद्येषणात्रयसन्न्यास एवाधिकारो न कर्मसु' इति तत्र भाष्यम्। उक्तत्यागातिरिक्तसंन्यासस्य विधिरर्थसिद्धः, त्यागरूपसंन्यासस्तु 'मुखतः श्रुत्युक्त इति भावः।

२. 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।।'२।।

त्रेधाऽयं विहितो मार्गः स्वर्गमोक्षकरो नृणाम्। दक्षिणश्चोत्तरस्तद्वत् तृतीयो ब्रह्मवेदनम्।।
इतोऽन्यथा न कोऽप्यस्ति नृणां मार्गः सुखप्रदः।।५६२

तृतीयमंत्रार्थः

इतोऽन्यथाऽभिगच्छन्तः पापकर्मप्रचोदिताः। दुःखमेव प्रयान्त्येते सर्व एवाल्पमेधसः।।५६३

ब्रह्मज्ञानविहीनानां स्वर्गिणामपि देहिनाम्। ब्रह्मलोकस्थितानां च सुखं नैवास्ति किञ्चन।।५६४

आत्मज्ञानविहीनत्वाद् आत्महन्तार ईरिताः। ते सर्वे ह्यात्महन्तॄणां दुःखमेतच्छ्रुतं यतः।।५६५

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः। मृत्वा ते तान् प्रयान्त्येव ये के चात्महनो जनाः।।५६६

श्रुतौ इतः-पदेन प्रथममन्त्रसूचितौ ज्ञानोपासनरूपौ मार्गौ, द्वितीयमन्त्रोक्तः कर्ममार्गश्च परामृश्यत इत्याह—त्रेधाऽयमिति। अयम् अभ्युदयनिःश्रेयसयोः स्वर्गादिरूपयोः साधको मार्गः त्रिविधः। तत्र प्रथमो दक्षिण इष्टादिशालिनां पितृयाणाख्यः। द्वितीय उत्तरो देवयानाख्य उपासकानाम्। तृतीयो ब्रह्मज्ञानाख्यः शुद्धधियामिति। एतेभ्योऽन्यः सुखदः पन्था नास्तीत्यर्थः।।५६२।।

ये तूक्तं मार्गत्रयं विहाय चरन्ति तेषां दुष्कर्मलेपो दुःखभोगरूपः स्यादेवेत्याह—इतोऽन्यथेति।।५६३।। तेष्वपि तृतीय एव मार्गः श्रेष्ठ इति प्रतिपादयन्तं[1] तृतीयमन्त्रमवतारयति—ब्रह्मज्ञानेति। ब्रह्मज्ञानहीनानां देवानामपि वस्तुतः किञ्चित् सुखं नास्ति इत्यर्थः।।५६४।। कुतः? इत्याकांक्षायामाह—आत्मेति। महतां हि तिरस्कार एव हननं प्रसिद्धम्। तथा च ये य आत्मज्ञानहीनास्ते सर्वे आत्मानमवजानन्त आत्महन इत्युच्यन्ते। तेषामात्महन्तॄणाम् एतत् संसारात्मकं दुःखं फलं भवति यतः श्रुतं श्रुत्या तृतीयमन्त्ररूपया प्रोक्तमित्यर्थः।।५६५।। तं मन्त्रं पठति—असुर्या इति। ते शुभाशुभकर्मजन्या लोका असुर्या इत्युच्यन्ते। सुष्ठु रमन्त इति सुरा आत्मारामा विद्वांसस्तेभ्य इतरे असुरास्तेषां योग्या इति व्युत्पत्तेः। यतः अन्धेन आवरकेण तमसा स्वरूपाऽज्ञानेन व्याप्ताः। तान् उक्तान् लोकान् आत्महनो गच्छन्ति इत्यर्थः।।५६६।।

सुखों का साधक मार्ग तीन तरह का है। इष्ट आदि कर्म करने वाले जिस दक्षिण-रास्ते से जाते हैं वह पितृयाण नामक मार्ग पहला है। दूसरा उत्तर मार्ग है जिसे देवयान कहते हैं, उससे उपासक प्रयाण करते हैं। इन दोनों मार्गों से सविषय सुख मिलता है। इनकी अपेक्षा से जिसे तीसरा रास्ता कहा जाता है वह है ब्रह्मज्ञान जो शुद्धिमति वालों को ही उपलब्ध होता है। उससे निर्विषय सुख प्राप्त होता है। इनसे अन्य कोई ऐसा रास्ता नहीं जिस पर चलने से नर सुख पा सकें।(पाप से जो तत्काल प्रियानुभव होते हैं उनकी सुखरूपता अतिक्षणिक और अतितुच्छ है तथा परिणामतः वे स्थायी और अतितीव्र दुःख ही देते हैं अतः उन्हें दुःख ही मानना उचित है।)।।५६२।। इन तीनों को छोड़कर जो मूर्ख लोग पाप-संस्कारों से प्रेरित होकर अन्य तरह से जीवनयापन करते हैं—ज्ञानसाधनों से तो दूर रहते ही हैं, न ईश्वर की उपासना करते हैं व न अपने कर्तव्यों का ही यथाविधि पालन करते हैं—वे सब दुःख ही पाते हैं।।५६३।।

बताये गये तीनों में भी तीसरा ब्रह्मज्ञानरूप मार्ग ही सर्वश्रेष्ठ है। देहधारी स्वर्ग में हो या ब्रह्मलोक में, यदि वह ब्रह्मज्ञान से रहित है तो उसे वास्तव में कुछ भी सुख नहीं मिलता। (विषयभोग से जो सुख मिलता है वह दुःखनिवृत्ति से ज़्यादा कुछ नहीं है।)।।५६४।। महान् लोगों का तिरस्कार उनकी हत्यातुल्य होता है। आत्मज्ञान-रहित लोग आत्मदेव की हत्या ही कर रहे हैं क्यों कि वे उसे तिरस्कृत कर रहे हैं। ऐसे सभी आत्महत्यारों को संसरणरूप दुःख ही मिल सकता है क्योंकि यही वेद ने निर्धारित किया है।।५६५।।

१. 'असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः। तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः।।'३।।

चतुर्थपंचममन्त्रार्थः

आत्मरूपमिदं शिष्या आश्चर्यमिव संस्थितम्। क्रियाहीनं च मनसो जवीयो नेन्द्रियैः क्वचित्।
गम्यते गम्यते चाऽपि ब्रह्मज्ञानाद् मनीषिभिः।।५६७

तिष्ठति गिरिवत् तत्तु यात्यन्यान् परिहाय हि। धावतः शीघ्रगमनान् वाय्वादीनपि सर्वदा।।५६८

तस्मिन् दधाति भगवान् अपो वायुः सनातनः। पर्जन्यादिस्वरूपाभिर्याभिर्विश्वमिदं भवेत्।।५६९

कम्पते तदकम्पं सत् सुदूरे चान्तिके च तत्। अन्तर्बहिश्च तत् प्रोक्तमस्य सर्वस्य सर्वदा।।५७०

यद्विज्ञानाच्च असुर्यलोकगतिर्न भवति तस्यात्मनः स्वरूपं प्रदर्शयतोः चतुर्थपञ्चममन्त्रयोः[1] अर्थमाह—आत्मरूपमिति चतुर्भिः। हे शिष्याः! इदम् असुरैरज्ञातम् आत्मनः स्वरूपमद्भुतं यतः स्वयं क्रियाहीनम् अपि मनसोऽपेक्षया जवीयः अतिवेगवत्, मनोगम्येषु प्रथममेव पूर्णत्वात् इति भावः। तथा इन्द्रियैः अगम्यमपि ब्रह्मज्ञानेन गम्यं भवति इत्यर्थः।।५६७।। तिष्ठतीति। तथा तद् आत्मरूपं स्वयं गिरिवद् निश्चलमपि अन्यान् अनिश्चलान् शीघ्रगमनशालित्वेन धावतो धावनकर्तृतया प्रसिद्धान् वाय्वादीन् परिहाय उल्लङ्घ्य याति इत्यर्थः।।५६८।। तस्य अन्तर्यामितां सकल-कर्मधातृतां चाह—तस्मिन्निति। तस्मिन् वर्णितात्मतत्त्वे आलम्बने सत्येव वायुः सूत्रात्मसंज्ञः अपो जलप्रचुरक्षीर-दध्यादिसाध्यानि अग्निहोत्रादीनि कर्माणि दधाति धारयति, तत्प्रेरित एव सूत्रात्मा सकलसङ्घातेषु कर्मक्षम इति यावत्। याभिः अग्निहोत्राद्याहुतिपरिणामात्मिकाभिः पर्जन्यादिभावापन्नाभिः इदं नानाकर्मफलरूपं विश्वं भवतीत्यर्थः। तथा च तदेव सकलकर्मफलव्यवस्थापकमिति भावः।।५६९।। कम्पत इति। तद् आत्मतत्त्वमेव कम्पते सकलक्रियाशालिरूपं, वस्तुतस्तु अकम्पं निष्क्रियं सदपीति। तथा तद् अविदुषां दूरेऽपि विदुषाम् अन्तिके भवति। तथाऽस्य दृश्यजातस्य बहिरन्तश्च भवतीत्यर्थः।।५७०।।

शुभ-अशुभ कर्मों के फलस्वरूप मिलने वाले लोक 'असुर्य' कहलाते हैं क्योंकि उनमें जो रमण होता है वह शोभा वाला नहीं होता, शोभन रमण तो आत्माराम मुनियों का ही होता है। वे लोक आत्मस्वरूप के अज्ञान से ढके हैं। उक्त ढंग से जो आत्महत्यारे हैं वे मरकर उन्हीं लोकों में पहुँचते हैं।।५६६।।

जिस आत्मा के विज्ञान से असुर्य लोकों से बचा जा सकता है उसका स्वरूप भी एक महान् आश्चर्य है! असुरों को अज्ञात आत्मा का अद्भुत स्वरूप स्वयं क्रियाहीन रहते हुए भी मन से भी ज़्यादा वेगवान् है! मन कहीं पहुँचे उससे पूर्व ही आत्मा वहाँ पहुँचा रहता है, क्योंकि पूर्ण है। आत्मा कभी इन्द्रियों से अधिगत नहीं होता पर मनीषी साधक ब्रह्मज्ञान से उसका अधिगम कर लेते हैं।।५६७।। पहाड़-सा निश्चल रहते हुए ही वह उन सबको लाँघ जाता है जो दौड़ने वालों में प्रसिद्ध हैं, जैसे वायु। (अर्थात् शीघ्रगामी वायु, विद्युत् आदि सब आत्मा से 'पीछे' रह जाते हैं क्योंकि ये जहाँ भी जायें उससे आगे भी आत्मा तो मौजूद ही रहता है।)।।५६८।। वही अंतर्यामी है और सब कर्मों को धारण करता है। उक्त आत्मतत्त्व सहारा देते हुए रहे तभी सूत्रात्मा कहलाने वाला वायु कर्मों को धारण करता है अर्थात् आत्मा से प्रेरणा पाकर ही सूत्रात्मा समस्त शरीरों में रहकर कर्म कर सकता है। कर्मों को जल-द्वारा इसलिये संकेतित किया जाता है कि अग्निहोत्रादि प्रमुख सभी कर्म जिन दूध-दही आदि से संपन्न किये जाते हैं उन पदार्थों में जल प्रचुर होता है। अग्निहोत्र आदि में अर्पित आहुतियाँ ही पर्जन्य आदि का आकार लेकर यह विश्व बनती हैं जो नाना कर्मों का फल है। इस प्रकार आत्मतत्त्व ही समस्त कर्मों के फलों का व्यवस्थापक है।।५६९।। वह आत्मा वास्तव में क्रियाहीन है पर व्यवहारभूमि पर सारी क्रियाशक्ति वाला वही है। अज्ञानियों को अतिदूर लगने वाला वही आत्मा तत्त्वज्ञों का प्रत्यक् स्वरूप है, असीम निकट है। सभी दृश्यों के भीतर-बाहर वही एक सनातन वस्तु है।।५७०।।

---

१. 'अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद् देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्। तद् धावतोऽन्यान् अत्येति तिष्ठत् तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति।।४।। तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके। तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः।।'५।।

षष्ठसप्तमाष्टममन्त्रार्थः

यस्तु सर्वाणि भूतानि स्वात्मन्येवाऽत्र पश्यति। सर्वभूतेषु चात्मानं स दुःखं नाधिगच्छति।।५७१
यस्य सर्वाणि भूतानि स्वात्मैवाऽभूद् विजानतः। तस्य मोहश्च शोकः क एकत्वमनुपश्यतः।।५७२
आनन्दात्मानमीशं य एकमेवानुपश्यति। स्वयंज्योतिषमात्मानं सर्वतः सोऽधिगच्छति।।५७३
स्थूलसूक्ष्मशरीराभ्यामज्ञानेन च वर्जितम्। निर्गुणं निष्कलं प्रार्थ्यः स ईशोऽपि च जायते।।५७४
क्रान्तदर्शी च सर्वज्ञः परितो दुर्जयः पुमान्। स्वयंभूः कारणैः शून्यः सर्वकारणकारणम्।।५७५

वर्णितात्मानं प्रत्यक्त्वेन जानतां फलप्रदर्शनपरत्वेन षष्ठादिमन्त्रत्रयस्य[1] अर्थमाह—यस्त्विति पञ्चभिः। यो विवेकी अत्र जीवनावस्थायामेव सर्वाणि आब्रह्म स्तम्बपर्यन्तानि भूतानि शरीराणि स्वात्मनि वर्णिते स्वरूपेऽध्यस्तानीति पश्यति, तथा तेषु भूतेषु आत्मानम् एवानुगतं पश्यति स दुःखं ग्लानिप्रयोजकं किञ्चिदपि न पश्यतीत्यर्थः।।५७१।। तत्र हेतुतया विद्यावस्थायां दुःखप्रयोजकयोः आवरणविक्षेपयोः अभावमाह—यस्येति। यस्य पुरुषस्य विजानतो विद्यावतः सर्वाणि भूतानि बोधेन आत्मभावमेव गतानि स्युः तस्य अधिष्ठानस्वभावम् एकत्वं शास्त्राचार्योपदेशाऽनुसारेण पश्यतः साक्षात्कुर्वतः मोह आवरणरूपः कः? तथा शोको विक्षेपरूपश्च कः? किंशब्द आक्षेपे, एतौ न सम्भवत इत्यर्थः।।५७२।।

तत्राऽपि हेतुतया विशुद्धेशतत्त्वस्य सर्वतः परिस्फूर्तिमाह—आनन्दात्मानमिति। यः स्वयम्प्रकाशानन्दरूपम् ईशम् एकत्वेन अभेदेन साक्षात्कुरुते स सर्वतो व्याप्तमात्मानमेव पश्यति। कीदृशमात्मानम्? स्थूलसूक्ष्मकारणाख्यैः त्रिभिः शरीरैः वर्जितं, निर्गुणं निष्कलं च। तथा सोपाधिकदृष्ट्या स विद्वान् एव प्रार्थ्य आराध्य ईश्वरोऽपि भवति। इति द्वयोरर्थः।।५७३-४।। क्रान्तेति। कीदृश ईश्वरः? क्रान्तदर्शी क्रान्तम् असंकुचितं द्रष्टुं शीलं यस्य स तथा। सर्वज्ञः सर्वमनोवृत्तवेत्ता। परितः सर्वतो दुर्जयः अज्ञानादिशत्रूणाम् अभिभावक इति यावत्। तथा कारणहीनत्वात् स्वयम्भूः इत्युक्तः। सर्वेषां लोकव्यवस्थाहेतूनां कारणभूतश्च इत्यर्थः।।५७५।।

'अन्धम्' इत्यादेः मन्त्रषट्कस्य[2] वर्णितात्मज्ञानलाभाय कर्मोपासनसमुच्चयविधायकस्य अर्थं षड्भिर्दर्शयति—

जो विवेकी जीवित रहते हुए ही ब्रह्मा से घास के तिनके तक सभी शरीरों को अपने सच्चिदानंद स्वरूप पर अध्यस्त जानता है और उनमें खुद को ही अनुगत समझता है उसे ऐसा कोई अनुभव नहीं होता जिसकी उसे ग्लानि हो।।५६१।। जिस विद्यावान् पुरुष के लिये सारे भूत आत्मा हो गये हैं वह शास्त्र-आचार्य के उपदेशानुसार अधिष्ठान के स्वाभाविक अद्वैत का साक्षात्कार करता रहता है अतः उस पर न कोई आवरण रह सकता है न उसे कोई विक्षेप ही हो सकता है! शोक-मोह की उसके लिये संभावना नहीं।।५७२।। स्वप्रभ आनंदरूप ईश्वर का जो अभिन्नरूप से साक्षात्कार कर लेता है उसे सर्वत्र व्याप्त आत्मा ही स्फुरता रहता है। वह आत्मा स्थूल-सूक्ष्म-कारण शरीरों से रहित है, गुणों व अवयवों से शून्य है। उस आत्मा का जानकार ही सोपाधिक दृष्टि से आराध्य ईश्वर होता है। उसका स्वभाव उसे देखना होता है जो संकुचित नहीं है तथा वह सभी के मनोवृत्तों का साक्षी हो जाता है। उसे कोई हरा नहीं सकता, अज्ञानादि दुश्मन ही उससे हारते हैं। सब कारणों का भी कारण एवं स्वयं कारणरहित वह तत्त्व स्वयम्भू (खुद होने वाला) कहा जाता है।।५७३-५।।

---

१. 'यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति। सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।।६।। यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाऽभूद् विजानतः। तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।।७।। स पर्यगाच्छुक्रम् अकायम् अव्रणम् अस्नाविरं शुद्धम् अपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।।'८।।

२. 'अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते। ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः।।६।। अन्यदेवाहुर्विद्ययाऽन्यदाहुरविद्यया। इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे।।१०।। विद्यां चाऽविद्यां च यस्तद् वेदोभयं सह। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।।११।। अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते। ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्यां रताः।।१२।। अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवाद्। इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद् विचचक्षिरे।।१३।। सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद् वेदोभयं सह। विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते।।'१४।।

नवमादिचतुर्दशान्तमन्त्रार्थः

अस्यात्मनोऽनुविज्ञान उपायः परिकीर्तितः। विद्धि तं कर्म निखिलमुपासनसमन्वितम्।।५७६

असम्भूतिरविद्या च कर्म प्रोक्तं मनीषिभिः। सम्भूतिश्च तथा विद्या प्रोक्ता तस्याऽप्युपासनम्।।५७७

कर्मणा पुत्रदारादिसक्ताः स्वर्गादिगामिनः। रागद्वेषादिसंयुक्ता जनिमृत्युवशङ्गताः।।५७८

उपासनरता ये स्युस्तेभ्योऽप्यधिकमेव ते। ऐश्वर्यासक्तहृदयास्तमो यान्त्यपि दारुणम्।।५५७९

विहितं कर्म सन्त्यज्य य उपासनतत्पराः। कर्मत्यागस्य दोषेण ह्यैश्वर्यासक्तितस्तथा।।
कर्मिणोऽप्यधिकं दुःखं तत्त एव प्रयान्ति ते।।५८०

अस्येति। अस्य वर्णितस्य आत्मनो यद् अनुविज्ञानं शास्त्राचार्योपदेशानुसारि साक्षात्करणं तदुत्पत्त्यर्थो य उपायः चित्तशुद्धिद्वारकं साधनं तद् उपासनसहितकर्मरूपं बोध्यमित्यर्थः।।५७६।। असम्भूतिरिति। प्रकृतमन्त्रेषु असम्भूतिपदम् अविद्यापदं च कर्मवाचकम्, सम्भूतिपदं विद्यापदं च तस्य तत्तदुपाधिकस्य ईश्वरस्य यद् उपासनं तस्य वाचकम् इत्यर्थः। न चैवमर्थकरणे मन्त्रेषु पुनरुक्तिप्रसङ्गः; 'मन्त्राणां जामिता नास्ति' इति भाष्यकारैरेवोक्तत्वाद्। अविद्यापदेन कारणतोऽपकर्षः कर्मण उच्यते। अपकृष्टा सम्भूतिः फलसिद्धिर्यत इति व्युत्पत्त्या च असम्भूतिपदेन फलतोऽपकर्षः कर्मण उच्यते। एवं सम्यग्भूतिरैश्वर्यं यत इति व्युत्पत्त्या सम्भूतिपदेन फलत उपासनोत्कर्षः, विद्यापदेन तु देवताविज्ञानरूपकारणतः तस्य उत्कर्षः इति विशेषसम्भवाच्च। भाष्यव्याख्यानविरोधस्तु—उपासनवाक्यार्थप्रदर्शने ग्रन्थकर्तुरनत्यादरात्, वृत्तिकारादिप्राचीनानुरोधेन यथाश्रुतार्थनिरूपणेऽपि—नायाति तत्र पूर्वपक्षतयाऽस्योपयोगसम्भवाद् इति बोध्यम्।।५७७।।

तत्र समुच्चयं विधातुं केवलं कर्म निन्दति—कर्मणेति। केवलेन कर्मणा सांसारिकफले सक्ता जनिमृत्युप्रवाहं यान्ति इति भावः।।५७८।। केवलोपासनं निन्दति—उपासनेति द्वाभ्याम्। ये च केवलोपासन एव रताः त ऐश्वर्यरूपोपासनफलासक्तहृदयाः सन्तः तेभ्यः कर्मिभ्यः अधिकं दारुणं च तमो यान्तीति।।५७९।। अत्रोपपत्तिमाह—विहितमिति। केवलोपासकेषु द्वावनर्थहेतू—विहितकर्मत्याग ऐश्वर्यासक्तिश्च; तद्बलात् ते केवलोपासकाः कर्मापेक्षया अधिकं दुःखं यान्ति इति युक्तमुक्तमित्यर्थः।।५८०।। तस्मात् समुच्चितमेव कर्मोपासनं कार्यमित्याह—

शास्त्र-आचार्य के उपदेशानुसार इस आत्मा के साक्षात्कार की उत्पत्ति का उपाय है उपासना सहित कर्मानुष्ठान क्योंकि इसीसे चित्त शुद्ध होकर तत्त्वानुभूति होती है।।५७६।। इस प्रसंग में श्रुति ने 'असंभूति' और 'अविद्या' शब्दों से कर्म का कथन किया है और 'संभूति' तथा 'विद्या' शब्दों से सोपाधिक ईश्वर की उपासना कही है। (पुराणव्याख्या अक्षरार्थ में भाष्य से हटकर कई जगह आयी है अतः मुख्य अभिप्राय में कोई अंतर न होने से ऐसे व्याख्याभेद को दोष नहीं माना जाता। इस पर संस्कृतटीका में और विचार है।)।।५७७।।(तत्त्वज्ञान के अन्तरंग साधनों का ही अनुष्ठान वही कर सकता है जिसे ऐहिक-पारलौकिक सभी विषय भोगों से पूर्ण वितृष्णा है और केवल नित्य-ब्रह्म-स्वरूप अनावृत करना चाहता है। अन्य सभी अधिकारी वैराग्यलाभ पर्यन्त अपने लिये विहित कर्म अवश्य करें, हो सके तो उपासनाएँ भी अवश्य करें। उपासना बिना किये कर्म करना तो शास्त्रानुमत है यद्यपि कम फल देता है, लेकिन कर्म छोड़कर केवल उपासना करने की शास्त्र में निंदा है। इससे भक्तिवादियों की मान्यता कि 'भक्ति ही पर्याप्त है, कर्म छोड़ा जा सकता है' वेदसंमत नहीं यह स्पष्ट हो जाता है। भक्ति उपासनारूप ही है यह वैदिक साहित्य में स्फुट है। आगम पुराणादि की मान्यताएँ जो भी हों, वेदाज्ञा तो केवल उपासना के लिये नहीं है। केवल कर्म यद्यपि दोषावह नहीं तथापि उपासना सहित किया जाये तो अधिक वीर्यवान् होता है यह 'यदेव विद्ययेति हि' (४.१.१८) ब्रह्मसूत्र में ऊहापोह से निर्णीत है। अतः कर्म-उपासना साथ-साथ करने चाहिये यह प्रेरणा देने के लिये सिर्फ कर्म करने की निंदा श्रुति में की है—) पुत्र-पत्नी

ततः कर्मसमेतं यद् भवेत् किञ्चिदुपासनम्। उक्तमेतत्परं क्लेशकारकं परिकीर्तितम्।।५८१

पञ्चदशादिमन्त्राणामर्थः

कर्मोपासनसंयुक्तो ज्ञानार्थी पुरुषः सदा। प्रार्थयेत तमादित्यं मुक्तिद्वारप्रदं नृणाम्।।५८२

तत इति। यत् किञ्चिदुपासनमुक्तमेतत्कर्मसमेतम् एव भवेद् अनुष्ठेयं स्यात्। परं कर्माऽसमुच्चितं तु दुःखदमित्यर्थः।।५८१।।

अथ अन्त्यमन्त्रचतुष्टयस्य[1] सप्रयोजनमर्थं दर्शयति—कर्मोपासनेत्येकादशभिः। कर्मोपासनाभ्यां समुच्चिताभ्यां युक्तः पुरुषः तत्त्वज्ञानकाम आदित्यगतमानसः सन्नादित्यं नृणाम् अधिकारिणां मुक्तेः क्रममोक्षस्य प्राप्तये द्वारस्य

आदि में आसक्ति वाले, राग-द्वेषादि से युक्त मानस वाले आस्तिक यदि केवल अपने लिये विहित कर्म करने में ही सीमित रह जाते हैं, ईश्वरोपासना नहीं करते तो स्वर्गादि भोगभूमियों तक चले जाते हैं लेकिन रहते जन्म-मृत्यु के वश में ही हैं।।५७८।। जो अधिकारी रहते हुए अपने लिये अवश्य कर्तव्यरूप से विहित कर्म का अनुष्ठान करते नहीं, केवल उपासना ही करते हैं उनके हृदय में ऐश्वर्य के प्रति आसक्ति रहती ही है और वे उससे भी ज़्यादा तामस स्थिति पाते हैं जो केवल-कर्मानुष्ठाताओं की होती है। क्योंकि अवश्य कर्तव्य कर्म उन्होंने छोड़ दिये और अभी ऐश्वर्य में आसक्ति रह गयी इसलिये वे केवलकर्मानुष्ठाताओं को मिलने वाले दुःख से ज़्यादा दुःख भोगते हैं। इसलिये जो कोई भी उपासना विहित हो उसका अनुष्ठान करने वाले को अपना वर्णाश्रम धर्म अवश्य करना ज़रूरी है। यदि कर्म छोड़कर सिर्फ उपासना करेगा तो वह उपासना उसे क्लेश ही देगी। (भक्ति का सहारा लेने वाला वैदिक अत एव नित्य-नैमित्तिक आदि कर्तव्यों में अवश्य सावधान रहे। बिना वैराग्य के कर्मत्याग शास्त्रविरुद्ध है अतः फलेच्छा रहते कर्तव्यपालन से विमुख नहीं होना चाहिये। 'ऐश्वर्यासक्ति' से 'मुझे ऐश्वर्य मिले' यह भाव भी है और 'ऐश्वर्य वास्तविक है' यह निश्चय भी ऐश्वर्यासक्ति है। संक्षेपशारीरककार ने स्पष्ट किया है कि सच्चिदानन्द तो ब्रह्म का स्वरूप है पर ऐश्वर्य स्वरूप न होकर मायिक है अतः उसे पारमार्थिक नहीं माना जा सकता। अतः 'दिव्य' ऐश्वर्य को व्यवहारातीत या पारमार्थिक स्वीकारना वेदान्त-सम्प्रदाय से विरुद्ध है। इस प्रकार वेदान्ती भक्त सगुण की भक्ति करते हुए भी यह याद रखता है कि वास्तविक भूमिका पर सगुणता नहीं है। इसीलिये शैवों के कुछ सम्प्रदायों के विचार भक्ति के स्तर पर वेदान्तों के अनुकूल पड़ते हैं यह अप्पयदीक्षितादि के ग्रन्थों से ज्ञात होता है। वैष्णवों का भक्तिवाद किसी भी स्थिति में न ईश्वर को निर्गुण मानता है न जीव-ईश्वर की एकता मानता है अतः वेदान्तों के सर्वथा विरुद्ध ही रहता है। पुराणों में तो जगह-जगह निर्गुण-ईश्वरवाद और ईश्वर की प्रत्यग्रूपता स्पष्ट कही जाती है जिसे यदि वैष्णवादि-आगमों के पूर्वाग्रह से रहित होकर देखा जाये तो उपनिषदनुकूल भक्तिवाद ही पुराणों का अभिप्राय निकलता है। अत एव पुराणों में भक्तिपूर्वक पूजा-सेवा आदि का ही प्रभूत वर्णन है क्योंकि पुराणकार के सामने कर्म-उपासना के समुच्चय का वैदिक सिद्धान्त स्पष्ट था। एवं च साधक भक्ति से चित्तशोधन के प्रयास के दौरान अपने शास्त्रीय कर्तव्यों की अवहेलना न करे यह ज़रूरी है।)।।५७९-८१।।

तत्त्वज्ञान के लिये उत्सुक पुरुषार्थी कर्म-उपासना का साथ-साथ अनुष्ठान करे और भगवान् आदित्य में चित्त एकाग्र कर बारंबार उनसे बहुतेरी प्रार्थना करे। तुच्छ विषयों में रमण न करने वाले योग्य अधिकारियों को क्रमशः मिलने वाले मोक्ष के लिये जिस दरवाज़े से गुज़रना पड़ता है वह आदित्यमंडल में एक छिद्र है। उपासना-प्रार्थना से प्रसन्न हुए भगवान् आदित्य साधक के लिये उस द्वार से गुज़रना अत्यंत सुखद बना देते हैं।।५८२।। प्रार्थना का प्रकार है : 'हे सर्व-

१. 'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्याऽपिहितं मुखम्। तत् त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।।१५।। पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन्समूह। तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि; योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि।।१६।। वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम्। ॐ क्रतो स्मर कृतं स्मर क्रतो स्मर कृतं स्मर।।१७।। अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्। युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम।।'१८।। इतीशोपनिषत्।

हिरण्मयेन पात्रेणेत्यादिना बहुधा च हि। पश्यामीत्यन्ततो धीमान् आदित्यगतमानसः।।५८३
एवं प्रार्थयमानस्य बुद्धिरस्य महात्मनः। आदित्ये यः पुमान् सोऽयं भवाम्येव न संशयः।।५८४
न देहेन्द्रियसङ्घातः पञ्चभूतात्मको यतः। भस्मान्तः स कथं नाम स्यामहं स्वात्मवित् सदा।।५८५
मनः प्रति वदत्येतद् विरक्तः स कलेवरे। कर्मणा यत्र यत् प्राप्तं सङ्कल्पसहितेन च।।५८६
पुरा कृतेन तत् कस्मादधुना विस्मृतं त्वया। सङ्कल्पं च ततः कर्म स्मर त्वमधुना पुनः।।५८७
एवं प्रार्थयमानः सन्मनः पापविवर्जितः। आदित्यं चोक्तमन्त्रेण वचनैर्वापि लौकिकैः।।
गच्छेद् ब्रह्म परं चैव प्रार्थनातश्च वह्नितः।।५८८

स्वमण्डलच्छिद्ररूपस्य दातारं बहुधा पुनः पुनः प्रार्थयेत्। केन? हिरण्मयेन इत्यारभ्य पश्यामीत्यन्तेन। इति द्वयोः सम्बन्धः। अस्य मन्त्रस्य त्वर्थोऽग्रे वक्ष्यते।।५८२-३।। 'योऽसौ' इत्यादेः प्रणवपर्यन्तस्याऽर्थमाह—एवं प्रार्थयमानस्येति। अस्य समुच्चयाऽनुष्ठायिनो महात्मनः कार्पण्यं त्यजत उक्तमन्त्रेण आदित्यं प्रार्थयमानस्य च एवं-विधा बुद्धिः भवति। 'एवंविधा' कीदृशी? य आदित्यमण्डलान्तस्थः पुरुषः स एव अहं भवामि, स एव मम पारमार्थिकं रूपमिति यावत्। देहादिसङ्घातरूपस्तु अहं न भवामि यतः स देहादिसङ्घातः पञ्चभूतात्मको भस्मान्तो भस्मादिरूपपरिणामी च भवति ततः स मम प्रणववाच्यमात्मानं जानतः स्वरूपं कथं स्यात्? इति द्वयोरर्थः।।५८४-५।।

चतुर्थ'स्मर'पदान्तवाक्यस्याऽर्थमाह—मनइति। समुच्चयानुष्ठायी पुरुषः कलेवरविषयकवैराग्यवान् स्वकीयं मनः चित्तं प्रति एतद् वदति। 'एतत्' किम्? हे मनः! त्वया यत्र देशे काले वा यद् यत् प्राप्तं तत् सर्वं पुरा कृतेन पुरातनस्वकीयशरीरनिर्मितेन कर्मणा एव प्राप्तम्। कीदृशेन कर्मणा? सङ्कल्पो मानसव्यापारः तत्सहितेन। अधुना तद् अनुभूतं कर्मसङ्कल्पयोर्माहात्म्यं किमिति विस्मृतम्? ततस्त्वमधुना कर्मणो विहितस्य सङ्कल्पस्य च उपासनरूपस्य अनयोः समुच्चितयोर्माहात्म्यं स्मृत्वा तन्निष्ठो भव। इति द्वयोरर्थः।।५८६-७।।

उक्तविधप्रार्थनायाः फलमाह—एवमिति। इत्थं मनः प्रार्थयमानः तथोक्तेन 'हिरण्मयेने'त्यादिना मन्त्रेण, लौकिकैः अवैदिकैः स्तोत्रैश्च आदित्यं प्रार्थयमानः संस्तथा वक्ष्यमाणविधया वह्निप्रार्थनातश्च पापवर्जितो भूत्वा परं ब्रह्म क्रमेण गच्छेद्। इति द्वयोरर्थः[1]।।५८८।।

पोषक भगवन्! सत्य का मुख हिरण्मय पात्र से ढका है। मैं सत्य-धर्म पर स्थिर हूँ, मुझे सत्य दीखे इसके लिये आप वह ढक्कन हटाने की कृपा करें। जगत्पालक, अकेले चलने वाले, नियन्ता, सब कुछ स्वीकारने वाले, प्रजापति-पुत्र, आप अपने तापक तेज को समेटिये ताकि आपका अत्यंत शोभन रूप मैं देख सकूँ।' इस प्रार्थना से आदित्य को प्रसन्न करना बुद्धिमान् के लिये उचित है।।५८३। कर्म-उपासना का यथाविधि साथ-साथ अनुष्ठान करने वाला साधक कृपणता (संकुचितता, उपाधि में आग्रह) छोड़कर आदित्य से प्रार्थना करता रहे तो उसे यह बोध प्राप्त होता है : 'आदित्य-मण्डल के भीतर जो पुरुष है वही मैं हूँ, मेरा पारमार्थिक स्वरूप वही है। देह-इंद्रियादि का संघात तो पांचभौतिक है, वह मैं नहीं हूँ। देहादि का अंत तो भस्मरूप में प्रत्यक्ष है, वह मेरा स्वरूप नहीं हो सकता क्योंकि मुझे हमेशा के लिये यह जानकारी हो चुकी है कि मैं वह आत्मा हूँ जो प्रणव से बोध्य है।'।।५८४-५।।

कर्म-उपासना का अनुष्ठाता अपने कलेवर के प्रति विरक्त अपने चित्त को सम्बोधित करता है : 'हे मन! तुम्हें जहाँ जब जो भी मिला है वह अपने ही पुरातन शरीर से निर्मित और मानस-व्यापार सहित किये कर्म के फलस्वरूप ही मिला है। कर्म व संकल्प के उस माहात्म्य को अब मत भूलो। विहित धर्मरूप कर्म और उपासनारूप संकल्प के समुच्चय का महत्त्व याद रख तुम उसी में निष्ठा वाले बनो।' ।५८६-७।। जो यों मन से निवेदन करता है (और तदनुसार मन

१. 'द्वयोः' इति मास्तु। उत्तरश्लोकस्यापि 'प्रार्थनतः' इत्यनेन परामर्शात्तत्प्रयोजनस्यापि दर्शितत्वाद् द्वयोरर्थ उक्त एवेति वा भावः।

अग्ने मां नय मार्गेण दुःखहीनेन सर्वदा। उज्ज्वलेन सदा सर्वचित्तज्ञस्त्वमसीह भो!
अस्माकं द्वेषिणः सर्वान् विनाशय नमोऽस्तु ते। ।५८९

सूर्यस्य प्रार्थनामन्त्रस्त्वयमुक्तो मनीषिभिः। हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्य पिहितं मुखम्।।
पूषन्! अपावृणु त्वं तत् सत्यधर्माय दृष्टये। ।५९०

यत् कल्याणतमं तेऽद्य रूपं सत्तदहं विभो! पश्यामीति च मन्त्रार्थः कथितः सवितुर्हि सः। ।५९१

पुराणोक्तवस्तु

इति यस्याप्तये विद्या ईश्वरस्य सदैव हि। कथयन्ति स ईशानः पुराणेऽस्मिन् समीरितः। ।५९२

तत्र अन्त्यस्य अग्निप्रार्थनामन्त्रस्य अर्थमाह—अग्ने! इति। भो अग्ने! देव! त्वं मां शोभनमार्गेण उज्ज्वलेन प्रकाशवता देवयानाख्येन ब्रह्मलोकं नय प्रापय। तथा अस्माकं द्वेषिणः शत्रून् पापप्रयोजककामादिरूपान् सर्वान् नाशय। न च ते तवाविदिताः यतस्त्वं सर्वेषां चित्तवृत्तस्य ज्ञाताऽसि। अतश्च तव प्रत्युपकर्तुमशक्तानाम् अस्माकं त्वयि प्रह्वीभावोऽस्तु। इत्यर्थः। ।५८९। ।

आदित्यप्रार्थनामन्त्रं दर्शयितुं प्रतिजानीते—सूर्यस्येति। अयं कः? इत्याकांक्षायां तं पठति—हिरण्मयेनेति। हिरण्मयमिव हिरण्मयं ज्वलत्सुवर्णवद् देदीप्यमानं यत् पात्रं पिधानपात्रसमं तेजोमण्डलं तेन सत्याख्यस्य आदित्यमण्डलान्तःस्थस्य ब्रह्मणो मुखं प्राप्तिद्वारभूतं छिद्रं पिहितम् आच्छादितं वर्तते। हे पूषन्! जगतः पोषक! सूर्य! तद् मुखपिधानम् अपावृणु अपसारय। किमर्थम्? सत्यं सत्यपरत्वं धर्मो यस्य तं मां संसारात् त्रातुं या दृष्टिः प्रादुर्भवस्तदर्थमित्यर्थः। ।५९०। । यदिति। हे पूषन्! यत् त्वदीयं रूपं कल्याणतमं स्मृतिमात्रेण सकलानर्थहरं सत् परमार्थभूतं तद् अहं यथा पश्यामि तथा कुरु इति एवंविधः स प्रसिद्धः सवितृसम्बन्धिमन्त्रस्य अर्थः कथित इत्यर्थः। ।५९१। ।

अस्य ग्रन्थस्य निरावरणेशतत्त्वपरायणत्वेन विश्वोद्धारक्षमत्वमिति दर्शयन्नुपसंहरति—इति यस्येति द्वाभ्याम्। यस्येश्वरस्याप्तये लाभाय इति एवंविधा विद्याः कथयन्ति उपदिशन्ति वैदिकाः स भगवान् ईश्वर एव अस्मिन्

को निष्ठा में स्थिर रखता है), पूर्वोक्त अर्थ वाले वैदिक या लौकिक वचनों से भगवान् आदित्य से प्रार्थना करता है तथा अग्निदेव से भी आगे बतायी जाने वाली प्रार्थना करता है, वह निष्पाप होकर क्रमशः परब्रह्म पा जाता है। ।५८८। । अग्नि से यों प्रार्थना करनी चाहिये : 'हे अग्निदेव! आप मुझे उस देवयान-नामक शुभ मार्ग से ब्रह्मलोक ले चलिये जिस मार्ग में कोई दुःख नहीं है और सदा प्रकाशयुक्त है। सभी के चित्तवृत्त से आप पूर्ण परिचित रहते हैं। पाप में प्रेरित करने वाले कामना आदि हमारे सभी द्वेषिओं का आप विनाश कीजिए। आपकी असीम अव्याज कृपा के बदले हम कुछ नहीं कर सकते। हमेशा आपको हमारा नमस्कार हो।' ।५८९। ।

श्लो ५८३ में जो सूर्यप्रार्थना बतायी थी उसका वैदिक मंत्र उपनिषत् में प्रसिद्ध है। सत्य नाम उस ब्रह्म का है जिसकी विशेष अभिव्यक्ति आदित्यमंडल में है और उसका 'मुख' वह छिद्र है जो ब्रह्मलाभ का द्वार है। संसार से बचाने वाले साक्षात्कार के लिये उस मुख का ढक्कन हटना ज़रूरी है अतः तपे सोने जैसे चमकदार ढक्कन को हटाने के लिये भगवान् आदित्य से प्रार्थना की जाती है। ।५९०। । सविता का स्वरूप याद किया जाये इतने से ही वह अत्यन्त कल्याण प्रदान करता है, सब अनर्थ मिटाता है। (अत एव प्रतिदिन तीन बार गायत्री जप करना द्विज के लिये कर्तव्य है।) उसी स्वरूप के दर्शनलाभ के लिये मन्त्रों द्वारा प्रार्थना की जाती है। ।५९१। ।

जिस ईश्वर को पाने के लिये उक्त प्रकार की विद्याओं का उपदेश वैदिक आचार्य करते हैं उन्हीं भगवान् ईशान का सम्यक् वर्णन इस पूरे पुराण में किया गया है। इसे 'पुराण' कहना सर्वथा उचित है क्योंकि 'पुरा' अर्थात् सबसे

पुराणबोधफलम्

सर्वत्र नाऽपरं किञ्चित् तत एतत्पठन् पुमान्। शृण्वन् वदन् विजानन् वै मुच्यते भवसङ्कटात्।।५६३

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यानन्दात्मपूज्यपादशिष्येण शङ्करानन्दभगवता विरचित 'उपनिषद्रत्न'
आत्मपुराणे *(नृसिंहतापनीयेशोपनिषत्सारार्थप्रकाशे ब्रह्मदेवसंवादो नाम)* **अष्टादशोऽध्यायः**
समाप्तः।।१८।।

।। समाप्तम् आत्मपुराणम्।।

निबन्धने सर्वत्र सर्वावयवावच्छेदेन कीर्तितः। कीदृशेऽस्मिन्? पुराणे पुरा सर्वतः प्रथमः प्रथमं भासमानः परमात्मैव, अनः प्राणो यस्य तत्तथा इत्यन्वर्थनामके। ततोऽस्य भगवदेकपरत्वाद् एतत्पुराणकर्मकानि पठनश्रवणकीर्तनानुसन्धानानि मूलाज्ञानहरणेन मोक्षप्रयोजकानि। इति द्वयोरर्थः।।५६२-३।।

ईशावास्यमिति श्रुतेर्भगवतः सर्वं किमेषोऽर्पयेद्
इत्येतां मनसो व्यथां श्लथयते जातेदृशी शेमुषी।
किन्त्वेशादपरं समर्पणमितः सन्मङ्गल त्वपदे
गौरश्यामरुचे समङ्गलतनुष्टीकाऽऽहितैषाऽव्यये।।

सूनोः श्रीठाकुरीदेव्याः कृतिर्विश्वेश्वरेऽर्पिता। सतामन्वीक्षमाणानां प्रमोदं जनयेत् सदा।।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः। शमातनोतु सर्वेषां विद्यादानेन शङ्करः।।

नमस्तस्मै हनुमते यस्य वारिधिलङ्घनम्। संसारसङ्कटोत्तारतरणिः स्मरतां भवेत्।।

एषां चतुर्णामयमर्थः—ईट् ईश्वरः, तेनेशा सर्वं विश्वं वास्यम् आच्छाद्यं व्याप्यमिति यावत् इत्याद्यर्थकया व्याख्यातश्रुत्या सर्वं पदार्थजातं भगवत एव सम्बन्धित्वेन निश्चितम्। एवं सति किं वस्तु एष जनः समर्पयेद् भगवते दातुं शक्नुयात्! न किमपि, स्वत्वाऽभावाद् इति भावः। इत्येवमाकारां व्यथां चिन्तां मनसः समर्पणोद्यतस्य धर्मभूतां तत्पार्श्ववर्तिनी ईदृशी शेमुषी मतिः शिथली करोति। 'ईदृशी' कीदृशी? किं समर्पणव्यापारोऽयम् ईश्वरादपरः पृथक्सत्ताकः? अपि तु न। तथा च भगवद्वाक्यं गीतासु 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः' (४.२५) इत्यादि। अत एतदालोच्य हे भगवन्! हे गौरश्यामरुचे! हरिहराख्यलीलाविग्रहरूपेण श्वेतश्यामरुचिः कान्तिर्यस्य तत्सम्बोधनम्, तथा हे सन्मङ्गल! सन्ति वर्तमानानि मङ्गलानि यतः स तथा, मङ्गलविशिष्टेति वा तत्सम्बोधनम्। तथा त्वत्पदे भवतः पादे एषा सत्प्रसवाख्या टीका आहिता समर्पिता, यतः सा मङ्गलतनुः नाना मङ्गलशालित्वेन भवतो योग्येत्यर्थः। एतेन ज्योतिर्वित्सम्मतं मङ्गलवत्या विष्णुमूर्त्यर्पणं, मङ्गलिने वराय वाऽर्पणम् इत्युभयम् अनुष्ठितं श्लेषेण ध्वन्यते; हरिहरात्मकविश्वेश्वरस्य विष्णुमूर्तित्वात् समङ्गलत्वाच्च। न च तदर्पितायाः काचिद्धानिशङ्का, विश्वेश्वरस्य अव्ययत्वाद् इति भावः। तदुक्तं ज्योतिःसारसंग्रहे 'कर्तव्यं गुणबाहुल्ये कुजे वा तादृशे द्वयोः। गुणाधिके भौमदोषो नैव चिन्त्यो विचक्षणैः।।' इति; समर्पणमिति शेषः।।

पूर्व भासमान परमात्मा ही इस निबंध का 'अन' अर्थात् प्राण है! ईश्वर से अतिरिक्त कुछ भी इस सद्ग्रन्थ का प्रतिपाद्य नहीं है। एकमात्र भगवान् में ही तात्पर्य वाला होने से जो पुरुषार्थी साधक इस पुराण का पठन, श्रवण, कथन और अर्थानुसन्धान करता है वह संसाररूप संकट से अवश्यमेव मुक्त हो जाता है।।५६२-३।।

द्वितीये—मातृनामनिर्देशेन उक्तार्थवैशद्यम्।। तृतीये—सदाशीः प्रार्थनं च स्फुटम्।। चतुर्थे हनुमतो वारिधिलङ्घनरूपो व्यापारो विचित्रो यः स्मरतां संसारतरणाय तरणीभूत इत्युक्तम्। इति शिवम्।।

बाणनागाहिविधुभिः (१७७५) मिते वर्षेऽर्कविक्रमात्। नभसः सितपञ्चम्यां काश्यां पूर्तिमियं गता।।

इति श्रीदत्तकुलतिलककृष्णचन्द्रात्मजदिलारामसूरितनूज-रामकृष्णस्य श्रीविश्वेश्वराश्रमपूज्यपादानुगृहीतस्य कृतावात्मपुराणटीकायां सत्प्रसवाख्यायाम् अष्टादशोऽध्यायः समाप्तः।।१८।।

।। समाप्तश्चाऽयं ग्रन्थः।।

इस प्रकार श्रीमान् आचार्य 'आनन्दात्मा' के शिष्य श्री 'शङ्करानन्द भगवान्' द्वारा विरचित 'उपनिषद्रत्न' कहलाने वाला 'आत्मपुराण' सम्पूर्ण हुआ।

उमया दक्षिणास्यस्य शङ्करस्य च सद्गुरोः।
टीकाकारस्य कृपया ग्रन्थकर्तुर्विशेषतः।।
दिव्यानन्दाऽभिधा हिन्दीव्याख्याऽऽचार्यनिदेशतः।
वेदान्तार्थपरिस्फूर्त्त्यां अकारि श्रवणात्मिका।।
प्रसीदत्वनया देवो महेशो देशिकोत्तमः।
शरणं सर्वदा भूयात् स्वप्रकाशसुखाप्तये।।

।। आत्मपुराण समाप्त।।